nnai and eGangotri

डॉ. विमला कर्णाटक

पातञ्जलयोगदर्शनम्

ABOUT THE BOOK

e present book is a raft to cross easily
ccessfully the oast and unassailable
of the texts-the Vyāsabhāsya and its
nmentaries, namely Tattvavaisaradi
ācaspati) and Yogavārttika. (of
bhikṣu). With the help of this book
s will be able to study these works
any difficulty concerning
etical and logical matters; they will
have any oceasion to take the help
aditional Sanskrit *Paṇḍitas* for all
words and technical terms have been
ed with as much clarity as possible.
thor, who grasp of *Yogavidyā* is
ble, has tried admirably to afford
e and brilliant expositions of all the
no facie and established views and
given the sources of citations with
iate remarks.
book will be of in mense help not
the students of the Yoga philosophy
to the teachers, who often find it
to make the students comprehend the
he sentences in the aforesaid texts.

PĀTAÑJALA-YOGA-DARŚANAM

TATTVAVAIŚĀRADĪ-YOGAVĀRTTIKETI-ṬĪKĀDVAYOPETAM VYĀSABHĀṢYAM (SAPĀṬHABHEDA-BĀLAPRIYĀKHYA-HINDĪVYĀKHYAYĀ VIBHŪṢITAM)

(A Critical Edition and Hindi Exposition of Tattvavaiśāradī and Yogavārttika on Vyāsabhāṣya of the Yoga-Sūtra)

(In Four Volumes)

VOLUME II
SĀDHANPĀDA

Commentator and Editor
Dr. Vimala Karnatak
Department of Sanskrit
Banaras Hindu University

Banaras Hindu University, Varanasi
&
Ratna Publication, Varanasi
1992

First Edition, 1992 (University **Platinum Jubilee** Year)

Financial assistance received from the Ministry of Human Resource Development (Department of Education), Government of India and University Grants Commission is gratefully acknowledged.

Price : . = प्रतिसेट (चार खण्डों

Distributor
Ratna Publications
B. 21/42A Kamachha
Varanasi.

Published by Officer on Special Duty, Banaras Hindu University
and
Printed by **Ratna Printing Works**, Kamachha Varanasi.

पातञ्जलयोगदर्शनम्

तत्त्ववैशारदी-योगवार्त्तिकेतिटीकाद्वयोपेतं व्यासभाष्यम्
(सपाठभेदबालप्रियाऽऽख्यहिन्दीव्याख्यया विभूषितम्)
(खण्डचतुष्टय)

द्वितीय खण्ड
साधनपाद

व्याख्याकर्त्री एवं सम्पादिका
डॉ विमला कर्णाटक
संस्कृत विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
एवं
रत्ना पब्लिकेशन्स, वाराणसी
१९९२

प्रथम आवृत्ति, १९९२ (विश्वविद्यालय अमृत महोत्सव वर्ष)

मानव संसाधन विकास मन्त्रालय (शिक्षा विभाग), भारत सरकार एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, दिल्ली के आर्थिक अनुदान से प्रकाशित

मूल्य :

प्राप्तिस्थल
रत्ना पब्लिकेशन्स
बी. २१/४२ए कमच्छा,
वाराणसी

प्रकाशक– **विशेष कार्याधिकारी**, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
मुद्रक– **रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स** (ऑफसेट विभाग) कमच्छा, वाराणसी

संक्षिप्त विषयानुक्रमणी

विस्तृत विषयानुक्रमणी
द्वितीयः साधनपादः

पातञ्जलयोगदर्शनम्

तत्त्ववैशारदी-योगवार्त्तिकितिटीकाद्वयोपेतं व्यासभाष्यम्

(सपाठभेदबालप्रियाऽऽख्यहिन्दीव्याख्यया विभूषितम्)

द्वितीयः साधनपादः

भाष्यकार द्वितीय पाद के प्रथम सूत्र को अवतरित करते हैं–

व्यासभाष्यम्

उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः। कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येतदारभ्यते–

प्रथम पाद में समाहित चित्त वाले योगी के लिये योग का उपदेश हुआ है। चञ्चल चित्त वाला व्यक्ति भी किस प्रकार से योगयुक्त बन सके–तदर्थ द्वितीय पाद का आरम्भ किया जा रहा है–

योगसूत्रम्

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः॥१॥

तपः, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान (इन तीनों) को 'क्रिया-योग' कहते हैं॥१॥

व्यासभाष्यम्

नातपस्विनो योगः सिध्यति। अनादिकर्मक्लेशवासना[1]चित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः संभेदमापद्यत इति तपस उपादानम्। तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते। स्वाध्यायः. प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा। ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा[2]॥१॥

अतपस्वी को योग सिद्ध नहीं होता है। अनादि कर्म, क्लेश तथा वासना से आपूरित तथा विषयजाल को उपस्थित कराने वाली रजस्तमोमयी 'अशुद्धि' तप के विना छिन्न-भिन्न (तनुत्व=क्रमशः क्षय को प्राप्त) नहीं होती है, इसीलिये (सूत्र में सर्वप्रथम) 'तपः' (संज्ञक क्रियायोग) का ग्रहण हुआ है। चित्त की प्रसन्नता को बाधित न करने की स्थिति तक 'तप' योग-जिज्ञासु द्वारा

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र – चित्रा, द – विशेष०।
2. छ थ – कर्ता कारयिता स एव मामुद्धरिष्यत्यहंभावहीनः संन्यासः (वा पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – कर्ता.....संन्यासः नोपलभ्यते।

सेवनीय होना चाहिये, ऐसा माना जाता है। ओंकारादि पवित्र मन्त्रों का जप तथा मोक्षप्रतिपादक शास्त्रों का अध्ययन 'स्वाध्याय' (नामक क्रियायोग) कहलाता है। निखिल क्रियाओं को परमगुरु ईश्वर में अर्पित करना अथवा उन कर्मों के फल का त्याग करना 'ईश्वरप्रणिधान' (नामक क्रियायोग) है॥१॥

तत्त्ववैशारदी

ननु प्रथमपादेनैव सोपायः सावान्तरप्रभेदः सफलो योग उक्तस्तत्किमपरमवशिष्यते यदर्थं द्वितीयः पादः प्रारभ्येतेत्यत आह—उद्दिष्ट इति। अभ्यासवैराग्ये हि योगोपायौ प्रथमे पाद उक्तौ। न च तौ [1]व्युत्थितचित्तस्य द्रागित्येव संभवत इति द्वितीयपादोपदेश्यानुपायानपेक्षते सत्त्वशुद्ध्यर्थम्। ततो हि विशुद्धसत्त्वः कृतरक्षासंविधानोऽभ्यासवैराग्ये प्रत्यहं भावयति। समाहितत्वमविक्षिप्तत्वम्। कथं व्युत्थानचित्तोऽप्युपदेक्ष्यमाणैरुपायैर्युक्तः सन् योगी स्यादित्यर्थः। तत्र वक्ष्यमाणेषु नियमेष्वाकृष्य प्राथमिकं प्रत्युपयुक्ततरतया प्रथमतः क्रियायोगमुपदिशति सूत्रकारः—तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।

शङ्का—जब प्रथम पाद के द्वारा ही उपाय, अवान्तरभेद तथा फलसहित 'योग' का निरूपण हो चुका है, तो फिर अन्य क्या शेष रह जाता है, जिसके लिये द्वितीय पाद (साधनपाद) आरम्भ हो रहा है?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**उद्दिष्ट इति।**' प्रथम (समाधि) पाद में योग के उपाय '**अभ्यास**' और '**वैराग्य**' वर्णित हुए। व्युत्थित चित्त वाले योगी के लिये ये दोनों उपाय शीघ्र ही संभव नहीं हैं। अर्थात् व्युत्थित चित्त वाला साधक अपने को अभ्यास और वैराग्य के अनुष्ठान के लिये सहज ही समर्थ नहीं पाता है। अतः व्युत्थित चित्त वाले साधक को सत्त्वशुद्धि के लिये द्वितीय (साधन) पाद में उपदिष्ट तप, स्वाध्यायादि उपायों की अपेक्षा रहती है। इस प्रकार '**क्रियायोग**' का अनुष्ठान करता हुआ शुद्ध चित्त वाला साधक प्रतिदिन अभ्यास और वैराग्य की भावना करता है। '**समाहित**' शब्द का अर्थ है—विक्षेपरहित। चंचल (व्युत्थित) चित्त वाला पुरुष भी उपदेश दिये जाने वाले उपायों से युक्त होकर योगी बन सके अर्थात् अव्युत्थित चित्त वाला बन सके?—तदर्थ यह पाद है। उसमें भी अष्टाङ्गयोग में आगे बतलाये जाने वाले पञ्चविध नियमों में से क्रियायोग (त्रिविध नियमों) को निकालकर, प्राथमिक योगाभ्यासी के लिये उपयोगी होने से, सबसे पहले सूत्रकार उनका उपदेश करते हैं—'**तप इति।**'

बालप्रिया—

'**उद्दिष्ट इति।**' पूर्वपाद के साथ उत्तरपाद की अन्तःसंगति बैठाने के लिये भाष्यकार

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न — **व्युत्थितचित्तस्य**, थ द ध — **व्युत्थितस्य।**

ने पूर्ववृत्त का **'उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः'** इस प्रकार अनुवाद किया है। प्रथम पाद में उत्तम अधिकारी, जिसे **'योगारूढ'** कहते हैं, के लिये **'योग'** तत्त्व का प्रतिपादन हुआ है। क्योंकि उनका चित्त एकाग्र (समाहित) होता है। सम्प्रति, मध्यम अधिकारी, जिसे **'योगारुरुक्षु'** कहते हैं, का व्युत्थित चित्त किस प्रकार योगयुक्त (समाहित) बनाया जा सके, तदर्थ अनुकम्पावशात् सूत्रकार ने सूत्रजात का प्रारम्भ किया है। अर्थात् एकाग्रचित्त वाले साधक के लिये सम्प्रज्ञात योग बताया गया है तथा निरुद्ध चित्त वाले साधक के लिये असम्प्रज्ञात योग अभिहित है। किन्तु पूर्वपाद में विक्षिप्त चित्त वाले साधक की कोई गति नहीं बताई गई है। अतः विक्षिप्त चित्त वाला साधक भी; जिन साधनसमूह के अनुष्ठानपूर्वक चित्त की विक्षिप्तता के अपनोदनपूर्वकं पूर्वपादवर्णित अभ्यास और वैराग्य का सम्पादन करता हुआ सम्प्रज्ञात समाधि में प्रतिष्ठित हो सके, उस साधनसमूह के विवरण के लिये द्वितीय पाद (साधनपाद) प्रारम्भ हो रहा है।

'कृतरक्षासंविधानः'—**'अभ्यस्ताऽभ्यासवैराग्याऽनुष्ठानौपयिकक्रियायोगः'** अर्थात् अभ्यास तथा वैराग्यानुष्ठान के उपायभूत **'क्रियायोग'** में प्रवीण चित्त को **'कृतरक्षासंविधान'** कहा गया है।

'प्राथमिकं प्रति'—आगे बताये जाने वाले अत्यधिक प्रयत्नसाध्य अष्टाङ्गोपाय में से अल्प आयाससाध्य तप आदि तीन साधनों को **'क्रियायोग'** नाम से पृथक् कर सूत्रकार ने उनका प्रथमतः उपदेश इसलिये किया है, क्योंकि **'योगारुरुक्षु'** संज्ञक मन्दाधिकारी, जिसे **'प्राथमिक'** भी कहते हैं, के प्रति यह **'क्रियायोग'** अल्पायास-साध्यत्व तथा स्वान्तःशोधकत्व की दृष्टि से उपयुक्ततर (उपादेयतर) होता है।

तत्त्ववैशारदी

क्रियैव योगः क्रियायोगः, योगसाधनत्वात्। अत एव विष्णुपुराणे खाण्डिक्यकेशिध्वज-संवादे—

योगयुक्प्रथमं योगी [1]युञ्जमानोऽभिधीयते॥

इत्युपक्रम्य तपःस्वाध्यायादयो दर्शिताः।

योग का साधन होने से इन 'तप' आदि क्रियाओं को 'योग' कहा गया है। यहाँ साध्य-साधन (कार्य-कारण) में अभेदोपचार विवक्षित होने से ये तप आदि क्रियाएँ ही 'क्रियायोग' कही गई हैं। इसलिये विष्णुपुराण के 'खाण्डिक्यकेशिध्वजसंवाद' में **'योगयुक्प्रथमं योगी युञ्जमानोऽभिधीयते'** अर्थात् 'योगयुक्' प्रथम (उत्तम) योगी है, सम्प्रति, युञ्जमान (योगारुरुक्षु=मध्यम) साधक के विषय में बतलाया जा रहा है'—

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – युञ्जमानः, थ द ध – युजमानः।

इस श्लोक से युञ्जमान साधक का प्रकरण प्रारम्भ करके तप, स्वाध्याय आदि साधन प्रदर्शित किये गये हैं। (इस प्रकार वाचस्पति मिश्र ने मध्यम-अधिकारी के लिये प्रतिपादित 'क्रियायोग' को पुराणसम्मत सिद्ध किया है)।

तत्त्ववैशारदी

व्यतिरेकमुखेन तपस उपायत्वमाह—नातपस्विन इति। तपसोऽवान्तरव्यापारमुपायतोपयोगिनं दर्शयति—अनादीति। अनादिभ्यां कर्मक्लेशवासनाभ्यां चित्रात एव प्रत्युपस्थितमुपनतविषयजालं यस्यां सा तथोक्ता। अशुद्धी रजस्तमःसमुद्रेको नान्तरेण तपः संभेदमापद्यते। सान्द्रस्य नितान्तविरलता संभेदः।

'तप' योग का उपाय है, इसे भाष्यकार निषेधमुख से बता रहे हैं—'नातपस्विन इति।' तप से बहिर्मुख व्यक्ति को 'योग' सिद्ध नहीं होता है अर्थात् तपश्चर्याशून्य व्यक्ति की योग-साधना निष्फल रहती है। भाष्यकार योगोपाय की दृष्टि से उपयोगी होने के कारण तप के अवान्तर फल को प्रदर्शित करते हैं—'अनादीति।' अनादि कर्म-वासना और क्लेशवासना से चित्रित अतएव प्राप्त शब्दादिविषयपाश से आकीर्ण रजोमयी एवं तमोमयी 'अशुद्धि' तपश्चर्या के विना तनुता (क्षत-विक्षतता) को प्राप्त नहीं होती है। अर्थात् सुवर्णशोधक अग्नि की भाँति चित्तशोधक तपश्चर्या में ही अनादिकाल से चित्त में एकत्रीभूत हुई मलिनता को परिमार्जित करने की शक्ति निहित है। 'सम्भेद' शब्द का अर्थ है—घनीभूत पदार्थ की सघनता को तोड़ना अर्थात् चित्त की अनन्तरालयुक्त अशुद्धि को अन्तरालयुक्त बनाना।

बालप्रिया—

सम्भेदम्—(सम्+भिद्+घञ्) भाष्यकार ने इस प्रसंग में 'नाश' के स्थान पर **'सम्भेद'** शब्द का प्रयोग यह बतलाने के लिये किया है कि तपश्चर्या चैत्तिक अशुद्धि की सघनमात्रा में गुणात्मक कृशता (योग की शब्दावली में 'तनुता') का आपादन करती है, न कि अशुद्धि को सर्वथा नष्ट कर देती है।

जिस प्रकार रोगनिवारक औषधि के प्रयोग में ऐच्छिकता हानिकारक है उसी प्रकार तपश्चर्या के अनुष्ठान में शास्त्रविमुखता घातक सिद्ध होती है—इसी को स्पष्ट करने के लिये अग्रिम विचार प्रस्तुत हो रहा है—

तत्त्ववैशारदी

ननूपादीयमानमपि तपो धातुवैषम्यहेतुतया योग[1]प्रतिपक्ष इति कथं तदुपाय इत्यत आह— तच्चेति। तावन्मात्रमेव तपश्चरणीयं न यावता धातुवैषम्यमापद्येतेत्यर्थः।

---

1. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न – प्रतिपक्षः, ज – प्रतिपक्षम्।

शङ्का–अनुष्ठेय 'तप' भी धातुवैषम्य का कारण होने से योग का विरोधी है। अतः वह 'योग' का साधन (उपाय) कैसे हो सकता है?
समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**तच्चेति**।' उतना ही तप विहित है, जिससे धातुवैषम्य न हो सके।
बालप्रिया–

'**तावन्मात्रमेव तपश्चरणीयम्**'–तप की प्रतिपादिका '**तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणां विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन**'–इस श्रुति में प्रयुक्त '**अनाशक**' शब्द ध्यान देने योग्य है। '**अनाशक**' शब्द के प्रयोग से शरीर तथा इन्द्रियादि के शोषक तप से भिन्न हित तथा मित 'तप' को योग-सिद्धि के लिये उपयोगी बताया गया है। इसीलिये 'चित्तप्रसादन का अविरोधी तप अनुष्ठेय है, ऐसा भाष्यकार ने भी कहा है। कौन सा तप अनुष्ठेय नहीं है? ऐसी शंका होने पर यह जानना चाहिये कि शरीरशोषक '**कृच्छ्रादि**' तथा धातुवैषम्य के कारणीभूत '**चान्द्रायणादि**' का अभ्यास नहीं करना चाहिये। स्मृतिवाक्य है–'**उपवासपराकादिकृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः। शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम्**।।' उपवासादि के अभ्यास से मरणापत्ति और चान्द्रायणादि के अभ्यास से धातुवैषम्यापत्ति होती है, अतः ये त्याज्य हैं।

'**स्वाध्याय**' संज्ञक क्रियायोग का प्रतिपादन किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

प्रणवादयः पुरुषसूक्तरुद्रमण्डलब्राह्मणादयो वैदिकाः, पौराणिकाश्च ब्रह्मपारायणादयः।

'**प्रणवादि**' अर्थात् पुरुषसूक्त, रुद्रमण्डल, ब्राह्मणादि वैदिक 'मन्त्रों' तथा ब्रह्म-पारायणादि पौराणिक नामों का जप अथवा उपनिषदादि मोक्षशास्त्र का अध्ययन करना '**स्वाध्याय**' है।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार क्रमप्राप्त '**ईश्वर-प्रणिधान**' का प्रकार बताते हैं–

तत्त्ववैशारदी

परमगुरुर्भगवानीश्वरस्तस्मिन्। यत्रेदमुक्तम्–

कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम् ।
तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ॥ इति।

तत्फलसंन्यासो वा। फलानभिसंधानेन कार्यकरणम् । यत्रेदमुक्तम्–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ इति ॥१॥

परमगुरु ईश्वर में निखिल कर्मों को अर्पित करना '**ईश्वरप्रणिधान**' है। समस्त कर्मों के समर्पण के विषय में कहा गया है–'**कामतो...हम्**' अर्थात् 'फल की इच्छा से अथवा निष्कामभाव से जो कुछ भी शुभाशुभ कर्म मैं करता हूँ, वह सब हे

परमेश्वर! आपको अर्पित करता हूँ। क्योंकि आप अन्तर्यामी से प्रेरित होकर ही मैं कर्म करता हूँ, अन्यथा नहीं।' अथवा 'फलसंन्यास' अर्थात् फल को लक्ष्य बनाकर कार्य न करना '**ईश्वरप्रणिधान**' है। इस विषय में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है– '**कर्मण्येव...कर्माणि**' अर्थात् हे अर्जुन! कर्मानुष्ठान में ही तेरा अधिकार है, कर्म के फल में कभी नहीं। और तू कर्मों के फल की वासना वाला भी न हो तथा तेरी कर्म न करने में आसक्ति भी न हो॥१॥

योगवार्त्तिकम्

ननु प्रथमपादेनैव योगः सोपायः सफलश्चावान्तरभेदैः सह प्रोक्तः, तत्किमपरमवशिष्यते यदर्थं द्वितीयपाद आरब्धव्य इत्याकाङ्क्षायामाह–उद्दिष्ट इति। समाहितचित्तस्य योगा[1]रूढ-चित्तस्योत्तमाधिकारिणोऽभ्यासवैराग्यमात्रसाधनेनै[2]ष क्रियायोगादि[3]सकलाङ्गानां नैरपेक्ष्येण पूर्वपादे योगः प्रदर्शितः, तेषां बहिरङ्गत्वं वक्ष्यति त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्य इति सूत्रेण तदभावेऽपि भावादिति [4]भाष्येण च। तथा चोक्तमाश्वमेधिके–

अपेतव्रतकर्मा तु केवलं ब्रह्मणि स्थितः।
ब्रह्मभूतश्चरन् लोके [5]ब्रह्मचारीति कथ्यते ॥ इति ।

तथा गारुडेऽपि–

आसनस्थानविधयो न योगस्य प्रसाधकाः।
शिशुपालः सिद्धिमाप स्मरणाभ्यासगौरवात् ॥ इति।

ते चाभ्यासवैराग्ये न सर्वेषां द्रागित्येव भवतः, अतो व्युत्थितचित्तो बहिर्मुखोऽपि [6]योग-मारुरुक्षुः क्रमात् केनोपायेन योगयुक्तः स्यादिति तमुपायं वक्तुमेतत्सूत्रजातमारभत इत्यर्थः। तदेवमधिकारभेदेन साधनभेदो गारुडादिष्वप्युक्तः–

आरुरुक्षुयतीनां च कर्मज्ञाने उदाहृते।
आरुढयोगवृक्षाणां ज्ञानत्यागौ परौ मतौ ॥ इति ।

त्यागो बाह्यकर्मणाम्। गीतायामपि–

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ इति ।

कारणं योगस्य। तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।

---

1. क ग घ च छ – आरूढ०, ख – अधिरूढ०।
2. क च छ – एषः, ख ग घ – एव।
3. क ग घ च छ – सकलाङ्गानां, उपलभ्यते, ख – सकलाङ्गानां नोपलभ्यते।
4. ख ग – तत् (भाष्येण प्राक्) उपलभ्यते, क घ च छ – तत् नोपलभ्यते।
5. क – ब्रह्मवादी, ख ग घ च छ – ब्रह्मचारी।
6. क ख ग घ – योग०, च छ – योगम्।

शङ्का—जब प्रथमपाद में ही अवान्तरभेदों के साथ उपाय तथा फलसहित **'योग'** कथित हो चुका है, तब फिर और क्या शेष रहता है, जिसके लिये द्वितीय पाद आरम्भ किया जाय?

समाधान—ऐसी जिज्ञासा होने पर भाष्यकार कहते हैं—**'उद्दिष्ट इति।'** प्रथमपाद में **'समाहितचित्त'** अर्थात् योगारूढ चित्त वाले उत्तम अधिकारी के लिये क्रियायोगादि सकल साधनों (अङ्गों) से निरपेक्ष केवल अभ्यास तथा वैराग्य साधन द्वारा सिद्ध होने वाला **'योग'** प्रदर्शित किया गया है। 'योग' के प्रति क्रियायोगादि सकल अङ्गों की बहिरङ्गता **'त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः'** (यो. सू. ३/७) इस सूत्र तथा **'तदभावेऽपि भावादिति'** इस भाष्य के द्वारा आगे बताई जायेगी। जैसा कि महाभारत के आश्वमेधिक प्रकरण में कहा गया है—**'अपेतव्रत...कथ्यते'** (२६/१६) अर्थात् 'व्रत के कर्म से रहित केवल ब्रह्म में स्थित होकर ब्रह्ममयता को प्राप्त कर संसार में सञ्चरण करता हुआ साधक 'ब्रह्मचारी' कहलाता है।' इसी प्रकार गरुडपुराण में कहा गया है—**'आसन... गौरवात्'** (२२७/४४-४५) अर्थात् '(उत्तमाधिकारी के लिये) पद्मादि आसन, चक्रादि स्थान तथा प्राणायामादि की विधियाँ योग को सिद्ध करने वाली नहीं होती हैं। क्योंकि (उत्तमाधिकारी) शिशुपाल ने तो ईश्वरप्रणिधान के माहात्म्य से ही योगसिद्धि को प्राप्त किया।' पूर्ववर्णित अभ्यास तथा वैराग्य सभी मनुष्यों द्वारा अतिशीघ्र अनुष्ठेय नहीं होते हैं। अतः 'व्युत्थित चित्त' वाला बहिर्मुख (विषयाभिमुख) व्यक्ति भी—जिसे योगप्राप्ति की अभिलाषा है—किसी न किसी उपाय से 'योगयुक्त' हो सके, तदर्थ उपाय को बताने की इच्छा से (मध्यमाधिकारी को योग में प्रतिष्ठित करने के लिये) सूत्रसमुदाय को प्रारम्भ किया जा रहा है। इसीलिये गरुडादि पुराणों में भी अधिकारी-भेद से साधन का भेद वर्णित है—**'आरुरुक्षु...परौ मतौ'** (ग. पु. १/२२७/४) अर्थात् 'योगारूढ की इच्छा वाले यतियों के लिये कर्म और ज्ञान उपदिष्ट हुए हैं। किन्तु योगरूप वृक्ष पर आरूढ योगियों के लिये ज्ञान तथा बाह्यकर्म का त्याग करना माना गया है।' उक्त श्लोक में आये **'त्याग'** शब्द का अर्थ है—बाह्य कर्म का परित्याग। गीता में भी उक्त है—**'आरुरुक्षो... कारणमुच्यते'** (६/३) अर्थात् 'ज्ञानयोग को प्राप्त करने की इच्छा वाले मुनि के लिये ज्ञानयोग की प्राप्ति में कर्म साधन कहा जाता है और ज्ञानयोग में आरूढ उसी मुनि के लिये विदेहकैवल्य की प्राप्ति में शम साधन कहा जाता है।' इस श्लोक में आये **'कारण'** शब्द का अर्थ है—योग का कारण। सूत्र है—'तप इति।'

योगवार्त्तिकम्

योगोपायत्वाद्योगः क्रिया चासौ योगश्चेति विग्रहः। तप आदीनि त्रीणि क्रियायोग इत्यर्थः।

ईश्वरप्रणिधानरूपो भक्तियोगो[1]ऽप्यत्र क्रियायोगमध्य एव प्रवेशितः। [2]यत्तु–

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता भक्तिज्ञानक्रियाऽऽत्मकाः॥

इत्यादिस्मृतिषु त्रय एव योगोपायत्वाद्योगा उक्ताः, तत्र ज्ञानयोगो धारणाध्यानसमाधि-रूपः पूर्वपादे प्रोक्तः, विस्तरस्त्वस्याग्रे भविष्यतीति। यद्यपि यमादयोऽपि क्रियायोगास्तथाऽपि [3]वक्ष्यमाणयमनियमादिषु मध्ये तप आदित्रयं प्रकृष्टतयाऽऽदौ पृथङ् निर्दिष्टं केवलेनैतेनापि तीव्रतरेण योगो भवतीति सूचयितुमिति बोध्यम्।

"**क्रिया चासौ योगश्चेति क्रियायोगः**" (कर्मधारयसमास) इस विग्रह के अनुसार 'योग' का उपाय होने से तपादि क्रियाएँ '**क्रियायोग**' कही जाती हैं। ईश्वरप्रणिधानरूप '**भक्तियोग**' भी इसी क्रियायोग में ही अन्तर्भुक् होता है। और जो–'**योगास्त्रयो... क्रियात्मकाः**' (श्रीमद्भागवत ११/२०/६) अर्थात् 'मेरे द्वारा भक्तिरूप, ज्ञानरूप और क्रियारूप तीन प्रकार का योग कहा गया है'–इत्यादि स्मृतिशास्त्रों में योगोपायरूप से ही भक्ति, ज्ञान और क्रियारूप तीन प्रकार का 'योग' उपदिष्ट हुआ है, उसमें से धारणा-ध्यान-समाधिरूप 'ज्ञानयोग' पूर्वपाद में संकेतित है, जिसका विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा। यद्यपि यमादि को भी '**क्रियायोग**' कहते हैं, तथापि वक्ष्यमाण यम, नियमादि के मध्य में से तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान–इन तीन का विशेषरूप से प्रथमतः निर्देश इसलिये किया गया है, जिससे यह ध्वनित (सूचित) हो सके कि तत्परता के साथ सम्पादित इन तीन के द्वारा भी 'योग' निष्पन्न होता है।

योगवार्त्तिकम्

ननु स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानं च तत्त्वज्ञानेश्वरा[4]नुग्रहाभ्यां योगोपकारकं स्यात् तपस्तु देहेन्द्रियशोषणात्मकं केन द्वारेण योगस्योपकारकं [5]भवतु; प्रत्युत चित्तक्षोभकत्त्वेन योग-विरोध्येवेत्याशङ्क्य तपसो द्वारमाह–नातपस्विन इति। असिद्धौ हेतुमाह–अनादीति। अनादि क्लेशकर्मवासनया हेतुना चित्रा नानाविधाऽशुद्धिः पापाख्या प्रत्युपस्थापितविषयजालतया योगविरोधिनी तपो विना न संभेदं तनुतामापद्यत इत्यर्थः। इतीति। इत्यतः साधनमध्ये तपसो ग्रहणमित्यर्थः। योगविरोधशङ्कामपाकरोति–तच्चेति। तच्च तपश्चित्तप्रसादाविरोधि मृद्वेवानेन योगिना कर्त्तव्यमिति परमर्षिभिर्मन्यत इत्यर्थः। [6]पवित्राणां पापक्षयहेतुनाम्।

---

1. क घ च छ – अप्यत्र क्रियायोग० उपलभ्यते, ख ग – अप्यत्र क्रियायोग० नोपलभ्यते।
2. क ग घ – यतः, ख – यत्तु, च छ – अतः।
3. क ख ग – वक्ष्यमाणेषु, घ च छ – वक्ष्यमाण०।
4. ख ग घ – द्वाराभ्यां (अनुग्रहाभ्यां पश्चात्) उपलभ्यते, क च छ – द्वाराभ्यां नोपलभ्यते।
5. क ग घ च छ – भवतु, ख – भवति।
6. क ख घ च छ – पवित्राणां....परमेश्वरेऽन्तर्यामिण्यर्पणमित्यर्थः उपलभ्यते, ग – पवित्राणां... इत्यर्थः नोपलभ्यते।

शङ्का—'स्वाध्याय' तथा 'ईश्वरप्रणिधान' संज्ञक क्रियायोग तो (क्रमशः) तत्त्वज्ञान तथा ईश्वरानुग्रह द्वारा योग के उपकारक (योग को प्राप्त कराने में सहायक) भले ही हों, किन्तु देह और इन्द्रियों का शोषण करने वाला 'तप' भला किस प्रकार 'योग' का सहायक हो सकता है? वह तो चित्त में क्षोभ उत्पन्न करने से 'योग' का विरोधी है? (भाव यह है कि 'तप' द्वारा देहेन्द्रिय की कृशता से उत्पन्न शारीरिक असन्तुलन चित्त को प्रभावित कर उसकी एकाग्रता को खण्डित करता है। इस प्रकार एकाग्रता-भंग से 'योग' सिद्ध नहीं होता है)।

समाधान—ऐसी आशंका होने पर भाष्यकार 'तप' के द्वार को बताते हैं अर्थात् किस माध्यम से 'तप' योग का उपकारक होता है, इसे स्पष्ट करते हैं—'**नातपस्विन इति**।' अर्थात् अतपस्वी (विषयवासनाओं में लिप्त पुरुष) को 'योग' सिद्ध नहीं हो सकता है। भाष्यकार अतपस्वी को योग सिद्ध न होने में हेतु उपन्यस्त करते हैं—'**अनादीति**।' अनादि अविद्यादि क्लेश, क्लेशजन्य कर्म तथा कर्मजन्य शुभाशुभ वासना (कर्माशय) से चित्रित होने से बहुकोणीय पापात्मिका '**अशुद्धि**' विषयजाल को प्रसृत कराने वाली होने से 'योग' की प्रतिद्वन्द्विनी है। अतः 'तप' के विना 'अशुद्धि' '**संभेद**' अर्थात् तनुत्व को प्राप्त नहीं होती है। अर्थात् तप के विना कृश होती हुई स्वतः विनष्ट नहीं होती है। आगे का भाष्य है—'**इतीति**।' अतः योगसाधन में 'तप' का समावेश (उपादान) किया गया है। अब भाष्यकार 'तप' योग का विरोधी है'—इस शंका का निरसन करते हैं—'**तच्चेति**।' चित्तप्रसाद का अभञ्जक अर्थात् चैत्तिक प्रसन्नता को क्षतिग्रस्त न करता हुआ तप मृदुतापूर्वक शनैः-शनैः ही योगी के द्वारा करणीय होता है ऐसा महर्षि लोग स्वीकार करते हैं। '**स्वाध्याय**' के लक्षण में आये '**पवित्राणां**' पद की व्याख्या करते हुए योगवार्त्तिककार कहते हैं—'**पवित्र**' शब्द का अर्थ 'पाप-क्षय का हेतु' है। अर्थात् प्रणवादि पवित्र मन्त्र पापनाशक होते हैं।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार प्रथमपाद तथा द्वितीयपाद में प्रतिपादित 'ईश्वरप्रणिधान' में पार्थक्य बताते हैं—

योगवार्त्तिकम्

प्रथमपादोक्तप्रणिधानादतिरिक्तमत्र प्रणिधानमाह—सर्वक्रियाणामिति। लौकिकवैदिक[1]साधारण्येन सर्वकर्मणां परमेश्वरेऽन्तर्यामिण्यर्पणमित्यर्थः। तदुक्तं गीतायाम्—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ इति ।

अर्पणं च—

---

1. क ख घ – साधारण्येन, च छ – असाधारण्येन।

कामतोऽकामतो वाऽपि यत्करोमि शुभाशुभम् ।
तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ॥

इत्यादिस्मृतिभिर्व्याख्यातमिति। त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहमिति चिन्तनमेव संन्यास इत्यर्थः। अत्र प्रयोक्तृत्वमन्तर्यामिविधयैव न तु श्रुतिद्वारा, अशुभकर्मसु श्रुत्यभावादिति। एतदपेक्षयाऽपि प्रकृष्टं द्विविधं कर्मार्पणान्तरं कौर्मे प्रोक्तम्—

ब्रह्मणा दीयते देयं [1]ब्रह्मणे संप्रदीयते ।
ब्रह्मैव दीयते चेति ब्रह्मार्पणमिदं परम् ॥
नाहं कर्त्ता सर्वमेतत् ब्रह्मैव कुरुते तथा।
एतद् ब्रह्मार्पणं प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ इति ।

तत्फलेति। एतदपि कौर्मे प्रोक्तम्—

यद्वा फलानां संन्यासं प्रकुर्यात्परमेश्वरे ।
कर्मणामेतदप्याहुर्ब्रह्मार्पणमनुत्तमम् ॥ इति ।

कर्मफलानामीश्वरो भोक्तेति चिन्तनं कर्मफलसंन्यासः,

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ॥

इत्यादिवाक्यात्। तदुक्तम्—

करोति यद्यत्सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्[2] ॥ इति ।

[3]अपि च यज्ञादीनां हीन्द्रादिभावापन्नस्यान्तर्यामिणो भोग एव मुख्यं फलम्—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

इत्यादिवाक्येभ्य इति। नन्वत्र वाक्ये विष्ण्वा[4]ख्यदेवताविशेषस्यैवेतरदेवतायजनेन यजनं प्रोक्तं न परमात्मन इति चेत्? न;

परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मयः ॥

---

1. क – ब्रह्मणि, ख ग घ च छ – ब्रह्मणे।
2. ख – ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमेश्वरार्द्धे – इत्यादिश्रुतिभिः यजमानेन सहाऽन्तर्यामिणोऽपि यज्ञफलैर्भोक्तृत्वं सिद्धम्। अत्र चाऽन्तर्यामिणो भोगः। तज्ज्ञानरूपैश्वर्यसुखभोग एव, धनदातुर्धनभोगवदिति मन्तव्यम्। नारदीयेष्वेवमेवेश्वरस्य सर्वकर्मफलभोक्तृत्वमुक्तम् – यो देवः सर्वभूतानामन्तरात्मा जगन्मयः। सर्वकर्मफलं भुङ्क्ते परिपूर्णः सनातनः (तत् पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – ऋतं.....सनातनः नोपलभ्यते।
3. ख – अपि च उपलभ्यते, क ग घ च छ – अपि च नोपलभ्यते।
4. क ग घ च छ – आख्य०, ख – आदि०।

इत्यनुगीतावाक्यतः श्रीकृष्णस्य भगवद्गीतायां परमात्मोपदेशस्यैव लाभादिति। यद्यपीश्वरस्य भोगो नित्यः[1] तथाऽपि सिसृक्षाऽऽद्युत्पत्तिवत् तदुत्पत्तिर्गौणी, यज्ञादिसहकारेणैव फलदातृतयेश्वरप्रीतेरभिव्यक्तेः। नन्वीश्वरप्रणिधानमत्र पूर्वपादोक्तभावनारूपमेव कथं न भवति? तत्राह—स हि क्रियायोग इति। स हि स एव फलसंन्यासः कर्मार्पणं च क्रियायोगो भवति, कर्मशेषत्वात्ाज्जपस्तदर्थभावनमिति पूर्वोक्तं च भावनारूपं प्रणिधानं ज्ञानमेव, कर्मतच्छेषत्वयोरभावादित्यर्थः। उत्तरसूत्रेण सहान्वये तु हिशब्दवैयर्थ्यमिति बोध्यम् ॥ १ ॥

भाष्यकार प्रथम पाद में वर्णित ईश्वरप्रणिधान से प्रकृत पादीय **'प्रणिधान'** को भिन्न बताते हैं—**'सर्वक्रियाणामिति'** लौकिक तथा वैदिक का भेद किये विना समस्त क्रियाओं को अन्तर्यामी परमेश्वर में समर्पित करना **'ईश्वरप्रणिधान'** है। जैसा कि गीता में कहा गया है—**'यत्करोषि...मदर्पणम्'** (९/२७) अर्थात् 'हे अर्जुन! जिस विहित कर्म को तुम करते हो, जिस शास्त्रीय अनायासलब्ध अन्न को तुम खाते हो, जिस चरु, पुरोडाश आदि का देवता के लिये तुम होम करते हो, जिन पात्रों में तुम दान करते हो और जो संध्यावन्दन आदिरूप तप करते हो, उन सबका तुम ब्रह्मबुद्धि (मदर्पण दृष्टि) से ही अनुष्ठान करो।' अर्पण का स्वरूप स्मृतियों द्वारा वर्णित है—**'कामतो...करोम्यहम्'** अर्थात् 'फल की इच्छा से अथवा निष्कामभाव से जो कुछ भी शुभाशुभ कर्म मैं करता हूँ, वह सब हे परमेश्वर! आपको अर्पित करता हूँ, क्योंकि आप अन्तर्यामी से प्रेरित होकर ही मैं कर्म करता हूँ, अन्यथा नहीं।' **'त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहमिति'**—इस प्रकार के चिन्तन (भावन) को ही **'कर्मफलसंन्यास'** कहते हैं। अर्थात् फलानभिसन्धानपूर्वक कर्म करना ही **'कर्मफलसंन्यास'** है। अन्तर्यामी होने के कारण ही परमेश्वर को जीवों का प्रयोक्ता अर्थात् प्रेरक समझना चाहिये न कि श्रुति द्वारा ऐसा शब्दतः कहा गया है, क्योंकि शुभकर्मों के प्रति तो श्रुति प्रेरणा दे सकती है, किन्तु अशुभ कर्मों के प्रति नहीं। कूर्मपुराण में तो इस कर्मार्पण की अपेक्षा उत्कृष्टतर दो प्रकार का पृथक् कर्मार्पण उपदिष्ट हुआ है—**'ब्रह्मणा... तत्त्वदर्शिभिः'** (पूर्व. ३/१५) अर्थात् 'ब्रह्म के द्वारा ही जो देय है वह दिया जाया करता है। अतः ब्रह्म के लिये ही उसी का सम्पादन कर दिया जाता है। ब्रह्म ही दिया जाता है, यही परम ब्रह्मार्पण होता है।' 'तत्त्वों को जानने वाले महर्षियों ने यही बतलाया है कि मनुष्य को यही समझ लेना चाहिये कि मैं तो किसी का भी करने वाला नहीं हूँ। यह सभी कुछ जो होता है उसे वही ब्रह्म किया करता है—यही ब्रह्मार्पण होता है।' योगवार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं—**'तत्फलेति'**

---

1. ख – यथा, शिवस्य परमा शक्तिर्नित्यानन्दमयीत्यहमिति कौर्मे पार्वतीवाक्येन शिवोपाधौ नित्यानन्दः सिद्धः। उपाधौ सुखनित्यत्वे च तदनुभवरूपस्य भोगस्यापि नित्यत्वं सिद्धम् (नित्यः पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ यथा....सिद्धं नोपलभ्यते।

'कर्मफलसंन्यास' के विषय में भी कूर्मपुराण में कहा गया है—**'यद्वा...नुत्तमम्'** (पूर्व. ३/१८) अर्थात् 'कर्मजन्य फलों का परित्याग (समर्पण) परमेश्वर में करना चाहिये। इसको भी विद्वान् लोग अत्युत्तम 'ब्रह्मार्पण' कहते हैं।' कर्मजन्य फलों का भोक्ता ईश्वर है, इत्याकारक चिन्तन को **'कर्मफलसंन्यास'** कहते हैं। क्योंकि ऐसा वाक्य है—**'भोक्तारं...महेश्वरम्'** (गीता ५/२९) अर्थात् '(निदिध्यासन करने वाला यति) यज्ञ और तप के भोक्ता, सम्पूर्ण लोकों के महेश्वर, (सम्पूर्ण प्राणियों के सहृत् मुझको जानकर परम शान्ति को प्राप्त होता है)।' और भी कहा गया है—**'करोति...तत्'** (श्रीमद्भागवत् ११/२/३६) अर्थात् हे मनुष्य! जो कुछ भी तू करता है, उन समस्त कर्मों को श्रेष्ठ नारायण के लिये समर्पित कर।' किञ्च यज्ञादि अनुष्ठानों में इन्द्रादिभाव को प्राप्त हुए अन्तर्यामी का भोग ही मुख्यफल है, क्योंकि ऐसा वाक्य है—**'येऽप्य...पूर्वकम्'** (गीता ९/२३) अर्थात् 'हे कौन्तेय! जो पुरुष श्रद्धायुक्त होकर (भेदबुद्धि से) इन्द्रादि अन्य देवताओं की उपासना करते हैं, वे यद्यपि मेरी ही उपासना करते हैं, तथापि अज्ञानतापूर्वक उपासना करते हैं, इसलिये उन्हें बार-बार जन्म-मरण का ग्रहण करना ही पड़ता है।'

शङ्का—उक्त वाक्य में तो अन्य देवताविषयक यज्ञ के द्वारा विष्ण्वाख्य देवताविशेष का ही यजन बतलाया गया है, न कि परमात्मविषयक यजन का?

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अनुगीता के **'परं हि...तन्मयः'** (अश्वमेध पर्व २१६/१३) इस वाक्य से भगवद्गीता में श्रीकृष्ण का परमात्मोपदेश के रूप से ही ग्रहण होता है। यद्यपि ईश्वर का नित्यभोग है तथापि सृष्टि की उत्पत्ति की इच्छा की भाँति ईश्वर की कर्मफलभोग की उत्पत्ति (अभिव्यक्ति) गौण है अर्थात् ईश्वर में कर्मफलभोग की इच्छोत्पत्ति सिसृक्षा की उत्पत्ति की भाँति गौण है, क्योंकि यज्ञादि के सम्पादन द्वारा ही फलदातृत्वरूप से ईश्वरीय-प्रीति की अभिव्यक्ति होती है।

शङ्का—इस द्वितीयपाद में वर्णित **'ईश्वरप्रणिधान'** प्रथमपादोक्त **'ईश्वरप्रणिधान'** की भाँति भावनारूप (चिन्तनरूप) ही क्यों नहीं है? अर्थात् प्रकृत ईश्वरप्रणिधान को क्रिया-रूप क्यों कहा जा रहा है?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—**'स हि क्रियायोग इति।'** कर्मफलत्याग तथा कर्मार्पणरूप ईश्वरप्रणिधान ही **'क्रियायोग'** कहलाता है, क्योंकि यह कर्मशेषरूप (क्रियारूप) है। जब कि **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'** (१/२८) सूत्र में प्रतिपादित भावना-रूप प्रणिधान ज्ञानरूप (ज्ञानप्रधान) ही है, क्योंकि उसमें कर्म और कर्मफलत्याग दोनों का अभाव रहता है। योगवार्त्तिककार का कहना है कि **'स हि क्रियायोगः'** इस

भाष्य का अन्वय २/१ सूत्र के साथ न करके उत्तरसूत्र २/२ के साथ करने पर भाष्य में प्रयुक्त (हेत्वर्थक) **'हि'** शब्द व्यर्थ हो जायेगा ॥१॥

बालप्रिया–

'स हि क्रियायोगः'– मिश्र-भिक्षु-मतभेद–'स हि क्रियायोगः'–इस वैयासिक अंश को वाचस्पति मिश्र ने द्वितीय सूत्र की अवतरणिका के रूप में प्रयुक्त माना है–**'तस्य प्रयोजनाभिधानाय सूत्रमवतारयति'–'स हीति'** जब कि विज्ञानभिक्षु ने उक्त भाष्य को प्रथम सूत्र का अंश मानकर उसकी वहीं पर व्याख्या की है तथा उत्तरसूत्र के साथ उसके अन्वय को दोषपूर्ण सिद्ध किया है–**'उत्तरसूत्रेण सहान्वये तु हिशब्दवैयर्थ्यमिति बोध्यम्'** आगे चलकर योगभाष्य के टिप्पणकार बालरामोदासीन ने भिक्षुमत में अरुचि व्यक्त करते हुए कहा है कि तब तो उनके पक्ष के अनुसार **'अयं हि क्रिया-योग इति'** ऐसा भाष्य होना चाहिये था॥१॥

भाष्यकार अगले सूत्र को अवतरित करते हैं–

व्यासभाष्यम्

स हि क्रियायोगः–

वह क्रियायोग–

योगसूत्रम्

समाधिभावनार्थः [1]क्लेशतनूकरणार्थश्च॥२॥

समाधि की भावना करने के लिये तथा क्लेशों के तन्वीकरण (शिथिलीकरण) के लिये (क्रियायोग) होता है॥२॥

व्यासभाष्यम्

स ह्यासेव्यमानः समाधिं भावयति क्लेशांश्च प्रतनूकरोति। प्रतनूकृतान्क्लेशान्प्रसंख्यानाग्निना दग्धबीजकल्पानप्रसवधर्मिणः करिष्यतीति, तेषां तनूकरणात्पुनः क्लेशैरपरामृष्टा सत्त्वपुरुषान्यता[2]मात्रख्यातिः सूक्ष्मा प्रज्ञा समाप्ताधिकारा प्रतिप्रसवाय [3]कल्पिष्यत इति ॥ २ ॥

अच्छी तरह से सेवन किया जाता हुआ 'क्रियायोग' समाधि को सिद्ध कराता है तथा (अविद्यादि) क्लेशों को प्रशिथिलीकृत करता है। स्वल्पीकृत क्लेशों को प्रसंख्यानाग्नि के द्वारा दग्धबीज की भाँति प्रसवशून्य (अंकुरा-

1. क्लशकर्मतनू०–इति पाठान्तरम्।
2. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म – मात्र० उपलभ्यते, घ प फ य र – मात्र० नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च झ त द ध प फ ब भ म य र – कल्पिष्यते, छ ज थ न – कल्पयिष्यते।

नुद्भव की भाँति व्यापारशून्य) किया जाता है। क्योंकि क्लेशों को क्षीण कर देने से क्लेशों से अनभिभूत अर्थात् क्लेशों से पुनः संस्पृष्ट न होने वाली विवेकख्यातिरूपिणी सूक्ष्मबुद्धि कृतकृत्य (कर्तव्यशून्य) होकर (मूलकारण अव्यक्त में) स्वयं प्रविलीन हो जाती है॥२॥

तत्त्ववैशारदी

तस्य प्रयोजनाभिधानाय सूत्रमवतारयति–स हीति। सूत्रम्–समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च। ननु क्रियायोग एव चेत्क्लेशान्प्रतनूकरोति कृतं तर्हि प्रसंख्यानेनेत्यत आह–प्रतनूकृतानिति। क्रियायोगस्य प्रतनूकरणमात्रे व्यापारो न तु बन्ध्यत्वे क्लेशानाम्। प्रसंख्यानस्य तु तद्वन्ध्यत्वे। दग्धबीजकल्पानिति बन्ध्यत्वेन [1]दग्धकलमबीजसारूप्यमुक्तम्।

'क्रियायोग' का प्रयोजन प्रतिपादित करने के लिये भांष्यकार सूत्र को अवतरित करते हैं–**'स हीति।'** सूत्र है–**'समाधीति।'**

शङ्का–यदि पूर्ववर्णित **'क्रियायोग'** ही (अविद्यादि) क्लेशों को स्वल्पीकृत कर देता है, तो फिर **'प्रसंख्यानाग्नि'** (विवेकख्याति) का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–**'प्रतनूकृतानिति।'** अविद्यादि क्लेशों के प्रशिथिलीकरण में ही **'क्रियायोग'** का उपयोग है, न कि क्लेशों के बन्ध्यीकरण में। अर्थात् 'क्रियायोग' अत्यन्त बलशाली अविद्यादि क्लेशों की क्लेशदायकत्वशक्ति को शिथिलप्राय करता है। क्लेशों को सर्वथा बन्ध्य (अप्रसवधर्मित्व) की स्थिति में पहुँचाना **'क्रियायोग'** की शक्ति से परे है। प्रसंख्यानाग्नि में ही तन्वीकृत क्लेशों के बन्ध्यीकरण का सामर्थ्य निहित है। भाष्यकार ने **'दग्धबीजकल्पान्'** पद के द्वारा क्लेशों के बन्ध्यत्व को **'दग्धकलमबीज'** के सारूप्य वाला बताया है। (भाव यह है कि जिस प्रकार अग्नि द्वारा दग्ध कलमबीज में अङ्कुरोद्भव की लेशमात्र भी शक्ति निहित न रहने के कारण उससे प्रसवसम्बन्धिनी आशा करना व्यर्थ रहता है उसी प्रकार विवेकज्ञानाग्नि द्वारा बन्ध्य अविद्यादि क्लेशप्रदातृत्वरूप शक्तिप्रदर्शन को पुनः कैसे कर सकते हैं)?

प्रसंख्यानाग्नि की महती शक्ति की बात सुनकर पूर्वपक्षी का चित्त **'क्रियायोग'** के विषय में पुनर्विचार के लिये बाध्य हो जाता है–

तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्–प्रसंख्यानमेव चेत्क्लेशानप्रसवधर्मिणः करिष्यति, कृतमेषां प्रतनूकरणेनेत्यत आह–तेषामिति। क्लेशानामतानवे हि बलवद्विरोधिग्रस्ता सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरुदेतुमेव

---

1. क ध – दग्धकलमः, ख घ च छ ज झ त न – दग्धकलम०, ग–दग्धकल्प०, थ – दग्धकलमे, द – दग्धकल्पम्।

नो[1]त्सहेत, प्रागेव तद्वन्ध्यभावं कर्तुम्। प्रविरलीकृतेषु तु क्लेशेषु दुर्बलेषु तद्विरोधिन्यपि वैराग्याभ्यासाभ्यामुपजायते। उपजाता च तैरपरामृष्टाअनभिभूता नैव यावत्परामृश्यत इति। सत्त्वपुरुषान्यतामात्रख्यातिः सूक्ष्मा प्रज्ञा, अतीन्द्रियतया सूक्ष्मोऽस्या विषय इति सूक्ष्मा प्रज्ञा, प्रतिप्रसवाय प्रविलयाय कल्पिष्यते। कुतः? यतः समाप्ताधिकारा समाप्तोऽधिकारः कार्यारम्भणं गुणानां यया[2] हेतुभूतया सा तथोक्तेति॥२॥

शङ्का—ठीक है, जब **'प्रसंख्यानाग्नि'** (विवेकख्याति) ही क्लेशों को अप्रसवधर्मी बना देगी, तो फिर **'क्रियायोग'** द्वारा क्लेशों को तन्ववस्था करने की क्या आवश्यकता है?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—**'तेषामिति'** क्लेशों के 'तनु' न होने अर्थात् क्लेशों के उदारावस्थाक रहने पर जब बलवद्विरोधी क्लेशों से आक्रान्त **'सत्त्वपुरुषा-न्यताख्याति'** स्वयं उदय होने का साहस ही नहीं कर पाती है तब उस (अनुदित विवेकख्याति) से क्लेशों के बन्ध्यीकरण की बात तो बहुत दूर की है। **'क्रियायोग'** द्वारा क्लेशों के दुर्बल (तनु) हो जाने पर **'वैराग्य'** और **'अभ्यास'** के द्वारा क्लेश-विरोधिनी सत्त्वपुरुषान्यताख्याति का उदय होता है। किञ्च प्रादुर्भूत यह **'सत्त्वपुरुषा-न्यताख्याति'** क्लेशों से **'अपरामृष्ट'** अर्थात् अनभिभूत (अतिरस्कृत) रहती है। क्लेशों से इसका पुनः सम्पर्क नहीं होता है। इस **'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति'** को **'सूक्ष्मप्रज्ञा'** इसलिये कहते हैं कि यह चक्षुरादि इन्द्रिय से अगोचर सूक्ष्म विषय वाली होती है। ऐसी **'सूक्ष्मप्रज्ञा'** प्रतिप्रसव अर्थात् प्रविलय के लिये स्वतः समर्थ होती है।

शङ्का—**'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति'** का लय किस कारण से होता है?

समाधान—गुणों का कार्यारम्भण (महदादि आविर्भाव) रूप अधिकार अर्थात् व्यापार जिस विवेकख्याति के उदित होने से समाप्त हो जाता है, उस प्रकार की यह **'विवेकख्याति' 'समाप्ताधिकारा'** कही जाती है॥२

बालप्रिया—

'समाप्ताधिकारा'—नित्य गुण परिणाम-क्रिया में सर्वदा सन्लग्न रहते हैं। किन्तु जिस चित्त में, जड़ के महदादि से चेतन पुरुष का भेदात्मक बोध, जागरित हो जाता है, वह चित्तविशेष **'समाप्ताधिकार'** कहा जाता है। सत्त्वपुरुषान्यताख्याति के लिये **'समाप्ताधिकारा'** पद का व्यवहार धर्म-धर्मी में अभेद-विवक्षा से है। जिस चित्त में विवेकख्याति का उदय होता है उस चित्त के लिये और कुछ करणीय शेष नहीं रहता है। इस प्रकार चित्त-धर्मी की समाप्ताधिकारता उसके सत्त्वपुरुषान्यताख्याति-रूप वृत्ति-धर्म में व्यवहृत हुई है। अविप्लुतविवेकख्याति योग-साधना का वह

---

1. क ग घ च छ ज झ त थ द ध – उत्सहते, ख न – उत्सहेत।
2. क ख ग थ द ध – यया, घ च छ ज झ त न – यथा।

सर्वोत्कृष्ट फल है, जिसके क्रम से असम्प्रज्ञात तक पहुँचा हुआ साधक 'कैवल्य' पद पर प्रतिष्ठित होता है॥२॥

योगवार्त्तिकम्

तेषां योगद्वारमाह–समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च। उभयार्थत्वे हेतुमाह–स हीति। आ सम्यक् निष्कामादिरूपेण सेव्यमानः स हि स एव कर्मयोगः कर्मातिरिक्तविषयेभ्यो निरुद्धवृत्तिकं निष्पापं च चित्तं करोति ततः क्रमेण सत्त्वोद्रेकादेकाग्रमन्यत्रापि करोति; अविद्याऽऽदिकं च प्रकर्षेणानायासेन तनूकरोति सत्त्वशुद्ध्यादिद्वारे[1]त्यर्थः। उत्तमाधिकारिणश्च समाधियोग्यता क्लेशतनुता च सिद्धैवेत्यतः पूर्वपादे तदुभयं योगसाधनतया नोक्तम्। नन्वविद्याऽऽदीनां क्लेशानां नाशेनैव संसारोच्छेदः, प्रतनूकरणेन तु किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाह–प्रतनूकृतानिति। प्रतनूकृतांश्च शुष्केन्धन[2]तुल्यान् कृतान् क्लेशान् क्रियायोगः स्वयमुद्दीपितेन प्रसंख्यानाग्निना विवेकख्यातिवह्निना दग्धबीजवदप्रसवधर्मिणोऽप्रसवस्वभावान् संस्काराजनकान् करिष्यति, जीवन्मुक्तिदशायामिति शेषः। प्रसंख्यानाग्निज्वालने तनूकरणस्य द्वारं वदन् पूर्वोक्तार्थमुपसंहरति–तेषामिति। अपरामृष्टा=अनभिभूता, तथा चानभिभव एव तनूकरणस्य द्वारमिति। सूक्ष्मेति। सूक्ष्मविषयत्वात् सूक्ष्मा साक्षात्काररूपिणी प्रज्ञा क्रमेण समाप्तकर्त्तव्या चरमासंप्रज्ञाते प्रतिप्रसवाय प्रलयाय कल्पिष्यते विदेहकैवल्यदशायामिति शेषः। तदेवं क्रियायोगस्य मोक्षज्ञानादिव्यापारकथनात्कर्मयोगो ज्ञानादिसाधनतया ज्ञानाद्यङ्गमेव न साक्षान्मोक्षहेतुरिति सिद्धान्त इति ॥२॥

तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान किस प्रकार योग के 'द्वार' अर्थात् साधन बनते हैं, इसे सूत्रकार बताते हैं–**'समाधीति।'** भाष्यकार समाधिभावन तथा क्लेशतनूकरण दोनों के प्रति **'क्रियायोग'** का हेतुत्व प्रतिपादित करते हैं–**'स हीति।'** निष्कामभाव से भली-भाँति सम्पादित किया जाता हुआ 'क्रियायोग' अर्थात् 'कर्मयोग' चित्त को ध्येयातिरिक्त विषयों से निरुद्धवृत्ति वाला तथा पापरहित बनाता है। इस क्रम से कर्मयोग सत्त्वगुण की अधिकता के कारण चित्त को ध्येय विषय में भी एकाग्र बनाता है और सत्त्वशुद्ध्यादि द्वारा अविद्यादि को भी अनायास तनूकृत करता है। (यह क्रियायोग मध्यमाधिकारी के लिये है)। उत्तमाधिकारी को समाधियोग्यता तथा क्लेशतनुता स्वभावतः सिद्ध रहती है। अतः प्रथमपाद में तदर्थ (समाधिभावनार्थ तथा क्लेशतनूकरणार्थ) **'क्रियायोग'** को योगसाधन के रूप से अभिहित नहीं किया गया है।

---

1. ख – तनुत्वं विवेकख्यातिप्रतिबन्धकताऽवच्छेदकस्योत्कटत्वस्याभाव इति (इत्यर्थः पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – तनुत्वं...भाव इति नोपलभ्यते।
2. क ख ग च छ – तुल्यान् कृतान्, घ – तुल्यीकृतान्।

शङ्का–जब अविद्यादि क्लेशों का नाश होने से ही संसारोच्छेद (बन्धाभाव) हो सकता है तब क्लेशों के तनुकरण की प्रक्रिया का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है? अतः **'क्रियायोग'** व्यर्थ है?

समाधान–ऐसी आकांक्षा होने पर भाष्यकार कहते हैं–**प्रतनूकृतानिति।** **'क्रियायोग'** **'प्रतनूकृत'**=शुष्क काष्ठ की भाँति शक्तिहीन किए अविद्यादि क्लेशों को जीवन्मुक्ति की दशा में स्वतः प्रादुर्भूत **प्रसंख्यानाग्नि'**=विवेकानल के द्वारा दग्धबीज की भाँति **'अप्रसवधर्मी'**=संस्कारोत्पत्ति के लिये बन्ध्य बना देता है। भाष्यकार प्रसंख्यानाग्नि के प्रज्वालन में क्लेशों के तनूकरण को द्वार (अवान्तरसाधन) बतलाते हुए पूर्वोक्त तथ्य को उपसंहृत करते हैं–**'तेषामिति।'** भाष्य में प्रयुक्त **'अपरामृष्ट'** शब्द का अर्थ है–अनभिभूत। इस प्रकार प्रसंख्यानाग्नि को अविद्यादि क्लेशों से अनभिभूत रखने में ही तनूकरण का (क्रियायोग द्वारा क्लेशों के प्रथिशिलीकरण का) द्वारत्व (साधनत्व) है। अर्थात् 'क्रियायोग' द्वारा क्लेशों की तन्ववस्था हो जाने पर ये दुर्बल क्लेश विवेकख्याति पर आक्रामक स्थिति वाले नहीं रहते हैं। योगवार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–**'सूक्ष्मेति।'** सूक्ष्म विषय वाली होने से **'विवेकख्याति'** को प्रत्यक्षात्मिका सूक्ष्मप्रज्ञा कहते हैं। इसे **'समाप्ताधिकारा'**=समाप्तकर्तव्या भी कहते हैं, क्योंकि असम्प्रज्ञात के पश्चात् विदेहमुक्ति की अवस्था में यह आत्यन्तिक लय को प्राप्त होती है। इस प्रकार 'क्रियायोग' को मोक्षोपयोगी विवेकज्ञानादि व्यापार वाला कहा जाने से यह सिद्धान्तित होता है कि 'कर्मयोग' (क्रियायोग) ज्ञानादि का साधन होने से ज्ञानादि का अङ्ग ही है, न कि साक्षाद्रूप से मोक्ष का कारण है॥२॥

भाष्यकार अगले सूत्र को अवतरित करते हैं–

व्यासभाष्यम्

अथ के क्लेशाः कियन्तो वेति?

अब वे 'क्लेश' कौन हैं अथवा कितने हैं? (यह बतलाने के लिये सूत्र है)–

योगसूत्रम्

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्च[1] क्लेशाः॥३॥

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश (संज्ञक) पाँच 'क्लेश' हैं॥३॥

---

1. पञ्च–नोपलभ्यते।

व्यासभाष्यम्

क्लेशा इति पञ्च विपर्यया इत्यर्थः। ते [1]स्यन्दमाना गुणाधिकारं द्रढयन्ति, परिणाममवस्थापयन्ति, कार्य[2]कारणस्रोत उन्नमयन्ति, परस्परानुग्रह[3]तन्त्रीभूत्वा कर्मविपाकं चाभिनिर्हरन्तीति॥३॥

सूत्र में **'पञ्च क्लेशाः'** कहने का अर्थ है–'पाँच प्रकार का 'विपर्यय।' लब्ध-स्वरूप ये क्लेश, गुणों के कार्य को सुदृढ़ करते हैं, उनके विरूपपरिणाम को निर्वर्तित करते हैं, उनके कार्य-कारण के प्रवाह को प्रवर्तित करते हैं और एक-दूसरे के अधीन होकर कर्म-फल को निष्पन्न करते हैं॥३॥

तत्त्ववैशारदी

पृच्छति–अथेति। अविद्येति सूत्रेण [4]परिहारः। अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः। [5]क्लेशा इति। व्याचष्टे–पञ्च विपर्यया इति। अविद्या तावद्विपर्यय एव। अस्मितादयोऽप्यविद्योपादानास्तद[6]विनाभाववर्तिन इति विपर्ययाः। ततश्चाविद्यासमुच्छेदे तेषामपि समुच्छेदो युक्त इति भावः। तेषामुच्छेत्तव्यताहेतुं संसारकारणत्वमाह–त इति। स्यन्दमानाः समुदाचरन्तो गुणानामधिकारं द्रढयन्ति बलवन्तं कुर्वन्त्यत एव परिणाममवस्थापयन्ति, अव्यक्तमहदहंकार[7]परम्परया हि कार्यकारणस्रोत उन्नमयन्त्युद्भावयन्ति। यदर्थं सर्वमेतत्कुर्वन्ति तद्दर्शयति–परस्परेति। कर्मणां विपाको जात्यायुर्भोगलक्षणः पुरुषार्थस्तममी क्लेशा अभिनिर्हरन्ति निष्पादयन्ति। किं प्रत्येकं निष्पादयन्ति? नेत्याह–परस्परानुग्रहेति। कर्मभिः क्लेशाः क्लेशैश्च कर्माणीति ॥३॥

शङ्का–भाष्यकार प्रश्न करते हैं–**'अथेति।'** वे क्लेश कौन हैं अथवा संख्या में कितने हैं? **समाधान**–सूत्र से शंका का परिहार किया जा रहा है–**'अविद्येति।' 'क्लेशा इति।'** भाष्यकार सूत्रगत **'क्लेशाः'** पद की व्याख्या करते हैं–**'पञ्च विपर्यया इति।'** पञ्च विपर्यय को क्लेश कहते हैं। अर्थात् **'क्लेश'** शब्द पांच प्रकार के विपर्यस्तज्ञान का बोधक है। **'क्लेश'** के विपर्ययत्व को स्पष्ट करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–**'अविद्या'** तो **'विपर्यय'** रूप ही है। 'अविद्या' के अन्वय-व्यतिरेक (अविनाभाव) पर निर्भर रहने

---

1. क ख ग च छ ज झ त थ ध न ब भ – स्पन्दमानाः, घ द प फ म य र – स्यन्दमानाः।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र – कारण०, ब – करण०।
3. क ग घ च छ ज झ त ध द ध न फ ब भ म – तन्त्रीभूत्वा, ख र – तन्त्राभूत्वा, प य – तन्त्रीभूय।
4. क ख ग घ च छ ज झ त न – परिहारः, थ द ध – परिहरति।
5. थ द ध – क्लेशा इति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – क्लेशा इति नोपलभ्यते।
6. क ख ग घ च छ ज झ त – अविनिर्भागवर्तिनः, थ द ध न – अविनाभाववर्तिनः।
7. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न – परम्परया, ख त – परम्पराम्।

वाले ये **'अस्मितादि'** क्लेश भी अविद्योपादानक हैं। अतः विपर्ययरूप ही हैं। क्योंकि अविद्या के नष्ट होने पर अस्मितादि का भी नाश हो जाता है। संसार का कारण होने से क्लेश त्याज्य हैं अर्थात् संसारकारणत्व के कारण क्लेश त्याज्यकोटिक हैं– इसे भाष्यकार बताते हैं–**"त इति'** ये क्लेश **'स्यन्दमान'**= उदारावस्थाक अर्थात् लब्ध-प्रातिस्विकवृत्ति वाले होते हुए सत्त्वादि गुणों के **'अधिकार'** कार्यारम्भणरूप व्यापार को बल प्रदान करते हैं, गुणों के वैषम्यरूप परिणाम को क्रियान्वित करते हैं, अव्यक्त-महत्-अहंकारादि की परम्परा से कार्य-कारण-स्रोत को उद्घाटित करते हैं। अविद्यादि क्लेश जिस प्रयोजन से ये सब करते हैं, भाष्यकार उसे प्रदर्शित करते हैं–**'परस्परेति'** ये क्लेश कर्मों के जाति, आयु तथा भोगलक्षणक **'विपाक'** रूप पुरुषार्थ को निष्पादित करते हैं।

शङ्का–क्या प्रत्येक क्लेश कर्मों के भोग को निष्पादित करते हैं?

समाधान–उत्तर नकारात्मक है। इस पर भाष्यकार कहते हैं–**'परस्परानुग्रहेति'** कर्मों से क्लेश तथा क्लेशों से कर्म–इस रूप से परस्परानुग्रहाधीन होकर ये (समवेत रूप से) कर्मविपाकोन्मुख होते हैं।

बालप्रिया–

'समुदाचरन्तः'–इस पद का अर्थ है–लब्धप्रातिस्विकवृत्ति वाले।

'गुणानामधिकारम्'–इस पद का अर्थ है–सत्त्वादि गुणों का कार्यारम्भणसामर्थ्य।

'परिणाममवस्थापयन्ति'–इस पद का अर्थ है–गुणों का सृष्टिकालिक वैषम्य-परिणाम, जो अविद्यादि क्लेश के कारण निर्वर्तित होता है॥३॥

योगवार्त्तिकम्

उत्तरसूत्रावताराय पृच्छति–अथेति। अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः। पञ्च विपर्यया इति पूरयित्वा संक्षेपतः सूत्रार्थमाह–क्लेशा इतीति। इतिशब्दोऽ-विद्याऽऽदिपरामर्शी। तथा चाविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशा इति पञ्च विपर्ययाः क्लेशा इत्यर्थ इति योजना। अत्र कियन्त इति प्रश्नस्योत्तरं पञ्चेत्यनेन, के त इत्यस्य चोत्तरं विपर्यया इत्यनेनाह–पञ्च विपर्यया इति। अत्र पञ्चेत्यर्थादेव लब्धं विपर्यया इति च पूरितं विशेषलक्षणस्य च सामान्यलक्षणपूर्वकत्वौचित्यात्।

उत्तरसूत्र को अवतरित करने के लिये भाष्यकार पूछते हैं–**'अथेति।'** सूत्र है–**'अविद्येति'**। सूत्र में **'पञ्च विपर्ययाः'** इत्यंश को जोड़ते हुए भाष्यकार सूत्र का संक्षिप्त अर्थ करते हैं–**'क्लेशा इतीति।'** भाष्य में प्रयुक्त **'इति'** शब्द अविद्यादि का बोधक (स्मारक) है। इस प्रकार अविद्या जो अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश–ये पांच विपर्ययात्मक क्लेश हैं, ऐसी सूत्रार्थ-योजना करनी चाहिये। भाष्यकार ने अवतरणिकागत **'कियन्तः'** इस (संख्यावाचक) प्रश्न का उत्तर **'पञ्च'** इस पद से दिया

है तथा उनके स्वरूपबोधक प्रश्नवाचक 'के ते'–पद का उत्तर 'विपर्ययाः'–पद से दिया है। इसीलिये भाष्यकार ने कहा है–'पञ्च विपर्यया इति' अर्थात् अविद्यादि पांच क्लेश विपर्ययात्मक ज्ञान हैं। योगवार्त्तिककार भाष्यगत 'क्लेशा इति पञ्च विपर्ययाः' की व्याख्या द्वितीय प्रकार से करते हैं–यहाँ 'पञ्च' शब्द आक्षेपलभ्य ही है और 'विपर्ययाः' इत्यंश द्वारा क्लेश के लक्षणविशेष को भाष्यकार ने अनुबन्धित (पूरित) किया है, क्योंकि सामान्यलक्षणपूर्वक विशेषलक्षण का अभिधान न्यायसंगत (उचित) है। (सरलार्थ यह है–'क्लेशत्व' अविद्यादि का सामान्यलक्षण है और 'विपर्ययत्व' अविद्यादि का विशेषलक्षण है। इस प्रकार सामान्यलक्षण के पश्चात् विशेषलक्षण किया जाना समुचित है)।

योगवार्त्तिककार, 'विपर्यय' शब्द के अर्थ को बतलाते हुए आगे कहते हैं–

योगवार्त्तिकम्

विपर्ययशब्दश्चात्र संसारहेतुविपर्ययार्थकः, अतो न शुक्तिरजतविपर्यये क्लेशलक्षणातिव्याप्तिः। रागादीनां च विपर्ययकार्यतया विपर्ययत्वं चेष्टम्[1]। प्रकृतस्य संसारहेतुविपर्ययस्य लक्षणमदृष्टसामान्यहेतुमनोविशेषगुणत्वमिति। ननु क्लेशशब्दो दुःखवाची किमित्यविद्याऽऽदिषु परिभाषितः, किमर्थं वा तेषामुच्छेदोऽपेक्षित इत्याकाङ्क्षायामाह–ते स्यन्दमाना इति। ते क्लेशाः स्यन्दमाना लब्धवृत्तिका दृष्टादृष्टद्वारा गुणानां [2]सत्त्वादीनामधिकारं कार्यारम्भणसामर्थ्यं द्रढयन्ति=बलवत् कुर्वन्ति, तथा गुणानां परिणामं वैषम्यरूपमवस्थापयन्ति निर्वर्त्तयन्ति, ततश्च महदादिरूपकार्यकारणप्रवाहमु[3]न्नमयन्ति प्रवर्त्तयन्ति। यदर्थमेतत्सर्वं कुर्वन्ति तद्दर्शयति–परस्परेति। कर्मविपाकं जात्यायुर्भोगं चाभिनिर्हरन्ति निष्पादयन्ति। किं स्वतन्त्रा एव? नेत्याह–परस्परानुग्रह[4]तन्त्रीभूत्वेति। अविद्यातो रागो रागाच्चाविद्येत्येवमादिरूपान्योन्यानुग्रहाधीना भूत्वेत्यर्थः। अन्योन्यसाहित्येनैव हि क्लेशानां स्थैर्यं भवति येन स्थैर्येण विपाकपरम्परा निर्वहतीति भावः। तथा च क्लेशाख्यदुःखदत्वादविद्याऽऽदीनां क्लेशपरिभाषा तान्त्रिकी, तथा दुःखनिदानतयाऽविद्याऽऽदयः समुच्छेतव्या इति भावः॥३॥

यहाँ 'विपर्यय' शब्द 'संसार का हेतुभूत विपर्यय' इस अर्थ का बोधक है। अर्थात् विपर्यय का वह रूप यहाँ विवक्षित है, जो संसार का कारण है। अतः शुक्ति में होने वाले रजतविषयक विपर्ययज्ञान (इदं रजतम्) में क्लेशरूप विपर्यय के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है। रागादि तो अविद्यारूप विपर्यय के कार्य होने से उनका

---

1. क घ च छ – चेष्टं, ख ग – बोध्यम्।
2. क ख घ च छ – सत्त्वादीनामधिकारं कार्यारम्भणसामर्थ्यं द्रढयन्ति बलवत्कुर्वन्ति तथा उपलभ्यते, ग – सत्त्वा...तथा नोपलभ्यते।
3. क – उन्नमयति प्रवर्त्तयति, ख घ च छ – उन्नमयन्ति प्रवर्त्तयन्ति, ग – उन्नयन्ति प्रवर्तयन्ति।
4. क – तन्त्री०, ख ग घ च छ – तन्त्रा०।

विपर्ययत्व स्वीकृत है। अर्थात् अविद्या के कार्यभूत रागादि क्लेशों में संसारहेतुत्व होने से ये रागादि क्लेशात्मक विपर्यय के लक्ष्य हैं। इस प्रकार संसार के हेतुभूत विपर्यय का लक्षण है–'**अदृष्टसामान्यहेतुमनोविशेषगुणत्वं विपर्ययत्वम्**' अर्थात् अदृष्टसामान्य (अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय) का हेतुभूत मन का विशेषगुण (चित्त का व्यापारविशेष) '**विपर्यय**' कहलाता है।

शङ्का–'क्लेश' शब्द दुःखवाची (दुःख का बोधक) है, अतः अविद्यादियों के अर्थ में 'क्लेश' शब्द क्यों परिभाषित है? अर्थात् 'क्लेश' शब्द से दुःख के स्थान पर अविद्यादि का ग्रहण क्यों किया जाता है? अथवा अविद्यादियों का उच्छेद (विनाश) क्योंकर अभिप्रेत है? अर्थात् क्लेशनाश का प्रयोजन क्या है?

समाधान–ऐसी आकांक्षा होने पर भाष्यकार कहते हैं–'**ते स्यन्दमाना इति**।' ये क्लेश '**स्यन्दमान**' अर्थात् लब्धवृत्ति (उदारावस्था) वाले होते हुए दृष्टादृष्ट (दृष्ट तथा अदृष्ट कर्माशय) द्वारा सत्त्वादि गुणों के '**अधिकार**' अर्थात् कार्यारम्भण सामर्थ्य (चित्त के साधिकारत्व) को सुदृढ करते हैं तथा गुणों के विषमपरिणाम (विरूप-परिणाम) को निष्पादित करते हैं। तत्पश्चात् गुणों के महदादिरूप कार्यकारणप्रवाह को प्रवर्तित करते हैं। अविद्यादि ये सब जिस हेतु से करते हैं, उसे भाष्यकार प्रदर्शित करते हैं–'**परस्परेति**।' ये क्लेश जाति, आयु तथा भोगरूप (त्रिकोणात्मक) कर्मफल का क्रियान्वयन (निष्पादन) करते हैं।

शङ्का–क्या अविद्यादि प्रत्येक क्लेश स्वतन्त्र रहकर अर्थात् एक-दूसरे की अपेक्षा किये विना ही कर्मफल को निष्पादित करते हैं?

समाधान–ऐसा नहीं है। भाष्यकार कहते हैं–'**परस्परानुग्रहतन्त्रीभूत्वेति**।' 'अविद्या से राग तथा राग से अविद्या–इस क्रम से एक दूसरे की सहयोगिता के अधीन होकर'–यह '**परस्परानुग्रहतन्त्रीभूत्वा**' पद का अर्थ है। इस प्रकार परस्पर के साहाय्य से ही क्लेशों में सुदृढता आती है। जिस स्थिरता से जाति, आयु तथा भोगरूप विपाक-धारा प्रवाहित होती है। दुःख देने वाले होने से अविद्यादियों का क्लेशाभिधान पारिभाषिक है। अभिप्राय यह है कि दुःख का प्राथमिक कारण होने से ये अविद्यादि क्लेश जड से नष्ट किये जाने योग्य होते हैं॥३॥

बालप्रिया–

'**अत्र पञ्चेत्ययदिव लब्धम्**'–इस पंक्ति से यह ध्वनित होता है कि विज्ञानभिक्षु '**पञ्च**' पद को सूत्र में पठित नहीं मानते हैं। वाचस्पति मिश्र इस विषय में उदासीन हैं॥३॥

योगसूत्रम्

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्॥४॥

प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न एवं उदार अवस्था वाले पश्चाद्वर्ती अस्मितादि क्लेशों की प्रसवभूमि 'अविद्या' है॥४॥

व्यासभाष्यम्

अत्राऽविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां चतुर्विध[1]विकल्पानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्। तत्र का प्रसुप्तिः? चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः [2]तस्य प्रबोध आलम्बने संमुखीभावः। प्रसंख्यानवतो [3]दग्धक्लेशबीजस्य संमुखीभूतेऽप्यालम्बने ना[4]सौ पुनरस्ति, दग्धबीजस्य कुतः प्ररोह इति, अतः क्षीणक्लेशः कुशलश्चरमदेह इत्युच्यते। तत्रैव सा दग्धबीजभावा पञ्चमी क्लेशा-[5]वस्था नान्यत्रेति। सतां क्लेशानां तदा बीजसामर्थ्यं दग्धमिति विषयस्य संमुखीभावेऽपि सति न भवत्येषां प्रबोध इति उक्ता प्रसुप्तिः, दग्धबीजाना-म[6]प्ररोहश्च। तनुत्वमुच्यते—प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति। तथा [7]विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनात्मना [8]पुनः पुनः समुदाचरन्तीति विच्छिन्नाः। कथम्? रागकाले क्रोधस्यादर्शनात्, न हि रागकाले क्रोधः समुदाचरति। रागश्च क्वचिद् [9]दृश्यमानो न विषयान्तरे नास्ति। नैकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इत्यन्यासु स्त्रीषु विरक्तः, किं तु तत्र रागो लब्धवृत्तिरन्यत्र तु[10] भविष्यद्वृत्तिरिति। स हि तदा प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो भवति। विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः। सर्व एवैते क्लेशविषयत्वं [11]नातिक्रामन्ति। कस्तर्हि विच्छिन्नः प्रसुप्तस्तनुरुदारो वा क्लेश

---

1. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य – विकल्पानां, घ प फ र – कल्पितानाम्।
2. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – तस्य प्रबोध आलम्बने, छ थ – तेषां प्रबोधालम्बने।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र – दग्ध०, ब – अदग्ध०।
4. छ थ – प्रबोधः (असौ पश्चाद्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – प्रबोधः नोपलभ्यते।
5. छ थ – अविद्यामात्रा भूमिः (अवस्था पश्चाद्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – अविद्यामात्रा भूमिः नोपलभ्यते।
6. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – अप्ररोहः, छ थ – अप्रबोधः।
7. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेन, छ थ – विच्छिद्यन्ते हृदि दृष्टाः क्लेशाः वैराग्येण छिन्ना न तेन।
8. क ख घ प फ र – पुनः, ग च छ झ त थ द ध न ब भ म य – पुनः पुनः।
9. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – दृश्यमानो न ज – अस्ति। नासौ।
10. क ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य – तु उपलभ्यते, ख घ प फ र – तु नोपलभ्यते।
11. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र – नातिक्रामन्ति, झ – नास्तीति क्रामन्ति।

इति? उच्यते—सत्यमेवैतत्। किं तु विशिष्टानामेवैतेषां विच्छिन्नादित्वम्। यथैव प्रतिपक्षभावनातो निवृत्तस्तथैव स्वव्यञ्जकाञ्जनेनाभिव्यक्त इति। सर्व एवामी क्लेशा अविद्याभेदाः। कस्मात्? सर्वेष्वविद्यैवा[1]भिप्लवते। यदविद्यया वस्त्वाकार्यते तदेवानुशेरते क्लेशा विपर्यासप्रत्ययकाल उपलभ्यन्ते, क्षीयमाणां चाविद्या-मनुक्षीयन्त इति॥४॥

इन पांच प्रकार के क्लेशों में प्रथम जो अविद्या है, वह प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न एवं उदार अवस्था वाले अस्मितादि क्लेशों, जिनका क्रम अविद्या के पश्चात् आता है, की प्रसवभूमि (उत्पत्तिस्थली) है।

शङ्का—इनमें प्रसुप्ति क्या है? अर्थात् अस्मितादि की प्रसुप्त्यवस्था किसे कहते हैं?

समाधान—चित्त में शक्तिरूप से स्थित क्लेशों का बीजभाव वाला होना 'प्रसुप्ति' कहलाता है। उस प्रसुप्त क्लेश का अपने-अपने विषय की ओर उन्मुख होना प्रबोध (जागरण) कहलाता है। भस्मीभूत क्लेशबीज वाले विवेकज्ञानसम्पन्न योगियों के चित्त में स्थित अस्मितादि क्लेशों का, विषयरूप आलम्बन के अभिमुख रहने पर भी, पुनः प्रबोध नहीं होता है। क्योंकि जले हुए बीज का अंकुरण कैसे सम्भव है? (अर्थात् यह शतप्रतिशत सम्भव नहीं है)। इसलिये वह योगी क्षीणक्लेश, कुशल तथा चरमदेह वाला कहा जाता है। '**दग्धबीज-भाव**' वाली क्लेशों की जो पाँचवीं अवस्था है, वह विवेकख्यातिप्राप्त योगी के ही चित्त में विद्यमान रहती है, अन्य पुरुषों के चित्त में नहीं। विवेकज्ञान की अवस्था में योगी के चित्त में वर्तमान क्लेशों का दुःखरूप अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो गई रहती है। अतः विषयों के सम्मुख उपस्थित हो जाने पर भी इन क्लेशों का पुनः प्ररोह (जागरण) ही नहीं होता है। '**तनुत्व**' (क्लेशों की तन्ववस्था) को बतलाया जा रहा है—अपने विरोधी (क्रियायोग) के अनुष्ठान से उपमर्दित क्लेश हल्के (तन्ववस्था वाले) हो जाते हैं। (क्लेशों की विच्छिन्नावस्था को बतलाया जा रहा है)—इसी प्रकार जो क्लेश बीच-बीच में खण्डित होते हुए उस-उस रूप से पुनः-पुनः आविर्भूत होते हैं, वे '**विच्छिन्न**' (विच्छिन्नावस्था वाले) कहे जाते हैं।

शङ्का—अस्मितादि क्लेशों का कैसे विच्छेद होता है? अर्थात् क्लेशों की विच्छिन्नता में क्या प्रमाण है?

समाधान— क्योंकि राग के समय क्रोध की अनुभूति नहीं होती है। (इसी से

---

1. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र – **अभिप्लवते**, झ – **अभियुज्यते**।

क्लेश के विच्छेद का अनुमान किया जाता है)। राग के (लब्धप्रसर) काल में क्रोध प्रकट नहीं होता है। और राग भी किसी एक आलम्बन के प्रति दिखलाई पड़ने पर वह दूसरे आलम्बन के प्रति न हो ऐसी बात भी नही है। जैसे एक स्त्री में अनुरक्त चैत्र अन्य स्त्रियों के प्रति विरक्त नहीं होता है, अपितु उस एक स्त्री में राग लब्धप्रसर (उदारावस्थाक) होता है और अन्य स्त्रियों के प्रति वह भविष्यद्वृत्ति (विच्छिन्न किन्तु आगे उदारावस्था में पहुँचने) वाला होता है। भविष्यद्वृतिक वह राग उस समय अन्य स्त्रियों के प्रति प्रसुप्त, तनु या विच्छिन्नरूप से विद्यमान रहता है। विषय के प्रति जो क्लेश स्वरूपतः प्रकट रहता है, उसे **'उदार'** कहते हैं। अर्थात् विषय-प्रवृत्त क्लेश **'उदार'** कहलाता है। ये सभी **'क्लेशपदवाच्यता'** को नहीं छोड़ते हैं।

शङ्का—तो फिर ये क्लेश प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न अथवा उदार अवस्था वाले क्यों कहे जाते हैं? (अर्थात् अस्मितादि की प्रत्येक अवस्था में क्लेशरूपता बनी रहने पर इनका प्रसुप्तादि भेद करना व्यर्थ है?)

समाधान—आपका चिन्तन सही है, किन्तु अवस्थाविशेष में इन क्लेशों की प्रसुप्तता, तनुता, विच्छिन्नता तथा उदारता कही जाती है। ये जिस प्रकार अपने विरोधी **'क्रियायोग'** के अनुष्ठान से निवृत्त हो जाते हैं, उसी प्रकार अपने अभिव्यञ्जक कारण को पाकर अभिव्यक्त होते हैं। ये सभी विशिष्ट अवस्था वाले अस्मितादि क्लेश अविद्या के ही भेद हैं।

शङ्का—अस्मितादि सभी अविद्या के ही भेद क्यों हैं?

समाधान—क्योंकि अविद्या ही इन सभी में अनुस्यूत है। अविद्या से जो वस्तु विषयरूप से उपस्थित की जाती है, उसी का अस्मितादि क्लेश अनुगमन करते हैं। मिथ्याज्ञानकाल में ही ये अस्मितादि क्लेश उपलब्ध होते हैं तथा अविद्यारूप मिथ्याज्ञान के क्षीण होने पर ये भी नष्ट हो जाते हैं॥४॥

तत्त्ववैशारदी

हेयानां क्लेशानामविद्यामूलत्वं दर्शयति—अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्। तत्र का प्रसुप्तिरिति। स्वोचितामर्थक्रियामकुर्वतां क्लेशानां सद्भावे न प्रमाणमस्तीत्य[1]प्यभिप्रायः पृच्छतः। उत्तरमाह—चेतसीति। मा नामार्थक्रियां कार्षुः क्लेशा विदेहप्रकृतिलयानाम्, बीजभावं प्राप्तास्तु ते शक्तिमात्रेण सन्ति क्षीर इव दधि। न हि विवेकख्यातेरन्यदस्ति कारणं तद्वन्ध्यतायाम्। अतो विदेहप्रकृतिलया विवेकख्यातिविरहिणः

---

1. न – अपि उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध – अपि नोपलभ्यते।

प्रसुप्तक्लेशा न यावत्तद[1]वधिकालं प्राप्नुवन्ति। तत्प्राप्तौ तु पुनरावृत्ताः सन्तः क्लेशास्तेषु तेषु विषयेषु संमुखीभवन्ति। शक्तिमात्रेण प्रतिष्ठा येषां ते तथोक्ताः। तदनेनोत्पत्तिशक्तिरुक्ता। बीजभावोपगम इति च कार्यशक्तिरिति।

'हेय' (त्याज्य) कोटिक क्लेशों की उत्पत्तिस्थली 'अविद्या' है, इसे सूत्रकार प्रदर्शित करते हैं–**'अविद्येति।'**

शङ्का–तत्त्ववैशारदीकार भाष्य की पंक्ति को उठाते हैं–**'तत्र का प्रसुप्तिरिति।'** प्रश्नकर्त्ता का अभिप्राय यह है कि अपनी-अपनी सुनिश्चित अर्थ-क्रिया (व्यापार) को न करने वाले क्लेशों के सद्भाव (अस्तित्व) में कोई प्रमाण नहीं है। (अर्थात् अर्थ-क्रिया के द्वारा जिनकी सत्ता अनुमित होती है, ऐसे अस्मितादि अर्थक्रिया को न करते हुए ही अपने अनस्तित्व का बोध कराते हैं। अतः अस्मितादि की सत्ता को 'प्रसुप्ति' रूप से कैसे स्वीकार किया जा सकता है)?

समाधान–प्रश्नकर्त्ता का भाष्यकार उत्तर देते हैं–**'चेतसीति।'** विदेह और प्रकृतिलीन साधकों के 'प्रसुप्त' क्लेश भले ही अर्थक्रिया (अपने कार्य) को न करें, किन्तु बीज-भाव को प्राप्त ये क्लेश शक्तिरूप से (उनके चित्त में) उसी प्रकार विद्यमान रहते हैं, जिस प्रकार दुग्ध में दधि (शक्तिरूप से अवस्थित रहता है)। क्योंकि विवेकज्ञान (सत्त्वपुरुषान्यताख्याति) से अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है, जो क्लेशों का बन्ध्यीकरण कर सके। अतः विवेकख्याति से विमुक्त विदेह और प्रकृतिलीन देवों के क्लेश तब तक 'प्रसुप्त' रहते हैं, जब तक वे अभिव्यक्ति (पुनरावर्तन) का समय प्राप्त नहीं कर लेते हैं। अभिव्यक्ति की अवधि प्राप्त होने पर प्रत्यावर्तित (संसाराभिमुख) ये क्लेश तत्तद् विषयों के सम्मुख होते हैं। (यही 'प्रसुप्त' क्लेश का **'प्रबोध'** कहलाता है। **'शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां'** का विग्रहपुरस्सर अर्थ करते हुएं तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि **'शक्तिमात्रेण प्रतिष्ठा येषां ते तथोक्ताः'** अर्थात् शक्तिरूप से ही प्रतिष्ठित रहने वाले अस्मितादि क्लेशों को **'शक्तिमात्रप्रतिष्ठ'** अर्थात् 'प्रसुप्त' कहते हैं। 'शक्ति-मात्रप्रतिष्ठ' शब्द से प्रसुप्त क्लेशों की 'उत्पत्तिशक्ति' कथित है। तथा **'बीजभावोपगम'** शब्द से उनकी कार्यशक्ति इंगित की गई है।

बालप्रिया–

'विदेहप्रकृतिलयानां'...–सम्पूर्ण वाक्य का संवलित अर्थ यह है कि विदेह और प्रकृति लीनों के चित्त में शक्तिमात्र अर्थात् अनागतावस्थारूप से अवस्थित क्लेशों का जो **'बीजभावोपगम'** अर्थात् स्वकार्यजननसामर्थ्य है, उसे 'प्रसुप्ति' कहते हैं। भाष्य-कार ने **'दग्ध'** क्लेशों से **'प्रसुप्त'** क्लेशों के वैलक्षण्य को **'बीजभावोपगमः'** पद द्वारा

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – तत् उपलभ्यते, थ द ध – तत् नोपलभ्यते।

लीनों के चित्त में शक्तिमात्र अर्थात् अनागतावस्थारूप से अवस्थित क्लेशों का जो **'बीजभावोपगम'** अर्थात् स्वकार्यजननसामर्थ्य है, उसे **'प्रसुप्ति'** कहते हैं। भाष्यकार ने **'दग्ध'** क्लेशों से **'प्रसुप्त'** क्लेशों के वैलक्षण्य को **'बीजभावोपगमः'** पद द्वारा इंगित किया है तथा **'तस्य प्रबोधः'** पद द्वारा उसकी सत्ता को प्रामाणिक सिद्ध किया है। आलम्बन अर्थात् स्व-स्व विषय में क्लेश का जो **संमुखीभाव** अर्थात् संयुक्त होना है, यही प्रसुप्त क्लेश का **'प्रबोध'** कहलाता है।

विदेह और प्रकृतिलीन देवों की भाँति विवेकख्यातिमान् योगी के क्लेश **'प्रसुप्तावस्थाक'** क्यों नहीं होते हैं, इस पर विचार प्रस्तुत हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

ननु विवेकख्यातिमतोऽपि क्लेशाः कस्मान्न प्रसुप्ता इत्यत आह–प्रसंख्यानवत इति। चरमदेहः, न तस्य देहान्तरमुत्पत्स्यते यदपेक्षयास्य देहः पूर्व इत्यर्थः। नान्यत्र विदेहादिष्वित्यर्थः। ननु सतो नात्यन्तविनाश इति किमिति तदीययोगर्द्धिबलेन विषयसंमुखीभावे न क्लेशाः प्रबुध्यन्त इत्यत आह–सतामिति। सन्तु क्लेशाः दग्धस्त्वेषां प्रसंख्यानाग्निना बीजभाव इत्यर्थः।

शङ्का–विवेकख्यातिप्राप्त योगी के भी क्लेश किस कारण से **'प्रसुप्त'** नहीं होते हैं?

समाधान–इस पर भाष्यकार का वक्तव्य है–**'प्रसंख्यानवत इति।'** क्लेशों के क्षीण हो जाने पर तत्त्वज्ञानी का वर्तमान देह **'चरमदेह'** कहलाता है। क्योंकि विवेकख्यातिसिद्ध योगी को देहान्तर की प्राप्ति नहीं होती है। जिससे उसके इस वर्तमान देह को **'पूर्वदेह'** कहा जाय। किन्तु विदेहादि अन्य देवताओं का **'चरमदेह'** नहीं होता है, क्योंकि उन्हें देहान्तर धारण करना पड़ता है।

शङ्का–(सत्कार्यवाद के अनुसार) **'सत्'** पदार्थ का आत्यन्तिक नाश नहीं होता है। अतः ऐसा ही क्यों न मान लिया जाय कि तत्त्वज्ञानी की योग-शक्ति की महिमा से क्लेश विषय-सन्निकृष्ट होने पर भी उद्‌बुद्ध नहीं होते हैं?

समाधान–इस पर भाष्यकार का वक्तव्य है–**'सतामिति।'** विवेकख्यातियुक्त योगियों के चित्त में क्लेश भले ही हों, किन्तु प्रसंख्यानाग्नि के द्वारा उनका **'बीजभाव'** अर्थात् स्वकार्यजननसामर्थ्य दग्ध हो जाता है।

बालप्रिया–

'दग्धबीजभावा'–जिस प्रकार विदेह तथा प्रकृतिलीन साधकों के चित्त में अवस्थित क्लेश एक निश्चित् अवधि के पश्चात् उद्‌बुद्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार ज्ञानियों के दग्धक्लेश विषय (रूप उद्‌बोधक) के सन्निकृष्ट रहने पर भी उद्‌बुद्ध नहीं होते हैं। इसी तथ्य को भाष्यकार ने **'प्रसंख्यानवतः...'** वाक्य द्वारा सुस्पष्ट किया है और इसमें हेतु दिया है–**'दग्धबीजस्य कुतः प्ररोह इति।'**

'चरमदेहः'–'चरमदेह' ही दग्धबीजभावावस्था' है, ऐसा निम्नांकित स्मृतिवाक्य के द्वारा भी बताया गया है–

'यस्येदं जन्म पाश्चात्यं तमेवाशु महामते।
विशन्ति विद्या विमला मुक्ता वेणुमिवोत्तमम्॥'

सूत्र में अस्मितादि की कथित चार अवस्थाओं में से **'प्रसुप्ति'** के पश्चात् क्रमप्राप्त **'तन्ववस्था'** पर विचार प्रस्तुत हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

क्लेशप्रतिपक्षः क्रियायोगस्तस्य भावनमनुष्ठानं तेनोपहतास्तनवः। अथ वा सम्यग्ज्ञान-मविद्यायाः प्रतिपक्षः, भेददर्शनमस्मितायाः, माध्यस्थ्यं रागद्वेषयोरनुबन्धबुद्धिनिवृत्तिरभि-निवेशस्येति।

'क्रियायोग' क्लेश का प्रतिपक्षी है। विरोधिस्वरूप इस **'क्रियायोग'** का **'भावन'** अर्थात् अनुष्ठान करने से उदारावस्थाक क्लेश **'उपहत'** अर्थात् क्षत-विक्षत (पराभूत) हो जाते हैं। ये उपहत क्लेश **'तन्ववस्था'** वाले कहे जाते हैं। तत्त्ववैशारदीकार 'क्रियायोग' से अतिरिक्त, क्लेशों को 'तनु' करने के अन्य उपायों को भी बताते हैं–अविद्या का प्रतिपक्षी **'सम्यग्ज्ञान'**, अस्मिता का प्रतिपक्षी **'भेदज्ञान'** (भेददर्शन), राग एवं द्वेष दोनों का प्रतिपक्षी **'माध्यस्थ्य'** तथा अभिनिवेश का प्रतिपक्षी **'अनुबन्धबुद्धिनिवृत्ति'** है। इस प्रकार प्रतिपक्षभावन से भी क्लेश 'तनु' हो जाते है।

बालप्रिया–

'सम्यग्ज्ञानम्'–अनित्यादि में नित्यादि से भिन्न अनित्यत्वादि का ही दर्शन होना **'सम्यग्ज्ञान'** कहलाता है।

'भेददर्शनम्'–जड़-चेतन (बुद्धि-पुरुष) की भ्रमात्मक अभेदप्रतीति का क्षीण होना **'भेददर्शन'** है।

'माध्यस्थ्यम्'–अहेयाऽनुपादेयज्ञानवैधुर्य को **'माध्यस्थ्य'** कहते हैं।

'अनुबन्धबुद्धिनिवृत्तिः'–'क्या मैं न रहूँ, अपितु अवश्य रहूँ' इत्याकारक नैसर्गिक मरणत्रास की निवृत्ति को **'अनुबन्धबुद्धिनिवृत्ति'** कहते हैं।

अस्मितादि की क्रमप्राप्त तृतीय **'विच्छिन्नावस्था'** बताई जा रही है–

तत्त्ववैशारदी

विच्छित्तिमाह–तथेति। क्लेशानामन्यतमेन समुदाचरताभिभवाद्वात्यन्तं विषयसेवया वा विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनात्मना समुदाचरन्त्याविर्भवन्ति [1]वाजीकरणाद्युपयोगेन वाभि-

---

1. क – बीजीकरण, ख ग घ च ज झ त थ द ध न – वाजीकरण०, छ – बीजकरण०।

भावकदौर्बल्येन वेति। वीप्सया विच्छेदसमुदाचारयोः पौनःपुन्यं दर्शयता यथोक्तात्प्रसुप्ताद्भेद उक्तः। रागेण वा समुदाचरता विजातीयः क्रोधोऽभिभूयते सजातीयेन वा विषयान्तरवर्तिना रागेणैव विषयान्तरवर्ती रागोऽभिभूयत इत्याह—रागेति।

भाष्यकार अस्मितादि की **'विच्छिन्नावस्था'** को बताते हैं—**'तथेति।'** क्लेश की **'विच्छिन्नावस्था'** तब होती है जब वे किसी अन्यतम उदारावस्थाक क्लेश से अभिभूत हो जाते हैं अथवा अत्यन्त विषयसेवन से अर्थात् कामोद्दीपकों द्वारा कामनाओं को उद्दीप्त करने से अथवा आक्रामक (शक्तिप्राप्त) क्लेश के शिथिल हो जाने से बीच-बीच में खण्डित होकर अपने-अपने रूप से लब्धप्रातिस्विकवृत्ति होकर आविर्भूत होते हैं। **'प्रसुप्त'** से **'विच्छिन्न'** अवस्था के अन्तर को स्पष्ट करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं—**'विच्छिद्य-विच्छिद्य'** तथा 'पुनः-पुनः' शब्दद्विरुक्ति (वीप्सा) द्वारा अस्मितादि क्लेशों में तिरोभाव (विच्छेद) तथा आविर्भाव (समुदाचार) क्रिया का बार-बार होना प्रदर्शित करते हुए भाष्यकार ने क्लेश की पूर्वोक्त प्रसुप्तावस्था से विच्छिन्नावस्था का अन्तर स्पष्ट किया है। उदाहरणार्थ—लब्धवृत्ति (समुदाचार) राग के द्वारा विजातीय क्रोध अभिभूत होता है अथवा सजातीय विषयान्तरवर्ती राग के द्वारा ही पूर्वविषय से सम्बन्धित राग अभिभूत हो जाता है। इसी तथ्य को भाष्यकार बताते हैं—**'रागेति।'** अर्थात् यदि राग किसी एक विषय में देखा जाता है, तो अन्य विषय में वह नहीं है—ऐसा नहीं है। किन्तु अन्य विषय में भी वह है ही। जैसे, चैत्रनामक पुरुष किसी एक स्त्रीरूप विषय में प्रीतियुक्त है, तो अन्य स्त्रीरूप विषयों के प्रति विरक्त है—ऐसा सम्भव नहीं है। किन्तु जिसमें रक्त है, उस स्त्री में राग उत्कट होने से लब्धवृत्ति (उदार) है और अन्य स्त्रियों में वह भविष्यद्वृति (विच्छिन्न) है।

बालप्रिया—

'वाजीकरणादि'—शुक्रचिरपातलिङ्गवृद्ध्यादिलम्पटपामरेषु प्रसिद्धम्।

'वीप्सा'—(वि+आप्+सन्+अ+टाप्, ईत्वम्) 'नैरन्तर्य' प्रकट करने के लिये प्रयोग की जाने वाली शब्द-द्विरुक्ति को **'वीप्सा'** कहते हैं। जैसे—**वृक्षं वृक्षं सिंचति'** इति **वीप्सायां द्विरुक्तिः।**

'भविष्यद्वृत्ति' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं—

तत्त्ववैशारदी

भविष्यद्वृत्तेस्त्रयी गतिर्यथायोगं वेदितव्येत्याह—स हीति। भविष्यद्वृत्तिक्लेशमात्रपरामर्शि सर्वनाम न चैत्ररागपरामर्शि, तस्य विच्छिन्नत्वादेवेति।

क्लेशों की **'भविष्यद्वृत्ति'** की तीन गतियाँ यथायोग (परिस्थितियों के अनुसार यथोचित) विदित होती हैं। इसी तथ्य को भाष्यकार बताते हैं—**'स हीति।'** क्लेशों की

भविष्यद्वृत्तियाँ तीन हैं–प्रसुप्त, तनु तथा विच्छिन्न। यहाँ पर 'तत्' शब्द (सर्वनाम) भविष्यद्वृत्तिक क्लेशसामान्य का अवबोधक है न कि चैत्रसम्बन्धी रागविशेष का वह परामर्शक है, क्योंकि भाष्य में चैत्रनिष्ठ राग' **'विच्छिन्न'** अवस्था के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत हुआ है।

बालप्रिया–

'भविष्यद्वृत्तिः–'एक क्लेश के लब्धवृत्ति होने पर भविष्यद्वृत्ति क्लेश कहीं 'प्रसुप्त', कहीं 'तनु' एवं कहीं 'विच्छिन्न' अवस्था वाला होता है। **'भविष्यद्वृत्ति'** क्लेश को अत्यन्त 'असत्' नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि असत्' की उत्पत्ति सांख्ययोगशास्त्र को अभिप्रेत नहीं है। प्रकृत उदाहरण में तो विच्छिन्नावस्था को लेकर ही चैत्रनिष्ठ राग को विश्लेषित किया गया है। अतः यह नियम नहीं है कि 'उदार' से भिन्न विषयों (उदारक्लेशविषयातिरिक्त विषयों) में क्लेश 'विच्छिन्न' अवस्था वाला ही हो। अपितु भविष्यद्वृत्तिक क्लेश 'प्रसुप्त', 'तनु' एवं 'विच्छिन्न' इन तीनों स्थितियों में परिलक्षित होता है–ऐसा सिद्धान्तित होता है।

अस्मितादि की तीन अनुमेय स्थितियों–प्रसुप्त, तनु तथा विच्छिन्न–के प्रतिपादन के पश्चात् प्रत्यक्षयोग्य उदारवृत्ति का स्वरूप स्पष्ट किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

उदारमाह–विषय इति। ननूदार एव पुरुषान्क्लिश्नातीति भवतु क्लेशः, अन्ये त्वक्लिश्नन्तः कथं क्लेशा इत्यत आह–सर्व एवैत इति। क्लेशविषयत्वं क्लेशपदवाच्यत्वं नातिक्रामन्त्युदारतामापद्यमानाः। अत एव तेऽपि हेया इति भावः। क्लेशत्वेनैकतां मन्यमानश्चोदयति–कस्तर्हीति। क्लेशत्वेन समानत्वेऽपि यथोक्तावस्थाभेदाद्विशेष इति परिहरति–उच्यते सत्यमिति।

भाष्यकार अस्मितादि **'क्लेशों'** की **'उदारावस्था'** को बताते हैं–**'विषय इति।'** जो अपने विषय में लब्धावसर हैं, वे क्लेश **'उदार'** कहे जाते हैं।

शङ्का–उदारावस्थाक क्लेश ही पुरुषों को क्लेश प्रदान करते हैं, अतः वे (उदार) ही **'क्लेश'** पदवाच्य हों, अन्य (पूर्वनिर्दिष्ट) प्रसुप्त, तनु एवं विच्छिन्न अवस्थाएँ तो क्लेशप्रद (कष्टदायक) न होती हुई भी क्यों **'क्लेश'** पद से कही गई हैं? अर्थात् अक्लेशप्रद अवस्था को 'क्लेश' की परिधि में रखना समीचीन प्रतीत नहीं होता है।

समाधान–इस पर भाष्यकार का वक्तव्य है–**'सर्व एवैत इति।'** अस्मितादि क्लेशों की प्रसुप्तादि तीन अवस्थाएँ उदारावस्था को प्राप्त होने पर **'क्लेशविषयत्व'** अर्थात् क्लेशपदवाच्यत्व (क्लेशप्रदातृत्व) का उल्लंघन नहीं करती हैं अर्थात् प्रसुप्तादि अवस्था में निगूढ क्लेशबीज उदारभूमि में पहुँचकर अवश्य ही कष्टदायक फल के रूप में अंकुरित होता है। अतः (उदार की भाँति) अस्मितादि क्लेशों की प्रसुप्तादि

अवस्थाएँ भी हेय (त्याज्य) हैं। **'क्लेशत्व'** रूप से प्रसुप्तादि अवस्थाओं के एकरूप होने में पूर्वपक्षी पुनः शंका करता है–**'कस्तर्हीति।'**

शङ्का–जब अस्मितादि क्लेशों की प्रसुप्तादि सभी अवस्थाएँ प्राणिजन को त्रस्त करती हैं तब उनका प्रसुप्तादिरूप से भेद करना निष्प्रयोजन है?

समाधान–**'क्लेशत्व'** की दृष्टि से समान होने पर भी प्रसुप्तादिरूप अवस्थाभेद से अस्मितादि का पार्थक्य है। इस प्रकार भाष्यकार पूर्वपक्षी की शंका का परिहार करते हैं–**'उच्यते सत्यमिति।'**

सूत्र के उत्तरांश की व्याख्या करने के पश्चात् तत्त्ववैशारदीकार सूत्रगत पूर्वांश **'अविद्या क्षेत्रम्'** के मन्तव्य को सुस्पष्ट करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्– अविद्यातो भवन्तु क्लेशाः, तथाप्यविद्यानिवृत्तौ कस्मान्निवर्तन्ते? न खलु पटः कुविन्दनिवृत्तौ निवर्तत इत्यत आह–सर्व एवेति। भेदा इव भेदाः। तदविनिर्भागवर्तिन इति यावत्। पृच्छति–कस्मादिति। उत्तरमाह–सर्वेष्विति। तदेव स्फुटयति–यदिति। आकार्यते समारोप्यते। शेषं सुगमम्।

प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां [1]तन्ववस्थाश्च योगिनाम्।
विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशा विषयसङ्गिनाम्॥ इति संग्रहः॥ ४॥

शङ्का–अविद्या से क्लेशों की उत्पत्ति भले ही मान ली जाय, किन्तु अविद्या की निवृत्ति से अस्मितादि क्लेश क्यों निवृत्त होते हैं? उदाहरणार्थ तन्तुवाय (कुविन्द) से पट की उत्पत्ति होती है, किन्तु तन्तुवाय के निवृत्त होने पर पट की निवृत्ति नहीं देखी जाती है।

समाधान–भाष्यकार कहते हैं–**'सर्व एवेति।'** अविद्या के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करने वाले ये अस्मितादि क्लेश अविद्या से अभिन्न होते हुए भी भिन्न प्रतीत होते हैं। अर्थात् अस्मितादि का अविद्या से वास्तविक अभेद है। अतः अविद्या के न रहने पर अस्मितादि का न रहना युक्तिसंगत है।

शङ्का–पूर्वपक्षी पुनः पूछता है–**'कस्मादिति।'** अस्मितादि का अविद्यादि से अभेद कैसे है?

समाधान–भाष्यकार उत्तर देते हैं–**'सर्वेष्विति।'** क्योंकि अस्मितादि सभी क्लेशों में अविद्या अन्वित रहती है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार पुनः कहते हैं–**'यदिति।'** **'आकार्यते'** क्रियापद का अर्थ है–**'समारोप्यते।'** अर्थात् अविद्या के द्वारा जो वस्तु समारोपित होती है उसी वस्तु में क्लेश भी लब्धवृत्ति वाले होते हैं। शेष

---

1. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न – तन्ववस्थाः, झ – तनुदग्धाः।

भाष्य सुगम है। तत्त्ववैशारदीकार ने अन्त में प्रसुप्तादि क्लेशों का संग्रहात्मक श्लोक प्रस्तुत किया है। श्लोक का अर्थ है–'तत्त्वलीनों (विदेह, प्रकृतिलयों) के 'प्रसुप्त' तथा योगियों (तत्त्वज्ञानियों) के 'तन्ववस्था' वाले क्लेश होते हैं। विषयासक्त पुरुषों के 'विच्छिन्न' एवं 'उदार' अवस्था वाले क्लेश होते हैं॥४॥

योगवार्त्तिकम्

क्लेशानां स्थूलसूक्ष्माणां सर्वेषामेव ज्ञाननाश्यत्वं वक्ष्यमाणमुपपादयितुम् अविद्यामूलकत्वमन्यक्लेशानामाह–अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्। निमित्तकारणस्यापि प्रसवभूमित्वं प्राधान्यमात्रेण गौणं व्याख्यास्यते–अत्रेति। अत्रैतेषु क्लेशेषु मध्ये चतुर्भेदानामस्मिताऽऽदिक्लेशानामित्यादिरर्थः। प्रसुप्तादीनां सर्वेषामेवाविद्यासत्त्वे सत्त्वं तदभावे तदभाव इत्याशयः। तेषां चतुर्विधभेदं विवृणोति–तत्र का प्रसुप्तिरिति। चेतसि शक्तिमात्रेणानागतावस्थयाऽवस्थितानामस्मिताऽऽदीनां बीजभावोपगमः स्वकार्यजननसामर्थ्यं प्रसुप्तिरित्यर्थः। अस्माद्वाक्यात् कार्यस्यानागतावस्थैव कारणे कार्यशक्तिरिति लब्धम्, सैव चोपादानकारणतेति भावः। दग्धबीजभावां पञ्चमीमवस्थां व्यावर्त्तयितुं बीजभावोपगम इत्युक्तम्। दग्धबीजभावानां चास्मिताऽऽदीनां पुनरप्रसवादविद्या न क्षेत्रमिति सा [1]पञ्चम्यवस्था न [2]लक्ष्येति भावः।

स्थूल एवं सूक्ष्म सभी प्रकार के क्लेशों में ज्ञाननाश्यता है अर्थात् ज्ञान के द्वारा अविद्यादि क्लेश नष्ट होते हैं–ऐसा आगे प्रतिपादित करने के उद्देश्य से सूत्रकार अस्मितादि परवर्ती क्लेशों का अविद्यामूलक (अविद्याकारणक) होना बतलाते हैं– 'अविद्येति' यहाँ निमित्तकारण का प्रसवभूमित्व 'प्रधान' की दृष्टि से गौणरूप से व्याख्यात है। भाव यह है कि सांख्ययोग में जगत् का उपादानकारण प्रकृति है। प्रकृति से जायमान महत् के आठ धर्मों में से अज्ञान भी एक धर्म है जो अविद्यादि पञ्च विपर्ययात्मक है। धर्मीभूत बुद्धि तथा अज्ञानरूप धर्म में अभेदघटक धर्मधर्मिभावसम्बन्ध होने से प्रकृति ही सभी का उपादानकारण सिद्ध होती है, किसी का साक्षात् तथा किसी का परम्परया। यहाँ 'अविद्या' को अस्मितादि की प्रसवभूमि जो कहा गया है वह निमित्तकारणं की दृष्टि से है, न कि उपादानकारण की दृष्टि से। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए भाष्यकार कहते हैं–'अत्रेति' इन पञ्चविध क्लेशों के मध्य में 'अविद्या' अस्मितादि चार भेदों की प्रसवभूमि है।

---

1. क ग घ च छ – पञ्चमी, ख – पञ्चम० (उभयत्र)
2. क ग घ च छ – लक्ष्येति, ख – तस्येति।

'अविद्या' का अस्तित्व रहने पर ही प्रसुप्ताद्यवस्थाक अस्मितादि क्लेशों का अस्तित्व रहता है तथा अविद्या के न रहने पर वे भी नष्ट हो जाते हैं।

भाष्यकार अस्मितादि क्लेशों के प्रसुप्तादि चतुर्विध भेदों का विवेचन करते हैं– **'तत्र का प्रसुप्तिरिति।'** चित्त में **'शक्तिमात्र'** अर्थात् अनागतावस्था से रहने वाले अस्मितादि क्लेशों में जो **'बीजभावोपगम'** अर्थात् स्वकार्यजननसामर्थ्य है, उसे **'प्रसुप्ति'** कहते हैं। इस वाक्य से यह तथ्य उद्घाटित होता है कि कार्य की **'अनागतावस्था'** ही कारणनिष्ठ **'कार्यशक्ति'** है और इसी कारणनिष्ठ अनागतावस्था में उपादानकारणता है। क्लेशों की प्रसुप्त्यवस्था से दग्धबीजभावरूप पाँचवीं अवस्था को व्यावृत्त (पृथक्) करने के लिये क्लेशों की प्रसुप्तावस्था के लक्षण में **'बीजभावोपगम'** पद सन्निविष्ट है। दग्धबीजभाव को प्राप्त हुए अस्मितादियों की पुनः उत्पत्ति नहीं होती है। अतः अविद्या दग्धबीजभावरूप इस पाँचवीं अवस्था की प्रसवभूमि नहीं है। फलतः दग्धबीजभावरूप पाँचवी अवस्था अविद्याक्षेत्र का लक्ष्य नहीं है।

सम्प्रति, क्लेशों की प्रसुप्तावस्था के प्रबोध (जागरण) के विषय में विचार किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

कदाचित्प्रबोधसत्त्व एव [1]प्रसुप्तिः संभवतीत्यतः प्रबोधमपि दर्शयति–तस्येति। तस्य [2]सुप्तक्लेशस्य स्वस्वविषये संमुखीभावोऽभिव्यक्तिः प्रबोध इत्यर्थः। पञ्चम्यवस्थायामतिव्याप्त्यभावं प्रतिपादयति–प्रसंख्यानेति। प्रसंख्यानवतो विवेकसाक्षात्कारिणो जीवन्मुक्तस्य दग्धक्लेशबीजतया संमुखीभूते सन्निकृष्टेऽपि विषयेऽसौ क्लेशानां संमुखीभावः पुनर्न भवति। तत्र हेतुर्दग्धबीजस्य कुतः प्ररोह इतीति। कारणाभावादित्यर्थः। [3]तत्र तस्य पुनः क्लेशा[4]प्ररोहे शास्त्रप्रसिद्धं चरमदेहकत्वं प्रमाणयति–अत इति। पुनः प्ररोहे सति देहान्तरोत्पत्त्या ज्ञानिदेहस्य चरमत्वानुपपत्तिरिति भावः। तथा च स्मर्यते–

बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संपद्यते पुनः॥ इति॥

ज्ञानदग्धैः क्लेशरूपबीजैर्हेतुभिरात्मा देहो न पुनरुत्पद्यत इत्यर्थः, क्लेशाख्यबीजदाहादित्यर्थः।

कभी जागरित होता हुआ ही क्लेश प्रसुप्तावस्था वाला हो सकता है, अतः भाष्यकार क्लेश की प्रबुद्धावस्था (जागरित अवस्था) को भी स्पष्ट करते हैं–

---

1. क – सुषुप्तिः, ख ग घ च छ – प्रसुप्तिः।
2. क ख ग घ – सुषुप्त०, च छ – सुप्त०।
3. क घ च छ – तत्र तस्य, ख ग – तत्त्वज्ञस्य।
4. क ख ग घ – अप्ररोहे, च छ – प्ररोहे।

'तस्येति।' प्रसुप्त क्लेश का अपने-अपने विषय के प्रति **'संमुखीभाव'** होना अर्थात् अस्मितादि का अपने-अपने क्लेशात्मक व्यापार को अभिव्यक्त करना क्लेश की **'प्रबोधावस्था'** कही जाती है। अर्थात् क्लेशों की स्वविषयाभिमुखता को **'प्रबोध'** कहते हैं। क्लेशों की पाँचवीं दग्धबीजभावापन्नावस्था में क्लेश की प्रसुप्तावस्था अतिव्याप्त नहीं होती है, इस तथ्य का प्रतिपादन भाष्यकार करते हैं–**'प्रसंख्यानेति।' 'प्रसंख्यानयुक्त'** अर्थात् विवेकसाक्षात्कारयुक्त जीवन्मुक्त साधक के क्लेशबीज भस्मीभूत हो जाने से विषयरूप आलम्बन के **संमुखीभूत** अर्थात् सन्निकृष्ट रहने पर भी क्लेशों की पुनः उत्पत्ति (अभिव्यक्ति) नहीं होती है। इसमें कारण यह है कि दग्धबीज का पुनः **'प्ररोह'** अर्थात् अंकुरित होना संभव नहीं है, क्योंकि कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता है। भाष्यकार जीवन्मुक्त साधक के दग्धक्लेश के पुनः अंकुरित न होने में जीवन्मुक्त के **'चरमदेह'** (देहान्तर प्राप्त न होने) को प्रमाणरूप में उपस्थित करते हैं–**'अत इति।'** क्षीणक्लेश वाले **'कुशल'** साधक को **'चरमदेह'** कहते हैं। अन्यथा दग्ध क्लेशों की पुनः अभिव्यक्ति मानने पर (तत्प्रयुक्त) देहान्तर भी होने से तत्त्वज्ञ के देह का **'चरमत्व'** उपपन्न न हो सकेगा। जैसा कि स्मृति में कहा गया है– **'बीजान्य...पुनः'** (मोक्षधर्म २११/१७) अर्थात् 'जिस प्रकार अग्नि से जले हुए बीज पुनः अंकुरित नहीं होते हैं उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि से दग्ध क्लेशों से देह की पुनः उत्पत्ति नहीं होती है।' श्लोक के अर्थ को स्पष्ट करते हुए स्वयं योगवार्त्तिककार कहते हैं–ज्ञान के द्वारा दग्धीभूत क्लेशरूप बीजों के कारण **'आत्मा'** अर्थात् देह की पुनः उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि क्लेशाख्य बीज का नाश हो जाता है।

योगवार्त्तिकम्

दग्धबीजभावाया अवस्थाया अपरिगणने बीजमाह तत्रैवेति। तत्रैव चरम[1]देह एव दग्धबीजावस्था नान्यत्र, [2]पुनर्जन्माभावादित्यर्थः। अतो नास्ति दग्धबीजावस्थस्य प्रसवो नापि तत्प्रसव भूमिरविद्येति भावः। जीवन्मुक्तानां विषयसन्निकर्षेऽपि क्लेशानभिव्यक्तेः क्लेशसंस्कार एव तदा नास्ति [3]विदेहे कैवल्य इवेति भ्रमं निरस्यति–सतामिति। [4]सूक्ष्मरूपेण सतामेव क्लेशानां तदा चरमदेहे बीजसामर्थ्यं कार्यजननसामर्थ्यं दग्धं नाशितमित्यादिरर्थः। अग्न्यादौ

1. क ख ग घ – देहके, च छ – देहे।
2. क ग घ च छ – पुनर्जन्माभावात्, ख – पुनर्जन्मभाजी।
3. क च छ – विवेके, ख – विदेह०, ग घ – विदेहे।
4. क ग – सूक्ष्मरूपेण सत्तां क्लेशानामेव, ख – सूक्ष्मेणानागतावस्थारूपेण सतां क्लेशानामेव, घ च छ – सूक्ष्मरूपेण सतामेव क्लेशानाम्।

दाहादिशक्तेर्यावद्द्रव्यभावितादर्शनात् चित्तेन सहैव क्लेशशक्तेरशेषतो नाशसंभवात्। [1]एतच्च ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्मा इति सूत्रे व्यक्तीभविष्यति। उपसंहरति–इत्युक्ता प्रसुप्तिर्दग्धबीजानामप्ररोहश्चेति।

सम्प्रति, भाष्यकार सूत्र में 'दग्धबीजावस्था' के परिगणित न होने का कारण बताते हैं–**'तत्रैवेति।'** **'तत्रैव'** अर्थात् जीवन्मुक्त के चरमदेह में ही क्लेशों की 'दग्धावस्था' होती है, क्योंकि उनका ही पुनर्जन्म नहीं होता है। यह स्थिति सामान्य शरीरधारियों की नहीं होती है, क्योंकि तन्निष्ठ अविद्या देहान्तरप्राप्ति का कारण होती है। अतः दग्धबीजावस्थ अस्मितादि क्लेश का न तो प्रादुर्भाव ही होता है और न ही उनकी प्रसवभूमि **'अविद्या'** है। विषय के समीप में रहने पर भी जीवन्मुक्तों के क्लेशों की अभिव्यक्ति इसलिये नहीं होती है, क्योंकि उनमें क्लेशाख्य संस्कार उसी प्रकार नहीं रहता है, जिस प्रकार विदेहकैवल्य की अवस्था में क्लेशसंस्कार नहीं रहता है। इस प्रकार विदेहकैवल्य की भाँति जीवन्मुक्त की अवस्था में भी क्लेशसंस्कार की अविद्यमानता मानने के उक्त भ्रम का भाष्यकार निराकरण करते हैं–**'सतामिति।'** यहाँ 'चरमदेह' योगियों में सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहते हुए ही क्लेशों के **'बीजसामर्थ्य'** अर्थात् कार्यजननसामर्थ्य का सर्वथा दग्ध होना विवक्षित है। क्योंकि अग्न्यादि में परिदृष्ट यावद्द्रव्यभावी दाहादिशक्ति की भाँति चित्त के साथ ही क्लेशशक्ति का पूर्णतः नाश होना सम्भव रहता है। (अविद्यादि का क्लेशत्व चित्तनाश के साथ उसी प्रकार निःशेष हो जाता है, जिस प्रकार काष्ठ की समाप्ति के साथ उस अग्नि की दाहकत्वशक्ति)। यह तथ्य **'ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः'** (२/१०) सूत्र में स्पष्ट किया जायेगा। भाष्यकार प्रकृत विषय (प्रसुप्तावस्था) का उपसंहार करते हैं–**'इत्युक्ता प्रसुप्तिर्दग्धबीजानामप्ररोहश्चेति।'** इस प्रकार विदेहलीन, प्रकृतिलीन तथा व्युत्थित चित्त वाले पुरुषों के क्लेश प्रसुप्तावस्थाक होते हैं जो कालान्तर में पुनरुद्भूत होते हैं जब कि मुक्त पुरुषों के 'दग्धबीज' क्लेशों में अप्ररोहत्व (अपुनरुद्भवत्व) रहता है।

योगवार्त्तिकम्

शिष्यावधानाय क्रमप्राप्तं तनुत्वस्य निर्वचनं प्रतिजानीते–तनुत्वमुच्यत इति। प्रतिपक्षेति। क्लेशप्रतिपक्षः क्रियायोगः, तस्य भावनमनुष्ठानं तेनोपहताः क्लेशास्तनवो विवेकख्याति[2]बन्धाक्षमा भवन्ति। एतदेव तनुत्वमिति शेषः। केचित्तु सम्यग्दर्शनं श्रवणादिरूपं परोक्षमविद्यायाः प्रतिपक्षः, एवं भेददर्शनम[3]स्मितायाः, अहेयानुपादेयताज्ञानरूपं माध्यस्थ्यं

1. 'क ग घ च – तत्, ख छ – एतत्।
2. क ख ग घ च – प्रतिबन्ध०, छ – बन्ध०।
3. क घ च – अस्मितायां, ख ग छ – अस्मितायाः।

रागद्वेषयोः, उपकरणाख्यानुबन्धबुद्धिनिवृत्तिरभिनिवेशस्य, एतेषां भावनेनानुष्ठानेनोपहता इत्यर्थमाहुः।

सम्प्रति, भाष्यकार शिष्य को ज्ञान कराने के लिये क्रमप्राप्त 'तनुत्व' का निर्वचन करते हैं–'तनुत्वमुच्यत इति।' 'तनुत्व' का स्वरूप है–'प्रतिपक्षेति।' क्लेश के विरोधी क्रियायोग के अनुष्ठान (निष्पादन) से क्षीण हुए क्लेश 'तनु' कहे जाते हैं, जो विवेकख्याति को प्रादुर्भूत होने में बाधा डालने में समर्थ नहीं होते हैं। यही अस्मितादि क्लेश की 'तन्ववस्था' है। कुछ लोग 'सम्यग्दर्शन' अर्थात् श्रवणादिरूप परोक्षज्ञान को अविद्या का प्रतिपक्षी, 'भेदज्ञान' को अस्मिता का प्रतिपक्षी, अहेय (अत्याज्य) तथा अनुपादेय (अग्राह्य) ज्ञानरूप 'मध्यस्थता' को राग-द्वेष का प्रतिपक्षी तथा 'विषयसंग्रहप्रधानबुद्धिनिवृत्ति' अथवा शरीरादिसहित बुद्धि की निवृत्ति को अभिनिवेश का प्रतिपक्षी मानते हैं। इस प्रकार प्रतिपक्षभावना करने से उपहत हुए अविद्यादि क्लेश 'तन्ववस्था' वाले होते हैं।

बालप्रिया–

'केचित्तु'–इस पद द्वारा विज्ञानभिक्षु ने वाचस्पति मिश्र की ओर संकेत किया है।

योगवार्त्तिकम्

विच्छित्तिं व्याचष्टे–तथेति। क्लेशानामन्यतमेनाभिभवादत्यन्तविषयसेवनाद्वा [1]विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनात्मना पूर्ववदतनुभावेनैव पुनः समुदाचरन्ति=आविर्भवन्तीत्यतो विच्छिन्न-शब्दवाच्या भवन्तीत्यर्थः। अत्र वीप्सया विच्छित्तिसमुदाचारयोः पौनःपुन्यं दर्शयता प्रसुप्ताद् भेद उक्तः। प्रसुप्तिर्हि क्लेशानां व्यञ्जकविलम्बेनैकद्वित्रिजन्मादिबहुकालं [2]व्यापारानभिव्यक्तिः, विच्छिन्नता तु स्वल्पप्रतिबन्धतः क्लेशप्रवाहस्या[3]ल्पकालमन्तराऽन्तराऽनभिव्यक्तिरिति भेदः। तेन तेनात्मनेत्यनेन च तन्ववस्थातो भेद उक्त इति। विच्छेदे प्रमाणं पृच्छति–कथमिति उत्तरम्–रागेति। रागकाले क्रोधस्यादर्शनात् क्रोधस्य विच्छिन्नता सिध्यतीत्यर्थः। तदा क्रोधाभावे च पुनः क्रोधोत्पत्त्यसम्भवोऽसत्कार्यानभ्युपगमादिति भावः। एवं क्लेशान्तरेऽपि द्रष्टव्यम्। रागकाले क्रोधस्य विच्छेदे च विरोधो बीजमित्याह–न हीति। कालिकविच्छेदं क्लेशानाम् उदाहृत्य दैशिकविच्छेदमप्युदाहरति–रागश्चेति। विषयान्तरे न नास्ति अपि तु विच्छिन्नावस्थस्तत्रा[4]पि; अन्यथाऽसदुत्पादासंभवादित्यर्थः। अतो विषयान्तरे तदा रागेण विच्छिन्न इति भावः। तदे[5]व लोकव्यवहारेणाप्यवधारयति–नैकस्यामिति। तत्रैकस्यां

1. क ख ग घ च – विच्छिद्य विच्छिद्य, छ – विच्छिद्य।
2. क ग घ च छ – व्यापार०, ख – व्याप्य०।
3. क ख घ च छ – अल्पकालं, ग – अल्पम्।
4. क ख – अस्ति, ग घ च छ – अपि।
5. क ख ग घ – एव, घ च – एवम्।

स्त्रियामित्यर्थः। स हीति। स हि रागस्तदाऽन्यत्र प्रसुप्तो वा तनुर्वा विच्छिन्नो वैकतरोऽवश्यं भवति तत्र विच्छिन्नतामादायात्रोदाहृत इत्याशयः।

भाष्यकार क्लेशों की विच्छिन्नावस्था की व्याख्या करते हैं—**'तथेति'** किसी एक क्लेश के द्वारा अन्य क्लेशों के अभिभूत होने से अथवा विषयों का अत्यधिक भोग करने से खण्डित होते हुए पूर्व-पूर्व अनुभवानुसार पुनः-पुनः आविर्भूत होने वाले क्लेश **'विच्छिन्न'** पदवाच्य हैं। यहाँ **'विच्छिद्य विच्छिद्य'** पुनरुक्ति (वीप्सा) द्वारा विच्छिन्न तथा उदार क्लेशों का बार-बार आविर्भूत होना प्रदर्शित करते हुए भाष्यकार ने उनको 'प्रसुप्त' से पृथक् बताया है। क्लेशोद्बोधक के विलम्ब के कारण (क्लेश को उद्दीप्त करने वाले आलम्बन का चित्त के साथ संयोग न होने से) एक, दो, तीन जन्मादिरूप दीर्घकाल तक अपने-अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति (लब्धवृत्ति) न होना क्लेशों की **'प्रसुप्ति'** है। किसी स्वल्प प्रतिबन्धक के कारण क्लेशप्रवाह का अत्यल्पकाल के लिये बीच-बीच में (खण्डितरूप से) अभिव्यक्त न होना **'विच्छिन्नता'** है। यही क्लेशों की **प्रसुप्ति** और **विच्छिन्नता** में पार्थक्य है। भाष्यकार ने **'तेन तेनात्मना'** द्वारा **विच्छिन्नावस्था** को **तन्ववस्था** से पृथक् किया है।

शङ्का—विच्छिन्नावस्था में क्या प्रमाण है, ऐसा पूछा जा रहा है—**'कथमिति।'**

समाधान—उत्तर है—**'रागेति।'** राग के लब्धवृत्तिकाल में क्रोध के परिलक्षित न होने से क्रोध की **'विच्छिन्नता'** सिद्ध होती है। यदि रागकाल में क्रोध की **'विच्छिन्नता'** न मानकर उसका अभाव ही मान लें तो क्रोध की पुनः उत्पत्ति न हो सकेगी, क्योंकि योग में असत् पदार्थ स्वीकृत नहीं हैं। यह न्याय क्लेशान्तरों में भी चरितार्थ होता है। रागकाल में क्रोध के विच्छिन्न रहने में उनका पारस्परिक विरोध ही कारण होता है, ऐसा भाष्यकार बताते हैं—**'न हीति।'** तभी रागकाल में क्रोध लब्धवृत्ति नहीं होता है।

क्लेशों की कालिक विच्छिन्नता (कालसम्बन्धी अनभिव्यक्तिता) को सोदाहरण प्रस्तुत करने के पश्चात् भाष्यकार उनकी दैशिक विच्छिन्नता को भी उदाहृत करते हैं—**'रागश्चेति।'** एक विषय के प्रति चित्त में राग होने पर भी अन्य विषयों के प्रति चित्त में राग नहीं है, ऐसा नहीं है। अपितु अन्यविषयक राग उस समय विच्छिन्नावस्था वाला होता है। अन्यथा असद्रूप राग की कभी उत्पत्ति संभव न हो सकेगी। अतः यह माना जाता है कि उस समय विषयान्तर के प्रति राग विच्छिन्नावस्था वाला होता है। भाष्यकार इसी तथ्य को लोकव्यवहार के द्वारा भी परिपुष्ट करते हैं—**'नैकस्यामिति।'** एक स्त्री के प्रति अनुरक्त चैत्र अन्य स्त्रियों के प्रति विरक्त नहीं होता है, अपितु उस स्त्रीविषयक राग वर्तमानवृत्ति वाला होता है और अन्य स्त्रीविषयक राग भविष्यद्वृत्ति वाला होता है। बस पार्थक्य इतना ही है—**'स हीति।'** यह

भविष्यद्वृत्तिक राग अन्य विषयों के प्रति प्रसुप्त, तनु अथवा विच्छिन्न में से किसी एक अवस्था वाला अवश्य ही होता है। प्रकृत में भविष्यद्वृत्तिक राग की विच्छिन्नता को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

योगवार्त्तिकम्

उदारतां व्याचष्टे—विषय इति। लब्धवृत्तिर्लब्धस्वाभाविकवृत्तिरित्यर्थः। तेन तनुव्यावृत्तिः। ननु प्रसुप्तविच्छिन्नयोः कथं क्लेशत्वं दुःखाजनकत्वादित्याशङ्क्याह—सर्व एवैत इति। क्लेशविषयत्वं क्लेशजननयोग्यत्वं नातिक्रामन्ति, उदाराद्यवस्थायां प्रसुप्तादिरूपस्य धर्मिणो दुःखदत्वादित्यर्थः। नन्वेवं सर्वासामेव क्लेशव्यक्तीनां कालभेदाच्चानुरूप्ये कथं प्रसुप्तादिरूपेण क्लेशानां विभाग इत्याशङ्क्ते—कस्तर्हीति। परिहरति—उच्यत इति। प्रसुप्तादि[1]रूपेण चतुर्णां क्लेशानामेकत्वमिति सत्यमेतत्, तथाऽप्यवस्थाभिर्विशिष्टानामेव क्लेशानां विच्छिन्नादित्वं विवक्षितम्, यथैकस्यैव पुरुषस्य बालकतरुणवृद्धादिरूपो विभाग इत्यर्थः। उक्ताया उदारावस्थायाः कारणं प्रदर्शयति हानाय—यथैवेति। स्वव्यञ्जकेन विषयध्यानेनाञ्जनेनाभिव्यक्त उदारो भवति क्लेशोऽतो मुमुक्षुणा प्रतिपक्षभावनावद्विषयसङ्गत्यागोऽपि कार्य इत्याशयः। निमित्तकारणेऽपि क्षेत्रशब्दो येन गुणेनात्र गौणस्तमाह—सर्व स वेति। ननु रागादीनां ज्ञानत्वाभावात् कथमविद्याविशेषत्वमित्याशयेन पृच्छति—कस्मादिति। उत्तरम्—सर्वेष्विति। सर्वेष्वेव स्वेतरक्लेशेष्वविद्यैव व्यापिका भवति, तत्र हेतुः—यदीति। आकार्यते=विषयीक्रियते, अनुशेरते अनुगता भवन्ति। शेषं सुगमम्। तथा च वैशेष्यात्तद्वाद इति न्यायेनाविद्याप्राचुर्याद् अविद्यामिश्रितेषु सर्वक्लेशेष्वविद्या[2]भेदवत्त्वमुपपन्नं यथा सुवर्णादिषु पार्थिवांशमिश्रितेषु तेजोवैशेष्यात्तेजोभेदत्वमिति भावः॥४॥

भाष्यकार अस्मितादि क्लेशों की 'उदार' अवस्था की व्याख्या करते हैं—'विषय इति।' जो क्लेश विषय के प्रति 'लब्धवृत्ति' अर्थात् लब्धस्वाभाविकवृत्ति वाला होता है, उसे 'उदार' कहते हैं। अर्थात् जो क्लेश स्वव्यापारयुक्त होता है, उसे 'उदार' कहते हैं। क्लेश की उदारावस्था को 'लब्धवृत्तिक' कहने से उसकी 'अलब्धवृत्तिक' तन्ववस्था से व्यावृत्ति हो जाती है। अविद्यादि के क्लेशत्व की संयोजना (अनुस्यूतता) उसकी प्रसुप्तादि सभी अवस्थाओं में प्रतिपादित करते हुए प्रश्न किया जा रहा है—

शङ्का—दुःख के उत्पादक (जनक) न होने से अस्मितादि की प्रसुप्तता और विच्छिन्नता में क्लेशत्व किस प्रकार घटित होता है? अर्थात् उन्हें 'क्लेश' संज्ञा से अभिहित करना उचित नहीं है।

---

1. क च छ – रूपेण, ख ग घ – रूपाणाम्।
2. क च छ – भेदवत्त्वमुपपन्नं यथा सुवर्णादिषु पार्थिवांशमिलितेषु तेजोवैशेष्यात्तेजोभेदत्वं, ग – भेदवत्त्वं...भेदत्वं नोपलभ्यते ख घ – भेदत्वमनुपपन्नं यथा सुवर्णादिषु पार्थिवांशमिश्रितेषु वैशेष्यात्तेजोभेदत्वं।

समाधान–ऐसी आशंका होने पर भाष्यकार कहते हैं–'**सर्व एवैत इति**।' उदारावस्था की भाँति ये प्रसुप्तादि अवस्थाएँ '**क्लेशविषयत्व**' अर्थात् क्लेशजनन की योग्यता का अतिक्रमण नहीं करती हैं अर्थात् इनमें क्लेशजननयोग्यताराहित्य नहीं है, क्योंकि प्रसुप्तादिरूप धर्मी उदारादि अवस्था को प्राप्त होने पर दुःख देते हैं।

शङ्का–जब सभी क्लेशव्यक्तियों में कालभेद से क्लेशत्वरूप साधर्म्य (समरूपता) है, तो उनका प्रसुप्तादिरूप से विभाग करने का औचित्य क्या है? अर्थात् अस्मितादियों का प्रसुप्तादि रूप से भेद करना निष्प्रयोजन प्रतीत होता है? ऐसी शंका की जा रही है–'**कस्तर्हीति**।'

समाधान–उक्त शंका का खण्डन किया जा रहा है–'**उच्यत इति**।' यह सत्य है कि प्रसुप्तादि रूप से चारों क्लेशव्यक्तियों में एकरूपता (तुल्यता) है, तथापि तत्तद् अवस्थाओं से विशिष्ट अस्मितादि क्लेशों का विच्छिन्नत्वादिरूप यहाँ अभिहित है। जिस प्रकार एक ही पुरुष का बालक, तरुण, वृद्धादिरूप विभाग किया जाता है, उसी प्रकार प्रकृत में प्रसुप्तादि विभाग उपपन्न होता है।

उदारावस्था का हान (नाश) करने के लिये अस्मितादि क्लेशों की उदारावस्था के कारण पर भाष्यकार प्रकाश डाल रहे हैं–'**यथैवेति**।' '**स्वव्यञ्जक**' अर्थात् विषयध्यान-रूप अभिव्यञ्जक से अभिव्यक्त हुआ क्लेश '**उदार**' कहा जाता है। अतः मुमुक्षु को क्लेशों के प्रति प्रतिपक्षभावना की तरह विषयसंसर्ग का परित्याग भी करना चाहिये। '**अविद्याक्षेत्रम्**' में अस्मितादि का निमित्तकारण होने से 'अविद्या' के लिये '**क्षेत्र**' शब्द का प्रयोग गौण है। उसी गौणता को भाष्यकार बताते हैं–'**सर्व एवेति**।' अविद्या- निमित्तक होने से ही ये अस्मितादि सभी क्लेश अविद्या के भेद (कार्य) हैं।

शङ्का–रागादि क्लेशों में ज्ञानत्वाभाव होने से रागादियों को अविद्याविशेष कैसे कहा गया है? इसी आशय से प्रश्न किया जा रहा है–'**कस्मादिति**।'

समाधान–उत्तर है–'**सर्वेष्विति**।' '**स्वेतर**' अर्थात् अपने से भिन्न उत्तरोत्तरवर्ती सभी क्लेशों में अविद्या व्याप्त रहतीं है, अतः अस्मितादि को '**अविद्याविशेष**' कहा जाता है। इसमें कारण है–'**यदीति**।' '**आकार्यते**' क्रियापद का अर्थ है–'विषय किये जाते हैं' तथा '**अनुशेरते**' क्रियापद का अर्थ है–'अनुगत रहते हैं'। सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ इस प्रकार होगा–अविद्या के द्वारा जो पदार्थ विषय किया जाता है, अस्मितादि क्लेश भी उसी पदार्थ में अनुगत रहते हैं अर्थात् अविद्यासमारोपित पदार्थ का ही अस्मितादि क्लेश अनुगमन करते हैं। (अतः अविद्या को उत्तरोत्तर क्लेशों का '**क्षेत्र**' (उत्पत्तिस्थल) कहा गया है। किञ्च '**वैशेष्यात्तद्वादः**' (ब्रह्मसूत्र २/४/२२) इस न्याय के द्वारा अविद्यामिश्रित समस्त क्लेशों को अविद्या की अधिकता के कारण अविद्या

का भेद कहना उसी प्रकार उपपन्न होता है, जिस प्रकार सुवर्णादि में पार्थिव अंश मिश्रित रहने पर भी तेजोगुण की अधिकता के कारण सुवर्ण को तैजस का भेद माना गया है॥४॥

बालप्रिया–

'सुवर्णादिषु...तेजोवैशेष्यात्तेजोभेदत्वम्'–तर्कदीपिका में सुवर्ण के तैजसत्व को इस प्रकार सिद्ध किया गया है–**'सुवर्णं पार्थिवं, पीतत्वाद्गुरुत्वाद्धरिद्रादिवदिति चेन्न। अत्यन्तानलसंयोगे सति घृतादौ द्रवत्वनाशदर्शनेन, जलमध्यस्थघृतादौ द्रवत्वनाशादर्शनेन, असति प्रतिबन्धके पार्थिवद्रव्यद्रवत्वनाशाग्निसंयोगयोः कार्यकारणभावावधारणात्। सुवर्णस्यात्यन्तानलसंयोगे सत्यनुच्छिद्यमानद्रवत्वाधिकरणत्वेन पार्थिवत्वानुपपत्तेः। तस्मात्पीतद्रव्यद्रवत्वनाशप्रतिबन्धकतया द्रवद्रव्यान्तरसिद्धौ नैमित्तिकद्रवत्वाधिकरणतया जलत्वानुपपत्तेः, रूपवत्तया वाय्वादिष्वनन्तर्भावात्, तैजसत्वसिद्धिः।'** भाव यह है कि सुवर्ण तैजस है। सुवर्ण को पार्थिव नहीं कहा जा सकता क्योंकि अग्नि में तपाये जाने पर भी सुवर्ण नष्ट नहीं होता है। इसे जल द्रव्य भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जल की तरह स्वाभाविक तरलता सुवर्ण में नहीं है। रूप होने से वायु भी नहीं है। अवशिष्ट आकाशादि पांच द्रव्यों में इसके समावेश का प्रश्न ही नहीं उठता है। परिशेषात् सुवर्ण तैजस है॥४॥

व्यासभाष्यम्

तत्राविद्यास्वरूपमुच्यते–

इन पाँच प्रकार के क्लेशों में (सूत्रकार) 'अविद्या' का स्वरूप बताते हैं–

योगसूत्रम्

अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या॥५॥

अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्मपदार्थों में (क्रमशः) नित्य, शुचि, सुख तथा आत्मबुद्धि होना 'अविद्या' है॥५॥

व्यासभाष्यम्

अनित्ये कार्ये नित्यख्यातिः। तद्यथा–ध्रुवा पृथिवी, ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौः, [1]अमृता दिवौकस इति। तथाऽशुचौ परमबीभत्से काये [2]शुचिख्यातिः। उक्तं च–

स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि।

---

1. ज – इमे (अमृताः पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ व भ म य र – इमे नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ प फ य र – उक्तञ्च, ज म – शुचिख्यातिः। उक्तञ्च, च छ झ त थ द ध न व भ – उक्तञ्च/शुचिख्यातिः नोपलभ्यते।

कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः॥

इत्यशुचौ शरीरे[1] शुचिख्यातिर्दृश्यते। नवेव शशाङ्कलेखा कमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रं भित्त्वा निःसृतेव ज्ञायते, नीलोत्पलपत्रायताक्षी हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां जीवलोकमाश्वासयन्तीवेति कस्य केनाभिसंबन्धः, भवति चैवमशुचौ शुचिविपर्यासप्रत्यय इति। एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययस्तथैवानर्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यातः। तथा दुःखे सुखख्यातिं वक्ष्यति—परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः इति। तत्र सुखख्यातिरविद्या। तथानात्मन्यात्मख्यातिर्बाह्योपकरणेषु चेतनाचेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरे, पुरुषोपकरणे वा मनस्यनात्मन्यात्मख्यातिरिति। [2]तथैतदत्रोक्तम्—व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य संपदमनु नन्दत्यात्मसंपदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनु शोचत्यात्मव्यापदं मन्यमानः[3] स सर्वोऽप्रतिबुद्ध इति। एषा चतुष्पदा भवत्यविद्या मूलमस्य क्लेशसंतानस्य कर्माशयस्य च सविपाकस्येति। तस्याश्चामित्रागोष्पदवद्वस्तुसतत्त्वं विज्ञेयम्। यथा [4]नामित्रो मित्राभावो न मित्रमात्रं किं तु तद्विरुद्धः सपत्नः। [5]तथाऽगोष्पदं न गोष्पदाभावो न [6]गोष्पदमात्रं किंतु देश एव ताभ्यामन्यद्वस्त्वन्तरम्। एवमविद्या न प्रमाणं न प्रमाणाभावः किं तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति ॥५॥

अनित्य कार्य में नित्यबुद्धि होना 'अविद्या' है। वह जैसे—पृथ्वी नित्य है, चन्द्र तथा तारों सहित द्युलोक नित्य है, देवगण अमर हैं इत्यादि। इसी भाँति अशुचिपूर्ण (अशुद्धियुक्त) अत्यन्त घृणित शरीर में शुचिता का बोध होना 'अविद्या' है। कहा भी गया है—अत्यन्त अपवित्र (माता की कुक्षिरूप) स्थान के कारण; रजोवीर्यरूप (दूषित) उपादान के कारण; रक्तमांसादि आश्रय के कारण; मलमूत्रादि प्रवाह के कारण; मृत्यु के भी कारण तथा बाह्य जलादि से पवित्रता का आरोप करने से तत्त्ववेत्ताजन शरीर को अपवित्र मानते हैं।' इस प्रकार के अपवित्र पदार्थ में पवित्र पदार्थ का ज्ञान लोगों में देखा जाता

---

1. च छ ज झ त थ द ध न भ य र – शरीरे उपलभ्यते, क ख ग घ प फ ब म – शरीरे नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न प फ ब भ म य र – तथैतदत्रोक्तं व्यक्तमव्यक्तम्, त – तथैव दत्तोत्तरं व्यक्ताव्यक्तम्।
3. क ख ग च छ ज झ त थ ध न ब भ य – मन्वानः, घ प फ म र – मन्यमानः।
4. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – नामित्रो मित्राभावो न मित्रमात्रम्, छ – न मित्रो न मित्राभावो नामित्रमात्रम्।
5. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न फ ब भ म य र – यथा, घ प म य र – तथा।
6. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – गोष्पद० छ थ – अगोष्पद०।

है। (अशुचि में शुचिबुद्धि का शास्त्रीय उदाहरण प्रस्तुत करके भाष्यकार लौकिक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं)–अभिनव चन्द्रकला के समान मनोरम यह कन्या मानों मकरन्द एवं अमृतरस के अवयवों से बनी हुई है और चन्द्रबिम्ब का भेद न करके निकली हुई सी प्रतीत होती है। नीलकमल की पंखड़ियों सदृश विशाल नेत्रों वाली यह मानों श्रृङ्गारजविलास से युक्त कटाक्षों से प्राणिजगत् को तृप्त कर रही है। इस प्रकार यहाँ किसका किससे सम्बन्ध हो रहा है। इसी प्रकार अपवित्र पदार्थ में पवित्र पदार्थ की भ्राँन्ति होती है। इसी से पापमय कार्य में पुण्य का ज्ञान और वैसे ही अनर्थपूर्ण कार्य में सार्थक कार्य का ज्ञान भी (अशुचि में शुचिरूप द्वितीय अविद्या के रूप में) व्याख्यात हो गया। इसी प्रकार दुःख (दुःखपूर्ण विषय) में सुखावबोधरूप (तृतीय प्रकार की) अविद्या को आगे सूत्र द्वारा बतलाया जायेगा, (सूत्र का अर्थ है)–'परिणाम, ताप और संस्काररूप दुःखों के कारण तथा तीनों गुणों की वृत्ति के विरोध के कारण विवेकिजन के लिये सब दुःख ही है।' इन दुःखों में सुख का बोध अविद्या है। इसी प्रकार अनात्मपदार्थों में आत्मा का ज्ञान (चतुर्थ प्रकार की) अविद्या है। स्त्री, पुत्र, मित्रादि चेतन अथवा शय्यासनादि अचेतन रूप के बाहरी साधनों में अथवा भोगों के अधिष्ठानभूत शरीर में अथवा आत्मा के (साक्षात्) साधन अनात्मभूत मन में आत्मा का ज्ञान होता है। इस विषय में यह कहा गया है–'पुत्र, स्त्री, पशवादि चेतन या शय्यासनादि अचेतन वस्तु को अपने रूप में ग्रहण करके उसकी सम्पन्नता पर अपनी सम्पन्नता समझता हुआ प्रसन्न होता है और उसकी विपन्नता पर अपनी विपन्नता मानता हुआ शोक करता है। ऐसा करने वाले वे सब अविवेकी ही हैं।' इस प्रकार की चार चरणों वाली अविद्या इस क्लेशप्रवाह तथा (जात्यादि) विपाकसहित कर्मजन्य संस्कारपुञ्ज की जड़ है। और इस अविद्या की 'अमित्र' और 'अगोष्पद' के समान भावात्मक सत्ता जाननी चाहिये। जैसे 'अमित्र' शब्द का अर्थ 'मित्र का अभाव नहीं है, और 'मित्रमात्र' भी नहीं है अपितु मित्र का विरोधी 'शत्रु' है। 'अगोष्पद' शब्द का अर्थ 'गोष्पद का अभाव' नहीं है और 'गोष्पद मात्र' भी नहीं है, अपितु उन दोनों से भिन्न वस्तु देश' है। इसी प्रकार अविद्या न तो 'प्रमाण' है और न ही 'प्रमाण का अभाव' है, प्रत्युत विद्याविरोधी एक भिन्न 'ज्ञान' है ॥५॥

तत्त्ववैशारदी

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। अनित्यत्वोपयोगि विशेषणम्–कार्य इति। केचित्किल भूतानि नित्यत्वेनाभिमन्यमानास्तद्रूपमभीप्सवस्तान्येवो-

पासते। एवं धूमादिमार्गानुपासते चन्द्रसूर्य[1]तारकाद्युलोकान्नित्यानभिमन्यमानास्तत्प्राप्तये। एवं दिवौकसो देवानमृतानभिमन्यमानास्तद्भावाय सोमं पिबन्ति। आम्नायते हि–अपाम सोमममृता अभूम इति। सेयमनित्येषु नित्यख्यातिरविद्या। तथाशुचौ परमबीभत्से काये। अर्धोक्त एव कायबीभत्सतायां वैयासिकीं गाथां पठति–स्थानादिति। मातुरुदरं मूत्राद्युपहतं स्थानम्। पित्रोर्लोहितरेतसी बीजम्। अशितपीताहाररसादिभावः उपष्टम्भः, तेन हि[2] शरीरं सन्धार्यते[3] निःस्यन्दः प्रस्वेदः। निधनं च श्रोत्रियशरीरमप्यपवित्रयति, तत्स्पर्शे स्नानविधानात्। ननु यदि शरीरमशुचि, कृतं तर्हि मृज्जलादिक्षालनेनेत्यत आह–आधेयशौचत्वादिति। स्वभावेनाशुचेरपि शरीरस्य शौचमाधेयं सुगन्धितेव कामिनीनामङ्गरागादिति। अर्धोक्तं पूरयति–इत्यशुचाविति। इत्युक्तेभ्यो हेतुभ्योऽशुचौ शरीर इति।

तत्त्ववैशारदीकार उपस्थानिका के विना अगले सूत्र को उपस्थित करते हैं– **'अनित्येति'** भाष्यकार पदार्थ की अनित्यता के साधक विशेषण को बताते हैं–**'कार्य इति'** (भाव यह है कि जो कार्य होता है, वही अनित्य होता है। जैसे **'घटोऽनित्यः कार्यत्वात्, यत्र-यत्र कार्यत्वं तत्र-तत्र अनित्यत्वम्'** इस प्रकार कार्य हेतु के द्वारा पदार्थगत अनित्यता को सिद्ध किया जाता है)। कुछ लोग पञ्चभूतों को नित्य मानकर उनमें लय होने के लिये उनकी उपासना करते हैं। कुछ लोग सूर्य, चन्द्र, तारा तथा द्युलोक को नित्य मानकर उनकी प्राप्ति के लिये धूमादि मार्ग की उपासना करते हैं। इसी प्रकार कुछ लोग स्वर्ग के देवों को अमर मानकर उस अमरत्व की प्राप्ति के लिये सोमरस का पान करते हैं। क्योंकि ऐसा पठित है–'सोम को पीकर (देवता लोग) अमर हो गये।' यही अनित्य पदार्थों में नित्यज्ञानविषयिणी **'अविद्या'** है। अशुचि में शुचिज्ञानरूप अविद्या का बोध कराने के लिये भाष्यकार **'तथाऽशुचौ परमबीभत्से काये'** इस अर्धकथन के विषय में ही शरीर की बीभत्सता से सम्बन्धित वैयासिकी गाथा को पढ़ते हैं –**'स्थानादिति।'** मूत्रादि से आपूरित जननी का उदर **'स्थान'** है। माता-पिता का रज तथा वीर्य **'बीज'** है। भुक्त तथा पीत आहार के रसादि परिणाम को **'उपष्टम्भ'** कहते हैं। इन्हीं रसादि से शरीरधारण किया जाता है। पसीने को **'निःस्यन्द'** कहते हैं। मृत्यु को **'निधन'** कहते हैं। 'निधन' श्रोत्रिय (वेदपाठी) के शरीर को भी अपवित्र (दूषित) बना देता है। अतः मृतशरीर का स्पर्श होने पर स्नान विहित है।

शङ्का–यदि शरीर (स्वभावतः) अशुद्ध (अशुचिपूर्ण) ही है तो मृज्जलादि द्वारा उसे प्रक्षालित करने से क्या लाभ है?

---

1. क ख ग छ -- तारकाद्युपलोकान्, घ च ज झ त थ द ध न – तारकाद्युलोकान्।
2. थ द ध – हि उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – हि नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त न – धार्यते, थ द ध – सन्धार्यते।

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–**'आधेयशौचत्वादिति।'** स्वभावतः अशुद्ध होते हुए भी शरीर में शुचिता उसी प्रकार प्रत्यारोपित (कल्पित) होती है जिस प्रकार अंगराग के प्रयोग से स्त्रियों के शरीर में सुगन्धि अध्यस्त (आरोपित) होती है। भाष्यकार अर्धोक्त को पूरा करते हैं–**'इत्यशुचाविति।'** उक्त हेतुओं से अशुचिपूर्ण शरीर में शुचिता का बोध होता है।

बालप्रिया–

'परमबीभत्से कायें'–अत्यन्त विकृत, क्रूर, अपवित्र शरीरं का कुत्सितत्व मैत्रायणीशाखा में वर्णित है। वहाँ का वचन है–**'शरीरमिदं मैथुनादेवोद्भूतं, संवृद्ध्युपेतं निरये, अथ मूत्रद्वारेण निष्क्रान्तम् अस्थिभिश्चितं, मांसेनाऽनुलिप्तं, चर्मणाऽवनद्धम्।'**

'कृतम्'–यह 'प्रतिषेधार्थक' अव्यय है।

'क्षालनेन'–गम्यमान साधनक्रिया की अपेक्षा से यहां 'करण' अर्थ में तृतीया विभक्ति हुई है। ऐसी स्थिति में वाक्यार्थ यह होगा कि मृज्जलादि द्वारा प्रक्षालन करने से कुछ भी सिद्ध होने वाला नहीं है, अपितु सब कुछ व्यर्थ है।

'शौचमाधेयम्'–अशुचिपूर्ण शरीर में मृज्जलादि द्वारा शुचिता की प्रतीतिमात्र होती है, वस्तुतस्तु अशुचिपूर्ण शरीर में शुचिता का आपादन नहीं होता है। जिस प्रकार सुगन्धियुक्त प्रसाधनों के प्रयोग से नारी स्वदेह को ही सुरभिमय समझने लगती है, वस्तुतस्तु दुर्गन्धयुक्त शरीर में सुगन्धि का आपादन नहीं होता है।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार वैयासिक वाक्य के पूर्वांश की व्याख्या के पश्चात् उत्तरांश **'शुचिख्यातिर्दृश्यते'** की व्याख्या करते हैं अर्थात् अशुचिपूर्ण शरीर में किस प्रकार शुचिबुद्धि होती है, इसे स्पष्ट करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

शुचिख्यातिमाह-नवेति। हावः श्रृङ्गारजा लीला। कस्य स्त्रीकायस्य परमबीभत्सस्य केन मन्दतमसादृश्येन शशाङ्कलेखादिना संबन्धः। एतेना[1]शुचौ स्त्रीकाये शुचिख्यातिप्रदर्शनेन। अपुण्ये हिंसादौ संसारमोचकादीनां पुण्यप्रत्ययः। एवमर्जनरक्षणादिदुःखबहुलतयानर्थे धनादावर्थप्रत्ययो व्याख्यातः। सर्वेषां जुगुप्सितत्वेनाशुचित्वात्। तथा दुःख इति। सुगमम्। तथानात्मनीति। सुगमम्। 'तथैतदत्रोक्त' पञ्चशिखेन। व्यक्तं चेतनं पुत्रदारपश्वादि। अव्यक्तमचेतनं शय्यासनाशनादि। स सर्वोऽप्रतिबुद्धो मूढः। चत्वारि पदानि स्थानान्यस्या इति चतुष्पदा। नन्वन्यापि दिङ्मोहालातचक्रादिविषयानन्तपदाऽविद्या, तत्किमुच्यते चतुष्पदेत्यत आह–मूलमस्येति। सन्तु नामान्या अप्यविद्याः, संसारबीजं तु[2] चतुष्पदैवेति।

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – अशुचौ, थ द ध – अशुचिः।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न – तु उपलभ्यते, थ द ध – तु नोपलभ्यते।

भाष्यकार अशुचिपूर्ण पदार्थ (शरीर) में होने वाली शुचिबुद्धि को (सोदाहरण) बताते हैं—**'नवेति'** (आलंकारिकों के अनुसार) शृंगारजन्य लीला 'हाव' है। यहाँ अल्पतम समानता के आधार पर अत्यन्त घृणित स्त्रीदेह का (सुन्दरतम) चन्द्रलेखादि से सम्बन्ध स्थापित किया गया है। इससे अशुचिपूर्ण नारीदेह में शुचिबुद्धि को प्रदर्शित किया गया है। इसी प्रकार संसारमोचक मीमांसकों को हिंसादि अपुण्य क्रिया (**पशुना यजेत**) में पुण्यबुद्धि होती है। इसी प्रकार अर्जन, रक्षणादि दुःखों के प्राचुर्य से अनर्थभूत धनादि में अर्थबुद्धि होती है। ये सब भी निन्दित होने से 'अशुचि' रूप ही हैं। तृतीय प्रकार की अविद्या के विषय में वैयासिकी पंक्ति को उठाया जा रहा है—**'तथा दुःख इति'** भाष्यार्थ सरल है। चतुर्थ प्रकार की अविद्या के विषय में वैयासिकी पंक्ति को उठाया जा रहा है—**'तथाऽनात्मनीति'** भाष्यार्थ सरल है। तत्त्ववैशारदीकार भाष्य को उठाते हैं—**'तथैतदत्रोक्तम्'** अर्थात् जैसा मैंने कहा है, वैसा ही चतुर्थ प्रकार की अविद्या के विषय में **'पञ्चशिखाचार्य'** ने भी कहा है। तत्त्ववैशारदीकार पञ्चशिखाचार्य के उक्त वचन के कुछ पदों का ही अर्थ स्पष्ट करते हैं—**'व्यक्त'** शब्द से पुत्र, स्त्री पशवादि 'चेतन' पदार्थ गृहीत हैं। **'अव्यक्त'** शब्द से शय्या, आसन आहारादि 'अचेतन' पदार्थों को लिया गया है। इस प्रकार अचेतन को चेतन समझने वाले सभी व्यक्ति **'अप्रतिबुद्ध'** अर्थात् मूढ हैं। तत्त्ववैशारदीकार **'चतुष्पदा'** का विग्रह करते हैं—**'चत्त्वारि पदानि स्थानान्यस्या इति चतुष्पदा'** अर्थात् जिसके चार पद अर्थात् स्थान हैं, उसे **'चतुष्पदा'** कहते हैं। यह चतुष्पदा **'अविद्या'** है। अविद्या के सीमित **'चतुष्पदत्व'** पर पूर्वपक्षी शंका करता है—

शङ्का—दिङ्मोह, आलातचक्रादि विषय वाली यह अविद्या **'अनन्तपदा'** है, तो फिर अविद्या को **'चतुष्पदा'** ही क्यों कहा गया है?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—**'मूलमस्येति'।** चतुष्पदातिरिक्त पूर्वसंकेतित अन्य प्रकार की अविद्याएँ भी भले ही क्यों न हों, किन्तु संसार की हेतुभूता अविद्या 'चतुष्पदा' ही है।

बालप्रिया—

'दिङ्मोह' (दिक्+मोह)—दिशासम्बन्धी भ्रान्ति को 'दिङ्मोह' कहते हैं। वृद्ध व्यक्ति को अन्धकार में बहुधा दिग्भ्रम हो जाता है।

'आलातचक्र' (अलात+ अण्)—जलती हुई लकड़ी को 'आलात' कहते हैं। जलती हुई लकड़ी की वलयाकार द्रुत गति (आलातचक्र) का प्रदर्शन प्रत्यक्षदर्शियों के लिये सन्देहकारी रहता है।

'अन्या अप्यविद्या'–अतद् में तद्बुद्धि रूप अविद्या (शुक्ति में रजतबुद्धि के समान) विषय के आनन्त्य से अनन्त प्रकार की अवश्य है। किन्तु मोक्षप्रतिपादक शास्त्र के प्रसंग में मोक्ष-प्रतिद्वन्द्विनी संसार की हेतुभूता अविद्या का चतुष्पदत्व ही अभिधान के योग्य है। अतः 'चतुष्पदा अविद्या'–यह कथन युक्तिसंगत है।

सम्प्रति, 'अविद्या' इस समस्त पद की व्याकरणसम्मत व्याख्या को दार्शनिक परिप्रेक्ष्य से मूल्यांकित एवं सीमांकित किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

नन्वविद्येति नञ्समासः पूर्वपदार्थप्रधानो वा स्याद्यथाऽमक्षिकमिति, उत्तरपदार्थप्रधानो वा यथाऽराजपुरुष इति, अन्यपदार्थप्रधानो वा यथाऽमक्षिको देश इति? तत्र पूर्वपदार्थप्रधानत्वे विद्यायाः प्रसज्यप्रतिषेधो गम्येत, न चा[1]स्याः क्लेशादिकारणत्वम्; उत्तरपदार्थप्रधानत्वे वा[2] विद्यैव कस्यचिदभावेन विशिष्टा गम्येत, सा च क्लेशादिपरिपन्थिनी न तु तद्बीजम्, न हि प्रधानोपघाती प्रधानगुणो युक्तः, तदनुपघाताय गुणे त्वन्याय्यकल्पना, तस्माद्विद्यास्वरूपानुपघाताय नञोऽन्यथाकरणमध्याहारो वा निषेधस्येति; अन्यपदार्थ[3]प्रधानत्वे त्वविद्यमानविद्या बुद्धिर्वक्तव्या, न चासौ विद्याया अभावमात्रेण क्लेशादिबीजम्, विवेकख्यातिपूर्वकनिरोधसंपन्नाया अपि तथात्वप्रसङ्गात्, तस्मात्सर्वथैवाविद्याया न क्लेशादिमूलतेत्यत आह– तस्याश्चेति, वस्तुनो भावो वस्तुसतत्त्वं वस्तुत्वमिति यावत्। तदनेन न प्रसज्यप्रतिषेधः, नापि विद्यैवाविद्या, ना[4]पि तदभावविशिष्टा बुद्धिः, अपि तु विद्याविरुद्धं विपर्ययज्ञानमविद्येत्युक्तम्।

पूर्वपक्षी 'अविद्या' के तीन विग्रहों को विकल्पतः प्रस्तुत करता है–

पूर्वपक्ष–'अविद्या' में पूर्वपदार्थप्रधान 'अव्ययीभावसमास है, 'अमक्षिकम्' इस समस्त पद के समान। जैसे '**मक्षिकाणामभावोऽमक्षिकम्**' में पूर्वपदार्थप्रधान अव्ययीभावसमास है, वैसे ही 'अविद्या' को **विद्यानामभावोऽविद्यम्** माना जाय–यह प्रथम विकल्प है। अथवा 'अविद्या' में नञ्घटित उत्तरपदार्थप्रधान तत्पुरुषसमास है, '**अराजपुरुषः**' इस समस्त पद के समान। जैसे '**न राजपुरुष इति अराजपुरुषः**' अथवा '**अभावविशिष्टराजपुरुष इति अराजपुरुषः**' में उत्तरपदार्थप्रधान तत्पुरुष है वैसे ही अविद्या में '**न विद्या अविद्या**' अथवा '**अभावविशिष्टाऽविद्या**' उत्तरपदार्थप्रधान तत्पुरुषसमास किया जाय–यह द्वितीय विकल्प है। अथवा अविद्या में अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहिसमास है, **अमक्षिको देशः** के समान। जैसे '**अविद्यमाना**

---

1. क ख ग च छ झ थ द ध न – अस्याः, घ ज त–अस्य।
2. थ द ध – वा उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – वा नोपलभ्यते।
3. क घ च छ ज झ त – प्रधानत्वे, ख ग थ द ध – प्राधान्ये।
4. क ख ग घ च त थ द ध – अपि उपलभ्यते, च छ ज झ न – अपि नोपलभ्यते।

मक्षिका यस्मिन् देश इति अमक्षिको देशः में अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहिसमास है, वैसे ही अविद्या में **'अविद्यमाना विद्या यस्यामिति अविद्या'** ऐसा अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि समास किया जाय—यह तृतीय विकल्प है।

तत्त्ववैशारदीकार अनुपपत्तिप्रदर्शनपूर्वक **'अविद्या'** के उपर्युक्त तीनों विग्रहों का खण्डन करते हैं—

उत्तरपक्ष—'अविद्या' इस समस्त पद में पूर्वपदार्थप्रधान अव्ययीभावसमास नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर विद्या का प्रसज्यप्रतिषेध=अत्यन्ताभाव सूचित होगा (अर्थात् मक्षिकाप्रतियोगिक अत्यन्ताभाव की तरह विद्याप्रतियोगिक अत्यन्ताभाव रूप **'अविद्या'** क्लेशादि का कारण नहीं हो सकेगी अर्थात् उसे क्लेशात्मक संसार का हेतु नहीं कहा जा सकेगा—यह प्रथम विकल्प का खण्डन है। **'अविद्या'** इस समस्त पद में उत्तरपदार्थप्रधान तत्पुरुषसमास नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर विद्या ही किसी के अभाव से विशिष्ट जानी जायेगी अर्थात् विद्याप्रतियोगिक अन्योन्याभाव अर्थ होगा (**'न राजपुरुष इति अराजपुरुषः'** अर्थात् राजपुरुषप्रतियोगिक अन्योन्याभाव की तरह **'न विद्या इति अविद्या'** अर्थात् विद्याप्रतियोगिक अन्योन्याभाव अर्थ होगा। इस प्रकार की अविद्या (विद्याप्रतियोगिक अन्योन्याभाव) क्लेशादि की विरोधिनी तो है, किन्तु वह क्लेशादि का कारण नहीं हो सकेगी। इस प्रकार विद्याप्रतियोगिक अन्योन्याभाव भी क्लेशरूप संसार का कारण नहीं है। प्रधान का गुण (गौण) प्रधान का नाशक नहीं होता है। अर्थात् प्रधान=उत्तरपदार्थरूप अविद्या शब्द के अभिधेय का उपघाती=उपमर्दक प्रधानगुण=नञर्थ को मानना उचित नहीं है। इसलिये प्रधान के अविनाश के लिये अप्रधान में अन्याय्य (लक्षणादि) की कल्पना करना उचित है। अतः विद्या के स्वरूप के अनुपमर्दन के लिये निषेधरूप नञ् का अन्यथाकरण अर्थात् विरोधरूप अर्थ का अध्याहार करना पड़ेगा। (इस प्रकार अविद्यापदवाच्य विद्याविरुद्ध भी अभावविशिष्ट विद्या ही है, अतः यह भीं क्लेश का कारण नहीं है)—यह द्वितीय विकल्प का खण्डन है। **'अविद्या'** इस समस्त पद में अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहिसमास भी नहीं हो सकता है। क्योंकि अन्यपदार्थ मानने पर **'अविद्यमाना विद्या'** इस प्रकार की बुद्धि होगी और अविद्यमान बुद्धि विद्या का अभावरूप होने से क्लेशादि का कारण नहीं है। और यदि अविद्यमान विद्या को किसी प्रकार क्लेश का हेतु मान भी लिया जाय तो विवेकख्यातिपूर्वक निरोधप्राप्त योगी को भी पुनः क्लेशापत्ति का अनभिप्रेत प्रसंग आयेगा (अर्थात् विद्यावृत्तिनिरोधरूप असम्प्रज्ञात- समाधिनिष्ठ योगी को भी पुनः क्लेशापत्ति होगी)—यह तृतीय विकल्प का खण्डन है।

निष्कर्षतः उपर्युक्त किसी भी प्रकार से 'अविद्या' का विग्रह करने पर 'अविद्या' क्लेश का हेतु सिद्ध नहीं हो पा रही है। जब कि अविद्या को क्लेशजनकत्वेन ही सिद्ध करना है। अविद्या को भावपदार्थ मानने पर ही उपर्युक्त समस्या का समाधान हो सकता है–इस तथ्य को ध्यान में रखकर विचार हो रहा है–

सिद्धान्तपक्ष–भाष्यकार कहते हैं–**'तस्याश्चेति।'** अर्थात् **'अमित्र'** और **'अगोष्पद'** की तरह **'अविद्या'** को भावपदार्थ ही समझना चाहिये। भाष्य में आये **'वस्तुसतत्त्वं'** पद के अर्थ को स्पष्ट करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि **'वस्तुनो भावो वस्तुसतत्त्वं वस्तुत्वमिति यावत्'** अर्थात् वस्तु के भाव को **'वस्तुसतत्त्व'** कहते हैं। **'वस्तुसतत्व'** का अर्थ है–वस्तुत्व (भावत्व) अर्थात् वास्तविक रूप से स्थिति वाली भावात्मक सत्ता। ऐसा मानने से न तो प्रसज्यप्रतिषेध होगा, न ही अविद्या को भी विद्या ही कहा जा सकेगा और न ही अभावविशिष्ट बुद्धि को अविद्या कह सकेंगे। इस प्रकार **'विद्या का विरोधी'** विपयर्यज्ञान ही अविद्या है।

बालप्रिया–

'विद्याविरुद्धम्'–अविद्या में नञ् का अर्थ 'अभाव' में पर्यवसित नहीं होता, प्रत्युत विरुद्धार्थक **'भाव'** में पर्यवसित होता है। इस प्रकार अविद्या में नञ् का प्रसज्यप्रतिषेधपरक अर्थ ग्राह्य नहीं है, अपितु पर्युदासपरक अर्थ मान्य है। पर्युदासात्मक **'नञ्'** भावात्मकता में पर्यवसित होता है, निषेध में नहीं। मीमांसान्यायप्रकाश में नञर्थसम्बन्धी एक श्लोक मिलता है, जो इस प्रकार है–

'प्राधान्यं तु विधेर्यत्र, प्रतिषेधेऽप्रधानता।
पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्॥'

इस प्रकार 'अविद्या' ज्ञानान्तर है और ज्ञानान्तर होने से वह भावरूप है और भावरूप अविद्या क्लेशादि का कारण है, न कि वह क्लेशादि की विरोधिनी है।

'नञ्' का प्रयोग छह अर्थों में किया जाता है। संग्राहक श्लोक है–

तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाष्षट् प्रकीर्तिताः॥

(I) **'तत्सादृश्यम्–'** उदाहरण है–**'अब्राह्मणः'**। अर्थ है–ब्राह्मण से अन्य और ब्राह्मण-सदृश कोई।
(II) **'तदभावः'**–उदाहरण है–**'अपापम्'**। अर्थ है-पापशून्य।
(III) **'तदन्यत्वम्'**–उदाहरण है–**'अनश्वः'**। अर्थ है-अश्व के अतिरिक्त कोई पशु।
(IV) **'तदल्पता'**–उदाहरण है–**'अनुदराकन्या'**। अर्थ है–स्वल्प औदार्य वाली कन्या।
(V) **'अप्राशस्त्यम्'**–उदाहरण है–**'अपशवः'**। अर्थ है–क्षुद्रपशुगण।
(VI) विरोधः–उदाहरण है–**'अधर्मः'**। अर्थ है–धर्मविरोधी अर्थात् पाप।

तत्त्ववैशारदी

लोकाधीनावधारणो हि शब्दार्थयोः संबन्धः। लोके चोत्तरपदार्थप्रधानस्यापि नञ उत्तरपदाभिधेयोपमर्दकस्य तल्लक्षिततद्विरुद्धपरतया तत्र तत्रोपलब्धेरिहापि तद्विरुद्धे वृत्तिरिति भावः। दृष्टान्तं विभजते—यथा नामित्र इति। न मित्राभावो नापि मित्रमात्रमित्य-स्यानन्तरं किंतु वस्त्वन्तरं तद्विरुद्धः सपत्न इति वक्तव्यम्। तथाऽगोष्पदमिति न गोष्पदाभावो न गोष्पदमात्रं किं तु देश एव विपुलो गोष्पदविरुद्धस्ताभ्यामभावगोष्पदाभ्याम[1]न्यद्वस्त्वन्तरम्। दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमिति॥५॥

शब्दार्थसम्बन्ध का निश्चय लोकव्यवहार के अधीन है अर्थात् लोकव्यवहार से शब्दार्थसम्बन्ध का निश्चय किया जाता है। लोक में उत्तरपदार्थप्रधान नञ्तत्पुरुष उत्तरपद के अभिधेय का उपमर्दक होता है, इसलिये लक्षणावृत्ति से नञ् के द्वारा उत्तरपद के अर्थ के विरुद्ध अर्थ की प्रतीति स्थान-स्थान पर होती है। इसी प्रकार अविद्या में भी नञ् **'विद्याविरुद्ध'** को ही बताता है। अर्थात् अविद्या पद की विद्याविरोधी में ही शक्ति निहित है। तदर्थ दृष्टान्त हैं—**'यथा नामित्र इति।' 'अमित्र'** (नञ्घटितसमस्त) पद का अर्थ **'मित्राभाव'** नहीं है और **'मित्रमात्र'** भी नहीं है, अपितु यह भावरूप वस्त्वन्तर है जो मित्रविरुद्ध **'शत्रु'** का अभिधायक है। इसी भाँति (नञ्घटित) **'अगोष्पद'** शब्द का अर्थ **'गोष्पदाभाव'** नहीं है और **'गोष्पदमात्र'** भी नहीं है, अपितु उन दोनों से भिन्न दूसरी वस्तु **'विपुल देश'** है। भाष्यकार उपर्युक्त उदाहरणों को दार्ष्टान्त 'अविद्या' पद में संयोजित करते हैं—**'एवमिति।'** इसी प्रकार 'अविद्या' भी न तो **'प्रमाण'** (तत्त्वज्ञान) है और न ही **'प्रमाणाभाव'** (तत्त्वज्ञानाभाव) है, अपितु तत्त्वज्ञान से विरुद्ध (विद्याविपरीत) **'मिथ्याज्ञान'** (ज्ञानान्तर) ही है—ऐसा समझना चाहिये॥५॥

बालप्रिया—

'शब्दार्थसम्बन्धः'—लोकवेदशब्दार्थैक्याऽधिकरण में शब्दार्थसम्बन्ध के विषय में विचार किया गया है। वचन है—

> **'वृद्धप्रयोगगम्यो हि शब्दार्थः सर्व एव नः।**
> **तेन यत्र प्रयुक्तो यो न तस्मादपनीयते॥'**

'तल्लक्षिततद्विरुद्धपरतया...'—भाव यह है कि शब्दार्थसम्बन्ध लोकाधीन है। लोक में **'अमित्र'** तथा **'अगोष्पद'** आदि शब्दों में नञ्तत्पुरुषसमास है, जिन्हें शब्दवृत्ति से उत्तरपदार्थप्रधान होना चाहिये। परन्तु लोकव्यवहार से उत्तरपदार्थप्रधानरूप शक्यार्थ बाधित होता है। जैसे 'अमित्र' में 'मित्राभाव' तथा 'मित्रमात्र' रूप शक्यार्थ है।

---

1. क घ च छ ज झ त न – **अन्यद्वस्त्वन्तरम्,** ख ग थ द ध – **अन्य इति अर्थाद्वस्त्वन्तरम्।**

'अगोष्पद' में 'गोष्पदाभाव' तथा 'गोष्पदमात्र' रूप शक्यार्थ है। यहाँ शक्यार्थ के बाधित होने के कारण लक्षणावृत्ति से अमित्र का मित्रविरुद्ध 'शत्रु' रूप लक्ष्यार्थ; तथा 'अगोष्पद' का गोष्पदविरुद्ध 'विपुलदेश' रूप लक्ष्यार्थ गृहीत होता है। इसी प्रकार 'अविद्या' शब्द में भी नञ्तत्पुरुषसमास है, जिसमें उत्तरपदार्थ (विद्या) की प्रधानता होनी चाहिये। परन्तु यह उत्तरपदार्थप्रधानरूप शक्यार्थ (विद्या के क्लेशादि का बीज न होने से) लोकव्यवहार से बाधित होता है। 'अविद्या' में प्रमाण (तत्त्वज्ञान) तथा प्रमाणाभाव (तत्त्वज्ञानाभाव) रूप शक्यार्थ है। किन्तु उक्त रीति से शक्यार्थ बाधित होने से 'अविद्या' शब्द लक्षणावृत्ति द्वारा विद्याविरुद्ध 'विपर्ययज्ञान' रूप लक्ष्यार्थ का ही ग्रहण कराता है। और विपर्ययज्ञानरूप अविद्या में क्लेशरूप संसार का हेतुत्व होने से उसे 'क्लेश' कहना भी युक्तिसंगत हो जाता है।

'तत्र तत्रोपलब्धे'—अब्राह्मण, अधर्म आदि नञ्घटित तत्पुरुषसमास में नञ् 'विरुद्ध' अर्थ, जैसे—ब्राह्मणविरुद्ध, धर्मविरुद्ध को बताता है। कहा भी गया है—

'नामधात्वर्थयोगे तु नैव नञ् प्रतिषेधकः।
वदत्यब्राह्मणाऽधर्मावन्यमात्रविरोधिनौ'॥५॥

योगवार्त्तिकम्

अविद्यैव मूलं दुःखबीजम् इत्युक्तम्, इदानीं पञ्च क्लेशान् पञ्चभिः सूत्रैः क्रमेण लक्षयति—अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। अनित्यादिचतुष्टये क्रमेण नित्यादिबुद्धिरविद्येत्यर्थः।[1] अविद्याचतुष्टयं क्रमेण व्याचष्टे, उदाहरणानि च दर्शयति—अनित्य इति। [2]अनित्यत्वमसत्त्वं कालनिष्ठाभावप्रतियोगित्वमिति यावत्। तस्यैव स्वरूपाख्यानम्—कार्य इति। नित्यत्वं च[3] सत्त्वम्। गारुडे—

अनात्मन्यात्मविज्ञानमसतः सत्स्वरूपता।
सुखाभावे तथा सौख्यं मायाऽविद्याविनाशिनी ॥ इति ।

भगवद्गीतायां च[4]—

---

1. ख – अत्र नित्यादिष्वनित्यादिबुद्धिरप्युपलक्षिता, तासामपि बन्धहेतुत्वसाम्यात्। आर्थिकत्वेन तु पृथगनुपन्यासः। एतेन ज्ञानस्य स्वरूपमत्यन्तनिर्मलं परमार्थतः। तमेवार्थस्वरूपेण भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम्। ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म संज्ञितम्। अवभासत्यर्थरूपैर्भ्रान्त्या शब्दादिना इत्यादिविष्णुपुराणादिषूक्ता परमात्मनि प्रपञ्चारोपरूपा मुख्याऽविद्याऽपि संग्रहीतेति। (इत्यर्थः पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – अत्र....संग्रहीतेति नोपलभ्यते।
2. क ग घ च छ – अनित्यत्वमसत्त्वं कालनिष्ठाभावप्रतियोगित्वमिति यावत्, ख – अनित्यत्वं सदा सत्त्वस्याभावः।
3. ख – सदा (च पश्चात्) उपलभ्यते, क. ग घ च छ – सदा नोपलभ्यते।
4. ख – नित्याऽनित्यत्वे एव पारमार्थिकसत्त्वासत्त्वरूपतयाऽवधार्यते (च पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – नित्य...धार्यते नोपलभ्यते।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ इति ।

असतः प्रागभावप्रतियोगिनो भावोऽविनाशित्वं नास्ति, सतश्चानादिभावस्याभावो विनाशो नास्तीत्यर्थः। अविनाशि तु तद्विद्धीत्याद्युत्तरवाक्यात् अत्राभावप्रतियोगित्वरूपानित्यत्वमेवासत्त्वमुक्तमिति। इमामेवासति सद्बुद्धिरूपामविद्यामादाय 'प्रपञ्च आविद्यकः' इति श्रुतिस्मृतिडिण्डिमः। तथा प्रपञ्चज्ञानस्यासति सदाकारकत्वाद् भ्रमत्वमपि शुक्तिरजतादिज्ञानवद् गीयत इति। उक्ताविद्यायाः प्रपञ्चमेवोदाहरणमाचार्योऽप्याह–ध्रुवेति। वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमित्यादिश्रुत्याऽपि प्रपञ्चस्येदृशमेवासत्यत्वमु[1]क्तम्।

पीछे अविद्या को ही दुःख का 'मूल' अर्थात् हेतु कहा गया है। सम्प्रति, सूत्रकार पांच सूत्रों के द्वारा पञ्चविध क्लेशों का क्रमशः लक्षण करते हैं। अविद्या का लक्षणपरक सूत्र है–'**अनित्येति**।' अनित्यादि चार में क्रमशः नित्यादि बुद्धि होना अर्थात् अनित्यादि पदार्थों में नित्यत्वादि की प्रतीति होना '**अविद्या**' है। भाष्यकार अविद्या के चार भेदों की क्रमशः व्याख्या करते हैं तथा उनके उदाहरणों को भी प्रदर्शित करते हैं–'**अनित्य इति**।' कालनिष्ठ अभाव के प्रतियोगित्वरूप असत्त्व को '**अनित्यत्व**' कहते हैं। इसी अनित्य के स्वरूप का व्याख्यान है–'**कार्य इति**।' अर्थात् जो कार्यरूप है, वही अनित्य है और जहाँ सत्त्व है, वहीं नित्यत्व है। गरुडपुराण में कहा गया है–'**अनात्मन्या...विनाशिनी**' अर्थात् 'अनात्म में आत्मज्ञान, असत् में सद्बुद्धि तथा सुखाभावरूप दुःख में सुखज्ञान करना ही माया है। यह मायारूप अविद्या विनाश करने वाली है।' इसी प्रकार भगवद्गीता में कहा गया है–'**नासतो...तत्त्वदर्शिभिः**' (२/१६) अर्थात् 'सत् वस्तु से विलक्षण असद्रूप इस जगत् की सत्ता (अस्तिता) नहीं हो सकती और सत्स्वरूप ब्रह्म की असत्ता (अभाव) नहीं हो सकती। इस प्रकार तत्त्वदर्शियों ने सत् और असत् के विषय में निश्चय किया है।' श्लोक के '**सत्**' और '**असत्**' शब्दों का अर्थ बताते हुए योगवार्तिककार कहते हैं–प्रागभावप्रतियोगिरूप असत् का 'भाव' अर्थात् अविनाशित्व नहीं हो सकता है और अनादिभावरूप सत् का 'अभाव' अर्थात् विनाश नहीं हो सकता है। गीता के '**अविनाशि तु तद्विद्धि**' (२/१७) अर्थात् 'जिसने इस सारे जगत् को व्याप्त किया है, वह सूक्ष्मतम वस्तु अविनाशी है। उस अविनाशी का कोई भी विनाश नहीं कर सकता–' इस उत्तरवाक्य से यह बताया गया है कि अभावप्रतियोगित्वरूप अनित्यत्व को ही '**असत्त्व**' कहते हैं। इस प्रकार असत् में सद्बुद्धिरूप अविद्या को

---

1. ख – **अत्यन्तासत्वाभिप्राये दृष्टान्तासिद्धेः। न हि मृद्धटयोः सदसत्त्वे शुक्तिरजत इति लोकसिद्धे स्त इति** (उक्तं पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – **अत्यन्त...स्त इति** नोपलभ्यते।

लेकर श्रुति-स्मृतियो में 'प्रपञ्च आविद्यक है', ऐसा उद्घोषित हुआ है। और प्रपञ्चज्ञान की असत्ता में जो सत्ता का भ्रम है, वह भी शुक्ति में रजतज्ञान की तरह भ्रमरूप ही प्रतिपादित हुआ है। पुरोदृश्यमान प्रपञ्च ही अनित्य में नित्यख्यातिरूप अविद्या का उदाहरण है। ऐसा ही आचार्य व्यासदेव भी बताते हैं– 'ध्रुवेति।' प्रपञ्च का इस प्रकार का असत्यत्व 'वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा. उप. ६/१/१) श्रुति द्वारा भी वर्णित हुआ है। श्रुति का अर्थ है– 'कपाल, घट आदि विकार (कार्य) वाणी के विलासमात्र हैं, वस्तुतस्तु मृत्तिका ही सत्य है।'

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार 'अशुचि में शुचिख्याति' रूप अविद्या का प्रतिपादन करते रहे हैं–

योगवार्त्तिकम्

परमबीभत्स इति। कुत्सितेऽपवित्र इति यावत्। कायस्याशुचित्वे [1]श्रुतिं प्रमाणयति–उक्तं चेति। स्थानं मूत्राद्यु[2]पहतं मातुरुदरम्, बीजं शुक्रशोणिते, उपष्टम्भो मातृभुक्तान्नादिरसः, निस्यन्दो नव[3]द्वाररोमकूपादिभिश्च क्षरणम्, निधनं मरणम्। [4]एवमन्येऽशुद्धिहेतवः स्पष्टाः। तथा स्नानादिभिः शौचाधानादपि सदा स्वतोऽशुचित्वमनुमीयत इत्याह–आधेयशौचत्वादिति। ननु भवतु शरीरमशुचि, तथाऽपि तत्र शुचिख्यातौ किं प्रमाणमित्याकाङ्क्षायामाह– अशुचौ शुचिख्यातिर्दृश्यत इति। नवीनशशाङ्क[5]वदियं कन्या कमनीया मधुनोऽमृतस्य वाऽवयवैरंशैर्निर्मितेव [6]दृश्यते। हावः=[7]शृङ्गारजा लीला, कस्य स्त्रीकायस्य निकृष्टस्य केन चन्द्रकलाऽऽदिनाऽतिनिर्मलेनाभिसंबन्धः साधर्म्यम्? नास्त्येव विवक्षितसाधर्म्यमित्यर्थः। उपसंहरति–भवतीति। एतेनेति। [8]भाष्ये एतेनाशुचौ शुचिख्यातेर्व्याख्यानेनापुण्ये तप्तशिलाऽऽरोहणादौ हिंसाऽऽदौ वा पुण्यप्रत्ययस्तथाऽनर्थेऽर्जनरक्षणादिना दुःखबहुलतयाऽपुरुषार्थे धनादावर्थप्रत्ययोऽप्यविद्यात्वेन व्याख्यातः, शुच्यशुचिशब्दयो[9]र्योगोत्कृष्टसाधनासाधनमात्रोपलक्षकत्वादित्यर्थः। भाष्योक्तमप्यविद्याद्वयमन्यासामपि संसारहेतूनामविद्यानामुपलक्षकमतो न न्यूनता।

---

1. क ख ग घ – स्मृतिं, च छ – श्रुतिम्।
2. क – उपहते, ख ग घ च छ – उपहतम्।
3. क ग च छ – द्वार०, ख घ – द्वारैः।
4. क ग च छ – एवमन्ये, ख – एतानि, घ – रात्रावन्ये।
5. ख – कला (शशाङ्क० पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – कला – नोपलभ्यते।
6. क ग – ज्ञायते निश्चीयते, ख – ज्ञायते लोकैर्निश्चीयते, घ च छ – दृश्यते।
7. क ख ग घ – शृङ्गार०, च छ – शृङ्गारजा।
8. छ – भाष्ये उपलभ्यते, क ख ग घ च – भाष्ये नोपलभ्यते
9. क च छ – योग०, ख ग घ – भोग०।

भाष्य है–**'परमबीभत्स इति।'** **'परमबीभत्स'** शब्द का अर्थ कुत्सित अर्थात् अपवित्र है। अत्यन्त कुत्सित देह में शुचिता की प्रतीति होना द्वितीय प्रकार की अविद्या है। भाष्यकार शरीर की अशुचिता को श्रुति द्वारा प्रमाणित करते हैं–**'उक्तं चेति।'** यहाँ मूत्रादि से संकुलित माता का उदर **'स्थान'** है, शुक्र और शोणित **'बीज'** हैं, माता द्वारा भुक्त अन्नादि का रसपरिपाक **'उपष्टम्भ'** है, नव द्वार तथा (असंख्य) रोमकूपादि से मल-मूत्र, पसीने आदि का क्षरित होना **'निस्यन्द'** है तथा मृत्यु **'निधन'** है। उक्त स्थानादि की भाँति शरीर की अशुचिता के अन्य कारण (हेतु) भी सुस्पष्ट हैं। स्नानादि उपायों द्वारा शरीर में शुचिता का प्रत्यारोपण कर लेने से भी शरीर की सर्वदा स्वाभाविकरूप से अशुचिता ही अनुमित होती है, इसी तथ्य को भाष्यकार बताते हैं–**'आधेयशौचत्वादिति।'**

शङ्का–ठीक है, शरीर को अशुचिपूर्ण माना जाय, तथापि शरीर को लेकर होने वाली शुचिबुद्धि में ही क्या प्रमाण है?

समाधान–ऐसी आकांक्षा होने पर भाष्यकार कहते हैं–**'अशुचौ शुचिख्यातिर्दृश्यत इति।'** नूतन चन्द्रमा की भाँति मनोहारिणी यह कन्या मधु अथवा अमृत के खण्डों (अंशों) से विनिर्मित प्रतीत होती है। यही अशुचिपूर्ण शरीर को लेकर होने वाली शुचिबुद्धि है। शृङ्गारप्रधान लीला को **'हाव'** कहते हैं। वस्तुतस्तु अतितुच्छ किसी स्त्रीदेह का अतिधवल चन्द्रकलादि से 'अभिसम्बन्ध' अर्थात् साधर्म्य कैसे हो सकता है? स्त्रीदेह और चन्द्रकला में विवक्षित समानधर्मता है ही नहीं। अशुचि में शुचिता की भ्रमात्मक स्थिति का उपसंहार करते हुए भाष्यकार कहते हैं–**'भवतीति।'** इस प्रकार के अनुभवों से यह सिद्ध होता है कि अपवित्र देह में पवित्रता का भ्रमात्मक ज्ञान होता है। योगवार्त्तिककार इसी से सम्बन्धित आगे के भाष्य को उठाते हैं–**'एतेनेति।'** अशुचिपूर्ण वस्तु में शुचिबुद्धि का व्युत्पादन किया जाने से तप्तशिलारोहणादि अथवा हिंसादि में होने वाली 'पुण्यबुद्धि' तथा अर्जन, रक्षण आदि रूप से दुःखपूर्ण होने के कारण अपुरुषार्थभूत अनर्थकारी धनादि में होने वाली 'अर्थबुद्धि' को भी अविद्या के रूप से ही व्याख्येय समझना चाहिये, क्योंकि शुचि तथा अशुचि शब्द में योग के उत्कृष्ट साधन तथा असाधनमात्र उपलक्षित हैं। (भाव यह है कि योग-प्राप्ति के उत्कृष्ट साधनों में शुचिता तथा योग-प्राप्ति के निकृष्ट साधनों में अशुचिता को समझना चाहिये)। भाष्य में उक्त अविद्याद्वय को अन्य प्रकार की संसार की हेतुभूत अविद्याओं का भी उपलक्षक समझना चाहिये। अतः किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आती है।

योगवार्त्तिकम्

तत्रेत्युत्तरग्रन्थेन तृतीयामविद्यां व्याख्यातुमादौ वक्ष्यमाणसूत्रमुखेन तस्योदाहरणं

प्रदर्शयति–तथा दुःख इति। तथेत्यस्य तत्र सुखख्यातिरविद्येत्यनेनान्वयः। वक्ष्यतीति। अर्थादिति शेषः तत्रेति। जगद्रूपदुःख इत्यर्थः। अत्र च दुःखमेव सर्वं विवेकिन इत्यागामिसूत्रे दुःखसाधनतया दुःखबहुलतया च दुःखत्ववचनाद् दुःखसाधने दुःखनिवृत्त्याख्यतात्त्विक-सुखसाधनत्वबुद्धिः तथा दुःखप्रचुरे सुखप्रचुरत्वबुद्धिश्च तृतीयाऽविद्येति बोध्यम्। अन्यथा केवलदुःखे सुखभ्रमस्यासिद्धिरिति।

आगामी भाष्य के द्वारा तृतीय प्रकार की अविद्या का स्वरूप बतलाने के लिये भाष्यकार सर्वप्रथम वक्ष्यमाण सूत्र के आधार पर उसका उदाहरण प्रदर्शित करते हैं–'**तथा दुःख इति**' दुःख में सुखबुद्धिरूप तृतीय प्रकार की अविद्या है, ऐसा अन्वय किया जाता है। तृतीय प्रकार की अविद्या को आगे बतायेंगे–'**वक्ष्यतीति**' ऐसा वाक्य शेष है। '**तत्रेति**' यह जगद्रूपात्मक दुःख है। '**दुःखमेव सर्वं विवेकिनः २/१५** इस आगामी सूत्र में दुःख का साधन होने से तथा दुःखबहुल होने से संसार को ही दुःखात्मक कहा गया है। इससे दुःखसाधन में होने वाला दुःखनिवृत्तिरूप तात्त्विक सुखसाधनत्वरूप ज्ञान तथा दुःखप्राचुर्य में होने वाला सुखप्रचुरत्वरूप ज्ञान तृतीय प्रकार की 'दुःख में सुखप्रत्ययरूप' अविद्या है। अन्यथा (दुःख में सुखबुद्धि हुए विना) केवल दुःख में सुखात्मक भ्रमज्ञान नहीं हो सकता है।

बालप्रिया–

'**केवलदुःखे सुखभ्रमस्यासिद्धिः**'–जिस प्रकार सूर्यसंयोग से शुक्ति में चाकचक्य अध्यस्त हुए विना 'इदं रजतम्' भ्रमात्मक ज्ञान सम्भव नहीं होता है, उसी प्रकार सुखानुभूति हुए विना उस पदार्थ के विषय में अन्त में होने वाली 'मैंने भ्रमवशात् दुःख में सुखबुद्धि की' इत्याकारक भ्रमबुद्धि नहीं हो सकती है। इसीलिये योगवार्त्तिककार ने केवल दुःख में सुखभ्रम को असम्भव बतलाया है।

योगवार्त्तिकम्

चतुर्थीमविद्यां व्याचष्टे–तथाऽनात्मनीति। [1]उदाहरणम्–बाह्येति। बाह्यस्य देहस्योप-करणेषु पुत्रादिष्वहंबुद्धितया विषयभोगावच्छेदकतयाऽन्तःकरणस्योपकरणे शरीरेऽहंबुद्धिस्तथा भोग्यतया साक्षात्पुरुषस्योपकरणेऽन्तःकरणेऽहंबुद्धिरित्यर्थः। इमामेव चतुर्थीमविद्यामादाय प्रपञ्चोऽविद्याकार्य इत्युच्यते, अहं कर्त्तेत्याद्य[2]भिमानस्यैव धर्माधर्मोत्पत्तिद्वाराऽखिलजगद्धेतु-त्वादिति। अत्र पञ्चशिखाचार्यसंवादमाह–तथेति। यथा मयोक्तं तथा अत्र चतुर्थेऽविद्याविषये पञ्चशिखेनाप्येतदुक्तमित्यर्थः। व्यक्ताव्यक्तं व्याकृताव्याकृतं स्थूलसूक्ष्मरूपं बुद्धिसत्त्वमात्मतया गृहीत्वा तस्य सत्त्वस्य संपत्तिं सत्यसंकल्पादिकं शुभवासनाऽदृष्टादिकं चानुनन्दत्यात्मसंपदं

---

1. ख ग – तस्याः (उदाहरणं प्राक्) उपलभ्यते, क घ च छ – तस्याः नोपलभ्यते।
2. क – अभिध्यानस्य, ख ग घ च छ – अभिमानस्य।

मन्वानस्तथा तस्य विपत्तिम् [1]इच्छाविघातादिरूपादिकं चानुशोचत्यात्मविपत्तिं मन्वानः, एवंविधो यः स सर्वोऽविद्वानित्येतदुक्तमित्यन्वयः।

भाष्यकार चतुर्थ प्रकार की अविद्या का विवरण करते हैं–**'तथाऽनात्मनीति।'** अर्थात् अनात्म में आत्मबुद्धि होना चतुर्थ प्रकार की अविद्या है। दृष्टान्त है–**'बाह्येति।'** बाह्य देह के साधनभूत पुत्रादियों में अहंबुद्धि करने से, विषयभोग के अवच्छेदक रूप से अन्तःकरण के साधनभूत शरीर में होने वाली अहंबुद्धि तथा भोग्य होने से पुरुष के साक्षात् उपकरणभूत अन्तःकरण में होने वाली अहंबुद्धि अनात्म में आत्मबुद्धिरूप अविद्या है। इसी चतुर्थ प्रकार की अविद्या को लेकर (पुरोदृश्यमान) प्रपञ्च अर्थात् संसार अविद्या का कार्य कहा गया है, क्योंकि **'अहं कर्त्ता'** अर्थात् 'मैं कर्त्ता हूँ' इत्याकारक अभिमान ही धर्माधर्म की उत्पत्ति द्वारा सम्पूर्ण जगत् का कारण है। भाष्यकार इस विषय में पञ्चशिखाचार्य के मत को प्रस्तुत करते हैं–**'तथेति।'** पञ्चशिखाचार्य ने भी मेरे (व्यासदेव) समान ही चतुर्थ प्रकार की अविद्या का स्वरूप वर्णित किया है। **'व्यक्ताव्यक्त'** अर्थात् व्याकृत तथा अव्याकृत स्थूल तथा सूक्ष्मरूप बुद्धितत्त्व को आत्मरूप से ग्रहण करके (अर्थात् बुद्धि को आत्मा मानते हुए) उस बुद्धिसत्त्व के सत्य-संकल्पादि ऐश्वर्य तथा शुभवासनारूप अदृष्टादि को अपना मानता हुआ आनन्दित होता है और इसी प्रकार इच्छाविघातादिरूप (इच्छानुसार लक्ष्यपूर्ति की बाधारूप) विपत्ति को अपनी विपत्ति मानता हुआ शोक करता है–इस प्रकार की बुद्धि (भावना) रखने वाला जो कोई भी व्यक्ति है, वह 'अविद्वान्' अर्थात् अज्ञानी कहा जाता है। इस प्रकार पञ्चशिखाचार्य के वचन का अर्थ करना चाहिये।

सम्प्रति, शुक्त्यादि में होने वाले **'इदं रजतम्'** इत्यादि भ्रमस्थलों पर विचार किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

ननु शुक्तिरजतादिभ्रमरूपाणामविद्यानां कथमत्र गणना न कृतेत्याशङ्क्याह–एषेति। पशोरिव चत्वारि पदानि पादा अंशा अस्या इति चतुष्पदा, एवंभूतैवैषा संसारस्य मूलं भवतीत्यर्थः। तथा च संसाराहेतुतया नान्यासामत्र गणनमिति भावः।

शङ्का–शुक्ति में होने वाले रजतभ्रम (इसी प्रकार रज्जु में होने वाले सर्पभ्रम) आदि प्रकार की अविद्याओं की चर्चा (गणना) अविद्या के इस प्रकरण में क्यों नहीं की गई है?

---

1. क ग घ च छ – **इच्छाविघातादिरूपादिकं**, ख – **इच्छाविद्यातादिकं पापादिकम्।**

समाधान–ऐसी आशंका होने पर भाष्यकार कहते हैं–'एषेति।' पशु के चार पैरों की भाँति जिसके चार अंश हैं ऐसी 'चतुष्पदा' 'अविद्या' कही गई है। यही चतुष्पदा अविद्या संसार का कारण है। अतः संसार की हेतुता न होने के कारण इदं रजतम् आदि प्रकार की भ्रमात्मक प्रतीतियों का समावेश (परिगणन) यहाँ नहीं किया गया है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार 'अविद्या' शब्द के विग्रहपरक अर्थ की मीमांसा करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

ननु विग्रहतोऽविद्याशब्दस्य विद्याभिन्नत्वं विद्याशून्यत्वम्[1]त्युत्तमविद्यात्वं वाऽर्थः स्यात्, न तु विपरीतख्यातिरित्याशङ्क्याह–तस्याश्चेति। तस्याश्चाविद्यायाः सतत्त्वं तत्त्वं वस्त्वेव विज्ञेयं न त्वभावोऽमित्रागोष्पदादि[2]शब्दवदित्यर्थः। दृष्टान्तं विभजते–[3]यथा नामित्र इति। न मित्राभाव इति। अत्राभावशब्देन संसर्गान्योन्याभावौ ग्राह्यौ। न मित्रमात्रमिति। नास्ति मित्रं यस्मादितिव्युत्पत्त्या केवलमित्रमित्यर्थः। किं तु तद्विरुद्धो मित्रविरुद्ध इत्यर्थः। तथा च निरूढलक्षणेति भावः। किं तु देश एवेति। विपुलो देशविशेषोऽगोष्पद इति परिभाषितः। प्रमाणं=विद्या। ज्ञानान्तरमिति। एतेनाविद्याशब्दस्य ज्ञानविशेषे रूढत्वावधारणादाधुनिकवेदान्तिनामन्यार्थत्वोपवर्णनं स्वातन्त्र्यमात्रमवधेयम्। क्वाचित्कस्तु त्रिगुणात्मकप्रकृतावविद्याशब्दो गौणः, अविद्ययाऽऽत्मन्यारोपितत्वात् जडत्वाच्च, विद्याऽविद्याशब्दयोर्ज्ञानाज्ञानवाचित्वेनात्मानात्मवाचित्वादिति। अस्मिंश्च दर्शने सांख्यानामिवाविवेको नाविद्याशब्दार्थः किं तु वैशेषिकादिवद् विशिष्टज्ञानमेवेति सूत्रभाष्याभ्यामवगन्तव्यम्॥५॥

शङ्का–'अविद्या' शब्द के विग्रह के आधार पर उसका विद्याभिन्नत्व, विद्याशून्यत्व अथवा अत्युत्तमविद्यात्व में से कोई अर्थ किया जा सकता है, किन्तु 'अविद्या' शब्द का विपरीतख्याति (भ्रमज्ञान) अर्थ तो हो ही नहीं सकता है?

समाधान–ऐसी आशंका होने पर भाष्यकार कहते हैं–'तस्याश्चेति।' 'अमित्र' तथा 'अगोष्पद' आदि शब्दों के समान 'अविद्या' की वास्तविक सत्ता अर्थात् भावात्मक तत्त्वरूपता ही समझनी चाहिये। सतत्त्व को हीं तत्त्व अर्थात् वस्तु कहते हैं, (जिस प्रकार गोत्र को ही सगोत्र कहते हैं)। इस प्रकार अविद्या भावरूप वस्तु है, न कि अभावरूप। भाष्यकार इसमें दृष्टान्त देते हैं–'यथा नामित्र इति' 'न मित्राभाव इति' यहाँ 'अमित्र ' शब्द का अर्थ मित्राभाव नहीं है। क्योंकि ऐसा अर्थ करने पर 'अभाव' शब्द से संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव गृहीत होंगे। 'अमित्र' के दूसरे अर्थ का निषेध

---

1. क – अत्यन्तं ख ग घ च छ – अत्युत्तम०।
2. क ख ग – अर्थ० (शब्द० पश्चात्) उपलभ्यते, घ च छ – अर्थ० नोपलभ्यते।
3. क ग घ च छ – यथा, ख – तथा।

किया जा रहा है–'न मित्रमात्रमिति।' 'नास्ति मित्रं यस्मात्'–इस व्युत्पत्ति के अनुसार **'अमित्र'** शब्द का अर्थ 'केवलमित्र' भी नहीं किया जा सकता है। अपितु **'अमित्र'** शब्द का अर्थ तद्विरुद्ध अर्थात् **'मित्रविरुद्ध'** (शत्रु) है और ऐसा अर्थ करने में निरूढ-लक्षणा है। योगवार्त्तिककार **'अगोष्पद'** शब्द के सैद्धान्तिक अर्थ से सम्बन्धित भाष्य को उठाते हैं–**'किं तु देश एवेति।'** इसी प्रकार **'अगोष्पद'** शब्द का अर्थ गोष्पदाभाव अथवा गोष्पदमात्र नहीं है, अपितु (इन दोनों अर्थों से भिन्न) **'विपुल देशविशेष'** के अर्थ में **'अगोष्पद'** शब्द परिभाषित है। इसी प्रकार **'अविद्या'** प्रमाण अर्थात् विद्या नहीं हैं अथवा प्रमाणाभाव नहीं है। अपितु 'ज्ञानान्तरमिति' अर्थात् 'अविद्या' विद्याविपरीत ज्ञानान्तर है। इस विवरण से **'अविद्या'** शब्द का ज्ञानविशेष के अर्थ में रूढत्व (प्रसिद्धि) निर्धारित होने से जो आधुनिक वेदान्ती लोग 'अविद्या' शब्द का अन्यार्थत्व अर्थात् इससे 'भिन्न' अर्थ करते हैं, उसे उनकी उच्छृंखलतामात्र समझना चाहिये। कुछ लोग त्रिगुणात्मक प्रकृति के अर्थ में 'अविद्या' शब्द का गौण प्रयोग करते हैं, क्योंकि अविद्या के कारण आत्मा में जडत्व का आरोप किया जाता है। विद्या-अविद्या शब्द क्रमशः ज्ञान-अज्ञान के वाचक होने से उन्हें आत्म-अनात्म का भी वाचक समझना चाहिये। योगदर्शन में सांख्यदर्शन के समान **'अविद्या'** शब्द का अर्थ **'अविवेक'** नहीं है, किन्तु वैशेषिक दर्शन की भाँति 'अविद्या' शब्द का अर्थ **'विशिष्टज्ञान'** ही है, ऐसा सूत्र तथा भाष्य से विदित होता है।

बालप्रिया–

तत्राविद्यास्वरूपमुच्यते–प्रस्तुत सूत्र की उपलब्ध इस वैयासिकी अवतरणिका को तत्त्ववैशारदी अथवा योगवार्त्तिक दोनों टीका-ग्रन्थों में प्रतीकात्मक रूप से नहीं उठाया गया है। इससे प्रतीत होता है कि भाष्य के परवर्ती संस्करणों में यह प्रक्षिप्त अंश है।

'विशिष्टज्ञानमेवेति'–**'अविद्या'** को **'विशिष्टज्ञान'** कहने से यह भी सिद्ध हो जाता है कि योगदर्शन को **'अन्यथाख्यातिवाद'** मान्य है॥५॥

'अस्मिता' का प्रतिपादक सूत्र उपस्थित हो रहा है–

योगसूत्रम्

दृग्दर्शनशक्त्योरे[1]कात्मतेवास्मिता ॥६॥

दृक्शक्ति और दर्शनशक्ति की प्रतीयमान एकात्मता 'अस्मिता' है॥६॥

---

1. एकात्मतैव, एकतैव – इति पाठान्तरे।

व्यासभाष्यम्

पुरुषो दृक्शक्तिर्बुद्धिर्दर्शनशक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरि[1]वास्मिता क्लेश उच्यते। भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्तयोरत्यन्तासंकीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्पते, स्वरूपप्रतिलम्भे तु तयोः कैवल्यमेव भवति कुतो भोग इति। तथा चोक्तम्–बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन्कुर्यात्तत्रात्म-बुद्धिं मोहेन इति ॥६॥

पुरुष 'दृक्शक्ति' (देखने वाला) है और बुद्धि 'दर्शनशक्ति' (देखने योग्य) है। (परस्पर भिन्न होते हुए भी) इन दोनों तत्त्वों की अभिन्नाकारता की प्रतीति को 'अस्मिता' नामक क्लेश कहते हैं। सर्वथा भिन्न और सर्वथा असंकीर्ण इन भोक्तृशक्ति और भोग्यशक्ति की अभिन्नता (अभेद) को प्राप्त हुए की सी स्थिति में 'भोग' की कल्पना (अवधारणा) की जाती है। इन दोनों शक्तियों के तत्तद् रूपों का यथार्थ बोध होने पर तो दोनों का 'केवलत्व' (पृथक्त्व) ही होता है, तब अविभागापन्नरूप 'भोग' कहाँ रह जाता है? अर्थात् प्रतीतिक भोग समाप्त होकर साधक को मोक्ष प्राप्त होता है। इसीलिये कहा गया है–'पृथक् रूप, स्वभाव और ज्ञानादि कारणों से युक्त पुरुष को बुद्धि से भिन्न न देखता हुआ अज्ञानी पुरुष अविद्यावशात् बुद्धि को ही आत्मतत्त्व समझ लेता है'॥६॥

तत्त्ववैशारदी

अविद्यामुक्त्वा तस्याः कार्यमस्मितां रागादिवरिष्ठामाह–दृग्दर्शनशक्त्योरकात्मतेवा-स्मिता। दृक् च दर्शनं च, ते एव शक्ती, तयोरात्मानात्मनोरनात्मन्यात्मज्ञानलक्षणाविद्या-पादिता यैकात्मतेव [2]एकार्थतेव, न तु परमार्थत एकात्मता साऽस्मिता। दृग्दर्शनयोरिति वक्तव्ये तयोर्भोक्तृभोग्ययोर्योग्यतालक्षणं संबन्धं दर्शयितुं शक्तिग्रहणम्।

'**अविद्या**' के स्वरूप को बतलाकर सूत्रकार अविद्या के कार्य तथा रागादि के उपजीव्य '**अस्मिता**' का प्रतिपादन करते हैं–'**दृगिति**।' '**दृक् च दर्शनं च ते एव शक्ती तयोः दृग्दर्शनशक्त्योः**' अर्थात् 'दृक्' और 'दर्शन' ये ही दो शक्तियाँ हैं। इन 'दृक्' और 'दर्शन' शक्तियों से क्रमशः आत्मतत्त्व तथा अनात्मतत्त्व का अधिग्रहण होता है। इस अनात्मतत्त्व (बुद्धि) में आत्मज्ञानलक्षणक अविद्या के द्वारा सम्पादित जो प्रतीतिक एकात्मता (अभेदरूपता) है, न कि पारमार्थिक एकात्मता, उसे 'अस्मिता' कहते हैं।

---

1. क ख ग घ च ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र – इव, छ – एव, द -- इति पा।
2. थ द ध – एकार्थतेव उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – एकार्थतेव नोपलभ्यते।

'दृग्दर्शनयोरिति वक्तव्ये' तत्त्ववैशारदी के इस वाक्य में निहित अभिप्राय को शंका-समाधान की शैली से स्पष्ट किया जा रहा है–

शङ्का–सूत्र में 'दृग्दर्शनयोः 'इतना ही कहने से उपर्युक्त अर्थ निकल सकता था, फिर सूत्र में 'शक्ति' पद के ग्रहण का प्रयोजन क्या है?

समाधान–दृग्रूप 'पुरुष' और दर्शनरूप 'बुद्धि' में यथाक्रम निहित भोक्तृ और भोग्यरूप योग्यतापरक सम्बन्ध (स्वरूपसम्बन्ध) को प्रदर्शित करने लिये सूत्र में 'शक्ति' पद का ग्रहण हुआ है।

बालप्रिया–

'तस्याः कार्यमस्मितां रागादिवरिष्ठाम्'–'अस्मिता' को अविद्या का कार्य इस प्रकार से कहा जाता है–अनात्म में आत्मबुद्धि अर्थात् अतद्रूप में तद्रूप का बोध होना 'अविद्या' है–इत्याकारक अविद्याभूमि में बुद्धि-पुरुष का अभेदाभिमानरूप फल (कार्य) प्रादुर्भूत होता है। अतः अविद्या का कार्य अस्मिता है और अस्मिता का कारण अविद्या है। यह 'अस्मिता' रागादि का उपजीव्य है। क्योंकि अस्मिता के न होने पर रागादि की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः रागादि का कारण (हेतु) होने से अस्मिता को 'वरिष्ठ' कहना भी युक्तियुक्त है।

योग्यतालक्षणम्'–'शक्ति' पद का अर्थ है–योग्यता। यहाँ 'योग्यता' पद से बुद्धि और पुरुष के औपाधिक धर्म का बोध नहीं होता है अपितु 'योग्यता' पद उनके स्वरूप का वाचक है। 'चैतन्य' पुरुष का स्वरूप है और 'जड़ता' बुद्धि का स्वरूप है। किन्तु बुद्धि और पुरुष में औपाधिक एकात्मता की प्रतीति होती है।

तत्त्ववैशारदी

सूत्रं विवृणोति–पुरुष इति। नन्वनयोरभेदप्रतीतेरभेद एव कस्मान्न भवति कुतश्चैकत्वं क्लिश्नाति पुरुषमित्यत आह–भोक्तृभोग्येति। भोक्तृशक्तिः पुरुषो भोग्यशक्तिर्बुद्धिस्तयोरत्यन्तविभक्तयोः। कुतोऽत्यन्तविभक्तत्वमित्यत आह–अत्यन्तासंकीर्णयोरिति। अपरिणामित्वादिधर्मकः पुरुषः परिणामित्वादिधर्मिका बुद्धिरित्यसंकीर्णता। तदनेन प्रतीयमानोऽप्यभेदो न पारमार्थिक इत्युक्तम्। अविभागेति क्लेशत्वमुक्तम्। अन्वयं दर्शयित्वा व्यतिरेकमाह–स्वरूपेति। प्रतिलम्भो विवेकख्यातिः। परस्याप्येतत्संमतमित्याह–[1]तथा चोक्तं पञ्चशिखेन बुद्धित इति। आकारः स्वरूपं सदा विशुद्धिः। शीलमौदासीन्यम्। विद्या चैतन्यम्। बुद्धिरविशुद्धानुदासीना जडा चेति तत्रात्मबुद्धिरविद्या। मोहः पूर्वाविद्याजनितः संस्कारस्तमो वाऽविद्यायास्तामसत्वादिति॥६॥

भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं–'पुरुष इति।'

---

1. क ख ग – ऽदुक्तं, घ च छ ज झ त थ द ध न – तथा चोक्तम्।

शङ्का—'**दृक्शक्ति**' पुरुष और '**दर्शनशक्ति**' बुद्धि में अभेदबुद्धि होने से उनका पारमार्थिक अभेद ही क्यों न स्वीकार कर लिया जाय? ऐसी स्थिति में (इनका पारमार्थिक अभेद मानने पर) यह एकत्वज्ञान पुरुष को कैसे क्लेश प्रदान कर सकता है?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**भोक्तृभोग्येति**।' भोक्तृशक्ति '**पुरुष**' और भोग्य-शक्ति '**बुद्धि**' इन दोनों के सर्वथा विविक्त (मौलिक रूप से पृथक् तत्त्व) होने से इनका पारमार्थिक 'एकत्व' नहीं कहा जा सकता है।

शङ्का—ये दोनों तत्त्व कैसे सर्वथा भिन्न हैं?

समाधान—इस पर भाष्यकार बताते हैं—'**अत्यन्तासंकीर्णयोरिति**।' ये दोनों तत्त्व अत्यन्त विप्रकृष्ट धर्म वाले हैं। '**अपरिणामित्व**' आदि धर्म वाला पुरुष है तथा '**परिणामित्व**' आदि धर्म वाली बुद्धि है। यही इन दो तत्त्वों का असंकीर्णत्व है। इस प्रकार परस्पर भिन्न '**भोक्तृशक्ति**' और '**भोग्यशक्ति**' में परिलक्षित अभेद भी पारमार्थिक अर्थात् वास्तविक नहीं है—ऐसा पूर्वकथित है। अतः भाष्यकार ने **अविभागेति** पद द्वारा अभेदप्रतीति के कारण क्लेश का होना निर्धारित किया है। तदर्थ व्याप्ति है—**यत्र-यत्र क्लेशत्वं, तत्र-तत्र अभेदप्रतीतिः**। अभेदप्रतीति और क्लेश की अन्वयव्याप्ति को दिखाकर भाष्यकार उनकी व्यतिरेकव्याप्ति को बतांते हैं—'**स्वरूपेति**।' यहाँ '**प्रतिलम्भ**' शब्द का अर्थ है बुद्धि और पुरुष के वास्तविक स्वरूप का बोध। अर्थात् विवेकज्ञान (भेदज्ञान) होने पर इन दोनों का '**कैवलत्व**' हो जाता है। तदर्थ व्यतिरेकव्याप्ति है—**यत्र-यत्र अभेदप्रतीत्यभावः तत्र-तत्र क्लेशत्वाभावः**। यह तथ्य पञ्चशिखाचार्य को भी स्वीकृत है, ऐसा भाष्यकार बताते हैं—'**तथा चोक्तं पञ्चशिखेन बुद्धित इति**।' '**आकार**' शब्द का अर्थ है—स्वरूप अर्थात् पुरुष सर्वथा विशुद्ध है। '**शील**' शब्द का अर्थ है-औदासीन्य (उदासीनता)। '**विद्या**' शब्द का अर्थ है—चैतन्य। इस प्रकार पुरुष विशुद्धं, उदासीन और चैतन्यस्वरूप है। इसके विपरीत बुद्धि—अविशुद्धा, अनुदासीना तथा जड़स्वरूपा है। इस प्रकार की जड़ बुद्धि में भी आत्मबुद्धि होना 'अविद्या' है। '**मोह**' शब्द का अर्थ है—पूर्वजन्मीय अविद्याजनित संस्कार अथवा 'तम।' तामस होने के कारण अविद्या को 'तम' कहते हैं। इस प्रकार तमोगुण के उद्रेककाल में 'अविद्या' का प्रादुर्भाव होने से '**अविद्या**' का अपर पर्याय 'तम' है, जिसे यहाँ '**मोह**' कहा गया है॥६॥

बालप्रिया—

'**अत्यन्तविभक्तयोः**'—बुद्धि और पुरुष परस्पर भिन्न-भिन्न धर्म वाले हैं, तदर्थ निम्न लिखित कारिकाएँ द्रष्टव्य हैं—

'हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥
तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च॥
तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः॥ सां. का. १०, ११, १९, २० ॥६॥

योगवार्त्तिकम्

अविद्याऽनन्तरं तत्कार्यमस्मितां लक्षयति–दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता। दृग्=द्रष्टा, दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्=करणं बुद्धिः, प्रलयादौ फलोपधानं नास्तीति शक्तिग्रहणम्, तयोरेकात्मतेव [1]स्वरूपतो धर्मतश्चात्यन्तमेकाकारो विपर्ययोऽस्मिताऽहंकार इत्यर्थः।

'अविद्या' का लक्षण करने के पश्चात् सूत्रकार उसके कार्यभूत 'अस्मिता' का लक्षण करते हैं–'दृगिति।' सूत्रगत 'दृक्' शब्द का अर्थ 'द्रष्टा' है तथा 'दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'दर्शन' शब्द का अर्थ 'करण' है और वह करण 'बुद्धि' है। प्रलयादि (प्रलय और समग्र सुषुप्ति की अवस्था) में द्रष्टा और दृश्य में 'एकात्मताप्रत्ययरूप' फलोपधान (फलोत्पत्ति) नहीं होता है, फिर भी उनमें निजी द्रष्टृत्वयोग्यता तथा भोग्यत्वयोग्यता विद्यमान रहती है, यह प्रदर्शित करने के लिये सूत्र में 'शक्ति' पद का ग्रहण किया गया है। इस प्रकार की दृक्शक्ति और दर्शनशक्ति का 'एकात्मतेव' अर्थात् स्वरूपतः और धर्मतः निष्पादित अत्यन्त अभेदाकारात्मक भ्रमप्रत्यय (विपर्यय) 'अस्मिता' कहलाता है। यही 'अस्मिता' अहंकार पदवाच्य है।

बालप्रिया–

'दृग्दर्शनशक्त्योः'–यहाँ 'द्वन्द्वात्परं यत् श्रूयते प्रत्येकमभिसम्बध्यते'–इस न्याय से 'शक्ति' पद का सम्बन्ध 'दृक्' और 'दर्शन' दोनों पदों के साथ किया जाता है। जल-दुग्ध की एकता (मिश्रणता) की भाँति 'दृक्शक्ति' पुरुष और 'दर्शनशक्ति' बुद्धि में जो चिद-चिदात्मक एकत्व है उसे 'अस्मिता' कहते हैं। 'शक्ति' पद के प्रयोग द्वारा सूत्रकार ने प्रलयादि अवस्था में बुद्धि तथा पुरुष के 'भोग्यत्व' और भोक्तृत्व को स्वरूपसम्बन्ध से अवस्थित माना है।

योगवार्त्तिकम्

एतदेव शब्दान्तरेणाह–पुरुष इत्यादिना। एकस्वरूपापत्तिरिवैकाकारो यः क्लेशः सोऽस्मितोच्यत इत्यन्वयः। अविद्यातश्चास्मितताया अयं भेदो यद् बुद्ध्यादावादौ या सामान्यतो-

---

1. क ख ग – धर्मतः स्वरूपतः, घ च छ – स्वरूपतो धर्मतः।

ऽहंबुद्धिर[1]यं च भेदाभेदेनाप्युपपद्यतेऽत्यन्ताभेदाग्रहणात्, सैवाविद्या न तु तदुत्तरकालीनः पुरुषे बुद्ध्यादिगुणदोषारोप ईश्वरोऽहमहं भोगीत्यादिरूपः, न वा दूरस्थवनस्पत्योरिव तयोरत्यन्तमेकताभ्रमः, अस्मिता तु एतदुभयरूपिणीति। भ्रमत्वाविशेषेऽपि कार्यकारणरूपावान्तरविशेषादविद्याऽस्मितयोर्भेदेनोपन्यास इति। अनयोश्च कार्यकारणभावबोधो लोकानुसारेणावधार्यते, लोके ह्यादौ कलत्रपुत्रभृत्यादिष्वात्मभावो जायते, पश्चादेव तु तेषां सुखदुःखादिकमात्मन्यभिमन्यते तथाऽदौ[2] जलादिषूपाधिषु प्रतिबिम्बादिरूपेण चन्द्राद्यारोपो भवति, पश्चादेव तु चन्द्रादिषु तद्द्वारा कम्पमालिन्याद्यारोपो भवतीति। अयं च कार्यकारणभावः पूर्व[3]सूत्रस्थेन पञ्चशिखवाक्येनाप्युक्तः, तथा सांख्य[4]कारिकायामपि पाठक्रमेणोक्तः—

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः ॥ इति॥

भाष्यकार सूत्रोक्त तथ्य को शब्दान्तर से बताते हैं—'पुरुष इत्यादिना।' 'एकस्वरूपापत्तिरिव' अर्थात् दृक्शक्ति तथा दर्शनशक्ति का प्रतीयमान एकाकारत्वरूप जो क्लेश है, उसे 'अस्मिता' कहते है, ऐसा सूत्रान्वय किया जाता है। अविद्या से अस्मिता में पार्थक्य (अन्तर) यह है कि अविद्या बुद्ध्यादि जड पदार्थों में सामान्यरूप से होने वाली 'अहंबुद्धि' (आत्म-प्रतीति) है। और यह 'अहंबुद्धि' बुद्धि-पुरुष के भेदाभेदज्ञान से भी उपपन्न होती है, क्योंकि अविद्या में बुद्धि-पुरुष के आत्यन्तिक अभेद का ग्रहण नहीं होता है। यही वह अविद्या है, जो पुरुष में वक्ष्यमाण बुद्ध्यादि गुण के दोषों का आरोप 'ईश्वरोऽहम्', अहं भोगी' अर्थात् 'मैं ईश्वर हूँ', 'मैं भोक्ता हूँ' इत्यादिरूप से नहीं करती है अथवा जो दूरस्थ दो वनस्पतियों की भाँति बुद्धि तथा पुरुष में आत्यन्तिक ऐक्यभ्रम का आपादन नहीं करती है। जब कि अस्मिता इन दोनों रूप वाली है अर्थात् अस्मिता में बुद्धि-पुरुष में परस्पर धर्मों का आरोप तथा आत्यन्तिक ऐक्यभ्रम ये दोनों होते हैं। यद्यपि भ्रमज्ञान (विपर्यस्त ज्ञान) की दृष्टि से अविद्या तथा अस्मिता दोनों में समानता (अविशेषता) है, फिर भी कार्यकारणरूप अवान्तरविशेष के कारण (अविद्या का कार्य अस्मिता तथा अस्मिता का कारण अविद्या—यह अन्तर विद्यमान होने के कारण) दोनों का पृथक्-पृथक् रूप से उपन्यास किया गया है। लोकव्यवहार के द्वारा अविद्या तथा अस्मिता के कार्यकारणभावसम्बन्ध का ज्ञान इस प्रकार निर्धारित किया जाता है—मनुष्य में सर्वप्रथम स्त्री, पुत्र, भूम्यादि अनात्मपदार्थों के विषय में आत्मभाव जागरित होता

1. क ख ग घ – अथ, च छ – अयम्।
2. ख ग घ च छ – तथादौ उपलभ्यते, क – तथादौ नोपलभ्यते।
3. क ख ग छ ज – सूत्रभाष्यस्थेन, छ – सूत्रस्थेन।
4. क ग घ च छ – कारिकायां, ख – कारिकया।

है। इसके पश्चात् वह स्त्री, पुत्रादि के सुख-दुःखादि को आत्मधर्म समझता है। इस प्रकार अविद्या के कारण होने वाली 'आत्मत्वबुद्धि' के पश्चात् ही उसके कार्यभूत अस्मिता का **तद्धर्मारोपरूप** व्यापार देखा जाता है। जिस प्रकार प्रारम्भ में प्रतिबिम्ब-विधया जलादिरूप उपाधियों में चन्द्रादि का आरोप होता है अर्थात् जलादि में चन्द्रादि प्रतिबिम्बित होते हैं तत्पश्चात् ही प्रतिबिम्बित चन्द्रादि में जलगत कम्प, मालिन्य आदि धर्मों का आरोप होता है। पूर्व सूत्र में पञ्चशिखाचार्य के उद्धृत **'व्यक्तमव्यक्तं वा...'** इस वाक्य के द्वारा भी अविद्या और अस्मिता का यह कार्यकारण-भाव कहा गया है। सांख्यकारिका में भी इसी पाठक्रम से उक्त है–**'तस्मात्... भवत्युदासीनः** (२०) अर्थात् 'बुद्धि-पुरुष के संयोग से जिस प्रकार जड़ बुद्धि चेतन-वती प्रतीत होती है उसी प्रकार गुण (बुद्धि) में कर्तृत्व होने पर भी उदासीन (अकर्ता) पुरुष कर्ता की भाँति दिखाई पड़ता है।'

योगवार्त्तिकम्

ननु बुद्धिपुरुषयोर[1]न्यारोपेणैवाहं [2]दुःखीत्यादिव्यवहारोपपत्तावेकात्मताऽऽरोपे किं प्रमाणम्, परस्परारोपश्च व्यक्त्योरभेदग्रहं विनाऽपि रङ्गरजतयोरिव संभवत्येव, अग्नि-लोहयोर्दूरस्थवनस्पत्योश्च पुनः स्फुटैक्यप्रत्ययदर्शनादभेदारोपः सिध्यति, आत्मबुद्ध्योः परमसूक्ष्मतया नास्ति स्फुटमैक्यप्रत्यक्षमिति? तत्राह–भोक्तृभोग्यशक्त्योरिति। [3]अत्यन्तवि-विक्तयोरित्यत्र हेतुरत्यन्तासंकीर्णयोरत्यन्तविप्रकृष्टधर्मकयोरिति। भोग्यभोक्तृत्वे एव स्फुटे वैधर्म्ये; अन्यथा कर्मकर्तृविरोधादिति भावः। एवं भूतयोर्भोक्तृभोग्ययोः पुरुषबुद्ध्योरविभाग-प्राप्ताविव सत्यामेकत्वप्रत्यये सत्येव भोगः संभवति, भेदग्रहे तु तयोः कैवल्यमन्योन्यवियोग एव भवति परवैराग्यादि[4]त्यतः कथं भोगः स्यादित्यर्थः। तथा च भोगान्यथाऽनुपपत्ति-रेकात्मताऽऽरोपे प्रमाणमित्याशयः। अत एव सत्त्वपुरुषयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः इति सूत्रकृद्वदिष्यति, योऽहं सुखी सोऽहं तदनुभवितेत्ये[5]काकारतैव च बुद्ध्यात्मप्रत्यययोर[6]विशेषा-द्यस्मिन्सत्येव च लोके भोगव्यवहार इति। जीवन्मुक्तस्य च गौण एव भोगः सुखादि-साक्षात्कारमात्ररूप इति वक्ष्यामः। इदं चोपलक्षणं सुखदुःखज्ञानाद्याश्रयोऽहम् एक एवेति प्रत्ययोऽप्येकात्मताऽऽरोपे प्रमाणं बोध्यम्। अस्मितायाः स्वरूपेऽविद्याजन्यत्वे च पञ्चशिखा-चार्यवाक्यं प्रमाणयति–तथा चोक्तमिति। परमार्थतो बुद्धितः परं पृथक्कृतं पुरुषं बुद्धेराकार-

---

1. क ख ग घ – अन्योन्य०, च छ – अन्य०।
2. ख – सुखी (दुःखी प्राक्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – सुखी नोपलभ्यते।
3. क ग घ च छ – अत्यन्तविविक्तयोः, ख – अत्यन्तविभक्तयोः।
4. क ख – परः, ग घ च छ – इत्यतः।
5. क ग घ च छ – एकाकारतैव, ख – एकाकारप्रत्यय एव।
6. क ख – अविशेषः तस्मिन्, ग च छ – अविशेषाद्यस्मिन्, घ – अविशेषः यस्मिन्।

बुद्धेराकारशीलविद्याऽऽदिभि[1]र्विविक्तमसंस्पृष्टमपश्यन्नविवेकी जनस्तत्र बुद्ध्याकारादिष्वात्म[2]बुद्धिमस्मितां कुर्यात्, शान्ताद्याकारोऽस्मि जाग्रदादिशीलोऽस्मि विद्याऽऽदिमानस्मीत्येवंरूपाम्, मोहेन=पूर्वसूत्रोक्ताविद्ययेत्यर्थः॥६॥

शङ्का–बुद्धि और पुरुष में परस्पर एक दूसरे के धर्मों का आरोप होने से ही **'अहं दुःखी'** अर्थात् मैं दुःखी हूँ–इत्यादि अनुभव (व्यवहार) उपपन्न हो जाते हैं, तब उनके 'एकात्मत्व' अर्थात् अभेदात्मक आरोप (जो अस्मिता का कार्य है) को मानने में क्या प्रमाण है? अर्थात् **'अहं दुःखी'** इत्यादि व्यवहारोपपत्ति के लिये **'अस्मिता'** को मानना व्यर्थ है। क्योंकि अभेदग्रह हुए विना भी रङ्ग-रजत के धर्मों के परस्पर आरोप की भाँति बुद्धि-पुरुष के धर्मों का परस्पर प्रत्यारोपण हो ही सकता है। दूसरी युक्ति यह है कि जिस प्रकार अग्नि तथा लोहपिण्ड में अथवा दूरवर्ती दो वनस्पतियों (वृक्षों) में अत्यन्त स्फुट ऐक्य की प्रतीति होने से उनका अभेदारोप सिद्ध है, उस प्रकार बुद्धि तथा पुरुष का अत्यन्त स्फुट ऐक्य सूक्ष्मता के कारण संभव ही नहीं है? अतः बुद्धि-पुरुष के एकात्मतारोप में कोई प्रमाण नहीं है।

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–**'भोक्तृभोग्यशक्त्योरिति।'** भोक्तृशक्तियुक्त पुरुष तथा भोग्यशक्तियुक्त बुद्धि–ये दोनों अत्यन्त **'विभक्त'** अर्थात् विविक्त पदार्थ हैं। इसमें कारण है–**'अत्यन्तासंकीर्णयोरिति।'** बुद्धि और पुरुष अत्यन्त विप्रकृष्ट धर्म वाले हैं। इनका भोग्यत्व और भोक्तृत्वरूप वैधर्म्य अत्यन्त स्फुट ही है। अन्यथा (दोनों में भिन्नधर्मता न मानने पर) कर्मकर्तृविरोध होगा। अर्थात् एक को ही कर्म तथा कर्त्ता मानना अनुभवविरुद्ध है। इस प्रकार परस्पर भिन्न स्वरूप वाले भोक्ता पुरुष और भोग्य बुद्धि के 'अविभाग' को प्राप्त हुए की भाँति होने पर अर्थात् उनके एकत्व-प्रत्यय वाला होने पर ही भोग-निष्पत्ति सम्भव होती है तथा परवैराग्य द्वारा विवेक-ज्ञान (भेदज्ञान) जागरित होने पर दोनों का **'कैवल्य'** अर्थात् आत्यन्तिक वियोग हो जाता है। अतः विवेकग्रह के पश्चात् 'भोग' संभव नहीं होता है। एकात्मतारोप में कोई प्रमाण नहीं है। केवल भोग की अन्यथा-अनुपपत्ति (भोग अनुपपन्न न हो सके, तदर्थ) ही बुद्धि-पुरुष के एकात्मताऽऽरोप में प्रमाण है। अर्थात् पुरुष में भोग-निष्पत्ति के लिये अविद्याक्षेत्रिका 'अस्मिता' व्यर्थ नहीं है। अत एव सूत्रकार आगे बतलायेंगे–**'सत्त्वपुरुषयोः प्रत्ययाविशेषो भोग'** इति (३/३५) अर्थात् **'योऽहं सुखी सोऽहं तदनुभविता'** अर्थात् 'जो मैं सुखी हूँ, वही मैं सुख का अनुभव करने वाला हूँ'–इस प्रकार की एकाकारता बुद्धि-पुरुष के अभेदापन्न होने पर ही लोक में भोगव्यवहार कराती है। आगे यह भी बताया जायेगा कि जीवन्मुक्त में सुखादिसाक्षात्काररूप

---

1. क ग घ च छ – विविक्तं, ख – विभक्तम्।
2. ख – आत्मीयबुद्धिं (बुद्धिं पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – आत्मीयबुद्धिं नोपलभ्यते।

'भोग' गौण ही है। बुद्धि-पुरुष के एकात्मतारोप में 'सुख-दुःखज्ञानादि के आश्रय वाला मैं ही हूँ'–इत्याकारक प्रत्यय भी प्रमाण है। भाष्यकार अविद्याजन्य अस्मिता के स्वरूप के विषय में पञ्चशिखाचार्य के वचन को प्रमाण- रूप से प्रस्तुत करते हैं– **'तथा चोक्तमिति'** पारमार्थिक रूप से बुद्धि से 'पर' अर्थात् पृथग्भूत पुरुष; जो आकार (विशुद्धस्वरूप), शील (असङ्गस्वभाव) तथा विद्या (ज्ञानस्वरूपता) के कारण बुद्धि से 'विविक्त' अर्थात् असंस्पृष्ट है, को विलक्षण (भिन्न) न देखता हुआ अज्ञ व्यक्ति अनात्मबुद्धि के धर्मों में आत्मबुद्धिरूप **'अस्मिता'** करता है। अर्थात् अज्ञानता के कारण प्राणी को बुद्धि-पुरुष में जिस एकात्मता की प्रतीति होती है, उसे **'अस्मिता'** कहते हैं। योगवार्त्तिककार 'अस्मिता' का स्वरूप बताते हुए कहते हैं–मैं शान्तादि आकार वाला हूँ, जाग्रदादि स्वभाव वाला हूँ तथा ज्ञानादि धर्म वाला हूँ– इत्याकारिका **'अस्मिता'** मोह अर्थात् पूर्व सूत्रोक्त **'अविद्या'** के कारण अज्ञ में उत्पन्न होती है॥६॥

तृतीय 'क्लेश' का वर्णन प्रारम्भ हो रहा है–

योगसूत्रम्

सुखा[1]नुशयी रागः ॥७॥

सुख का अनुवर्ती क्लेश 'राग' (संज्ञक) है॥७॥

व्यासभाष्यम्

सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्धस्तृष्णा लोभः स राग इति॥७॥

सुख के अनुभविता को सुखानुभव की स्मृतिपूर्वक सुख अथवा सुख के साधनभूत पदार्थ के प्रति जो चाह, तृष्णा अथवा लोलुपता होती है, उसे 'राग' (संज्ञक क्लेश) कहते है॥७॥

तत्त्ववैशारदी

विवेकदर्शने रागादीनां विनिवृत्तेरविद्यापादितास्मिता रागादीनां निदानमित्यस्मितानन्तरं रागादील्लँक्षयति–सुखानुशयी रागः। [2]सुखानभिज्ञस्य स्मृतेरभावात्सुखाभिज्ञस्येत्युक्तम्। स्मर्यमाणे सुखे रागः सुखानुस्मृतिपूर्वकः। अनुभूयमाने तु सुखे नानुस्मृतिमपेक्षते। तत्साधने तु स्मर्यमाणे दृश्यमाने वा सुखानुस्मृतिपूर्व एव रागः। दृश्यमानमपि हि सुखसाधनं तज्जातीयस्य

---

1. अनुजन्मा – इति पाठान्तरम् (उभयत्र)।
2. थ द ध न – सुख० उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज़ झ त – सुख० नोपलभ्यते।

सुखहेतुतां स्मृत्वा तज्जातीयतया [1]वास्य सुख[2]हेतुत्वमनुमायेच्छति। [3]अनुशयिपदार्थमाह—य इति॥७॥

(प्रकृति-पुरुष के भ्रमात्मक अभेदज्ञान के उपमर्दनपूर्वक) सत्त्वपुरुषान्यताख्याति (भेदज्ञान) का उदय होने पर रागादि क्लेशों की निवृत्ति (नाश) हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि '**अविद्या**' का कार्य '**अस्मिता**' रागादि का कारण है। अतः 'अस्मिता' के पश्चात् रागादि कार्य का निरूपण किया जा रहा है। 'राग' का लक्षण है—'**सुखेति**।' जिस पुरुष को सुख अनुभूत नहीं रहता है उस पुरुष को सुखविषयक स्मृति भी नहीं होती है। इसीलिये भाष्य में '**सुखाभिज्ञस्य**' पद का प्रयोग किया गया है। स्मर्यमाण सुख के विषय में रागबुद्धि सुख की अनुस्मृतिपूर्वक होती है, किन्तु अनुभूयमान सुख के विषय में राग अनुस्मृति की अपेक्षा नहीं करता है। स्मर्यमाण अथवा दृश्यमान सुख के साधन के विषय में 'राग' सुख के स्मरणपूर्वक ही होता है। क्योंकि दृश्यमान सुखसाधन भी तज्जातीय (अपने समान) सुख के कारण का स्मरण कराके अथवा तज्जातीय होने से तत्सम्बन्धी सुखहेतुत्व का अनुमान कराने की इच्छा कराता है। भाष्यकार सूत्रगत '**अनुशयी**' पद का अर्थ बताते हैं—'**य इति**।' '**अनुशयी**' शब्द का अर्थ है—गर्ध, तृष्णा अथवा लोभ॥७॥

बालप्रिया—

'**सुखानुशयी**'—प्रश्न है कि 'अनुशयिन्' शब्द की सिद्धि कैसे होती है—क्या ताच्छील्य के अर्थ में (**सुखमनुशेते, तच्छीलः सुखानुशयी**) '**णिनि**' प्रत्यय हुआ है—अनु+शीङ्+णिनि। अथवा 'मतुप्' (वह उसका है-**सः अस्य अस्ति**) के अर्थ में (सुख का अनुशय अर्थात् सम्बन्ध; वह जिसके पास है—सुखानुशयी) '**इनि**' प्रत्यय हुआ है—अनुशय+ इनि?

प्रथम मत—

प्रथम विकल्प (अनु+शीङ्+णिनि) **का खण्डन**—यहाँ '**णिनि**' प्रत्यय मानना उचित नहीं है। पाणिनि के '**सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये**' (३/२/७८) इस सूत्र से 'णिनि' प्रत्यय विहित है। सूत्र के अनुसार 'वह उसका शील या आदत है' इस अर्थ में जातिवाचक को छोड़कर किसी भी सुबन्त शब्द के उपपद अर्थात् पूर्व में रहने पर धातु से 'णिनि' प्रत्यय होता है। उदाहरणार्थ—'**उष्णभोजी**', इसका विग्रह है—'**उष्णं भुङ्क्ते तच्छील इति उष्णभोजी**' अर्थात् जिसे हमेशा गर्म-गर्म भोजन की आदत है। जो कभी-कभी गर्म भोजन करता है, उसे उष्णभोजी नहीं कहा जाता है। उपरिवर्णित सूत्र में '**सुपि**'

1. क ख घ च छ ज झ त न – वा, ग थ द ध – च।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न – हेतुत्वम्, थ द ध—हेतुम्, ग—हेतुताम्।
3. क ख ग घ च छ झ त न – अनुशयि०, थ द ध – अनुशयीति।

पद के प्रयोग से यह इंगित किया गया है कि 'णिनि' प्रत्यय का उक्त नियम उपसर्गयुक्त धातु में चरितार्थ नहीं होता है। अर्थात् सोपसर्गक धातु से 'णिनि' प्रत्यय नहीं होता है। यदि महाभाष्यसम्मत व्याख्या के अनुसार **'अनुयायिवर्ग'** (रघु २/४), **अनुजीविभिः** (किरात १/४) इन उदाहरणों को ध्यान में रखते हुए सोपसर्ग से भी 'णिनि' प्रत्यय होना स्वीकार कर भी लिया जाय तो भी एक दूसरी समस्या उपस्थित होती है और वह यह है कि 'णित्' प्रत्यय परे होने पर **'अचो ञ्णिति'** सूत्र से स्वर वर्ण को वृद्धि की जाती है। ऐसी स्थिति में अनुशै+इन्, आयादेशपूर्वक **'अनुशायिन्'** रूप बनेगा, जो अनभीष्ट है। निष्कर्षतः **'अनुशयी'** में **'णिनि'** प्रत्यय नहीं किया जा सकता है।

द्वितीय विकल्प (अनुशय+इनि) **का समर्थन**—इसे शंका-समाधान की शैली से स्पष्ट किया जा रहा है—

शङ्का—यहाँ ग्रन्थ प्रत्यय मानना उचित नहीं है। व्याकरणशास्त्र के काशिका **'इनि'** में एक कारिका है—**'एकाक्षरात्कृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ।'** अर्थ है—ये दोनों **'इनि'** और **'ठन्'** प्रत्यय एकाक्षर शब्द के बाद, कृदन्त शब्द के बाद, जातिवाचक शब्द के बाद तथा सप्तमी के अर्थ में नहीं होते हैं। **'मतुप्'** के अर्थ में होने वाले **'इन्'** और **'ठन्'** प्रत्ययों का यहाँ निषेध किया गया है। प्रकृत में **'अनुशय'** शब्द कृदन्त (अनु+शी+अच्) है। यहाँ **'एरच्'** ३/३/५६ सूत्र से **'अच्'** प्रत्यय होता है। अतः काशिका के पूर्वोल्लिखित नियम के अनुसार यहाँ **'इनि'** प्रत्यय नहीं हो सकता है।

समाधान—बात ऐसी नहीं है, क्योंकि काशिका का उक्त वाक्य 'प्रायः ऐसा होता है'—इस अभिप्राय से संवलित है। इसलिये काशिकावृत्ति के रचयिता जयादित्य ने कहा है कि पाणिनि सूत्र **'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्'** ५/२/९४ में **'इति'** शब्द विवक्षा के अर्थ में प्रयुक्त है। लौकिक प्रयोग के अनुसार प्रत्ययों के विधान को **'विवक्षा'** कहते हैं। इसलिये कृदन्त और जातिवाचक से **'इनि'** प्रत्यय का निषेध प्रायिक (विवक्षाधीन) समझना चाहिये। उदाहरणार्थ—कार्य (कृ+ण्यत्, कृदन्त प्रत्यय) + इनि=कार्यिन्, तण्डुल (जाति) + इनि=तण्डुलिन् बनता है। अतः प्रकृत में भी **'अनुशय'** शब्द कृदन्त है अतः इससे **'इनि'** प्रत्यय करके अनुशयिन् (अनुशयी) साधु पद बनाया जा सकता है। यह मत सर्वदर्शनसंग्रहकार माधवाचार्य का है, जो काशिका के वृत्तिकार जयादित्य के **'प्रायकोऽभिप्रायमिदं वचनमिति'** के अनुसार है।

द्वितीय मत—

महाभाष्यकार के अनुसार 'अनुशयी' में **'नन्दीग्रहिपचादिभ्यः ल्युणिन्यचः'**—सूत्र से **'णिनि'** प्रत्यय हुआ है—अनुशय+णिनि=अनुशयी।

शङ्का—ऐसी स्थिति में **'अचो ञ्णिति'** सूत्र से विहित वृद्धि का क्या होगा?

समाधान–यहाँ वृद्ध्यभाव निपातन है। जैसे विषयी, विशयी (संशय) में 'णिनि' प्रत्यय परे होने पर भी निपातन वृद्ध्यभाव है और ये प्रयोग शुद्ध माने जाते हैं। वैसे 'अनुशयी' में निपातन वृद्ध्यभाव है। अतः 'अनुशयी' पद को भी शुद्ध मानना चाहिये।

'रागः–' 'सुखमनुशेते यः कश्चिद् धीवृत्तिविशेषोऽभिलाषाऽपरपर्य्यायः स रागः'–अर्थात् बुद्धि की एक वृत्ति 'राग' है, जिसे 'अभिलाषा' भी कहते हैं।

'गर्द्धस्तृष्णा लोभः'–ये तीनों 'राग' के पर्याय हैं॥७॥

योगवार्त्तिकम्

अस्मितां लक्षयित्वा तत्कार्यं रागं लक्षयति– सुखानुशयी रागः। सुखानुशयी सुख-तत्साधनमात्र[1]विषयको यः क्लेशः स राग इत्यर्थः। मात्रपदादविद्याऽऽदिव्यावृत्तिः जीवन्मुक्तेच्छा[2]व्यक्ते राग एव न भवति [3]संसाराहेतुत्वादिति न तस्यामतिव्याप्तिः। रागस्य कारणं वदन्निममेवार्थं भाष्यकारोऽप्याह–सुखाभिज्ञस्येति। सुखाभिज्ञस्य वा सुखानुस्मृतिपूर्वको वेत्यर्थः, तेन सुखसाक्षात्कारतः सुखस्मृतितश्च रागो भवतीति रागस्य कारणमुक्तम्। पर्यायै रागशब्दार्थमवधारयति–गर्ध इत्यादिना ॥७॥

'अस्मिता' का लक्षण करके सूत्रकार 'अस्मिता' के कार्यभूत 'राग' का लक्षण करते हैं–'सुखेति।' 'सुखानुशयी' अर्थात् सुख तथा सुख के साधनमात्र को विषय बनाने वाला जो क्लेश है, वह 'राग' कहलाता है। योगवार्त्तिककार 'राग' के स्वकृत लक्षण की मीमांसा करते हुए कहते हैं–'राग' के लक्षण में 'मात्र' शब्द का प्रयोग होने से 'राग' को अविद्यादि क्लेश से व्यावृत्त (पृथक्) किया गया है। राग का यह लक्षण जीवन्मुक्त के इच्छाविशेष में अतिव्याप्त नहीं होता है, क्योंकि संसार का कारण न होने से जीवन्मुक्त की इच्छा में 'राग' क्लेश है ही नहीं। भाष्यकार भी राग के कारण को बताते हुए राग का ऐसा ही वर्णन करते हैं–'सुखाभिज्ञस्येति।' सुख के अनुभविता को सुखानुभव की स्मृतिपूर्वक सुख और सुख के साधन के विषय में जो तृष्णा होती है, उसे 'राग' कहते हैं। इस प्रकार सुख का साक्षात्कार होने से तथा सुख का स्मरण होने से 'राग' का उदय होता है, यही राग का हेतु कहा गया है। भाष्यकार पर्यायों के द्वारा 'राग' शब्द के अर्थ को निर्धारित करते हैं–'गर्ध इत्यादिना।' गर्ध, तृष्णा लोभ 'राग' के पर्याय हैं॥७॥

'द्वेष' क्लेश का प्रतिपादक सूत्र उपस्थित हो रहा है–

---

1. क ग घ च छ – विषयको यः, ख – विषयः कोपः।
2. क ग घ च छ – व्यक्ते रागः, ख – च क्लेशः।
3. क ग घ च छ – संसाराहेतुत्वात्, ख – अदृष्टसामान्यहेतुमनोविशेषगुणस्यैव क्लेशत्वात्।

योगसूत्रम्

दुःखानुशयी द्वेषः॥८॥

दुःख का अनुवर्त्ती क्लेश 'द्वेष' (संज्ञक) है॥८॥

व्यासभाष्यम्

दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः [1]प्रतिघो मन्यु[2]र्जिघांसा क्रोधः स द्वेष इति॥८॥

दुःख का अनुभव किये हुए व्यक्ति का; दुःख के अंनुस्मरणपूर्वक दुःख या दुःख के साधन के प्रति जो प्रतिघ, मन्यु, जिघांसा तथा क्रोध होता है, उसे 'द्वेष' कहते हैं॥८॥

तत्त्ववैशारदी

दुःखानुशयी द्वेषः। दुःखाभिज्ञस्येति पूर्ववद्व्याख्येयम्। अनुशयिपदार्थमाह—यः प्रतिघ इति। प्रतिहन्तीति प्रतिघः। एतदेव पर्यायैर्विवृणोति—मन्युरिति॥८॥

'**दुःखेति**।' तत्त्ववैशारदीकार भाष्य को उठाते हैं—'**दुःखाभिज्ञस्येति**।' इस पद की व्याख्या भी '**सुखाभिज्ञस्य**' पद के समान कर लेनी चाहिये। सूत्रगत '**अनुशयी**' पद के अर्थ को भाष्यकार बताते है—'**यः प्रतिघ इति**।' '**प्रतिहन्तीति प्रतिघः**' अर्थात् प्रतिहिंसा। भाष्यकार इसी '**प्रतिघ**' पद को अन्य पर्यायों से उद्घाटित करते हैं—'**मन्युरिति**।' मन्यु (गुस्सा), जिघांसा (मारने की इच्छा) तथा क्रोध '**द्वेष**' के पर्याय हैं॥८॥

योगवार्त्तिकम्

रागप्रतिघातोत्थतया रागस्य पश्चाद् द्वेषं लक्षयति— दुःखानुशयी द्वेषः। सर्वं पूर्ववत्। प्रतिहन्त्युद्वेजयतीति [3]प्रतिघः। अत्र जिघांसेति वचनाद् द्वेषोऽपीच्छाविशेष एवेत्या[4]शयः॥८॥

'**राग**' के प्रतिघात (विरोध) से '**द्वेष**' का उदय होने से '**राग**' के पश्चात् '**द्वेष**' का लक्षण किया जा रहा है—'**दुःखेति**।' सब पूर्ववत् है। '**राग**' की भाँति '**द्वेष**' की व्याख्या करनी चाहिये। '**प्रतिहन्ति उद्वेजयतीति प्रतिघः**'—इस व्युत्पत्त्यनुसार जो उद्विग्न करता है, उसे '**प्रतिघ**' कहते हैं। भाष्य में '**द्वेष**' के पर्याय के रूप में '**जिघांसा**' पद के प्रयोग से

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र – प्रतिघः उपलभ्यते, ब – प्रतिघः नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म र – जिघांसा, ब – उज्जिहासा, य – जिघांसा/उज्जिहासा नोपलभ्यते।
3. क ख घ च छ – प्रतिघः, ग – प्रद्विषः।
4. ख ग – आचार्य० (आशयः प्राक्) उपलभ्यते, क घ च छ – आचार्य० नोपलभ्यते।

यह आशय अभिव्यक्त होता है कि 'द्वेष' (संज्ञक क्लेश) भी एक 'इच्छाविशेष' है॥८॥

सम्प्रति, 'अभिनिवेश' क्लेश से सम्बन्धित सूत्र उपस्थित हो रहा है–

योगसूत्रम्

[1]स्वरसवाही विदुषोऽपि [2]तथा [3]रूढोऽभिनिवेशः ॥९॥

मूर्खों की तरह विद्वान् को भी होने वाला स्वभावसिद्ध मरण-भय 'अभिनिवेश' (संज्ञक) क्लेश है॥९॥

व्यासभाष्यम्

सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति [4]मा न भूवं भूयासमिति। न चाननुभूतमरणधर्मकस्यैषा भवत्यात्माशीः। एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते। स चायमभिनिवेशः क्लेशः स्वरसवाही, कृमेरपि जातमात्रस्य प्रत्यक्षानुमानागमैरसंभावितो मरणत्रास उच्छेददृष्ट्यात्मकः पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति। यथा चायमत्यन्तमूढेषु दृश्यते क्लेशस्तथा [5]विदुषोऽपि विज्ञातपूर्वापरान्तस्य रूढः। कस्मात्? समाना हि तयोः कुशलाकुशलयोर्मरणदुःखानुभवादियं वासनेति॥९॥

सभी प्राणियों में अपने विषय में यह इच्छा निरन्तर रहती है कि 'मैं न रहूँ, ऐसा न हो, अपितु सदा रहूँ।' जिसने पहले कभी भी 'मरण' धर्म का अनुभव नहीं किया है, उसे आत्मविषयिणी (अपने को सर्वदा बनाये रखने की) कामना नहीं हो सकती है। अतः मरणभयविषयक स्मृति से पूर्वजन्मीय मरणानुभव सिद्ध होता है। जिसने पहले कभी भी मरण-भय का प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम द्वारा अनुभव नहीं किया है, ऐसे सद्यःजात शिशु को भी स्वभावतः विद्यमान रहने वाला उच्छेददृष्टिस्वरूप (आत्मनाशविषयक) जो यह मरणभय होता है, वही पूर्वजन्म में अनुभव किये गये मरणदुःख का अनुमान कराता है। यह क्लेश जैसे अत्यन्त ज्ञानहीन प्राणियों में देखा जाता है, वैसे ही जीवन का आदि और अन्त जानने वाले विद्वान् के चित्त में भी

---

1. स्पर्शवाही – इति पाठान्तरम्।
2. तस्य – इति पाठान्तरम्।
3. रूढे – इति पाठान्तरम्।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म र – मा न भूवं भूयासं, ब – मरणं माऽन्वभूवं, भूयासं, य – मा न भूवं हि भूयासम्।
5. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न प फ ब भ म र – विदुषोऽपि उपलभ्यते, य – विदुषोऽपि नोपलभ्यते।

यह बद्धमूल है। क्योंकि मरणदुःख का अनुभव होने से ज्ञानी और अज्ञानी दोनों में तज्जन्य वासना समानरूप से विद्यमान रहती है॥९॥

तत्त्ववैशारदी

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः। अभिनिवेशपदार्थं व्याचष्टे–सर्वस्य प्राणिन इति। इयमात्माशीरात्मनि प्रार्थना मा न भूवं माऽभावी भूवं, भूयासं जीव्यासमिति।

'स्वरसेति।' भाष्यकार **'अभिनिवेश'** पद का अर्थ करते हैं–**'सर्वस्य प्राणिन इति।'** यहाँ **'आत्माशीः'** पद का अर्थ है–आत्मविषयिणी प्रार्थना। इसका स्वरूप है–**'मा न भूवं'= मा अभावी भूवं** (अभावप्रतियोगी मा भूवम्)। **'भूयासम्'** का अर्थ है–जीव्यासम्। पूरे वाक्य का संवलित अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक प्राणी में आत्मविषयिणी यह अभिलाषा रहती है कि 'मैं अभाव वाला न होऊँ, अपितु सर्वदा जीवित रहूँ।'

बालप्रिया–

'तथारूढः'–(तथा=तत् प्रकारे थाल् विभक्तित्वात्) **'यथा'** के सहसम्बन्धी के रूप में प्रयुक्त **'तथा'** शब्दसमुच्चित **'अविद्वान्'** का ग्रहण (बोध) कराता है। अर्थात् जैसे अविद्वान् (मूर्ख) में यह नैसर्गिक मरणत्रास है, वैसे ही विद्वान् (आगम और अनुमान द्वारा पदार्थ के वेत्ता) में भी यह जो प्रसिद्ध मरणत्रास है, वही **'अभिनिवेश'** संज्ञक क्लेश है। यहाँ पर **विद्वत्'** शब्द से शास्त्रज्ञ गृहीत है, न कि तत्त्वज्ञ। क्योंकि तत्त्वज्ञानी में–प्रसंख्यानाग्नि के द्वारा 'अविद्या' के दग्ध हो जाने से तन्मूलक– **'अभिनिवेश'** क्लेश संभव ही नहीं है।

'आत्माशीः'–अहमभावशीलो मा भूवं, किन्तु भूयासमेवेति प्रार्थना।

यह आत्मविषयिणी प्रार्थना प्राणिजात में क्यों और कैसे उपलब्ध होती है? इसे प्रमाणप्रक्रिया द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

न चाननुभूतमरणधर्मकस्य, अननुभूतो मरणधर्मो येन जन्तुना न तस्यै[1]षा भवत्यात्माशीरभिनिवेशो मरणभयम्। प्रसङ्गतो जन्मान्तरं प्रत्याचक्षाणं नास्तिकं निराकरोति–एतया चेति। प्रत्युदितस्य शरीरस्य म्रियमाणत्वात्पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते। निकायविशिष्टाभिरपूर्वाभिर्देहेन्द्रियबुद्धिवेदनाभिरभिसंबन्धो जन्म, तस्यानुभवः प्राप्तिः, सा प्रतीयते।

जिस प्राणी को मरणधर्म का अनुभव नहीं हुआ है अर्थात् जिसने मरणभय का अनुभव नहीं किया है उसे पूर्वोक्त **'आत्माशीः'** अर्थात् मरणभयरूप **'अभिनिवेश'** नहीं होता है। भाष्यकार इसी प्रसंग में जन्मान्तर को स्वीकार न करने वाले

1. क ख घ च छ ज झ त न – एषा, ग थ द ध – एवम्।

नास्तिक (चार्वाक, जैन तथा बौद्ध) मत का खण्डन करते है—'एतया चेति।' वर्तमान शरीर के धारण करने से (आत्मविषयिणी भावना द्वारा) पूर्व जन्म का मरणदुःख-विषयक अनुभव भी विदित होता है। ('जन्म' शब्द का योगसम्मत अर्थ बतलाते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं)—निकाय अर्थात् देव, मनुष्य, तिर्यगादि योनियों से विशिष्ट, अपूर्व (नवीन) देह, इन्द्रिय, बुद्धि तथा वासनाओं के साथ आत्मा का सम्बन्ध होना 'जन्म' है। इस प्रकार के जन्म का अनुभव होना शरीर-प्राप्ति है, जो अनुमित होती है।

बालप्रिया—

'पूर्वजन्मानुभवः'—भाव यह है कि यदि वर्तमान जन्म से अतिरिक्त पूर्व जन्म को न माना जाय तो मरणदुःख का अनुभव भी न हो सकेगा। ऐसी स्थिति में अनुभव-जन्य स्मृति के पश्चात् जो सर्वानुभूत मरणत्रास से उक्त आत्मविषयिणी प्रार्थना दृष्टिगत होती है, वह भी असंभव हो जायेगी। अतः पूर्वजन्म को अवश्य ही स्वीकार करना चाहिये।

उक्त विषय को स्पष्ट कियां जा रहा है—

तत्त्ववैशारदी

कथमित्यत आह—स चायमभिनिवेश इति। अर्थोक्तावेवास्य क्लेशत्वमाह—क्लेश इति। अयम[1]हितकर्मादिना जन्तून् क्लिश्नाति [2]दुःखाकरोतीति क्लेशः। वक्तुमुपक्रान्तं परिसमापयति—स्वरसवाहीति। स्वभावेन वासनारूपेण वहनशीलो न पुनरागन्तुकः। कृमेरपि जातमात्रस्य दुःखबहुलस्य निकृष्टतमचैतन्यस्य। अनागन्तुकत्वे हेतुमाह—[3]प्रत्यक्ष इति। प्रत्यक्षानुमानागमैः प्रत्युदिते जन्मन्यसंभावितोऽसंपादितो [4]मरणत्रास उच्छेददृष्ट्यात्मकः पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति। अयमभिसंधिः—जातमात्र एव हि बालको मारकवस्तुदर्शनाद्वेपमानः कम्पविशेषादनुमितमरणप्रत्यासत्तिस्ततो बिभ्यदुपलभ्यते। दुःखाद्दुःखहेतोश्च भयं दृष्टम्। न चास्मिञ्जन्मन्यनेन मरणमनुभूतमनुमितं श्रुतं वा, प्रागेवास्य दुःखत्वं तद्धेतुत्वं वावगम्यते। तस्मात्तस्य तथाभूतस्य स्मृतिः परिशिष्यते। न चेयं संस्कारादृते। न चायं संस्कारोऽनुभवं विना। न चास्मिञ्जन्मन्यनुभव इति प्राग्भवीयः परिशिष्यत इत्यासीत्पूर्वजन्मसंबन्ध इति।

---

1. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न – अहित०, ख – अभिहित०।
2. क ख ग – दुःखीकरोति, घ च छ ज झ त थ द ध न – दुःखाकरोति।
3. थ द ध न -- प्रत्यक्ष इति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त – प्रत्यक्ष इति नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ त न मरणत्रास उच्छेददृष्ट्यात्मकः उपलभ्यते, थ द ध – मरणत्रास....मकः नोपलभ्यते।

शङ्का–आत्मविषयिणी प्रार्थना से पूर्वजन्मीय मरणदुःखविषयक अनुभव की प्रतीति कैसे होती है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–**'स चायमभिनिवेश इति।'** भाष्यकार ने प्रकृत वाक्य के अर्धांश द्वारा **'अभिनिवेश'** एक क्लेशविशेष है, इसे बताया है–**'क्लेश इति।'** यह **'अभिनिवेश'** दुःखदायी कर्मादि द्वारा जीव-जन्तुओं को कष्ट (क्लेश) प्रदान करता है, इसलिये इसे **'क्लेश'** कहते हैं। आरम्भ की हुई बात को समाप्त करने के लिये भाष्यकार कहते हैं–**'स्वरसवाहीति।'** यह मरणधर्मक **'अभिनिवेश'** क्लेश **'स्वभावेन'** वासनारूप से प्रवहणशील है। यह चित्त का आकस्मिक धर्म नहीं है। मरणभय चित्त का स्वाभाविक धर्म इसलिये है कि सद्यःजात जीव-जन्तु अर्थात् दुःखबहुल निकृष्टतम प्राणी में भी **'मरणभय'** देखा जाता है। भाष्यकार मरणभय के अनागन्तु-कत्व (स्वाभाविकत्व) में हेतु उपन्यस्त करते हैं–**'प्रत्यक्ष इति।'** प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम द्वारा वर्तमान जन्म में मरणदुःख का अनुभव संभव नही हो सकता है। इसलिये वर्तमानजन्मीय मरणभय पूर्वजन्म में अनुभूत उच्छेददृष्ट्यात्मक मरण-दुःख का अनुमान कराता है। अभिप्राय यह है–नवजात बालक भी विनाशक (विघ्नकारक) वस्तु को देखने से प्रकंपित हो जाता है। इस **'कम्पविशेष'** से शिशु का पूर्वजन्मीय मरणज्ञान अनुमित होता है। पूर्वजन्म की मरणानुभूति से ही शिशु में वर्तमानकालिक (समसामयिक) मरणत्रास उपलब्ध होता है। क्योंकि दुःखानुभूति तथा दुःख के कारण व्यक्ति में भय देखा जाता है अर्थात् दुःख और दुःखहेतु के ज्ञानपूर्वक ही भयोत्पत्ति होती है। वर्तमान जीवन में तो (सद्यःजात) शिशु को 'मरण' का प्रत्यक्षज्ञान (अनुभव), अनुमानज्ञान अथवा शब्दज्ञान नहीं हुआ रहता है। इससे बालक को पूर्वजन्म में हुए दुःख अथवा दुःखहेतु के ज्ञान का अवबोध होता है। इसलिये पूर्व मरणदुःखानुभूत बालक में वर्तमान जीवन में मरणभय-विषयक स्मृति शेष रह जाती है। किञ्च यह मरणभयविषयक स्मृति (अनुभव-जन्य) संस्कार के विना संभव नहीं है और यह मरणभयविषयक संस्कार मरण-भयानुभव के विना नहीं हो सकता है। (क्योंकि **अनुभवजन्य 'संस्कार'** तथा **संस्कारजन्य 'स्मृति'**–यह त्रिकोणात्मक बद्धमूल श्रृंखला प्रचलित है)। किञ्च यह मरणज्ञान वर्तमान जन्म का तो हो ही नहीं सकता है। अतः मरणभयविषयक ज्ञान प्राग्भवीय सिद्ध होता है अर्थात् परिशेषानुमान से पूर्वजन्मीय मरणदुःख अनुमित होता है। फलितार्थ यह हुआ कि पूर्वजन्म में इन्द्रियादिविशिष्ट देह के साथ आत्मा का सम्बन्ध अवश्य होता है।

बालप्रिया–

'पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति'– जातमात्र कृमि का भी प्रत्यक्षादि के द्वारा

वर्तमान जन्म में अनुभूत उच्छेददृष्ट्यात्मक मरणत्रास पूर्वानुभूत मरणदुःख का अनुमान कराता है। अतः यह जो अभिनिवेशाख्य क्लेश है, वह स्वरसवाही अर्थात् नैसर्गिक है। सर्वजन्तुसाधारण है और यह मरणत्रास पूर्वजन्म के सद्भाव का ज्ञापक है।

'प्रत्युदिते'–प्रत्युदित शब्द का अर्थ है–वर्तमान जन्म।

सम्प्रति, सूत्र में प्रयुक्त 'तथा' शब्द पर विचार किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

तथापदं यथापदमाकाङ्क्षत इत्यर्थप्राप्ते यथापदे सति यादृशो वाक्यार्थो भवति [1]तादृशं दर्शयति–यथा चायमिति। अत्यन्तमूढेषु मन्दतमचैतन्येषु। विद्वत्तां दर्शयति–विज्ञातपूर्वापरान्तस्येति। अन्तः कोटिः। पुरुषस्य हि पूर्वा कोटिः संसार उत्तरा [2]च कैवल्यम्। सैव विज्ञाता श्रुतानुमानाभ्यां येन स तथोक्तः। सोऽयं मरणत्रास आकृमेरा च विदुषो रूढः प्रसिद्ध इति। नन्वविदुषो भवतु मरणत्रासो विदुषस्तु न संभवति, विद्ययोन्मूलितत्वात्; अनुन्मूलने वा[3]स्य मरणत्रासस्य स्यादत्यन्तसत्त्वमित्याशयवान्पृच्छति–कस्मादिति। उत्तरमाह–समाना हीति। न संप्रज्ञातवान्विद्वानपि तु श्रुतानुमित[4]विवेक इति भावः॥९॥

'तथा' पद को 'यथा' पद की आकांक्षा रहती है–ऐसा आक्षेप से प्राप्त होने पर 'यथा' पद के प्रयोग से जिस प्रकार का वाक्यार्थ होता है, उस प्रकार के वाक्यार्थ को भाष्यकार प्रदर्शित करते हैं–'यथा चायमिति।' यह मरणदुःख जिस प्रकार अत्यन्त मूढ अर्थात् मन्दतम चैतन्य (अल्पज्ञ) में उपलब्ध होता है उसी प्रकार विद्वान् में भी परिलक्षित होता है। भाष्यकार विद्वान् का स्वरूप प्रदर्शित करते हैं–'विज्ञातपूर्वापरान्तस्येति।' 'अन्त' शब्द का अर्थ है–कोटि। पुरुष की पूर्वकोटि 'संसार' है और उत्तरकोटि 'कैवल्य' है। इस प्रकार की कोटि को जिसने शब्द तथा अनुमान प्रमाण से जान लिया है ऐसा विद्वान् यहाँ 'विज्ञातपूर्वापरान्त' शब्द से अभिहित है। यह मरणत्रास कृमि (जन्तु) से लेकर विद्वान् (शास्त्रज्ञ) पर्यन्त 'रूढ' अर्थात् प्रसिद्ध है।

शङ्का–अज्ञानी में मरणत्रास भले ही रहे किन्तु विद्वान् में मरणभय संभव नहीं है। क्योंकि तत्त्वज्ञ का अविद्यामूलक अभिनिवेशरूप मरणत्रास विद्या के द्वारा उन्मूलित हो जाता है। किञ्च यदि ज्ञान के द्वारा मरणभय का मूलोच्छेद न हो सके तो

---

1. क घ च छ ज झ त थ द ध न – तादृशं, ख ग – तथा०
2. क घ च छ ज झ त न – च उपलभ्यते, ख ग थ द ध – च नोपलभ्यते।
3. ख ग घ ज झ त न – मरणत्रासस्य, थ द ध – अस्य मरणत्रासस्य, क च छ – अस्य।
4. क ख ग घ च छ ज झ त न – विवेकः, थ द ध–विवेकी।

मरणत्रास की आत्यन्तिक सत्ता माननी पड़ेगी? इसी अभिप्राय से पूर्वपक्षी प्रश्न करता है—**'कस्मादिति।'**

समाधान—भाष्यकार उत्तर देते हैं **'समाना हीति।'** ज्ञानी तथा अज्ञानी दोनों को मरण-दुःख का अनुभव होने में तज्जन्य वासना तुल्य है। सूत्र में **'विद्वत्'** शब्द के द्वारा जो बताया गया है, उसी के लिये भाष्यकार ने **'कुशल'** शब्द का प्रयोग किया है। तत्त्ववैशारदीकार **'विद्वत्'**, अथवा **'कुशल'** शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यहाँ सम्प्रज्ञातसमाधिनिष्ठ योगी का ग्रहण नहीं होता है, अपितु श्रुतानुमित विद्वान् अर्थात् शास्त्रज्ञ का ही ग्रहण होता है। अतः शास्त्रज्ञ को मरणभय होना स्वाभाविक है। (फलितार्थ यह हुआ कि तत्त्वज्ञानी का अभिनिवेश क्लेश अन्य क्लेशों की भाँति ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध हो जाता है)। अतः तत्त्वज्ञानी को छोड़कर 'कुशल' तथा 'अकुशल' सभी को मृत्युभय रहता है।

बालप्रिया—

'श्रुतानुमितविवेकी'—इस समस्त पद के स्थान पर **'श्रुतानुविवेकः'** पाठान्तर भी उपलब्ध होता है। **'श्रुतानुमितविवेकः'** का विग्रह है—**श्रुतानुमानाभ्यां निष्पन्नो विवेको यस्य स इति श्रुतानुमानविवेकः ॥९॥**

योगवार्त्तिकम्

द्वेषमूलकतया द्वेषस्य पश्चादभिनिवेशं लक्षयति—स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः। [1]स्वरसेन संस्कारमात्रेण वहतीति स्वरसवाही। अपिशब्दसमुच्चितमविद्वांसं तथेति तच्छब्दः परामृशति। रूढः प्रसिद्धः। तथा च यथाऽविद्वज्जनस्य तथा विदुषोऽपि स्वरसवाहित्वहेतुना यः क्लेशोऽस्ति प्रसिद्धः सोऽभिनिवेश इत्यर्थः। अविद्याऽऽदयस्तु विदुषि न सन्तीति न तेष्वतिव्याप्तिः। नन्वेवं कथं पूर्वोक्तमविद्या[2]व्याप्तत्वमभिनिवेशस्य घटताम्, अविद्यानाशेऽप्यभिनिवेशसत्त्वादिति चेत्? न; [3]संस्कारहेतुताऽवच्छेदकरूपेणैव विपर्ययव्याप्तत्वस्य विवक्षितत्वात्। [4]संस्कारहेतुत्वं [5]मरणत्रासातिरिक्तभयत्वेनैव फलबलादिति। अयं च क्लेशो भयाख्य इति वक्ष्यति भाष्यकारः। अभिनिवेशस्यात्यन्तदुरन्तत्वप्रतिपादनाय विद्वदपरिहार्यत्वमुखेन लक्षणं कृतं भयसामान्यमेव तु अभिनिवेशो रागादिवदिह विवक्षित इति।

द्वेषमूलक होने से **'द्वेष'** के पश्चात् **'अभिनिवेश'** का लक्षण किया जा रहा है—**'स्वरसेति।'** योगवार्त्तिककार **'स्वरसवाही'** की व्युत्पत्ति करते हैं—**'स्वरसेन संस्कारमात्रेण**

---

1. क घ च छ – स्व०, ख ग – स्वस्य।
2. क घ च छ – व्याप्तत्वं, ख ग – व्याप्यत्वम्।
3. क ख ग – संसार०, घ च छ – संस्कार०।
4. क ख ग च छ – संस्कार०, घ – संसार०।
5. क ग घ च छ – मरणत्रासातिरिक्तभयत्वेन, ख – वासनामात्रजन्यभयत्वेन।

वहतीति स्वरसवाही' अर्थात् जो सांस्कारिक सहजता के कारण प्रवहणशील है, उसे 'स्वरसवाही' कहते हैं। 'अपि' शब्द अविद्वान् (अज्ञ) को समुच्चित करता है। 'तथा' तच्छब्द का परामर्शक है। 'तेन प्रकारेण इति तथा'—यहाँ 'प्रकार' अर्थ में 'थाल्' प्रत्यय हुआ है। सूत्रगत 'रूढ' शब्द का अर्थ 'प्रसिद्ध' है। इस प्रकार अज्ञ की भाँति विज्ञ में भी सांस्कारिक हेतुता से जो प्रसिद्ध क्लेश है, वही 'अभिनिवेश' कहा जाता है। इस प्रकार विज्ञ में अविद्यादि क्लेश न होने से उसमें अविद्यादि क्लेश की अतिव्याप्ति नहीं होती है।

शङ्का—अविद्या से अव्याप्त रहकर किस प्रकार पूर्ववर्णित 'अभिनिवेश' क्लेश संभव हो सकता है, क्योंकि अविद्या का नाश हो जाने पर भी 'अभिनिवेश' किस प्रकार अपने अस्तित्व को बचा सकता है? सरलार्थ यह है कि कार्य-कारण में व्याप्ति होती है। अविद्या का सद्भाव होने पर अस्मितादि का सद्भाव और अविद्या का उच्छेद होने पर अस्मितादि का उच्छेद देखा गया है। अतः सिद्धान्ती किस प्रकार अविद्या से अव्याप्त 'अभिनिवेश' की स्थिति विज्ञ में प्रतिपादित कर रहा है?

समाधान—इस पर योगवार्त्तिककार कहते हैं कि बात ऐसी नहीं है। यहाँ 'अभिनिवेश' में संस्कारहेतुतावच्छेदकरूप से विपर्यय (अविद्या) की व्याप्तता विवक्षित है। क्योंकि फलबल से मरणत्रासातिरिक्त भय के प्रति संस्कार कारण है। यह अभिनिवेश क्लेश 'भयाख्य' है, ऐसा भाष्यकार आगे बतायेंगे। 'अभिनिवेश' क्लेश की अत्यन्त दुर्ज्ञेयता (धृष्टता अथवा स्वाभाविकता) को व्युत्पादित करने के लिये विज्ञ के अपरिहार-पूर्वक 'अभिनिवेश' का कृत उक्त लक्षण रागादि की भाँति भयसामान्यरूप ही यहाँ विवक्षित है।

योगवार्त्तिकम्

तत्रादौ भाष्यकारोऽभिनिवेशस्य स्वरूपमाह—सर्वस्येति। सर्वस्य विदुषोऽविदुषश्चेय-मात्मन्याशीः प्रार्थना=इच्छाविशेषः सदैव भवति। तामेवाह—मा न भूवमिति। [1]माऽहमभावी भूवं भूयासं जीव्यासमित्येवंरूपेत्यर्थः। इयमाशीरेव त्रासो भयमित्युच्यत इति भावः। विदुषोऽप्यपरिहार्यत्वमुपपादयितुं [2]यथोक्तमभिनिवेशस्य कारणमवधारयति—न चेति। अननुभूतो मरणस्य धर्मो दुःखातिशयो येन तस्येयमाशीर्न संभवति धनादिनाशजन्यदुःख-ज्ञस्यैव धनादिषु तादृशाशीर्दर्शनात्—धनं मे मा नश्यतु सदैव भूयादिति। अत एवं तयाऽऽशिषा पूर्वजन्मनि मरणदुःखानुभवस्तत्कारणतया प्रतीयतेऽनुमीयत इत्यर्थः। एतेन जीवस्यानादित्व-मपि प्रसङ्गात्साधितम्, जन्म तु कूटस्थचिन्मात्रस्य तैस्तैर्देहेन्द्रियबुद्धिवेदनादिभिराद्यः संबन्ध

---

1. क – माऽहमभावं, ख – नाहमभावी, ग घ च छ – माऽहमभावी भूवम्।
2. क ख घ च छ – यथोक्तं, ग – यथोक्त०।

इति। यत्तु न जायते न म्रियते इत्यादिवाक्यं तदात्मन उत्पत्तिविनाशावेतद्देहादेरिव प्रतिषेधतीति बोध्यम्। नन्विह जन्मन्येवानुमानादिना मरणदुःखानुभवेनाभिनिवेशाख्यं भयं भवतु किमर्थं पूर्वजन्मानुभवः कल्प्यत इत्याशङ्कामपाकरोति–स चायमिति। स चायमुक्ताशी-रूपोऽभिनिवेशः स्वरसवाही स्वाभाविकोऽत्यन्तमूढस्य कृमेरपि मरणदुःखप्रत्यक्षादिभिरसंभाव्यो मरणत्रास उच्छेददृष्ट्यात्मक उच्छेददृष्टिकार्यः पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति पूर्वजन्मनि मरणदुःखानुभवमनुमापयति, यदनुभवोत्थेन मरणत्रासेन जनितया वासनयेह [1]जन्ममरणत्रासो भवतीति शेषः। मरणभयस्य [2]द्वेषरूपस्यापि संस्कारजनकत्वं [3]विरोध-स्येवागत्या कल्प्यत इति।

भाष्यकार सर्वप्रथम '**अभिनिवेश**' का प्रतिपादन करते हैं–'**सर्वस्येति।**' विद्वान् अथवा अविद्वान् सभी में आत्मविषयिणी प्रार्थना अर्थात् इच्छाविशेष सदैव विद्यमान रहता है। भाष्यकार उसी आत्मविषयिणी प्रार्थना को बताते हैं–'**मा न भूवमिति।**' मैं कभी न रहूँ, ऐसा न हो अपितु मैं सर्वदा जीवित रहूँ'–इत्याकारक आत्मविषयिणी प्रार्थना (आशीः) होती है। इसी आशीः को '**त्रास**' अथवा '**भय**' कहते हैं। विद्वान् में भी '**अभिनिवेश**' की अपरिहार्यता को बताने के लिये भाष्यकार अभिनिवेश के पूर्वोक्त कारण (हेतु) को निर्धारित करते हैं–'**न चेति।**' जिसे मृत्यु का दुःखपूर्ण (दुःखातिशायी) धर्म अनुभूत नहीं हुआ है, उसे आत्मविषयिणी जिज्ञासा नहीं हो सकती है क्योंकि धनादि वैभव के नाश से उत्पन्न दुःख का अनुभव करने वाले व्यक्ति में ही धनादि वैभव के प्रति उस प्रकार की प्रार्थना देखी जाती है कि 'मेरा धन नष्ट न हो अपितु सदा अक्षुण्ण रहे।' इस प्रकार आत्मविषयिणी आशीः के द्वारा पूर्वजन्म में अनुभूत मरणदुःखानुभव उसके कारण (हेतु) रूप से अनुमित होता है। इस व्याख्यान से जीव का अनादित्व भी प्रसङ्गतः सिद्ध हो जाता है। जीव के अनादि तथा नित्य होने से उसका जन्म कैसा? इस पर योगवार्त्तिककार जीव के जन्म को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि कूटस्थ चिन्मात्रस्वरूप पुरुष (आत्मा) का तत्तद् देह (स्थूलदेह), इन्द्रिय, बुद्धि, वेदनादि (सूक्ष्मशरीर) के साथ जो आद्य सम्बन्ध होता है, उसे जीव का '**जन्म**' कहते हैं। और जो 'न जायते न **म्रियते**' (कठोप. १/२/१८) इत्यादि वाक्य के द्वारा पुरुष का जन्म-मरण (उत्पत्ति-विनाश) निषिद्ध है, वह तो देह के उत्पत्ति-विनाश की तरह आत्मा के उत्पत्ति-विनाश के खण्डनार्थ है।

---

1. क ख घ च छ – जन्म०, ग – जन्मनि।
2. क घ च छ – द्वेष०, ख ग – इच्छा।
3. क ग घ च – निरोधस्येवागत्या कल्प्यत इति, छ – विरोधस्येवागत्या कल्प्यत इति, ख – निरोधस्य/विरोधस्य...इति नोपलभ्यते।

शङ्का–इस जन्म में ही अनुमानित मरणदुःखानुभूति से 'अभिनिवेशाख्य' 'भय' की उत्पत्ति मानी जाय, तदर्थ पूर्वजन्मीय मरणदुःखानुभव की कल्पना क्यों की जाय? समाधान–भाष्यकार उक्त शंका का निराकरण करते हैं–'स चायमिति' उपरिवर्णित आत्मेच्छाविषयक 'अभिनिवेश' 'स्वरसवाही' अर्थात् अत्यन्त स्वाभाविक है, क्योंकि अत्यन्त मूढ कृमि (जन्तु); जिसे प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा मरणत्रास संभव नहीं है, को भी होने वाला 'उच्छेददृष्ट्यात्मक' अर्थात् विनाशकल्पना का परिणामभूत 'मरणत्रास' पूर्वजन्म में अनुभूत मरणजन्य दुःख का अनुमान कराता है। इस मरणदुःखानुभवोत्थ मरणत्रास से जनित वासना के द्वारा वर्तमान जीवन में जन्मनाश (देहनाश) विषयक भीति (भय) होती है। द्वेषरूप मरणभय में भी संस्कारजनकता है। अतः 'निरोध' के लिये इसे भी अगत्या स्वीकार किया गया है। अर्थात् अन्य क्लेशों की भाँति यह क्लेश भी निरोद्धव्य है।

योगवार्त्तिकम्

अभिनिवेशं तत्कारणं च व्याख्याय सूत्रा[1]वयवार्थं व्याचष्टे–यथा चेत्यादिना रूढ इत्यन्तेन। विज्ञातेति। विज्ञातः संप्रज्ञातयोगेन साक्षात्कृतः प्रपञ्चस्य पूर्वान्तोऽपरान्तश्चा[2]द्यन्तौ येन स तथा तस्य तत्त्वज्ञस्येत्यर्थः, कुशलाकुशलयोरिति वक्ष्यमाणत्वादिति। एतेनाद्यन्तयोरवशिष्यमाणमेव वस्तु प्रपञ्चस्य तत्त्वं तच्च परं ब्रह्म विकारस्तु मध्ये वाचाऽऽरम्भणमात्रमित्यस्माकमपि सिद्धान्त इति सिद्धम्। तथा चोक्तं मोक्षधर्मेऽपि–

अन्तेषु रेमिरे धीरा न ते मध्येषु रेमिरे।
अन्तप्राप्तिसुखामाहुर्दुःखमन्तरमे[3]तयोः॥ इति॥

[4]सुखामाहु[5]रित्यार्षम्, [6]सुखायाहुरिति पाठस्तु साधुः। ननु तत्त्वज्ञस्याविद्याऽस्मिताऽऽद्यभावात्कथं यथोक्ताशीरित्याशयेना[7]शङ्कते–कस्मादिति। संस्कारमात्रजन्यत्वेन परिहरति–समाना हीति। इयं वासना एतदाशीर्हेतुवासनेत्यर्थः। इयं च बलवत्तरा वासना। चित्तेन सह नश्यत्येव[8] ज्ञानेन न दह्यत इत्येतद् अविद्याऽऽदिसंस्कारेभ्यो विशेषः। ननु कुशलस्यात्मनित्यत्वनिश्चयात्कथं मा न भूवं भूयासमितीच्छा स्यात्, सिद्धत्वज्ञानस्य प्रतिबन्ध-

1. क च छ – अवयवार्थ, ख ग घ – वाक्यार्थम्।
2. क ग घ च छ – आद्यन्तौ, ख – शेषान्तः।
3. क ग घ च छ – एतयोः, ख – अन्तयोः।
4. क – सुखी०, ख ग घ च छ – सुखाम्।
5. क ग च छ – इत्यार्षम्, ख – इत्यर्थः, घ – इति।
6. क ख ग च छ – सुखायाहुरिति उपलभ्यते, घ – सुखायाहुरिति नोपलभ्यते।
7. क घ च छ – आशङ्कते, ख ग – शङ्कते।
8. क ख ग च छ – नश्यत्येव, घ – जन्यत्येव।

कत्वादिति चेत्? न; विशेषदर्शने सत्यपीदृगिच्छादृष्ट्या फलबलेन [1]तादृशसंस्कारस्योत्तेजकत्वात्।[2] एतेन यदाधुनिकवदान्तिब्रुवा आहुरात्मा सुखस्वरूपो निरुपधियथोक्तेच्छाविषयत्वाद् बाह्यसुखवदित्यनुमानेनात्मनः सुखरूपता सिद्ध्यतीति, तदप्यपास्तम्, पूर्वपूर्वजन्मसु [3]मरणकाले [4]यस्त्रासो जातस्तेन तदा जातायास्तद्वासनातो निरुपधीच्छासंभवात्, अन्यथाऽप्यात्मत्वेनैव प्रियत्वकल्पनौचित्याच्चेति॥९॥

'अभिनिवेश' संज्ञक क्लेश और उसके कारण की व्याख्या करने के लिये भाष्यकार सूत्रांश का अर्थ करते हैं–**'यथा चेत्यादिना रूढ इत्यन्तेना'** (**'यथा च'** से लेकर **'रूढः'** यहां तक के भाष्य द्वारा)। **'विज्ञातेति।'** 'विज्ञातपूर्वापरान्त' पद का अर्थ योगवार्तिककार करते हैं–सम्प्रज्ञातयोग के द्वारा जिसने संसार के पूर्वापरान्त अर्थात् आद्यन्त (बन्ध-मोक्ष) का साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे 'तत्त्वज्ञ' को 'विज्ञातपूर्वापरान्त' कहते हैं। 'विज्ञातपूर्वापरान्त' में बहुव्रीहि समास है। योगवार्त्तिककार बतला रहे हैं कि 'विज्ञातपूर्वापरान्त' शब्द से तत्त्वज्ञ का ग्रहण इसलिये किया गया है, क्योंकि भाष्यकार स्वयं **'कुशलाकुशलयोः'** पद के द्वारा कुशल (तत्त्वज्ञ) तथा अकुशल (अज्ञ) दोनों में 'अभिनिवेश' को बतायेंगे। इससे प्रपञ्च के आदि और अन्त में अवशिष्यमाण वस्तु 'परब्रह्म' है। और इसके मध्य में जो वस्तु अवस्थित है, वह वाचारम्भणमात्र (वाणी का विलासमात्र) है, ऐसा हमा (वेदान्तियों की भाँति योगाचार्यों का) भी मत है, यह परिपुष्ट हो जाता है। ऐसा ही मोक्षधर्म में भी कहा गया है–**'अन्तेषु...मेतयोः'** (१७४/३४) अर्थात् 'धीर (विद्वान्) लोग अन्त में अभिरत रहते (रमण करते) हैं, वे मध्य में रमण अर्थात् आसक्त नहीं होते हैं, क्योंकि वे अन्तप्राप्ति को ही सुखरूप मानते हैं। इसके आदि एवं मध्यं की स्थिति को दुःखरूप समझते हैं।' योगवार्त्तिककार का वक्तव्य है कि उक्त श्लोक में **'सुखामाहुः'** यह वैदिक प्रयोग है। वस्तुतंस्तु **'सुखायाहुः'** यह साधु पाठ है।

शङ्का–तत्त्वज्ञानी में तो अविद्या, अस्मितादि क्लेश का अभाव रहता है। अतः तत्त्वज्ञानी में पूर्ववर्णित **'आत्माशीः'** अर्थात् आत्मविषयिणी अभिलाषा कैसे उदित हो सकती है? इसी अभिप्राय से शंका की जा रही है–**'कस्मादिति।'**

---

1. क घ च छ – **तादृश०**, ख ग – **एतादृश०**।
2. ख – **वस्तुतस्तु अतीतकालसम्बन्धत्वरूपस्यैव सिद्धत्वज्ञानमिच्छाप्रतिबन्धकं, अवश्यंभावितानिश्चयदशायामपि धनादिरागदर्शनात्। अत आत्मनि भाविकालसम्बन्धस्यानतीतत्वाद्विदुषामपि मा न भूवं भूयासमितीच्छा युक्तैव (उत्तेजकत्वात् पश्चात्)** उपलभ्यते, क ग घ च छ – **वस्तुतस्तु...युक्तैव** नोपलभ्यते।
3. ख – **मरणकाले** उपलभ्यते, क ग घ च छ – **मरणकाले** नोपलभ्यते।
4. क ख घ च छ – **यस्त्रासः**, ग – **यथा सः**।

समाधान—मरणभय में संस्कारमात्रजन्यता अर्थात् संस्कारमात्र द्वारा मरणभयोत्पत्ति बताते हुए उक्त शंका का परिहार किया जा रहा है—'**समाना हीति**।' मरणदुःखानुभव से उत्पन्न '**वासना**' ही '**आत्माशीः**' की हेतु है। किन्च यह बलवत्तर वासना चित्त के साथ ही नष्ट होती है। ज्ञान से इसका नाश नहीं होता है। यही अभिनिवेशजन्य वासना का अविद्यादिजन्य वासना से अन्तर है।

शङ्का—ज्ञानी व्यक्ति को जब आत्मा की नित्यता सुविदित है, तब उसमें '**मा न भूवं भूयासम्**' अर्थात् 'मैं न रहूँ, ऐसा न हो'—इस प्रकार की आत्मविषयिणी प्रार्थना कैसे हो सकती है, क्योंकि सिद्धज्ञान इस प्रकार की इच्छा का प्रतिबन्धक होता है?

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि आत्मनित्यत्व का निश्चयात्मक ज्ञान रहने पर भी तत्त्वज्ञ (कुशल पुरुष) में मरणभयविषयिणी प्रार्थना (इच्छा) दृष्टिगत होती है। अतः फलबल के आधार पर इस प्रकार की इच्छा के प्रति तादृश संस्कार को उत्तेजक अर्थात् कारण मानना पड़ता है। इससे अपने को आधुनिक वेदान्ती कहने वाले उन लोगों का मत भी खण्डित हो जाता है, जो आत्मा की सुखरूपता को इस अनुमान-प्रयोग द्वारा सिद्ध करते हैं—'**आत्मा सुखस्वरूपः**' अर्थात् आत्मा सुख-स्वरूप है (प्रतिज्ञावाक्य), '**निरुपधियथोक्तेच्छाविषयत्वात्**' अर्थात् निरुपाधिक यथोक्त इच्छा का विषय होने से (हेतुवाक्य) '**बाह्यसुखवत्**' अर्थात् बाह्य सुख के समान (दृष्टान्तवाक्य)। क्योंकि पूर्ववर्ती जन्मों के मरणकाल में जो मरणत्रास उत्पन्न होता है, उसी से उस काल में समुद्भूत वासना से आत्मविषयिणी निरुपाधिक इच्छा असंभव रहती है, अन्यथा आत्मा में प्रियत्व की भी कल्पना का औचित्य होने लगेगा॥९॥

बालप्रिया—

विदुषोऽपि विज्ञातपूर्वापरान्तस्य कुशलाकुशलयोः— मिश्र-भिक्षु-मतभेद—सूत्रगत 'विदुषः' पद के व्याख्यानस्वरूप भाष्य में '**विज्ञातपूर्वापरान्त**' तथा '**कुशल**' ये दो पद प्रयुक्त हुए हैं। इन दोनों पदों की वैशारदी और वार्त्तिक व्याख्या के अनुशीलन से एतत्संदर्भीय मिश्र-भिक्षु-मतभेद प्रकाश में आता है। वाचस्पति मिश्र ने 'विदुषः' पद के अर्थ को '**कुशल**' शब्द के परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार वर्णित किया है—'**न संप्रज्ञातवान्विद्वानपि तु श्रुतानुमितविवेकी इति भावः**।' इस प्रकार वाचस्पति मिश्र ने सम्प्रज्ञातवान् को 'विद्वान्' पद का वाच्य नहीं माना है, अपितु 'विद्वत्' शब्द से जिसने शब्द तथा अनुमान प्रमाण के द्वारा शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया है ऐसे 'शास्त्रज्ञ' को लिया है। विज्ञान-भिक्षु ने '**विज्ञातपूर्वापरान्त**' की व्याख्या करते हुए लिखा है—'**विज्ञातः सम्प्रज्ञातयोगेन साक्षात्कृतः प्रपञ्चस्य पूर्वापरान्तश्चाद्यन्तौ येन स तथा तस्य तत्त्वज्ञस्येत्यर्थः**।' विज्ञानभिक्षु ने स्पष्टतः मिश्रमत में असहमति व्यक्त करते हुए '**सम्प्रज्ञातवान्**' को ही '**विद्वत्**' पद का

वाच्य बतलाया है और ऐसा अर्थ करने में भाष्य को प्रमाण माना है–'**कुशलाकुशलयोरिति वक्ष्यमाणत्वादिति**।' ध्यातव्य है कि **विदुषः** पद का 'तत्त्वज्ञ' अर्थ करने में विज्ञानभिक्षु को अभिनिवेश का हेतुतावच्छेदक '**संस्कार**' को मानना पड़ा है। स्वयं भिक्षु के शब्दों में–'**संस्कारहेतुताऽवच्छेदकरूपेणैव विपर्ययव्याप्तत्वस्य विवक्षितत्वात्। संस्कारहेतुत्वं मरणत्रासातिरिक्तभयत्वेनैव फलबलादिति**।' वस्तुतस्तु '**तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी**' १/५० में सूत्रकार ने ऋतम्भरा-प्रज्ञाजन्य संस्कारों को अन्य व्युत्थानात्मक संस्कारों का प्रतिबन्धक माना है। अतः उक्त मतभेद की युक्तियुक्तता का परीक्षण योगिजन ही कर सकते हैं॥९॥

योगसूत्रम्

ते [1]प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥१०॥

वे सूक्ष्म क्लेश चित्तलय के द्वारा निवर्तनीय होते हैं॥१०॥

व्यासभाष्यम्

ते पञ्च क्लेशा दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्तं गच्छन्ति॥१०॥

ये पाँचों दग्धबीज क्लेश योगी के कृतकृत्य चित्त के (मूलकारण प्रकृति में) लीन होने पर उसी के साथ लीन हो जाते हैं॥१०॥

तत्त्ववैशारदी

तदेवं क्लेशा लक्षिताः। तेषां च हेयानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाररूपतया चतस्रोऽवस्था दर्शिताः। कस्मात्पुनः पञ्चमी क्लेशावस्था दग्धबीजभावतया सूक्ष्मा न सूत्रकारेण कथितेत्यत आह–ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः। यत्किल पुरुषप्रयत्नगोचरस्तदुपदिश्यते। न च सूक्ष्मावस्थाहानं प्रयत्नगोचरः। किं तु प्रतिप्रसवेन कार्यस्य चित्तस्यास्मितालक्षणकारणभावापत्त्या हातव्येति। व्याचष्टे–त इति। सुगमम्॥१०॥

शङ्का–इस प्रकार पीछे क्लेशों का लक्षण किया गया और हेयकोटिक क्लेशों की प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न एवं उदार नाम से चार अवस्थाएँ प्रदर्शित की गईं। किन्तु क्लेशों की दग्धबीजभावरूप '**सूक्ष्म**' संज्ञा वाली पाँचवीं अवस्था सूत्रकार द्वारा क्यों सूत्रित नहीं की गई, यह विचारणीय है?

समाधान–उक्त जिज्ञासा के निवारणार्थ सूत्रकार कहते हैं–'**त इति**।' जो क्रिया पुरुष के यत्न द्वारा संभव होती है, उसी का उपदेश किया जाता है। क्लेशों की सूक्ष्मावस्था का हान (निरोध) पुरुषप्रयत्नसाध्य नहीं है। किन्तु (विदेहमुक्ति के समय) 'प्रति-

---

1. **प्रतिगमेन** – इति पाठान्तरम्।

प्रसव' से अर्थात् कार्य चित्त का अपने अस्मितालक्षणक कारण में तद्भाव को प्राप्त होने से (चरिताधिकार चित्त का कारण में लय होने से) सूक्ष्म क्लेश भी नष्ट हो जाते हैं। भाष्यकार इसी तथ्य की व्याख्या करते हैं–'त इति।' भाष्यार्थ सुगम है॥१०॥

बालप्रिया–

'प्रतिप्रसवः'–'प्रसवाद्विरुद्धः प्रतिप्रसवः प्रलयः, चित्तस्य स्वकारणे लयः'–उत्पत्तिस्थानीय 'प्रसव' के विरुद्ध संहारस्थानीय 'प्रतिप्रसव' को प्रलय कहते हैं। सांख्ययोग के अनुसार तत्-तत् कार्यों का स्व-स्व कारण में विलीन हो जाना, शब्दान्तर में कारणापन्न हो जाना, 'लय' अथवा प्रलय कहलाता है। प्रकृत में सर्वप्रथम 'क्रियायोग' के द्वारा क्लेशों की तन्ववस्था की जाती है। तदनन्तर 'प्रसंख्यानाग्नि' द्वारा तन्वीकृत क्लेश दग्धबीजभावापन्न (उत्पत्तिसामर्थ्यशून्य) किये जाते हैं। ये दग्धबीजभावापन्न 'सूक्ष्म' क्लेश; असम्प्रज्ञातसमाधिकाल में सर्ववृत्तिलय के समय, चित्तधर्मी के धर्म होने से, चित्त के साथ लय को प्राप्त होते हैं। सर्ववृत्तिलय के लिये सम्पादित पुरुषप्रयत्न से ही सूक्ष्मीकृत क्लेश भी स्वतः लय को प्राप्त हो जाते हैं। तदर्थ तदतिरिक्त प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती है–यह बताना सूत्रकार को अभिप्रेत है॥१०॥

योगवार्त्तिकम्

क्रियायोगः क्लेशतनूकरणार्थ इत्युक्तम्, तत्र क्लेशतनूकरणस्य फलं वक्तुमाह–ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः। [1]प्रसवाद्विरुद्धः प्रतिप्रसवः प्रलयः। तथा च [2]प्रतिप्रसवेन चित्तस्य प्रलयेन सूक्ष्मा दग्धबीजभावाः क्लेशा हेया इत्यर्थः। तदेव भाष्यकार आह–ते पञ्चेति। पञ्चमध्येऽभिनिवेशो मरणातिरिक्त एव योगिनो दग्धबीजकल्पो भवतीत्युक्तमेव।[3] ननु तनूकरणं दग्धबीजभावः प्रलयश्चेत्येव क्रमः, अतो दग्धबीजभावप्रतिपादकमुत्तरसूत्रमेवादावुचितमिति चेन्न, मुख्यफलतया प्रलयस्यात्रादौ निर्वचनात् तत्र द्वाराकाङ्क्षया च दग्धबीज-

---

1. क घ च छ – प्रसवात्, ख ग – प्रसव०।
2. क ग घ च छ – प्रतिप्रसवेन चित्तस्य प्रलयेन सूक्ष्मा दग्धबीजभावाः क्लेशा हेया इत्यर्थः, ख – तनूकरणाद्वक्ष्यमाणक्रमेण सूक्ष्मा दग्धबीजभावाः क्लेशाश्चित्तस्य प्रलयेन हेया इत्यर्थः।
3. ख – अत्र सूक्ष्मशब्देनानागतक्लेशा एव ग्राह्याः। चित्तनाशात्प्रागेव, ज्ञानोत्पत्त्या चित्तनाशकाले वर्तमानावस्थक्लेशासम्भवात्। वासनारूपाणाञ्च क्लेशानां ज्ञानवासनया उन्मूलितत्वात्। अन्यथा चित्तनाशस्यैवासंभवात्। किञ्च वासनाख्यसहकार्युच्छेद एव क्लेशानां दाहः, अन्यस्य दुर्वचनत्वात्। सहकारित्वञ्च भेदेनैव इत्यतो न वासना दाहो युक्तः। अपि च अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषामिति सूत्रस्य भाष्येऽप्यनागतावस्थक्लेशस्यैव क्लेशसबीजत्वं दाहश्चोक्तो न संस्कारस्येति। ननु दग्धबीजभावानामनागतक्लेशानां सत्त्वेऽपि न क्षतिरिति चेन्न। भ्रष्टबीजान्तराणामिव क्लेशबीजानां दग्धानामपि कदाचिद्योगीश्वरसंकल्पादिना पुनरुज्जीवनेन पुनश्चित्तोत्पत्त्याद्यनर्थसंभवात् क्लेशत्वेनैव दुःखहेतुतया क्लेशसामान्याभावत्वेनैव पुरुषार्थत्वाच्चेति भावः (उक्तमेव पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ अत्र...भावः नोपलभ्यते।

भावस्य पश्चाद्वक्ष्यमाणत्वादिति। ननु [1]क्लेशतद्वासनयोर्वक्ष्यमाणप्रसंख्यानेनैव नाशोऽस्तु किमर्थं तत्र चित्तनाशोऽपेक्ष्यत इति चेन्न, ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैरित्यादिशास्त्रप्रामाण्येन ज्ञानाग्निदाहस्यैव सिद्धेर्न तु तन्नाशस्य। युक्तिश्चात्र प्रागेवोक्ता; कारणेषु कार्यशक्तेर्यावद्द्रव्यभावित्वदर्शनमिति। [2]तथा च योगाग्निना व्युत्थानसंस्कारदाहवत् ज्ञानाग्निनाऽपि क्लेशसंस्कारयोर्दाह एव भवति न तु तन्नाशः। नन्वेवमपि क्लेशसंस्कारदाहेन च संसारात्यन्तोच्छेदसंभवे संस्कारसहितचित्तनाशः किमिति मोक्षायापेक्ष्यत इति चेत्? मैवम्—योगिसंकल्पेन दृष्टबीजादिवद् दग्धबीजशक्तिकादपि कदाचित्पुनरङ्कुरोत्पत्त्यापत्तेरिति॥१०॥

'क्रियायोग' का प्रयोजन अविद्यादि क्लेशों को शिथिल करना है, ऐसा पहले बतला चुके हैं। अब क्लेशों के **'तनुकरण'** का प्रयोजन प्रतिपादित करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—**'त इति।'** जो प्रसव (उत्पत्ति) के विरुद्ध (प्रतिमुख) होता है, उसे **'प्रतिप्रसव'** कहते हैं। **'प्रतिप्रसव'** शब्द का अर्थ है—प्रलय। सूत्रार्थ है—**'प्रतिप्रसव'** अर्थात् चित्तलय के साथ दग्धबीजभाव को प्राप्त वे सूक्ष्म क्लेश 'हेय' अर्थात् निवर्तनीय होते हैं। अर्थात् चित्तलय के साथ सूक्ष्म क्लेश भी लय को प्राप्त होते हैं। क्योंकि चित्त-धर्मी के विना निराधार सूक्ष्म क्लेश-धर्म की अवस्थिति सर्वथा असम्भव है। इसी तथ्य का प्रतिपादन भाष्यकार करते हैं—**'ते पञ्चेति।'** भाष्यकार ने पञ्च क्लेशों की जो दग्धबीजकल्पता कही है, उसे स्पष्ट करते हुए योगवार्तिककार कह रहे हैं—इन पञ्च क्लेशों के मध्य में योगी का मरणातिरिक्त (मृत्युभय से भिन्न) अभिनिवेश ही दग्धबीजभाव को प्राप्त होता है, ऐसा कहा जा चुका है। सरलार्थ यह है—यदि मरणभयरूप अभिनिवेश ही योगी का दग्ध होता है, ऐसा कहें तो योगी में मरणभय के कारण विद्यमान रहने वाली **'आत्माशीः'** उत्पन्न न हो पायेगी। अतः मरणभय से अतिरिक्त अभिनिवेश ही योगी का दग्धबीजभाव को प्राप्त होता है, ऐसा समझना चाहिये।

शङ्का—(यहाँ क्लेशों के नाश के प्रसङ्ग में) क्लेशों का तनूकरणत्व, दग्धबीजभावत्व तथा प्रलयत्वरूप क्रम ही निर्द्धारित है। अतः (इस क्रम को दृष्टिपथ में रखते हुए) क्लेशों के दग्धबीजभाव के व्युत्पादक अग्रिम सूत्र **'ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः'** २/११ को पहले कहना चाहिये था?

समाधान—ऐसा बात नहीं है, क्योंकि क्लेशों का नाश (लय) ही मुख्य फल है, अतः तत्प्रतिपादक सूत्र (२/१०) को पहले कहा गया है। तत्पश्चात् सूक्ष्मीकृत क्लेशों का नाश कैसे किया जाय, ऐसी कथंभावाकांक्षा होने पर सूक्ष्मीकृत क्लेशों की दग्ध-

---

1. क ग घ च छ – **क्लेशतद्वासनयोः**, ख – **सूक्ष्मक्लेशानामपि।**
2. क ग घ च छ - **तथा च....पत्त्यापत्तेरिति** – उपलभ्यते, ख– **तथा च....पत्तेरिति** नोपलभ्यते।

बीजभावावस्था को बतलाया गया है। अतः व्यतिक्रम के विषय में उक्त संदेह समीचीन नहीं है।

शङ्का–वक्ष्यमाण प्रसंख्यानयोग के द्वारा क्लेश तथा क्लेशजन्य वासना का नाश किया जाय, तदर्थ चित्तनाश की अपेक्षा क्यों रहे? सरलार्थ यह है कि विवेक-ज्ञानाग्नि में वासनासहित क्लेश को नष्ट करने की शक्ति के विद्यमान रहते तदर्थ चित्तनाश की कल्पना क्यों की जाय?

समाधान–ऐसा नहीं है क्योंकि **'ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैः'** (मोक्ष धर्म २११/१७) अर्थात् 'ज्ञान के द्वारा दग्ध क्लेशों से'–इत्यादि शास्त्रीय प्रमाण से सिद्ध होता है कि ज्ञानाग्नि अविद्यादि क्लेशों के दाह का कारण है, न कि उनके नाश का। इस विषय में युक्ति पहले दी जा चुकी है कि कारण में निहित कार्यशक्ति यावद्द्रव्यभावी देखी जाती है। जिस प्रकार अग्नि में दाहकत्वशक्ति काष्ठ की समाप्ति तक देखी जाती है उसी प्रकार अविद्यादि की क्लेशत्व (दुःखप्रदातृत्व) शक्ति चित्तनाशपर्यन्त देखी जाती है। अतः जिस प्रकार योगाग्नि द्वारा व्युत्थानात्मक संस्कार दग्धीभूत (नष्ट) होता है, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि से भी अविद्यादि क्लेश तथा तज्जन्य वासना दोनों का दाह ही होता है, न कि नाश।

शङ्का–ठीक है, उक्त युक्ति को मानने पर क्लेश तथा तज्जन्य संस्कार के दाह के द्वारा संसार का आत्यन्तिक उच्छेद (सर्वथा नाश) हो सकता है, तो भी मोक्ष के लिये संस्कारसहित चित्तनाश की आवश्यकता क्यों रहे?

समाधान–ऐसा नहीं है, क्योंकि योगिसंकल्प के द्वारा दृष्टबीज की भाँति दग्धबीज-शक्ति से भी कदाचित् पुनः अंकुरोत्पत्ति की आपत्ति आ सकती है, किन्तु संस्कार-सहित चित्त का नाश मानने पर क्लेशों की क्लेशत्वशक्ति के पुनः आविर्भूत होने का अवसर ही नहीं रह जाता है। अतः संस्कारसहित चित्तनाश का सिद्धान्त सुस्थिर होता है॥१०॥

संक्षिप्त वैयासिकी अवतरणिका के साथ अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है–

व्यासभाष्यम्

स्थितानां तु बीजभावोपगतानाम्–

(दग्धबीजभावरूप से नहीं, अपितु) बीजभावापन्नरूप से अवस्थित–

योगसूत्रम्

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः॥११॥

क्लेशों की वृत्तियाँ ध्यान से अर्थात् प्रसंख्यानाग्नि से दग्धबीज (नष्ट) करने योग्य होती हैं॥११॥

व्यासभाष्यम्

क्लेशानां या वृत्तयः स्थूलास्ताः क्रियायोगेन तनूकृताः सत्यः प्रसंख्यानेन ध्यानेन[1] हातव्या यावत्सूक्ष्मीकृता यावद्दग्धबीजकल्पा इति। यथा च[2] वस्त्राणां स्थूलो मलः पूर्वं निर्धूयते पश्चात्सूक्ष्मो यत्नेनोपायेन [3]वापनीयते तथा स्वल्प-प्रतिपक्षाः स्थूला वृत्तयः क्लेशानाम्, सूक्ष्मास्तु महाप्रतिपक्षा इति॥११॥

क्लेशों की जो 'स्थूल' वृत्तियाँ हैं, वे क्रियायोग के द्वारा तन्वीकृत (तन्ववस्थाक) होकर प्रसंख्यानरूप ध्यान के द्वारा निरुद्ध करने के योग्य होती हैं, जब तक वे (अविद्यादि वृत्तियाँ) सूक्ष्म न हो जायें अर्थात् दग्धबीजसदृश न हो जायें। जैसे वस्त्रों का स्थूल (धूलि आदि) मल पहले (झाड़कर) दूर किया जाता है और बाद में सूक्ष्म मल प्रक्षालनादि उपाय से प्रयत्नपूर्वक दूर किया जाता है। वैसे ही क्लेशों की स्थूल वृत्तियाँ स्वल्प प्रतीकार वाली और सूक्ष्म वृत्तियाँ महान् प्रतीकार वाली होती हैं॥११॥

तत्त्ववैशारदी

अथ क्रियायोगतनूकृतानां क्लेशानां किंविषयात्पुरुषप्रयत्नाद्धानमित्यत आह–स्थितानां तु बीजभावोपगतानामिति। [4]अनेन बन्ध्येभ्यो व्यवच्छिनत्ति। सूत्रं पठति–ध्यानहेयास्त-द्वृत्तयः। व्याचष्टे–क्लेशानामिति। क्रियायोगतनूकृता अपि हि प्रतिप्रसवहेतुभावेन कार्यतः स्वरूपतश्च शक्या उच्छेत्तुमिति स्थूला उक्ताः। पुरुषप्रयत्नस्य प्रसंख्यान[5]गोचरस्यावधिमाह–यावदिति। सूक्ष्मीकृता इति विवृणोति–दग्धेति।

'**क्रियायोग**' द्वारा '**तनूकृत**' क्लेश पुरुष के किस प्रकार के प्रयत्न से निवर्तनीय अर्थात् निरुद्ध होने योग्य होते हैं? इसे ध्यान में रखते हुए भाष्यकार ने अवतर-णिका में कहा है–'**स्थितानां तु बीजभावोपगतानामिति**।' इससे '**अदग्धबीजभाव**' क्लेशों को 'दग्धबीजभाव' क्लेशों से पृथक् किया गया है। अर्थात् जिनका कार्यजननसामर्थ्य पूर्ण रूप से बन्ध्य=दग्ध हो गया है, वे क्लेश निरोद्धव्य नहीं होते हैं अपितु क्लेशदायकत्वशक्तिविशिष्ट क्लेश ही ध्यानयोग द्वारा हातव्य होते हैं। सूत्र पढ़ा जा रहा है–'**ध्यानेति**।' भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं–'**क्लेशानामिति**।' क्रियायोग द्वारा

---

1. क ख ग घ च झ त द ध न प फ ब भ म य र – ध्यानेन उपलभ्यते, छ थ – ध्यानेन नोपलभ्यते।
2. ग घ प फ र – च उपलभ्यते, क ख च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य – च नोपलभ्यते।
3. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न म – वा, घ प फ ब भ य र – च।
4. थ द ध न – अनेन उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त – अनेन नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध – गोचरस्य, न – अगोचरस्य।

क्लेशों की तनुकृत वृत्तियाँ चित्त के अपने अस्मितालक्षणक कारण में प्रतिप्रसव (लय) को प्राप्त होने के प्रसंख्यानज्ञानरूप कारण के द्वारा **कार्यतः**=क्लेश प्रदान करने के कार्य से तथा **'स्वरूपतः'**=बीजभावरूप से पूर्णतः नाश होने योग्य होती हैं– अतः भाष्यकार ने **'स्थूल'** पद का प्रयोग किया है। अब भाष्यकार विवेकज्ञानविषयक पुरुषप्रयत्न की अवधि को बताते हैं–**'यावदिति'** क्लेशों की तनुकृत ये वृत्तियाँ विवेकज्ञानाग्नि द्वारा तब तक निरोध करने योग्य होती हैं, जब तक वे सूक्ष्मता को न प्राप्त हो जायें। क्लेशों की सूक्ष्मता को भाष्यकार उद्घाटित करते हैं–**'दग्धेति'** क्लेशों की **'दग्धदीजापन्न'** स्थिति को **'सूक्ष्मावस्था'** कहते हैं। भाव यह है कि जब तक अविद्यादि क्लिष्ट वृत्तियाँ तनुता को प्राप्त न हो जाएँ, तब तक तपः, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान रूप **'क्रियायोग'** करते रहना चाहिये। और जब तक वे दग्धबीज के तुल्य न होवें, तब तक **'ध्यान'** करते रहना चाहिये। आगे चलकर असम्प्रज्ञात योग की प्राप्ति होने पर क्लेश का समूल नाश हो जाता है।

तत्त्ववैशारदी

अत्रैव दृष्टान्तमाह–यथा [1]च वस्त्राणामिति। यत्नेन तत्[2] क्षालनादिना। उपायेन क्षारसंयोगादिना। स्थूलसूक्ष्मतामात्रतया दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यं न पुनः प्रयत्नापनेयतया, प्रतिप्रसवहेयेषु तदसंभवात्। स्वल्पः प्रतिपक्ष उच्छेदहेतुर्यासां तास्तथोक्ताः। महान्प्रतिपक्ष उच्छेदहेतुर्यासां तास्तथोक्ताः। प्रतिप्रसवस्य चाधस्तात् [3]क्लेशोच्छेदसाधकं स्यात् प्रसंख्यानमित्यवरतया स्वल्पत्वमुक्तम्॥११॥

भाष्यकार पूर्वोक्त साधनक्रम में दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं–**'यथा वस्त्राणामिति।'** जिस प्रकार वस्त्रों के स्थूल मल को पानी से दूर किया जाता है। तत्पश्चात् वस्त्रगत सूक्ष्म मल को क्षारयुक्त साबुन आदि से प्रक्षालित किया जाता है। दृष्टान्त और दार्ष्टान्त के साम्य तथा वैषम्यबिन्दु को स्पष्ट करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं– यहाँ दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वस्त्रनिष्ठ मलिनता तथा चित्तनिष्ठ क्लेशात्मक मलिनता की स्थूल और सूक्ष्मावस्था के साम्य को ही बतलाना अभिप्रेत है, न कि प्रयत्न द्वारा मलादि के दूरीकरण का साम्य बतलाना अभिप्रेत है। अर्थात् यहाँ मलादि के दूरीकरण की साधनगत समानता नहीं बताई गई है। क्योंकि प्रतिप्रसव अर्थात् चित्तलय के समय, क्लेशों को अपने धर्मीभूत चित्त में लीन करने के लिये, योगी को अतिरिक्त प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। जब कि वस्त्रगत सूक्ष्म मलिनता

---

1. थ द ध – च उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – च नोपलभ्यते।
2. थ द ध – तत् उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – तत् नोपलभ्यते।
3. थ द ध न – क्लेशोच्छेदसाधकं स्यात् उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त – क्लेश....स्यात् नोपलभ्यते।

को दूर करने के लिये अतिरिक्त प्रयत्न भी करना पड़ता है। भाष्य में प्रयुक्त **'स्वल्पप्रतिपक्षाः'** तथा **'महाप्रतिपक्षाः'** इन समस्त पदों का विग्रह करते हुए तत्त्व-वैशारदीकार कहते हैं—**'स्वल्पः प्रतिपक्ष उच्छेदहेतुर्यासां ताः स्वल्पप्रतिपक्षाः'** अर्थात् क्लेशों की उदाररूप स्थूल वृत्तियों के उच्छेद=नाश का हेतुभूत यत्न स्वल्प होता है। अतः उदारावस्थाक स्थूल वृत्तियाँ **'स्वल्पप्रतिपक्ष'** वाली कही जाती हैं। शब्दान्तर में लघुतर विरोधी साधन से दूर होने वाले स्थूल क्लेश 'स्वल्पप्रतिपक्ष' कहलाते हैं। **'महान् प्रतिपक्ष उच्छेदहेतुर्यासां ताः महाप्रतिपक्षाः'** अर्थात् जिन सूक्ष्मरूप क्लिष्ट वृत्तियों के नाश का हेतु महान् (गुरुतर) होता है, अर्थात् जो महान् प्रतिपक्षरूप उपाय (असम्प्रज्ञात समाधि) से दूर होने वाली हैं, वे सूक्ष्म क्लिष्ट वृत्तियाँ **'महाप्रतिपक्ष'** कही जाती हैं। क्लेशों के उच्छेद का साधनभूत विवेकज्ञान, चित्त के प्रतिप्रसव अर्थात् चित्तलय के साधन असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति से, पूर्व होता है। अतः श्रेष्ठ और दुःसाध्य असम्प्रज्ञात की अपेक्षा इसे कनिष्ठ तथा अल्प प्रयत्नसाध्य कहा गया है॥११॥

बालप्रिया—

'स्वल्पत्वमुक्तम्'—**'प्रतिप्रसव'** से पूर्वभावी होने के कारण **'प्रसंख्यान'** को स्वल्प (प्रयत्नसाध्य) कहा है। स्पष्टीकृत क्रम इस प्रकार है—जिस प्रकार झाड़कर वस्त्रगत स्थूल मल को, प्रक्षालन द्वारा सूक्ष्म मल को तथा क्षारसंयोग से सूक्ष्मतर मल को नष्ट किया जाता है। उसी प्रकार प्रकृत में क्रियायोग से उदारावस्थापन्न स्थूल क्लेश को 'तनु', प्रसंख्यान द्वारा तनूकृत क्लेश को 'दग्धबीजभावकल्प' तथा प्रतिप्रसव से दग्धबीजभावकल्प क्लेश को सर्वथा एवं सर्वदा के लिये 'प्रतिलीन' किया जाता है॥११॥

योगवार्त्तिकम्

तनूकरणस्य द्वारं दग्धबीजभावं प्रतिपादयन् सूत्रं पूरयित्वा पठति—स्थितानामिति। तद्वृत्तय इति। समासान्तर्गततच्छब्दस्यार्थैः क्लेशैः सहान्वयः। स्थितानामित्यस्य विवरणं बीजभावोपगतानामिति। एतच्च सूत्रेण सह व्याख्यास्यामः। ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः। क्लेशानामिति। स्थितानां बीजभावोपगतानां क्लेशानां या वृत्तयः स्थूला अभिव्यक्तावस्थाः ताः प्रथमं क्रियायोगेनाल्पीकृताः सत्यः प्रसंख्यानेन समाधिजप्रज्ञारूपेण ध्यानेन ध्यानकार्येण हातव्याः प्रतिबद्धोत्पत्तिकाः कर्त्तव्याः। यावत्सूक्ष्मीकृताः अस्यैव विवरणं यावद्दग्धबीजकल्पा भवन्तीत्यर्थः। [1]तच्च प्रतिप्रसवहेया इति पूर्वसूत्रेणैवोक्तमिति।

(सूक्ष्मीकृत क्लेशों का नाश क्लेशों के दग्धबीजभावरूप अवान्तरव्यापार के

1. क ख ग च छ - तत्, घ – ततः।

द्वारा होता है, अतः) क्लेशों के तनूकरण के माध्यम से होने वाले दग्धबीजभाव के प्रतिपादक सूत्र को पूरा करते हुए भाष्यकार इस प्रकार पढ़ते हैं—'**स्थितानामिति। तद्वृत्तय इति।**' योगवार्त्तिककार बतला रहे हैं कि '**स्थितानां तु बीजभावोपगतानाम्**' इस पूरित अंश का अन्वय सूत्र के '**तद्वृत्तयः**' इस समस्त पद के '**तत्**' शब्द के अर्थ (वाच्य) '**क्लेश**' के साथ करना है अर्थात् इस पूरित अंश का '**ध्यानहेयाः**' के साथ अन्वय नहीं करना है, यह बतलाना योगवार्त्तिककार का लक्ष्य है। '**स्थितानाम्**' का विवरणस्वरूप पद है—'**बीजभावोपगतानाम्।**' इस पूरित अंश की सूत्र के साथ आगे व्याख्या की जायेगी। सूत्र है—'**ध्यानेति।**' योगवार्त्तिककार सूत्र के भाष्य को उठाते हैं—'**क्लेशानामिति।**' '**स्थित**' अर्थात् '**बीजभावापन्न**' क्लेशों की जो वृत्तियाँ '**स्थूल**' अर्थात् अभिव्यक्त अवस्था वाली होती हैं, वे सर्वप्रथम '**क्रियायोग**' के द्वारा शिथिलीकृत की जाती हुई '**प्रसंख्यान**' अर्थात् समाधि से उत्पन्न प्रज्ञारूप '**ध्यान**' अर्थात् ध्यानात्मक व्यापार के द्वारा '**हातव्य**' अर्थात् प्रतिबद्धोत्पत्तिक (बन्ध्य) की जानी चाहियें। कब तक उन्हें प्रतिबद्धोत्पत्तिक किया जाता है, इसे बताया जा रहा है—'**यावत्सूक्ष्मीकृताः।**' इसी का ही विवरण है—'**यावद्दग्धबीजकल्पाः।**' अर्थात् तनूकृत क्लेश प्रसंख्यानध्यान के द्वारा तब तक निरोद्धव्य हैं, जब तक वे '**सूक्ष्म**' अर्थात् दग्धबीजभावकल्प न कर दिये जायें। तत्पश्चात् '**प्रतिप्रसवहेयाः**' २/१० पूर्ववर्ती सूत्र द्वारा चित्तनाश के साथ इनका नाश (आत्यन्तिक लयता को प्राप्त) होना बताया ही गया है।

सम्प्रति, लौकिक दृष्टान्त के द्वारा क्लेशों के उपरिनिर्दिष्ट तनूकरणत्व, दग्धबीजभावत्व तथा प्रलयत्व रूप तीनों क्रमिक सोपानों का विशदीकरण किया जा रहा है—

योगवार्त्तिकम्

तनूकरणादिषु त्रिषु सुकरत्व[1]दुष्करत्वरूपं विशेषं दृष्टान्तेनाह—यथा वस्त्राणामिति। निर्धूयते वाताहत्या निराक्रियते, यत्नेन पाषाणे[2] प्रहारादिना, उपायेन क्षारसंयोगादिना। अत्रेदं दृष्टान्ते साधनत्रयं दार्ष्टान्तिकेऽपि साधनत्रित्वाभिप्रायेणोक्तम्। स्वल्पेति। स्वल्पः क्रियायोगः प्रतिपक्षस्तनुताहेतुर्यासां स्थूलानामतनूकृतानां तास्तथा। महानतिदुष्करः प्रसंख्यानाग्निरसंप्रज्ञातयोगसाध्यचित्तनाशश्च प्रतिपक्षौ दाहकनाशकौ यासामिति महाप्रतिपक्षा इत्यर्थः। अनेन सूत्रेण जीवन्मुक्तानां वृत्तिरूपोऽप्यविद्यालेशस्तिष्ठतीत्यभ्युपगम आधुनिकानां वेदान्तिब्रुवाणामपसिद्धान्त इति निर्णयम्, तथा सति स्थूलानामपि प्रतिप्रसव[3]हेयत्वापत्तेरिति॥११॥

---

1. क च छ – दुष्करत्व०, ख ग घ – दुःखकरत्व०।
2. क च छ – पाषाणे, ख ग घ – पाषाण०।
3. क ख ग – मात्र० (प्रतिप्रसव० पश्चात्) उपलभ्यते, घ च छ – मात्र० नोपलभ्यते।

भाष्यकार दृष्टान्त द्वारा क्लेशों के तनूकरणादि तीनों व्यापारों में सरलता तथा कठिनता रूप अन्तर को स्पष्ट करते हैं—**'यथा वस्त्राणामिति।'** जिस प्रकार वस्त्रगत मालिन्य को झाड़ने की क्रिया, प्रस्तरखण्ड पर प्रयत्नपूर्वक ताडन करने (पटकने) की क्रिया तथा क्षारयुक्त (साबुन, रेतादि) पदार्थों के प्रयोग की क्रिया द्वारा दूर किया जाता है। जिस प्रकार इस दृष्टान्त में वस्त्रसम्बन्धी मलापसारण के तीन उपाय बताये गये हैं, उसी प्रकार दार्ष्टान्त में भी क्लेशनाश के साधनत्रय को साभिप्राय वर्णित किया गया है। योगवार्त्तिककार भाष्य को उठाते हैं—**'स्वल्पेति।'** **'स्थूल'** अर्थात् अतनूकृत क्लेशों की तनुता का हेतुभूत **'क्रियायोग'** क्लेशों का स्वल्पप्रयत्न-साध्य 'प्रतिपक्षी' है। अतः भाष्य में उसे **'स्वल्पप्रतिपक्ष'** कहा गया है। तनूकृत क्लेशों के प्रतिपक्षीभूत दाहक और नाशकरूप प्रसंख्यानाग्नि तथा असम्प्रज्ञातयोगसाध्य चित्तनाश अत्यन्त कष्टसाध्य उपाय हैं। वे भाष्य में **'महाप्रतिपक्ष'** पदवाच्य हैं। सरलार्थ यह है कि क्रियायोगरूप प्रथम उपाय द्वारा तनूकृत क्लेशों का दाहक प्रसंख्यानध्यान द्वितीय उपाय है तथा दग्धीकृत क्लेशों का नाशक असम्प्रज्ञातयोग चित्तनाश द्वारा क्लेशनाश का तृतीय उपाय है। इससे अपने को आधुनिक वेदान्ती बोलने वालों का यह मतवाद भी अपसिद्धान्त रूप से निर्णीत (खण्डित) हो जाता है कि 'जीवन्मुक्तों में भी वृत्तिरूपात्मक अविद्या लेशमात्र रहती है।' अन्यथा (अप-सिद्धान्त को सिद्धान्त मानने पर) क्लेशों की स्थूलावस्था में भी प्रतिप्रसवहेयत्व की आपत्ति आयेगी। अर्थात् स्थूल क्लेश सूक्ष्मता और दग्धता को प्राप्त हुए विना भी नष्ट होने लगेंगे। जब कि यह संभव नहीं है॥११॥

बालप्रिया—

'स्थितानां तु बीजभावोपगतानाम्'—मिश्र-भिक्षु-मतभेद—वाचस्पति मिश्र ने इस पंक्ति को प्रकृत सूत्र की अवतरणिका के रूप से ही व्याख्यात किया है। उसे सूत्र के साथ संयोजित करने का विचार प्रकट नहीं किया गया है। विज्ञानभिक्षु ने उक्त शब्दावली को सूत्र के पूरक के रूप में अनुबन्धित कर उसे सूत्रगत **'तद्वृत्तयः'** के **'तत्'** के साथ अन्वित करने का आग्रह किया है। स्वयं विज्ञानभिक्षु के शब्दों में—सूत्रं पूरयित्वा **पठति...समासान्तर्गततच्छब्दस्यार्थैः क्लेशैः सहान्वय'॥११॥**

अब सूत्रकार 'कर्मसिद्धान्त' की चर्चा प्रारम्भ करते हैं—

योगसूत्रम्

क्लेश[1]मूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः॥१२॥

---

1. मूल० — इति पाठान्तरम्।

क्लेशमूलक कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय तथा अदृष्टजन्मवेदनीय होता है॥१२॥

व्यासभाष्यम्

तत्र पुण्या[1]पुण्यकर्माशयः [2]कामलोभमोहक्रोधप्रभवः[3] स दृष्टजन्मवेदनीयश्चादृष्टजन्मवेदनीयश्च। तत्र तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपःसमाधिभिर्निर्वर्तित ईश्वरदेवतामहर्षिमहानुभावानामाराधनाद्वा यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति। यथा[4] तीव्रक्लेशेन भीतव्याधितकृपणेषु विश्वासोपगतेषु वा महानुभावेषु वा तपस्विषु कृतः पुनः पुनरपकारः स चापि पापकर्माशयः सद्य एव परिपच्यते, यथा नन्दीश्वरः कुमारो मनुष्यपरिणामं हित्वा देवत्वेन परिणतः तथा नहुषोऽ[5]पि, देवानामिन्द्रः स्वकं परिणामं हित्वा तिर्यक्त्वेन परिणत इति। तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः। क्षीणक्लेशानामपि नास्त्यदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशय इति॥१२॥

धर्म तथा अधर्मरूप कर्माशय काम, लोभ, मोह तथा क्रोधजन्य होता है। कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय तथा अदृष्टजन्मवेदनीय होता है। उन दोनों प्रकार के कर्माशयों में अत्युत्कट मनोबल (तीव्रसंवेग) से अनुप्राणित मन्त्र, तप और समाधि द्वारा सम्पादित अथवा ईश्वर, देवता तथा महर्षि-महापुरुषों की आराधना द्वारा निष्पादित जो 'पुण्यकर्माशय' है, वह तत्काल (सुखरूप) फल प्रदान करता है। इसी प्रकार उत्कट क्लेश से अनुप्राणित भयभीत, रोगग्रस्त, दीन-हीन व्यक्तियों के प्रति अथवा विश्वासप्राप्त व्यक्तियों के प्रति अथवा तपश्चर्यासम्पन्न विशिष्ट पुरुषों के प्रति बारम्बार किये गये अपकार से अर्जित जो 'पापकर्माशय' है, वह भी अविलम्ब (दुःखरूप) फल प्रदान करता है। जैसे (पुराणप्रसिद्ध) नन्दीश्वर कुमार मनुष्य शरीर को छोड़कर देवरूप में परिणत हो गये—(यह दृष्टजन्मवेदनीय पुण्यकर्माशय का उदाहरण है)। देवताओं के इन्द्रस्वरूप नहुष अपने देवशरीर को छोड़कर तिर्यक्परिणाम

---

1. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र – अपुण्य० उपलभ्यते, झ त – अपुण्य० नोपलभ्यते।
2. क ग घ झ त प फ ब भ य र – काम० उपलभ्यते, ख च छ ज थ द ध न म – काम० नोपलभ्यते।
3. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न भ म – प्रभवः, घ प फ य र – प्रसवः, ब – भवः।
4. क ग च छ ज थ न म – यथा, ख घ झ त द ध प फ ब भ य र – तथा।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म र – अपि उपलभ्यते, य – अपि नोपलभ्यते।

(तिर्यग्योनि) को प्राप्त हुए–(यह दृष्टजन्मवेदनीय पाप-कर्माशय का उदाहरण है)। इनमें से नारकीयों का दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नहीं होता है और क्षीणक्लेश योगियों का अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नहीं होता है॥१२॥

तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्–जात्यायुर्भोगहेतवः [1]पुरुषं क्लिश्नन्तः क्लेशाः। कर्माशयश्च तथा, न त्वविद्यादयः। तत्कथमविद्यादयः क्लेशा इत्यत आह–क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः। क्लेशा[2] मूलं यस्योत्पादे च कार्यकरणे च स तथोक्तः। एतदुक्तं भवति–अविद्यादिमूलो हि[3] कर्माशयो जात्यायुर्भोगहेतुरित्यविद्यादयोऽपि तद्धेतवोऽतः क्लेशा इति।

शङ्का–पुरुष को क्लेश प्रदान करने वाले जाति, आयु एवं भोग के कारणों को '**क्लेश**' कहा जाय और ऐसा '**कर्माशय**' होता है अविद्यादि '**क्लेश**' पदवाच्य नहीं हैं। (अर्थात् धर्माधर्मरूप '**कर्माशय**' पुरुष को जाति, आयु तथा भोगरूप क्लेश प्रदान करता है, अतः '**कर्माशय**' को '**क्लेश**' पदवाच्य मानना न्यायसंगत है। अविद्यादि तो सुख-दुःख के साक्षात् कारण नहीं हैं)। अतः किस कारण से अविद्यादि को '**क्लेश**' कहा जा रहा है?

समाधान–उक्त शंका के समाधानार्थ ही सूत्र उपस्थित हो रहा है–'**क्लेशेति**' तत्त्ववैशारदीकार सूत्रगत '**क्लेशमूलः**' का विग्रह करते हैं–'**क्लेशा मूलं यस्य स इति क्लेशमूलः** अर्थात् क्लेश है मूल में जिसके उसे '**क्लेशमूल**' कहते हैं। ऐसा क्लेशमूलक '**कर्माशय**' होता है। क्लेश की कर्माशयमूलकता दो प्रकार से है–पहली कर्माशय को उत्पन्न करने में तथा दूसरी कर्माशय द्वारा सुख-दुःखरूप कार्य की अनुभूति कराने में। अभिप्राय यह है कि अविद्यादिमूलक कर्माशय जाति, आयु तथा भोग का कारण है। अतः अविद्यादि भी (परम्परया) जात्यादि के कारण हैं। इसलिये अविद्यादि को '**क्लेश**' कहा गया है।

तत्त्ववैशारदी

व्याचष्टे–तत्रेति। आशेरते सांसारिकाः पुरुषा अस्मिन्नित्याशयः। कर्मणामाशयो धर्माधर्मौ। [4]लोभात् कामात्काम्यकर्मप्रवृत्तौ स्वर्गादिहेतुर्धर्मो भवति। एवं लोभात्परद्रव्यापहारादावधर्मः। [5]एवं मोहादधर्मे हिंसादौ धर्मबुद्धेः प्रवर्तमानस्याधर्म एव। न त्वस्ति मोहजो

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – पुरुषं उपलभ्यते, थ द ध – पुरुषं नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च ज झ त न – क्लेशाः, थ द ध – क्लेशः।
3. क घ च छ ज झ त न – हि उपलभ्यते, ख ग थ द ध – हि नोपलभ्यते।
4. घ च ज झ त – लोभात् उपलभ्यते, क ख ग छ थ द ध न – लोभात् नोपलभ्यते।
5. थ द ध – एवं उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – एवं नोपलभ्यते।

धर्मः। अस्ति [1]क्रोधजो धर्मः, तद्यथा ध्रुवस्य जनकावमानजन्मनः क्रोधात्तज्जिगीषया[2]हितत्वेन कर्माशयेन पुण्येनान्तरिक्षलोकवासिनामुपरि स्थानम्। अधर्मस्तु क्रोधजो ब्रह्मवधादिजन्मा प्रसिद्ध एव भूतानाम्।

तत्त्ववैशारदीकार भाष्य को उठाते हैं–'तत्रेति।' **'कर्माशय'** इस समस्त पद में **'आशय'** का दर्शनसम्मत विग्रह है–**आशेरते सांसारिकाः पुरुषा अस्मिन् इति आशयः'**– अर्थात् जिसमें सांसारिक पुरुष शयन करते हैं, उसे **'आशय'** कहते हैं। **'कर्मणामाशय इति कर्माशयः** 'अर्थात् जो कर्म का आशय है, उसे **'कर्माशय'** कहते हैं। कर्माशय **'धर्माधर्म'** रूप है। स्पष्ट शब्दों में शुभाशुभ कर्मजन्य धर्माधर्मरूप 'संस्कार' (वासना) को **'कर्माशय'** कहते हैं। स्वर्गादि की कामना से ज्योतिष्टोमादि काम्य कर्म में प्रवृत्त होने पर स्वर्गादि का हेतुभूत धर्म (अदृष्ट) उदित होता है। इसी प्रकार लोभ के वशीभूत होकर दूसरे की सम्पत्ति का अपहरण आदि करने पर 'अधर्म' होता है। किन्च मोह के वशीभूत होकर अधर्मात्मक हिंसादि क्रिया में धर्मभावना से प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति को 'अधर्म' ही होता है। क्योंकि मोह से धर्म की उत्पत्ति नहीं होती है। अर्थात् मोहरूप क्लेश अधर्म का ही हेतु है, न कि धर्म का। क्रोध से (कहीं-कहीं) धर्म की उत्पत्ति होती है। जैसे पिता द्वारा अपमानित क्रुद्ध ध्रुव ने अपने पिता को जीतने की इच्छा से (तपस्या द्वारा) सम्पादित पुण्य कर्माशय के द्वारा अन्तरिक्ष लोकवासियों की अपेक्षा उच्च स्थान को प्राप्त किया। क्रोध के वशीभूत होकर किये गये ब्राह्मणवध आदि से उत्पन्न अधर्म तो जगत् में प्रसिद्ध ही है।

इससे यह ध्वनित होता है कि **'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'** से विहित ज्योतिष्टोमादि काम्य कर्मों को मुमुक्षु निष्कामभाव से सम्पादित कर सकते हैं। ऐसा करने में उसे कोई क्षति नहीं है।

बालप्रिया–

'काम्यकर्मप्रवृत्तौ क्रोधजो धर्मः'–क्रोध के द्वारा उत्पन्न धर्म से सामान्य मर्त्य (मरणशील मनुष्य) का ध्रुव तारे के रूप में उच्च पद को प्राप्त करने का पौराणिक वर्णन इस प्रकार है– उत्तानपाद के सुरुचि और सुनीति नाम की दो पत्नियाँ थीं। सुरुचि के पुत्र का नाम उत्तम था तथा ध्रुव का जन्म सुनीति से हुआ था। एक दिन ध्रुव ने अपने बड़े भाई उत्तम की भाँति पिता की गोद में बैठना चाहा, परन्तु ध्रुव को सुरुचि ने दुत्कार दिया। ध्रुव सुबकता हुआ अपनी माता सुनीति के पास गया। उसने बच्चे को सान्त्वना दी और समझाया कि सम्पत्ति और

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध – क्रोधजो धर्मः तद् यथा ध्रुवस्य जनकावमानजन्मनः उपलभ्यते, न – क्रोधजो....जन्मनः नोपलभ्यते।
2. क ग घ च छ ज झ त – चित्तेन, ख थ द ध – आहितेन, न – आहितत्वेन।

सम्मान कठोर परिश्रम के विना नहीं मिलते हैं। इन वचनों को सुनकर ध्रुव ने अपने पिता को घर को छोड़कर जंगल की राह ली। यद्यपि वह अभी बच्चा ही था, तो भी उसने घोर तपस्या की। जिसके फलस्वरूप विष्णु ने उसे सर्वोच्च 'ध्रुव' तारे का पद प्रदान किया।

तत्त्ववैशारदी

तस्य द्वैविध्यमाह—स दृष्टजन्मेति। दृष्टजन्मवेदनीयमाह—तीव्रसंवेगेनेति। यथासंख्यं[1] दृष्टान्तावाह—यथा नन्दीश्वर इति। तत्र नारकाणामिति। येन कर्माशयेन कुम्भीपाकादयो नरकभेदाः प्राप्यन्ते तत्कारिणो नारकाः। तेषां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः। न हि मनुष्यशरीरेण तत्परिणामभेदेन वा सा तादृशी [2]वत्सरसहस्रादिनिरन्तरोपभोग्या वेदना संभवतीति। शेषं सुगमम्॥१२॥

भाष्यकार कर्माशय की द्विविधता को बताते हैं—'**स दृष्टजन्मेति**।' कर्माशय दृष्ट-जन्मवेदनीय तथा अदृष्टजन्मवेदनीय भेद से दो प्रकार का है। भाष्यकार दृष्टजन्म-वेदनीय कर्माशय (के धर्माधर्म दोनों रूपों) को बताते हैं—'**तीव्रसंवेगेनेति**।' यहाँ '**तीव्रसंवेगेन**' वाक्य द्वारा सद्यः पच्यमान पुण्यकर्माशय तथा '**तीव्रक्लेशेन**' वाक्य द्वारा सद्यः पच्यमान अपुण्यकर्माशय को बतलाया गया है। भाष्यकार पुण्य तथा पापरूप कर्माशय के उदाहरणों को क्रमशः प्रस्तुत करते है—'**यथा नन्दीश्वर इति**।' वर्तमानजन्म में सद्यः विपाकयोग्य पुण्य कर्माशय से सम्बन्धित दृष्टान्त है—नन्दीश्वरोपाख्यान तथा अपुण्यकर्माशय से सम्बन्धित दृष्टान्त है—नहुषोपाख्यान। नरकवासी तथा क्षीणक्लेश योगियों के कर्माशय में 'दृष्ट' तथा 'अदृष्ट' की दृष्टि से विद्यमान अन्तर को भी भाष्यकार स्पष्ट करते हैं—'**तत्र नारकाणामिति**।' जिस (पाप) कर्माशय से कुम्भीपाकादि नरक प्राप्त होते हैं, उन पाप कर्मों को करने वाले मनुष्य 'नारक' कहे जाते हैं। ऐसे नरकवासी प्राणियों का दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नहीं होता है। क्योंकि सहस्रों वर्षपर्यन्त उपभोग-योग्य नारकीय वेदना मनुष्य शरीर से अथवा मनुष्य शरीर के परिणामभेद से भोग के योग्य नहीं होती है। (अर्थात् अधिक से अधिक सौ वर्ष की आयु वाला मनुष्य स्वकृत पाप कर्मों द्वारा अर्जित नारकीय कर्माशय; जो सहस्रों वर्षपर्यन्त उपभोग किया जाने वाला होता है, को वर्तमान देह से भोगने के लिये समर्थ नहीं होता है। अतः नारकीयों के दृष्टजन्म- वेदनीय कर्माशय का निषेध किया गया है। नारकीयों का अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय ही होता है, जिसमें नारकीय कर्मभोगोचित योनि प्राप्त होती है)। अवशिष्ट भाष्य सुगम है। (अवशिष्ट भाष्य में क्षीणक्लेश योगी के अदृष्टजन्म- वेदनीयकर्माशय का

---

1. क ग च छ ज झ त न – **यथासंख्यं**, ख थ द ध – **यथासंख्येन**।
2. क ख ग – **संवत्सर०**, घ च छ ज झ त थ द ध न – **वत्सर०**।

निषेध किया गया है। तात्पर्य यह है कि क्षीणक्लेश योगी का वर्तमान देह द्वारा विपाकोपयोगी पुण्यात्मक अथवा अपुण्यात्मक कर्माशय सञ्चित ही नहीं होता है, जिसे भोगने के लिये क्षीणक्लेश योगी को कर्माशयानुरूप अग्रिम जन्म धारण करना पड़े। विवेकख्यातिप्राप्त क्षीणक्लेश योगी की वर्तमान देहयात्रा निखिल प्रारब्ध कर्माशयों का भोग करने के पश्चात् सर्वदा के लिये समाप्त हो जाती है।

बालप्रिया—

'नरकभेदाः'—याज्ञवल्क्यस्मृति में नरक के भेदों का विस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है।

'नन्दीश्वर इति'—नन्दीश्वरकुमार तथा राजा नहुष का पौराणिक उपाख्यान 'योगसूत्रमणिप्रभा' की स्वकृत हिन्दी व्याख्या में दिया जा चुका है। अतः वहीं द्रष्टव्य है। इतना और समझ लेना है कि भाष्यकार ने अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय का उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया है क्योंकि उसके हम और आप प्रसिद्ध भुक्तभोगी हैं। केवल दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय के पुण्य और अपुण्य दोनों रूपों का सोदाहरण उल्लेख किया है॥१२॥

योगवार्त्तिकम्

इदानीं क्लेशाः किमर्थं हेया इत्याकाङ्क्षायां क्लेशानां परम्परया[1] दुःखनिदानत्वं सूत्रत्रयेण वक्तव्यम्। तत्रादौ क्लेशानां दुःखोत्पादने साक्षाद् द्वारमाह—क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः। दृष्टादृष्टजन्मनी वर्तमानभविष्यती वेदनं=भोगः कर्माशयो धर्माधर्मौ तौ च दृष्टजन्मभोग्यौ [2]वाऽदृष्टजन्मभोग्यौ वोभयथैव क्लेशमूलकौ, क्लेशे सत्येव भवत इत्यर्थः।

यस्य नाहंकृतो भावो [3]बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमाल्ँ लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

इत्यादिवाक्यशतेभ्य इति भावः। यथा वाऽधिकारि[4]विशेषतया क्लेशानां धर्मादिजनकत्वं शौचादिवद् एवं तज्जनक[5]कर्मादिषु रागादिरूपैः प्रवर्त्तनादपीत्यपि बोध्यम्। क्लेशमूलकत्वं विवृणोति—तत्रेति। तत्र चित्ते लोभादिरूपदोषत्रयसत्त्व एव पुण्यपापरूपौ कर्माशयौ भवत इत्यर्थः। रागद्वेषमोहाख्यानां च दोषाणामदृष्टनियामकत्वं कौर्मे दर्शितम्—

रागद्वेषादयो दोषाः सर्वे भ्रान्तिनिबन्धनाः।

1. क ग घ च छ — परम्परया उपलभ्यते, ख — परम्परया नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च — वाऽदृष्टजन्मभोग्यौ उपलभ्यते, छ — वाऽदृष्टजन्मभोग्यौ नोपलभ्यते।
3. क — यस्य बुद्धिः, ख ग घ च छ — बुद्धिर्यस्य।
4. क ग घ च छ — विशेषतया, ख — विशेषणतया।
5. ख — रागादिषु (कर्मादिषु पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ — रागादिषु नोपलभ्यते।

कार्यो ह्यस्य भवेद्दोषः पुण्यापुण्यमिति श्रुतिः॥
तद्वशादेव सर्वेषां सर्वदेहसमुद्भवः॥ इति।

दृष्टजन्मवेदनीयमुदाहरति–तत्र तीव्रेति। सद्य इति। इह जन्मनीत्यर्थः। परिपच्यते कालेन परमेश्वरेण वा फलोपहितीक्रियते। दृष्टजन्मवेदनीयं पुण्यमुदाहृत्य दृष्टजन्मवेदनीयं पापमुदाहरति–तथेति। य इत्यनुषज्यते। यथाक्रममुक्तयोः पुण्यपापयोर्दृष्टान्तावाह–यथा नन्दीश्वर इति। अदृष्टजन्मवेदनीयं च कर्म प्रसिद्धत्वान्नोदाहृतम्। प्रसङ्गतो व्यतिरेकावप्युदाहरति–तत्र नारकाणामिति। नारकिपुरुषाणां धर्माद्यनुत्पत्तेः। ननु स्वर्गिणामपि कर्म नोत्पद्यत इति कथं नारकि[1]वचनमात्रमिति चेत्? न; स्वर्गिणां भारतवर्षमागत्य लीलामानुषविग्रहेण प्रयागादौ कर्मानुष्ठानस्य च तत्फलस्य च श्रवणादिति। शेषं सुगमम्॥१२॥

सम्प्रति, क्लेश क्यों हेय हैं, ऐसी आकांक्षा होने पर क्लेशों का परम्परया दुःखकारणत्व तीन सूत्रों द्वारा कथनीय है। सर्वप्रथम सूत्रकार दुःखोत्पत्ति में क्लेशों की साक्षात् कारणता को बताते हैं–'क्लेशेति।' 'दृष्टादृष्टजन्म' शब्द का अर्थ वर्तमान तथा भावीजन्म है, 'वेदन' शब्द का अर्थ भोग है, 'कर्माशय' शब्द का अर्थ धर्माधर्म है, यह 'धर्माधर्मरूप' कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय, अदृष्टजन्मवेदनीय अथवा दृष्टादृष्टोभयजन्मवेदनीय है तथा यह क़र्माशय 'क्लेशमूलक' है अर्थात् क्लेश के रहने पर ही यह रहता है। यह तथ्य 'यस्य...निबध्यते' (गीता १८/१७) इत्यादि सैकड़ों वाक्यों से सिद्ध होता है। वाक्य का अर्थ है–'जिस ब्रह्मवित् का अन्तःकरण अहंकार से रहित है और जिसकी बुद्धि धर्माधर्मसंस्कार से रहित है, वह इन लोकस्थ प्राणियों का हनन करके भी हनन नहीं करता है और उसके फल पुण्यपाप से सम्बद्ध नहीं होता है।' अथवा शौचादि के समान अधिकारिभेद से ये क्लेश धर्मादि के उत्पादक होते हैं, क्योंकि धर्मादि के जनक कर्मादियों में रागादिरूप से प्रवृत्ति भी देखी जाती है। भाष्यकार कर्माशय की क्लेशमूलकता को उद्घाटित करते हैं–'तत्रेति।' चित्त में लोभादिरूप दोषत्रय के होने पर ही पुण्यात्मक तथा पापात्मक कर्माशय उत्पन्न होते हैं। कूर्मपुराण में राग, द्वेष तथा मोहसंज्ञक दोषों को अदृष्ट (धर्माधर्म) का नियामक कहा गया है–'रागद्वेषादयो...सर्वदेहसमुद्भवः' (उ. ३/२०-२१) अर्थात् 'राग, द्वेषादि समस्त दोष भ्रान्तिमूलक हैं। इस भ्रान्तिरूप कारण का कार्य भी दोषपूर्ण है और वह पुण्यापुण्यरूप है। इन्हीं के वश में होने से सबको सब प्रकार के देहों का समुद्भव हुआ करता है।'

भाष्यकार दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं–'तत्र तीव्रेति।' 'सद्य इति।' 'सद्यः' शब्द का अर्थ है–इस जन्म में। 'परिपच्यते' शब्द का अर्थ है–काल

---

1. क च छ – वचनमात्रं, ख ग घ – मात्रवचनम्।

द्वारा अथवा परमेश्वर द्वारा फल से युक्त होना। (सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ यह हुआ कि तीव्रसंवेगयुक्त मन्त्र, तप और समाधि द्वारा निष्पादित अथवा ईश्वर, देवता, महर्षि तथा महानुभावों की आराधना से संगृहीत पुण्यात्मक कर्माशय वर्तमान जन्म में काल अथवा परमेश्वर के द्वारा फल से युक्त होता है)। दृष्टजन्मवेदनीय पुण्यात्मक कर्माशय का प्रतिपादन करने के पश्चात् भाष्यकार दृष्टजन्मवेदनीय पापात्मक कर्माशय को बताते हैं–**'तथेति।'** (इस वाक्य में सः के साथ) **'यः'** पद का अनुवर्तन (सम्बन्ध) किया जाता है। (सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ हुआ–इसी भाँति तीव्र क्लेश के द्वारा भययुक्त, व्याधियुक्त दारिद्र्ययुक्त व्यक्तियों के प्रति अथवा विश्वास के आधारभूत महानुभावों के प्रति अथवा तपःशीलों (तपस्वियों) के प्रति बार-बार किया गया जो अपकार है, उससे उत्पन्न होने वाला पापात्मक कर्माशय भी त्वरित फलीभूत होता है)। भाष्यकार पुण्यात्मक तथा पापात्मक दोनों प्रकार के दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशयों के यथाक्रम (क्रमानुसार) दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं–**'यथा नन्दीश्वर इति।'** अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय प्रसिद्ध है। अतः भाष्यकार ने उसका उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया है। भाष्यकार कर्माशय के अपवर्जन स्थलों अर्थात् दृष्टजन्मवेदनीय तथा अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय के अभाव स्थलों पर भी प्रसंगतः प्रकाश डालते हैं–**'तत्र नारकाणामिति।'** नरकवासियों का दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नहीं होता है, क्योंकि उनके कर्मों से धर्मादि की उत्पत्ति नहीं होती है।

शङ्का–स्वर्गीय पुरुषों के भी शुभ कर्म न होने से धर्मादि की उत्पत्ति नहीं होती है, अतः नारकीय पुरुषों की ही धर्माद्यनुत्पत्ति क्यों वर्णित हुई है?

समाधान–ऐसी बात नहीं है। नारकीय तथा स्वर्गीय पुरुषों की तुलना नहीं की जा सकती है, क्योंकि स्वर्ग में रहने वाले प्राणियों का भारतवर्ष में आकर क्रीडावशात् मनुष्य शरीर के द्वारा प्रयागादि (पवित्र तीर्थस्थलों) में कर्मसम्पादन तथा तज्जन्य भोगनिष्पादन (फलप्राप्ति) सुना जाता है। अवशिष्ट भाष्यार्थ सरल है॥१२॥

योगसूत्रम्

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः॥१३॥

(क्लेश के) मूल में विद्यमान रहने पर कर्माशय का जाति, आयु एवं भोगरूप फल होता है ॥१३॥

व्यासभाष्यम्

सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति नोच्छिन्नक्लेशमूलः। यथा तुषावनद्धाः शालितण्डुला अदग्धबीजभावाः प्ररोहसमर्था भवन्ति नापनीततुषा

दग्धबीजभावा वा, तथा क्लेशा[1]वनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति, नापनीतक्लेशो न प्रसंख्यानदग्धक्लेशबीजभावो वेति। स च विपाकस्त्रिविधो जातिरायुर्भोग इति।

तत्रेदं विचार्यते—किमेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणमथैकं कर्मानेकं जन्माक्षिपतीति? द्वितीया विचारणा—किमनेकं कर्मानेकं जन्म निर्वर्त्तयत्यथानेकं कर्मैकं जन्म निर्वर्त्तयतीति?

न तावदेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणम्। कस्मात्? अनादिकालप्रचितस्यासंख्येयस्या[2]वशिष्टकर्मणः सांप्रतिकस्य च [3]फलक्रमानियमादनाश्वासो लोकस्य प्रसक्तः, स चानिष्ट इति। न चैकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम्। कस्मात्? अनेकेषु कर्मस्वेकैकमेव कर्मानेकस्य जन्मनः कारणमित्यवशिष्टस्य विपाककालाभावः प्रसक्तः, स[4] चाप्यनिष्ट इति। न चानेकं कर्मा[5]नेकस्य जन्मनः कारणम्। कस्मात्? तदनेकं जन्म युगपन्न संभवतीति क्रमेणै[6]व वाच्यम्, तथा च पूर्वदोषानुषङ्गः। तस्माज्जन्मप्रायणान्तरे कृतः पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थितः [7]प्रायणाभिव्यक्त एकप्रघट्टकेन मिलित्वा[8] मरणं प्रसाध्य संमूर्च्छित एकमेव जन्म करोति। तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति। तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोगः संपद्यत इति। असौ कर्माशयो जन्मायुर्भोगहेतुत्वात्त्रिविपाकोऽभिधीयत इति। अत एकभविकः कर्माशय उक्त इति।

---

1. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न प फ ब भ म य र – अवनद्धः, त – अनुबद्धः।
2. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ य – अवशिष्टस्य, घ प फ म र – अवशिष्ट०।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म र – फल०, य – काल०।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म र – सः उपलभ्यते, य – सः नोपलभ्यते।
5. क ख ग – अनेकंजन्मकारणं, घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – अनेकस्य जन्मनः कारणम्।
6. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य – एव उपलभ्यते, घ प फ र – एव नोपलभ्यते।
7. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – प्रायण०, ज – प्रयाण०।
8. घ प फ म र – मिलित्वा उपलभ्यते, क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म – मिलित्वा नोपलभ्यते।

दृष्टजन्मवेदनीयस्त्वेकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वाद्; द्विविपाकारम्भी वा [1]भोगायुर्हेतुत्वाद्, [2]नन्दीश्वरवन्नहुषवद्वेति। [3]क्लेशकर्मविपाकानुभव[4]निर्वर्तिताभिस्तु वासनाभिरनादिकालसंमूर्छितमिदं चित्तं [5]विचित्रीकृतमिव सर्वतो मत्स्य[6]जालं ग्रन्थिभिरिवाततमित्येता अनेकभवपूर्विका वासनाः। यस्त्वयं कर्माशय एष एवैकभविक उक्त इति। ये संस्काराः स्मृतिहेतवस्ता वासनास्ताश्चानादिकालीना इति। यस्त्वसावेकभविकः कर्माशयः स नियतविपाकश्चानियतविपाकश्च। तत्र [7]दृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवायं नियमो न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य। कस्मात्? यो ह्यदृष्टजन्मवेदनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः—कृतस्या[8]विपक्वस्य विनाशः[9], प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा, नियत[10]विपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा चिरमवस्थानमिति।

तत्र कृतस्याविपक्वस्य नाशो यथा शुक्लकर्मोदयादिहैव नाशः कृष्णस्य। यत्रेदमुक्तम्—द्वे द्वे ह वै कर्मणी [11]वेदितव्ये पापकस्यैको राशिः पुण्यकृतोऽपहन्ति। तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्तुमिहै[12]व ते कर्म कवयो वेदयन्ते।[13] प्रधानकर्मण्यावापगमनम्। यत्रेदमुक्तम्—स्यात्स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः, कुशलस्य नापकर्षायालम्। [14]कस्मात्? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यति इति। नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा

---

1. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न भ म य – भोगायुः, घ प फ ब र – आयुर्भोग०।
2. क ख ग थ न – त्रिविपाकारम्भी वा जन्मभोगायुर्हेतुत्वात् (नन्दीश्वरवत् पूर्वम्) उपलभ्यते, घ च छ ज झ त द ध ज झ त द ध प फ ब भ म य र – त्रिविपाक.....हेतुत्वात् नोपलभ्यते।
3. छ – अदृष्टजंन्मवेदनीयस्तु (क्लेश० पूर्वम्) उपलभ्यते, क ख ग घ च झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – अदृष्टजन्मवेदनीयस्तु नोपलभ्यते।
4. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न भ म य – निर्वर्तिताभिः, घ प फ ब र – निमित्ताभिः।
5. क ख च छ ज झ त थ द द न ब भ म – विचित्री० ग घ प फ य र – चित्री०।
6. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – ज़ालं, छ थ – जाल०।
7. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म र – दृष्ट०, झ त य – अदृष्ट०।
8. क ग च छ ज झ त थ द ध न भ – अविपाकस्य, ख घ प फ ब म य र – अविपक्वस्य।
9. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध म – विनाशः, भ प फ ब य र – नाशः।
10. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र – विपाक०, झ – विपाकस्तस्य।
11. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न प फ ब भ म य र – वेदितव्ये उपलभ्यते, त – वेदितव्ये नोपलभ्यते।
12. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न प फ ब भ म य र – एव उपलभ्यते, त – एव नोपलभ्यते।
13. छ थ – तद्वत् कृष्णकर्मोदयादिहैव नाशः शुक्लस्य (वेदयन्ते पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – तद्वत्.....शुक्लस्य नोपलभ्यते।
14. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – कस्मात् थ – न कस्मात्।

चिरमवस्थानम्। कथमिति? अदृष्टजन्मवेदनीयस्य [1]नियतविपाकस्यैव कर्मणः समानं मरणमभिव्यक्तिकारणमुक्तम्, न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य।

यत्त्वदृष्टजन्मवेदनीयं कर्मानियतविपाकं तन्नश्येदावापं वा गच्छेदभिभूतं वा चिरमप्यु[2]पासीत यावत्समानं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तमस्य[3] न विपाकाभिमुखं करोतीति। तद्विपाकस्यैव देशकालनिमित्तानवधारणादियं कर्मगति[4]र्विचित्रा दुर्विज्ञाना चेति। न चोत्सर्गस्यापवादान्निवृत्तिरित्येकभविकः कर्माशयोऽनुज्ञायत इति॥१३॥

अविद्यादि क्लेशों की अवस्थिति में ही (धर्माधर्मरूप) कर्माशय फलारम्भक (स्वफल प्रदान करने के लिये अग्रसर) होता है, विनष्ट क्लेश-रूपी आधार वाला कर्माशय विपाकोन्मुख नहीं होता है। जिस प्रकार भूसायुक्त (बाह्य आवरण से अविरहित) धान, जो प्रजननशक्ति से रहित नहीं होते हैं, अंकुर उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। भूसारहित अथवा विनष्टप्रजननशक्ति (दग्धबीजभाव) वाले धान अंकुरण (प्रादुर्भवन, वर्धन) के लिये सक्षम नहीं होते हैं। उसी प्रकार क्लेशावेष्टित (बद्धक्लेशमूल वाला) कर्माशय ही फलोत्पत्ति में सक्षम होता है। क्लेशरूपी आधार से रहित अथवा विवेक-ज्ञानाग्नि से दग्ध क्लेशबीज वाला कर्माशय फलोत्पत्ति के लिये अक्षम रहता है। इस प्रकार का कर्माशय त्रिकोणात्मक फल वाला है—जाति, आयु तथा भोग।

यहाँ कर्मविपाक के विषय में विचार प्रस्तुत हो रहा है—क्या एक कर्म एक जन्म का कारण है? अथवा एक कर्म अनेक जन्म प्रदान करता है?—(यह द्विप्रभेदात्मक प्रथम विकल्प है)। द्वितीय विकल्प है—क्या अनेक कर्म अनेक जन्मों को निष्पादित करते हैं? अथवा अनेक 'कर्म' एक जन्म के निष्पादक होते हैं?

(१) एक कर्म एक जन्म का कारण नहीं बन सकता है। क्यों? अनादि काल से सञ्चित असंख्य बचे हुए (अभुक्त) कर्मसमूह एवं वर्तमान जन्म के कर्मसमूह के फल-प्रदान के क्रम का निर्धारण (नियमन) न हो पाने से प्राणिजन का कर्मफल के प्रति अविश्वास जागरित होता है और यह इष्ट

---

1. क ख ग घ थ प फ ब र – एव नियतविपाकस्य, च. छ ज झ त द ध न भ म य – नियतविपाकस्यैव।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र – उपासीत, द – उपासीतम्।
3. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य र – निमित्तमस्य, घ प फ – निमित्तस्य।
4. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ य – चित्रा, घ प फ म र – विचित्रा।

नहीं है। (२) एक कर्म अनेक जन्मों का भी कारण नहीं बन सकता है। क्यों? अनेक कर्मों में से एक-एक कर्म ही जब अनेक जन्मों के कारण होंगे, तो अवशिष्ट कर्मों को अपना-अपना कर्मफल प्रदान करने का अवसर ही प्राप्त न हो सकेगा। अतः यह भी अभीष्ट नहीं है। (३) और न ही अनेक कर्म युगपत् अनेक जन्मों के हेतु हो सकते हैं। क्यों? अनेक जन्म एक साथ नहीं हो सकते हैं। कर्मजन्य जन्मों में क्रम ही कहना चाहिये। इस प्रकार भी पहले वाले अविश्वास दोष की प्रसक्ति होगी। (४) अतः जन्म और मृत्यु की मध्यावधि में किया गया विविध प्रकार का पुण्यात्मक-अपुण्यात्मककर्माशय-पुञ्ज, गौणप्रधानभाव से स्थित होता हुआ मृत्यु के समय अभिव्यक्त होकर समवेतरूप से मिल-जुल कर मरण का सम्पादन करके एक ही जन्म का आरम्भ करता है (अर्थात् अनेक जन्मों का नहीं)। और वह जन्म उसी कर्म (समूह) से निर्धारित आयु वाला होता है और उस निर्धारित आयुविशिष्ट शरीर में उसी कर्म (समूह) से भोग सम्पन्न होता है। यह कर्माशय जाति, आयु और भोग का कारण होने से 'त्रिविपाक' (तीन प्रकार का फल देने वाला) कहा जाता है। अतः यह कर्माशय 'एकभविक' (एक जन्म देने वाला) कहा जाता है।

दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय केवल 'भोग' का हेतु होने से 'एकविपाकारम्भी' (एकविपाकोन्मुखी) अथवा 'आयु' और 'भोग' का हेतु होने से 'द्विविपाकारम्भी (द्विविपाकोन्मुखी) कहलाता है। नन्दीश्वर और राजा नहुष के दृष्टान्त के समान। (इनमें नन्दीश्वर का कर्माशय द्विविपाकारम्भी तथा राजा नहुष का कर्माशय एक विपाकारम्भी रहा)। चारों ओर की गाँठों से परिव्याप्त मछली पकड़ने के जाल की भाँति यह चित्त क्लेश, क्लेशजन्य कर्म, कर्मजन्य विपाक (फल) के अनुभव से निष्पादित वासनाओं के द्वारा अनादि काल से उपचित हुआ चित्र-विचित्र सा है। अतः ये वासनाएँ (अनेक जन्मों से संगृहीत होने के कारण) 'अनेकभवपूर्विका' कही जाती हैं। स्मृति के हेतुभूत जो संस्कार हैं, उन्हें ही वासना कहते हैं। ये वासनाएँ ही अनादिकालिक होती हैं। यह जो एकभविक कर्माशय है, वह 'नियतविपाक' और 'अनियतविपाक' वाला है। इन दो प्रकार के कर्माशयों में जो दृष्टजन्मवेदनीय (इसी जन्म में नियमतः फल देने वाला) कर्माशय है, उसी में ही 'एकभविकत्व' नियम चरितार्थ होता है और जो दूसरे जन्म में अनियमित-रूप से फल देने वाला कर्माशय है, उसमें 'एकभविकत्व' नियम चरितार्थ नहीं होता है। क्यों? इसलिये कि यह जो अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक कर्माशय है, उसकी

तीन गतियाँ (स्थितियाँ) हैं–(१) सम्पादित कर्माशय का विना फल प्रदान किये नष्ट हो जाना (२) प्रधान कर्म में अन्तर्भाव हो जाना अथवा (३) नियत फल देने वाले प्रधान कर्म द्वारा अभिभूत होकर बहुत काल तक पड़े रहना।

पूर्वोल्लिखित तीन गतियों में से (१) फल प्रदान किये विना ही कृत कर्म नष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ–पुण्य कर्मों के उदय से पाप कर्मों का इसी जन्म में नाश हो जाता है। इस विषय में कहा गया है–'दो-दो प्रकार के कर्म (कर्मजन्य कर्माशय) समझने चाहिये। पापकर्मराशि को पुण्यकर्मराशि नष्ट कर देती है। इसलिये वर्तमान जीवन में सुकृत कर्म करने की इच्छा करो। महर्षियों ने तुम्हारे लिये पुण्यकर्म बतलाये हैं।' (२) प्रधानकर्म में अन्तर्भाव होना। तदर्थ कहा गया है–'यदि पुण्य कर्म में पाप कर्म का अल्प मिश्रण भी हो जाय, तो वह परिहरणीय है, सह्य है, वह स्वल्प पाप कर्म पुण्य कर्म का नाश करने में समर्थ नहीं होता है। क्यों? इसलिये कि मेरे द्वारा किये गये पुण्य कर्म बहुत हैं, जिसमें यह पाप कर्म मिल गया है। अतः स्वर्ग में भी बहुत थोड़ी ही हानि करेगा।' (३) निश्चित रूप से फल देने वाले प्रधान (बलवान्) कर्म से अभिभूत हुए (कर्माशय) का चिरकालपर्यन्त (बीजरूप से) अवस्थित रहना। वह कैसे? क्योंकि अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाक कर्म अर्थात् कर्माशय का ही अभिव्यक्तिकारण (ठीक उसके बाद वाला) एक 'मरण' कहा गया है, अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक का नहीं।

यह जो अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक कर्माशय है, उसे नष्ट हो जाना चाहिये अथवा अन्तर्भावित हो जाना चाहिये अथवा प्रबल कर्म से अभिभूत होकर चिरकाल तक पड़े रहना चाहिये, जब तक कि इस कर्म को अभिव्यक्त करने वाला इसका एक (मरणरूप) निमित्त (इसको) फलाभिमुख नहीं करता है। इस प्रकार के अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक (कर्माशय) से सम्बद्ध देश, काल और निमित्त का निश्चय न हो सकने के कारण ही यह कर्मगति 'विचित्र' और 'दुर्बोध' कही गई है। किन्तु अपवादों के कारण औत्सर्गिक (सामान्य) नियमों की निवृत्ति नहीं होती है। अतः 'कर्माशय 'एकभविक' होता है', यह सामान्य (औत्सर्गिक) नियम स्वीकार किया गया है॥१३॥

तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्– अविद्यामूलत्वे कर्माशयस्य विद्योत्पादे सत्यविद्याविनाशान्मा नाम[1] कर्मा-

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध – नाम उपलभ्यते, न – नाम नोपलभ्यते।

शयान्तरं चैषीत्, [1]प्राचां तु कर्माशयानामनादिभवपरम्परासंचितानामसंख्यातानामनियत-विपाककालानां भोगेन क्षपयितुमशयत्वादशक्योच्छेदः संसारः स्यादित्यत आह—सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा इति। एतदुक्तं भवति—सुखदुःखफलो हि कर्माशयस्तादर्थ्येन तन्नान्तरीयकतया जन्मायुषी अपि प्रसूते। सुखदुःखे च रागद्वेषानुषक्ते तदविनिर्भागवर्तिनी तदभावे न भवतः। न चास्ति संभवो न च तत्र यस्तुष्यति वोद्विजते वा तच्च तस्य सुखं वा दुःखं वेति। तदियमात्मभूमिः क्लेशसलिलावसिक्ता कर्मफलप्रसवक्षेत्रमित्यस्ति क्लेशानां फलोपजननेऽपि कर्माशयसहकारितेति क्लेशसमुच्छेदे सहकारिवैकल्यात्सन्नप्यनन्तोऽप्यनियत-विपाककालोऽपि प्रसंख्यानदग्धबीजभावो न फलाय कल्पत इति।

शङ्का—कर्माशय के अविद्यामूलक होने से ज्ञान के उत्पन्न होने पर अविद्या के नष्ट हो जाने से अन्य नूतन कर्माशय (कर्माशयान्तर) भले ही उत्पन्न न हों, परन्तु अनादि जन्म-परम्परा से संचित अनियतविपाक वाले गणनातीत कर्माशयों का तो भोग द्वारा नाश सम्भव नहीं है। अतः (जन्म-मरणरूप) संसारोच्छेद अशक्य है?

समाधान—इस पर सूत्रकार कहते हैं—'सतीति' अभिप्राय यह है—कर्माशय सुख-दुःखरूप फल प्रदान करता है अर्थात् धर्माधर्मरूप कर्माशयानुसार व्यक्ति को सुख-दुःख की अनुभूति होती है। सुख-दुःख की निष्पत्ति के लिये 'जन्म' एवं 'आयु' (संज्ञक विपाक) भी अनिवार्य रूप से होते हैं (अर्थात् जन्म तथा आयु से अनिवार्यतः सम्बद्ध होकर ही कर्माशय व्यक्ति को उसके कर्मानुसार सुख-दुःखरूप भोग प्रदान करता है। जन्म तथा आयु से वियुक्त रहकर कर्माशय व्यक्ति को केवल सुख-दुःखरूप 'भोग' (विपाक) प्रदान करने में समर्थ नहीं होता है। क्योंकि भोग की निष्पत्ति के लिये आधारत्वेन भोगायतन 'शरीर' (जाति=जन्म) तथा कालत्वेन भोगायतन शरीर की निश्चित अवधिपर्यन्त अवस्थिति अपेक्षित रहती है)। राग-द्वेष से अनुविद्ध सुख-दुःख, राग-द्वेष के अविनाभाव से रहते हैं। अतः राग-द्वेष के अभावकाल में सुखादि भी नहीं होते हैं। (तत्त्ववैशारदीकार सुख-दुःख की रागद्वेषाऽविनाभाववर्त्तिता को स्पष्ट करते हैं)—यह सम्भव नहीं है कि व्यक्ति जिस पदार्थ से सन्तुष्ट रहता है, वह उसके लिये एकमात्र सुखरूप हो तथा जिस पदार्थ से उद्विग्न होता है, वह उसके लिये एकमात्र दुःखरूप हो। अतः सुख-दुःख दोनों राग-द्वेष से अनुविद्ध रहते हैं। क्लेशरूपी जल से सिञ्चित यह चित्तरूपी भूमि कर्मजन्य फल की प्रसवभूमि (उत्पत्तिस्थली) है। अतः कर्माशय द्वारा सुख-दुःखरूप फलोत्पत्ति के प्रति भी अविद्यादि सहकारिकारण हैं। जब (विवेकज्ञान के उत्पन्न होने पर) अविद्या नष्ट हो जाती है तब सहकारिकारण के न रहने से अनन्त तथा अनियतविपाककाल वाला

---

1. क घ च छ ज झ त न – प्राचां तु, ख ग थ द ध – प्राक्तन०।

कर्माशय भी ज्ञानाग्नि (प्रसंख्यानाग्नि) से विनष्टप्रसवसामर्थ्य वाला होकर (सुख-दुःखरूप) फलोत्पत्ति के लिये समर्थ नहीं रहता है।

बालप्रिया–

'सति मूले'–धर्माधर्म के मूलभूत रागद्वेषादि क्लेश के सद्भाव में ही कर्माशय की फलोन्मुखता जाति, आयु तथा भोग–इत्याकारक त्रिविपाक के रूप में सुनिश्चित है। 'जाति' शब्द का अर्थ है–जन्म, 'आयु' शब्द का अर्थ है–जीवनकाल तथा 'भोग' शब्द का अर्थ है–ह्लादपरितापफलात्मिका सुखदुःखरूपा चित्तवृत्ति।

तत्त्ववैशारदी

उक्तमर्थं भाष्यमे[1]व द्योतयति–सत्स्विति। अत्रैव दृष्टान्तमाह–यथा तुषेति। [2]सतुषा अपि दग्धबीजभावाः स्वेदादिभिः। दार्ष्टान्तिके योजयति–तथेति। ननु न क्लेशाः शक्या अपनेतुम्। न हि सतामपनय इत्यत आह–न प्रसंख्यानदग्ध[3]क्लेशबीजभावो [4]वेति। विपाकस्य त्रैविध्यमाह–स चेति। विपच्यते साध्यते कर्मभिरिति विपाकः।

उपरिलिखित तथ्य को ही भाष्यकार प्रदर्शित करते हैं–**'सत्स्विति'** अविद्यादि क्लेश के विद्यमान रहने पर ही धर्माधर्मरूप कर्माशय अपने फल का जनक होता है, क्लेशरूप मूल (जड़) रहित कर्माशय फलोत्पत्ति नहीं कर सकता हैं। इसमें भाष्यकार दृष्टान्त देते हैं–**'यथा तुषेति।'** दग्धबीजभाव वाले तुषायुक्त धानादि भी स्वेदादि से अर्थात् ताप या भाव आदि द्वारा उत्पन्न होने में समर्थ नहीं होते हैं। भाष्यकार दृष्टान्त को दार्ष्टान्त में संयोजित करते हैं–**'तथेति।'**

शङ्का–क्लेश अपनय (आत्यन्तिक तिरोभाव) के लिये सक्षम नहीं होते हैं अर्थात् क्लेशों का आत्यन्तिक नाश सम्भव नहीं है, क्योंकि सद्भूत अर्थात् सद्वस्तु का नाश नहीं होता है।

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–**'न प्रसंख्यानदग्धक्लेशबीजभावो वेति।'** (भाव यह है–यहाँ क्लेशों का नाश अपेक्षित नहीं है, किन्तु प्रसंख्यानरूप अग्नि से जिनका क्लेशजननसामर्थ्य दग्ध हो गया है, ऐसे क्लेशों की दग्धावस्था अभिहित है। क्लेशों के दग्धावस्था में पहुँचने पर कर्माशय विपाकोन्मुख नहीं होता है–ऐसा स्वीकार करने में सत्कार्यवाद को क्षति नहीं पहुँचती है)। फल की त्रिविधता को भाष्यकार बतलाते हैं–**'स चेति'** तत्त्ववैशारदीकार 'विपाक' शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं–**'विपच्यते**

---

1. क च झ – अव०, ख ग घ छ ज त थ द ध न–एव।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध–सतुषा अपि दग्धबीजभावाः स्वेदादिभिः। दार्ष्टान्तिके योजयति तथेति उपलभ्यते, न – सतुषा.....तथेति नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त द न – क्लेश० उपलभ्यते, थ ध – क्लेश० नोपलभ्यते।
4. थ द घ – वा उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न वा नोपलभ्यते।

साध्यते कर्मभिरिति विपाकः' अर्थात् कर्मों से जिसका परिपाक अर्थात् परिपक्वता होती है, उसे 'विपाक' कहते हैं। कर्म की परिपक्वता जाति, आयु तथा भोगरूप में प्रतिलक्षित होती है। प्रकारान्तर से कर्माशय का परिणाम 'विपाक' कहलाता है।

सम्प्रति, कर्म की फलप्रदातृत्व-शैली पर विचार प्रस्तुत हो रहा है—

तत्त्ववैशारदी

कर्मैकत्वं ध्रुवं कृत्वा जन्मैकत्वानेकत्वगोचरा प्रथमा विचारणा। द्वितीया तु कर्मानेकत्वं ध्रुवं कृत्वा जन्मैकत्वानेकत्वगोचरा। तदेवं चत्वारो विकल्पाः। तत्र प्रथमं विकल्पमपाकरोति—न तावदेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणमिति। पृच्छति—कस्मादिति। उत्तरमाह—[1]अनादीति। अनादिकाल एकैकजन्म प्रचितस्यात एवासंख्येयस्यैकैकजन्म क्षपितादेकैकस्मात्कर्मणोऽवशिष्टस्य कर्मणः, सांप्रतिकस्य च फलक्रमानियमादनाश्वासो लोकस्य प्रसक्तः, स चानिष्ट इति। एतदुक्तं भवति—कर्मक्षयस्य विरलत्वात्तदुत्पत्तिबाहुल्याच्चान्योऽन्यसंपीडिताश्[2]च कर्माशया निरन्तरोत्पत्तयो निरुच्छ्वासाः स्वविपाकं प्रतीति न फलक्रमः शक्योऽवधारयितुं प्रेक्षावतेत्यनाश्वासः पुण्यानुष्ठानं प्रति प्रसक्त इति। द्वितीयं विकल्पं निराकरोति[3]—न चैकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणमिति। पृच्छति—कस्मादिति। उत्तरमाह—अनेकेष्विति। अनेकस्मिञ्जन्मन्याहितमे[4]कैकमेव कर्मानेकस्य जन्मलक्षणस्य विपाकस्य निमित्तमित्यवशिष्टस्य विपाककालाभावः प्रसक्तः, स चाप्यनिष्ट इति, कर्मवैफल्येन तदननुष्ठानप्रसङ्गात्। यदैकजन्मसमुच्छेद्ये कर्मण्येकस्मिन्फलक्रमानियमादनाश्वासस्तदा कैव कथा बहुजन्मसमुच्छेद्ये कर्मण्येकस्मिन्। तत्र ह्यवसराभावाद्विपाककालाभाव एव सांप्रतिकस्येति भावः। तृतीयं विकल्पं निराकरोति—न चानेकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणमिति। तत्र हेतुमाह—तदिति। तदनेकं जन्म युगपन्न संभवत्ययोगिन इति क्रमेण वाच्यम्। यदि हि कर्मसहस्रं युगपज्जन्मसहस्रं प्रसुवीत तत एव कर्मसहस्रप्रक्षयादवशिष्टस्य विपाककालः फलक्रमनियमश्च स्याताम्। न त्वस्ति जन्मनां यौगपद्यम्। एवमेव प्रथमपक्ष [5]एवोक्तं दूषणमित्यर्थः।

तदेवं पक्षत्रये निराकृते पारिशेष्यादनेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणमिति पक्षो व्यवतिष्ठत इत्याह—तस्माज्जन्मेति। जन्म च प्रायणं च जन्मप्रायणे। तयोरन्तरं मध्यं तस्मिन्। विचित्रसुखदुःखफलोपहारेण विचित्रः। यदत्यन्तमुद्भूतमनन्तरमेव फलं दास्यति तत्प्रधानम्। यत्तु [6]किञ्चिद्विलम्बेन तदुपसर्जनम्। प्रायणं मरणम्। तेनाभिव्यक्तः स्वकार्यारम्भणाभिमुखमुपनीत

---

1. थ द घ – अनादीति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – अनादीति नोपलभ्यते।
2. ख थ द ध – च उपलभ्यते, क ग घ च छ ज झ त न – च नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त न – निराकरोति, थ द ध – अपाकरोति।
4. क थ द ध – एकं, ख ग घ च छ ज झ त न – एकैकम्।
5. च छ थ द ध – एव उपलभ्यते, क ख ग घ ज झ त न एव नोपलभ्यते।
6. क ख ग घ च छ ज झ त न – किञ्चिद् उपलभ्यते, थ द ध – किञ्चिद् नोपलभ्यते।

एकप्रघट्टकेन युगपत्संमूर्छितो जन्मादिलक्षणे कार्ये कर्तव्य एकलोलीभावमापन्न एकमेव जन्म करोति, नानेकम्। तच्च जन्म मनुष्यादिभावस्तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं काल[1]भेदान्नियत[2]जीवितं भवति। तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोगः सुखदुःखसाक्षात्कारः स्वसंबन्धितया संपद्यत इति। तस्मादसौ कर्माशयो जात्यायुर्भोगहेतुत्वात्त्रिविपाकोऽभिधीयते। औत्सर्गिकमुपसंहरति—अत एकभविकः कर्माशय उक्त इति। [3]एको भव एकभवः। पूर्वकालैक इत्यादिना समासः, एकभवोऽस्यास्तीति मत्वर्थीयष्ठन्। क्वचित्पाठ ऐकभविक इति। तत्रैकभवशब्दाद् भवार्थे ठक्प्रत्ययः। एकजन्मावच्छिन्नमस्य भवनमित्यर्थः।

'कर्मैकत्व' को आधार बनाकर अर्थात् 'एककर्मवाद' के पक्ष को लेकर जन्म का 'एकत्व' अथवा 'अनेकत्व' विषयक प्रथम विचार है। 'कर्मानेकत्व' को आधार बनाकर अर्थात् 'अनेककर्मवाद' के पक्ष को लेकर जन्म का 'एकत्व' अथवा 'अनेकत्व' विषयक द्वितीय विचार है। इस प्रकार चार विकल्प हैं। (वे चार विकल्प हैं—(१) क्या एक कर्म से एक जन्म होता है अथवा (२) एक कर्म से अनेक जन्म?—ये दो विकल्प कर्मैकत्व अर्थात् 'एककर्मवाद' के अनुसार प्रस्तावित हैं। कर्मानेकत्व अर्थात् 'अनेककर्मवाद' के अनुसार भी प्रस्तावित विकल्प दो हैं—(१) क्या अनेक कर्मों से अनेक जन्म होते हैं अथवा (२) अनेक कर्मों से एक जन्म होता है)?

प्रथम विकल्प का खण्डन—

उपरिलिखित चार विकल्पों में से भाष्यकार प्रथम विकल्प का अपाकरण (निराकरण) करते हैं—'**न तावदेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणमिति।**' एक कर्म आगामी एक जन्म का कारण नहीं हो सकता है।

शङ्का—प्रश्नकर्त्ता पूछता है—'**कस्मादिति।**' किस हेतु से एक कर्म को आगामी एक जन्म का कारण नहीं माना जा सकता?

समाधान—भाष्यकार उत्तर देते हैं—'**अनादीति।**' अनादिकाल के अनेक जन्मों में से प्रत्येक जन्म में सञ्चित असंख्य कर्मों में से एक कर्म का एक जन्म के द्वारा क्षय मानने से फल-प्रदान के लिये (प्रतीक्षारत) अवशिष्ट असंख्य प्राक्तन कर्मों तथा वर्तमान जन्म में सञ्चित नूतन कर्मों का फल-क्रम नियत (सुनिश्चित) न रहने से मनुष्यों में शुभ कर्म के प्रति आस्था न रहेगी और यह इष्ट नहीं है। भाव यह है—(यदि पूर्व के असंख्य कर्मों में से कोई एक ही कर्म जन्मारम्भ के लिये उद्यत होगा तो) क्षय किसी विरल ही कर्म का तथा उत्पत्ति बहुत कर्मों की होने से परस्पर

---

1. क घ च छ ज झ त थ द ध न – भेदात्, ख ग – भेदेन।
2. क घ च छ ज झ त न – जीवितम्, ख ग थ द ध – जीवनम्।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध—एको भव एकभवः। पूर्वकालैक इत्यादिना समासः उपलभ्यते, न – एको....समासः नोपलभ्यते।

मर्दनशील, निरन्तर उत्पन्न होने वाले अनन्त धर्माधर्मरूप कर्माशय स्वविपाक के प्रति निरुत्साहित होकर फलक्रम का निश्चय कराने के लिये समर्थ नहीं होंगे। फलतः फलक्रम में अनाश्वास प्रसक्त होने से कर्मानुष्ठान में किसी भी प्रेक्षावान् की प्रवृत्ति नहीं होगी। इस प्रकार प्रथम विकल्प खण्डित हो जाता है।

द्वितीय विकल्प का खण्डन—

भाष्यकार द्वितीय विकल्प का अपाकरण करते हैं—'न **चैकं कर्मनिकस्य जन्मनः कारणमिति**।' एक कर्म अनेक जन्मों का कारण नहीं हो सकता है।

शङ्का—प्रश्नकर्त्ता पूछता है—'**कस्मादिति**।' किस कारण से अनेक जन्मों का निष्पादक एक कर्म नहीं हो सकता है?

समाधान—भाष्यकार उत्तर देते हैं—'**अनेकेष्विति**।' अनेक जन्मों में विद्यमान रहने वाला अर्थात् अनेक जन्मों से अनुबन्धित एक ही कर्म यदि अनेक जन्म (जाति) रूप विपाक का हेतु बने तो अवशिष्ट कर्मों को फल-प्रदान करने के लिये अवसर का अभाव प्रसक्त होगा, जो (कर्मफलवाद के) अनुकूल नहीं है। क्योंकि कर्म को विफल जानकर (शुभ) कर्मानुष्ठान में कोई प्रसक्त नहीं होगा। (भाव यह है कि)—एक जन्म में भोग द्वारा एक कर्म का नाश मानने पर जब फल-क्रम की बाधित व्यवस्था (प्रेक्षावान् पुरुषों में) कर्मानुष्ठान के प्रति आस्था समाप्त कर देती है, तब एक कर्मफल की समाप्ति के लिये अनेक जन्मों के व्यतीत होने की अवधारणा का तो कहना ही क्या? (अर्थात् यह विकल्प भी संग्राह्य नहीं है क्योंकि इसमें भी अवसराभाव के कारण कर्म को अपना फल प्रदान करने का समय न मिलेगा। अतः शुभकर्मानुष्ठान की प्रवृत्ति का सर्वथा लोप हो जायेगा। नियम है कि **'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते)।'**

तृतीय विकल्प का खण्डन—

भाष्यकार तृतीय विकल्प का अपाकरण करते हैं—'न **चानेकं कर्मनिकस्य जन्मनः कारणमिति**।' अनेक कर्मों से अनेक जन्म नहीं हो सकते हैं। तदर्थ भाष्यकार हेतु उपन्यस्त करते हैं—'**तदिति**।' योगिभिन्न सामान्यजन के लिये अक्रम अर्थात् युगपत् अनेक जन्मों को ग्रहण करना सम्भव नहीं है, उन्हें क्रमिक ही कहना होगा। (भाव यह है)—यदि हजारों कर्म एक ही समय में हजारों जन्मों को करें तो (ऐसी स्थिति में) प्राक्तन हजारों कर्मों का भोग द्वारा क्षय हो जाने से अवशिष्ट साम्प्रतिक (नूतन) कर्मों को विपाकोन्मुख होने का अवसर प्राप्त हो सकेगा तथा फल-क्रम की सुनिश्चित संयोजना भी हो सकेगी। किन्तु यौगपद्य अनेक जन्मों का होना ही सम्भव नहीं है। इस प्रकार तृतीय विकल्प में प्रथमपक्षीय दूषण ही हैं।

चतुर्थ विकल्प का पुष्टीकरण—

इस प्रकार उक्त तीनों विकल्पों के खण्डित हो जाने पर अवशिष्ट चतुर्थ विकल्प; अनेक कर्म एक जन्म के कारण हैं, सिद्धान्त रूप से स्थिर होता है—इसी निर्णीत तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं—**'तस्माज्जन्मेति।'** (भाष्यस्थ **'जन्मप्रायणान्तरे'** पद का विग्रहपरक अर्थ है)—**'जन्म च प्रायणं च जन्मप्रायणे, तयोरन्तरं मध्यं तस्मिन्निति जन्मप्रायणान्तरे'** अर्थात् जन्म और मृत्यु के मध्य में। **'विचित्रः'** पद का अर्थ है—विचित्र सुख-दुःखरूप फलोपहार के कारण विविधता। **'प्रधान'** शब्द का अर्थ है—जो, अत्यन्त उद्भूत कर्म-फल के अनन्तर (भोगे जाते हुए प्रधानतम कर्म के पश्चात्) फल प्रदान करता है (अर्थात् फल प्रदान करने के लिये उद्यत रहता है)। **'उपसर्जन'** शब्द का अर्थ है--जो कर्म विलम्ब से फल प्रदान करता है, उसे **'उपसर्जन'** कहते हैं। **'प्रायण'** शब्द का अर्थ है—मरण। इस प्रकार जन्म से लेकर मरणपर्यन्त शुभाशुभ कर्म द्वारा निष्पादित जो गौणप्रधानभावोपरक्त, फलयुक्त, धर्माधर्मरूप कर्माशयपुञ्ज अर्थात् कर्मसमूह है, वह मरण के द्वारा अभिव्यक्त अर्थात् स्वकार्यारम्भणाभिमुखता को प्राप्त होकर युगपत् (प्रघट्टक=समुदितरूप से) जन्मादि रूप कार्य करने के लिये संमूर्छित अर्थात् एकलोलीभावापन्न होकर एक ही जन्म का आरम्भ करता है, न कि अनेक जन्मों का। किञ्च यह **'जन्म'** मनुष्यादिरूप है (अर्थात् मनुष्यादि योनि के रूप में स्थूलसूक्ष्मशरीरात्मक परिणाम को **'जन्म'** कहते हैं)। यह जन्म उसी कर्मसमूह से निर्धारित आयु वाला होता है। किञ्च उसी आयु में तत्कर्मानुसार तत्सम्बन्धित सुखदुःखानुभूतिरूप 'भोग' की निष्पत्ति होती है। इसलिये वह (धर्माधर्मरूप) कर्माशय जाति, आयु तथा भोग का कारण होने से **'त्रिविपाकी'** (त्रिविध फलप्रद, त्रिविपाकारम्भी) कहा जाता है। भाष्यकार 'अनेक कर्मों से एक जन्म होता है'—इस औत्सर्गिक नियम (सामान्यनियम) का उपसंहार करते हैं—**'अत एकभविकः कर्माशय उक्त इति।'** कर्माशय मिलकर एक जन्म का आरम्भ करते हैं, इससे धर्माधर्मरूप कर्माशय **'एकभविक'** कहलाता है। **'एको भव एकभवः'** अर्थात् एक जन्म को **'एकभव'** कहते हैं। यहाँ पर **'पूर्वकालैक...'** इत्यादि सूत्र से समास हुआ है। **एकभवोऽस्यास्तीति एकभविकः**—यहाँ पर मत्वर्थीय **'ठन्'** प्रत्यय हुआ है। (**'ठन्'** प्रत्यय परे होने पर वृद्धि नहीं होती है)। कहीं-कहीं **'ऐकभविकः'** ऐसा पाठान्तर उपलब्ध होता है। ऐसे पाठ में **'एकभव'** शब्द से **'भव'** अर्थ में **'ठक्'** प्रत्यय हुआ है (**'ठक्'** प्रत्यय परे होने पर वृद्धि होती है)। इस प्रकार एक जन्मावच्छेद से कर्माशय की अवस्थिति को **'ऐकभविक'** कहते हैं।

बालप्रिया—

'प्रायणाभिव्यक्तः'—मरण के द्वारा कर्माशय के अभिव्यज्यमान होने से कर्माशय की फलोन्मुखता को इंगित किया है। अभिप्राय यह है—मरणकाल में अनारब्ध फल

वाले सञ्चित सम्पूर्ण कर्म अभिव्यक्त होते हैं, किन्तु मरणकाल से पूर्व आरब्ध फल वाले कर्म से अवरुद्ध अनारंब्ध फलक कर्मों की अभिव्यक्ति नहीं होती है। मरण ही समानरूप से निखिल अभुक्त कर्मपुञ्ज का अभिव्यञ्जक अर्थात् उद्बोधक है। किञ्च यह नियम है कि उत्पत्ति के लिये साधारण कारण के रहने पर असाधारण कारण की कल्पना नहीं की जाती है। जैसे समान प्रदीपाभास से घट की अभिव्यक्ति होती है, पट की नहीं—ऐसा कहना समीचीन नहीं है। अतः मरण को निखिल कर्मों की अभिव्यक्ति का हेतु मानना न्यायसंगत है।

शङ्का—धूमादिवर्त्म (धूमादिमार्ग) से चन्द्रमण्डल में आरूढ होने वाले भुक्तभोगियों का प्रत्यवरोहण छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित है—**'यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाऽध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते'** तथा **'तद् य इह रमणीयचरणा'** उद्धरण द्वारा प्रत्यावर्तित लोगों का जन्म प्रतिपादित है। किन्तु **'एकभविक'** कर्माशय मानने पर इन दोनों तथ्यों की संगति नहीं बैठेगी। एक ओर यह कहा जा रहा है कि मरण निखिल कर्मों का अभिव्यञ्जक है। मरणकाल में समस्त कर्म सन्निहित होकर युगपत् दैवशरीरोचित उपभोग को प्रदान करते हैं। फलतः निखिल कर्मों का भोग द्वारा क्षय हो जाने से जन्मान्तर का कारणीभूत कर्म ही शेष नहीं रहता है। दूसरी ओर आपस्तम्ब में स्पष्टतया शेषकर्म का सद्भाव वर्णित है। आपस्तम्ब का वचन इस प्रकार है—**'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुः श्रुतवृत्तवित्त-सुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते।'**

समाधान—उक्त कथन दोषावह नहीं है। क्योंकि 'नियत विपाक' स्थल में ही कर्माशय को 'एकभविक' कहा गया है। अतः एकभविकत्व नियम कादाचित्क है। 'अनियतविपाक' के प्रसंग में यह नियम नहीं है। भाष्यकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—**'तत्र दृष्टजन्म-वेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवाऽयं नियमो, न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य।'**

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार त्रिविपाक का विश्लेषण करते हैं—

तत्त्ववैशारदी

तदेवमौ[1]त्सर्गिकस्यैकभविकस्य त्रिविपाकत्वमुक्त्वा दृष्टजन्मवेदनीयस्यैहिकस्य कर्मणस्त्रि-विपाकत्वं व्यवच्छिनत्ति—दृष्टेति। नन्दीश्वरस्य खल्वष्टवर्षावच्छिन्नायुषो मनुष्यजन्मनस्तीव्र-संवेगाधिमात्रोपायजन्मा पुण्यभेद आयुर्भोगहेतुत्वाद् द्विविपाकः। नहुषस्य तु पार्ष्णिप्रहार-विरोधिनागस्त्यस्येन्द्रपदप्राप्तिहेतुनैव कर्मणायुषो विहितत्वादपुण्यभेदो भोगमात्रहेतुः।

इस प्रकार सामान्य नियम के अन्तर्गत एकभविक (अदृष्टजन्मवेदनीय) विपाकारम्भिता को बतलाकर दृष्टजन्मवेदनीय साम्प्रतिक (ऐहिक) कर्म के

---

1. क घ च छ ज झ त न – **औत्सर्गिकस्य**, ख ग थ द ध – **औत्सर्गिक**।

'त्रिविपाकारम्भी' होने का खण्डन किया जा रहा है—**'दृष्टेति'** आठ वर्ष की अल्प (सीमित) आयु वाले मनुष्यशरीरधारी **'नन्दीश्वर'** का तीव्रसंवेग अधिमात्रोपाय से उत्पन्न **'पुण्यविशेष'** आयु (दीर्घायु) तथा भोग (दिव्यसुख) का हेतु होने से द्विविपाकात्मक (द्विविपाकारम्भी) रहा। इन्द्रपद की प्राप्ति के हेतुभूत कर्मानुसार आयु भी निर्धारित होने से राजा नहुष का, महर्षि अगस्त्य के प्रति किये गये पार्ष्णिप्रहाररूप असंगत व्यवहार से उत्पन्न, **'अपुण्यविशेष'** केवल **'भोग'** (विपाक) का कारण बना।

सम्प्रति, शंका-समाधानपूर्वक **'कर्माशय'** तथा **'वासना'** के मौलिक अन्तर को स्पष्ट किया जा रहा है—

तत्त्ववैशारदी

ननु यथैकभविकः कर्माशयस्तथा किं क्लेशवासना भोगानुकूलाश्च कर्मविपाकानुभव-वासनाः। तथा च मनुष्यतिर्यग्योनिमापन्नो न तज्जातीयोचितं भुञ्जीतेत्यत आह—क्लेशक-र्मेति। संमूर्छितमेकलोलीभावमापन्नम्। धर्माधर्माभ्यां व्यवच्छेत्तुं वासनायाः स्वरूपमाह—ये संस्कारा इति।

शङ्का—जिस प्रकार (शुभाशुभ कर्मजन्य पुण्यापुण्यरूप) **'कर्माशय'** एकभविक है क्या उसी प्रकार **'क्लेशवासना'** तथा भोगानुकूलकर्मविपाकजन्य **'अनुभववासना'** भी एक-भविक है? कर्माशय की भाँति वासना को एकभविक मानने पर तिर्यगादि योनि को प्राप्त मनुष्य (प्राणी) तज्जातीयानुरूप **'भोग'** का आस्वादन अर्थात् निष्पादन नहीं कर सकता है। (भाव यह है यदि वासना भी एकभविक है तो मनुष्यशरीर के पश्चात् लब्धपशुशरीर वाला प्राणी पशुयोनि में विहित भोग को नहीं भोग सकता है? क्योंकि पशुयोनि के भोग के अनुकूल 'वासना' का अस्तित्व रहेगा ही नहीं? ऐसी स्थिति में **'वासना'** के विना भोग न हो पायेगा)?

समाधान—शङ्का-समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं—**'क्लेशकर्मेति'** सब तरफ की ग्रन्थियों से ग्रथित मछली पकड़ने के जाल के समान क्लेश, कर्म तथा फल के अनुभव से उत्पन्न वासना द्वारा यह चित्त; अनादि काल के असंख्य जन्मों से संमूर्छित अर्थात् एकलोलीभावापन्न (घनीभूत) एवं चित्रित के समान ग्रथित होता है। अतः ये वासनाएँ अनेक जन्मों की हैं, एक जन्म की नहीं। अतः वासना एकभविक नहीं है, किन्तु यह कर्माशय ही एकभविक कहा गया है, ऐसा समझना चाहिये। (इससे पूर्वपक्षी के प्रश्न का उत्तर हो जाता है कि मनुष्यशरीर के पश्चात् पशुयोनि को प्राप्त प्राणी—पहले के पशुशरीर से पुञ्जीभूत वासना के आधार पर—वर्तमान जीवन मे पशु-सम्बन्धी भोग का निष्पादन कर सकता है। क्योंकि **'वासना'** अनेकभवपूर्विका होती है)। धर्माधर्मरूप कर्माशय से वासना को पृथक् करने के लिये भाष्यकार

वासना का स्वरूप बतलाते हैं-'ये संस्कारा इति' (शङ्का है कि शुभाशुभ कर्मजन्य जो वासना है, वही तो धर्माधर्मरूप कर्माशय है। अतः कर्माशय से अतिरिक्त वासना क्या है, जिसे कर्माशय की भाँति एकभविक नहीं माना जा रहा है? उत्तर है)-जो संस्कार स्मृति के हेतु हैं, वे 'वासना' पदवाच्य हैं और ये वासनाएँ अनादि (पिछले अनादिकाल के बहुत जन्मों की) हैं। (दूसरी ओर जो धर्माधर्मरूप कर्माशय हैं, वे स्मृति के हेतु नहीं होते हैं। अतः उन्हें वासना नहीं कहा जा सकता है। अत एव एकभविक होने से उत्तरवर्ती एक ही भव में वे सब कर्माशय समाप्त हो जाते हैं। वासनाएँ कर्माशय से भिन्न होने से अनेकभवपर्यन्त विद्यमान रहती हैं)।

कर्माशय के 'एकभविकवाद' के उक्त सामान्य नियम के अपवाद प्रसंगों को नियमविशेष की परिधि से अनुबन्धित कर प्रकाश में लाया जा रहा है-

तत्त्ववैशारदी

औत्सर्गिकमेकभविकत्वं क्वचिदपवदितुं भूमिकामारचयति-यस्त्वसाविति। तुशब्देन वासनातो व्यवच्छिनत्ति। दृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवायमेकभविकत्वनियमो न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्य। किंभूतस्यानियतविपाकस्येति। हेतुं पृच्छति-कस्मादिति। हेतुमाह-यो हीति। एकां तावद्गतिमाह-कृतस्येति। द्वितीयामाह-प्रधानेति। तृतीयामाह-नियतेति। तत्र प्रथमां विभजते-तत्र कृतस्येति। संन्यासिकर्मभ्योऽशुक्लाकृष्णेभ्योऽन्यानि त्रीण्येव कर्माणि [1]कृष्णशुक्लकृष्णशुक्लानि। तदिह तपःस्वाध्यायादिसाध्यः शुक्लः कर्माशय उदित एवादत्तफलस्य कृष्णस्य नाशकोऽविशेषाच्च शबलस्यापि कृष्णभागयोगादिति मन्तव्यम् [2]अत्रैव भगवानाम्नायमुदाहरति-यत्रेदमिति। द्वे द्वे ह वै कर्मणी कृष्णकृष्णशुक्ले अपहन्तीति संबन्धः। वीप्सया भूयिष्ठता सूचिता। कस्येत्यत आह-पापकस्येति। पापकस्य पुंस इत्यर्थः। कोऽसावपहन्तीत्यत आह-एको राशिः पुण्यकृतः इति। समूहस्य समूहिसाध्यत्वात्। तदनेन शुक्लः कर्माशयस्तृतीय उक्तः। एतदुक्तं भवति-ईदृशो नामायं परपीडादिरहितसाधनसाध्यः शुक्लः कर्माशयो यदेकोऽपि सन्कृष्णान्कृष्णशुक्लांश्चात्यन्तविरोधिनः कर्माशयान्भूयसोऽप्य[3]पहन्ति। तत्तस्मादिच्छस्वेति छान्दसत्वादात्मनेपदम्। शेषं सुगमम्। अत्र च शुक्लकर्मोदयस्यैव स कोऽपि महिमा यत इतरेषामभावो न तु स्वाध्यायादिजन्मनो दुःखात्। न हि दुःखमात्रविरोध्यधर्मोऽपि तु स्वकार्यदुःखविरोधी। न च स्वाध्यायादिजन्यं दुःखं [4]तस्य कार्यम्, तत्कार्यत्वे स्वाध्यायादिविधानानर्थक्यात्तद्बलादेव तदुत्पत्तेः। अनुत्पत्तौ वा कुम्भीपाकाद्यपि

---

1. क ग थ द ध - कृष्णशुक्लकृष्णशुक्लानि, ख घ च छ ज झ त न - कृष्णकृष्णशुक्लशुक्लानि।
2. क ख ग थ द ध - तत्र, घ च छ ज झ त न - अत्र।
3. क ख ग घ च छ ज झ त न - अपहन्ति, थ द ध - हन्ति।
4. क ख ग घ च छ ज झ त न - तस्य, थ द ध-तत्।

[1]विधीयते। अविधाने च[2] तदनुत्पत्तेरिति सर्वं चतुरस्रम्।

धर्माधर्मरूप कर्माशयों का औत्सर्गिक (सामान्य विध्यनुसार) **'ऐकभविकत्व'** वर्णित हुआ। इस सामान्य नियम के अपवाद स्थलों को बतलाने के लिये भाष्यकार भूमिका बाँधते हैं–**'यस्त्वसाविति।'** 'तु' शब्द के द्वारा कर्माशय को वासना से पृथक् किया गया है। (अर्थ है)–यह जो वासना से भिन्न एकभविक कर्माशय है, वह नियतविपाक तथा अनियतविपाक के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से दृष्टजन्म-वेदनीय नियतविपाक कर्माशय में ही **'एकभविकत्व'** नियम चरितार्थ होता हैं, अदृष्ट-जन्मवेदनीय अनियतविपाक कर्माशय में नहीं।

शङ्का–अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक किस प्रक़ार का है? इसे ध्यान में रखकर प्रश्न किया जा रहा है–**'कस्मादिति।'** अर्थात् किस कारण से अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक कर्माशय में **'एकभविकत्व'** नियम प्रयुक्त नहीं होता है?

समाधान–हेतु बतलाते हुए भाष्यकार कहते हैं–**'यो हीति।'** क्योंकि अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय की तीन गतियाँ हैं। भाष्यकार पहली गति को बतलाते हैं–**'कृतस्येति।'** किये हुए कर्म का विना फल दिये हुए नष्ट हो जाना। द्वितीय गति को बतलाते हैं–**'प्रधानेति।'** किसी प्रधान कर्म में मिल जाना। तृतीय गति को बतलाते हैं–**'नियतेति'**। नियमपूर्वक अवश्य फल देने वाले प्रधान कर्म द्वारा अभिभूत होकर चिरकाल तक पड़े रहना।

अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक : प्रथम गति–

भाष्यकार उक्त तीन गतियों में से प्रथम गति का स्वरूप बतलाते हैं–'तत्र **कृतस्येति।'** किये हुए कर्म का विना फल दिये हुए ही नष्ट हो जाना, प्रथम गति है। संन्यासी के **'अशुक्लाकृष्ण'** कर्म से भिन्न (सामान्यजन के) तीन प्रकार के कर्म होते हैं, वे हैं–शुक्ल, कृष्ण तथा शुक्लकृष्ण। तप:, स्वाध्यायादि क्रियायोग के अनुष्ठान द्वारा साध्य शुक्लकर्माशय उदित होकर ही फल न दिये हुए (अदत्तफलक) कृष्ण-कर्म का नाशक होता है। अर्थात् तप: स्वाध्यायादि क्रियायोग के विधिवत् अनुष्ठान से जिस शुक्लकर्माशय की उत्पत्ति होती है, वह शुक्लकर्माशय ऐसे कृष्णकर्माशय को नष्ट कर देता है, जिसने अपना फल तब तक प्रदान नहीं किया रहता है। स्वाध्यायादिजन्य शुक्लकर्माशय कृष्णकर्म के नाश के समान शबलकर्माशय (यज्ञीय-हिंसा, दक्षिणादिजन्य पुण्यपापात्मक शुक्लकृष्णकर्माशय) का भी नाशक होता है, क्योंकि शबलकर्माशय पापसंवलित होता है। भाष्यकार कथन के पुष्ट्यर्थ श्रुतिवाक्य को उद्धृत करते हैं–**'यत्रेदमिति।'** वाक्यान्वय करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–'द्वे

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न – विधीयते, थ – विधीयेत।
2. क च छ – तु, ख घ झ त न – च, ग ज थ द ध – तु/च नोपलभ्यते।

द्वे ह वै कर्मणी...अपहन्ति'—ऐसा अन्वय करना चाहिये। अर्थात् शुक्लकर्माशय से कृष्ण तथा शुक्लकृष्ण दोनों प्रकार के कर्म नष्ट हो जाते हैं। **'कर्मणी'** शब्द से कृष्ण तथा कृष्णशुक्ल कर्म गृहीत हैं। **'द्वे द्वे'**—इस शब्द-द्विरुक्ति से **'कृष्ण'** और **'कृष्णशुक्ल'** कर्माशय का प्राचुर्य प्रकट किया गया है। किसके कर्मों का नाश होता है? इसके लिये बतलाया गया है—**'पापकस्येति'** अर्थात् पापी पुरुष के। कौन कर्मों का नाश करता है? इस पर कहा गया है—**'एको राशिः पुण्यकृतः इति'** अर्थात् अनेक पुण्यकर्मजन्य शुक्ल-धर्मसमूह। सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ है—स्वाध्यायादिजन्य पुण्यसमूह, पापी पुरुष के कृष्ण और कृष्णशुक्ल कर्मों का नाश कर देता है। क्योंकि समूह समूहिसाध्य होता है जैसे हस्त, पादादि अवयवरूप समूह शरीरावयविरूप समूहिसाध्य है, वृक्षसमूह वनसमूहिसाध्य है। इसी प्रकार कर्मसमूह कर्माशयरूप समूहिसाध्य है)। इसलिये दो प्रकार के कर्म से भिन्न तृतीय प्रकार का **'शुक्ल'** कर्माशय बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि दूसरों को कष्ट न पहुँचाने वाले साधन से सिद्ध होने वाला वह कर्माशय **'शुक्लकर्माशय'** कहलाता है, जो एक (अल्प) होता हुआ भी अत्यन्त विरोधी प्रचुर-मात्रीय (बहुसंख्यक) कृष्ण तथा कृष्णशुक्लकर्माशयों को भी नष्ट (समूलोच्छिन्न) कर देता है। **'तत्'** शब्द का अर्थ है—इस कारण से। अर्थात् इसलिये तपः, स्वाध्यायादि सुकृत कर्मों को करने की ही इच्छा कर। श्रुतिवाक्य के अन्य पदों का अर्थ सरल है। शुक्लकर्मोदय का ही ऐसा विलक्षण प्रभाव है कि उससे अन्य (कृष्ण और कृष्णशुक्ल) कर्माशयों का अभाव (नाश) हो जाता है, न कि स्वाध्यायादि से उत्पन्न होने वाले दुःख से कर्माशय का नाश होता है।

उक्त विषय को आगे स्पष्ट किया जा रहा है—

(**शङ्का**—पातञ्जलरहस्य के अनुसार—कर्म कष्टकारक होता है, यह अनुभवसिद्ध है। अतः वेदादि के अध्ययन से उत्पन्न दुःखभोग से अन्य कृष्णादि कर्म का नाश हो। क्यों व्यर्थ में शुक्ल कर्म से पुण्योदय की कल्पना की जाय?

समाधान—इस पर तत्त्ववैशारदीकार का कहना है कि)—अधर्म दुःखमात्र का विरोधी नहीं है, अपितु अधर्म अपने कार्य दुःख का विरोधी है। (अर्थात् अधर्म दुःखभोग-मात्र से नष्ट होने योग्य नहीं है, अपितु अधर्म का नाश अधर्मजनित दुःखभोग से होता है। अतः स्वाध्यायादिजन्य दुःख से अधर्म का नाश नहीं होता है, अपितु स्वाध्यायजन्य शुक्ल कर्मोदय से ही अधर्म का नाश होता है)। किञ्च स्वाध्यायादि-जन्य दुःख अधर्म का कार्य नहीं है। क्योंकि स्वाध्यायादिजन्य दुःख को अधर्म का कार्य मानने पर (**'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'** इस अध्ययनविधि से) स्वाध्यायादि का विधान निरर्थक हो जायेगा। क्योंकि अधर्म के बल से ही स्वाध्यायादि (स्वाध्यायादिजन्य दुःखभोग) की उत्पत्ति होने लगेगी और स्वाध्यायादि की उत्पत्ति न मानने पर

कुम्भीपाकादि विहित होने लगेंगे और अविहित मानने पर दुःखोत्पत्ति न हो पायेगी। इस प्रकार चतुरस्र अव्यवस्था आयेगी।

तत्त्ववैशारदी

द्वितीयां गतिं विभजते—[1]प्रधानेति। प्रधाने कर्मणि ज्योतिष्टोमादिके तदङ्गस्य पशुहिंसादेरावापगमनम्। द्वे खलु हिंसादेः कार्ये—प्रधानाङ्गत्वेन विधानात्तदुपकारः, न[2] हिंस्यात्सर्वा भूतानि इति हिंसायाः [3]प्रतिषिद्धत्वादनर्थश्च। तत्र प्रधानाङ्गत्वेनानुष्ठानाद-प्रधानतैवेत्यतो न द्रागित्येव प्रधाननिरपेक्षा सती स्वफलमनर्थं [4]प्रसोतुमर्हति, किं त्वारब्धवि-पाके प्रधाने साहायकमाचरन्ती व्यवतिष्ठते। प्रधानसाहायकमाचरन्त्याश्च [5]स्वकार्ये बीजमात्र-तयावस्थानं प्रधाने कर्मण्यावापगमनम्। यत्रेदमुक्तं पञ्चशिखेन स्वल्पः संकरो ज्योतिष्टोमादि-जन्मनः प्रधानापूर्वस्य पशुहिंसादिजन्मनानर्थहेतुनाऽपूर्वेण। सपरिहारः शक्यो हि कियता प्रायश्चित्तेन परिहर्तुम्। अथ च[6] प्रमादतः प्रायश्चित्तमपि नाचरितं प्रधानकर्मविपाकसमये [7]स विपच्येत तथापि यावन्तमसावनर्थं प्रसूते तावान्सप्रत्यवमर्षः। मृष्यन्ते हि पुण्यसंभारोपनीत-सुखसुधामहाह्रदावगाहिनः कुशलाः पापमात्रोपपादितां दुःखवह्निकर्णिकाम्। अतः कुशलकस्य [8]सुमहतः पुण्यस्य नापकर्षाय प्रक्षयाय. [9]अलं पर्याप्तः। पृच्छति—कस्मादिति। उत्तरम्—कुशलमिति। कुशलं हि मे [10]पुण्यवतो वह्वन्यदस्ति। प्रधानकर्म[11]विपाकतया व्यवस्थितं दीक्षणीयादिदक्षिणान्तम्। यत्रायं संकरः स्वल्पः स्वर्गेऽप्यस्य फले संकीर्णपुण्यलब्धजन्मनः स्वर्गात्सर्वथा दुःखेनापरामृष्टादपकर्षमल्पम् अल्पदुःखसंभेदं करिष्यतीति।

अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाकः द्वितीय गति—

अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक की द्वितीय गति का स्वरूप बतलाते हैं—'प्रधानेति' ज्योतिष्टोमादि प्रधान कर्म में उसके अंगभूत पशुहिंसादि गौण कर्म का आवापगमन अर्थात् प्रधान कर्म के साथ ही गौण कर्म का मिलकर फल प्रदान करना। (भाव यह है—जिस प्रकार धान्यबीजों के साथ उत्पन्न हुए तृणबीज धान्य-

---

1. थ द ध – प्रधानेति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – प्रधानेति नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न – न, थ – मा।
3. क घ च छ ज झ त न – प्रतिषिद्धत्वात्, ख ग थ द ध – निषिद्धत्वात्।
4. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न – प्रसोतुं, ख – प्रहर्तुम्।
5. क च त – स्वकार्य०, ख ग घ छ ज झ थ द ध न – स्वकार्ये।
6. ख – च उपलभ्यते, क ग घ च छ ज झ त थ द ध न – च नोपलभ्यते।
7. क – विपच्येत, ख ग घ च छ ज झ त – स विपच्येत।
8. क घ च छ ज झ त न – सुमहतः, ख ग थ द ध – महतः।
9. थ द ध – अलं उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – अलं नोपलभ्यते।
10. थ द ध न – पुण्यवतः उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त – पुण्यवतः नोपलभ्यते।
11. क घ छ ज झ थ द ध न – विपाकतया, ख ग च त – परिकरतया।

बीजों के साथ ही अन्नागार में एकत्रित हो जाते हैं और वर्षाकाल में धान्यबीजों के साथ ही उनका भी रोपण हो जाता है। धान्यबीजों से पृथक् स्वतन्त्र रूप से तृण-बीजों को रोपने की आवश्यकता नहीं रहती है। इसी प्रकार ज्योतिष्टोमादि प्रधान याग के अङ्गरूप से अनुष्ठित पशुहिंसादि अप्रधान क्रियाओं में स्वतन्त्र रूप से फलदान का जो असामर्थ्य है, वह प्रधानकर्म के विपाककाल में ही फलोन्मुख होता है। इस प्रकार गौण कर्म के स्वातन्त्र्येण फलदानासामर्थ्य को **'प्रधानकर्मावापगमन'** कहा गया है)।

उक्त तथ्य का विशदीकरण करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि प्रधानभूत अङ्गियाग में पशवालम्बन आदि हिंसारूप जो अंगकर्म हैं, उनके दो फल हैं—एक तो ज्योतिष्टोमादि प्रधान कर्म के अंग रूप से विहित होने से ज्योतिष्टोमादि प्रधान कर्म को सहायता प्रदान करना तथा दूसरा **'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि'** अर्थात् 'किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये'—इस श्रुति के अनुसार हिंसा निषिद्ध होने से दुःखरूप अनर्थ को उत्पन्न करना। प्रधान कर्म के अंगरूप से अनुष्ठित होने से हिंसादि कर्मों में अप्रधानत्व ही है। अतः गौण कर्म प्रधानकर्मनिरपेक्ष होकर अतिशीघ्र (प्रधान से पहले) अपना अनर्थरूप फल प्रदान नहीं कर सकता है, अपितु जब तक प्रधान कर्म फल न देवे, तब तक उनकी सहायता के लिये रुका रहता है। इस प्रकार प्रधान कर्म की सहायता के लिये तथा अपना अनर्थरूप फल प्रदान करने के लिये बीजरूप से गौण कर्म का अवस्थित रहना **'प्रधानकर्मावापगमन'** कहलाता है। (भाव यह है कि जब प्रधानकर्म स्वर्गादि फल देने लगते हैं, तब हिंसादि अप्रधान कर्म भी प्रधान का उपकार करते हुए उसके साथ-साथ अपना भी अनर्थरूप फल प्रदान करते हैं)। इस विषय में पञ्चशिखाचार्य ने कहा है—**'स्यात्...करिष्यति।' 'स्वल्पः संकरः'** का अर्थ करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं—ज्योतिष्टोम से उत्पन्न हुए **'प्रधानापूर्व'** अर्थात् अदृष्ट अर्थात् धर्म का, पशुहिंसा से उत्पन्न हुए अनिष्टकारक अदृष्ट अर्थात् अधर्म के साथ अत्यल्प मिश्रण रहता है। (भाव यह है—'संकर' शब्द का अर्थ है—मिश्रण। याग से पुण्य अधिक और पाप कम। अतः पुण्य की अपेक्षया पाप की न्यूनता होने से उसे 'स्वल्प' कहा गया है)। तत्त्व-वैशारदीकार 'सपरिहार' शब्द की व्याख्या करते हैं—यह स्वल्प पाप स्वल्प प्रायश्चित्त से परिहार करने योग्य होता है। यदि प्रमादवश (कर्तव्य को अकर्तव्य या अकर्तव्य को कर्तव्य समझकर) प्रायश्चित्त न किया जाय तो ज्योतिष्टोमादि प्रधान कर्म के फल स्वर्ग के उपभोगकाल में वह 'संकर' अर्थात् मिश्रित पाप फलोन्मुख होता है। तब पूर्वाचरित हिंसाजन्य अधर्म के फल को तब तक सहन करना पड़ता है जब तक वह अनिष्ट फल प्रदान करेगा। (वैदिक-पौराणिक कथाओं के द्वारा यह प्रसिद्ध

ही है कि) महान् पुण्य से उपलब्ध सुखमय स्वर्गरूप अमृतसरोवर में अवगाहन करते समय कुशल इन्द्रादिक देवतालोग पूर्वाचरित यागों में हिंसाजनित अल्प= स्वल्प पाप से उत्पन्न हुई दुःखरूप अग्नि की चिनगारी को सहन करते हैं। (भाव यह है—वैदिक कर्म के अनुष्ठान से सुख अधिक होता है और कुछ अल्प-दुःख भी उसके साथ मिला-जुला रहता है। इसलिये अल्प दुःख के भय से महान् सुख का त्याग नहीं किया जा सकता है। पशु-पक्षी घूमते हैं, इसलिये बीज बोना बन्द नहीं किया जाता अथवा याचकों के भय से रसोई चढ़ाना नहीं त्याग दिया जाता, ऐसा याज्ञिकों का अभिप्राय है)। यह अल्प-पाप कर्म (पुण्य कर्म के साथ मिश्रित होने पर भी) **'कुशल'** अर्थात् अधिक पारिमाणिक पुण्य कर्म का **'अपकर्ष'** अर्थात् नाश करने में समर्थ नहीं होता है।

शङ्का—वादी पूछता है—**'कस्मादिति'** अर्थात् पुण्य कर्म का नाश करने में यह पाप कर्म समर्थ क्यों नहीं होता है?

समाधान—उत्तर है—**'कुशलमिति'** क्योंकि मुझ पुण्यशील व्यक्ति का पुण्य कर्म, पाप कर्म की अपेक्षा बहुत अधिक है। प्रधान कर्म के फलरूप से यह पुण्य कर्म दीक्षणीयादि से दक्षिणापर्यन्त स्थिर है। इस अत्यधिक पुण्य कर्म में अत्यल्प पाप कर्म आवापगमन अर्थात् अन्तर्भावित हो जाता है। अतः वह पाप कर्म स्वर्ग में भी अल्प दुःखसंभेद करेगा अर्थात् अत्यल्प दुःख प्रदान करेगा, किन्तु पाप कर्म से पुण्य कर्म का नाश नहीं होगा।

बालप्रिया—

'प्रधानापूर्वस्य'—याग से उत्पन्न होकर स्वर्गफल को दिलाने वाले धर्म (शक्ति) विशेष को **'अपूर्व'** कहते हैं। इसी धर्मविशेष को मीमांसक **'अपूर्व'** कहते हैं। वेदान्ती **'प्रारब्धकर्म'** कहते हैं। नैयायिक **'धर्माधर्म'** कहते हैं। वैशेषिक **'अदृष्ट'** कहते हैं तथा पौराणिक **'पुण्य-पाप'** कहते हैं। मीमांसकों की दृष्टि में यह अपूर्व तीन प्रकार का है—प्रधानापूर्व, अंगापूर्व तथा कलिकापूर्व। प्रधान याग से उत्पन्न होने वाले **'प्रधानापूर्व'** को ही **'परमापूर्व'** कहते हैं। अंगों से उत्पन्न होने वाले अपूर्व को **'अंगापूर्व'** कहते हैं। अवान्तरक्रियाओं से उत्पन्न होने वाले अपूर्व को **'कलिकापूर्व'** कहते हैं। परमापूर्व को उत्पन्न करके **'कलिकापूर्व'** नष्ट हो जाता है। अंगापूर्व के द्वारा परमापूर्व में अतिशय पैदा किया जाता है। अभिप्राय यह है—अंगापूर्व सहित परमापूर्व ही फल प्रदान करता है।

'अंगापूर्वं प्रधानापूर्वे अतिशयमुत्पाद्य विनश्यति'—यह सिद्धान्त है कि अङ्गापूर्व प्रधानापूर्व में अतिशय का उत्पादन करके नष्ट हो जाता है तथापि प्रकृत में उसका विनाश नहीं माना जाता है। पशुहिंसादि अंगों से उत्पन्न हुआ अपूर्व, प्रधान का

उपकारक तथा नरक का जनक भी होता है। अतः प्रधान पर उपकारमात्र करके उसका विनाश यदि कहा जाय तो नरक की उपपत्ति नहीं बन सकेगी। इसलिये प्रधान पर उपकार करके भी नरकोत्पादन के लिये प्रधानापूर्व के साथ घुल-मिलकर उसकी स्थिति मानना आवश्यक है। अतः प्रायश्चित्त न करने पर हिंसाजन्य दुःख का भोग अवश्य ही करना पड़ता है।

तत्त्ववैशारदी

तृतीयां गतिं विभजते—नियतेति। बलीयस्त्वेनेह प्राधान्यमभिमतं न त्वङ्गितया। बलीयस्त्वं च नियतविपाकत्वेनान्यदा[1]नवकाशत्वात्। अनियतविपाकस्य तु [2]दुर्बलत्वमन्यदा सावकाशत्वात्। चिरमवस्थानं बीजभावमात्रेण न पुनः प्रधानोपकारितया, तस्य स्वतन्त्रत्वात्। ननु प्रायणे नैकदैव कर्माशयोऽभिव्यज्यत इत्युक्तम्। इदानीं च चिरावस्थानमुच्यते। तत्कथं परं पूर्वेण न विरुध्यत इत्याशयवान्पृच्छति—कथमिति। उत्तरम्—अदृष्टेति। जात्यभिप्रायमेकवचनम्। तदितरस्य गतिमुक्तामवधारयति—यत्त्वदृष्टेति। शेषं सुगमम्॥१३॥

अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक : तृतीय गति—

भाष्यकार (क्रमप्राप्त) तृतीय गति का स्वरूप बतलाते हैं—**'नियतेति'** अवश्य फल देने वाले बलवान् कर्मों से तिरस्कृत होकर फल दिये विना ही बहुत समय तक बीजरूप से पड़े रहना—कर्माशय की तृतीय गति है। यहाँ अङ्गित्व की दृष्टि से प्रधानत्व विवक्षित नहीं है, अपितु बलीयस्त्व को ही 'प्रधान' शब्द से व्यवहृत किया गया है अर्थात् जो कर्म बलवान् है, उसे 'प्रधान' कहा गया है। और बलीयस्त्व (बलवान्) शब्द का अर्थ है—जिसको निश्चित रूप से फल देने का अवसर मिलता है। अनियतविपाक वाले कर्म दुर्बल हैं, क्योंकि उन्हें फल प्रदान करने का अवसर नहीं मिलता है। ऐसे अप्रधान कर्म चिरकाल तक बीजरूप से पड़े रहते हैं, क्योंकि प्रधान के उपकारक होने से उनमें स्वातन्त्र्य नहीं है।

शङ्का—पहले यह कहा जा चुका है कि मरण के पश्चात् एक ही समय कर्माशय अभिव्यक्त होता है और अब यह कहा जा रहा है कि कर्माशय चिरकालपर्यन्त अवस्थित रहता है—ऐसी स्थिति में पूर्व सिद्धान्त से इस परवर्ती सिद्धान्त का बाध क्यों नहीं होता है? अर्थात् ये दोनों विरुद्ध बातें कैसे सम्भव हैं—इस आशय से पूर्वपक्षी पूछता है—**'कथमिति'**

समाधान—उत्तर है—**'अदृष्टेति'** मरण को अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाक कर्माशय का (ही) अभिव्यञ्जक कारण बतलाया गया है, न कि अदृष्टजन्मवेदनीय अनियत-

---

1. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न – अनवकाशत्वात्, ख – अनवकाशत्वेन।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न – दुर्बलत्वं, थ द ध – दौर्बल्यम्।

विपाक कर्माशय का। 'कर्मणः' में कर्मत्वजाति (सामान्य) की दृष्टि से एकवचन का प्रयोग हुआ है, (वस्तुतस्तु यह कर्मबहुत्व का बोधक है)। 'अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाकारम्भी कर्माशय से भिन्न अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाकारम्भी कर्माशय की उक्त गति को भाष्यकार (एक बार पुनः) सुनिश्चित करते हैं– 'यत्त्वदृष्टेति' सरल भाष्यार्थ पीछे किया जा चुका है॥१३॥

बालप्रिया–

'यत्त्वदृष्टेति'–तात्पर्य यह है कि कर्माशय के पहले दो भेद किये जाते हैं– दृष्टजन्मवेदनीय तथा अदृष्टजन्मवेदनीय। कर्म की फलोन्मुखता भी निश्चित और अनिश्चित की दृष्टि से दो प्रकार की है। इसे भाष्य में **'नियतविपाक'** तथा **'अनियत-विपाक'** शब्द से अभिहित किया गया है। दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय में ही नियत-विपाक सम्भव है। दूसरी ओर अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय में विपाक की नियत तथा अनियत दोनों स्थितियाँ सम्भव हैं। अन्तर इतना है कि अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक–नाश, आवापगमन तथा चिरावस्थिति रूप तीन गतियों में से किसी एक गति वाला होता है। अतः सभी कर्मों को **'एकभविक'** नहीं समझना चाहिये॥१३॥

योगवार्त्तिकम्

न केवलं कर्माशयेष्वेव क्लेशः कारणमपि तु तत्फलेष्वप्यतस्तान्यपि दुःखोत्पादने क्लेशानां साक्षात्परम्परया द्वाराणीत्याह–सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। क्लेशरूपे कर्माशयस्य मूले सत्येव कर्माशयस्य विपाकः फलं भवति[1] क्लेशाश्च वासनारूपा एव जन्मादिविपाककारणम्। विपाकस्य स्वरूपमाह–जात्यायुर्भोगा इति। जातिर्जन्म, आयुर्जीवन-कालः, भोगः सुखदुःखात्मकशब्दादिवृत्तिरित्यर्थः। न तु सुखादिसाक्षात्कार एवात्र भोगः, ते ह्लादपरितापफला इत्युत्तरसूत्रे तस्य विपाकजन्यतावचनादिति। स्यादेतत्–क्लेशानां कर्मसहकारित्वे प्रमाणं नास्ति–

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन॥

इत्यादिवाक्येभ्यो हि ज्ञानस्य क्लेशक्षयहेतुत्ववत् कर्मक्षयहेतुत्वमपि सिद्धम्। अतः क्लेशाभावकाले कर्माभावस्यावश्यकत्वात्तत एव विपाकाभावः स्यादिति? अत्रोच्यते– विविधयोनिहेतुशुभाशुभकर्मसु सत्सु यत्र रागादिरन्तकाल उद्बुद्धस्तिष्ठति मरणोत्तरं तामेव योनिं जीवः प्राप्नोति नेतरामित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां कर्मवद्रागादिदोषोऽपि विपाकहेतुः। तथा च श्रुतिः–

तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषिक्तमस्य॥ इति।

---

1. ख – विपाकश्चात्र विपाकारम्भ इति भाष्यकृद्वक्ष्यति, अन्यथा जीवन्मुक्तिश्रुतिस्मृतिबाधापत्तेः (भवति पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – विपाकः....बाधापत्तेः नोपलभ्यते।

तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च॥ इति च।

तथा [1]गीताऽपि–

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ इति॥

न्यायसूत्रं च–वीतरागजन्मादर्शनात्। नरकादिष्वपि रागाद्यनुसारेणैव विपाको भवति, निषिद्धस्त्र्यादिसक्तानामेव तप्तलोहमयनारीसमालिङ्गनादिफलश्रवणात्। अतः क्लेशोऽपि स्वातन्त्र्येण विपाकारम्भे हेतुः। ज्ञानोत्तरं चारब्धविपाकः समाप्यत एव न त्वारभ्यत इति न तत्र क्लेशापेक्षेति। अपि चात्रैव सूत्रे भाष्यकृता कर्माशयस्यापि प्रसंख्यानदग्धबीजभावस्य [2]वक्तव्यतया कर्माशयस्य दाह एव ज्ञानेन क्रियते न तु नाश इत्यवधार्यते। स च क्लेशाख्यसहकार्युच्छेद एव। ज्ञानस्य हि व्यापारद्वयं क्लेशाख्यहेतूच्छेदेन कर्मानुत्पादः प्राचीनकर्मणां दाहश्च; न तु कर्मनाशः, प्रारब्धकर्मणोऽपि नाशप्रसङ्गात्। न च प्रारब्धातिरिक्तकर्मत्वेन ज्ञाननाश्यता कल्प्येति वाच्यम्, लाघवेन क्लेशस्यैव विपाकारम्भहेतुत्वकल्पनौचित्यात्। प्रारब्ध[3]फलकस्य कर्मणो बीजशक्तिनाशेऽपि फलं समाप्यत एव बीजदाहेऽप्युत्पन्नाङ्कुरवदिति। अत एव–

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।
योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिरात्।

इति गीताविष्णुपुराणयोर्ज्ञानयोगाभ्यां कर्मणो दाह एव श्रूयते न तु नाश इति, तदेकवाक्यतया च क्षीयन्ते चास्य कर्माणीत्यादिवाक्यान्यपि दाहपराण्येव, तथा तदधिगम उत्तरपूर्वार्धयो[4]रश्लेषविनाशौ इति ब्रह्मसूत्रेऽपि विनाशशब्दो निष्फलताऽर्थक एव मन्तव्यः। कर्माशयनाशस्तु ज्ञानवासनानाशवच् चित्तनाशादेव भवति, धर्मिनाशस्य धर्मनाशहेतुतायाः सामान्यत एव क्लृप्तत्वादिति। तस्माज्ज्ञानेन क्लेशाख्यहेतु[5]दाहात् कर्मानुत्पादवत् प्राचीनकर्मविपाकानारम्भोऽपि भवति, क्लेशाख्यदृष्टसहकार्यभावात्। अतो ज्ञानात् क्लेशाख्यसहकार्युच्छेद एव कर्मदाह इति सर्वं सुस्थम्।

केवल कर्माशयों के प्रति क्लेश कारण नहीं हैं, अपितु कर्मजन्य फलों के प्रति भी अविद्यादि क्लेश की कारणता है। अतः दुःखोत्पत्ति करने में जात्यादि फल क्लेशों के साक्षात् अथवा परम्परया द्वार हैं ऐसा सूत्रकार बताते हैं–'सतीति' कर्माशय के क्लेशरूप मूल के विद्यमान रहने पर ही कर्माशय का 'विपाक' अर्थात्

1. क ख घ च छ – गीता, ग – गीतायां।
2. ख ग च छ – वक्तव्यतया कर्माशयस्य उपलभ्यते, क घ – वक्तव्यतया कर्माशयस्य नोपलभ्यते।
3. क ख घ च छ – फलकस्य, ग – फल०।
4. क ख घ च छ – पूर्वार्धयोः, ग – पूर्वयोः।
5. क ग घ च छ – दाहात्, ख – उच्छेदात्।

फल प्राप्त होता है। किञ्च वासनारूप क्लेश ही जन्मादि के कारण हैं। सूत्रकार विपाक के स्वरूप को बतलाते हैं–**'जात्यायुर्भोगा इति।'** **'जाति'** शब्द का अर्थ है–जन्म, **'आयु'** शब्द का अर्थ है–जीवनकाल तथा **'भोग'** सुखात्मक अथवा दुःखात्मक शब्दादिवृत्तिरूप है। यहाँ सुखादिसाक्षात्कार को ही **'भोग'** नहीं कहा गया है, क्योंकि **'ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्'** (२/१४) आगामी सूत्र में सुखादि साक्षात्कार को विपाकजन्य नहीं बतलाया गया है।

शङ्का–क्लेश कर्म के सहकारी हैं अर्थात् क्लेश कर्मसहभू हैं इसमें कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि **'ज्ञानाग्नि...ऽर्जुन'** (गीता ४/३७) अर्थात् 'हे अर्जुन ज्ञानाग्नि समस्त कर्मों को दग्ध कर देती है'–इत्यादि वाक्यों से जैसे ज्ञान को क्लेशक्षय का हेतु कहा गया है, वैसे ही वह कर्मक्षय का भी हेतु है, यह सिद्ध होता है। अतः क्लेश के अभाव-काल में कर्म का अभाव होना भी अनिवार्य है, इससे जात्यादि फलाभाव भी हो जायेगा?

समाधान–इस पर योगवार्तिककार कहते हैं–नाना प्रकार की योनियों के हेतुभूत शुभाशुभ कर्मों के विद्यमान रहने पर जिन कर्मों के प्रति रागादि की अन्तकाल में अभिव्यक्ति होती है, मरणोपरान्त जीव उसी योनि को प्राप्त करता है, अन्य योनियों को नहीं। इस अन्वय-व्यतिरेक से यह सिद्ध होता है कि कर्म के समान रागादि दोष (क्लेश) भी विपाक के हेतु हैं। इसमें श्रुतिवाक्य प्रमाण है– **'तदेव...निषिक्तमस्य'** (बृ. उ. ४/४/६) अर्थात् 'इसका लिङ्ग अर्थात् मन जिसमें अत्यन्त आसक्त होता है (उसी फल को साभिलाष होकर कर्म के सहित प्राप्त करता है)।' तथा–**'तं...पूर्वप्रज्ञा च'** (बृ. उ. ४/४/२) अर्थात्' उस समय उसके साथ-साथ ज्ञान, कर्म और पूर्वप्रज्ञा (अनुभूत विषयों की वासनाएँ) भी जाती हैं।' इसी प्रकार गीता भी उद्घोष करती है–**'पुरुषः....जन्मसु'** (१३/२१) अर्थात् 'पूर्वोक्त कूटस्थ असङ्ग आत्मा शरीरतादात्म्य को पाकर प्रकृति से उत्पन्न देह, इन्द्रिय आदि के बाल्य, काणत्व आदि धर्मों को तथा सुख-दुःख आदि प्रत्ययों को आत्मीय समझकर अनुभव करता है। इस आत्मा के पुण्य-पाप योनियों में जन्म लेने का कारण गुणसङ्ग अर्थात् काम है।' न्याय सूत्र भी है–**'वीतरागजन्मादर्शनात्'** (३/१/२४) अर्थात् 'वीतरागी का जन्म नहीं देखा जाता है।' नरकादि लोकों में भी रागादि के अनुसार ही जात्यादिविपाक प्राप्त होता है, क्योंकि शास्त्रविरुद्ध पद्धति से परस्त्र्यादि में आसक्त होने वाले कामियों का ही तप्त लोहरूप नारी के साथ आलिङ्गनादिरूप फल सुना जाता है। अतः जात्यादिविपाक को आरम्भ करने में क्लेश भी स्वतन्त्ररूप से कारण है और ज्ञानोत्पत्ति के पश्चात् तो प्रारब्धकर्मफलभोग समाप्त ही हो जाता है, न कि आरम्भ होता है। अतः इस स्थिति में क्लेश की अपेक्षा नहीं

रहती है। किञ्च प्रस्तुत सूत्र का भाष्य करते हुए व्यासदेव द्वारा **'प्रसंख्यानाग्नि'** द्वारा कर्माशय की भी 'दग्धबीजभावरूपता' कथित होने से यह निर्धारित होता है कि ज्ञान के द्वारा कर्माशय का **'दाह'** ही किया जाता है, न कि **'नाश'।** और यह दाह क्लेशाख्य सहकारी का **'उच्छेद'** होने पर ही सम्भव है। इस प्रकार ज्ञान (**प्रसंख्यानाग्नि**) के दो व्यापार हैं—पहला है, क्लेशाख्य हेतु के उच्छेद (नाश) द्वारा (नवीन) कर्म को उत्पन्न न होने देना तथा दूसरा है, पुरातन कर्म का दाह करना, न कि नाश करना। अन्यथा प्रारब्ध कर्म के भी नाश का प्रसङ्ग उपस्थित होगा।

शङ्का—तब तो ऐसा ही मान लिया जाय कि ज्ञान के द्वारा प्रारब्धकर्मातिरिक्त कर्मों का नाश होता है अर्थात् ज्ञान में प्रारब्धकर्मातिरिक्त कर्मनाश्यता है?

समाधान—पूर्वपक्षी को ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि लाघव के आधार पर क्लेश को विपाकारम्भ का हेतु मानना ही औचित्यपूर्ण है। प्रारब्धफलक कर्म की बीजशक्ति के नष्ट होने पर तज्जन्य फल की भी उसी प्रकार समाप्ति हो जाती है, जिस प्रकार बीज के दग्ध होने पर उत्पद्यमान अंकुर की फलोत्पादनशक्ति का अवसान हो जाता है। अत एव **'ज्ञानाग्नि...बुधाः'** (गीता ४/१९) अर्थात् 'उस ज्ञानरूपी अग्नि से दग्ध कर्म वाले जीवन्मुक्त महापुरुष को शास्त्रज्ञ लोग पण्डित कहते हैं' तथा **'योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिरात्'** (वि. पु. ६/७/३५) अर्थात् 'योगाग्नि कर्मसमुच्चय को अविलम्ब नष्ट करती है'—इत्यादि गीता तथा विष्णुपुराण (के वाक्यों) में ज्ञानाग्नि तथा योगाग्नि द्वारा कर्म का दाह होना ही सुना जाता है, न कि नाश होना। और इन पूर्ववर्त्ती वाक्यों के साथ एकवाक्यता होने से **'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि'** (मुण्डकोप. १/२/८) अर्थात् 'ज्ञानी के कर्म क्षीण हो जाते हैं'—इत्यादि वाक्यों को भी दाहपरक ही माना जाता है और इसीलिये **'तदधिगम उत्तरपूर्वार्धयोरश्लेषविनाशौ'** (४/१/१३) अर्थात् 'उपासना का फल प्राप्त होने पर पहले या पिछले किये हुए पाप नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि ऐसा श्रुति में कहा गया है' इस ब्रह्मसूत्र में भी **'विनाश'** शब्द को फलहीन अर्थ वाला ही माना गया है। (अब रही बात कर्माशय के नाश की तो यह कहना है)—कर्माशय का नाश तो ज्ञानजन्य वासना के नाश की तरह चित्तनाश से ही हो जाता है, क्योंकि धर्मिनाश ही धर्मनाश के हेतुरूप से साधारणतया स्वीकृत है। इससे ज्ञान के द्वारा क्लेशाख्य हेतु का दाह होने से कर्मानुद्भव (कर्मानुत्पाद) की तरह पुरातन कर्म भी विपाकोन्मुख (फलाभिमुख) नहीं होता है, क्योंकि क्लेशाख्य दृष्टसहकारिकारण का अभाव रहता है। इस पर्यालोचन से यह सिद्धान्त सुस्थिर होता है कि ज्ञान के द्वारा क्लेशाख्य सहकारी का उच्छेद होने पर ही कर्मदाह होता है।

स्वमतानुसार सूत्र की विस्तृत व्याख्या करने के पश्चात् योगवार्त्तिककार भाष्य की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

तदेतत्सर्वमभिप्रेत्य भाष्यकारः सूत्रमिदं व्याचष्टे–सत्सु क्लेशेष्विति। विपाकारम्भीति। आरम्भशब्दाज्जीवन्मुक्तस्यारब्धविपाकेषु न क्लेशाः कारणमित्युक्तं तस्य ह्यारब्ध एव विपाकः कर्मणा समाप्यत इति। एतेन जीवन्मुक्तस्य भोगार्थमविद्यालेशकल्पनमज्ञानामुपेक्षणीयम्, आरब्धविपाकक्लेशानाम[1]हेतुत्वादिति। क्लेशानां कर्माशयसहकारित्वं ज्ञानादग्धकर्माशयस्यैव विपाकारम्भहेतुत्वं च दृष्टान्तेन प्रतिपादयति–यथा तुषेति। क्लेशावनद्ध इति। ज्ञानादग्धबीजभाव इत्यपि बोध्यम्, दृष्टान्तानुसारात् न प्रसंख्यानदग्धबीजभावो [2]वेत्युत्तरवाक्याच्च। नापनीतक्लेश इति। सविपाकगोचरक्लेशशून्य इत्यर्थः, अतो न प्रसंख्यानदग्धबीजभावो वेत्यस्य क्लेशसामान्याभावकालीनः कर्माशयोऽसंकीर्णोदाहरणमिति। जात्यायुर्भोगा इति व्याचष्टे–स च विपाक इति।

इन्हीं सबको (उपरिनिर्दिष्ट वस्तुस्थिति को) ध्यान में रखकर भाष्यकार प्रस्तूयमान सूत्र की व्याख्या करते हैं–**'सत्सु क्लेशेष्विति।'** क्लेशों के मूल में होने पर ही कर्माशय **'विपाकारम्भी'** होता है। योगवार्त्तिककार पूर्व वाक्यगत **'विपाकारम्भी'** शब्द की व्याख्या करने के लिये भाष्य को उठाते हैं–**'विपाकारम्भीति।'** यहाँ **'आरम्भ'** शब्द के प्रयोग से यह कथित है कि जीवन्मुक्त के आरब्ध-विपाकों के प्रति क्लेश कारण नहीं है, क्योंकि जीवन्मुक्त का आरब्ध-विपाक ही कर्म के द्वारा समाप्त होता है। इससे जीवन्मुक्त के कर्मफलभोग के लिये अज्ञों ने जिस अविद्यालेश की कल्पना की है, वह उपेक्षणीय है, क्योंकि कर्मफल (आरब्ध-विपाक) प्रारम्भ हो जाने पर क्लेश हेतु नहीं रहता है। क्लेशों की कर्माशय के प्रति सहकारिता तथा ज्ञान के द्वारा अदग्धीभूत कर्माशय के प्रति ही विपाकारम्भ की कारणता को भाष्यकार दृष्टान्त के द्वारा उपपादित करते हैं–**'यथा तुषेति।'** जैसे तुषरूप सहकारिकारण से सम्बद्ध दग्धबीजभाव को न प्राप्त हुए धान अंकुरोद्भव में समर्थ होते हैं। दृष्टान्त को दार्ष्टान्त के साथ जोड़ने के लिये योगवार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–**'क्लेशावनद्ध इति।'** (उसी प्रकार प्रकृत में क्लेशानुबिद्ध तथा ज्ञान के द्वारा दग्धबीजभाव को न प्राप्त हुए क्लेश कर्माशय के विपाकारम्भ के कारण होते हैं)।

---

1. ख – नन्वेवं क्लेशानां कर्मविपाकारम्भहेतुत्वमेवास्तु किमित्यदृष्टहेतुत्वमपि कल्प्यते। ज्ञानिनामप्यदृष्टोत्पादेऽपि क्लेशाभावादेव फलानारम्भसंभवादिति, चेन्न प्रयोजनाभावेऽपि वाचनिकत्वात्। ज्ञानिनामपि ब्रह्महत्यादिना पातित्वाभावेन वैदिककर्मानुष्ठानसंभवस्यैवान्ततः प्रयोजनत्वाच्चेति (अहेतुत्वादिति पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – नन्वेवं....प्रयोजनत्वाच्चेति नोपलभ्यते।
2. क ख घ च छ – वा, ग – च।

योगवार्त्तिककार बतला रहे हैं कि दार्ष्टान्त में 'ज्ञान के द्वारा अदग्धबीजभाव' ऐसा भी जोड़ना चाहिये, क्योंकि दार्ष्टान्त दृष्टान्तानुसारी होता है तथा (प्रस्तावित तथ्य के व्यतिरेकमुखेन प्रतिपादन में) 'न प्रसंख्यानदग्धबीजभावो वेति' ऐसा परवर्ती वाक्य भी (भाष्य में उपलब्ध होता) है। अब योगवार्त्तिककार भाष्य के दार्ष्टान्तपक्षीय व्यतिरेकवाक्य को उठाते हैं–'नापनीतक्लेश इति।' यहाँ 'अपनीतक्लेश' शब्द का अर्थ है–विपाकयुक्तक्लेश से रहित अर्थात् 'जात्यादिविपाकविषयक क्लेशराहित्य'। अतः 'न प्रसंख्यानदग्धबीजभावो वेति' अर्थात् क्लेशसामान्याभावकालिक कर्माशय इसके असंकीर्ण अर्थात् निषेध का उदाहरण है। (सरलार्थ यह है कि 'क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति–'यह दार्ष्टान्त का अन्वयवाक्य है और 'नापनीतक्लेशो न प्रसंख्यानदग्धक्लेशबीजभावो वा' यह दार्ष्टान्त का व्यतिरेकवाक्य है)। भाष्यकार सूत्रगत 'जात्यायुर्भोगा इति' की व्याख्या करते हैं–'स च विपाक इति।' यह विपाक तीन प्रकार का है–जातिरूप, आयुरूप तथा भोगरूप।

योगवार्त्तिकम्

कर्मणो जन्मकारणत्वे कञ्चन विशेषमवधारयितुमाह–तत्रेदं विचार्यत इति। तत्र= जन्मलक्षणविपाके। अस्य[1] विचारस्य प्रयोजनं[2] स्वयमेव वक्ष्यति। तत्र चत्वारो विकल्पाः–कर्मैकत्वपक्षं ध्रुवं कृत्वा जन्मैकत्वानेकत्वरूपं प्रथमं विकल्पद्वयं, कर्मानेकत्वं च ध्रुवं कृत्वा जन्मानेकत्वैकत्वरूपमपरं विकल्पद्वयमिति। आक्षिपतीति। फलदानार्थमुत्पादयतीत्यर्थः। किमनेकमिति। अनेकं कर्म मिलित्वाऽनेकं जन्म करोतीत्यर्थः। आद्यविकल्पे तु न मिलनमुक्तमिति ततो विशेषः। तत्राद्यं विकल्पमपाकरोति–न तावदेकमिति। पृच्छति–कस्मादिति। उत्तरम्–अनादीति। प्रचितस्य संचितस्य, अविशिष्टस्य अभुक्तस्य। अविशिष्टस्येतिपाठे अन्योन्यभुक्तत्वेनाविशिष्टस्येत्यर्थः। सांप्रतिकस्यैहिकस्य फलक्रमानियमादनाश्वास इति यथोक्तानामनन्तकर्मणां मध्ये किं कर्म प्रथमं फलं दास्यति किं वा[3] पश्चादिति फलक्रमे नियमो नास्ति, अतो लोकानां पुण्यानुष्ठाने फलानाश्वासः स्यात्, भाव्यनन्तकालमध्ये भाविपापादिनाऽनुष्ठीयमानकर्मणो विनाशसंभवात्, झटिति भोगकामनयैव कर्मानुष्ठानाच्चेत्यर्थः। द्वितीयं विकल्पं निराकरोति–न चैकमिति। अनेकजन्मसु किंचित्कृत्वा फलदानायानेकजन्मनः कारणमेकैकं कर्मेत्यपि न भवतीत्यर्थः। अत्र हेतुं पृच्छति–कस्मादिति। उत्तरम्–अनेकेष्विति। अनेकेषु जन्मसु क्रियमाणं कर्मैकैकं प्रत्येकमेवानेकस्यासंख्यजन्मनः

1. क ग घ – च (अस्य पश्चात्) उपलभ्यते, ख च छ – च नोपलभ्यते।
2. ख – कर्मविश्वासरूपं (प्रयोजनं पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – कर्मविश्वासरूपं नोपलभ्यते।
3. क घ च छ – वा, ख ग – च।

कारणम्, अतोऽवशिष्टस्य तदितरस्य तद्विरुद्ध[1]फलस्य कर्मण इति यावदिति। तृतीयं विकल्पं निराकरोति च चानेकं कर्मेति। पृच्छति—कस्मादिति। उत्तरम्—तदनेकमिति। तथा चेति। प्रथमपक्षोक्तदोषस्यानाश्वासस्य प्रसङ्ग इत्यर्थः।

तदेवं पक्षत्रये दूषिते चतुर्थपक्षं सिद्धान्तयति—तस्मादिति। तस्माज्जन्मारभ्यामरण-पर्यन्तकाले विहितनिषिद्धैर्यो धर्माधर्मसमूहो गुणप्रधानभावापन्न उत्पादितः स मरणकाल आरब्धकर्मभोगसमाप्त्या लब्धावसरः सन्नेकप्रयत्नेन मिलित्वा स्वफलदानार्थं मरणं प्रसाध्य संमूर्च्छितः[2] प्रवृद्धवेग एकमेव जन्म गुणप्रधानभावापन्नः स्वफलयोग्यं करोति नानेकमित्यर्थः। मरणं च लिङ्गदेहस्य स्थूलदेहादुत्क्रमणं न तु नाशो गमनश्रुतेः, नाशस्य भोगाहेतुतया कर्माजन्यत्वास्वाभाविकत्वयोर्भाष्ये वक्ष्यमाणत्वाच्च। ननु केवलजन्मना किं प्रयोजनम्? [3]तत्राह—तच्च जन्मेति। आयुषोऽपि न स्वतः पुरुषार्थत्वमत आह—तस्मिन्नायुषीति। असाविति। जन्महेतुरित्यर्थः। अन्यो हि [4]द्व्येकमात्रविपाको भवतीति वक्ष्यति। औत्सर्गिकमुप-संहरति—अत इति। एको भवोऽस्मिन्कार्यतयाऽस्तीत्येकभविकः कर्माशयसमूहः पूर्वाचार्यैरुक्त इत्यर्थः। ऐकभविक इति पाठे त्वेकभविकं कर्म तज्जन्यादृष्टं चैकभविकमित्यर्थः। नन्वेवं स्वर्गिनारकिणां कथं पुनर्जन्मादि स्यात्, स्वर्गादिशरीरे धर्माद्यनुत्पत्तेः प्राचीनसर्वकर्मणां च तत्रैव समापनादिति चेत्? न, स्वर्गादिजनककर्मणामेव ब्राह्मणस्थावरादियोनिलाभपर्यन्त-फलश्रवणात् [5]शास्त्रानुक्तकालविशेषस्यैव फलस्यैकभविकत्वनियमादिति।

त्रिविपाकं कर्मैकत्वैकद्विविपाके कर्मणी प्राह—दृष्टजन्मेति। नन्दीश्वरवन्नहुषवच्चेति दृष्टान्तद्वयं पूर्वोपन्यासक्रमेणोक्तम्। अत्र तु व्युत्क्रमेण योजनीयं प्रतिज्ञाक्रमेणोदाहरणौचित्यात्। नन्दीश्वरस्य [6]ह्यष्टवर्षायुर्मनुष्यजन्मनः पुण्यविशेषेणायुर्भोगरूपं विपाकद्वयं देवसंबन्ध्युत्पन्नं नहुषस्य चेन्द्रत्वसंपादककर्मणैव दीर्घायुष्ट्वस्य लाभात् पापविशेषेण केवलं सर्पभोगरूप एक एव विपाक उत्पन्न इति। तत्र च नन्दीश्वरनहुषयोर्मनुष्यशरीरस्यैव वार्द्धकादिवद्देवसर्परूप-परिणामान्तरात् न जन्मान्तरमपूर्व[7]देहानुत्पादादिति। [8]नन्वेवं कर्माशयवज्ज्ञानवासनाऽप्यैकभ-विक्येव स्यात्। तथा च तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वादित्यागामिसूत्रे वासना-

---

1. क घ च छ – फलस्य, ख ग – फलदस्य।
2. ख – उदितः (संमूर्च्छितः पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – उदितः नोपलभ्यते।
3. क ख घ च छ – तत्र, ग – तत्।
4. क ख घ च छ – द्व्येक०, ग – कर्म०।
5. क ग घ च छ – शास्त्रानुक्तकालविशेषस्यैव फलस्यैकभविकत्वनियमादिति, ख – किञ्च आजन्ममरणान्तकालार्जितबहुलकर्ममध्ये पूर्वपूर्वभवीयकर्मवर्गमध्ये वा किञ्चित् कर्मावश्यं बलतद्विरुद्धकर्मणा भूतं भवेत्। अतः तत्कर्मणामप्यन्ततः पुनर्जन्म घटत इति।
6. क – स्व०, ख ग घ च छ – हि।
7. ख – सम्बन्ध० (देह० पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – सम्बन्ध० नोपलभ्यते।
8. क ग घ च छ – ननु, ख – न च।

नामनादित्ववचनं नोपपद्येतेत्याशङ्कां परिहरति–क्लेशकर्मेति। क्लेशकर्मणोर्विपाकस्य योऽनुभवश्चित्तवृत्तिनिवहो ज्ञानरूपस्[1]तन्निष्पादिताभिर्ज्ञानरूपवासनाभिरनादिकालेषु संमूर्छितमुपचितं पुष्टमिति यावत्। अत एव विविधरूपाभिस्ताभिः पटवत् सर्वतश्चित्रितमिव चित्तं ग्रन्थिभिरा[2]यतं मत्स्यजालमिव वर्त्तत इत्यत एता वासना अनेकभवपूर्विकाः स्वीक्रियन्ते, अन्यथा मनुष्ययोन्यनन्तरं देवतिर्यग्योनिभोगानुपपत्तेः मनुष्यजन्मनि तद्वासनाऽनुपपत्तेः। एवं [3]भववासनानां च मनुष्यजन्मनैव क्षयादित्यर्थः। अत्र वासनानां जीवमत्स्यबन्धकचित्तजालग्रथितत्वेन रूपणात्,

भिद्यते हृदयग्रन्थिच्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः॥

इत्यादिश्रुतावपि हृदयग्रन्थिर्वासनैव न त्वाधुनिककल्पिता[4]हंकारादिरिति सिद्धम्। कर्माशयाख्याद्धर्माधर्मरूपात्संस्काराद्वासनानां वैलक्षण्यमाह–ये संस्कारा इति। ताश्चानादिकालीना इत्युपसंहारः।

कर्म के जन्मकारणत्व (कर्म जन्म का कारण है) के विषय में किसी विशेष सिद्धान्त (तथ्य) को अवधारित करने के लिये भाष्यकार कहते हैं–'**तत्रेदं विचार्यत इति**'। यहाँ 'तत्र' शब्द का अर्थ है–'जन्मलक्षणक फल के विषय में' अर्थात् यहाँ जातिसंज्ञक विपाक को लेकर विचार किया जा रहा है। इस विचार के अभिप्राय को भाष्यकार स्वयं ही आगे बतलायेंगे। इस विषय में चार विकल्प (सम्भावनाएँ) हैं–कर्मैकत्वपक्ष को आधार बनाकर जन्म का एकत्व अथवा अनेकत्व विकल्पद्वयात्मक प्रथम पक्ष है तथा कर्मानेकत्व पक्ष को आधार बनाकर जन्मानेकत्व अथवा जन्मैकत्वरूप विकल्पद्वयात्मक दूसरा पक्ष है। '**आक्षिपतीति**' (इस प्रकार की कर्मविषयिणी चतुर्विध विचारणा) फलप्राप्ति के अभिप्राय से उत्पन्न होती है–ऐसा '**आक्षिपति**' क्रियापद का अर्थ है। '**किमनेकमिति**' इस विकल्प का (विशदीकृत) अर्थ यह है–क्या अनेक कर्म मिलकर अनेक जन्मों को करते हैं? आद्यविकल्प अर्थात् द्विविकल्पात्मक प्रथम पक्ष में कर्मों के मिलन की बात नहीं कही है अर्थात् कर्म के एक रहते हुए जन्म के एकत्व अथवा अनेकत्व पर विचार किया गया है। यही प्रथम पक्ष से द्वितीय पक्ष का पार्थक्य है। इन चार विकल्पों में से प्रथम विकल्प (एक कर्म से एक जन्म होता है इस पक्ष) का भाष्यकार खण्डन करते हैं–'**न तावदेकमिति**' एक कर्म एक जन्म का कारण नहीं हो सकता है।

---

1. क च छ – तत्, ख ग घ – तैः
2. क घ च छ – आयतं, ख ग – आतत०।
3. ख ग – पूर्व० (भव० प्राक्) उपलभ्यते, क घ च छ – पूर्व० नोपलभ्यते।
4. क ग घ च छ – अहंकारादि, ख – अहंकारात्।

शङ्का–प्रश्न किया जा रहा है–'**कस्मादिति**' अर्थात् एक कर्म एक जन्म का कारण क्यों नहीं हैं?

समाधान–उत्तर है–'**अनादीति**' '**प्रचित**' शब्द का अर्थ सञ्चित, '**अवशिष्ट**' शब्द का अर्थ अभुक्त अर्थात् न भोगा हुआ है। भाष्य में जहाँ-कहीं '**अवशिष्ट**' के स्थान पर '**अविशिष्टस्येति**' ऐसा पाठ उपलब्ध होता है, वहाँ '**अविशिष्ट**' पद का अर्थ 'कर्मों में परस्पर भुक्तत्व (भोगयोग्यत्व) की समानता' विवक्षित है। '**साम्प्रतिक**' शब्द का अर्थ ऐहिक अर्थात् वर्तमान जन्म है। योगवार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं– '**फलक्रमानियमादनाश्वास इति**' यथोक्त (सञ्चित तथा ऐहिक) अनन्त कर्मों के मध्य में कौन सा कर्म सर्वप्रथम (अपना) फल प्रदान करेगा और कौन सा कर्म बाद में? इस प्रकार कर्मजन्य फलोत्पत्ति के क्रम के विषय में नियम (व्यवस्था) नहीं रहेगा। इसका परिणाम यह होगा कि प्राणियों का पुण्य कर्मानुष्ठान से विश्वास उठ जायेगा, क्योंकि आगामी अनन्तकाल में अनुष्ठित भावी पापादि कर्म (पुञ्ज) से पुण्यात्मक कर्म का विनाश सम्भव रहता है तथा (दूसरी युक्ति यह है कि) त्वरित भोगकामना अथात् अविलम्ब सुख-प्राप्ति की अभिलाषा से ही व्यक्ति (पुण्य) कर्म का सम्पादन करता है। (सरलार्थ यह है कि त्वरित पुण्यात्मक कर्म का फल प्राप्त न होने से तथा भविष्य में पापसमूह से निष्प्रभावी होकर उसके नष्टप्राय हो जाने से 'एक कर्म से एक जन्म' की अवधारणा में पुण्यशीलों का पुण्यकर्म के प्रति विश्वास न हो सकने के कारण यह विकल्प खण्डनीय है)।

भाष्यकार द्वितीय विकल्प (प्रथम पक्ष के द्वितीय भेद) का निराकरण करते हैं–'**न चैकमिति**' अनेक जन्मों में कृत अनन्त कर्मों में से एक-एक कर्म फल देने के लिये अनेक जन्मों का कारण है, यह अवधारणा भी ठीक नहीं है।

शङ्का–इस विकल्प के असम्भव होने के विषय में पूर्वपक्षी पूछता है–'**कस्मादिति**' एक कर्म को अनेक जन्मों का कारण क्यों नहीं माना जा सकता है?

समाधान–उत्तर है–'**अनेकेष्विति**' अनेक जन्मों में सम्पादित कर्मों में से प्रत्येक कर्म की असंख्य जन्मों के प्रति कारणता, अवशिष्ट विरुद्धफलक कर्मों के फलदान की अनवसरता एवं अविश्वासपरता होने से यह प्रथम विकल्प से भी अधिक दोषावह है। अतः यह पक्ष भी निराकृत होता है।

भाष्यकार तृतीय विकल्प (द्वितीय पक्ष के प्रथम भेद) का निराकरण करते हैं– '**न चानेकं कर्मेति**' अनेक कर्म अनेक जन्मों के कारण होते हैं–यह पक्ष भी नहीं माना जा सकता है।

शङ्का–इस विकल्प के असम्भाव्य के विषय में पूर्वपक्षी पूछता है–'**कस्मादिति**' अनेक कर्मों से अनेक जन्म होने के वाद को स्वीकार क्यों नहीं किया जाता है?

समाधान–उत्तर है–**'तदनेकमिति।'** अनेक जन्मों का युगपत् होना असम्भव है। अतः अनेक कर्मों से प्राप्त होने वाले जन्मों की क्रमिकता ही माननी पड़ेगी। फिर इस स्थिति में **'तथा चेति'** प्रथम पक्ष में वर्णित (कथित) अनाश्वासदोष का ही (अनभिप्रेत) प्रसङ्ग आयेगा। अतः यह विकल्प भी निरस्त होता है।

इस पद्धति से कर्मवाद के उपरिवर्णित तीनों पक्षों की दोषयुक्तता सिद्ध हो जाने पर भाष्यकार चतुर्थ विकल्प की सिद्धान्तरूप से व्याख्या करते हैं–**'तस्मादिति।'** जन्म से लेकर मृत्यु की मध्यावधि में कृत शास्त्रविहित तथा शास्त्रनिषिद्ध कर्मों के द्वारा गौण-प्रधानभाव से युक्त धर्माधर्मात्मक जो कर्माशयपुञ्ज उभर कर सामने आता है, वह आरब्धकर्मभोग के समाप्त हो जाने के कारण मृत्यु के समय अभिव्यक्ति का उपयुक्त सुयोग प्राप्त कर सहसा (अल्प प्रयत्न से) संगठित होकर अपना फल प्रदान करने के लिये (कर्त्ता की) मृत्यु कराकर प्रचण्डगतियुक्त एक ही जन्म को गौण तथा प्रधानभाव से अपने फल के योग्य बनाता है, न कि अनेक जन्मों को। **'मरण'** शब्द के अर्थ को योगवार्त्तिककार स्पष्ट करते हैं–**'स्थूलशरीर'** से **'सूक्ष्मशरीर'** (लिङ्गदेह) के उत्क्रमण (निकल जाने) को ही मृत्यु कहते हैं, न कि सूक्ष्मशरीर का नाश मृत्यु कहलाता है। क्योंकि सूक्ष्मशरीर का ऊर्ध्वगमन श्रुत है तथा सूक्ष्मशरीर का नाश मानने पर नाश में भोग की हेतुता न रहने से तत्प्रयुक्त होने वाले कर्माजन्यत्व तथा अस्वाभाविकत्व का भाष्य में आगे प्रतिपादन किया जायेगा।

शङ्का–कर्मानुसार केवल जन्म होने से क्या लाभ?

समाधान–इस पर भाष्यकार बतलाते हैं–**'तच्च जन्मेति।'** वह **'जन्म'** उसी कर्म के अनुसार (नियत जीवनरूप) आयुष्य वाला होता है। अर्थात् आयुसापेक्ष जन्म की सार्थकता होने से **'आयु'** कर्म का द्वितीय परिणाम है। **'आयु'** भी स्वतः (स्वतन्त्ररूप से) पुरुषार्थरूप नहीं है? ऐसा भाष्यकार बतलाते हैं–**'तस्मिन्नायुषीति।'** उस जातिविशिष्ट (जन्मयुक्त) आयु में उसी कर्मानुसार (जिस कर्म के अनुसार जाति और आयु की निष्पत्ति हुई है) सुख-दुःखरूप **'भोग'** का निष्पत्ति होती है। अर्थात् भोगसापेक्ष आयु की सार्थकता होने से **'भोग'** कर्म का तृतीय परिणाम है। योगवार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–**'असाविति।'** अर्थात् कर्माशय जाति, आयु तथा भोग का कारण होने से **'त्रिविपाकी'** कहलाता है। इस प्रकार कर्म (कर्माशय) में आयु तथा भोग से परिपुष्ट जन्म की कारणता निहित है। कहीं-कहीं कर्माशय द्विविपाकी अथवा एकविपाकी होता है, ऐसा आगे प्रतिपादित किया जायेगा। जन्मकारणक कर्म के **'औत्सर्गिक'** नियम का भाष्यकार उपसंहार करते हैं–**'अत इति।'** योगवार्त्तिककार **'एकभविक'** शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं–**'एको भवोऽस्मिन् कार्यतयाऽस्ती-**

त्येकभविकः' अर्थात् एक भव (जन्म) इसमें कार्यरूप से अवस्थित रहता है, इसलिये इसे '**एकभविक**' कहते हैं। यह '**एकभविक**' कर्माशयसमूह है, ऐसा पूर्वाचार्यों ने माना है। योगवार्त्तिककार आगे बतला रहे हैं कि जहाँ '**ऐकभविक**' ऐसा पाठ उपलब्ध होता है, वहाँ एकभविक कर्म तथा कर्मजन्य अदृष्ट को '**ऐकभविक**' कहा गया है।

शङ्का–इस स्थिति में स्वर्गवासियों तथा नरकवासियों का पुनर्जन्मादि कैसे हो सकेगा, क्योंकि स्वर्गिक शरीर में धर्मादि की उत्पत्ति नहीं होती है तथा पुरातन समस्त कर्मों की तो स्वर्ग में ही भोग द्वारा समाप्ति हो जाती है?

समाधान–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि स्वर्गादि के उत्पादक कर्मों की ही ब्राह्मण, स्थावरादियोनिलाभपर्यन्त फलश्रुति है अर्थात् स्वर्गादि के प्रापक कर्मों का भी फल सुना जाता है क्योंकि शास्त्र में जिस कर्मजन्य फल का काल अनुक्त है, उसमें ही **एकभविकत्व** नियम चरितार्थ होता है।

कर्म के त्रिविपाकविषयक सामान्यनियम को बतलाकर भाष्यकार उसके एकविपाकत्व और द्विविपाकत्व को बतलाते हैं–'**दृष्टजन्मेति**।' उदाहरण है–'**नन्दीश्वर-वन्नहुषवच्चेति**।' यहाँ दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय के दृष्टान्तद्वय (नन्दीश्वरोपाख्यान तथा नहुषोपाख्यान) पूर्ववर्ती सूत्र के भाष्य में निर्दिष्ट क्रमानुसार वर्णित हैं। वस्तुतस्तु यहाँ (दृष्टजन्मवेदनीयकर्माशय की एकविपाकारम्भिता तथा द्विविपा-कारम्भिता–इत्याकारक) प्रतिज्ञा के क्रम में व्यतिक्रम करके उदाहरणद्वय की योजना करनी चाहिये। अष्टवर्ष की आयु वाले मानवदेहधारी नन्दीश्वरकुमार का पुण्यात्मक कर्मविशेष के कारण देवोचित आयु तथा भोगरूप विपाकद्वय प्रादुर्भूत हुआ तथा इन्द्रपदोचित कर्म के द्वारा राजा नहुष को दीर्घ आयु प्राप्त रहने से पापात्मक कर्मविशेष के कारण उनमें केवल सर्पयोनिप्रधान एक ही '**भोग**' रूप फल प्रादुर्भूत हुआ। क्योंकि नन्दीश्वरकुमार तथा राजा नहुष के वर्तमान शरीर का ही वृद्धावस्थादिरूप देवत्व और सर्पत्वरूप परिणामान्तर हुआ, न कि जन्मान्तर, क्योंकि उनका नूतन देह उत्पन्न नहीं हुआ। (सिद्धान्ततः यह प्रतिपादित हुआ कि दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय जन्मान्तर का कारण नहीं है, अपितु पूर्व कर्मानुसार धारण किये हुए देंह में ही वर्तमान कर्मानुसार 'आयु' तथा 'भोगरूप' विपाक समुच्चित तथा असमुच्चित रूप से प्रादुर्भूत होता है)।

शङ्का–इस प्रकार कर्माशय में '**एकभविकत्व**' नियम मानने पर कर्माशय की भाँति ज्ञानवासना को भी '**एकभविकी**' कहना पड़ेगा किन्तु इससे '**तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्**' (यो. सू. ४/१०) इस आगामी सूत्र में वर्णित 'वासना' का '**अनादित्व**' उपपन्न न हो सकेगा?

समाधान—उक्त शंका का परिहार भाष्यकार करते हैं—'**क्लेशकर्मेति**' (अविद्यादि) क्लेश से उत्पन्न (शुभाशुभ) कर्म तथा कर्म से उत्पन्न (जात्यायुर्भोगरूप) विपाक का जो ज्ञानरूप चित्तवृत्त्यात्मक अनुभव है, वह अनादिकाल में निष्पादित ज्ञानरूप वासनाओं से संकुल (उपचित) अर्थात् परिपुष्ट रहता है। अत एव विविध वर्णीय तन्तुओं से निर्मित वस्त्र की भाँति विविधजातीय वासनाओं से चित्रित चित्त मत्स्य-जाल की भाँति होता है। इसीलिये ये वासनाएँ अनेकभवपूर्विका मानी गईं हैं। अन्यथा (कर्माशय की भाँति वासनाओं को एकभवपूर्विका स्वीकार करने पर) मनुष्ययोनि के पश्चात् देव, तिर्यक् आदि योनि का भोग उपपन्न नहीं हो सकेगा, क्योंकि मानुषयोनि में देवादियोनि की वासनाएँ तो होती नहीं हैं तथा उस मनुष्यजन्म में पुञ्जीभूत वासनाओं का मनुष्यजन्म के द्वारा ही क्षय होता है। क्योंकि यहाँ मत्स्यबन्धक जाल की भाँति जीवबन्धक चित्त में वासनाओं को गुम्फितरूप से निरूपित किया गया है। जैसा कि '**भिद्यते...सर्वसंशयाः**' (मुण्डकोप. २/२/८) अर्थात् 'हृदयग्रन्थि का छेदन हो जाता है और सभी प्रकार के संशयों की निवृत्ति हो जाती है'—इस श्रुतिवाक्य में भी '**वासना**' को ही '**हृदयग्रन्थि**' कहा गया है, न कि आधुनिक वेदान्ती द्वारा कल्पित अहंकारादि को। भाष्यकार कर्माशयाख्य धर्माधर्मरूप '**संस्कार**' से '**वासना**' के अन्तर को बताते हैं—'**ये संस्कारा इति**' संस्कार स्मृति के हेतु होते हैं तथा वासनाएँ अनादि होती हैं। इस प्रकार कर्माशय की एकभवपूर्विका तथा वासनाओं की अनेकभवपूर्विका की मान्यता सुस्थिर (उपसंहृत) होती है।

योगवार्त्तिकम्

औत्सर्गिकमेकभविकत्वं क्वचिदपवदितुं भूमिकां रचयति—यस्त्वसाविति। नियतः स्वाभाविको विघ्नशून्यः तादृशो विपाको यस्य स तथा। स चावन्ध्योऽनन्यशेषः कर्मान्तरानभिभूतश्च कर्माशयस्तद्विपरीतश्चानियतविपाक इत्यर्थः। अयं चार्थोऽनियतविपाक त्रैविध्यभाष्ये व्यक्तीभविष्यति।[1] तत्रादृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवायं नियम इति। एकभविकत्वनियम इत्यर्थः। न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य चेति, सुगमम्। दृष्टजन्मवेदनीयस्य भवाहेतुत्वेनैकभविकत्वाभावः स्पष्ट एवेत्यतोऽनियतविपाकस्यैवैकभविकत्वनियमाभावे हेतुं पृच्छति—कस्मादिति। उत्तरम्—यो ह्यदृष्टेति। दृष्टजन्मवेदनीयस्यैकभविकत्व[2]शङ्का नास्तीत्याशयेनैवा[3]ह—अदृष्टजन्मवेदनीयस्येति। स्वरूपाख्यानमात्रं न तु

---

1. ख – ऐकभविकस्यानियतविपाकत्वं यथा सद्यः परिपाकयोग्यस्य कर्मणः कर्मान्तरेण प्रतिबन्ध इति (व्यक्तीभविष्यति पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – ऐकभविकस्य....प्रतिबन्ध इति नोपलभ्यते।
2. क ख ग – एव (शंका पश्चात्) उपलभ्यते, घ च छ – एव नोपलभ्यते।
3. क घ च छ – आह उपलभ्यते, ख ग – आह नोपलभ्यते।

दृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकत्वं नास्तीत्यादि: कश्चिदाशय: संभवति, प्रयोजना[1]भावात्। यो ह्यदृष्टजन्मवेदनयोग्यो नियतविपाकभिन्नः स त्रिविध इत्यर्थः, यथाश्रुते वक्ष्यमाणस्याविपक्वनष्टस्य संग्रहानुपपत्तेः। तिसृष्वेकां गतिमाह–कृतस्येति। अपरिपक्वस्यादत्तफलकस्य विनाश इत्यर्थः। तथा च तस्य नास्त्येकभविकत्वमित्याशयः। द्वितीयामाह–प्रधानेति। प्रधानकर्मणा यागादिना सहैव तदङ्गानां पशुहिंसाऽऽदीनां स्वफलदानाय [2]च फलप्राप्तिः [3]प्रधानकर्मण्यावापगमनम्। यथा धान्यबीजैः सहोत्पन्नानां तृणबीजानां तैः सहैव कुसूलमध्यस्थापितानां धान्यबीजेन सहैव वपनप्राप्तिः न स्वातन्त्र्येण तद्वत् परोपसर्जनतयाऽनुष्ठितत्वाद् न स्वातन्त्र्येण फलदानमिति। तथा च[4] प्रधानकर्मातिशयस्य यदा बलवत्तरकर्मान्तरेणाभिभवस्तदा तदुपसर्जनस्यापि नैकभविकत्वमित्याशयः। तृतीयां गतिमाह–नियतविपाकेति। तत्र[5] प्रधानं नाङ्गि किं तु बलवत्तरम्, नियतविपाकेन प्रधानकर्मणा [6]स्वविरुद्धफलदेनाभिभूतस्य प्रतिबद्धस्य चिरमवस्थानं द्वित्रिचतुरादिजन्मसु प्रसुप्ततयाऽवस्थानमित्यर्थः। तथा च तस्य नैकभविकत्वमित्याशयः।

कर्माशय के **'एकभविकत्व'** इस सामान्य (औत्सर्गिक) नियम के अपवादस्थलों को बताने के लिये भाष्यकार भूमिका बाँधते हैं–**'यस्त्वसाविति।'** यह जो एकभविक कर्माशय है वह नियतविपाक वाला अर्थात् सहज बाधारहित फल वाला है। किञ्च यह **'नियतविपाक कर्माशय'** अबन्ध्य (शक्तियुक्त), अनन्यशेष (प्रधान) तथा कर्मान्तर (दूसरे कर्माशय) से अभिभूत (तिरस्कृत) नहीं होता है। **'अनियतविपाककर्माशय'** इसके विपरीत होता है। अनियतविपाक कर्माशय की तीन अनियत स्थितियाँ भाष्य में स्पष्ट की जायेंगी। भाष्यकार बतला रहे हैं–**'तत्रादृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवायं नियम इति।'** कर्माशय के **'एकभविकत्व'** का नियम 'अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाक में ही चरितार्थ होता है। आगे का भाष्य है–**'न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य चेति।'** अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक में **'एकभविकत्व'** नियम चरितार्थ नहीं होता है।

दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय में भवहेतुता न होने से उसमें 'एकभविकत्वाभाव' का सिद्धान्त स्फुट ही है। अतः अनियतविपाकारम्भी कर्माशय के 'एकभविकत्व-नियमाभाव' के विषय में ही पूर्वपक्षी पूछता है–

---

1. ख – **तस्यापि त्रिविधत्वसंभवाच्च** (अभावात् पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – **तस्य...च** नोपलभ्यते।
2. क ग च छ – **च फलप्राप्तिः**, ख – **वाऽऽवापगमनं प्राप्तिः**, घ – **च फलं प्राप्तिः**।
3. क ग घ च छ – **प्रधानकर्मण्युपगमनं**, ख च – **कर्मण्यावापगमनम्**।
4. क ख ग घ च – **च** उपलभ्यते, छ – **च** नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ – **अत्र**, च छ – **तत्र**।
6. क ग घ च छ – **स्वविरुद्ध०**, ख – **ह्यविरुद्ध०**।

शङ्का—**'कस्मादिति'** अर्थात् 'अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक कर्माशय' में एकभविकत्व नियम क्यों संगत नहीं होता है?

समाधान—उत्तर है—**'यो ह्यदृष्टेति'** दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय के विषय में **'एकभविकत्व'** की शंका ही नहीं है, इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—**'अदृष्टजन्मवेदनीयस्येति'** यह भाष्यांश अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय के स्वरूपमात्र का ख्यापक (बोधक) है। इससे दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय के अनियतविपाकत्व के **'अभाव'** (निषेध) को बतलाना अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि ऐसा बताने में कोई प्रयोजन नहीं है। यह जो अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक कर्माशय है, वह तीन प्रकार का (तीन स्थितियों वाला) है, अन्यथा यथाश्रुति के अनुसार फल प्रदान किये विना नष्ट होने वाले कर्माशय का संग्रह नहीं हो सकेगा। अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाकारम्भी कर्माशय की तीन गतियों में से पहली गति को भाष्यकार बतलाते हैं—**'कृतस्येति'** किये हुए कर्म का विना फल दिये हुए नष्ट हो जाना। इस गति के आधार पर अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाकारम्भी कर्माशय में एकभविकत्व नियम चरितार्थ नहीं होता है, ऐसा बतलाना अभिप्रेत है। भाष्यकार कर्माशय की दूसरी गति को प्रतिपादित करते हैं—**'प्रधानेति'** यागादिरूप प्रधान कर्म के साथ ही पशुहिंसादिरूप अङ्गयागों (अप्रधानयागों) का अपना फल प्रदान करने के लिये प्रधान यागादिकर्म में अन्तर्भुक् हो जाना। अर्थात् किसी प्रधान कर्म के साथ मिलकर फल प्रदान करना, न कि स्वतन्त्र होकर। जिस प्रकार धान्यबीजों के साथ उत्पन्न हुए तथा धान्यबीजों के साथ ही अन्नागार में रखे हुए तृणबीजों की धान्यबीजों के साथ ही बोने की क्रिया निष्पन्न होती है, न कि स्वतन्त्र रूप से। उसी प्रकार दूसरे प्रधान कर्म के प्रति गौणरूप से अनुष्ठित कर्म स्वतन्त्ररूप से अपना फल प्रदान नहीं करते हैं। किञ्च प्रधानकर्म की अतिशयता जब किसी दूसरे बलवत्तर कर्म के द्वारा अभिभूत (तिरस्कृत) होती है, तब उपसर्जनीभूत कर्म में एकभविकत्व नियम चरितार्थ नहीं होता है। यही 'प्रधानकर्म में गौण कर्म की आवापगमनरूप गति है। भाष्यकार अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक कर्म की तृतीय गति को बताते हैं—**'नियतविपाकेति'** यहाँ 'प्रधान' शब्द का अर्थ **'अङ्गी'** नहीं है, अपितु बलवत्तरता है। इस प्रकार नियतविपाकी **'प्रधानकर्म'** अर्थात् स्वविरुद्ध (गौण कर्म के विरुद्ध) विपरीत फल प्रदान करने वाले प्रधान कर्म से **'अभिभूत'** अर्थात् प्रतिबद्ध हुए अनियतविपाकी अप्रधान कर्म (कर्माशय) का **'चिरावस्थान'** अर्थात् दो, तीन, आदि जन्मपर्यन्त **'प्रसुप्त'** रूप से बने रहना, तृतीय प्रकार की गति है। अतः इसमें भी एकभविकत्व नियम चरितार्थ नहीं होता है।

योगवार्त्तिकम्

एतास्वाद्यमुदाहरति—तत्र कृतस्येति। शुक्लः कर्माशयः धर्मः, कृष्णश्चाधर्मः, तयोराद्येनोत्तरस्य नाशे श्रुतिमुदाहरति—यत्रेदमिति। पुण्यपापरूपे द्वे कर्मणी पुरुषैर्वेदितव्ये अवधारयितव्ये, द्वे द्वे इति वीप्सा पुरुषभेदात् कर्मभेदमभिप्रेत्योक्ता, यतः पुण्यकृतः पुण्यनिमित्त एको मुख्यो राशिः समूहस्य समूहिकार्यत्वात् पापकस्य पापराशेरपहन्ति, चोरस्य निहन्तीतिवत् कर्मणि षष्ठी, तस्मात्सुकृतानि कर्माणि कर्त्तुमिच्छस्व, तच्च कर्म इह लोक एव ते तुभ्यं कवयो वेदयन्ते प्रतिपादयन्ते न तु लोकान्तर इति श्रुत्यर्थः। इच्छस्वेति छान्दसत्वादात्मनेपदम्।

द्वितीयां गतिमुदाहरति—प्रधानेति। यत्र यस्मिन्विषये पञ्चशिखाचार्येणेदं वक्ष्यमाणमुक्तं तदेव प्रधानकर्मण्यावापो गमनमित्यन्वयः। स्यात्स्वल्प इत्यादिवाक्यस्यायमर्थः—हिंसाऽऽदिजन्यपापेन यागाद्यपूर्वस्य स्वल्प एक संकरः स्यात्सोऽपि सपरिहारः स्वल्पेनैव प्रायश्चित्तेन परिहर्त्तुं शक्यते। यदि च प्रमादतः प्रायश्चित्तं न क्रियते सप्रत्यवमर्षः, बहुसुखमध्ये [1]अल्पदुःखं [2]मर्षणयोग्यं भोजनान्तरीयकदुःखवत्, अतः कुशलस्य कर्मणोऽपकर्षाय हेयत्वाय नालं न पर्याप्तम्। संकर इति। शेषं करिष्यतीत्यन्तं पञ्चशिखवाक्यं सुगमम्।

तृतीयां गतिमुदाहरति—नियतेति। उत्कटत्वरूपं बलवत्त्वमेव प्रधानत्वम्। नन्वेवं कर्मविशेषस्य चिरमवस्थाने सति पूर्वोक्तसर्वकर्मणामेकदैव प्रायणादभिव्यक्तिः कथमुपपद्यत इत्याशयेन शङ्कते—कथमिति। सिद्धान्तमाह—अदृष्टेति। कर्मणः कर्मसामान्यस्य। समानमेकम्। न त्वदृष्टेति। अदृष्टजन्मवेदनीयस्येति प्रसङ्गादुक्तम्। अत्रानियतविपाकस्य वेति वाशब्दः क्वचित्तिष्ठति, स वाशब्दोऽप्यर्थः।

गतित्रयमुपसंहरति—यत्त्विति। उपासीत=प्रतीक्षेत, [3]विपाकं विपाकारम्भकं स्वाविरुद्धकर्मान्तरमिति शेषः। उपासनस्यावधिमाह—यावदिति। अस्य समानविरुद्धं कर्माभिव्यक्तौ निमित्तं यावन्नैतत्फलोन्मुखीकरोतीत्यर्थः।

यद्यज्जन्मकृतं पापं मया सप्तसु जन्मसु।
तन्मे रोगं च शोकं च माकरी हन्ति सप्तमी॥

इत्यादिवाक्यानि तथा कर्मगतेर्दुर्विज्ञानत्ववचनानि चैतादृशकर्मविषयाण्येवेत्याह—तद्विपाकस्येति। अभिभूतकर्मविपाकस्यैव कुत्र कदा केन निमित्तविशेषेण भविष्यतीत्यवधारयितुमशक्यत्वादियमभिभूतकर्मगतिश्चित्रा अद्भुतरूपा दुर्विज्ञाना चेत्यर्थः। नन्वेवमेकभविकत्वं क्षतमित्याशङ्क्याह—न चोत्सर्गस्येति। निवृत्तिः क्षतिरित्यर्थः, क्वचिदपवादेऽप्येकभविकत्वमौत्सर्गिकमेवानुमन्यतेऽस्माभिरित्यर्थः। न चैवमप्यपवादाशङ्क्याऽनाश्वासतादवस्थ्यम्,

---

1. क च छ – अन्यत्, ख ग – अल्प०, घ – अन्य०।
2. क ख ग घ च – मर्षणयोग्य०, छ – मर्षणायोग्यम्।
3. क घ च छ – विपाकं विपाकारम्भकं, ख ग – विपाकत्रयारम्भकम्।

अपवादस्य स्वानुष्ठानमान्यनिमित्तकतया तद्भित्वैव शक्यपरिहारत्वादिति। यच्चाधुनिक-वेदान्तिभिरेकभविकमतं व्यभिचारेण दूषितं तदज्ञानादेव, औत्सर्गिकतामात्रस्य भाष्यकृतो-क्तत्वादिति सर्वं सुस्थम्॥१३।

उक्त तीन प्रकार की गतियों में से प्रथम गति का उदाहरण भाष्यकार प्रस्तुत करते हैं—**'तत्र कृतस्येति'** शुक्ल कर्माशय धर्मरूप तथा अकृष्ण कर्माशय अधर्मरूप है। इन दोनों धर्म तथा अधर्मरूप कर्माशयों में से प्रथम प्रतिपादित धर्मात्मक कर्माशय के द्वारा उत्तरवर्ती अधर्मात्मक कर्माशय का नाश होने में भाष्यकार श्रुति को प्रस्तुत करते हैं—**'यत्रेदमिति'** पुरुषों के द्वारा पुण्यात्मक तथा पापात्मक रूप दो प्रकार के कर्म किये जाते हैं। श्रुति में **'द्वे द्वे'** शब्द का दो बार प्रयोग पुरुषभेद से होने वाले कर्मभेद को लक्षित करने के लिये है, क्योंकि पुण्यकर्त्ता की पुण्यनिमित्त वाली **'एकराशि'** अर्थात् प्रमुखराशि, संघात (समूह) संघातावयवों का कार्य होने से, पापकर्त्ता की पापराशि को नष्ट कर देती है। यहाँ **'पापराशेरपहन्ति'** में **'पापराशेः'** में **'कर्म'** अर्थ में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग उसी प्रकार हुआ है जिस प्रकार **'चोरस्य निहन्ति'** में कर्मार्थक षष्ठी विभक्ति **'चोरस्य'** पद में हुई है। अतः (पुण्यराशि से पापराशि के नष्ट होने से) सुकृत (पुण्यात्मक) कर्मों को करने की इच्छा करनी चाहिये। इसलिये कवियों (तत्त्वज्ञों) ने तुम्हारे लिये वर्तमान जन्म में ही पुण्यात्मक कर्मों को करने का आग्रह किया है, न कि आगामी जन्म (लोकान्तर) में पुण्यशील कर्मों को करने का उपदेश किया है। ऐसा श्रुत्यर्थ है। यहाँ **'ते'** से **'तुभ्यम्'** और **'वेदयन्ते'** से **'प्रतिपादयन्ते'** अर्थ गृहीत है। श्रुति में **'इच्छस्व'** पद में आत्मनेपद का प्रयोग **'छान्दस'** अर्थात् **'वैदिक'** है। **'इच्छस्व'** वैदिक व्याकरण का रूप है। (लौकिक व्याकरण के अनुसार इसका परस्मैपदीय रूप **'इच्छ'** बनता है)।

भाष्यकार द्वितीय गति का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—**'प्रधानेति'** इस विषय में **'पञ्च'** अर्थात् पञ्चशिखाचार्य ने आगे जो कहा है, वही प्रधानकर्म में गौण कर्म का आवापगमन है, ऐसा अन्वय किया जाता है। पञ्चशिखाचार्य के **'स्यात्स्वल्पः'** इत्यादि वाक्य का अर्थ यह है—यदि हिंसादिजन्य पाप से यागादिजन्य पुण्यात्मक अपूर्व (यागादि से उत्पन्न होने वाले अदृष्ट) में स्वल्प मिश्रण (संकर) भी हो जाय तो भी वह अल्पप्रयाससाध्य प्रायश्चित्त के द्वारा परिहार (दूर) करने योग्य रहता है। अर्थात् प्रायश्चित्त के द्वारा उसे अकरणसामर्थ्य वाला किया जा सकता है। यह एक स्थिति है। दूसरी स्थिति यह है—यदि अनवधानता के कारण (प्रत्यवायपरिहार-प्रयोजनक) प्रायश्चित्त न किया जा सके तो उस (हिंसादिजन्य पाप का) फल सहनीय (सप्रत्यवमर्ष) होता है। अन्य प्रकार से न भोगने की स्थिति वाला वह स्वल्प दुःख स्वर्गादिरूप अत्यधिक सुख के मध्य में उसी प्रकार सहनीय होता है,

जिस प्रकार भोजन के बीच में आया हुआ अल्प दुःख (सहज) सहन के योग्य रहता है। अतः स्वल्प शक्तियुक्त पापकर्म **'कुशल'** अर्थात् पुण्य कर्म के **'अपकर्ष'** अर्थात् उसकी शक्ति को क्षीण करने में समर्थ नहीं होता है। योगवार्त्तिककार का कहना है कि **'शेषं करिष्यतीति'** यहाँ तक पञ्चशिखवाक्य सरल है।

भाष्यकार अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाकारम्भी कर्माशय की तृतीय गति का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—**'नियतेति'** **'उत्कटत्वरूप'** बलवत्त्व को ही **'प्रधानत्व'** कहते हैं। अर्थात् नियतविपाक प्रधानकर्म से अभिभूत होकर अनियतविपाक अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय दीर्घकाल तक प्रसुप्त (यों ही पड़ा) रहता है।

शङ्का—इस प्रकार कर्मविशेष की चिरकाल तक अवस्थिति मानने पर 'पूर्ववर्ती सभी कर्मों की मृत्यु के समय एक साथ अभिव्यक्ति होती है' यह कथन कैसे उपपन्न हो सकेगा? अर्थात् स्ववचोव्याघात के आशय से पूर्वपक्षी शंका करता है—**'कथमिति।'**

समाधान—भाष्यकार एतत्सम्बन्धी सिद्धान्त को बताते हैं—**'अदृष्टेति।'** **'कर्म'** शब्द का अर्थ **'कर्मसामान्य'** तथा **'समान'** शब्द का अर्थ **'एक'** है। अर्थात् अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाक वाले कर्मसामान्य के प्रति मरणसामान्य को अभिव्यक्तिकारण कहा गया है। किस कर्माशय के प्रति मरणसामान्य अभिव्यक्तिकारण नहीं है, तत्सम्बन्धी भाष्य को योगवार्त्तिककार उठाते हैं—**'न त्वदृष्टेति।'** अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाकारम्भी कर्माशय के प्रति मरणसामान्य अभिव्यक्तिकारण नहीं है। भाष्य में **'अदृष्टजन्मवेदनीयस्य'** यह पद प्रसंगतः कहा है। भाष्य में **'अनियतविपाकस्य वेति'** इस प्रकार **'वा'** शब्द का प्रयोग जहाँ-कहीं दिखलाई पड़ता है, वहाँ **'वा'** शब्द **'अप्यर्थक'** ('भी' अर्थ में प्रयुक्त) है।

भाष्यकार उपरिवर्णित गतित्रय को उपसंहृत करते हैं—**'यत्त्विति।'** **'उपासीत'** क्रियापद का अर्थ है—'प्रतीक्षा करें'। अपने अविरुद्ध कर्मान्तर वाले होकर ये अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाककर्माशय विपाकारम्भी होते हैं। भाष्यकार इन कर्मों की प्रतीक्षा करने की अवधि बतलाते हैं—**'यावदिति।'** इनका इस प्रकार पड़ा रहना भी तभी तक होता है, जब तक इन कर्मों के समान फल देने वाला दूसरा कोई अभिव्यञ्जक बलवान् निमित्तकर्म इन्हें फलाभिमुख नहीं करता है। और जब उक्त निमित्त मिल जाता है तब अभिव्यक्त होकर फल देने लगते हैं। अतः **'यद्यज्जन्मकृतं...सप्तमी'** अर्थात् 'सात जन्मों में से जिस-जिस जन्म में मैंने पाप किया है, उस पाप कर्म से समुत्पादित मेरे रोग और शोक को माघशुक्लपक्षीय सप्तमी तिथि नष्ट करती है'—इत्यादि वाक्य तथा कर्मगति की दुर्ज्ञेयता के प्रतिपादक वाक्य इसी उपरिनिर्दिष्ट तथ्य के प्रतिपादक हैं, ऐसा भाष्यकार बताते हैं—**'तद्विपाकस्येति।'** (बलवत्तर कर्म के द्वारा) तिरस्कृत=अभिभूत कर्म का फल कहाँ, कब तथा किस

निमित्तविशेष के द्वारा प्राप्त होगा? इस विषय में निश्चय करना सम्भव न रहने से यह **'अभिभूत कर्मगति'** अद्‌भुतरूप वाली तथा कठिनता से जानने योग्य कही गई है।

शङ्का–कर्माशय की उक्त त्रिविधात्मक विचित्र स्थिति से तो कर्माशय के एकभविकत्व नियम को क्षति पहुँचती है?

समाधान–ऐसी आशंका होने पर भाष्यकार कहते हैं–**'न चोत्सर्गस्येति'** अपवादों के कारण औत्सर्गिक नियमों की निवृत्ति नहीं होती है। अर्थात् सामान्यनियम को किसी प्रकार व्याघात नहीं पहुँचता है, क्योंकि चिरस्थिति के बाद भी उनका फल प्रदान करना सुनिश्चित रहता है। भाव यह है कि अपवाद रहने पर भी कर्माशय का एकभविकत्वनियम औत्सर्गिक ही है, ऐसा हम लोग अनुमान करते हैं। इससे अपवाद का परिहार तो स्वानुष्ठान के मान्द्य से किया जा सकता है। और जो आधुनिक वेदान्ती लोग एकभविकत्व नियम को व्यभिचारदोष से दूषित करते हैं, वह अज्ञानतापूर्ण ही है, क्योंकि भाष्यकार ने तो कर्माशय के एकभविकत्वनियम की औत्सर्गिकता ही विधिवत् प्रतिपादित (अभिहित) की है॥१३॥

बालप्रिया–

'आधुनिकवेदान्तिभिरेकभविकमतं व्यभिचारेण दूषितम्'–इस विषय में ब्रह्मसिद्धि द्रष्टव्य है। ब्रह्मसिद्धि के प्रथम काण्ड के प्रथम श्लोक के घटकीभूत 'अयम्' पद के विवरण के रूप में उक्त मतान्तर को प्रस्तुत किया गया है। अतः वहीं द्रष्टव्य है॥१३॥

योगसूत्रम्

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्[1]॥१४॥

वे जाति, आयु और भोगरूप विपाक धर्माधर्मरूप हेतुमूलक होने से सुख (ह्लाद) तथा दुःख (परिताप) रूप फल प्रदान करने वाले होते हैं।

व्यासभाष्यम्

ते जन्मायुर्भोगाः पुण्यहेतुकाः सुखफला अपुण्यहेतुका दुःखफला इति। यथा चेदं दुःखं प्रतिकूलात्मकमेवं विषयसुखकालेऽपि दुःखमस्त्येव प्रतिकूलात्मकं योगिनः॥१४॥

पुण्य कर्माशय के कारण प्राप्त होने वाला जाति, आयु तथा भोग संज्ञक विपाक सुखमय होता है तथा अपुण्य कर्माशय के कारण प्राप्त होने वाला जात्यादि विपाक दुःखमय होता है। जिस प्रकार यह दुःख प्रतिकूलात्मक है,

---

1. हेतुकत्वात् – इति पाठान्तरम्।

उसी प्रकार विषयसुख के भोगकाल में भी योगियों के लिये प्रतिकूलात्मक दुःख का अस्तित्व बना रहता है॥१४॥

तत्त्ववैशारदी

उक्तं क्लेशमूलत्वं कर्मणाम्। कर्ममूलत्वं च विपाकानाम्। अथ विपाकाः कस्य मूलं येनामी त्यक्तव्या इत्यत आह–ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वाद् इति। सूत्रं व्याचष्टे–ते जन्मायुर्भोगा इति। यद्यपि जन्मायुषोरेव ह्लादपरितापपूर्वभावितया तत्फलत्वं न तु भोगस्य ह्लादपरितापोदयान्तरभाविनस्तदनुभवात्मनस्तथाप्यनुभाव्यतया भोग्यतया भोगकर्मतामात्रेण भोगफलत्वमिति मन्तव्यम्।

इस प्रकार क्लेशमूलक कर्म तथा कर्ममूलक जाति, आयु तथा भोगरूप विपाक का प्रतिपादन किया गया। सम्प्रति, जात्यादि विपाक से किसकी उत्पत्ति होती है जिसके कारण ये हेयकोटिक हैं? इसे बताया जा रहा है–'**त इति**' भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं–'**ते जन्मायुर्भोगा इति**' (सूत्र में जात्यादि को ह्लादपरितापफलक बताया गया है। इनमें से '**भोग**' के ह्लादपरितापफलकत्व को स्पष्ट करते हुए तत्त्व-वैशारदीकार कहते हैं)–यद्यपि सुखदुःखानुभूति के पूर्वभावी 'जाति' तथा 'आयु' को ही ह्लादपरितापफलक कहना न्यायसंगत है। इन्हें '**भोग**' का भी फल मानना उचित नहीं है, क्योंकि ह्लाद तथा परिताप के पश्चाद्भावी सुखदुःखसाक्षात्काररूप '**भोग**' होता है (अतः पश्चाद्भावी '**भोग**' को सुखदुःखफलक कैसे कहा जा सकता है क्योंकि कारण '**कार्यनियतपूर्ववृत्ति**' होता है), तथापि सुख-दुःख (ह्लाद-परिताप), सुखदुःखसाक्षात्कार रूप भोग का विषय है। अतः भोग के विषयत्व अर्थात् कर्मत्व की दृष्टि से ही '**भोग**' को ह्लादपरितापफलक कहा गया है। अर्थात् '**भोग**' से ह्लाद तथा परिताप उत्पन्न होता है, इस अभिप्राय से भोग को ह्लादपरितापफलक नहीं कहा गया है, ऐसा समझना चाहिये।

'**विषयसुखकालेऽपि...प्रतिकूलात्मकम्**' को लेकर पूर्वपक्षी की ओर से शंका है–

तत्त्ववैशारदी

नन्वपुण्यहेतुका जात्यायुर्भोगाः परितापफला भवन्तु हेयाः, प्रतिकूलवेदनीयत्वात्, कस्मात्पुनः पुण्यहेतवस्त्यज्यन्ते सुखफला अनुकूलवेदनीयत्वात्। न चैषां प्रत्यात्मवेदनीयानुकूलता शक्या सहस्रेणाप्यनुमानागमैरपाकर्तुम्। न च ह्लादपरितापौ परस्पराविनाभूतौ यतो ह्लाद उपादीयमाने परितापोऽप्यवर्जनीयतयाऽऽपतेत्, तयोर्भिन्नहेतुकत्वाद् भिन्नरूपत्वाच्चेत्यत आह–यथा चेदमिति। [1]यद्यपि न पृथग्जनैः प्रतिकूलात्मतया विषयसुखकाले संवेद्यते दुःखं,

---

1. क ख ग थ द ध –यद्यपि न पृथग्जनैः प्रतिकूलात्मतया विषयसुखकाले संवेद्यते दुःखं, तथापि योगिभिस्तत्संवेद्यत इति २/१४ सूत्रस्य टीका, घ च छ ज झ त न – यद्यपि न....तत्संवेद्यत इति २/१५ सूत्रस्य अवतरणिका।

तथापि योगिभिस्तत्संवेद्यत इति॥१४॥

शङ्का—अपुण्यहेतुक अर्थात् पापकर्माशय के कारण प्राप्त होने वाले जाति, आयु तथा भोगरूप विपाक जो परितापफलक अर्थात् दुःखप्रद हैं, हेय कहे जाएँ, क्योंकि प्राणी को दुःखानुभूति अनभिप्रेत है। किन्तु पुण्यहेतुक अर्थात् पुण्यकर्माशय के कारण प्राप्त होने वाले जाति, आयु तथा भोगरूप विपाक, जो ह्लादफलक अर्थात् सुखप्रद हैं, क्योंकर हेय अर्थात् त्याज्य हैं? क्योंकि प्राणी को तो सुखानुभूति अभिप्रेत है। प्रत्येक आत्मा में सुखप्रद फलों की अनुभूत जो अनुकूलता है, वह सहस्रों अनुमान तथा आगम के द्वारा भी खण्डित नहीं की जा सकती है। ह्लाद तथा परिताप परस्पर अविनाभावी भी नहीं हैं, जिससे 'ह्लाद' के ग्रहणकाल में अपरिहार्यरूप से 'परिताप' भी समुपस्थित हो जाय (और इसी कारण ह्लादफलक जात्यादि को भी हेय कहा जाय)? ये 'ह्लाद' तथा 'परिताप' भिन्न-भिन्न कारण तथा स्वरूप वाले हैं (अर्थात् परस्पर निरपेक्ष हैं)। अतः 'ह्लादफलक' जात्यादि को हेय कैसे कहा गया?

समाधान—शंका-निवारणार्थ भाष्यकार कहते हैं—'यथा चेदमिति' यद्यपि सामान्य मनुष्यों को विषयसुखकाल में प्रतिकूलरूप से दुःख की अनुभूति नहीं होती है तथापि योगियों को विषयसुख प्रतिकूलरूप से संवेद्य होता है। (अतः योगी के अनुभव को प्रमाण मानकर पुण्यहेतुक सुखफलक जात्यादि विपाक को भी अन्ततः हेय कोटि में न्यस्त किया जाना न्यायसंगत है)॥१४॥

योगवार्त्तिकम्

इदानीमुक्ताभ्यां कर्मतद्विपाकाभ्यां क्लेशानां मुख्य[1]फलमाह—ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्। ते विपाकाः सर्व एव समुच्चितसुखदुःखफलकाः समुच्चितपुण्यपापहेतुकत्वादित्यर्थः। अत्र सुखावच्छेदेन पुण्यहेतुका दुःखावच्छेदेन पापहेतुका इति विभज्य प्रतिपादयति—ते जन्मायुरित्यादिना। सुखदुःखयोश्च फलत्वं भोग्यतयेति प्रागेव व्याख्यातम्। विपाकान्तरगतभोगश्च शब्दाद्याकारवृत्तिरेवेति तस्यापि सुखदुःखहेतुत्वमुपपन्नम्। तदेवमनेकसूत्रैः प्रोक्तमविद्याया दुःखनिदानत्वं न्यायाचार्यैरेकसूत्रेणैवार्थादुक्तम्—दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्ग इति। कारणनाशादेव हि कार्यानुत्पाद इति। तदेवं दुःखनिदानतया क्लेशानां [2]हेतुत्वमुक्तम्। ननु [3]सर्वे विपाकाः कथं सुखदुःखफलकाः, ब्रह्मलोकादौ दुःखासंभिन्नसुखसत्त्वादित्याशङ्कां परिहरति—यथा चेदमिति। यथा चेदं परिदृश्यमानं रोगादिदुःखं प्रतिकूलात्मकद्वेष्य[4]स्वभावं भवति एवं सर्वत्रैव विषय-

---

1. ख – अनर्थं – (फलं पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – अनर्थं नोपलभ्यते।
2. क च छ – हेतुत्वं, ख ग घ – हेयत्वम्।
3. क ख ग – कथं सर्वे विपाकाः, घ च छ – सर्वे विपाकाः कथम्।
4. ख – कृष्णं (स्वभावं पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – कृष्णं नोपलभ्यते।

सुखकालेऽपि दुःखं योगिनां प्रतिकूलात्मकं तिष्ठतीत्यर्थः। दुःखतत्साधनयोरेकरूपेण ग्रहणाय प्रतिकूलात्मकमित्युक्तम्। मूढानां दुःखसमुद्रमग्नानां सुखनान्तरीयकसूक्ष्मदुःखेषु दृष्टिर्नास्तीति योगिन इत्युक्तम्। तथा च लौकिकदुःखमिव विषयसुखमपि दुःखशबलतया दुःखत्वेन हेयमेवेति भावः। यद्यपि स्वर्गादौ सुखमधिकं तथाऽप्यल्पमपि दुःखं बलवद्द्वेषविषयो भवति। बलवत्त्वं च सुखाभिलाषाभिभावकत्वम्। तथा च सांख्यसूत्रम्—यथा दुःखाद् द्वेषः पुरुषस्य न तथा सुखादभिलाष इति। अस्मिन्सूत्रे सुखदुःखयोरेव कर्मविपाकफलत्ववचनात् जीवन्मुक्तानामपि प्रारब्धविपाकेषु [1]सुखदुःखे शरीरे भवत एव, आभिमानिके तु न भवतः, तत्कारणक्लेशाभावादिति सिद्धान्तः। तथा च श्रुतिः—न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति इति,

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्तीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंचरेत्॥ इति च।

स्मृतिश्च—

वीतरागभयक्रोधः स्थिरधीर्मुनिरुच्यते॥ इति॥१४॥

सम्प्रति, पूर्ववर्णित कर्म तथा कर्मजन्य फलों के द्वारा क्लेशों के मुख्यफल को सूत्रकार बताते हैं—'त इति' ये सभी जाति, आयु तथा भोगरूप विपाक सुख-दुःख-मिश्रित फल वाले हैं, क्योंकि वे समुच्चित (मिश्रित) पुण्य-पापरूप हेतु वाले होते हैं, ऐसा सूत्रार्थ है। ये जात्यादि विपाक सुखावच्छिन्न होने से पुण्यहेतुक तथा दुःखावच्छिन्न होने से पापहेतुक हैं, इस प्रकार से विभाजन करके भाष्यकार इनका प्रतिपादन करते हैं—'ते जन्मायुरित्यादिना' यह पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है कि भोग्य होने से सुख-दुःख को 'फल' कहा गया है। तथा विपाकान्तरगत 'भोग' जो शब्दाद्याकारवृत्ति रूप ही है उसका भी सुखदुःखहेतुत्व (अर्थात् शब्दाद्याकार वृत्ति को भी सुख-दुःख का हेतु कहना) उपपन्न हो जाता है। इस प्रकार योग में अनेक सूत्रों द्वारा प्रतिपादित अविद्या के दुःखकारणत्व को न्यायाचार्यों ने एक सूत्र से ही कहा है—'दुःखजन्म...भावादपवर्गः' (१/१/२) 'अर्थात् दुःख, जन्म, प्रवृत्तिदोष तथा मिथ्याज्ञान का उत्तरोत्तर नाश (अपाय) होने पर उसमें अन्तर की प्राप्ति से 'अपवर्ग' प्राप्त होता है।' कारण के नाश से ही कार्य की उत्पत्ति (अभिव्यक्ति) नहीं होती है। इस प्रकार दुःख का कारण होने से क्लेशों का हेयत्व (योगशास्त्र में) प्रतिपादित हुआ है।

शङ्का—समस्त विपाक सुख तथा दुःखरूप (मिश्रित) फल देने वाले कैसे कहे जा सकते हैं, क्योंकि ब्रह्मलोकादि में तो दुःख से अमिश्रित सुखसत्त्व ही विद्यमान है?

---

1. क – सुखदुःखपरिभवत एव, ख ग घ च छ – सुखदुःखे शरीरे भवत एव।

समाधान–उक्त आशंका का परिहार भाष्यकार करते हैं–**'यथा चेदमिति।'** जिस प्रकार लोक में दिखलाई पड़ने वाला रोगादि दुःख **'प्रतिकूलात्मक'** अर्थात् द्वेष्यस्वभाव वाला होता है अर्थात् दुःख के प्रति प्राणी में सर्वत्र द्वेषबुद्धि देखी जाती है, उसी प्रकार योगियों की विषयसुखकाल में भी (सुखानुभूति के समय भी) दुःख के प्रति प्रतिकूलात्मक (अननुकूल) बुद्धि सर्वत्र बनी रहती है। दुःख तथा दुःखसाधन में एकरूपता (दुःखात्मकता) सिद्ध करने के लिये भाष्यकार ने उन्हें **प्रतिकूलात्मक** कहा है। योगवार्त्तिककार भाष्य में **'योगिनः'** पद के प्रयोग का प्रयोजन बताते हैं–दुःखसमुद्र में निमज्जित अज्ञ (मूढ) प्राणियों की, सुख के साथ नान्तरीयक (अवश्यम्भावी) होने वाले सूक्ष्म दुःखों के प्रति, प्रतिकूलात्मक भावना (दृष्टि) ही नहीं बन पाती है अर्थात् विषयसेवन करने वाले अज्ञ को विषयसुखनिष्ठ पारिणामिक दुःख की अनुभूति ही नहीं हो पाती है। जब कि योगियों की विषयसुख में दुःखबुद्धि सर्वदा जागरूक रहती है। अतः विषयमात्र की दुःखरूपता सिद्ध करने के लिये भाष्य में **'योगिनः'** पद प्रयुक्त है। निष्कर्षतः लौकिक दुःख की भाँति वैषयिक सुख भी दुःखसंवलित होने से दुःखरूप है, अतः सर्वथा हेय है। यद्यपि स्वर्गादि में सुख की मात्रा अधिक है, तथापि अत्यल्प दुःख भी बलवद् द्वेष का विषय होता है। अर्थात् किसी भी परिमाण का दुःख प्रतिकूलवेदनीय ही होता है। और फिर दुःख की बलवत्ता (प्रचुरता) तो सुखाभिलाष को भी अभिभूत कर देती है। ऐसा ही सांख्यसूत्र है–**'यथा दुःखाद्... सुखादभिलाषः'** (६/६) अर्थात् 'मनुष्य की वैषयिक दुःखों के सम्बन्ध में जैसी द्वेष भावना होती है, वैसी सुख के विषय में अभिलाषा नहीं होती है।' इस सूत्र में सुख-दुःख को ही कर्मजन्य विपाक का फल कहा गया है, इससे जीवन्मुक्तों को भी प्रारब्ध-विपाक के कारण शारीरिक सुख-दुःख तो अवश्य ही होते हैं, किन्तु आभिमानिक (**अहं सुखी, अहं दुःखी** अर्थात् मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ–इत्याकारक) सुख-दुःख नहीं होते हैं, क्योंकि आभिमानिक सुख-दुःख के कारणीभूत अविद्यादि की सत्ता जीवन्मुक्तों में नहीं रहती है। इसमें श्रुतिवाक्य प्रमाण हैं–**'न ह वै...रस्ति'** (छा.उप. ८/१२/१) अर्थात् 'सशरीर आत्मा निश्चय ही प्रिय तथा अप्रिय से ग्रस्त है तथापि इस सशरीरी आत्मा के प्रियाप्रिय का नाश नहीं हो सकता है', किञ्च **'आत्मानं...मनुसंचरेत्'** (बृ.आ. ४/४/१२) अर्थात् 'यदि पुरुष आत्मा को **'मैं यह हूँ'** इस प्रकार विशेषरूप से जान जाय तो फिर क्या इच्छा करता हुआ किस कामना से शरीर के पीछे सन्तप्त होगा?' तदर्थ स्मृतिवाक्य भी है–**'वीतराग...रुच्यते'** (गीता २/५६) अर्थात् 'राग, भय तथा क्रोधरहित मुनि को स्थिरधर्मी (स्थिरमति वाला) कहते हैं'॥१४॥

प्रश्नपरक संक्षिप्त अवतरणिका के साथ अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है–

व्यासभाष्यम्

कथं तदु[1]पपद्यते—

शङ्का—सुखभोगकाल में भी योगी के लिये दुःख विद्यमान है—यह कैसे उपपन्न हो सकता है?

योगसूत्रम्

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुण[2]वृत्ति[3]विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं [4]विवेकिनः॥१५॥

परिणामजन्यदुःख, तापजन्यदुःख तथा संस्कारजन्यदुःख के कारण एवं गुणवृत्तिविरोध के कारण विवेकी के लिये सभी फल दुःखरूप ही हैं॥१५॥

व्यासभाष्यम्

सर्वस्यायं रागानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनः सुखानुभव इति तत्रास्ति रागजः कर्माशयः। तथा च द्वेष्टि दुःखसाधनानि मुह्यति चेति द्वेषमोहकृतोऽप्यस्ति कर्माशयः। तथा [5]चोक्तम्। नानुपहत्य भूतान्युपभोगः संभवतीति हिंसाकृतोऽप्यस्ति शारीरः [6]कर्माशय इति। विषयसुखं चाविद्येत्युक्तम्। या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिस्तत्सुखम्। या लौल्यादनुपशान्तिस्तद्दुःखम्। न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम्। [7]कस्मात्? यतो भोगाभ्यासमनु विवर्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणामिति। तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति। स खल्वयं वृश्चिकविषभीत इवाशीविषेण दष्टो यः सुखार्थी विषया[8]नुवासितो महति दुःखपङ्के निमग्न इति। एषा परिणामदुःखता नाम प्रतिकूला सुखावस्थायामपि योगिनमेव

---

1. क घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र – उपपाद्यते, ख ग ब – उपपद्यते।
2. वृत्त० – इति पाठान्तरम्।
3. अविरोधात् – इति पाठान्तरम्।
4. योगिनः – इति पाठान्तरम्।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र – चोक्तम् उपलभ्यते, ब – चोक्तं नोपलभ्यते।
6. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ य र – कर्माशयः, उपलभ्यते, म – कर्माशयः नोपलभ्यते।
7. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म र – कस्मात् उपलभ्यते, य – कस्मात् नोपलभ्यते।
8. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र – अनुवासितः, झ त – अननुवासितः।

क्लिश्नाति। अथ का तापदुःखता? सर्वस्य द्वेषानुविद्धश्चेतना[1]चेतनसाधनाधीनस्तापानुभव इति, तत्रास्ति द्वेषजः कर्माशयः। सुखसाधनानि च प्रार्थयमानः कायेन वाचा मनसा च परिस्पन्दते, ततः परमनुगृह्णात्युपहन्ति चेति परानुग्रहपीडाभ्यां धर्माधर्मावुपचिनोति। स कर्माशयो लोभान्मोहाच्च [2]भवतीत्येषा तापदुःखतोच्यते। का पुनः संस्कारदुःखता? सुखानुभवात्सुखसंस्कारा[3]शयो दुःखानुभवादपि दुःखसंस्काराशय इति। एवं कर्मभ्यो विपाकेऽनुभूयमाने सुखे दुःखे वा पुनः कर्माशयप्रचय इति। एवमिदमनादि दुःखस्रोतो विप्रसृतं योगिनमेव प्रतिकूलात्मकत्वादुद्वेजयति। कस्मात्? अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वानिति। यथोर्णातन्तुरक्षिपात्रे न्यस्तः स्पर्शेन दुःखयति नान्येषु गात्रावयवेषु एवमेतानि दुःखान्यक्षिपात्रकल्पं योगिनमेव क्लिश्नन्ति नेतरं प्रतिपत्तारम्। इतरं तु स्वकर्मोपहृतं दुःखमुपात्तमु[4]पात्तं त्यजन्तं, त्यक्तं त्यक्तमुपाददानमनादिवासनाविचित्रया चित्तवृत्त्या समन्ततोऽनुविद्धमिवाविद्यया हातव्य[5] एवाहंकारममकारानुपातिनं जातं जातं बाह्याध्यात्मिकोभयनिमित्तास्त्रिपर्वाणस्तापा अनुप्लवन्ते। [6]तदेवम[7]नादिना दुःखस्रोतसा व्यूह्यमानमात्मानं भूतग्रामं च दृष्ट्वा योगी सर्वदुःखक्षयकारणं सम्यग्दर्शनं शरणं प्रपद्यत इति। गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिरूपा बुद्धिगुणाः परस्परानुग्रह[8]तन्त्रीभूत्वा शान्तं घोरं मूढं वा प्रत्ययं त्रिगुणमेवारभन्ते। चलं च गुणवृत्तमिति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम्। रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते। एवमेते गुणा इतरेतराश्रयेणोपार्जित सुखदुःखमोहप्रत्ययाः सर्वे सर्वरूपा भवन्तीति, गुणप्रधानभावकृतस्त्वेषां विशेष इति। तस्माद् दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति। तदस्य महतो दुःखसमुदायस्य प्रभवबीजमविद्या। तस्याश्च सम्यग्दर्शनमभावहेतुः। यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्—रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति,

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न फ ब भ म य र – अचेतन० उपलभ्यते, प – अचेतन० नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – भवति, थ – य भवति।
3. क ख ग घ च छ ज झ त ध न प फ ब भ म य र – आशयः, द – अतिशयः (उभयत्र)।
4. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म प र – उपात्तं त्यजन्तं त्यक्तं, छ थ – त्यजन्तम्।
5. क ख ग घ च झ त द द न प फ ब भ म य र – हातव्यः, छ थ – हातव्यम्।
6. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र – तत्, व – तम्।
7. क घ प फ र – अनादि, ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य – अनादिना।
8. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न फ ब भ म – तन्त्रीभूत्वा, ख प र – तन्त्राभूत्वा, य – तन्त्रीभूय।

एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा—संसारः संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति। तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः। प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः। संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्। हानोपायः सम्यग्दर्शनम्। तत्र हातुः स्वरूपमुपादेयं वा[1] हेयं वा न भवितुमर्हति। हाने [2]तस्योच्छेदवादप्रसङ्गः, उपादाने च हेतुवादः, उभयप्रत्याख्याने च शाश्वतवाद इत्येतत्सम्यग्दर्शनम्॥१५॥

चेतन और अचेतन साधनों से प्राप्त होने वाला सभी का सुखानुभव रागात्मक प्रवृत्ति से परिपूर्ण रहता है—इसीलिये सुखानुभवकाल में रागजन्य कर्माशय बनता है। इसी प्रकार सुखानुभवकाल में दुःख प्रदान करने वाले कारणों के प्रति व्यक्ति द्वेष करता है और मोहग्रस्त होता है—इसलिये (सुखानुभवकाल में ही) द्वेषजन्य तथा मोहजन्य कर्माशय भी बनता है। कहा भी गया है—प्राणियों की हिंसा किये विना उपभोग सम्भव नहीं होता है—इसीलिये शारीरिक पापकर्म से हिंसाजन्य कर्माशय भी बनता है। विषयसुख (अन्य कुछ न होकर) 'अविद्या' है—ऐसा कहा गया है, भोगकाल में इन्द्रियों के परितुष्ट होने से जो उपशान्ति होती है उसे 'सुख' कहते हैं और इन्द्रियों की चञ्चलता के कारण अर्थात् भोगों की प्रगाढ लालसा के कारण जो अनुपशान्ति (भोग-तृष्णा की शान्ति का अभाव) होती है, उसे 'दुःख' कहते हैं। बार-बार विषयों के सेवन से इन्द्रियों को तृष्णारहित नहीं किया जा सकता है। क्योंकि भोग की आवृत्ति से रागात्मक प्रवृत्ति और इन्द्रियों की विषयभोगविषयक पटुता बढ़ती है। इसलिये भोगाभ्यास सुखप्राप्ति का उपाय नहीं है। विषयों की वासना से ग्रस्त होकर जो व्यक्ति सुख की कामना करता है, वह निश्चय ही उस मनुष्य के समान है, जो बिच्छू के विष से भयभीत होकर सर्प विष से बिद्ध होकर महान् दुःख के कीचड़ में निमज्जित होता है। यह अननुकूल (अनभिप्रेत, अप्रिय) 'परिणामदुःखता' सुखभोगावस्था में भी योगी को ही कष्ट होती है। (अच्छा, यह बतलाइये कि) 'तापदुःखता' क्या है? सभी प्राणियों को चेतन तथा अचेतन उपकरणों से प्राप्त होने वाली द्वेषयुक्त ताप की अनुभूति होती है—तथाकथित तापानुभवकाल में द्वेषजन्य कर्माशय बनता है। सुख के साधनों की कामना करता हुआ व्यक्ति शरीर, वचन तथा मन से चेष्टा करता है। चेष्टा से वह दूसरों को अनुगृहीत तथा पीडित करता है। इस प्रकार परानुग्रह और परपीडा के द्वारा पुण्य और पाप का संग्रह

---

1. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न प ब भ म य – वा उपलभ्यते, घ फ र – वा नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र – तस्य, ब – तु अस्य।

करता है। यह कर्माशय लोभ और मोह से उत्पन्न होता है—अतः इसे 'तापदुःखता' कहते हैं। (अच्छा यह बतलाइये कि) 'संस्कारदुःखता' क्या है? सुख की अनुभूति से सुख के संस्कार की वासना और दुःख की अनुभूति से दुःख के संस्कार की वासना बनती है। इस प्रकार कर्मजन्य फलों के अनुभूत किये जाने पर, सुख और दुःख होने पर, फिर कर्मसंस्कारसमूह बनता है। यह 'संस्कारदुःखता' है। इस प्रकार अनादि काल से चला आ रहा यह दुःखप्रवाह विस्तीर्ण होता हुआ योगी को ही, प्रतिकूल होने के कारण, उद्विग्न करता है, भोगी संसारी व्यक्ति को नहीं। क्यों? (अर्थात् यह दुःखप्रवाह केवल योगियों को ही क्यों उद्विग्न करता है? भोगियों को उद्विग्न क्यों नहीं करता है?) (उत्तर है)—विद्वान् अर्थात् तत्त्वज्ञ का हृदय चक्षु-गोलक की तरह सुकोमल होता है। जिस प्रकार मकड़ी का सूक्ष्मातिसूक्ष्म जाला भी आखों में ही पतित होने पर स्पर्शमात्र से दुःख प्रदान करता है, शरीर के अन्य अवयवों से सम्बद्ध होने पर नहीं। उसी प्रकार ये विषय-दुःख अक्षिगोलक के सदृश (कोमल) योगी को ही दुःख प्रदान करते हैं, अन्य किसी संसारी भोगीजन को नहीं। अपने कर्मों के द्वारा प्राप्त कराये गये दुःख को प्राप्त कर-करके भोग द्वारा त्याग करने वाले और त्याग कर-करके भूयोभूयः ग्रहण करने वाले, अनादिकाल से सञ्चित वासनाओं से चित्रित चित्तवृत्ति में विद्यमान अविद्या के द्वारा सब तरह से अनुलिप्त के समान, अतएव त्याग करने योग्य देह, इन्द्रिय तथा स्त्री-पुत्रादि में अहन्ता-ममता करने वाले उक्त योगियों से भिन्न भोगी-व्यक्तियों को तो आधिभौतिक तथा आधिदैविक—ये दो बाह्य निमित्त से होने वाले एवं आध्यात्मिक—आन्तर निमित्त से होने वाले—इस प्रकार तीन प्रकार के ताप उत्पन्न हो-होकर व्याप्त करते रहते हैं अर्थात् पीडित करते रहते हैं। इस प्रकार से अनादि दुःख की धारा से घिरे हुए प्राणिजगत् को तथा अपने को देखकर योगी सभी दुःखों का नाश करने वाले यथार्थ विवेक ज्ञान की शरण लेता है। 'गुणवृत्तिविरोध' के कारण भी विवेकी (तत्त्वज्ञानी) के लिये सब दुःखरूप ही है। ज्ञान, क्रिया और स्थितिरूपी बुद्धि के (तीनों) गुण परस्पर मिलकर शान्त, घोर और मूढ़ रूप की त्रिगुणात्मक अनुभूति को उत्पन्न करते हैं। गुणों का स्वभाव चञ्चल होता है, इसलिये चित्त को शीघ्र परिणामी कहा गया है। (बुद्धि के) धर्माधर्मादि आठों विशेषरूप और वैसे ही सुखदुःखादि तीनों विशेष वृत्तियाँ परस्पर विरुद्धकाल में प्रकट होती हैं। इनकी सामान्य सत्ता तो इन विशेषों के साथ (भी) वर्तमान रहती है। इस प्रकार ये तीन गुण प्रधान एवं अप्रधान रूप से परस्पर

एक-दूसरे के अधीन रहकर क्रमशः सुखवृत्ति, दुःखवृत्ति तथा मोहवृत्ति को उत्पन्न करते हैं–वस्तुतस्तु सभी गुण सभी रूप के होते हैं। इनकी विशिष्ट-रूपता इनके गौण और प्रधान होने से उत्पन्न होती है (अर्थात् गौण-मुख्य-भाव को लेकर इन गुणों में भेद-व्यवहार हुआ करता है)। इसलिये विवेकी के लिये सम्पूर्ण विषय-सुख दुःखरूप ही है। इस अपरिमित दुःखसमूह का मूलकारण 'अविद्या' है। इस अविद्या के विनाश (आत्यन्तिक अतीतावस्था) का कारण है–'सम्यग्दर्शन' अर्थात् यथार्थज्ञान (प्रकृति-पुरुष का पार्थक्यबोध)। जैसे आयुर्वेदशास्त्र चार आधार-स्तम्भ (प्रकरण) वाला है–रोग, रोग का कारण, आरोग्य (नीरोगता) तथा आरोग्योपाय (नीरोगता का कारण)। वैसे यह योगशास्त्र भी चार विभाग वाला है,–संसार, संसार का कारण, मोक्ष तथा मोक्ष का कारण। इन चार व्यूहों में दुःखबहुल संसार है, वही 'हेय' है। प्रकृति और पुरुष का जो संयोग है, वही 'हेयहेतु' है। प्रकृति और पुरुष के संयोग की जो आत्यन्तिकी निवृत्ति है, वही 'हान' है और सम्यग्दर्शन 'हानोपाय' है। उक्त चार प्रकार के व्यूहों में प्रकृति-पुरुष के संयोग का जो हान (मोक्ष) कहा गया है, वह हानकर्त्ता आत्मा का अपना स्वरूप ही है। अर्थात् हान करने वाले का स्वरूप प्राप्य और त्याज्य नहीं हो सकता। स्वरूपहान मानने पर उसके आत्मनाश की प्रसक्ति होती है और स्वरूपोपा-दान मानने पर कारणवाद का प्रसंग उपस्थित होता है। दोनों का खण्डन करने पर आत्मनित्यत्ववाद सिद्ध होता है। यही कारण है कि यह योगदर्शन 'सम्यग्दर्शन' माना गया॥१५॥

तत्त्ववैशारदी

प्रश्नपूर्वकं तदुपपादनाय सूत्रमवतारयति–कथं तदुपपद्यत इति। परिणामेत्यादि सूत्रम्। परिणामश्च तापश्च संस्कारश्चैतान्येव दुःखानि तैरिति। परिणामदुःखतया विषय-सुखस्य दुःखतामाह–सर्वस्यायमिति। न खलु सुखं [1]रागानुवेधमन्तरेण संभवति। न ह्यस्ति संभवो न तत्र तुष्यति तच्च तस्य सुखमिति। रागस्य च प्रवृत्ति[2]हेतुत्वात्प्रवृत्तेश्च पुण्यापुण्यो-पचयकारित्वात्तत्रास्ति रागजः कर्माशयोऽसतोऽनुपजननात्। [3]तथा च सुखं भुञ्जानस्तत्र सक्तोऽपि[4] विच्छिन्नावस्थेन द्वेषेण द्वेष्टि दुःखसाधनानि। तानि परिहर्तुमशक्तो मुह्यति चेति

---

1. क – रागानुबन्धं, ख ग – रागानुव्याधं, घ च छ ज झ त थ द ध न – रागानुवेधम्।
2. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न – हेतुत्वात्, त – कार्यत्वात्।
3. क ख ग थ द ध – तदा, घ च छ ज झ त न – तथा।
4. क ख ग घ च छ ज झ न – अपि, त – अपि रागसमये द्वेषमोहयोरदर्शनात्, थ द ध – अपि.....दर्शनात् नोपलभ्यते।

द्वेषमोहकृतोऽप्यस्ति कर्माशयः। द्वेषवन्मोहस्यापि विपर्ययापरनाम्नः कर्माशयहेतुत्वम-विरुद्धम्। ननु कथं रक्तो द्वेष्टि मुह्यति वा? राग[1]समये द्वेषमोहयोरदर्शनादित्यत आह–तथा चोक्तमिति। विच्छिन्नावस्थान्क्लेशानुपपादयद्भिरस्माभिः। तदनेन वाङ्मनसप्रवृत्तिजन्मनी पुण्यापुण्ये दर्शिते इति। रागादिजन्मनः कर्तव्यमिदमिति मानसस्य संकल्पस्य साभिलाषत्वेन [2]वाचनिकत्वस्याप्यविशेषात्। यथाहुः–

साभिलाषश्च संकल्पो वाच्यार्थान्नातिरिच्यते॥ इति।

शारीरमपि कर्माशयं दर्शयति–नानुपहत्येति। अत एव धर्मशास्त्रकाराः पञ्च सूना गृहस्थस्य इत्याहुः।

यद्यपि विषयी पुरुष विषय-सुख के भोगकाल में दुःख को प्रतिकूल रूप से नहीं जानते हैं तथापि योगी पुरुष उसको जानते हैं, इस पूर्वोक्त तथ्य को प्रश्नपूर्वक उपपादित करने के लिये भाष्यकार सूत्र की अवतरणिका रचते हैं–**'कथं तदुपपद्यत इति।'** सूत्र है–**'परिणामेत्यादि।' 'परिणामतापसंस्कारदुःखैः'** का सामासिक विग्रह करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–**'परिणामश्च तापश्च संस्कारश्च एतान्येव दुःखानि तैः'** अर्थात् परिणाम, ताप तथा संस्कार–ये ही दुःख (के विभिन्न स्तर) हैं, इनके कारण योगी को विषय-सुख में दुःखानुभूति होती है।

भाष्यकार परिणाम-दुःख की दृष्टि से विषयसुख की दुःखरूपता को बताते हैं–**'सर्वस्यायमिति।'** राग से अन्तर्जटित (अन्तर्मिश्रित, संयुक्त) हुए विना सुखानुभूति कथमपि सम्भव नहीं हो सकती है। जहाँ राग नहीं है, वहाँ सुख भी सम्भव नहीं है। (शब्दान्तर में) जहाँ सुख है, वहाँ राग नहीं है–ऐसा सम्भव नहीं है। और व्यक्ति के लिये वहीं सुख है, जहाँ राग है। राग (रजोगुणप्रधान होने से) प्रवृत्ति का हेतु है अर्थात् राग से प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति से पुण्यापुण्यरूप कर्माशय का संचय होता है–इस हेतु से विषय-सुख में 'रागज-कर्माशय' (रागज संस्कार) विद्यमान रहता है, क्योंकि असत् की उत्पत्ति नहीं होती है। अर्थात् विषयसुख में रागात्मक बीज (रागानुविद्धता) सद्रूप है, न कि असद्रूप। अन्यथा रागज-कर्माशय नहीं बन सकता है। विषयसुखानुभवकाल में सुख का भोग करने वाला प्राणी विषय से संपृक्त (अनुरक्त) रहता हुआ भी विच्छिन्नावस्थाक द्वेष (संज्ञक क्लेश) के कारण दुःख प्रदान करने वाली क्रियाओं अर्थात् दुःख-साधनों के प्रति द्वेष करता है और दुःख के साधनों का परिहार करने में जब भोक्ता अपने को असमर्थ पाता है तब मोहग्रसित होता है। इस प्रकार (सुखभोग के समय) द्वेषमोहजन्य कर्माशय अर्थात् द्वेषमोह- मिश्रित पापकर्माशय भी बनता है। द्वेष के समान मोह भी, जिसका अपर

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – **समये,** त द ध – **काले।**
2. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न – **वाचनिकत्वस्य,** ख – **वाचिकत्वस्य।**

पर्याय विपर्यय है, कर्माशय का कारण है, इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है। (भाव यह है—मोह भी पञ्च क्लेशान्तर्वर्ती है तथा पञ्च क्लेश को पञ्च विपर्यय भी कहते हैं। अतः द्वेषज कर्माशय के समान मोहज कर्माशय का बनना अनुपपन्न नहीं है। द्वेष तथा मोह से बनने वाला कर्माशय पापमूलक होता है)।

शङ्का—वैषयिक सुखानुरक्त व्यक्ति कैसे (दुःखसाधनों के प्रति) द्वेष तथा मोह करता है। क्योंकि रागकाल में द्वेष और मोह नहीं रह सकते हैं?

समाधान—उक्त शंका-समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं—'**तथा चोक्तमिति**।' यह बात जैसे यहाँ कही जा रही है कि रागकाल में द्वेष तथा मोह विद्यमान रहते हैं वैसे ही इसी पाद के चतुर्थ सूत्र में विच्छिन्नावस्थाक क्लेशों के उपपादन के समय हमारे द्वारा पीछे बतलाई जा चुकी है। इस प्रकार मन और वाणी की प्रवृत्ति से उत्पन्न होने वाले पुण्य तथा पाप को प्रदर्शित किया गया। क्योंकि रागादि से उत्पन्न होने वाला 'यह करणीय है' इत्याकारक मानस संकल्प साभिलाष होने से वाचनिक संकल्प है। जैसा कि कहा गया है—'**साभिलाषश्च संकल्पो वाच्यार्थान्नाऽतिरिच्यते**' अर्थात् 'साभिलाष संकल्प वाचनिक संकल्प से पृथक् नहीं होता है।' अर्थात् वाचनिक संकल्प भी मानस संकल्प के समान है। भाष्यकार '**शारीर कर्माशय**' (शरीर-प्रवृत्तिजन्य पुण्यपाप-रूप कर्माशय) को भी प्रदर्शित करते हैं—'**नानुपहत्येति**।' प्राणियों की हिंसा किये विना उपभोग प्राप्त होना सम्भव नहीं हैं। अतः हिंसा से भी पापरूप शारीर-कर्माशय बनता है। इसलिये धर्मशास्त्रकारों ने '**पञ्चसूना गृहस्थस्य**' ऐसा कहा है।

बालप्रिया—

'**पञ्चसूना**'...धर्मशास्त्रकार मनु भगवान् का पूरा श्लोक इस प्रकार है—

'पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बद्ध्यते यास्तु वाहयन्॥' म.स्मृ. ३/६८

अर्थात् 'चुल्ली=चूल्हा, पेषणी=चक्की, उपस्कर=झाडू, कण्डनी=उलूखल-मसूल, उदकुम्भ=पानी का घड़ा—ये पाँच गृहस्थ के पशुवधस्थल के समान हिंसाजन्य पाप के स्थान हैं, जो अपने कार्य में लगाकर पुरुष को पाप से बद्ध कर देते हैं।' इस प्रकार सुखानुभवकाल में राग, द्वेष, मोह तथा हिंसादि की विद्यमानता से अग्रिम अवश्यम्भावी जो पापजन्यदुःखता है, उसे ही '**परिणामजन्यदुःख**' कहते हैं।

सामान्यजनानुभव से योगिजनानुभव के अन्तर को स्पष्ट करने के लिये ऊहापोह के साथ विषय का उपस्थापन हो रहा है—

तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्— न प्रत्यात्मवेदनीयस्य विषयसुखस्य प्रत्याख्यानमुचितं [1]योगिना, अनुभव-

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – योगिनां, थ द ध – योगिना।

विरोधादित्यत आह—विषयसुखं चाविद्येत्युक्तमिति। चतुर्विधविपर्यासलक्षणामविद्यां दर्शयद्भिरिति। नापातमात्रमाद्रियन्ते वृद्धाः। अस्ति खल्वापाततो मधुविषसंपृक्तान्नोपभोगेऽपि सुखानुभवः प्रत्यात्मवेदनीयः। किं त्वायत्यामसुखम्। इयं च दर्शिता भगवतैव—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ इति।

शङ्का—प्रत्येक व्यक्ति के अनुभव में आने वाले विषयसुख का योगी द्वारा अपलाप किया जाना उचित नहीं है अर्थात् योगी द्वारा विषयसुख को दुःखरूप माना जाना न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि यह अनुभवविरुद्ध है?

समाधान—शंका-समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं—**'विषयसुखं चाऽविद्येत्युक्तमिति।'** विषय-सुख अविद्या है। चार प्रकार की विपर्यासलक्षणक अविद्या को हम पीछे प्रदर्शित कर चुके हैं। योगिजन आपातमात्र अर्थात् तात्कालिक रमणीय तथा अविवारित रमणीय विषयसुख को आदर की दृष्टि से नहीं देखते हैं। जैसे मधुविषमिश्रित अन्न के भक्षणकाल में भी प्रत्येक व्यक्ति को होने वाली सुखानुभूति अनुकूलवेदनीय होती है किन्तु उसका परिणाम दुःखकारी ही होता है। यही तथ्य श्रीकृष्ण भगवान् द्वारा कथित है—**'विषय....स्मृतम्'** अर्थात् 'विषयेन्द्रिय के सन्निकर्ष (संयोग) से तात्कालिक अमृत समान जो सुख प्रतीत होता है, वह राजस सुख परिणाम में विष के समान दुःख का हेतु कहा गया है।' भाव यह है जो सुख परिणाम में दुःख का हेतु है, वह सुखरूप नहीं, अपितु सुखाभास अर्थात् दुःखरूप ही है।

सुख तथा दुःख का लक्षण करते हुए तत्त्ववैशारदीकार विषय को स्पष्ट करते हैं—

तत्त्ववैशारदी

चोदयति—या भोगेष्विति। न वयं विषयह्लादं सुखमातिष्ठामहे, किंत्वतृप्यतां पुंसां तत्तद्विषय[1]प्रार्थनापरिक्लिष्टचेतसां तृष्णैव महद्दुःखम्। न चेयमुपभोगमन्तरेण शाम्यति। न चास्याः प्रशमो रागाद्यनुविद्ध इति नास्य परिणामदुःखतेति भावः। तृप्तेस्तृष्णाक्षयाद्धेतोरिन्द्रियाणामुपशान्तिरप्रवर्तनं विषयेष्वित्यर्थः। एतदेव व्यतिरेकमुखेन स्पष्टयति—या लौल्यादिति। परिहरति—न चेन्द्रियाणामिति। हेतावनोः प्रयोगः। सत्यं तृष्णाक्षयः सुखमनवद्यम्। तस्य तु न भोगाभ्यासो हेतुरपि तु तृष्णाया एव तद्विरोधिन्याः। यथाहुः—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥ इति।

शेषमतिरोहितम्।

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – प्रार्थना०, थ द ध – प्रार्थनया।

भाष्यकार तर्कपूर्णशैली में विषय का प्रतिपादन करते हैं–'**या भोगेष्विति**।' हम लोग विषयभोगजन्य सुख का खण्डन नहीं कर रहे हैं, अपितु यह बतलाना चाहते हैं कि तत्तद्विषयों की कामना से छटपटाने वाले अतृप्त (असन्तुष्ट) मनुष्यों की तृष्णा (लिप्सा) ही भयावह दुःख का कारण है। किञ्च विषयोपभोग के विना यह तृष्णा शान्त नहीं होती है और न ही विषयोपभोग तृष्णा-शमन में सक्षम है। रागादि से युक्त होने के कारण इसकी 'परिणामदुःखता' प्रतीत नहीं होती है। तृप्ति अर्थात् तृष्णाक्षय के कारण इन्द्रियों की जो उपशान्ति अर्थात् विषयों में अप्रवृत्ति है, उसे '**सुख**' कहते हैं। इसी तथ्य को भाष्यकार व्यतिरेकमुख से बताते हैं–'**या लौल्यादिति**।' चाञ्चल्यप्रयुक्त तृप्ति के अभाव से भोग-तृष्णा की शान्ति का जो अभाव है, उसे '**दुःख**' कहते हैं।

शङ्का–(इस प्रकार सुख-दुःख की व्याख्या करने से यदि भोगविषयक तृष्णा भीषण '**दुःख**' का कारण है तो विषयभोग द्वारा तृष्णा की शान्ति '**सुख**' का कारण है। अतः तृष्णा-शान्ति दुःखमूलक तो है नहीं, फिर विषयसुख को 'परिणामदुःख' के नाम से क्यों प्रतिपादित किया गया?–इस निहित शंका को ध्यान में रखकर उसका परिहार किया जा रहा है)–

समाधान–(उक्त शंका का) खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं–'**न चेन्द्रियाणामिति**।' भाष्य में आया हुआ '**अनु**' अव्यय हेत्वर्थक है। निश्चितरूप से '**तृष्णाक्षय**' अनिंद्य सुख है। और इस (अनवद्य सुख) का हेतु विषयभोग (भोगाभ्यास) नहीं है, क्योंकि विषयोपभोग से तो अनवद्य सुख की विरोधिनी तृष्णा की ही वृद्धि होती है। जैसा कि कहा गया है–'**न जातु....वर्धते**' (मनु. २/९४) अर्थात् 'विषयों के उपभोग से इच्छा कभी शान्त नहीं होती है, अपितु अग्नि के समान वह इच्छा बढ़ती ही जाती है।' शेष भाष्य सुगम है।

तत्त्ववैशारदी

तापदुःखतां पृच्छति–अथ केति। उत्तरम्–सर्वस्येति। सर्वजनप्रसिद्धत्वेन तत्स्वरूप-प्रपञ्चमकृत्वा तापदुःखतापि परिणामदुःखता[1]समतया प्रपञ्चितेति।

प्रश्न–जिज्ञासु '**तापदुःखता**' के बारे में पूछता है–'**अथ केति**।' '**तापदुःखता**' का स्वरूप क्या है?

उत्तर–भाष्यकार उत्तर देते हैं–'**सर्वस्येति**।' सर्वजनप्रसिद्ध होने के कारण तापदुःखता के स्वरूप को विस्तार से न बताकर उसे भी '**परिणामदुःखता**' के समान विश्लेषित किया गया है।

---

1. क घ च छ ज झ त थ द ध न – समतया, ख ग – समवेततया।

बालप्रिया–

'परिणामदुःखतासमतया'–इस पद के द्वारा तत्त्ववैशारदीकार ने यद्यपि **'तापदुःखता'** को **'परिणामदुःखता'** के समान निर्दिष्ट किया है तथापि **'तापदुःख'** के पूर्वकाल तथा उत्तरकाल अर्थात् सर्वदा ही दुःखरूप होने से इसे **'परिणामदुःख'** से पृथक् समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि **'परिणामदुःख'** में विषयभोग के पश्चात् ही दुःख की अनुभूति होती है जब कि **'तापदुःख'** पूर्व तथा उत्तर दोनों काल में दुःखप्रद है–यही दोनों दुःखों में मौलिक अन्तर है।

तत्त्ववैशारदी

संस्कारदुःखतां पृच्छति–केति। उत्तरम्–सुखेति।[1] सुखानुभवो हि संस्कारमाधत्ते, स च सुखस्मरणं तच्च रागं स च मनःकायवचनचेष्टां सा च पुण्यापुण्ये ततो विपाकानुभवस्ततो वासनेत्येवमनादितेति। अत्र च सुखदुःखसंस्कारा[2]तिशयात्तत्स्मरणं तस्माच्च रागद्वेषौ ताभ्यां कर्माणि कर्मभ्यो विपाक इति योजना।

प्रश्न–जिज्ञासु **'संस्कारदुःखता'** के विषय में पूछता है–**'केति'** संस्कारदुःखता का स्वरूप क्या है?

उत्तर–भाष्यकार उत्तर देते हैं–**'सुखेति'** सुखानुभव स्वविषयक सुखसंस्कार को, सुखात्मक संस्कार सुखविषयक स्मृति को, सुखस्मृति स्वविषयक राग को, राग मन-शरीर-वाणी-सम्बन्धी चेष्टा को, चेष्टा पुण्यापुण्य को, पुण्यापुण्य तदनुरूप कर्माशय को, कर्माशय तदनुरूप जात्याद्यनुभव को, जात्याद्यनुभव तदनुरूप वासना को उत्पन्न करता है–इस प्रकार यह वासना अनादि है। यहाँ पर सुखदुःखानुभव से सुखदुःखसंस्कार, सुखदुःखसंस्कार से सुखदुःखस्मरण, सुखदुःखस्मरण से रागद्वेष, रागद्वेष से तदनुरूप कर्म तथा कर्मों से विपाक अर्थात् कर्मानुसार फल प्राप्त होता है–इस प्रकार योजना कर लेनी चाहिये।

सम्प्रति, **'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः'** अंश की व्याख्या के रूप में प्राकृतजन से भिन्न योगिजन को होने वाले दुःखस्रोत के यर्थाथ बोध का उपपादन किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

तदेवं दुःखस्रोतः प्रसृतं योगिनमेव क्लिश्नाति नेतरं पृथग्जनमित्याह–एवमिदमनादीति। इतरं तु त्रिपर्वाणस्तापा अनुप्लवन्त इति संबन्धः।

ऊपर कहा गया विस्तीर्ण दुःखप्रवाह (कष्टधारा) योगियों को ही क्लेश प्रदान करता है, तदितर सामान्यजन को नहीं–इस तथ्य का भाष्यकार प्रतिपादन करते

---

1. क घ च छ ज झ त न – सुखेति, ख ग थ ध – सुखानुभव इति, द – सुखानुभवादिति।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न – अतिशयात्, थ द ध – आशयात्।

हैं–'एवमिदमनादीति।' योगिभिन्न प्राकृतजन तो आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक–इन तीन पर्व वाले तापों से व्याप्त रहते हैं।

बालप्रिया–

'अनुप्लवन्ते'–प्राकृतजन दुःखप्राप्ति की वर्तमान-वेला में ही दुःख का अनुभव करते हैं। योगी की भाँति वे दुःख की अनुपस्थिति में भी विषयसुख में निगूढ **'परिणामदुःख'** का अनुभव नहीं कर पाते हैं। अर्थात् योगी को विषयसुखानुभवकाल में ही जैसे भावी दुःख दृष्टिगोचर होता है, ऐसे प्राकृतजन को नहीं। प्राकृतजन की स्थूलदृष्टि दुःखप्राप्ति के समय ही दुःख को देख पाती है।

भाष्य में **'स्वकर्मोपहृतम्'** से लेकर **'जातम्'** पर्यन्त अंश **'इतरम्'** के विशेषणरूप में है। इससे प्राकृतजन की दुःखसमुद्र में निमज्जित-उन्मज्जित होने की अवस्था को स्पष्ट किया गया है।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक दृष्टि से दुःख की त्रिपर्वता प्रसिद्ध है। भाष्य में कही गई **'बाह्याऽध्यात्मिकोभयनिमित्तास्त्रिपर्वाणाः'** शब्दावली का स्पष्टीकरण करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–

तत्त्ववैशारदी

[1]आधिभौतिकाधिदैविकयोस्तापयोर्बाह्यत्वेनैकत्वं विवक्षितम्। चित्ते वृत्तिरस्या इत्यविद्या चित्तवृत्तिस्तया हातव्य एव बुद्धीन्द्रियशरीरादौ दारापत्यादौ [2]चाहंकारममकारानुपातिनमिति। तदत्र न सम्यग्दर्शनादन्यत्परित्राणमस्तीत्याह–तदेवमिति।

भाष्य में आधिभौतिक तथा आधिदैविक ताप (दुःख) के बाह्यनिमित्तक होने से उनका एकत्व विवक्षित है। (इस कथन से दुःख की त्रिपर्वता को व्याघात नहीं पहुँचता है। शारीर तथा मानस-भेद से आध्यात्मिक दुःख के दो भेदों के साथ आधिभौतिक-आधिदैविक दुःख का सम्मिलित एक भेद मिलकर तीन प्रकार का ताप हो जाता है)। चित्त में अविद्या की वृत्ति (व्यापार) होती है, इसलिये अविद्या को चित्तवृत्ति कहा गया है। इसी अविद्यात्मक वृत्ति के कारण प्राकृतजन 'हान' योग्य बुद्धि, इन्द्रिय, शरीरादि तथा स्त्री-पुत्रादि में अहंकार-ममकाररूपवृत्ति से अनुविद्ध होता है। यहाँ सम्यग्दर्शनरूप विवेकज्ञान से अतिरिक्त दुःख से छुटकारा (परित्राण) पाने का कोई दूसरा साधन नहीं है–इसी तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं–'तदेवमिति।' (इस प्रकार अनादि दुःखप्रवाह में बहते हुए अपने को तथा अन्य प्राणि-

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – **आधिभौतिकाधिदैविकयोः,** थ द ध – **आधिदैविकाधिभौतिकयोः।**
2. क ख घ च छ ज झ त थ द ध न – **च,** ग – **वा।**

समुदाय को देखकर योगिजन, सम्यग्दर्शन के विना अन्य किसी को दुःखनिवृत्ति का उपाय न जानकर, समस्त दुःखों के नाश के कारणभूत विवेकज्ञान की शरण को प्राप्त होते हैं)।

सम्प्रति, सूत्र के 'गुणवृत्तिविरोधात्' अंश की व्याख्या की जा रही है–

तत्त्ववैशारदी

तदेवमौपाधिकं विषयसुखस्य परिणामतः संस्कारतस्तापसंयोगाच्च दुःखत्वमभिधाय स्वाभाविकमादर्शयति–गुणवृत्तिविरोधाच्चेति। व्याचष्टे–प्रख्येति। प्रख्याप्रवृत्तिस्थिति-रूपा बुद्धिरूपेण परिणता गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि परस्परानुग्रहतन्त्राः शान्तं सुखात्मकं घोरं दुःखात्मकं मूढं विषादात्मकमेव प्रत्ययं सुखोपभोगरूपमपि त्रिगुणमारभन्ते। न च सोऽपि तादृशप्रत्ययरूपोऽस्य परिणामः स्थिर इत्याह–चलं न गुणवृत्तमिति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम् इति। नन्वेकः प्रत्ययः कथं परस्परविरुद्धशान्तघोरमूढत्वान्येकदा प्रतिपद्यत इत्यत आह–रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्त इति। रूपाण्यष्टौ भावा धर्मादयः, वृत्तयः सुखाद्याः। तदिह धर्मेण विपच्यमानेनाधर्मस्तादृशो विरुध्यन्ते। सामान्यानि त्वसमुदाचरद्रूपाण्यतिशयैः समुदाचरद्भिः सहाऽविरोधात्प्रवर्तन्त इति।

इस प्रकार परिणाम, संस्कार तथा तापसंयोग से विषयसुख की औपाधिक दुःख-रूपता का प्रतिपादन करके भाष्यकार विषयसुख की स्वाभाविक दुःखप्रदता को प्रदर्शित करते हैं–'**गुणवृत्तिविरोधाच्चेति**।' भाष्यकार पूर्वोक्त पंक्ति की व्याख्या करते हैं–'**प्रख्येति**।' बुद्धिरूप से परिणत ज्ञान-क्रिया-स्थिति स्वभाव वाले सत्त्व, रजस् तथा तमस् रूप गुण परस्पर अनुगृहीत होते हुए '**शान्त**' अर्थात् सुखात्मक, '**घोर**', अर्थात् दुःखात्मक तथा '**मूढ**' अर्थात् विषादात्मक प्रत्यय अर्थात् सुखोपभोगरूप त्रिगुण को (त्रिगुणात्मक वृत्ति को) ही आरम्भ करते हैं। किञ्च गुणों का यह प्रत्ययरूप परिणाम स्थिर भी नहीं है–इसी तथ्य के स्पष्टीकरण के लिये भाष्यकार पञ्च-शिखाचार्य के वचन को प्रमाणरूप से उपस्थित करते हैं–'**चलं च गुणवृत्तमिति क्षिप्र-परिणामि चित्तमुक्तम्**'–अर्थात् 'सत्त्वादि गुण चंचल हैं, इससे चित्त द्रुतपरिणामशील कहा गया है।'

शङ्का–एक ही '**प्रत्यय**' एक ही काल में परस्पर विरुद्ध शान्त, घोर और मूढ रूप धर्म को कैसे प्राप्त होता है?

समाधान–शंका-समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं–'**रूपाऽतिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते**।' धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य-अवैराग्य तथा ऐश्वर्य-अनैश्वर्य–ये आठ भाव (बुद्धि के) '**रूप**' कहे जाते हैं। चित्त के सुखादि परिणाम को '**वृत्ति**' कहते हैं। विपच्यमान अर्थात् विपाकोन्मुख (उदारावस्था को प्राप्त) धर्म का स्वसदृश विपाकाभिमुख अधर्म के साथ विरोध होता है। किन्तु '**सामान्य**' अर्थात् असमुदाचार

अर्थात् सुप्तावस्था वाले धर्म का **'अतिशय'** अर्थात् समुदाचार अर्थात् उदारावस्था वाले धर्म के साथ विरोध न होने से **'सामान्य'** रूप **'अतिशय'** रूप के साथ अविरुद्ध प्रवृत्त होते हैं।

बालप्रिया–

'तादृशः...के द्वारा इस ओर इंगित किया गया है कि **'समबलयोर्हि विरोधः'** न्याय के अनुसार उत्कृष्ट का ही उत्कृष्ट के साथ विरोध होता है। अर्थात् उत्कृष्ट (शक्तिशाली) का अपकृष्ट (दुर्बल) के साथ विरोध नहीं होता है। इस प्रकार विपाकोन्मुख ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य तथा सुखादियों के साथ तुल्य सामर्थ्ययुक्त अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य तथा दुःखादि का परस्पर विरोध होता है। भाव यह है कि धर्माधर्म, वैराग्यावैराग्य, ऐश्वर्यानैश्वर्य, ज्ञानाज्ञान–ये आठ बुद्धि के रूप हैं। इनमें से धर्म, वैराग्य, ज्ञान तथा ऐश्वर्य–ये चार बुद्धि के सात्त्विक रूप हैं। तदितर अधर्मादि बुद्धि के तामस रूप हैं। सुख-दुःख आदि को चित्त की वृत्ति कहते हैं। इनमें से धर्म का अधर्म के साथ, वैराग्य का अवैराग्य के साथ, ऐश्वर्य का अनैश्वर्य के साथ, ज्ञान का अज्ञान के साथ तथा सुख का दुःख के साथ परस्पर विरोध है। अन्तर इतना है कि इनका परस्पर विरोध तभी होता है, जब ये दोनों **'विशेष'** (उदार) रूप में अवस्थित होना चाहते हैं। एक के **'सामान्य'** तथा दूसरे के **'विशेष'** रूप में रहने पर इनमें परस्पर विरोध की स्थिति नहीं बनती है। लौकिक जगत् में भी दो बलवानों में विरोध देखा जाता है। अतः सुखोपभोगकाल में उदारावस्थाक सात्त्विक (शान्त) सुखवृत्ति, उदारावस्थाक राजस (घोर) दुःखवृत्ति की ही विरोधिनी है, न कि अन्य अवस्थाक दुःखवृत्ति की विरोधिनी। अतः सामान्य-विशेषों का विरोध न होने से एक ही चित्तवृत्ति एक ही काल में शान्त, घोर तथा मूढ रूप धर्म को प्राप्त हो सकती है। इसमें कोई विरोध नहीं। अतएव विषय-सुख-भोग-काल में **'विशेष'** सुख के साथ **'सामान्य'** दुःख के विद्यमान रहने से योगिजन विषयसुख को दुःखरूप ही देखते हैं–यह अकाट्य सिद्धान्त सुस्थिर होता है।

उक्त विषय का स्पष्टीकरण करते हुए आगे कहा जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

ननु गृह्णीम एतत्, तथापि विषयसुखस्य कुतः स्वाभाविकी दुःखतेत्यत आह–एवमेत इति। उपादानाभेदादुपादानात्मकत्वाच्चोपादेयस्याप्यभेद इत्यर्थः। तत्किमिदानीमात्यन्तिकमेव तादात्म्यम्। तथा च बुद्धिव्यपदेशभेदौ न कल्पेते इत्यत आह–गुणप्रधानेति। सामान्यात्मना गुणभावोऽतिशयात्मना च प्राधान्यम्। तस्मादुपाधितः स्वभावतश्च दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति।

शङ्का–यदि ऐसा मान भी लिया जाय कि **'विशेष'** सुखवृत्ति का **'सामान्य'** दुःखवृत्ति के साथ कोई विरोध नहीं है तथापि विषयसुख की जो स्वाभाविक दुःखरूपता कही गई है, वह कैसे उपपन्न हो सकेगी?

समाधान–शंका-समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं–**'एवमेत इति'** भाव यह है कि सत्त्वादि त्रिगुण के सबका उपादानकारण होने से तथा उपादेय (कार्य) का उपादान (कारण) के साथ अभेद होने से ये तीनों सुख-दुःख-मोह भी त्रिगुण की भांति अभिन्न हैं। अतः विषयसुख की स्वाभाविक दुःखरूपता सिद्ध होती है।

(**'सर्वे सर्वरूपा भवन्ति'**–को लेकर पुनः विचार हो रहा है)–

शङ्का–उपर्युक्त वर्णन के अनुसार यदि सुख-दुःख-मोह का आत्यन्तिक अभेद माना जाय तो 'सत्त्व सुखात्मक है, रजस् दुःखात्मक है और तमस् मोहात्मक है'– इत्याकारक भेद-व्यवहार कैसे उपपन्न होगा? (अर्थात् सुखादि का आत्यन्तिक अभेद मानने पर भेदव्यवहार अनुपपन्न रहता है तथा भेद-व्यवहार को न्यायसंगत मानने पर सुखादि का आत्यन्तिक अभेद सिद्ध नहीं हो पाता है)?

समाधान–शंका-समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं–**'गुणप्रधानेति'** (गौणप्रधानभाव को लेकर इनमें भेद-व्यवहार उपपन्न होता है अर्थात् सुखभोग के समय दुःख तथा मोह अप्रधान तथा सुख प्रधान होता है। इसी प्रकार दुःखादि के प्रधानकाल में तदपेक्ष सुखादि की गौण स्थिति होती है)। भाष्य में प्रयुक्त **'गुणभाव'** तथा **'प्रधानभाव'** शब्दों का अर्थ करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि–**सामान्यत्वेन 'गुणभाव'** तथा **अतिशयत्वेन 'प्राधान्य'** गृहीत होता है अर्थात् सुखभोगकाल में सुखादि की उदारावस्था, अतिशययुक्त होने से, 'प्रधान' तथा दुःखादि की अनुदारावस्था, सामान्य-युक्त होने से, 'गौण' पदवाच्य है। इसलिये उपाधि से तथा स्वभाव से विवेकी के लिये सभी विषयसुख दुःखरूप ही हैं, यह सिद्धान्त सुस्थिर होता है।

सम्प्रति, **'दुःख'** के **'हेय'** अर्थात् त्याज्यपक्ष पर प्रकाश डाला जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

दुःखं च[1] हेयं [2]प्रज्ञावताम्। न च तन्निदानहानमन्तरेण तद्धेयं भवितुमर्हति। न चापरिज्ञातं निदानं शक्यं हातुमिति मूलनिदानमस्य दर्शयति–तदस्येति। दुःखसमुदायस्य प्रभव उत्पत्तिर्यतस्तद्बीजमित्यर्थः। तदुच्छेदहेतुं दर्शयति–तस्याश्चेति।

प्रेक्षावान् पुरुष के लिये (प्रतिकूलात्मक) दुःख **'हेय'** है। दुःख का नाश उसके कारण के नाश के विना सम्भव नहीं हो सकता है तथा दुःख के कारण का नाश

---

1. क ख ग घ च छ ज़ झ त न – च उपलभ्यते, थ द ध – च नोपलभ्यते।
2. क ख – प्रेक्षावतां, ग थ द ध न – प्रज्ञावतां; घ च छ ज झ त – प्रेक्षावता।

उसके स्वरूपज्ञान के विना सम्भव नहीं है। अतः दुःख के मूलकारण को भाष्यकार प्रदर्शित करते हैं—**'तदस्येति।'** उस भयावह दुःखपुञ्ज की उत्पत्ति (प्रभव) मिथ्याज्ञानरूप **'अविद्या'** के कारण होती है। अतः अविद्या दुःख का बीज है। अर्थात् मिथ्याज्ञानरूप अविद्या दुःख का **'उत्पत्तिकारण'** है। भाष्यकार अविद्या के **'उच्छेदहेतु'** (नाश के कारण) को प्रदर्शित करते हैं—**'तस्याश्चेति।'** अविद्या के नाश का हेतु यथार्थ **'तत्त्वज्ञान'** है। अर्थात् यथार्थ विवेकज्ञान के द्वारा अविद्या का नाश (समूलोच्छेद) होता है।

सम्प्रति, चिकित्साशास्त्र से योगशास्त्र की समकक्षता बताते हुए तत्त्ववैशारदीकार योग के चार आधारभूत स्तम्भों पर प्रकाश डालते हैं—

तत्त्ववैशारदी

इदानीमस्य शास्त्रस्य सर्वा[1]नुग्रहार्थं प्रवृत्तस्य तद्विधेनैव शास्त्रेण सादृश्यं दर्शयति—यथेति। चत्वारो व्यूहाः संक्षिप्तावयवरचना यस्य तत्तथोक्तम्। ननु दुःखं हेयमुक्त्वा संसारं हेयमभिदधतः कुतो न विरोध इत्यत आह—तत्र दुःखबहुल इति। यत्कृत्वाऽविद्या संसारं करोति तदस्या अवान्तरव्यापारं संसारहेतुमाह—प्रधानपुरुषयोरिति। मोक्षस्वरूपमाह—संयोगस्येति। मोक्षोपायमाह—हानोपाय इति। केचित्पश्यन्ति हातुः स्वरूपोच्छेद एव मोक्षः। यथाह[2]—

प्रदीपस्येव निर्वाणं विमोक्षस्तस्य [3]चेतसः। इति।

अन्ये तु सवासनक्लेशसमुच्छेदाद्विशुद्धविज्ञानोत्पाद एव मोक्ष इत्याचक्षते।

सम्प्रति, भाष्यकार लोककल्याण के लिये प्रवृत्त योगशास्त्र की, उसी के समान ही लोकोपकारी चिकित्साशास्त्र से समानता प्रदर्शित करते हैं—**'यथेति।'** जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र चार व्यूह (विभाग) वाला है—रोग, रोगहेतु, आरोग्य तथा आरोग्योपाय। उसी प्रकार योगशास्त्र भी चतुर्व्यूह वाला है—संसार, संसारहेतु, मोक्ष तथा मोक्षोपाय। **'चतुर्व्यूह'** पद का अर्थ करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं—**'चत्वारो व्यूहाः संक्षिप्ता अवयवरचना यस्य तत्तथोक्तम्'** अर्थात् जिसकी चार प्रकार की संक्षिप्त अवयव-संरचना है, उसे **'चतुर्व्यूहशास्त्र'** कहते हैं।

शङ्का—पीछे दुःख को **'हेय'** कहकर सम्प्रति, **'संसार'** को हेय बताने वाले के कथन में विरोध (स्ववचोव्याघातदोष) क्यों नहीं है? अर्थात् विरोध है। भाव यह है कि **'दुःखहेयत्व'** को छोड़कर अब **'संसार-हेयत्व'** का प्रतिपादन क्यों किया जा रहा है?

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – **अनुग्रहार्थं**, थ द ध – **अनुग्रहाय।**
2. क ख ग घ च छ ज झ त – **यथाहुः**, थ द ध – **तथाहुः**, न—**यथाह।**
3. क ख ग घ च छ ज झ त द न – **चेतसः**, थ ध – **तापिनः।**

समाधान–शंका-समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं–'**तत्र दुःखबहुल इति**।' यह संसार दुःखबहुल है। अतः संसार को हेय कहने से दुःख की हेयता भी स्वतः आ जाती है। जिस व्यापार के द्वारा अविद्या संसार का कारण है, उस अविद्या के संसारहेतुक अवान्तरव्यापार को भाष्यकार बताते हैं–'**प्रधानपुरुषयोरिति**।' प्रकृति-पुरुष का संयोग ही '**हेयहेतु**' अर्थात् संसार का कारण है। भाष्यकार मोक्ष (हान) का स्वरूप बताते हैं–'**संयोगस्येति**।' प्रकृति-पुरुष के संयोग की आत्यन्तिक निवृत्ति को '**मोक्ष**' कहते हैं। इसे '**हान**' भी कहते हैं। भाष्यकार मोक्षोपाय (हानोपाय) का स्वरूप बताते हैं–'**हानोपाय इति**।' (योगशास्त्रप्रतिपादित) यथार्थज्ञान=सम्यग्दर्शन ही '**मोक्षोपाय**' है।

पूर्वपक्षः '**बौद्धमत**'–कोई 'हानकर्त्ता आत्मा के स्वरूपोच्छेद' को ही '**मोक्ष**' कहते हैं, जैसा कि कहा है–'**प्रदीपस्येति**।' अर्थात्' प्रदीप के समान चित्त का विमोक्ष (उच्छेद) 'निर्वाण' है।' और कोई 'वासनासहित क्लेश का समुच्छेद होने पर विशुद्ध विज्ञान की उत्पत्ति को 'मोक्ष' कहते हैं।'

बालप्रिया–

'**हातुः स्वरूपोच्छेद एव मोक्षः**'–यह योगाचारवादी बौद्धों का मत है। इस मत में क्षणिक विज्ञानस्कन्ध को 'आत्मा', नील-पीतादिरूप से विलक्षण क्षणिक ज्ञानप्रवाह को '**बन्ध**' तथा दीपनिर्वाण के तुल्य विज्ञानसन्तानरूप आत्मा के अत्यन्त उपरम (नाश) को '**मोक्ष**' कहा गया है।

'**विशुद्धविज्ञानोत्पाद एव मोक्षः**'–यह बौद्धों के 'माध्यमिक' सम्प्रदाय का मत है। इस मत में नील-पीतादि ज्ञानप्रवाह की अभ्यास द्वारा निवृत्ति होने से जो विशुद्ध विज्ञानप्रवाह का उदय होता है, वही '**मोक्ष**' है। इनके यहाँ नूतन विज्ञान प्रवाह का उदय होता है। अतः हेतुवाद होने से इस मत में '**मोक्ष**' अनित्य' है।

तत्त्ववैशारदी

तान्प्रत्याह–तत्रेति। तत्र हानं तावद्दूषयति–हाने तस्येति। न हि प्रेक्षावान्कश्चिदात्मोच्छेदाय यतते। ननु दृश्यन्ते तीव्रगदोन्मूलितसकलसुखा दुःखमयीमिव मूर्तिमुद्वहन्तः स्वोच्छेदाय यतमानाः? सत्यम्। [1]केचिदेव ते। न त्वेवं संसारिणो विविधविचित्रदेवाद्यानन्दभोगभागिनः। तेऽपि च मोक्षमाणा दृश्यन्ते। तस्माद[2]पुरुषार्थप्रसक्तेर्न हातुः स्वरूपोच्छेदो मोक्षोऽभ्युपेयः। अस्तु तर्हि हातुः स्वरूपमुपादेयमित्यत आह–उपादाने च हेतुवाद इति। उपादाने हि कार्यत्वेनानित्यत्वे सति मोक्षत्वादेव [3]च्यवेत। अमृतत्वं हि मोक्षः। नापि विशुद्धो

1. क ख ग – केचिदेवेति, घ च छ ज झ त थ द ध न – केचिदेव ते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त – अपुरुषार्थत्व०, थ द ध न – अपुरुषार्थ०।
3. क घ च छ ज झ त थ द ध न – च्यवेत, ख ग – च्यवते।

विज्ञानसंतानो भवत्यमृतः संतानिभ्यो व्यतिरिक्तस्य संतानस्य वस्तुसतोऽभावात्। संतानिनां चानित्यत्वात्। तस्मात्तथा यतितव्यं यथा शाश्वतवादो भवति। तथा च [1]पुरुषार्थता-पवर्गस्येत्याह–उभयप्रत्याख्यान इति। तस्मात्स्वरूपावस्थानमेवात्मनो मोक्ष इत्येतदेव सम्यग्दर्शनम्॥१५॥

उत्तरपक्षः योगमत–उक्त दोनों मतों का भाष्यकार खण्डन करते हैं–**'तत्रेति'** (उक्त चार प्रकार के व्यूहों में प्रकृति-पुरुष के संयोग का हान (मोक्ष) जो कहा गया है, वह हानकर्त्ता आत्मा का अपना स्वरूप ही है। अतः न तो वह उपादेय हो सकता है और न हेय ही)। भाष्यकार आत्मा के स्वरूप का हान मानने पर दोष की उद्भावना करते हैं–**'हाने तस्येति'** कोई भी विचारशील व्यक्ति आत्मोच्छेद (अपने नाश) के लिये प्रयत्न नहीं करता है। (इस प्रकार आत्मा का हान मानने पर अनभिप्रेत उच्छेदवाद का प्रसङ्ग उपस्थित होगा)।

शङ्का–अत्यन्त रोग को भोगते हुए जिनके समस्त सुख छिन गये हैं, ऐसे व्यक्ति दुःखमय शरीर को धारण करते हुए आत्मोच्छेद के लिये प्रयत्नशील दिखलाई पड़ते हैं। अतः आत्मोच्छेद को ही मोक्ष माना जाय?

समाधान–आपका वक्तव्य किसी सीमा तक यथार्थ है, किन्तु ऐसे लोग अल्पसंख्यक हैं, जो आत्मोच्छेद के लिये प्रयत्नशील दिखलाई पड़ते हैं। देवादि के तुल्य नाना प्रकार के विचित्र आनन्द का उपभोग करने वाले सांसारिक आत्मोच्छेद की कामना नहीं करते हैं। वे तो मोक्ष-प्राप्ति के लिये इच्छुक दिखलाई पड़ते हैं। अतः पुरुषार्थ-रूप से प्रसक्त न होने के कारण हाता (आत्मा) के स्वरूपनाश को **'मोक्ष'** स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

शङ्का–तो फिर मोक्षावस्था में आत्मा अपने स्वरूप का ग्रहण (उपादान) करता है, ऐसा ही मान लिया जाय?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–**'उपादाने न हेतुवाद इति'** 'मोक्षावस्था में आत्मा अपने स्वरूप का उपादान (ग्रहण) करता है'–ऐसा मानने पर (हेतुवाद अर्थात् आत्मा की किसी कारण से उत्पत्ति की प्रसक्ति होगी, इस प्रकार) कार्यत्वप्रयुक्त अनित्यत्व आने पर आत्मा को मोक्ष ही प्राप्त न हो सकेगा, क्योंकि मोक्ष नित्य है। (अर्थात् अनित्य आत्मा को नित्य मोक्ष भला कैसे प्राप्त हो सकेगा)। और न ही विशुद्ध विज्ञानसन्तान को **'मोक्ष'** कह सकते हैं, क्योंकि संतानियों से अतिरिक्त कोई **'वस्तुसत्'** (स्थिर वस्तु) सन्तान नहीं है, (जिसे नित्य मोक्ष प्राप्त हो सके)। और सन्तानियों के अनित्य होने से क्षणिक सन्तानी तो मोक्षस्वरूप हो ही नहीं सकता

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – **पुरुषार्थता,** थ द ध – **पुरुषार्थत्वम्।**

है, (क्योंकि मोक्ष नित्य है)। अतः इस प्रकार का यत्न (चिन्तन) करना चाहिये, जिससे 'शाश्वतवाद' (आत्मा का नित्यत्व) सिद्ध हो सके तथा अपवर्ग की पुरुषार्थता बन सके, इसी तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं–'**उभयप्रत्याख्यान इति**' (इस प्रकार '**आत्मोच्छेदवाद**' तथा '**आत्महेतुवाद**' के प्रत्याख्यान (खण्डन) से '**शाश्वतवाद**' (आत्म-नित्यत्ववाद) सिद्ध होता है)। निष्कर्षतः आत्मा का अपने स्वरूप में अवस्थित होना मोक्ष है–इस कारण से (आत्मा के नित्यत्व का प्रतिपादन करने से) यह प्रकृत योगदर्शन सम्यग्दर्शन अर्थात् यथार्थज्ञानपरक शास्त्र कहलाता है॥१५॥

बालप्रिया–

'**शाश्वतवादः**'–प्रकृति-पुरुष का संयोग '**बन्ध**' तथा संयोग की निवृत्ति '**मोक्ष**' है–ऐसा कहा गया है। '**संयोग**' द्विष्ठ अर्थात् दो वस्तुओं में रहने वाला धर्म है। अतः '**संयोग**' प्रकृति की भाँति पुरुष में भी है, ऐसा कहना पड़ेगा। जिस वस्तु का जो अधिकरण होता है, उसकी निवृत्ति भी उसी अधिकरण में होती है। अतः उक्त संयोग का निवृत्तिरूप मोक्ष पुरुषाधिकरणस्वरूप ही है, यह सिद्ध होता है। किन्तु ऐसी स्थिति में मोक्ष का हान (नाश) मानने पर पुरुष का ही हान तथा मोक्ष का उपादान (उत्पत्ति) मानने पर पुरुष का ही उपादान (उत्पत्ति) मानना पड़ेगा–किन्तु यह नित्यात्मवादियों के सिद्धान्त के विरुद्ध है। अतः '**सम्यग्दृश्यते आत्मा इति सम्यग्दर्शनम्**' इस व्युत्पत्ति से पूर्ववर्णित **उच्छेदवाद** तथा **हेतुवाद** का खण्डन करके **शाश्वतवाद** का प्रतिष्ठापक यह योगदर्शन शरण्य है। क्योंकि इस कथन से बन्ध-निवृत्ति को अधिकरणस्वरूप मानने पर 'आत्मा का स्वस्वरूपावस्थान ही मोक्ष है'–यह निर्भ्रान्त सिद्धान्त सुस्थिर होता है॥१५॥

योगवार्त्तिकम्

सूत्रान्तरमवतारयितुं सुखस्यापि ज्ञानिदृष्ट्या दुःखत्वे हेतुं पृच्छति–कथमिति। तदुपपादकतयोत्तरसूत्रमवतारयति–तदुपपद्यत इति। परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्त्यविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। परिणामश्च तापश्च संस्कारश्च तज्जानि[1] दुःखानि तैः संबन्धात् तत्कारणत्वादिति यावत्। तथा गुणवृत्त्यविरोधाच्चार्थतो दुःखसंभिन्नत्वाच्च प्रकृतितत्कार्यसुखादिकं सर्वं दुःखमेव विवेकिनः, सुखदुःखतत्त्वसाक्षात्कारिणो मतमिति वाक्यार्थः। प्रतिपदं च व्याख्या भाष्ये भविष्यति। एवकारेण चानुकूलात्मकसुखरूपता व्यवच्छिन्ना। यद्यप्ययोगिनोऽपि दुःखमेव सर्वं तथाऽपि स मूढत्वात्सुखकाले दुःखतया न जानाति, योगी तु सुखकालेऽपि तस्य दुःखात्मकत्वं पश्यतीति प्रतिपादयितुं विवेकिन इत्युक्तम्। ननु सुखसाधनतया सुखसंभिन्नतया च सुखमेव कथं सर्वं न भवतीति चेत्? न, दुःखेषु

1. क ग घ च छ – तज्जानि, ख – तज्जन्यानि।

बलवद्द्वेषस्योक्तत्वात्, सामान्यतो बाहुल्यस्याप्यत्र [1]नियामकत्वाच्च वैशेष्यात्तद्वाद इति न्यायात्। तदुक्तं विष्णुपुराणे–

कलत्रमित्रपुत्रार्थगृहक्षेत्रधनादिकैः।
क्रियते न तथा भूरि सुखं पुंसा यथाऽसुखम्॥ इति।

संसारे च सुखापेक्षया दुःखबाहुल्यं जैगीषव्यावट्यसंवादे व्यक्तीभविष्यतीति।

शङ्का–सूत्रान्तर को अवतरित करने के लिये तत्त्वज्ञ की दृष्टि से सुख (सुखपूर्ण पदार्थ) की दुःखरूपता (दुःखात्मकता) के विषय में कारण पूछा जा रहा है– **'कथमिति।'** सुख की दुःखरूपता भला कैसे सिद्ध हो सकती है?

समाधान–भाष्यकार उक्त तथ्य के उपपादक (प्रतिपादक) रूप से अग्रिम सूत्र को अवतरित करते हैं–**'तदुपपद्यत इति।'** तदर्थ सूत्र है–**'परिणामेति।'** योगवार्तिककार **'परिणामतापसंस्कारदुःखैः'** इस समस्त पद का विग्रह करते हैं–**'परिणामश्च तापश्च संस्कारश्च तज्जानि दुःखानि तैः'** अर्थात् परिणाम, ताप तथा संस्कार से उत्पन्न दुःखों को परिणामतापसंस्कारजन्य दुःख कहते हैं। अर्थात् इनसे सम्बन्धित दुःख तत्कारणक हैं तथा **'गुणवृत्त्यविरोधात्'** अर्थात् स्वभावतः दुःख से मिश्रित होने के कारण (सत्त्व, रजस् तथा तमस् इन तीनों गुणों की परस्पर अविरुद्ध प्रवृत्ति होने के कारण) प्रकृति तथा उसके कार्यभूत यच्च-यावत् (समस्त) सुखादिक पदार्थ **'विवेकी'** के लिये दुःखात्मक ही हैं, ऐसा सुखतत्त्व और दुःखतत्त्व का साक्षात्कार करने वाले **'तत्त्वज्ञ'** मानते हैं, इस प्रकार सूत्रार्थ किया जाता है। भाष्य में सूत्रगत प्रत्येक पद की व्याख्या की जायेगी। सूत्र में **एवकार** पद के प्रयोग द्वारा अनुकूलवेदनीय (अनुकूल रूप से प्रतीयमान) सुखरूपता का स्वरूप विशेषरूप से निर्धारित किया गया है। यद्यपि अयोगी (अज्ञ) के लिये भी सब कुछ दुःखरूप ही है तथापि अज्ञता के कारण सुखभोग के समय वह (सुख प्रदान करने वाले पदार्थों को) **'दुःख'** रूप से नहीं समझ पाता है, जब कि योगी सुखकाल में भी पदार्थ के दुःखात्मक स्वरूप का अवलोकन करता है। इसी तथ्य के व्युत्पादनार्थ सूत्र में **'विवेकिनः'** पद का प्रयोग हुआ है।

शङ्का–सुख का साधन होने से तथा सुख से मिश्रित होने से जगत् के समस्त पदार्थों को सुखरूप ही क्यों न मान लिया जाय? अर्थात् पदार्थ सुखात्मक हैं, ऐसा कहना चाहिये?

समाधान–ऐसा नहीं है, क्योंकि दुःखपूर्ण पदार्थों के प्रति बलवद् द्वेष को कारण बतलाया गया है (अर्थात् क्लेशान्तर्वर्ती द्वेष की द्वेषात्मकता पदार्थ के दुःखप्रद होने

---

1. क ख ग घ – नियामकत्वात्, च छ – नियमाकत्वात्।

पर ही सम्भव हो सकती है, न कि सुखात्मक होने पर) तथा व्यापकरूप से (अधिकांशतः) दृष्टिगत होने वाला रूप ही पदार्थ के स्वरूप का सामान्यरूप से नियामक होता है, जैसा कि नियम (न्याय) है—'वैशेष्यात्तद्वादः' (ब्रह्मसूत्र २/४/२२)। यही तथ्य विष्णुपुराण में उक्त है—'कलत्रमित्र...यथाऽसुखम्' (६/'१/५६) अर्थात् 'स्त्री, मित्र, पुत्र, अर्थ, गृह, क्षेत्र तथा धनादि मनुष्यों को इतना सुख नहीं पहुँचाते हैं, जितना दुःख देते हैं।' किञ्च संसार में सुख की अपेक्षा दुःख की बहुलता (प्रचुरता) है, यह बात जैगीषव्य-आवट्यसंवाद (उपाख्यान) से स्पष्ट हो जायेगी।

योगवार्त्तिकम्

तत्र परिणामदुःखहेतुतया सुखस्यापि दुःखतां प्रतिपादयति—सर्वस्यायमिति। उत्सर्गतः सर्वलोकस्य सुखानुभवकाले तत्र सुखे रागो जायते, रागाच्च सुखमिदं मे स्थिरं भवतु परमेश्वर! मा नश्यत्वित्यादि संकल्पात्मको मानसः कर्माशयो धर्माधर्मरूपो भवति, कर्माशयाच्च जन्मादिदुःखमिति प्रागेवोक्तमित्यर्थः। सुखभोगकाले रागजकर्माशयवद् द्वेषमोहजोऽपि कर्माशयः परिणामदुःखहेतुरस्तीत्याह—तथा च द्वेष्टीति। तथा च[1] सुखभोगकाले तद्विरोधितया दुःखसाधनानि द्वेष्टि सुखभ्रंशे दुःखं मे मा भूत्[2] शत्रुश्च मे नश्यत्वित्यादिरूपेण, तथा दुःखसाधनानि परिहर्त्तुमशक्तो मुह्यति चेत्यतो द्वेषमोहकृतोऽप्यस्ति कर्माशय इत्यर्थः। रागद्वेषमोहानां च प्रवृत्त्यादि[3]द्वारेण साक्षादप्यदृष्टहेतुत्वमस्तीति। तथा चोक्तमिति—सुखस्य रागा[4]नुबिद्धत्वं च मयैवोक्तं सुखानुशयी राग इति सूत्रे सुखाभिज्ञस्येत्यादिभाष्येणेत्यर्थः। मानसकर्माशयद्वारा सुखस्य परिणामदुःखत्वं प्रतिपाद्य शरीरकर्माशयद्वाराऽपि तदाह—नानुपहत्येति। शारीरः कर्माशय इति। सुखभोगकाल इति शेषः। एताभ्यां च मानसशारीराभ्यां कर्माशयाभ्यां वाचनिकोऽपि कर्माशयः शापाशीर्वादज उपलक्षणीयः। सुखस्यापि परिणामदुःखसंबन्धेन दुःखत्वेऽविद्यासूत्रं प्रमाणीकृत्योपपादयति—विषयसुखं चेत्यादिना। ननु सर्वदुःखान्त एवेदं वक्तुमुचितमिति चेत्? न, सुखस्याविद्यात्वोपपादनकाल एव दृष्टद्वाराऽपि परिणामदुःखमुपदेष्टुमादावेव विषयसुखस्याविद्यात्वप्रतिपादनात्। अत्र च वक्ष्यमाणपारमार्थिकसुखव्यावर्त्तनाय विषयेत्युक्तम्। अविद्याविषयपदार्थानां बुद्धिमात्रतया सुखमविद्येत्यभेदनिर्देशः।

भोगेन सुखं भवतीत्येवंरूपा भोगजदुःखे सुखबुद्धिरविद्या, सा चाविद्या न तत्सूत्रे विवेचिता, अतोऽत्र तामविद्यां प्रतिपादयन्नेव प्रकारान्तरेण परिणामदुःखं दर्शयति—या भोगेष्विति। तत्रादौ पारमार्थिके सुखदुःखे कथयति—तद् दुःखमित्यन्तेन। अयं भावः—

---

1. ख च छ – च उपलभ्यते, क ग घ – च नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ – भूयात्, च छ – भूत्।
3. क ख ग घ – एव (द्वारेण पश्चात्) उपलभ्यते, च छ – एव नोपलभ्यते।
4. क ख छ – अनुबिद्धत्वं, घ च छ – अनुबद्धत्वम्।

विषयसुखं पारमार्थिकसुखं न भवति, दुःखबहुलत्वेन दुःखसम्भिन्नत्वेन च विवेकिनां निरुपाधिप्रियत्वाभावात्, सुखानुशयी राग इतिसूत्रानुसारेण निरुपाधिप्रियत्वस्यैव[1] सुखलक्षणत्वादिति। अतः शान्तिश्चित्तस्य व्यापारोपरमस्तन्निमित्तिका दुःखनिवृत्तिरिति यावत्। सैव पारमार्थिकं सुखं, सुखं दुःखसुखात्यय इति स्मरणात्, तृष्णाऽऽदिदुःखासम्भिन्नतया विशेषदर्शिनामपि निरुपाधिप्रियत्वाच्च। तस्य च साधनं भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तिरिच्छाविच्छेद एव। तथा च श्रुतिः–स एको ब्रह्मण आनन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्येति। [2]स्मृतिश्च–

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ इति।

अत्र विषयसुखशब्देन चित्तस्य शान्तिनिमित्तकाह्लादोऽपि गृहीतः, तस्यापि दुःखसम्भिन्नत्वेन दुःखत्वस्याविद्यालक्षणे विवक्षितत्वादिति। या लौल्यादिति। या चेन्द्रियाणां लौल्याद् भोगतृष्णातश्चित्तस्यानुपशान्तिर्वृत्तिचाञ्चल्यं तद्दुःखं दुःखबाहुल्यतो विवेकिभि[3]र्हेयत्वादित्यर्थः। सुखदुःखयोस्तत्साधनयोश्चैवं निर्णये सति विषयसुखस्य तत्साधनभोगस्य [4]चाविद्यकमेव सुखत्वं तत्साधनत्वं च लब्धम्। अतश्च विषयसुखस्य परिणामदुःखत्वमित्येतत्प्रघट्टकेनाह–न चेन्द्रियाणामित्यादिना मग्न इत्यन्तेन। भोगाभ्यासमन्विति [5]तथा चोक्तम्।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥ इति।

वृश्चिकेति। वृश्चिकविषभीतः कामादिक्षुद्रदुःखभीतस्तन्निवृत्त्याख्यसुखार्थी स्त्रीपुत्रादिमयमहादुःखसर्पैर्दष्ट इति दृष्टान्तार्थः। विषयानुवासित इति परिणामदुःखपङ्कमग्नतायां हेतुरुक्तः। विषयसंस्कारसंस्कृत इत्यर्थः। परिणामदुःखमुपसंहरन्नेव विवेकिन इति[6]विशेषणव्यावर्त्यमाह–एषा परिणामेति। दुखःता [7]दुःखसमूहो जनतेतिवत्। प्रतिकूला=द्वेष्या, सुखकालेऽपि योगिनमेव क्लिश्नाति दुःखाकरोतीत्यर्थः। भूते पश्यन्ति बर्बरा इतिन्यायेनायोगिनं परिणामकाल एव विषयसुखं दुःखाकरोति, योगिनं तु स्वकाल एवानर्थहेतुतादर्शनेन दुःखाकरोतीति भावः।

भाष्यकार सर्वप्रथम परिणामदुःख के हेतु (कारण) रूप से सुख की भी दुःखरूपता को बताते हैं–'सर्वस्यायमिति' सुखभोगकाल में प्रत्येक प्राणी की सुख के

---

1. क ख घ च छ – निरुपाधिप्रियत्वस्यैव उपलभ्यते, ग – निरुपाधिप्रियत्वस्यैव नोपलभ्यते।
2. क ग घ च छ – स्मृतिः, ख – श्रुतिः।
3. क घ च छ – हेयत्वात्, ख ग – द्वेष्यत्वात्।
4. क ख – च उपलभ्यते, ग घ च छ – च नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च – तथा चोक्तं उपलभ्यते, छ – तथा चोक्तम् नोपलभ्यते।
6. क ख घ च छ – विशेषण॰, ग – विशेषेण।
7. क ग घ च छ – दुःखसमूहः, ख – जनसमूहः।

प्रति रागात्मक बुद्धि सहज उत्पन्न होती है तथा इस रागबुद्धि से **'सुखमिदं मे स्थिरं भवतु परमेश्वर! मा नश्यतु'**–अर्थात् 'हे परमेश्वर! मेरा यह सुख सर्वदा बना रहे, कभी नष्ट न हो' इत्याकारक धर्माधर्मरूप मानस संकल्पात्मक कर्माशय का उदय होता है। तदनन्तर कर्माशय से जन्मादि दुःख प्रशस्त होता है, ऐसा पहले ही कह चुके हैं। (इतना ही नहीं, अपितु) सुखभोगकाल में 'रागज' कर्माशय की भाँति **'द्वेषज'** तथा **'मोहज'** कर्माशय भी परिणामदुःख का कारण होता है, ऐसा भाष्यकार बतलाते हैं– **'तथा च द्वेष्टीति।'** सुखभोगकाल में प्राणी सुख के प्रतिद्वन्द्विरूप दुःखसाधनों के प्रति द्वेष करता है। सुख-ह्रास के विषय में–**'दुःखं मे मा भूत् शत्रुश्च मे नश्यतु'** अर्थात् 'मुझे दुःख न हो तथा मेरे शत्रु नष्ट हो जायें'–इत्यादि रूप से तथा दुःखसाधनों का नाश करने में असमर्थ होकर मोहग्रसित हो जाता है। इस प्रकार द्वेष तथा मोहजन्य कर्माशय भी होता है। किञ्च तत्तत् प्रवृत्त्यादि के द्वारभूत होने से राग, द्वेष तथा मोह में साक्षाद्रूप से अदृष्टहेतुत्व (अदृष्ट का कारणत्व) भी है। योगवार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–**'तथा चोक्तमिति।'** **'सुखानुशयी रागः'** (२/७) सूत्र के **'सुखाभिज्ञस्य'** भाष्य के प्रसंग में सुख की रागानुबिद्धता को मैं विज्ञानभिक्षु पूर्व प्रतिपादित कर चुका हूँ। इस प्रकार मानस कर्माशय द्वारा सुख की **'परिणामदुःखता'** को प्रतिपादित करके भाष्यकार शारीर कर्माशय (शरीर-प्रवृत्तिजन्य पुण्यपापरूप कर्माशय) के द्वारा भी होने वाले **'परिणामदुःख'** को बताते हैं–**'नानुपहत्येति।'** यहाँ **'शारीर'** पद से शारीरकर्माशय गृहीत है तथा **'सुखभोगकाले'** यह वाक्यशेष है। (सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ है–सुखभोगकाल में प्राणियों की हिंसा किये विना उपभोग सम्भव नहीं रहता है, अतः हिंसादि से अपुण्यात्मक शारीर कर्माशय सञ्चित होता है)। इन **'शारीर'** तथा **'मानस'** कर्माशय से, अभिशाप तथा आशीर्वादज **'वाचनिक'** (वचनप्रधान) कर्माशय भी उपलक्षित होता है। सुख का भी परिणामदुःख के साथ सम्बन्ध होने से सुख भी दुःखरूप है, तदर्थ अविद्या के प्रतिपादक सूत्र (२/५) को प्रमाणरूप से रखते हुए भाष्यकार कहते हैं–**'विषयसुखं चेत्यादिना।'** विषयसुख अविद्याप्रधान है, यह बात **'अनित्याशुचि....'** (२/५) सूत्र में कही गई है।

शङ्का–इस स्थिति में समस्त वैषयिक सुख को दुःखान्तकारी ही कहना समुचित है?

समाधान–ऐसा नहीं है, क्योंकि सुख (सुखमात्र) में अविद्या की सत्ता उपपन्न (सिद्ध) करने के समय ही प्रत्यक्ष द्वारा भी पारिणामिक दुःख को बताने के लिये विषयसुख का अविद्यात्वप्रतिपादन पहले ही किया गया है। यहाँ पर आगे बतलाये जाने वाले पारमार्थिक सुख से इसको व्यावृत्त (पृथक्) कराने के लिये **'विषय'** पद प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् वैषयिक सुख की भाँति पारमार्थिक सुख में भी होने वाली दुःखरूपता की भ्रमनिवृत्ति के लिये भाष्यकार ने **'विषय'** पद का ग्रहण किया है।

अविद्या के विषयभूत पदार्थों में बुद्धिमात्र (अनुभवमात्र) से सुखज्ञान होना (अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्म में नित्य, शुचि, सुख तथा आत्मबुद्धि होना) **'अविद्या'** है। इस प्रकार अविद्या तथा उसके विषय में 'अभेद' निर्दिष्ट हुआ है।

'विषयभोग' से सुखप्राप्त होता है–'इत्याकारक भोगजन्य दुःख में होने वाली सुखबुद्धि (सुखानुभूति) को **'अविद्या'** कहते हैं। अविद्या का यह स्वरूप अविद्याप्रतिपादक सूत्र (२/५) में वर्णित नहीं हुआ है। अतः प्रकृत (सूत्र) में अविद्या के उक्त स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए ही भाष्यकार प्रकारान्तर से परिणामदुःख को प्रदर्शित करते हैं–**'या भोगेष्विति।'** इसमें भी भाष्यकार सर्वप्रथम पारमार्थिक सुख-दुःख का लक्षण करते हैं–**'तद् दुःखमित्यन्तेन।'** अर्थात् वैषयिक भोगसेवन से सम्पादित करणतुष्टि को **'सुख'** और तद्भिन्न असन्तोष को **'दुःख'** कहते हैं। भाव यह है–वैषयिक सुख पारमार्थिक सुख नहीं हो सकता है, क्योंकि दुःखबहुलता तथा दुःखसम्मिश्रणता के कारण तत्त्वज्ञों (योगियों) की वैषयिक सुख में 'निरुपाधिक प्रियता का अभाव रहता है। किञ्च **'सुखानुशयी रागः'** (२/७) सूत्र के अनुसार **'निरुपाधि-प्रियता'** (पारमार्थिक राग) को ही **'सुख'** का स्वरूप बतलाया है। अतः चित्त की शान्ति अर्थात् चित्त की विषयात्मिका वृत्ति (व्यापार) के उपरमपूर्वक (निरोधपूर्वक) होने वाली दुःखनिवृत्ति को **'सुख'** कहते हैं। यही पारमार्थिक सुख है, क्योंकि **'सुखं दुःखसुखात्ययः'** (श्रीमद्भाग ११/१९/४१) अर्थात् 'दुःख तथा सुख का अभाव ही 'सुख' है'–ऐसा स्मृतिवाक्य है और विशेषदर्शियों (तत्त्वदर्शियों) को भी तृष्णादि दुःख से पृथक् होने के कारण निरुपाधिक सुख के प्रति प्रियता रहती है अर्थात् पारमार्थिक सुख उन्हें प्रिय लगता है। और इस निरुपाधिक सुख का एकमात्र उपाय (साधन) है–विषयसेवन के प्रति इन्द्रियों की तृप्ति अर्थात् अभिलाषा (इच्छा) का आत्यन्तिक विलगाव (विच्छेद), अर्थात् विषयसेवन के प्रति चित्त की यथार्थ पराङ्मुखता। ऐसा ही श्रुतिवाक्य है–**'स एको...हतस्येति'** (तै. उ. २/८) अर्थात् 'काम से आहत न हुए विरक्त श्रोत्रिय का एक ही ब्रह्मानन्द है।' स्मृतिवाक्य भी है–**'न चाभावयतः...सुखम्'** (गीता २/६६) अर्थात् '(ब्रह्म की) भावना न करने वाले पुरुष को शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित पुरुष को सुख कहाँ।'

भाष्य में **'विषयसुख'** शब्द से चित्त की शान्ति के कारण होने वाले आह्लाद का भी ग्रहण होता है, किन्तु वैषयिक सुख दुःखमिश्रित होने से दुःखरूप ही है, अतः वैषयिक सुख आविद्यिक है। योगवार्तिककार भाष्य की दुःखलक्षणक पंक्ति को उठाते हैं–**'या लौल्यादिति।'** इन्द्रियों की वैषयिक लोलुपता से भोगपिपासायुक्त चित्त की जो अनुपशान्ति अर्थात् वृत्तिप्रधान चञ्चलता है उसें **'दुःख'** कहते हैं। यह दुःख विवेकियों के द्वारा त्याज्य है, क्योंकि इसमें दुःखप्राचुर्य है। इस प्रकार सुख-दुःख तथा

उनके साधनों (कारणों) के स्वरूप का निर्धारण हो जाने पर विषयसुख तथा उसके साधनभूत भोग का आविद्यक सुखत्व तथा तत्साधनत्व सिद्ध होता है। अतः विषयसुख की परिणामदुःखता को भाष्यकार निम्नाङ्कित प्रघट्टक के द्वारा बताते हैं– **'न चेन्द्रियाणामित्यादिना मग्न इत्यन्तेना'** भोगाभ्यास से इन्द्रियों को रागशून्य (आसक्ति-रहित) बनाना असम्भव है, क्योंकि **'भोगाभ्यासमन्विति'** अर्थात् भोगाभ्यास से इन्द्रियों की रागात्मक भावना उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती है। जैसा कि कहा गया है–**न जातु...एवाभिवर्द्धते** (वि. पु. ४/१०/२३) अर्थात् 'जैसे अग्नि में प्रक्षिप्त घृत अग्नि को शान्त नहीं, अपितु प्रदीप्त करता है, वैसे ही कामी पुरुषों की कामना विषय-सेवन से शान्त न होकर प्रत्युत वृद्ध्यंगत होती है।' योगवार्त्तिककार दृष्टान्तस्वरूप आगे के भाष्य को उठाते हैं–**'वृश्चिकेति।'** बिच्छु के विष से भयभीत व्यक्ति की भाँति कामादि तुच्छ दुःख से आशंकित व्यक्ति उसके नाश के लिये सुख की कामना करता हुआ स्त्री, पुत्रादिरूप दुःखान्तकारी सर्पों के द्वारा डस लिया जाता है अर्थात् विषयभोग में फँस जाता है, ऐसा दृष्टान्त का (दार्ष्टान्त के परिप्रेक्ष्य में) अर्थ किया जाता है। आगे का भाष्य है–**'विषयानुवासित इति।'** (भाष्यकार ने इस पद के द्वारा) विषय-वासना को पारिणामिक दुःख-पङ्क में निमज्जित होने का कारण (हेतु) बताया है। इस प्रकार **'विषयानुवासित'** पद का अर्थ है–'विषयसंस्कार से संस्कृत हुआ। **'परिणामदुःख'** का उपसंहार करते हुए ही भाष्यकार सूत्रगत **'विवेकिनः'** इस विशेषण के व्यावर्त्य (इस विशेषण से जिसकी व्यावृत्ति होती है, उस) को बताते हैं–**'एषा परिणामेति।'** यहाँ **'दुःखता'** शब्द का अर्थ **'दुःखसमूह'** वैसे ही है, जिस प्रकार **'जनता'** शब्द का अर्थ **'जनसमूह'** होता है। **'प्रतिकूल'** शब्द का अर्थ **'द्वेष्य'** है अर्थात् द्वेष के विषयभूत पदार्थ को प्रतिकूल कहते हैं। इस प्रकार सुखोपभोगकाल में भी समुत्पादित द्वेषविषयिणी प्रतिकूलभावना योगी को ही दुःखी करती है। **'भूते पश्यन्ति बर्बरा'** अर्थात् 'भूत'=परिणाम के प्राप्त होने पर (बर्बर) पामर लोग जानते हैं' अर्थात् 'किसी भी प्रकार की क्रिया के स्वरूप का बोध पामरजन को क्रिया के फलकाल में ही होता है'–इस न्याय से विषयसुख अयोगी को परिणामकाल में ही दुःखी करता है, किन्तु योगी को विषयसुख के अनुभवकाल में ही तन्निष्ठ अनर्थकारिता का दर्शन होने से विषयसुख उन्हें दुःख प्रदान करता है।

बालप्रिया–

'दुःखता दुःखसमूहो जनतेतिवत्'–पाणिनि सूत्र है–**'ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल्'** (४/२/४३) अर्थात् 'ग्राम, जन तथा बन्धु शब्द से **'समूह'** अर्थ में **'तल्'** प्रत्यय किया जाय।' इस सूत्र के अनुसार प्रकृत के दृष्टान्तभूत **'जनता'** शब्द में समूहार्थक **'तल्'** प्रत्यय है, जो व्याकरणसम्मत है, किन्तु दार्ष्टान्तभूत **'दुःखता'** में **'दुःख'** शब्द से **'समूह'** अर्थ में **'तल्'**

प्रत्यय कर उसे 'दुःखसमूह' का वाचक मानना व्याकरणविरुद्ध है, क्योंकि समूहार्थ में 'दुःख' शब्द से 'तल्' प्रत्यय अवैधानिक है। वस्तुतस्तु 'दुःखता' में भावार्थक 'तल्' प्रत्यय ही न्याय्य है।

योगवार्त्तिकम्

क्रमप्राप्तं तापदुःखं व्याख्यातुं पृच्छति–अथ केति। तापो दुःखं किं तापजन्यदुःख-सामान्यमित्यर्थः। उत्तरम्– सर्वस्येति। पूर्ववदेव व्याख्येयम्। पूर्वं सुखानुभवो रागानुविद्ध उक्त इदानीं च दुःखानुभवो द्वेषानुविद्ध उच्यत इत्येव विशेष इति। स कर्माशय इति। सन्तापकालीनः कर्माशयो द्वेषेणेव रागमोहाभ्यामपि पूर्ववन्मानसो भवतीत्यर्थः। मानसं[1] परिस्पन्दनं यदुक्तं तत्कायिकहिंसाऽऽर्थमे[2]व, न [3]तु स्वातन्त्र्येण मानसकर्माशयहेतुरतो पौनरुक्त्यम्। यद्यपि तापदुःखतायामपि परिणामदुःखतैवात्र प्रदर्श्यते तथाऽपि पूर्वकाल उत्तरकाले च सर्वदैव दुःखत्वात् तापजदुःखस्य परिणामदुःखात् पृथङ्निर्देशः। अतः [4]परिणामाद् दुःखमिति परिणामदुःखं[5] बोध्यम्।

यथाक्रम 'तापदुःख' की व्याख्या करने के लिये प्रश्न किया जा रहा है–'अथ केति।' 'ताप' शब्द का अर्थ है–'दुःख'।

शङ्का–तापजन्य दुःखसामान्य का स्वरूप क्या है?

समाधान–उत्तर है–'**सर्वस्येति।**' 'परिणामदुःख' की भाँति तापजन्य दुःख की व्याख्या करनी चाहिये। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि पहले में सुखानुभव को रागानुविद्ध (रागमूलक) बतलाया गया है तथा इसमें दुःखानुभव को द्वेषानुविद्ध (द्वेषमूलक) बताया जा रहा है। योगवार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'**स कर्माशय इति।**' सन्तापकालीन अर्थात् तापजन्यदुःख से उदित कर्माशय द्वेष की भाँति राग तथा मोह से भी अनुविद्ध होता है, अतः सुखानुशयी कर्माशय की भाँति दुःखानुशयी कर्माशय भी 'मानस' होता है। भाष्यकार ने 'मानस परिस्पन्दन' की बात जो कही है, वह कायिक हिंसा के उद्देश्य से ही है, न कि स्वतन्त्ररूप से मानस परिस्पन्दन मानस कर्माशय का हेतु है। अतः पुनरुक्ति दोष नहीं आता है। यद्यपि 'तापदुःखता' में भी 'परिणामदुःखता' को ही प्रदर्शित किया गया है, तथापि तापदुःख में पूर्वकाल तथा उत्तरकाल सर्वदा ही दुःख विद्यमान रहने से 'तापजदुःख' का 'परिणामदुःख' से पृथङ् निर्देश किया गया है। 'परिणामदुःख' का अर्थ ही है–जो

---

1. क ग च छ – मानसं, ख घ – मनसा।
2. ख – इति (एव पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – इति नोपलभ्यते।
3. क ग घ च छ – न तु, ख – न तत्।
4. क ख ग – परिणाममात्र०, घ च छ – परिणामात्।
5. क ख ग घ – परिणामदुःखं उपलभ्यते, च छ – परिणामदुःखं नोपलभ्यते।

परिणाम (फल के पूर्ण विकास को प्राप्त होने पर अन्त) में दुःख प्रदान करता है उसे 'परिणामदुःख' कहते हैं।

योगवार्त्तिकम्

क्रमप्राप्तं संस्कारदुःखं पृच्छति–का पुनरिति। सुखदुःखसंस्कारजन्यदुःखसामान्यमित्यर्थः। उत्तरम्[1]–सुखानुभवादिति। अत्रेयं प्रक्रिया–आदौ सुखदुःखानुभवैस्तत्संस्काराशयोऽनुद्बुद्धसंस्कारस्ततः कालादिविशेषैस्तदुद्बोधः ततः[2] स्मृतिस्ततो रागद्वेषौ [3]तयोश्च प्रवृत्तिः ततश्च पुनर्दुःखमिति। ज्ञानसंस्काराद् दुःखं प्रतिपाद्य धर्माधर्मरूपात् कर्मसंस्कारादपि दुःखं प्रतिपादयति–एवं कर्मभ्य इति। सुखदुःखरूपे विपाक इत्यन्वयः। नन्वियमपि परिणामदुःखतैवेति चेत्? सत्यम्, तथापि संस्कारपरम्पराया अनन्तदुःखप्रतिपादनाय गोबलीवर्दन्यायेनास्य दुःखस्य पृथगुपन्यासो बोध्यः।

विवेकिन इति विशेषणस्याभिप्रायं विस्तरतः सकलदुःखसाधारणमाह एवमिदमिति। स्वाभाविकतयाऽनन्तत्वलाभायानादीत्युक्तं स्रोतसो [4]विशेषणम्, विप्रसृतमिति। विस्तीर्णमित्यर्थः। अक्ष्णः पात्रेणाधारेण गोलकेन तुल्यो विद्वानित्युक्तं विवृणोति–यथोर्णेति। एतानि भाविदुःखानीतरमयोगिनं [5]प्रतिपत्तारं शब्दादिना परिणामदुःखज्ञातारमप्यविद्वांसमित्यर्थः। इतरं तु वर्त्तमानकाल एव क्लिश्नन्तीत्याह–इतरं त्विति। इतरं तु [6]योगिनं त्रिपर्वाणस्तापा अनु स्वोत्पत्त्यनन्तरमेव प्लवन्ते व्याप्नुवन्तीत्यन्वयः, न तु पूर्वमिति शेषः। आधिभौतिकाधिदैविका[7]ध्यात्मिकरूपाणि पर्वाणि येषां तापानां ते तथा। त्रिपर्वत्वं हेतुगर्भविशेषणम्। बाह्येति। बाह्यशब्देनाधिभौतिकाधिदैविकयोर्ग्रहणम्, इतरस्य विशेषणान्तरमनादीत्यादि–अनुपातिनमित्यन्तम्, अनादिवासनाभिर्विचित्रया नानारूपया चित्तवृत्त्या [8]चित्तनिष्ठयाऽविद्ययाऽनुविद्धं लिप्तमिव, अत एव हातव्येऽपि देहेन्द्रियादावहङ्कारममकारवन्तमिवेत्यर्थः। आत्मनोऽविद्याऽस्मिताऽऽद्यभावप्रतिपादनाय इवेत्याद्युक्तम्। शेषमतिरोहितम्। परिणामादिदुःखत्रयस्य साचिनो[9] ज्ञानेन यत्फलं तदपि प्रसङ्गादाह–तदेवमिति। सुगमम्।

---

1. क ख ग घ च – उत्तरं उपलभ्यते, छ – उत्तरं नोपलभ्यते।
2. क – तत्, ख ग घ च छ – ततः।
3. क क घ च छ – तयोश्च प्रवृत्तिः उपलभ्यते, ख – तयोश्च प्रवृत्तिः नोपलभ्यते।
4. क घ च छ – विशेषणं, ख – विशेषण०, ग – विशेषणे।
5. क ग घ च छ – प्रतिपत्तारं उपलभ्यते, ख – प्रतिपत्तारं नोपलभ्यते।
6. क ख ग घ – अयोगिनं, च छ – योगिनम्।
7. क ग घ च छ – आध्यात्मिकरूपाणि, ख – आध्यात्मिकानि।
8. क ग घ च छ – चित्तनिष्ठया, ख – चित्तवृत्तिरूपया।
9. अ – क च छ – साचिनः, ख ग घ – भाविनः।
   आ – क – अविद्यास्मिताद्यभावप्रतिपादनाय (साचिनः पश्चात्) उपलभ्यते, ख ग घ च छ – अविद्याऽस्मिताद्यभावप्रतिपादनाय नोपलभ्यते।

यथाक्रम संस्कारदुःख के विषय में प्रश्न किया जा रहा है–'**का पुनरिति।**'

शङ्का–'**संस्कारदुःखता**' किसे कहते हैं?

समाधान–सुखसंस्कार तथा दुःखसंस्कार से उत्पन्न दुःखसामान्य को '**संस्कारदुःख**' कहते हैं। भाष्यकार उत्तर देते हैं–'**सुखानुभवादिति।**' यहाँ प्रक्रिया यह है–सुख तथा दुःख के अनुभव से जनित संस्काराशय अनुद्बुद्ध संस्कार वाला होता है। तदनन्तर कालादि अभिव्यञ्जकविशेषों से अनुद्बुद्ध संस्कार उद्बुद्ध होता है। तदनन्तर उद्बुद्ध संस्कार से स्मृति उत्पन्न होती है। तदनन्तर स्मृति से राग तथा द्वेष प्रादुर्भूत होते हैं। तदनन्तर राग तथा द्वेष से प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति से पुनः दुःख होता है। इस प्रकार ज्ञानसंस्कार (अनुभवजन्य संस्कार) से होने वाले दुःख को प्रतिपादित करके भाष्यकार अब धर्माधर्मरूप कर्मसंस्कार से होने वाले दुःख को भी विवेचित करते हैं–'**एवं कर्मभ्य इति।**' यहाँ '**विपाक**' शब्द से सुखदुःखरूप फल को लिया गया है। अर्थात् कर्मों से सुखात्मक अथवा दुःखात्मक फल (विपाक) के अनुभूत होने पर उनसे तदात्मक कर्माशयप्रचय बनता है और यही '**संस्कारदुःखता**' है।

शङ्का–यह '**संस्कारदुःखता**' भी '**परिणामदुःखता**' ही तो है? अतः इन दोनों का पृथङ् निर्देश क्यों किया गया?

समाधान–पूर्वपक्षी की यह शंका उचित है कि यह '**संस्कारदुःखता**' भी यद्यपि '**परिणामदुःखता**' की ही भाँति है तथापि संस्कार-परम्परा से दुःख का आनन्त्य प्रतिपादित करने के लिये '**गोबलीवर्दन्याय**' से संस्कारदुःखता का पृथङ् निर्देश किया गया है। अर्थात् जन्म-जन्मान्तर की संस्कार-शृंखला की भाँति यह दुःख-शृंखला भी अनन्त एवं अनादि प्रवाह वाली है, ऐसा पामरजन को स्पष्टतया प्रदर्शित करने के लिये सूत्रकार ने '**संस्कारदुःखता**' का पृथक्तया निर्देश किया है।

सम्प्रति, भाष्यकार सूत्रगत '**विवेकिनः**' इस विशेषण पद के तात्पर्य को विशेषरूप से प्रतिपादित करते हुए सम्पूर्ण दुःखसामान्य का विवेचन करते हैं–'**एवमिदमिति।**' दुःख में स्वाभाविकरूप से अनन्तत्व को ज्ञापित करने के लिये भाष्यकार ने '**अनादि**' पद को '**स्रोत**' (दुःखस्रोत) के विशेषणरूप से प्रयुक्त किया है। '**विप्रसृतमिति।**' यह अनादि दुःखस्रोत विस्तीर्ण है। '**अक्षिपात्र**' अर्थात् आँख के आधारभूत गोलक की भाँति अतिकोमल हृदय वाले '**विद्वान्**' होते हैं, इस कथ्य को भाष्यकार उद्घाटित (विवृत) करते हैं–'**यथोर्णेति।**' ये भाविदुःख योगिभिन्न अन्य सामान्य अनुभविताओं, जिन्हें शब्दादि के परिणामदुःख का ही बोध होता है, को कष्ट नहीं देते हैं। वे अविद्वान् तो वर्तमानकालिक दुःख से ही दुःखी होते हैं, ऐसा भाष्यकार बतलाते हैं– '**इतरं त्विति।**' अयोगिजन को तो त्रिखण्डात्मक ताप अपनी उत्पत्ति के अनन्तर ही दुःख से आच्छादित करते हैं, न कि उत्पत्ति से पूर्व। जिन तापों के आधिभौतिक,

आधिदैविक तथा आध्यात्मिकरूप तीन पर्व (खण्ड) हैं उन्हें 'त्रिपर्वताप' कहते हैं। 'त्रिपर्वत्व' यह हेतुगर्भविशेषण है। अर्थात् यह 'ताप' के आध्यात्मिकादि तीन कारणों का संकेतभूत विशेषणपद है। योगवार्त्तिककार भाष्य को उठाते हैं—'बाह्येति।' 'बाह्य' शब्द से 'ताप' के आधिभौतिक एवं आधिदैविक निमित्त (हेतु) का ग्रहण होता है (और 'आध्यात्मिक' शब्द ताप के आध्यात्मिक निमित्त का स्पष्टतया बोधक है)। भाष्य में 'इतरं तु' के विशेषणान्तर 'अनादि' इत्यादि से लेकर 'अनुपातिनम्' यहाँ तक के पद हैं। इस प्रकार अनादि वासनाओं के द्वारा 'चित्रित' अर्थात् नानारूप वाली 'चित्तवृत्ति' अर्थात् चित्तनिष्ठ अविद्या से 'अनुविद्ध' अर्थात् लिप्तसदृश हुआ आत्मा हान करने योग्य देह, इन्द्रियादियों में अहंकार तथा ममकार से युक्त की भाँति प्रतीत होता है। अर्थात् अविद्यानुप्राणित जीव देहादि जड पदार्थों में अहंत्व तथा ममत्वबुद्धि करता है। वस्तुतस्तु आत्मतत्त्व में अविद्या, अस्मितादि क्लेशों का आत्यन्तिक अभाव दिग्दर्शित करने के लिये (उपमार्थक) 'इव' शब्द पूर्व प्रयुक्त हुआ है। प्रकृत भाष्य के वाक्य का अवशिष्टांश स्पष्ट है। आत्मा को परिणामादि दुःखत्रय का ज्ञान होने से जो फल प्राप्त होता है, उसे भी भाष्यकार प्रसङ्गतः बताते हैं—'तदेवमिति।' भाष्यार्थ सरल है।

योगवार्त्तिकम्

गुणवृत्त्यविरोधाच्चेति हेतुं व्याख्यातुकामो योजयति—गुणेति। गुणानां सत्त्वादीनां ये वृत्त्यतिशयास्तेषामेव विरोध एकदाऽनवस्थानं न तु न्यूनाधिकभावेन वृत्तीनां विरोधोऽस्ति। अतः प्राधान्येन सत्त्वपरिणामे सुखात्मकचित्तवृत्तावपि तदुपसर्जनतया रजोंऽशपरिणामभूतं दुःखमप्यल्पमस्त्येवेति दुःखसम्भिन्नत्वात्सर्वं सुखाद्यपि दुःखमेव विवेकदृष्ट्येति तस्य दलस्यार्थः। गुणवृत्तिविरोधादिति प्रामादिकपाठे तु गुणवृत्त्यतिशयस्यैव विरोधादित्यर्थः। तदेतद्व्याचष्टे—प्रख्याप्रवृत्तीति। प्रख्या प्रकाशः, प्रवृत्तिः क्रिया, स्थितिः स्तम्भः धर्मधर्म्यभेदात्तद्रूपाः सत्त्वादयो बुद्धिरूपेण परिणता गुणाः परस्पर[1]साहाय्याः सन्तः शान्तादिरूपं प्रत्ययं वृत्तिं त्रिगुणं सुखदुःखमोहवन्तमेवारभन्ते सुखादीनां सत्त्वादिकार्यत्वात् यः [2]कश्चन प्रत्ययः शान्तो वा घोरो मूढो वा भवति स सर्वोऽपि त्रिगुण एव नैकैकमात्रगुण इत्यर्थः। शान्तादि-परिभाषात्रयं च सुखदुःखमोहाधिक्यमात्रेणेति, तथा च सुखवत्यपि प्रत्यये दुःखमस्त्येव। अत एकप्रत्ययोपादानत्वेन सुखेऽपि दुःखस्याविभागलक्षणाभेदो हरीतक्यामिव षण्णां रसानामिति। प्रत्ययश्च बुद्धेर्वृत्तिः प्रदीपशिखावत् बुद्धेः शिखा द्रव्यरूपाः, भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं

1. क ग घ च छ – साहाय्याः, ख – साहाय्याधीनः।
2. क ग घ च छ – कश्चन प्रत्ययः उपलभ्यते, ख – कश्चन प्रत्ययः नोपलभ्यते।

वृत्तिः[1] सम्बन्धार्थं सर्पतीति सांख्यसूत्रात्। अतः प्रत्ययस्य सुखादिगुणवत्ता घटत इति। ननु सुखकाले सूक्ष्मो दुःखात्मको रजःपरिणामो नियमेन भवतीत्यत्र किं मानं तत्राह—चलं चेति। प्रदीपावयवानामिव बुद्ध्यवयवानां गुणानां वृत्तं क्रिया चञ्चला प्रतिक्षणमन्योऽन्या च भवति न तु निर्व्यापारा गुणास्तिष्ठन्ति अतस्तान्त्रिकैश्चित्तं क्षिप्रपरिणाम्युक्तमित्यर्थः। यद्यपि सर्वं[2] जडवस्तु प्रतिक्षणपरिणामि तथाऽपि स्पष्टत्वाभिप्रायेण चित्तमिति विशेषवचनम्। तथा च चित्तगतस्य सत्त्वस्य वृत्तिकाले रजसो वृत्तिरावश्यकीति भावः। नन्वेक एव प्रत्ययः कथं विरुद्धसुखादि[3]त्रयात्मकः स्यात्तत्राह—रूपातिशया इति। बुद्धे रूपाण्यष्टौ भावा धर्मादयो धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्या[4]नैश्वर्याणि, वृत्तयश्च द्रव्यरूपाः शान्तादिनामकाः परिणामास्तेषामतिशया उत्कर्षा एव परस्परं विरुध्यन्ते।[5] यदा धर्म उत्कृष्यते तदा नाधर्म उत्कृष्यते, एवं यदा ज्ञानादि तदा नाज्ञानादि तथा शान्ताद्युत्कर्षकाले घोराद्युत्कर्षश्च विरुध्यते सामान्यानि त्वपकृष्टान्यतिशयैः सह प्रवर्त्तन्त एवेत्यर्थः। ननु भवतु चित्तस्य सुखात्मकप्रत्यये दुःखत्वं सुखात्मकेषु शब्दादिविषयेषु कुतो दुःखत्वं येन सर्वं दुःखं स्यादित्यत आह—एवमे[6]त इति। यथा चित्तस्य प्रत्यया एवमेव सर्वे पदार्थाः सर्वरूपाः सुखदुःखमोहधर्मका भवन्ति। अत[7] एते गुणाः सत्त्वादयो घटादिरूपेणापि परिणताः परस्परसाहित्येनोत्पादितसुखदुःखमोहात्मकप्रत्यया इत्यर्थः। न हि विषयगतविशेषं विना विषयसंबन्धमात्रेण सुखाद्यात्मकचित्तवृत्तिरुदेतुमर्हति, अव्यवस्थाऽऽपत्तेः। विषयगतविशेषस्य चित्तगतसुखादिनियामकत्वे विशेषः सुखादिरूप एव विषयेषु कल्प्यते, कार्यानुरूपस्यैव कारणस्यौचित्यात्। अतो विषयेऽपि सुखादिधर्मान्तरं सुखादिवत्सिध्यतीति भावः। ननु सुखदुःखे रूपादिवद्विषयधर्मौ स्यातां मोहस्तु ज्ञानरूपः कथं विषयधर्मः स्यादिति चेन्न, अतस्मिंस्तदाकारतामात्रस्यैव मोहशब्दा[8]र्थत्वात्। तदुक्तं मोक्षधर्मे-

जगन्मोहात्मकं विद्धि अव्यक्तं व्यक्तसंज्ञकम्॥ इति॥

---

1. क ग घ च छ – वृत्तिः, ख – वृत्तिम्।
2. ख – एव (सर्वं पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – एव नोपलभ्यते।
3. क – रूपात्मकः, ख ग घ च छ – त्रयात्मकः।
4. ख – समुत्पन्नं लिङ्गमात्रं क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं ततः। धर्मादीत्यस्य रूपाणि लोकतत्त्वार्थहेतव इति लिङ्गपुराणात् (अनैश्वर्याणि पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – समुत्पन्नं.....पुराणात् नोपलभ्यते।
5. क ख घ च छ – विरुध्यन्ते, ग – निरुध्यन्ते।
6. क ग घ च छ – एते, ख – एतत्।
7. क च छ – अतः, ख ग घ – यतः।
8. क ख घ – सा च विषयेष्वप्यस्ति महदादिविकाराकारतायाः प्रकृतावपारमार्थिकत्वात् (अर्थत्वात् पश्चात्) उपलभ्यते, ग च छ – सा च...वात् नोपलभ्यते।

अपि च सर्वकार्याणां बुद्ध्या[1]त्मत्रिगुणात्मकमहत्तत्त्वस्य परिणामत्वादपि मोहवत्त्वमिति। ननु [2]सर्वे यदि सर्वरूपास्तर्हि सर्वं सुखात्मकमपि स्यादिति न दुःखस्यापि हेयत्वं स्यादित्याशङ्कायामाह–गुणप्रधानेति। तथा च दुःखबहुलतया दुःखप्राधान्याद् दुःखमेव सर्वमि[3]दं सुखं वैशेष्यात्तद्वाद इतिन्यायेनेति भावः[4]। उपसंहरति–तस्मादिति। तस्मात् परिणामेत्यादिसौत्रहेतुज्ञानादित्यर्थः। तदेवमत्र ध्यानादेर्व्युत्थितचित्तस्य योगसाधनं क्रियायोगमुक्त्वा तत्फलप्रसङ्गेन क्लेशास्तद्धानोपायाश्च तेषां हेयत्वाय दुःखनिदानत्वं दुःखं च प्रतिपादितम्।

इदानीं संक्षेपेणोक्तं समग्रशास्त्रार्थं विस्तरेण सूत्रकारः पुन[5]र्वदति सूत्रजातैः शास्त्रसमाप्तिपर्यन्तैः। तान्यवतारयितुं तेषां विषयजातमादौ सामान्यतः संकलय्य दर्शयति–तदस्येति। तत्तस्मादस्य दृश्यसामान्यरूपस्य दुःखसमूहस्योत्पत्तेर्बीजं मुख्यनिमित्तकारणमविद्या प्रथमक्लेशः, तस्याश्चाविद्याया अत्यन्तोच्छेदहेतुस्तत्त्वज्ञानम्।

'गुणवृत्त्यविरोधात्' इत्याकारक हेत्वन्तबोधक पद की व्याख्या करने की इच्छा वाले भाष्यकार भूमिका बाँधते हैं–'गुणेति।' सत्त्वादि गुणों के जो वृत्त्यतिशय हैं (जिन्हें सूत्र तथा भाष्य में 'रूपातिशयाः' कहा है), उनमें एक साथ अवस्थित न होना रूप (अनवस्थानरूप) 'विरोध' ही है, न कि न्यूनाधिकभावरूप से वृत्त्यतिशयों का परस्पर विरोध विवक्षित है। इसीलिये सत्त्वगुण के परिणामकाल में प्रधानरूप से सुखात्मिका चित्तवृत्ति के होने पर भी तदपेक्ष अप्रधान (गौण) रूप से रजोगुणांश का परिणामभूत दुःख भी स्वल्पमात्रा में अवश्य विद्यमान रहता है। अतः दुःखमिश्रित होने के कारण सभी प्रकार के सुखादि विवेकदृष्टि अर्थात् तात्त्विक दृष्टि से दुःखरूप ही हैं'–यह प्रकृत वाक्यदल का अर्थ है। इस पद के पाठान्तर के विषय में योगवार्त्तिककार अपना मन्तव्य व्यक्त करते हुए कहते हैं–'गुणवृत्तिविरोधात्' यह प्रामादिक पाठ है। क्योंकि ऐसा प्रामादिक पाठ मानने पर तो सत्त्वादि गुणों के 'वृत्त्यतिशय' में ही परस्पर विरोध आता है, (जो उचित नहीं है)।

योगवार्त्तिककार 'गुणवृत्ति' को स्पष्ट करने के लिये आगे के भाष्य को उठाते हैं–'प्रख्याप्रवृत्तीति।' 'प्रख्या' का अर्थ प्रकाश, 'प्रवृत्ति' का अर्थ क्रिया तथा 'स्थिति' का अर्थ स्तम्भ है। धर्म-धर्मी में अभेद होने से सत्त्वादि धर्मी प्रख्यादि धर्म वाले अर्थात् तद्रूप (धर्मिरूप) कहलाते हैं। ('बुद्धि' त्रिगुण का प्रथम कार्यात्मक परिणाम है, इसी

---

1. क ख ग घ – आख्य०, च छ – आत्म०।
2. क ख ग – यदि सर्वे, घ च छ – सर्वे यदि।
3. क ख ग घ – न, च छ – इदम्।
4. ख – एवमेव मोहबहुलतया सर्वजगन्मोहात्मकमिति गीयते (भावः पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – एवमेव...गीयते नोपलभ्यते।
5. क घ च छ – वदति, ख ग – वक्ष्यति।

को ध्यान में रखते हुए योगवार्त्तिककार कहते हैं)—बुद्धिरूप से परिणत ये गुण परस्पर सहायक होकर शान्तादिरूप **'प्रत्यय'** अर्थात् सुख-दुःख-मोहयुक्त त्रिगुणात्मक **'वृत्ति'** को ही आरम्भ करते हैं। चूँकि सुखादि सत्त्वादि के कार्य हैं, इसलिये त्रिगुण का जो कोई भी शान्तात्मक, घोरात्मक अथवा मूढात्मक प्रत्यय (वृत्तिव्यापार) होता है, वह निश्चितरूप से त्रिगुणात्मक होता है न कि एक-एक गुणक (व्यष्टिगुणक) होता है। किञ्च गुणों को शान्तादि परिभाषात्रय से जो अभिहित किया गया है, वह (किसी एक रूप) सुख, दुःख अथवा मोह की अधिकता के ही कारण है। निष्कर्षतः सुखात्मिका वृत्ति में भी **'दुःख'** (का अंश) अवश्य विद्यमान रहता है। इस प्रकार शान्तादिरूप किसी एक वृत्ति के उपादान अर्थात् प्रधानरूप होने से सुख में भी दुःख का अविभागलक्षणक अभेद उसी प्रकार विद्यमान रहता है जिस प्रकार हरीतकी (हर्र) में छहों रसों की सहावस्थिति होती है। किञ्च प्रदीप-शिखा (दीप की लौ) की भाँति **'प्रत्यय'** बुद्धि की वृत्ति (व्यापार) है। बुद्धि की यह वृत्तिरूप शिखा द्रव्यात्मक है, क्योंकि ऐसा सांख्यसूत्र है—**'भागगुणाभ्यां...सर्पतीति'** (५/१०७) अर्थात् 'वृत्ति तो भाग और गुण की अपेक्षा एक पृथक् ही पदार्थ है, क्योंकि विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध बनाने के लिये वह विषयदेश तक जाती है। **'इति'** शब्द हेत्वर्थक है।' इस प्रकार 'प्रत्यय' (बुद्धिवृत्ति) की सुखादिगुणवत्ता घटित होती है।

शङ्का—सुख के आविर्भावकाल में रजोगुण का परिणामभूत अल्प (सूक्ष्म) दुःख नियमतः विद्यमान रहता है, इसमें प्रमाण क्या है?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—**'चलं चेति'** प्रदीप (लौ) के अवयवों की भाँति बुद्धि के अवयवभूत गुणों का **'वृत्त'** अर्थात् मण्डलाकारित क्रिया **'चञ्चल'** अर्थात् प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न रूप वाली होती है। गुण कभी भी निर्व्यापार (परिणामशून्य) नहीं ठहरते हैं। इसीलिये तन्त्रशास्त्रियों ने चित्त को क्षिप्रपरिणामी (निरन्तर परिवर्तनशील) बतलाया है। यद्यपि जगत् की प्रत्येक जडात्मक वस्तु प्रतिक्षण परिणामशील है, तथापि सरलावबोध (स्पष्ट विप्रतिपत्ति) के लिये **'चित्त'** को विशेषतया परिणामशील बताया गया है। इस व्याख्यान से यह सिद्धान्तित होता है कि चित्तान्तर्वर्ती (चित्तनिष्ठ) सत्त्वगुण की सात्त्विकी वृत्ति के समय रजोगुण की राजसी वृत्ति अवश्यंभावी है।

शङ्का—बुद्धि का एक ही प्रत्ययात्मक (वृत्त्यात्मक) व्यापार अर्थात् एक ही शान्तादि चित्तवृत्ति कैसे परस्पर विरुद्ध सुखादित्रयात्मक हो सकती है?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—**'रूपातिशया इति'** बुद्धि के धर्मादि आठ **'रूप'** **'भाव'** पदवाच्य हैं। बुद्धिनिष्ठ वे आठ **'भाव'** हैं—धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म,

अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य। बुद्धि की वृत्तियाँ 'द्रव्यरूप' हैं, जो शान्तादि नाम वाले 'परिणाम' हैं। बुद्धि के ये रूपातिशय तथा वृत्त्यतिशय ही परस्पर विरोधकारी हैं। तथाहि—जब धर्म का उत्कर्ष होता है, तब अधर्म की प्रमुखता नहीं होती है। इसी भाँति ज्ञानादि के उत्कर्षकाल में अज्ञानादि का उत्कर्ष परिलक्षित नहीं होता है। इसी प्रकार शान्तादि के वृद्धि (उत्कर्ष) काल में घोरादि का उत्कर्ष विरुद्ध रहता है। किन्तु 'सामान्य' अर्थात् अपकृष्ट अवस्था वाले बुद्धिगत धर्मादिरूप तथा शान्तादि वृत्तियाँ अपने से भिन्न 'अतिशययुक्त' रूप तथा वृत्ति वाले के साथ प्रवृत्त हो सकती हैं। अर्थात् बुद्धि की 'सामान्य' तथा अतिशययुक्त उक्त स्थितियों के सहावर्तन में परस्पर विरोध (असामञ्जस्य) नहीं है।

शङ्का—चित्त के सुखात्मक प्रत्यय के समय दुःखत्व की सहावस्थिति रहे किन्तु सुखकारी शब्दादि विषयों में दुःख कैसे हो सकता है? जिससे सबको दुःखरूप कहा जाय? अर्थात् सुखप्रदातृ शब्दादि विषयों में दुःखरूपता न होने से 'सर्वं दुःखम्' की उद्घोषणा असमीचीन प्रतीत होती है।

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'एवमेत इति।' चित्त के सुखादि प्रत्ययों की भाँति जगत् के सभी पदार्थ 'सर्वरूप' अर्थात् सुख, दुःख तथा मोहरूप धर्म वाले हैं। अतः घटादिरूप से भी परिणत हुए ये सत्त्वादि गुण परस्पर सहयोगिता (साहित्य) से सुख, दुःख तथा मोहरूप वृत्ति वाले हैं। अर्थात् एक ही घट को लेकर सुखाकारा, दुःखाकारा तथा मोहाकारा वृत्ति देखी जाती है। और विषयगत विशेष के विना केवल घटादि विषय के साथ सम्बन्ध होने से तो चित्त की सुखाद्यात्मिका वृत्ति का उदय नहीं हो सकता है, अन्यथा (विषयगत विशेष को माने विना) निश्चित पदार्थविषयक वृत्ति न होने की अव्यवस्था उत्पन्न होगी। किन्तु विषयगत विशेष को चित्तगत सुखादि का नियामक मानने पर विशेषों में सुखादिरूप विशेष की कल्पना की जाती है, क्योंकि कार्य के अनुरूप ही कारण को स्वीकार करना न्यायसंगत है। अतः (त्रिगुणात्मक घट, पटादि) विषय में भी चित्तगत सुखादि के समान सुखादि धर्मान्तर सिद्ध होता है।

शङ्का—रूपादि के समान सुख-दुःख तो विषय के धर्म हो सकते हैं, किन्तु ज्ञानरूप मोह किस प्रकार विषय का धर्म हो सकता है? अर्थात् मोह को विषय का धर्म नहीं कहा जा सकता है?

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अतद्रूप में तद्बुद्धि होने को ही तो मोह कहा जाता है अर्थात् अतद्रूप शुक्ति में तद्रूप रजतबुद्धि होना ही 'मोह' पद का अर्थ है। (और यह मोहबुद्धि विषयों में ही होती है। अतः मोह को विषय का धर्म कहना न्याय्य है)। जैसा कि मोक्षधर्म में कहा गया है—'जगन्...संज्ञकम्' (३०२/३६) अर्थात्

'इस जगत् को मोहात्मक समझना चाहिये जो अव्यक्त प्रकृति का व्यक्त कार्य है।' किञ्च घटादि सभी कार्य बुद्ध्यात्मापन्न त्रिगुणात्मक महत् के परिणाम हैं। अतः इससे भी घटादि पदार्थ मोहात्मक सिद्ध होते हैं।

शङ्का–यदि जगत् के सभी पदार्थ सभी रूप वाले हैं तो समस्त विकारजात को सुखात्मक भी माना जाय और इस प्रकार दुःख की हेयता भी नहीं बन पायेगी?

समाधान–ऐसी आशंका होने पर भाष्यकार कहते हैं–'गुणप्रधानेति।' जगत् में दुःखबहुलता के कारण दुःख का प्राधान्य होने से 'वैशेष्यात्तद्वादः' (ब्र.सू.२/४/२२) न्यायानुसार पुरोदृश्यमान यह सुख भी पूर्णतया दुःखात्मक ही है, न कि सुखात्मक। भाष्यकार उक्त सिद्धान्त का उपसंहार करते हुए कहते हैं–'तस्मादिति।' सूत्र में निर्दिष्ट परिणामादि हेतुओं का ज्ञान होने से विवेकी के लिये सभी विषयसुख दुःखरूप ही हैं, यह सिद्ध होता है। इस प्रकार यहाँ ध्यानादि से पराङ्मुख व्युत्थित चित्त वाले साधक के लिये योग के साधनभूत 'क्रियायोग' को बतलाकर उसके फलकथन के प्रसङ्गानुसार क्लेश और उसके हान के उपाय वर्णित हुए तथा क्लेशों की हेयता के लिये दुःख का कारण तथा दुःख का स्वरूप प्रतिपादित हुआ है।

अधुना, संक्षेप से कथित उपरिनिर्दिष्ट समग्र विचार को (दार्शनिक चर्चा को) सूत्रकार शास्त्र के समाप्तिपर्यन्त सूत्रजात से पुनः विशदीकृत करेंगे। उन सूत्रों को अवतरित करने के लिये भाष्यकार उनके विषयसमूह का सर्वप्रथम संकलन कर सामान्यरूप से अभिधान करते हैं–'तदस्येति।' इस कारण से दृश्यसामान्यरूप (दृश्यकोटिक) दुःखसमूह की उत्पत्ति का 'बीज' अर्थात् मुख्य निमित्तकारण 'अविद्या' है, जिसकी क्लेशों में सबसे पहले गिनती है। और इसी 'अविद्या' के आत्यन्तिक नाश का कारण 'तत्त्वज्ञान' है।

योगवार्त्तिकम्

अतश्चिकित्साशास्त्रवदिदं योगशास्त्रं चतुर्व्यूहं चत्वारो व्यूहा हेयादीनां राशयः प्रतिपाद्या अस्मिन्निति चतुर्व्यूहमित्यर्थः। रोगादितुल्यत्वं प्रतिपादयन्नेव तेषां व्यूहानां स्वरूपाण्याह–तत्र दुःखेति। संसरत्यस्मिन्निति संसारोऽत्र प्रपञ्चः। ननु दुःखमेव हेयमिति वक्ष्यति। तत्कथं संसारो हेय उच्यते? तत्राह–दुःखबहुल इति। दुःखबहुलत्वात्संसार एव दुःखमित्यर्थः। प्रधानेति। नन्वविद्या दुःखहेतुरित्युक्त्वाऽ[1]त्र संयोगः कथं दुःखहेतुः साध्यत[2] इति चेत्? व्यापारकथनायेत्यवेहि। अविद्या हि बुद्धिपुरुषसंयोगाख्यजन्मद्वारैव दुःखहेतुः, कार्यकारणाभेदेन च सैव बुद्धिरत्र प्रधानशब्दार्थः, द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुरित्या-

1. क ख ग घ – संयोगः कथमत्र, च छ – अत्र संयोगः कथम्।
2. क ख ग – उच्यते, घ च छ – साध्यते।

गामिसूत्रादिति। संयोगस्येति। उक्तसंयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिरेव हानं दुःखहानमिति यावत्, तच्च[1] चरमकारणत्वादित्यर्थः। हानोपाय इति। सम्यग्दर्शनमिति। प्रकृतिपुरुषविवेकसाक्षात्कारो दुःखहानोपायो मोक्षोपाय इत्यर्थः। असंप्रज्ञातयोगस्त्वाशुतरमोक्षार्थमेवापेक्ष्यत इत्या[2]शयः। तेनायं योगो हानोपायतयाऽत्र नोक्तः[3]।

ये तु नास्तिका मन्यन्ते–संयोगहानं न मोक्षः किंतु चित्तरूपस्यात्मनस्त्याग एव मोक्षः, किं चासंसारिविज्ञानसन्तानोच्छेदेन जीवन्मुक्तविज्ञानसन्तानलाभ एव मोक्ष इति तन्मतनिरसनपूर्वकं स्वशास्त्रस्यैव सम्यग्दर्शनत्वमवधारयति–[4]तत्र हातुरिति। तत्र चतुर्व्यूहमध्य आत्मनो हानमुपादानं वा न पुरुषार्थ इत्यर्थः। इतिशब्दस्य हेतुवाद इत्यनन्तरमन्वयः। उक्तार्थे हेतुमाह–हाने तस्येति। तस्य हाने स्वत्यागे हि स्वोच्छेदवचनं प्रसज्येत मुख्यत्यागस्य [5]भेदतन्त्रत्वेनात्मन्यसंभवात्। तच्चायुक्तं स्वनाशस्य लोके पुरुषार्थत्वादर्शनात्, स्वीयतयैव सुखदुःखाभावयोः पुरुषार्थत्वादित्यर्थः। स्वयं म्रियमाणोऽपि दुःखहानार्थमेवाग्निप्रवेशादौ प्रवर्त्तते, न तु स्वनाशार्थमित्य[6]र्थः। हेतुवाद इति। हेतुः स्वरूपस्य स कारणतावादः स्यात्, तथा च भावकार्यत्वेन विनाशित्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। उभयेति। इत्यतो हानोपादानोभयनिषेधे स्वयं[7] नित्यतावाद एव परिशेषात्सिध्यतीति। अत एतदेव यथोक्तचतुर्व्यूहशास्त्रं सम्यग्दर्शनं[8] सम्यग्दृश्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्येत्यर्थः॥१५॥

चिकित्साशास्त्र के समान यह योगशास्त्र चार व्यूह वाला है। 'चतुर्व्यूह' पद की व्युत्पत्ति है–'चत्वारो व्यूहा हेयादीनां राशयः प्रतिपाद्या अस्मिन्निति चतुर्व्यूहम्' अर्थात् हेयादि चार राशियों का जिसमें प्रतिपादन किया जाता है, उसे चतुर्व्यूहात्मक शास्त्र कहते हैं। चिकित्साशास्त्र के रोगादि (रोग, रोगहेतु, आरोग्य तथा आरोग्योपाय संज्ञक) व्यूह के साथ समानता को बतलाते हुए भाष्यकार योगशास्त्र के हेयादि (हेय, हेयहेतु, हान तथा हानोपाय संज्ञक) व्यूहों के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं– 'तत्र दुःखेति।' 'संसरत्यस्मिन्निति संसारः'–इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसमें प्राणी संसरण करता है उसे 'संसार' कहते हैं। यहाँ 'संसार' शब्द से 'प्रपञ्च' गृहीत है।

---

1. क – हान०, ख ग घ च छ – चरम०।
2. क च छ – आशयः। तेन, ख – आशयेन, ग घ – आशयः येन।
3. ख – अथवा दुःखहानेऽविद्यानिवृत्तिवदसंप्रज्ञातयोगोऽपि विवेकख्यातेर्द्वारमध्ये विवक्षित इति न न्यूनता (उक्तः पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – अथवा...न्यूनता नोपलभ्यते।
4. क घ – तत्र हीति, ख ग च छ – तत्र हातुरिति।
5. क ग घ च छ – भेद० ख – अभेद०।
6. क ख – भावः, ग घ च छ – अर्थः।
7. क घ च छ – स्वयं, ख ग – स्वस्य।
8. क ख घ च – सम्यग्दर्शनं उपलभ्यते, ग छ – सम्यग्दर्शनं नोपलभ्यते।

शङ्का—'दुःख हेय है'—ऐसा ही आगे बतलाया जायेगा, तो फिर यहाँ संसार को क्यों हेय कहा जा रहा है?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**दुःखबहुल इति**।' दुःखबहुल होने से संसार ही '**दुःख**' (का अपर पर्याय) है। '**हेयहेतु**' प्रतिपादक वैयासिक भाष्य को योगवार्त्तिककार उठाते हैं—'**प्रधानेति**।' अर्थात् प्रकृति-पुरुष का संयोग '**हेयहेतु**' है।

शङ्का—'दुःख का कारण अविद्या है'—ऐसा पहले कहकर यहाँ '**प्रधानपुरुषसंयोग**' को दुःखहेतु रूप से कैसे सिद्ध किया जा रहा है?

समाधान—'**अविद्या**' बुद्धि-पुरुष के संयोगाख्य जन्म (उत्पत्ति) के द्वारा ही दुःख का कारण बनती है अर्थात् बुद्धि-पुरुष का संसाराख्य संयोगविशेष कराते हुए अविद्या दुःख का हेतु है—इत्याकारक व्यापारकथन के लिये प्रकृत में '**प्रधानपुरुषसंयोग**' का दुःखहेतुरूप से अवबोध कराया गया है। यहाँ '**प्रधान**' शब्द से बुद्धि ग्रहीत होती है। अर्थात् '**प्रधान**' शब्द का अर्थ बुद्धि है, क्योंकि (योगशास्त्र में) कार्य-कारण का अभेद स्वीकृत है। किञ्च द्रष्टा-दृश्य का संयोग '**हेयहेतु**' है, इस तथ्य का प्रतिपादक आगामी सूत्र भी है—**द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः** २/१७। योगवार्त्तिककार '**हान**' प्रतिपादक वैयासिक वाक्य को उठाते हैं—'**संयोगस्येति**।' उपरिवर्णित '**संयोग**' की आत्यन्तिकी निवृत्ति को ही '**हान**' अर्थात् दुःखत्याग का कारण कहते हैं, क्योंकि संयोगनिवृत्ति ही दुःखत्याग का चरम कारण है। योगवार्त्तिककार '**हानोपाय**' प्रतिपादक वैयासिक वाक्य को उठाते हैं—'**हानोपाय इति**।' '**सम्यग्दर्शन**' हानोपाय है। '**सम्यग्दर्शनमिति**।' प्रकृति-पुरुष का अपरोक्षात्मक भेदज्ञान दुःखनाश का उपाय है। अर्थात् दुःख से आत्यन्तिक छुटकारा दिलाने के कारण इसे मोक्षोपाय (हानोपाय) भी कहते हैं। असम्प्रज्ञात योग तो आशुतर (त्वरित) मोक्ष के लिये अपेक्षित रहता है। अतः असम्प्रज्ञात योग को यहाँ '**हानोपाय**' रूप से नहीं कहा गया है।

पूर्वपक्ष—नास्तिक लोग यह मानते हैं—प्रकृति-पुरुष के संयोग का नाश मोक्ष नहीं है अपितु चित्तरूप आत्मा का त्याग ही मोक्ष है। किञ्च असंसारी विज्ञानसन्तान का उच्छेद होने से जीवन्मुक्त विज्ञानसन्तान की प्राप्ति ही मोक्ष है। (यह मत विज्ञानवादी बौद्धों का है)।

उत्तरपक्ष—भाष्यकार पूर्वपक्षी (विज्ञानवादी) के मत के खण्डनपूर्वक योगसम्मत सम्यग्दर्शन का स्वरूप निर्धारित करते हैं—'**तत्र हातुरिति**।' चतुर्व्यूह के प्रसंग में आत्मा के त्याग (हान) अथवा ग्रहण (उपादान) को पुरुषार्थ नहीं कह सकते हैं। (भाष्य के '**शाश्वतवाद इत्येतत्सम्यग्दर्शनम्**' में प्रयुक्त '**इति**' पद के विषय में योगवार्त्तिककार बतलाते हैं)—'**इति**' शब्द का अन्वय हेतुवाद के अनन्तर ('**हेतुवाद इति**') करना चाहिये। ऐसा अन्वय करने में भाष्यकार हेतु बताते हैं—'**हाने तस्येति**।'

आत्मा के स्वरूप का हान मानने पर उस आत्मा का उच्छेदवाद अर्थात् आत्मा के नाश की प्रसक्ति होगी। क्योंकि मुख्यत्याग भेद के अधीन होने से वह आत्मा में सम्भव नहीं है। भाव यह है कि हेय और हाता में भेद है। अतः हान का कर्त्ता और कर्म दोनों एक नहीं हो सकते हैं। क्योंकि अपने ही स्वरूप का नाश लोक में पुरुषार्थरूप से अनुमोदित नहीं है, अपितु अपनी स्थिति बने रहते हुए ही सुख तथा दुःख के अभाव को मोक्ष कहते हैं। क्योंकि (लोक में) स्वयं मरता हुआ भी मनुष्य दुःखनाश के लिये ही अग्नि में प्रवेश करता है, न कि आत्मनाश के लिये। योगवार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–**'हेतुवाद इति'** स्वरूप की प्राप्ति होती है, ऐसा मानने पर **'कारणवाद'** प्रसक्त होता है तथा भाव के कार्यरूप होने से उसके विनाश का प्रसङ्ग आयेगा (सरलार्थ यह है–आत्मा या पुरुष के स्वरूप को प्राप्य मानने पर पुरुष का स्वरूप किसी कारण से प्राप्त होता है, ऐसा कहना पड़ेगा। इस स्थिति में पुरुष को कृत्रिम मानना पड़ेगा, फिर जब पुरुष-स्वरूप की प्राप्ति कृत्रिम होगी तो पुरुष विनाशशील होगा। (किन्तु ऐसा मानना शास्त्रसम्मत नहीं है)। योगवार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–**'उभयेति'** इस प्रकार आत्मा के **'हान'** तथा **'उपादान'** इन दोनों पक्षों का निषेध करने पर स्वयं नित्यतावाद ही परिशेषात् सिद्ध होता है। अतः उक्त कथित चार व्यूह वाला शास्त्र **'सम्यग्दृश्यतेऽनेनेति'** इस व्युत्पत्ति से **'सम्यग्दर्शन'** कहलाता है ॥१५॥

व्यासभाष्यम्

[1]तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूहमित्यभिधीयते–

वह यह योगशास्त्र (पतञ्जलि के अनुसार) चार विभागों वाला कहा जाता है। (अतः सूत्रकार सर्वप्रथम 'हेय' व्यूह को सूत्रित करते हैं)–

योगसूत्रम्

हेयं दुःखमनागतम्॥१६॥

भविष्यत्कालिक दुःख (ही) 'हेय' है॥१६॥

व्यासभाष्यम्

दुःखमतीतमुपभोगेनातिवाहितं न हेयपक्षे वर्तते। वर्तमानं च स्वक्षणे [2]भोगा-

1. क ख च छ ज झ त थ द ध न – तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूहमित्यभिधीयते २/१५ सूत्रस्य टीका, ग घ प फ ब भ म प र – तदेतच्छास्त्रं.......धीयते २/१६ सूत्रस्य अवतरणिका।
2. क घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म र – भोग०, ख ग – उपभोग०।

रूढमिति न तत्क्षणान्तरे हेयतामापद्यते। [1]तस्माद्यदेवानागतं दुःखं तदेवाक्षिपात्रकल्पं योगिनं क्लिश्नाति, नेतरं प्रतिपत्तारम्। तदेव हेयतामापद्यते॥१६॥

व्यतीत दुःख तो उपभोग द्वारा (ही) समाप्त हो चुकता है, अतः वह 'हेय' कोटि में न्यस्त नहीं होता है और वर्तमान दुःख तो विद्यमान क्षण में भोगारूढ अर्थात् भोगा ही जा रहा है। अतः वह अग्रिम क्षण में हेयता के लिये अवशिष्ट नहीं रह सकता है। इसलिये जो अनागत दुःख है, जिसका अभी भोग आरम्भ नहीं हुआ है, वही नेत्रगोलक के समान सुकुमार योगी को क्लेश पहुँचाता है, अन्य सामान्य भोक्ताओं को नहीं। इस प्रकार वही अनागत दुःख हेयता का विषय बनता है॥१६॥

तत्त्ववैशारदी

तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूहमित्यभिधीयते–हेयं दुःखमनागतम्। अनागतमित्यतीतवर्तमाने व्यवच्छिन्ने। तत्रोपपत्तिमाह–दुःखमतीतमिति। ननु वर्तमानमुपभुज्यमानं न भोगेनातिवाहितमिति कस्मान्न हेयमित्यत आह–वर्तमानं चेति। सुगमम्॥१६॥

(चिकित्साशास्त्र की भाँति) प्रकृत योगशास्त्र चतुर्व्यूह वाला है–ऐसा कहा जाता है। सूत्र है–**'हेयमिति।'** सूत्र में **'अनागतम्'** पद के प्रयोग से अनागतकालिक दुःख को अतीत और वर्तमानकालिक दुःख से पृथक् किया गया है। शब्दान्तर में सूत्रकार ने **'अनागत'** पद के प्रयोग से तीनों दुःखों में से अनागत दुःख को ही 'हेय' प्रतिपादित किया है। भाष्यकार इसी तथ्य के औचित्य (युक्ति) को सिद्ध करते हैं–**'दुःखमतीत- मिति'** (भोग द्वारा अतीतावस्था को प्राप्त (विनष्ट) हुए दुःख के पुनर्नाश के लिये पुरुषार्थ अप्रासंगिक तथा व्यर्थ होने से **'अतीतदुःख'** **'हेय'** (त्याज्य) नहीं रह जाता है)।

शङ्का–उपभोग किया जाता हुआ **'वर्तमानं दुःख'** तो अभी भोग द्वारा नष्ट नहीं हुआ है, अतः वर्तमानकालिक दुःख को ही **"हेय"** क्यों न कहा जाय? अर्थात् वर्तमानकालिक दुःख **हेय'** है–ऐसा कहना चाहिये।

समाधान–शंका-समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं–**'वर्तमानं चेति'** (जो दुःख वर्तमान है, अर्थात् भोगारूढ है वह द्वितीय क्षण में भोग द्वारा स्वतः ही नष्ट हो जाता है। अतः उसमें **हेयत्व** का आपादन कर उसके नाश के उपाय की चर्चा करना सर्वथा व्यर्थ है)। शेष भाष्य सुगम है॥१६॥

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य – तस्मात् उपलभ्यते, र – तस्मात् नोपलभ्यते।

बालप्रिया–

'अनागतम्'–यदि पूर्वपक्षी कहे कि अनागत दुःख की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है, अतः अनागतदुःख की निवृत्ति को कैसे पुरुषार्थ माना जाय, तो पूर्वपक्षी का यह कथन उचित नहीं है। तृतीय पाद के १४वें सूत्र में इसका उत्तर दिया जायेगा। सूत्र है–शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी॥१६॥

योगवार्त्तिकम्

इदानीं वक्ष्यमाणसूत्रगणमवतारयति–तदेतदिति। तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूहमिति क्रमेणाभिधीयते प्रतिपाद्यते सूत्रकारेणेत्यर्थः। हेयं दुःखमनागतम्। अनागतमिति विशेषणस्य फलमाह–दुःखमतीतमित्यादिना; अतिवाहितमतिक्रान्तमतः सिद्धतया तद्धानं न पुरुषार्थः, तथा वर्त्तमानमपि स्वसत्ता[1]काले भुज्यत एवेति [2]त्वया वक्तुं न शक्यते, स्वोत्तरोत्पन्नगुणेन च तृतीयक्षणे स्वयमेव नङ्क्ष्यतीति तद्धानार्थः प्रयासो विफल इत्यर्थः। नन्वेवमनागतस्यापि हेयत्वं न घटते, परचित्तदुःखस्य स्वचित्ते स्वत एवाभावात्, स्वचित्तवृत्तेश्चानागतदुःखस्यावश्यंभावित्वात्, अन्यथा [3]सत्त्वप्रमाणाभावादिति चेत्? न; स्वचित्तस्यैवानागतदुःखस्य कारणोच्छेदेना[4]नुत्पत्त्या [5]हेयत्वाद् वर्त्तमानलक्षणमप्राप्तस्याप्यनागतदुःखस्य चित्तनाशेन नाशात्कदाचिद्वर्त्तमानोऽपि चानागतधर्मोऽनुमानात्सिध्यति सर्वं सर्वात्मकमिति भाष्यकारेण तृतीयपादे सर्वत्रैव परिणामिवस्तुनि विकारजननशक्तेः कार्यानागतावस्थारूपाया जलभूम्यादिदृष्टान्तैः शान्तोदिताव्यपदेश्येत्यादिसूत्रेऽनुमेयत्वादिति। शेषं पूर्वसूत्रे व्याख्यातप्रायम्। अस्माच्च सूत्रादात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिरेव मोक्ष इति सिद्धम्।

अधुना, भाष्यकार (चतुर्व्यूह के प्रतिपादक) आगामी सूत्रजात को अवतरित करते हैं–'तदेतदिति' यह चतुर्व्यूहात्मक शास्त्र है, अतः चतुर्व्यूह के क्रम से सूत्रकार इसका प्रतिपादन करते हैं–'हेयमिति' भाष्यकार सूत्र में प्रयुक्त 'अनागतम्' इस विशेषणपद के फल को बताते हैं–'दुःखमतीतमित्यादिना' जो दुःख 'अतिवाहित' अर्थात् अतिक्रान्त हो चुका है अर्थात् भोग द्वारा नष्ट हो चुका है, उस दुःख का नाश स्वतः सिद्ध होने से उस (अतीत दुःख) का 'हान' 'पुरुषार्थरूप' नहीं है। इसी प्रकार जो वर्तमानकालिक दुःख है, वह भी अपनी सत्ता के समय भोग की प्रक्रिया पर तो चढ़ा हुआ ही है, अतः वर्तमानकालिक दुःख का हान भी तुम्हारे द्वारा नहीं कहा जा सकता है। वर्तमानकालिक दुःख अपने उत्तर क्षण में उत्पन्न गुण से तृतीय क्षण

1. क घ च छ – काले, ख ग – क्षणे।
2. क – तथा त्यक्तुं, ख ग – तदा त्यक्तुं, घ च छ – त्वया वक्तुम्।
3. क – सत्त्वे, ख ग – तत्र, घ च छ – सत्त्व०।
4. क ख घ च छ – अनुत्पत्त्या, ग – उत्पत्त्या।
5. क ग घ च छ – हेयत्वात्, ख – अनावश्यकत्वात्।

में स्वयं ही नष्ट हो जाता है। अतः वर्तमान दुःख के हान (नाश) का प्रयास व्यर्थ है।

शङ्का–अतीत तथा वर्तमानकालिक दुःख की भाँति अनागतकालिक दुःख का हेयत्व भी उपपन्न नहीं होता है। क्योंकि परचित्तान्तर्वर्ती दुःख का स्वचित्त में स्वतः ही अभाव रहता है तथा अनागतदुःखविषयिणी स्वचित्तवृत्ति का होना अनिवार्य है, अन्यथा अनागतदुःख के अस्तित्व के विषय में कोई प्रमाण नहीं रहेगा?

समाधान–ऐसा नहीं है, क्योंकि अविद्यादि कारण का उच्छेद होने से केवल स्वचित्तान्र्तवर्ती अनागतदुःख की उत्पत्ति न होने से अनागतकालीन दुःख हेय है। इस प्रकार वर्तमानलक्षण को प्राप्त हुए विना भी अनागतदुःख का चित्तनाश के साथ नाश हो जाता है और कदाचित् वर्तमान अवस्था को प्राप्त होता हुआ भी अनागतधर्म अनुमानप्रमाण से सिद्ध होता है। क्योंकि भाष्यकार ने तृतीयपाद के **'शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी'** (३/१४) सूत्र के **'सर्वं सर्वात्मकम्'**–इत्याकारक भाष्य में परिणामशील वस्तु में निहित कार्य की अनागतावस्थारूप कार्यजननशक्ति को जल, भूम्यादि के दृष्टान्तों द्वारा अनुमेय (अनुमान का विषय होना) बतलाया है। सूत्र के शेष दो पदों **'हेयं'** तथा **'दुःखम्'** की व्याख्या प्रायः पीछे की जा चुकी है। प्रस्तुत सूत्र से यह सिद्ध होता है कि 'आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति ही मोक्ष है।'

योगवार्त्तिकम्

अस्मिन्सूत्रे दुःखं मुख्यमेव ग्राह्यं, [1]मुख्यस्यैव स्वतो हेयत्वात्, तद्धानं च समवायसंबन्धेन यद्यपि पुरुषे नित्यसिद्धं तथाऽपि भोग्यतारूपस्वत्वसंबन्धेन धनादीनामिव तद्धानं न नित्यसिद्धमिति तेन संबन्धेन तद्धानं पुरुषार्थ इत्याशयः। तथा हि वक्ष्यति–तस्मिन्निवृत्ते पुरुषः पुनरिदं तापत्रयं न भुङ्क्ते इति। तदेतदुक्तं सांख्यन्याययोः–त्रिविध-दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थ इति, दुःखात्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः इति च। यत्तु–

आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम्॥

इत्येवंविधवाक्यजातं तद् दुःखनिवृत्त्याख्यसुखपरमेव, तदानीमभोग्यसुखस्यापुरुषार्थत्वात्, सुखं दुःखसुखात्यय इतिपरिभाषया रूढिबाधनाच्च॥१६॥

इस सूत्र में 'दुःख' ही मुख्यरूप से गृहीत होता है, क्योंकि मुख्यभूत दुःख ही यहाँ स्वाभाविकरूप से हेयकोटिक है। और **'हेय'** दुःख का 'हान' अर्थात् त्याग (आत्यन्तिकी निवृत्ति) समवायसम्बन्ध से यद्यपि पुरुष में नित्यसिद्ध है तथापि योग्यतारूप स्वत्वसम्बन्ध से, धनादि की भाँति, दुःख का नाश पुरुष में नित्यसिद्ध नहीं है। अतः भोक्तृभोग्यसम्बन्ध से होने वाला जो दुःख है उस दुःख के नाश को

---

1. क ग घ च छ – मुख्यस्य, ख – मुख्यदुःखस्य।

'पुरुषार्थ' कहा गया है। (सरलार्थ यह है कि 'अहं धनी' इत्यादि की भाँति पुरुष भोग्यस्थानीय बुद्धि के सुख-दुःख को अज्ञानतावशात् अपना समझता हुआ सुखी अथवा दुःखी होता है। वस्तुतस्तु सुख-दुःख पुरुष का स्वरूप नहीं है, पुरुष में इनका नित्य अभाव ही है तथापि पुरुष में उपाधिवशात् आरोपित सुख-दुःख की निवृत्ति को पुरुषार्थरूप माना गया है)। जैसा कि आगे बताया जायेगा—'तस्मिन्निवृत्ते पुरुषः पुनरिदं तापत्रयं न भुङ्क्ते' अर्थात् 'बुद्धि-पुरुष के स्वस्वामिभावसम्बन्ध की निवृत्ति होने पर पुरुष पुनः तीन प्रकार के दुःखों का भोग नहीं करता है।' यही तथ्य सांख्य तथा न्यायदर्शन में उक्त है—'त्रिविध...पुरुषार्थः' (१/१) अर्थात् 'त्रिविध दुःख की अत्यन्त निवृत्ति परम पुरुषार्थ है।' 'दुःखात्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः' (१/१/२२) अर्थात् 'दुःख के अत्यन्त नाश को 'अपवर्ग' कहते हैं' और 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम्' अर्थात् 'आनन्द ब्रह्म का स्वरूप है और ब्रह्म का यह आनन्दस्वरूप मोक्षावस्था में जीव में प्रतिष्ठित (अभिव्यक्त) होता है'—इस प्रकार जीव के आनन्दरूप के प्रतिपादक जो वाक्यसमूह हैं, वे दुःखनिवृत्तिरूप सुखपरक ही हैं, क्योंकि मोक्षावस्था में अभोग्य सुख पुरुषार्थरूप नहीं होता है (भाव यह है कि मोक्षावस्था में आनन्द तो है किन्तु उसका भोग नहीं कर सकते इसलिये वह अपुरुषार्थरूप है)। दूसरी बात यह है कि 'सुखं दुःखसुखात्ययः' (श्रीमद्भागवत ११/१९/४१) अर्थात् 'सुख और दुःख दोनों की भावना का सदा के लिये नष्ट हो जाना ही सुख है'—सुख के इस लक्षण (परिभाषावाक्य) के अनुसार 'सुख' शब्द का रूढ्यर्थ बाधित होता है। (क्योंकि नैयायिक सुख को अनुकूलवेदनीय मानते हैं। न्यायमुक्तावली में कहा गया है—'सुखं तु जगतामेव काम्यं धर्मेण जायते (गुणनिरूपण, १४५)॥१६॥

बालप्रिया--

'तदानीम्'— न्यायभूषण' में 'तदानीं' पद का अर्थ मोक्षावस्था किया है--'मोक्षे सुखसत्त्वे प्रमाणम्, कुतो मुक्तस्य सुखोपभोगसिद्धिरिति चेत्, नन्वर्थापत्तेरित्युक्तम्। किं आगमाद् उक्तं हि—आनन्दं, ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते' (न्यायसारसभूषण परि. ३ मोक्ष प्रकरण)

'सुखं दुःखसुखात्ययः'—श्रीमद्भागवत में सम्पूर्ण श्लोक इस प्रकार है—

श्रीर्गुणा नैरपेक्ष्याद्याः सुखं दुःखसुखात्ययः।
दुःखं कामसुखापेक्षा पण्डितो बन्धमोक्षवित्॥

अर्थात् 'निरपेक्षता आदि गुण ही शरीर का यथार्थ सौन्दर्य 'श्री' है। सुख और दुःख दोनों की भावना का सदा के लिये नष्ट हो जाना ही 'सुख' है। विषयभोगों की कामना ही 'दुःख' है, जो बन्धन और मोक्ष तत्त्व को जानता है वही पण्डित है।'

'रूढिबाधनात्'—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में चार प्रकार के पद बतलाये गये हैं। वे हैं—यौगिक, रूढ, योगरूढ तथा यौगिकरूढ। जहाँ जो शब्द अवयवशक्ति की अपेक्षा न रखकर समुदायशक्तिमात्र से अर्थ का बोधन करता है उसे 'रूढ' पद कहते हैं। जैसे 'गो' आदि पद॥१६॥

भाष्यकार अगले सूत्र को उपस्थानिका के साथ प्रस्तुत करते हैं—

व्यासभाष्यम्

तस्माद्यदेव हेयमित्युच्यते तस्यैव कारणं प्रतिनिर्दिश्यते—

इसलिये जिसे 'हेय' कहा जाता है, उसी के हेतु का निर्देश किया जा रहा है—

योगसूत्रम्

[1]द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः॥१७॥

द्रष्टा (पुरुष) और दृश्य (बुद्धि) का संयोग 'हेयहेतु' है॥१७॥

व्यासभाष्यम्

द्रष्टा बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः। दृश्या बुद्धिसत्त्वोपारूढाः सर्वे धर्माः। तदेतद् दृश्यमयस्कान्तमणि[2]कल्पं संनिधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं[3] भवति पुरुषस्य दृशिरूपस्य स्वामिनः। अनुभवकर्मविषयतामापन्नम[4]न्यस्वरूपेण प्रतिलब्धात्मकं स्वतन्त्रमपि परार्थत्वात् परतन्त्रम्। तयोर्दृग्दर्शनशक्त्योरनादिरर्थकृतः संयोगो हेय-हेतुर्दुःखस्य कारणमित्यर्थः। तथा चोक्तम्—तत्संयोगहेतु[5]विवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः। कस्मात्? दुःखहेतोः परिहार्यस्य प्रतीकारदर्शनात्। तद्यथा—पादतलस्य भेद्यता, कण्टकस्य भेत्तृत्वं, परिहारः कण्टकस्य [6]पादानधिष्ठानं पादत्राणव्यवहितेन वाधिष्ठानम्। एतत्[7]त्रयं यो वेद लोके स तत्र प्रतीकारमार-

---

1. दृक्—इति पाठान्तरम्।
2. छ थ – बुद्धिः (कल्पं पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – बुद्धिः नोपलभ्यते।
3. क ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य – स्वं (दृश्यत्वेन पश्चात्), ख र – स्वं (पुरुषस्य पश्चात्) उपलभ्यते, घ प फ – स्वं नोपलभ्यते।
4. क ग च छ ज झ त थ न – अन्यस्वरूपेण प्रतिपन्नमन्यस्वरूपेण प्रतिलब्धात्मकं, ख – अन्यरूपेण प्रतिपन्नमन्यरूपेण प्रतिलब्धात्मकं, घ द ध प फ ब भ म य र – अन्यस्वरूपेण प्रतिलब्धात्मकम्।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म र – विवर्जनात्, य – वर्जनात्।
6. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र – पाद०, ब – पदा।
7. ख ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र – त्रयं, ब – द्वयम्।

भमाणो भेदजं दुःखं ना[1]प्नोति। कस्मात्? त्रित्वोपलब्धिसामर्थ्यादिति। अत्रापि तापकस्य रजसः सत्त्वमेव तप्यम्। कस्मात्? तपिक्रियायाः कर्मस्थत्वात्। सत्त्वे कर्मणि तपिक्रिया नापरिणामिनि निष्क्रिये क्षेत्रज्ञे।[2] दर्शितविषयत्वात्सत्त्वे तु तप्यमाने तदाकारा[3]नुरोधी पुरुषोऽनुतप्यत इति दृश्यते॥१७॥

बुद्धि का प्रतिसंवेदी अर्थात् बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष 'द्रष्टा' कहलाता है। बुद्धिसत्त्व में उपारूढ अर्थात् बुद्धि के विषयीभूत समस्त पदार्थ, बुद्धि के धर्म होने से, 'दृश्य' कहलाते हैं। वह यह बुद्धिसत्त्वरूप 'दृश्य' अयस्कान्तमणि के समान द्रष्टारूप अपने 'स्वामी' का सन्निधिमात्र से उपकार करता हुआ दृश्यरूप से 'स्व' होता है। यह बुद्धिसत्त्वरूप दृश्य; भोगरूप क्रिया के कर्मत्व को प्राप्त होने वाला, अपने से भिन्न पुरुषतत्त्व के चेतन रूप को प्राप्त होने वाला और स्वतन्त्र होने पर भी दूसरे के प्रयोजन को सिद्ध करने के कारण परतन्त्र है। इस दृग्शक्ति एवं दर्शनशक्ति का अनादि प्रयोजनकृत (पुरुष के भोगमोक्ष प्रयोजन वाला) संयोग 'हेयहेतु' अर्थात् दुःख का कारण कहा जाता है—यह अभिप्राय है। वैसे ही कहा भी गया है—'दुःख के हेतुभूत प्रकृति-पुरुषसंयोग के हट जाने से दुःख की शाश्वतिक निवृत्ति हो जाती है।' कैसे? जैसे लोक में दुःख के हेतु का प्रतिकार करने से त्याज्य दुःख का प्रतिकार देखा जाता है। (वैसे ही अनादि दुःख के हेतु प्रकृतिपुरुषसंयोग का परिहार भी शक्य है)। वह जैसे—चरणतल भेदन करने योग्य है (चरणतल बींधा जा सकता है), कण्टक में भेदन करने की शक्ति है (काटें में पैर को बींधने की शक्ति निहित है) और कण्टक से बिंधने से बचने का उपाय भी है—कण्टक के ऊपर पैर न रखना अथवा पैर में जूता डालकर कण्टक के ऊपर पैर रखना। लोक में इन तीनों बातों को जो जानता है (अर्थात् भेद्य, भेदक और परिहार की बात से जो सुपरिचित है) वह भेदक कण्टक के प्रतिकार का उपाय करता हुआ बिंधने से होने वाले कष्ट को नहीं प्राप्त करता है। क्यों? तीनों (भेद्य, भेदक तथा प्रतिकार) की जानकारी करने के सामर्थ्य के कारण। यहाँ (दार्ष्टान्तिक स्थल में) भी तापक रजोगुण का तप्य सत्त्वगुण ही है। क्यों? क्योंकि तापरूप क्रिया कर्माश्रित है। बुद्धिसत्त्वरूप कर्म में ही तापरूप

---

1. क ग – अश्नाति, ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – आप्नोति।
2. छ थ – बुद्धितादात्म्येन (क्षेत्रज्ञे पश्चाद्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – बुद्धितादात्म्येन नोपलभ्यते।
3. छ थ – बुद्धिस्थ॰ (अनुरोधी पश्चाद्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त थ द न प फ ब भ म य र – बुद्धिस्थ॰ नोपलभ्यते।

क्रिया सम्भव है; अपरिणामी, निष्क्रिय तथा क्षेत्रज्ञ पुरुष में नहीं। बुद्धिसत्त्व के तप्यमान होने पर भी दर्शितविषय के कारण बुद्धि के आकार का अनुगमन करता हुआ पुरुष अनुतप्त होता है—ऐसा देखा जाता है॥१७॥

तत्त्ववैशारदी

हेयमुक्तम्। तस्य निदानमुच्यते—द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः। द्रष्टुः स्वरूपमाह—द्रष्टेति। चितिच्छायापत्तिरेव बुद्धेर्बुद्धिप्रतिसंवेदित्वमुदासीनस्यापि पुंसः।

(विगत सूत्र में) 'हेय' को बताया गया। सम्प्रति, सूत्रकार हेय के निदान अर्थात् हेयहेतु को सूत्रित करते हैं—**'द्रष्टृदृश्ययोरिति।'** 'भाष्यकार द्रष्टा' का स्वरूप बताते हैं—**'द्रष्टेति।'** बुद्धि में चितिच्छायापत्ति ही उदासीन होते हुए भी पुरुष का बुद्धिप्रतिसंवेदित्व है। (सरल शब्दों में चितिच्छायापत्ति से ही उदासीन पुरुष बुद्धि का **'प्रतिसंवेदी'** अर्थात् बोद्धा कहा जाता है)।

बालप्रिया—

'प्रतिसंवेदी'—यद्यपि पुरुष द्रष्टृत्वादि सकल धर्मों से रहित होने से उदासीन है, तथापि सात्त्विक अतिस्वच्छ बुद्धि में जब उसका प्रतिबिम्ब पड़ता है एवं अपने प्रतिबिम्ब द्वारा अचेतन बुद्धि को जब चेतन समान बनाता है, तब पुरुष बुद्धिं का **'प्रतिसंवेदी'** कहा जाता है। इसी अवस्था में पुरुष को बुद्धिरूप दृश्य का द्रष्टा कहते हैं।

पुरुष के **'प्रतिसंवेदित्व'** को लेकर जिज्ञासा हो रही है—

तत्त्ववैशारदी

नन्वेतावतापि बुद्धिरेवानेन दृश्येत, न दृश्येरञ्छब्दादयोऽत्यन्तव्यवहिता इत्यत आह—दृश्या बुद्धिसत्त्वेति। इन्द्रियप्रणालिकया बुद्धौ शब्दाद्याकारेण परिणतायां [1]दृश्यायां भवन्ति शब्दादयोऽपि धर्मा दृश्या इत्यर्थः।

शङ्का—ऐसी स्थिति में तो (अव्यवहित) बुद्धि ही पुरुष के द्वारा देखी जा सकेगी अर्थात् बुद्धि ही पुरुष का दृश्य बन सकेगी), अत्यन्त व्यवहित शब्दादि विषय पुरुष के द्वारा नहीं देखे जा सकेंगे अर्थात् शब्दादि विषय पुरुष के दृश्य न बन सकने से पुरुष को शब्दादि विषय का 'द्रष्टा' नहीं कहा जा सकेगा?

समाधान—शंका-समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं—**'दृश्या बुद्धिसत्त्वेति।'** इन्द्रियप्रणालिका के द्वारा दृश्यरूप बुद्धि जब शब्दादि विषय के आकार से परिणत होती है तब उसके शब्दादि धर्म भी **'दृश्य'** कहे जाते हैं।

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध—दृश्यायां, न—दृश्यानाम्, ख—दृश्यायां/दृश्यानां नोपलभ्यते।

बालप्रिया—

'शब्दादयोऽपि धर्मा दृश्या इत्यर्थः'—प्रकृति का पहला कार्य महत्तत्त्व है और महत्तत्त्व को ही बुद्धि कहते हैं। बुद्धि से अहंकारादि से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त समस्त पदार्थ क्रमशः उत्पन्न होते हैं। अतः शब्दादि परम्परया बुद्धि के कार्य हैं। भाष्य में शब्दादि को बुद्धि का धर्म बतलाने में विरोध नहीं है, क्योंकि कारण-धर्मी में कार्य-धर्म लक्षणपरिणाम से रहता है। यह तथ्य योगसूत्र ३/१३ में विशदीकृत होगा। अतः शब्दादि सकल धर्मसहित ही बुद्धि; न कि एकाकिनी, पुरुषरूप दृष्टा का दृश्य कही जाती है। अतः पुरुष के शब्दादि विषय का द्रष्टा बनने में किसी भी प्रकार की सैद्धान्तिक बाधी नहीं आती है।

उपरिवर्णित 'चितिच्छायापत्ति' के अनुसार पूर्वपक्षी पुरुष में 'परिणामित्व' दोष की उद्भावना करता है—

तत्त्ववैशारदी

ननु तदाकारापत्त्या बुद्धिः शब्दाद्याकारा भवतु। पुंसस्तु बुद्धिसंबन्धेऽभ्युपगम्यमाने परिणामित्वम्। असंबन्धे वा कथं तेषां बुद्धिसत्त्वोपारूढानामपि शब्दादीनां दृश्यत्वम्? न हि दृशिनाऽसंस्पृष्टं दृश्यं दृष्टमित्यत आह—तदेतद् दृश्यमिति। प्रपञ्चितमिदमस्माभिः प्रथमपाद एव यथा चित्या[1]संपृक्तमपि बुद्धिसत्त्वमत्यन्तस्वच्छतया चितिबिम्बोद्ग्राहितया समापन्नचैतन्यमिव शब्दाद्यनुभवतीति। अत एव च शब्दाद्याकारपरिणतबुद्धिसत्त्वोपनीतान् [2]सुखादीन्भुञ्जानः स्वामी भवति द्रष्टा, तादृशं चास्य बुद्धिसत्त्वं स्वं भवति। तदेतद् बुद्धिसत्त्वं शब्दाद्याकारवद् दृश्यमयस्कान्तमणिकल्पं पुरुषस्य स्वं भवति दृशिरूपस्य स्वामिनः।

शङ्का—'तदाकारापत्ति' से बुद्धिसत्त्व भले ही शब्दादि विषय के आकार को प्राप्त हो, परन्तु पुरुष का बुद्धिसत्त्व के साथ सम्बन्ध स्वीकार करने पर पुरुष को परिणामी कहना पड़ेगा अर्थात् पुरुष में परिणामित्व की कल्पना करनी पड़ेगी? पुरुष में परिणामित्व दोष के निवारणार्थ यदि यह कहा जाय कि पुरुष का बुद्धि के साथ सम्बन्ध नहीं होता है तो इस दशा में बुद्धिसत्त्व में उपारूढ होते हुए भी शब्दादि का (दृष्टा पुरुष के प्रति) दृश्यत्व नहीं बन सकेगा अर्थात् शब्दादि कैसे दृश्य होंगे? क्योंकि द्रष्टा के साथ असंस्पृष्ट पदार्थ कहीं भी दृश्य रूप से अनुभूत नहीं हुआ है। (इस प्रकार उभयथा पाशारज्जुदोष है)।

समाधान—उक्त शंका-समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं—'तदेतद् दृश्यमिति।' प्रथम पाद में इस विषय पर विस्तारपूर्वक विचार किया जा चुका है। जैसे चितिशक्ति से असंपृक्त रहते हुए भी बुद्धिसत्त्व अत्यन्त धवल होने के कारण पुरुष के प्रतिबिम्ब को ग्रहण

---

1. क छ—सम्पृक्तं, ख ग घ च ज झ त थ द ध न—असम्पृक्तम्।
2. क घ च छ झ—शब्दादीन्, ख ग ज त थ द ध न—सुखादीन्

कर लेता है और लब्धचैतन्य सदृश होकर शब्दादि विषय का अनुभव करता है। (अर्थात् चितिशक्ति के साथ दैशिक तथा कालिक असंबद्धता होते हुए भी बुद्धि-सत्त्व जिस प्रकार योग्यतालक्षणसम्बन्ध से लब्धचैतन्य होकर शब्दादि का अनुभव करता है, उसी प्रकार पुरुष भी वृत्तिसारूप्य को प्राप्त होकर शब्दादि विषय का भोक्ता बनता है)। अतः शब्दादि आकार में परिणत बुद्धिसत्त्व में आरूढ (समारोपित) सुखादि (शब्दादि) का भोग करता हुआ द्रष्टा पुरुष दृश्यभूत शब्दादि का 'स्वामी' बनाता है और बुद्धिसत्त्व पुरुष का 'स्व' बनता है। इसी तथ्य को तत्त्व-वैशारदीकार शब्दान्तर से समझाते हैं–शब्दाद्याकार में परिणत बुद्धिसत्त्वरूप दृश्य अयस्कान्तमणि के तुल्य दृशिरूप अपने 'स्वामी' पुरुष का उपकार करता हुआ (दृश्य रूप से) उसका 'स्व' हो जाता है।

पूर्वपक्षी दृश्यरूप बुद्धि के 'स्वामी' पुरुष का 'स्व' बनने पर पुनः शंका करता है–

तत्त्ववैशारदी

कस्मात्? [1]अनुभवेति अनुभवकर्मविषयतामापन्नं यतः। अनुभवो भोगः, पुरुषस्य कर्म क्रिया, तद्विषयतां भुज्यमानतामापन्नं यस्मादतः स्वं भवतीत्यर्थः। ननु स्वयंप्रकाशं बुद्धिसत्त्वं कथमनुभवविषय इत्यत आह–अन्य[2]स्वरूपेणेति। यदि हि चैतन्यरूपं वस्तुतो बुद्धिसत्त्वं स्याद् भवेत् स्वयंप्रकाशम्। किं तु स्वं चैतन्यादन्यज्जडरूपं तेन प्रतिलब्धात्मकं तस्मात्तदनुभव- विषयः।

शङ्का–दृश्यरूप बुद्धि कैसे पुरुष का 'स्व' बनती है?

समाधान–भाष्यकार उत्तर देते हैं–'अनुभवेति।' पुरुष के अनुभवरूप कर्म की विषयता को प्राप्त होकर दृश्य बुद्धि ('स्वामी' पुरुष का) 'स्व' बनती है। '**अनुभवकर्मविषयता-मापन्नं यतः**' के प्रत्येक पद के अर्थ को स्पष्ट करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं– '**अनुभव**' शब्द का अर्थ है–'भोग'। '**कर्म**' शब्द का अर्थ है–क्रिया। '**तद्विषयताम्**' का अर्थ है–(पुरुष के अनुभवकर्म की) विषयता को आपन्न अर्थात् प्राप्त हुई। दृश्य बुद्धि 'स्वामी' पुरुष का 'स्व' कहलाती है। अर्थात् बुद्धिसत्त्व पुरुष की भोगक्रिया की भोग्यता को प्राप्त होता हुआ भोक्ता स्वामी पुरुष का भोग्य (दृश्य) 'स्व' हो जाता है।

शङ्का–(जो स्वयंप्रकाश होता है, वह किसी का विषय नहीं होता है–इस नियम के अनुसार) स्वयंप्रकाश बुद्धिसत्त्व पुरुषानुभव का विषय कैसे बन सकता है?

---

1. थ द ध–अनुभवेति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–अनुभवेति नोपलभ्यते।
2. क ख घ च छ ज झ त थ द ध न–स्वरूपेण, ख ग–रूपेण।

समाधान—इस पर भाष्यकार बताते हैं—'**अन्यस्वरूपेणेति**' यदि बुद्धिसत्त्व पारमार्थिक रूप से चैतन्यस्वरूप हो तो वह स्वयंप्रकाशस्वरूप भी हो सकता है, किन्तु ऐसा तो है नहीं। वह (स्व) तो चैतन्य पुरुष से भिन्न जड़ है। अतः जडरूप से लब्धस्वरूप वाला बुद्धिसत्त्व पुरुषनिष्ठ अनुभव का विषय (कर्म) है।

बालप्रिया—

स्वयंप्रकाशं बुद्धिसत्त्वं—बुद्धिसत्त्व पारमार्थिकरूप से स्वयंप्रकाश नहीं है। उस में स्वयंप्रकाश की जो प्रतीति होती है, वह तो स्वयंप्रकाश चेतन के प्रतिबिम्ब के कारण। अतः बुद्धिसत्त्व पुरुष के भोगकर्म की विषयता को प्राप्त हो सकता है।

पूर्वपक्षी बुद्धिसत्त्व के; स्वामी पुरुष का, 'स्व' अर्थात् अधीन होने पर पुनः सन्देह करता है—

तत्त्ववैशारदी

ननु यस्य हि यत्र किञ्चिदा[1]यतते तत्तदधीनम्। न च बुद्धिसत्त्वस्य पुरुषमुदासीनं प्रति किञ्चिदायतत इति कथं तत्तन्त्रम्। तथा च न तस्य कर्मेत्यत आह—स्वतन्त्रमपीति। परार्थत्वात्पुरुषार्थत्वात्परतन्त्रं पुरुषतन्त्रम्।

शङ्का—जो जिसके निमित्त प्रयत्नशील होता है, वह उसके अधीन होता है (जिस प्रकार राजा के निमित्त प्रयत्नशील रहने वाली प्रजा, राजा के अधीन होती है)— इस नियम के अनुसार बुद्धिसत्त्व का उदासीन पुरुष के प्रति किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं किया जाता है, अतः बुद्धिसत्त्व को उदासीन पुरुष के अधीन कैसे कहा जा सकता है? फलतः बुद्धिसत्त्व पुरुष का कर्म (विषय) भी नहीं है।

समाधान—शंका-समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं—'**स्वतन्त्रमपीति**' यद्यपि बुद्धिसत्त्व स्वभावतः जडरूप से उपलब्ध होता है, अतः 'स्वतन्त्र' है, तथापि उसका व्यापार 'परार्थ' अर्थात् पर पुरुष के भोगापवर्गार्थ होता है, अतः वह परतन्त्र अर्थात् पुरुष के अधीन है।

सम्प्रति, ऊहापोह के साथ सूत्रगत 'संयोग' पद की व्याख्या की जा रही है—

तत्त्ववैशारदी

नन्वयं दृग्दर्शनशक्त्योः संबन्धः स्वाभाविको वा स्यान्नैमित्तिको वा। स्वाभाविकत्वे संबन्धिनो[2]र्नित्यत्वादशक्योच्छेदः संबन्धः। तथा च संसारनित्यत्वम्। नैमित्तिकत्वे तु क्लेश-कर्मतद्वासनानामन्तःकरणवृत्तितया सत्यन्तःकरणे भावादन्तःकरणस्य च तन्निमित्तत्त्वे परस्पराश्रयप्रसङ्गादनादित्वस्य च सर्गादावसंभवादनुत्पाद एव संसारस्य स्यात्। यथोक्तम्—

---

1. क छ—आपतते, ख ग घ च ज झ त थ द ध न—आयतते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ न—नित्यत्वात्, द ध—नित्यात्।

पुमान[1]कर्ता येषां तु तेषामपि गुणैः क्रिया।
कथमादौ भवेत्तत्र कर्म तावन्न विद्यते॥
मिथ्याज्ञानं न तत्रास्ति रागद्वेषादयोऽपि वा।
मनोवृत्तिर्हि सर्वेषां न चोत्पन्नं मनस्तदा॥

इति शङ्कामपनयति—तयोर्दृग्दर्शनशक्त्योरनादिरर्थकृतः संयोगो हेयहेतुरिति, सत्यम्। न स्वाभाविकः संबन्धो नैमित्तिकस्तु। न चैवमादिमान्। अनादिनिमित्तप्रभवतया तस्याप्यनादित्वात्। क्लेशकर्मतद्वासनासंतानश्चायमनादिः प्रतिसर्गावस्थायां च सहान्तःकरणेन प्रधानसाम्यमुपगतोऽपि सर्गादौ पुनस्तादृगेव प्रादुर्भवति[2], वर्षापाय इवोद्भिज्जभेदो मृद्भाव-मुपगतोऽपि पुनर्वर्षासु पूर्वरूप इत्यसकृदावेदितं प्राक् (१/१९)। भावितता[3] संयोगस्याविद्या कारणम्, स्थितिहेतुतया पुरुषार्थः कारणम्। तद्वशेन तस्य स्थितेः। तदिदमुक्तमर्थकृत इति। तथा चोक्तमिति। पञ्चशिखेन तत्संयोगो बुद्धिसंयोगः स एव हेतुर्दुःखस्य। तस्य विवर्जनात्स्या-दयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः। अर्थात्तद[4]परिवर्जने दुःखमित्युक्तं भवति। तत्रैवात्यन्तप्रसिद्धं निदर्शनमाह—तद्यथेति। पादत्राणमुपानत्।

शङ्का—यह जो दृग्दर्शनशक्तियों का सम्बन्ध (संयोग) है, वह स्वाभाविक है अथवा नैमित्तिक? (इन दो विकल्पों में से यदि प्रथम विकल्प के अनुसार) दृक्शक्ति तथा दर्शनशक्ति के सम्बन्ध को 'स्वाभाविक' माना जाय तो दोनों सम्बन्धियों के नित्य होने से उनके नित्यसम्बन्ध का उच्छेद अशक्य रहेगा। ऐसी स्थिति में संसार को नित्य कहना पड़ेगा—(यह प्रथम विकल्पगत दोष है)। यदि दृग्शक्ति तथा दर्शनशक्ति के सम्बन्ध को 'नैमित्तिक' कहा जाय, तो सम्बन्ध के निमित्त (कारण) पर विचार करना होगा। (यदि 'क्लेशकर्मतद्वासना' को प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध का कारण माना जाय तो) अविद्यादि क्लेश, तज्जन्य कर्म तथा कर्मजन्य वासनाएँ अन्तःकरण-वृत्तिरूप होने से सर्वप्रथम अन्तःकरण की उत्पत्ति हो, तब उनके सम्बन्ध की उत्पत्ति होगी, दूसरी ओर प्रथम दोनों के सम्बन्ध की उत्पत्ति हो, तब अन्तःकरण की उत्पत्ति होगी—इस प्रकार अन्योन्याश्रयदोष प्रसक्त होगा। यदि इस असंगति के निवारणार्थ दृग्दर्शनशक्ति के 'सम्बन्ध' को अनादि माना जाय तो सृष्टि के प्रारम्भ में वह हो नहीं सकता है। किञ्च सम्बन्धरूप कारण के अभाव से सृष्टि ही नहीं हो सकेगी। जैसा कि कहा है—'पुमानकर्त्ता...मनस्तदा' अर्थात् 'जिनके मत में पुरुष अकर्त्ता है, उनके मत में गुणों से ही क्रिया होती है। किन्तु जब तक सृष्टि नहीं होगी, तब

---

1. क छ—कर्ता न, ख ग घ च ज झ त थ द ध न—अकर्ता।
2. क – प्रभवति, ख ग घ च छ ज झ त न—प्रादुर्भवति, थ द ध—भवति
3. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न—भावितितया, त—अभावितितया।
4. क ख ग घ च छ ज झ त न—अपरिवर्जने, थ द ध—अवर्जने।

तक कर्म कैसे हो सकता है? और जब तक मन की उत्पत्ति नहीं होगी, तब तक मिथ्याज्ञान, राग-द्वेष और मनोवृत्ति आदि नहीं रह सकते हैं–यह द्वितीय विकल्पगत दोष है।

समाधान–भाष्यकार उक्त शंका का निराकरण करते हैं–'**तयोर्दृग्दर्शनशक्त्योरनादिरर्थकृतः संयोगो हेयहेतुरिति**' पूर्वपक्षी का कथन (किसी सीमा तक) सत्य है किन्तु दृग्दर्शनशक्तियों का जो उक्त सम्बन्ध है, वह '**स्वाभाविक**' नहीं है, अपितु '**नैमित्तिक**' है। दृग्दर्शनशक्ति का यह '**नैमित्तिक**' सम्बन्ध आदिमान् अर्थात् सादि नहीं है, अपितु अनादि निमित्त के कारण यह सम्बन्ध भी अनादि है। (अर्थात् दृगशक्ति तथा दर्शनशक्ति के सम्बन्ध के निमित्तभूत क्लेशकर्मतद्वासना के अनादि होने से यह सम्बन्ध भी अनादि है)। बुद्धि-पुरुष के अनादि सम्बन्ध के '**अनादि निमित्त**' को विशदीकृत करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–अनादिभूत यह क्लेशकर्मतद्वासना- सन्तान प्रतिसर्गावस्था में अर्थात् प्रलयावस्था में अन्तःकरण के साथ प्रकृति में लीन होने पर भी सृष्टि के आदिकाल में फिर उसी प्रकार पूर्ववत् प्रादुर्भूत होता है, जिस प्रकार वर्षा ऋतु की समाप्ति पर मृद्भाव को प्राप्त हुए तृणादि (उद्भिज्जभेद) आगामी वर्षा ऋतु में पुनः पूर्वरूप में अंकुरित होते हैं–यह तथ्य पहले (१/१९) कई बार बताया जा चुका है। उत्पादक रूप से अर्थात् उपादानकारण रूप से, प्रकृतिपुरुष के संयोग का कारण '**अविद्या**' है अर्थात् संयोग का '**उपादानकारण**' अविद्या है और स्थितिहेतु रूप से '**पुरुषार्थ**' कारण है अर्थात् पुरुषार्थ संयोग का '**स्थितिकारण**' है, क्योंकि 'पुरुषार्थ' अर्थात् भोगापवर्गवशात् संयोग की स्थिति बनी रहती है। (तात्पर्य यह है–बुद्धि की सत्ता पुरुषविशेष के प्रति तब तक बनी रहती है, जब तक बुद्धि पुरुष का भोगापवर्गरूप पुरुषार्थ निष्पन्न नहीं कर लेती है। अतः पुरुषार्थ प्रकृतिपुरुषसंयोग का स्थितिकारण है और बुद्धि की चरिताधिकारता संयोगनाश का हेतु है)। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर भाष्यकार कहते हैं–'**अर्थकृत इति**' '**अर्थकृत**' अर्थात् पुरुषार्थकृत अर्थात् पुरुष के लिये बुद्धि जिस भोग तथा मोक्षरूप पुरुषार्थ का सम्पादन करती है, तत्प्रयुक्त अनादि संयोगसम्बन्ध है। भाष्यकार उक्त तथ्य के पुष्टीकरण के लिये पूर्वाचार्य के वचन को उठाते हैं–'**तथा चोक्तमिति**' (किसके द्वारा यह कहा गया है, इत्याकारक आकांक्षा का शमन करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि यह पञ्चशिखाचार्य द्वारा कहा गया है–('**तत्संयोगहेतुः...दुःखप्रतीकारः**')– यहाँ '**तत्संयोग**' पद का अर्थ है–बुद्धिसंयोग। यह बुद्धिसंयोग ही दुःख का कारण है। इस संयोग का नाश होने से दुःख का आत्यन्तिक (सर्वथा एवं सर्वदा के लिये) उच्छेद होता है। तात्पर्य यह निकला कि दृग्दर्शनसंयोग का नाश न होने पर दुःख भी बना रहता है। भाष्यकार ने इस विषय में

दिष्य में अत्यन्त प्रसिद्ध दृष्टान्त प्रस्तुत किया है—'तद्यथेति।' 'पादत्राण' शब्द का अर्थ है—उपानत् अर्थात् जूता। (दृष्टान्तवाक्य का भावार्थ यह है—अत्यन्ता सुकुमार पादतल, तृणादि नुकीले पदार्थ के स्पर्शमात्र से संवेदनशील हो जाता है। पादतल की संवेदनशीलता को भाष्यकार ने 'भेद्य' पद से इंगित किया है तथा कण्टक की भेदकारी प्रवृत्ति के लिये 'भेदक' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार जगत् के पदार्थों को उनके स्वभाव के अनुसार 'भेद्य' अथवा 'भेदक' इन दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। शारीरिक अथवा मानसिक किसी भी प्रकार के चुभन के निवारण के लिये विचारशील व्यक्ति सजग एवं सचेष्ट रहता है। जैसे विवेकी व्यक्ति अभेद्य जूते के प्रयोग से कण्टक द्वारा सम्भावित भेदनक्रिया का परिहार करता है अथवा कण्टकाकीर्ण प्रदेश में पैर नहीं रखता है और इस प्रकार भेदजदुःख से अपनी रक्षा कर पाता है। लौकिक दुःख के परिप्रेक्ष्य में भेद्य-भेदक-परिहार—इस त्रिक को भाष्यकार ने दार्शनिक पृष्ठभूमि पर भी सीमांकित किया है)।

भेद्य-भेदक-प्रतीकार के दार्शनिक पक्ष को लेकर पूर्वपक्षी शंका का उपस्थापन करता है—

तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्—गुणसंयोगस्तापहेतुरित्युच्यमाने गुणानां तापकत्वम[1]भ्युपेयम्। न च तपिक्रियाया अस्त्या[2]देरिव कर्तृस्थो भावो येन तप्यमन्यन्नापेक्षेत। न चास्यास्तप्यतया पुरुषः कर्म। तस्यापरिणामितया क्रियाजनितफलशालित्वायोगात्। [3]तस्मात्तपेस्तप्यव्याप्तस्य तन्निवृत्तौ निवृत्तिमवगच्छामो ज्वलनविरहेणेव धूमाभावम्।

शङ्का—गुणसंयोग 'तापहेतु' अर्थात् दुःख का कारण है, ऐसा कहने पर गुणों का तापकत्व स्वीकार्य है। 'अस्ति' आदि क्रिया के समान तपिक्रिया का कर्तृस्थभाव (कर्तृनिष्ठता) नहीं है, जिससे तपिक्रिया को अन्य तप्य कर्म की अपेक्षा न रहे (भाव यह है—(अस्) अस्ति आदि धातु की तरह 'तपि' धातु कर्तृस्थभाव रूप से अकर्मक नहीं है, जिससे उसे तप्य कर्म की अपेक्षा (आकांक्षा) न रहे। किन्तु 'पचादि' धातु के समान कर्मस्थ क्रियारूप से सकर्मक है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'अस्ति' क्रिया को जैसे कर्त्ता की आकांक्षा रहती है वैसे कर्म की नहीं और वह कर्तृ बोधक पद से शान्त हो जाती है। निष्कर्षतः अकर्मक धातु को कर्म की आकांक्षा नहीं रहती है। किन्तु तपिक्रिया की स्थिति इससे भिन्न है। 'पच्' धातु की तरह 'तप्' धातु भी सकर्मक है। अतः जैसे 'पचति' क्रिया को कर्म की आकांक्षा रहती है जो 'ओदनं' से शान्त

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त—अभ्युपेयं, थ द ध न—अभ्युपेतम्।
2. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न—आदेः, ज—आदिः।
3. क ग घ च छ ज झ थ द ध न—तस्मात् उपलभ्यते, ख त—तस्मात् नोपलभ्यते।

होती है। वैसे तप् धातु के सकर्मक होने से उसे कर्म की आकांक्षा रहती है)। अर्थात् तपिक्रिया को कर्म की अपेक्षा अपरिहार्य है। तपिक्रिया का कर्म क्या है इस पर विचार किया जा रहा है–तपिक्रिया के तप्यरूप से पुरुष कर्म नहीं हो सकता है, अर्थात् तपिक्रिया का कर्म तप्य पुरुष नहीं हो सकता है, क्योंकि पुरुष तो अपरिणामी है। अतः तपिक्रियाजनित फल का भागी पुरुष भला कैसे हो सकता है? अर्थात् तापक गुणों के व्यापार से पुरुष 'तप्य' नहीं हो सकता है। शब्दान्तर में गुणों की दुःखादि वृत्ति से पुरुष दुःखी आदि नहीं हो सकता है। इसलिये तप्य की व्याप्ति का विषय (व्याप्य) तप है। अर्थात् तप्य व्यापक है और तप व्याप्य है। इस प्रकार व्याप्यव्यापकभाव में (यत्र-तपः तत्र तप्यम्) व्यापक की निवृत्ति से व्याप्य की निवृत्ति हो जाती है। जैसे व्यापक वह्नि के अभाव से व्याप्य धूम का अभाव हो जाता है। (यत्र वह्न्यभावः तत्र धूमाभावः)। (निष्कर्षतः तपिक्रिया को तप्य प्राप्त न होने से दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में साम्य नहीं है)।

बालप्रिया–

बलरामोदासीनकृत टिप्पणी **'कर्तृस्थो भावः'** द्रष्टव्य है–**'नहि अस्त्यादिधातुवत्तपिधातुः कर्तृस्थभावत्वेनाऽकर्मकः येन तप्यं कर्म नाऽपेक्षते किन्तु पचादिवत् कर्मस्थक्रियात्वेन सकर्मक इत्यर्थः'**

तत्त्ववैशारदी

इत्यत आह–अत्रापि तापकस्येति। गुणानामेव तप्यतापकभावः। तत्र मृदुत्वात्पादतलवत्सत्त्वं तप्यम्। रजस्तु तीव्रतया तापकमिति भावः। पृच्छति–कस्मादिति।[1] कस्मात् सत्त्वमेव तप्यं न तु पुरुष इत्यर्थः। उत्तरम्–तपिक्रियाया इति। तत्किमिदानीं पुरुषो न तप्यते। तथा चाचेतनस्यास्तु सत्त्वस्य तापः, किं नश्छिन्नमित्यत आह–दर्शितविषयत्वात्सत्त्वे तु तप्यमाने तदाकारानुरोधी पुरुषोऽप्यनुतप्यत इति। दर्शितविषयत्वमनुतापहेतुः। तच्च प्राग् व्याख्यातम्॥१७॥

समाधान–शंका का स्पष्टीकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं–**'अत्रापि तापकस्येति।'** गुणों में ही तप्यतापकभाव है। पादतल के समान मृदु होने से **'सत्त्वगुण'** ही **'तप्य'** है तथा कण्टक के समान तीव्र होने से **'रजोगुण'** ही **'तापक'** है (एवं पादत्राण के समान विवेकज्ञान द्वारा दृग्दर्शनसंयोग की निवृत्ति उस ताप का परिहार है)। (अतः दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्त में साम्य होने से कोई दोष नहीं है)।

शङ्का–प्रश्न किया जा रहा है–**'कस्मादिति।'** सत्त्व (सत्त्वगुणप्रधान बुद्धि) ही क्यों तप्य है? पुरुष को क्योंकर तप्य नहीं माना जाता है?

---

1. थ द ध–**कस्मादिति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–कस्मादिति नोपलभ्यते।**

समाधान–उत्तर है–'तपिक्रियाया इति।' तपिक्रिया के कर्मनिष्ठ अर्थात् सकर्मक होने से बुद्धिसत्त्वरूप कर्म में ही तापरूप क्रिया है, न कि अपरिणामी, निष्क्रिय, क्षेत्रज्ञरूप पुरुष में। (परिणामिनी बुद्धि में ही तप्यता सम्भव है)।

शङ्का–तो फिर पुरुष तपिक्रिया का कर्म न बने। अचेतन सत्त्व में ही तप्यता रहे। किन्तु पुरुष को दुःखानुभव क्यों होता है?

समाधान–उक्त शंका का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं–'दर्शितविषयत्वात् सत्त्वे तु तप्यमाने तदाकारानुरोधी पुरुषोऽप्यनुतप्यत इति।' 'दर्शितविषयत्व' हेतु ही पुरुष के अनुताप का कारण है। यह तथ्य पीछे व्याख्यात हो चुका है। भाव यह है–यद्यपि तापक्रिया बुद्धि में है पुरुष में नहीं तथापि अविद्यावशात् बुद्धि से अभेदापन्न हुआ पुरुष बुद्धिनिष्ठ तप्यता को अपना स्वरूप मानता हुआ दुःखी होता है। पुरुष का यह दुःखानुभव औपाधिक तापसंयोग का परिचायक है, न कि वास्तविक तापसंयोग का॥१७॥

योगवार्त्तिकम्

हेयस्य सूत्रं व्याख्याय क्रमप्राप्तहेयहेतुप्रतिपादकं सूत्रमवतारयति–तस्माद्यदेव हेयमिति। द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः। द्रष्टृपदार्थमाह–द्रष्टेति। बुद्धेः प्रतिसंवेदनं संवेदनस्य बुद्धिवृत्तेः प्रतिबिम्बः, प्रतिध्वनिवदयं प्रयोगः, सोऽस्यास्तीति बुद्धिसाक्षीति[1] फलितार्थः। दृश्यपदार्थमाह–दृश्या बुद्धिसत्त्वेति। [2]बुद्धिसत्त्वस्यापि दृश्यत्वेनात्र विशेषणं विवक्षितम्। धर्मा इति च बुद्ध्यारूढत्वेन बुद्धिधर्मत्वमभिप्रेत्योक्तं न तु बुद्धिकार्यत्वाभिप्रायेण, प्रधानादेरपि दृश्यत्वेन तत्त्यागानौचित्यात्; उत्तरसूत्रे प्रधानस्यैव मुख्यतो दृश्यत्व[3]वचनाच्च। यद्यपि बुद्ध्यारूढो भवन् पुरुषोऽपि दृश्यः तथाऽपि तस्य निर्दुःखतया तद्दर्शनं न हेयहेतुरित्याशयेनात्र दृश्यमध्ये पुरुषं न गणयिष्यतीति। तथा च सुखदुःखमोहात्मक[4]दृश्यवत्या बुद्ध्या सह द्रष्टुः साक्षिणः काष्ठाग्निवत् संबन्धो[5] बन्धाख्यः पुरुषस्य दुःखहेतुरिति सूत्रार्थः; न तु बुद्ध्यारूढैर्दृश्यैर्द्रष्टुर्ज्ञानरूपः संयोगो हेयहेतुरत्र विवक्षितः, स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोग इत्यागामिसूत्रेणास्य संयोगस्य ज्ञानहेतुत्वेनैव लक्षणीयत्वाद् न तु ज्ञानरूपत्वेनेति। अस्माच्च सूत्राद् बुद्ध्यात्मसंयोगवत् घटाद्यात्मसंयोगोऽपि भोगहेतुर्बोध्यः, भोक्तृभोग्यसंयोगस्यैव सामान्यतो भोगहेतुतया लाघवेनौचित्याद्, विषयभोगे च बुद्ध्यवच्छेदेन विषयसंयोगस्य

---

1. क ख ग घ च–बुद्धिसाक्षीति उपलभ्यते, छ–बुद्धिसाक्षीति नोपलभ्यते।
2. क ग घ च छ–बुद्धिसत्त्वस्यापि दृश्यत्वेनात्र विशेषणं विवक्षितम् उपलभ्यते, ख–बुद्धि.... विवक्षितं नोपलभ्यते।
3. क ख घ च छ–वचनात्, ग–बन्धनात्।
4. क ग–दृश्यवत्या स्वयं च दृश्यया बुद्ध्या, ख–दृश्यैः, घ च–दृश्यवत्या बुद्ध्या।
5. क च छ–संबन्धः, ख ग घ–संयोगः।

हेतुत्वान्नातिप्रसङ्ग इति। अस्य च संयोगस्य पुरुषार्थो हेतुरिति वक्तुं सकलपुरुषार्थवत्त्वरूपं स्वत्वं बुद्धौ पुरुषस्य प्रतिपादयति—तदेतदिति। न च तस्य हेतुरविद्येत्यागामिसूत्रेणैव संयोगस्य कारणं वक्ष्यत इति नास्ति संयोगकारणा[1]पेक्षेति वाच्यम्, अविद्याया अपि पुरुषार्थासमाप्तिद्वारैव बन्धहेतुताया वक्ष्यमाणत्वादिति। तदेतदित्यादेरयमर्थः—तद् बुद्धि-सत्त्वम्, एतज्जगद्दृश्यं यत्रास्तीत्येतद् दृश्यम्। अतोऽयस्कान्तवत्संनिधिमात्रेणोपकारितया स्वयं दृश्यतया च ज्ञानमात्रस्वरूपस्य स्वामिनः पुरुषस्य स्वमात्मीयं भवतीति। ननु बुद्धेः कथमन्यः स्वामी स्वीक्रियते, सैवापरतन्त्रा स्वयं द्रष्ट्री स्वार्थैव भवतु तत्राह—अनुभवकर्मेत्यादि। यतः कर्मकर्तृविरोधेन स्वदृश्यत्वानुपपत्त्याऽनुभवाख्यं यत्पुरुषस्य कर्म तद्विषयतामापन्नं सदेवान्य-रूपेण पुरुषचैतन्येन प्रतिलब्धात्मकं सिद्धसत्ताकम्, अन्यरूपेणान्यप्रयोजनेन लब्धस्थितिकं वाऽतः स्वतन्त्रं पुरुषा- नाश्रितमपि परार्थत्वात् परतन्त्रं परस्य स्वमित्यर्थः।

हेयप्रतिपादक सूत्र की व्याख्या करके भाष्यकार क्रमप्राप्त हेयहेतुविवरणक सूत्र को अवतरित करते हैं—'तस्माद्यदेव हेयमिति।' जिसे 'हेय' बताया गया है, उस हेय के कारण (हेयहेतु) को बताया जा रहा है—'द्रष्टृदृश्ययोरिति।' भाष्यकार सूत्रगत द्रष्टृ-पदार्थ को बताते हैं—'द्रष्टेति।' बुद्धि का प्रतिसंवेदन अर्थात् संवेदनरूप बुद्धिवृत्ति के प्रतिबिम्ब को 'प्रतिसंवेदन' उसी प्रकार कहा जाता है जिस प्रकार ध्वनि के प्रतिफलन को 'प्रतिध्वनि' कहते हैं। जो प्रतिसंवेदनयुक्त है, उसे 'प्रतिसंवेदी' (पुरुष) कहते हैं। इस प्रकार 'सोऽस्यास्तीति' व्युत्पत्ति के अनुसार बुद्धि-साक्षी को ही प्रतिसंवेदी कहते हैं। भाष्यकार 'दृश्य' पदार्थ का विवरण करते हैं—'दृश्या बुद्धिसत्त्वेति।' बुद्धिसत्त्व में उपारूढ समस्त धर्म 'दृश्य' कहलाते हैं। यहाँ बुद्धिसत्त्व को भी दृश्यरूप विशेषण वाला समझना चाहिये। अर्थात् 'दृश्य' शब्द से बुद्धि भी अभिहित है। 'धर्मा इति।' यहाँ बुद्ध्यारूढ होने से बुद्धिगत धर्म को लक्ष्य करके ही भाष्यकार ने 'धर्म' शब्द का प्रयोग किया है, न कि बुद्धि के कार्य (अहंकारादि) के अभिप्राय से 'धर्म' शब्द प्रयुक्त हुआ है। अन्यथा (बुद्धिसत्त्वोपारूढ 'धर्म' को कार्यकोटिक मानने पर) प्रधानादि की दृश्यता नहीं बन पायेगी, क्योंकि प्रधान बुद्धि का कार्य नहीं है, परन्तु प्रधान के दृश्यत्व का त्याग उचित नहीं है क्योंकि अग्रिम सूत्र में 'प्रधान' (प्रकृति) तत्त्व को ही मुख्यरूप से 'दृश्य' कहा गया है। यद्यपि बुद्ध्यारूढ होता हुआ पुरुष भी दृश्य है, तथापि पुरुष के दुःखशून्य होने के कारण उसके दर्शन को 'हेयहेतु' नहीं कह सकते हैं। इसी अभिप्राय से यहाँ 'दृश्य' वर्ग में पुरुष को नहीं गिना जा सकता है। इस प्रकार सुख-दुःख-मोहात्मिका दृश्यवती बुद्धि के साथ साक्षिरूप द्रष्टा पुरुष का; काष्ठाग्निसम्बन्ध की भाँति, 'बन्धाख्य' (बन्धनकारी) सम्बन्ध होना पुरुष के दुःख का

1. क ख ग—आकांक्षा, घ च छ—अपेक्षा।

कारण है अर्थात् तथाकथित बुद्धिपुरुषसंयोग **'हेयहेतु'** है, ऐसा सूत्रार्थ है न कि ऐसा सूत्रार्थ यहाँ विवक्षित है कि बुद्धि में आरोपित हुए (घट, पटादि) दृश्यों के साथ द्रष्टा का होने वाला ज्ञानरूप संयोग **'हेयहेतु'** है, क्योंकि **'स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः'** (२/२३)– इत्याकारक आगामी सूत्र के द्वारा यह संयोग ज्ञानहेतुरूप से लक्षित हुआ है, न कि ज्ञानरूप से। किञ्च इस सूत्र से बुद्धि-पुरुष के संयोग के समान घटादि विषय तथा पुरुष के संयोग को भी **'भोगहेतु'** (भोग का कारण) समझना चाहिये, क्योंकि भोक्तृभोग्यसंयोग को ही सामान्यरूप से **'भोगहेतु'** मानने में लाघवपूर्ण औचित्य है तथा विषयभोग के प्रति बुद्ध्यवच्छिन्न विषय-संयोग के हेतु होने से अतिव्याप्ति भी नहीं आती है। (सरलार्थ यह है–विषयभोग में बुद्ध्यवच्छेद से विषय का संयोग पुरुष के साथ होता है। अतः बुद्ध्यवच्छेदेन विषयसंयोग को पुरुष के भोग का कारण मानने में अतिव्याप्ति नहीं आती है)। इस संयोग का हेतु पुरुषार्थ है, ऐसा उद्घाटित करने के लिये भाष्यकार पुरुष के प्रति बुद्धि में सकल पुरुषार्थत्वरूप 'स्वत्व' का प्रतिपादन करते हैं–**'तदेतदिति।'**

शङ्का–'तस्य हेतुरविद्या' (२/२४) इस आगामी सूत्र के द्वारा ही **'संयोग'** के कारण को बतलाया जायेगा, अतः यहाँ संयोग के कारण के प्रतिपादन की आवश्यकता ही नहीं है?

समाधान–ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि अविद्या भी पुरुषार्थ की असमाप्ति तक ही बन्ध का कारण है, ऐसा आगे प्रतिपादित किया जायेगा। भाष्यगत **'तदेतदित्यादि'** का अर्थ इस प्रकार है–'तत्' शब्द का अर्थ बुद्धिसत्त्व है और 'एतत्' शब्द का अर्थ है–यह दृश्यात्मक जगत् जिसमें अवस्थित है ऐसा **'दृश्या'** अतः लोहचुम्बक-न्यायवत् सामीप्यमात्र से उपकारी होने से तथा स्वयं दृश्यरूप होने से बुद्धि ज्ञान-स्वरूप **'स्वामी'** पुरुष का **'स्व'** अर्थात् आत्मीय होती है। अर्थात् बुद्धि-पुरुष में **'स्वस्वामिभावसम्बन्ध'** है।

शङ्का–बुद्धि से भिन्न स्वामी पुरुष को क्यों स्वीकार किया जाता है, अपरतन्त्री (स्वतन्त्रा) बुद्धि स्वयं द्रष्ट्री होकर आत्मप्रयोजन को निष्पन्न करे?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–**'अनुभवकर्मेत्यादि।'** एक ही वस्तु में कर्तृत्व तथा कर्मत्व का परस्पर विरोध होने से अर्थात् एक ही वस्तु के कर्त्ता तथा कर्म दोनों न होने से बुद्धि द्वारा स्वयं अपने में दृश्यत्व की उपपत्ति नहीं होती है अर्थात् कर्त्ता बनकर बुद्धि स्वयं को कर्म (दृश्य) बनाने में सक्षम नहीं होती है। इसीलिये बुद्धि (दृश्य) पुरुष के अनुभवाख्य कर्म की विषयता को प्राप्त होती हुई ही अन्य रूप अर्थात् अपने जड रूप से भिन्न पुरुष के चैतन्य रूप से लब्धस्वरूपा अर्थात् चैतन्यवती होती हुई अथवा अन्यरूप अर्थात् अन्य प्रयोजन से लब्धस्थितिक (लब्ध

स्थिति वाली) होती हुई, अतः 'स्वतन्त्र' अर्थात् पुरुष के आश्रित न होती हुई भी दूसरे के प्रयोजन के कारण परतन्त्र अर्थात् पर पुरुष (स्वामी) का स्व (सेवक) बनती है।

सम्प्रति, उक्त 'संयोग' का ही विशदीकरण किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

तदेवं दृश्याख्यभोग्यात्मकाखिलपुरुषार्थस्य बुद्धिनिष्ठत्वे सिद्धे स एव पुरुषार्थोऽनागतावस्थो बुद्धिपुरुषयोः संयोगे हेतुरिति वदन् सूत्रवाक्यार्थमाह–तयोरिति। तयोः स्वस्वामिनोः। दृश्यतेऽनयेति दर्शनं बुद्धिः[1], अनादिश्चात्र प्रवाहरूपेण पुरुषार्थकृतत्ववचनात्। ननु पुरुषार्थसंयोगाङ्गीकारे सत्यपरिणामित्वभङ्ग इति चेन्न; सामान्यगुणातिरिक्तधर्मोत्पत्तेरेव व्यवहारानुसारेण परिणामशब्दार्थत्वावधारणात्, घटाद्यसंयोगाद्यैराकाशस्य द्वित्वादिभिश्च पुरुषस्य परिणामव्यवहाराभावात्, पद्मपत्रस्थतोयेन पद्म[2]पत्रस्थापरिणामा[3]संयोगादिश्रवणाच्च। संयोगविभागसंख्याऽऽदयस्तु द्रव्यसामान्यगुणा इति। अपि च श्रुतिस्मृत्योः सुखादिरूपाः परिणामा एव [4]पुरुषे नाभ्युपगम्यन्ते, मनोऽन्वयव्यतिरेकेण मनस्येव लाघवतस्तत्कल्पनात् मनसोऽवच्छेदकत्वं परिकल्प्यान्यत्र तत्कल्पने गौरवात्, संयोगादिकं प्रति तु द्रव्यत्वेनैव हेतुतया पुरुषस्यापि तत्संभवात्, पुरुषस्य द्रव्यत्वं चानाश्रितत्वतः परिमाणतश्च सिद्धमिति। यद्यपि कारणावस्थबुद्धिः [5]पुरुषस्य विभुः, तथाऽपि तयोः संयोगः परिच्छिन्नगुणान्तरावच्छेदेन संभवत्येव, महदाद्यखिलपरिणामानां त्रिगुणसंयोगं विनाऽनुत्पत्तेः, स च संयोगजः संयोगः न तु कर्मजः, अवयवसंयोगादवयविसंयोगवदवच्छेदकीभूतगुणसंयोगादेव विभुनोः संयोगोत्पत्तेः, भूतलस्य घटसंयोगेन घटावच्छिन्नाकाशसंयोगोत्पत्तिवत्। वैशेषिकशास्त्रे विभुनोः संयोगश्च साक्षादेव निषिद्धः न तु संयोगजः संयोग इति।[6]

इस प्रकार दृश्यसंज्ञक भोग्यात्मक अखिल पुरुषार्थ के बुद्धिनिष्ठ सिद्ध होने पर वही अनागतावस्थाक पुरुषार्थ बुद्धि पुरुष के संयोग का कारण है, ऐसा बताते हुए

---

1. ख–तद्द्वारा चान्यदृश्यैः संयोगो हेयहेतुरित्याशयः (बुद्धिः पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ–तत्....आशयः नोपलभ्यते।
2. क ख गद च–पत्रस्य, घ छ–पत्रस्थ०।
3. क ग घ च छ–असंयोग०, ख–असंग०।
4. क ग घ च छ–पुरुषे नाभ्युपगम्यन्ते, ख–पुरुषेणाभ्युपगम्यन्ते।
5. क ख ग घ च–पुरुषश्च, छ–पुरुषस्य।
6. ख–अथवा महदादिविकारभावापन्नया परिच्छिन्नया बुद्ध्या संयोगस्यैव प्रकृतसूत्रार्थतया विभुनोः संयोगाभावेऽपि न क्षतिरिति (संयोग इति पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ–अथवा.... क्षतिरिति नोपलभ्यते।

भाष्यकार सूत्रवाक्य का अर्थ करते हैं–'तयोरिति।' 'तयोः' पद से स्व-स्वामी का बोध होता है। 'दृश्यतेऽनयेति दर्शनम्' व्युत्पत्ति के अनुसार 'जिससे देखा जाता है, उसे 'दर्शन' कहते हैं। 'दर्शन' शब्द का अर्थ है–'बुद्धि'। किञ्च बुद्धि-पुरुष का यह संयोग पुरुषार्थकृत होने से प्रवाहरूप से अनादि है।

शङ्का–बुद्धि-पुरुष का पुरुषार्थवश संयोग मानने पर पुरुष का 'अपरिणामी' होना खण्डित हो जायेगा? अर्थात् पुरुष का 'अपरिणामित्व' सिद्ध न हो सकेगा?

समाधान–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि सामान्यगुणातिरिक्त धर्मोत्पत्ति से ही 'परिणाम' शब्द के अर्थ का व्यवहारानुसार अवधारण किया जाता है। अर्थात् धर्मविशेष की उत्पत्ति से युक्त पदार्थ को परिणामी कहते हैं। जैसे घट के आद्य संयोग से आकाश में तथा द्वित्वादियों के संयोग से पुरुष में किसी प्रकार का पारिणामिक व्यवहार नहीं किया जाता है। अर्थात् सामान्य गुण से आकाश और पुरुष को परिणामी (विकारयुक्त) नहीं कहते हैं। इसी प्रकार पद्मपत्र पर स्थित जल से पद्मपत्र में किसी प्रकार का परिणाम (विकार) तथा संयोगादि नहीं सुना जाता है। संयोग, विभाग, संख्यादि ये द्रव्य के सामान्य गुण हैं। किञ्च श्रुति, स्मृतियों में भी पुरुष में सुखादि-रूप परिणाम स्वीकृत नहीं है। क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक से मन में ही सुखादिरूप धर्म की लाघवन्याय से कल्पना की जाती है। मन को अवच्छेदक बनाकर सुखादि की अन्यत्र कल्पना करने में गौरव है। संयोगादि में तो द्रव्य के रूप से ही हेतुता है अर्थात् द्रव्याश्रित संयोग (न कि द्रव्यनिरपेक्ष संयोग) ही हेतु (निमित्तकारण) हो सकता है और इस प्रकार का संयोगादि (गुण) पुरुष में सम्भव है। किञ्च अनाश्रित तथा अपरिणामी होने से पुरुष का द्रव्यत्व सिद्ध है। यद्यपि पुरुष की कारणावस्थ बुद्धि (पुरुष की भाँति) विभु है, तथापि व्यापकीभूत बुद्धि तथा पुरुष दोनों का संयोग परिच्छिन्न गुणान्तरावच्छेद से ही सम्भव होता है, क्योंकि त्रिगुण (त्रिगुणात्मक प्रकृति के साथ पुरुष) के संयोग के विना महदादि निखिल कार्यों (परिणामों) की उत्पत्ति अर्थात् अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है (और महदादि की अभिव्यक्ति हुए विना उसका पुरुष के साथ संयोग नहीं हो सकता है। इसीलिये परिच्छिन्न गुणान्तरावच्छेद से संयोग की बात कही गई है)। किञ्च यह (बुद्धि-पुरुष में) संयोगजसंयोग है, न कि कर्मजन्य संयोग। क्योंकि अवयवसंयोग से अवयवि-संयोग की भाँति अवच्छेदकीभूत गुणसंयोग से ही दो विभु पदार्थों के संयोग की उत्पत्ति उसी प्रकार होती है जिस प्रकार भूतल का घट के साथ संयोग होने से घटावच्छिन्न आकाश के साथ भूतल के संयोग की उत्पत्ति होती है। वैशेषिक दर्शन में दो विभु पदार्थों के **'साक्षात् संयोग'** का ही निषेध किया गया है, न कि उनके (दो विभु पदार्थों के) **'संयोगज संयोग'** का खण्डन किया गया है।

बालप्रिया–

'संयोगविभागसंख्यादयस्तु द्रव्यसामान्यगुणाः'–भाव यह है–रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक द्रवत्व, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न तथा भावना– ये 'विशेषगुण' हैं और तदतिरिक्त संयोग, विभाग, संख्यादि 'सामान्यगुण' कहलाते हैं।

'पुरुषस्य द्रव्यत्वं चानाश्रितत्वतः परिमाणतश्च सिद्धम्'–भाव यह है कि अवयवभूत द्रव्य का आश्रय अवयवीभूत द्रव्य होता है अर्थात् अवयवी में अवयव आश्रित रहता है। अतः अनाश्रितत्व द्रव्यत्व का साधक है। द्रव्यत्व का साधकान्तर है– 'परिमाणत्व'। गुणविशेषरूप परिमाण द्रव्य से अतिरिक्त कहीं नहीं ठहर सकता है। अतः परिमाण भी द्रव्यत्व का साधक है।

विभुनोः संयोगश्च साक्षादेव निषिद्धः–इसीलिये पदार्थधर्मसंग्रह ग्रन्थ में 'अज' के संयोग का निषेध किया गया है।

प्रकृति पुरुष के उक्त 'संयोग' के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए योगवार्त्तिककार आगे कहते हैं–

योगवार्त्तिकम्

यदि चात्मनः संयोग एव नास्तीति स्वीक्रियेत तर्हि प्रकृतिपुरुषसंयोगात्सृष्टिस्तद्वियोगतश्च प्रलय इति श्रुतिस्मृतिसूत्राणि नोपपद्येरन्। न च [1]भोक्तृभोग्ययोग्यतैवौपचारिकोऽत्र संयोगो वक्तव्यः, तस्याः स्वस्वामिभावरूपत्वेनानादितया कार्यत्वस्याऽसाऽनुपपत्तेः। किं च तस्या अविनाशित्वे ज्ञाननाश्यत्ववचनविरोधः, नाशित्वे परिणामः पुरुषस्य स्यादिति। ननु संयोगस्वीकारे पुरुषस्यासंगताक्षतिरिति चेन्न; पुष्करपत्रे पुरुषदृष्टान्ते संयोगसत्त्वेऽपि असंगताऽभ्युपगमात्, स्वाश्रयविकारहेतुसंयोगस्यैव सङ्गत्वात्, पुरुषे च तादृशसंयोगास्वीकारादिति। तस्मात् पुरुषार्थनिमित्तको बुद्धिपुरुषयोः संयोगो भवति, स एव च जन्मरूपतया दुःखहेतुरिति सिद्धम्। स च संयोगविशेषः परमेश्वरस्य योगमाया योगीन्द्रैरप्यचिन्त्या श्रुतिस्मृतिगम्या न विशेषतस्तर्कगोचरो भवति, यया खलु नित्यमुक्तमसङ्गमविद्याऽऽदिरहितं विभुचिन्मात्रमा[2]त्मानं जीवजातमीश्वरो निबध्नाति। तथा चोक्तम्–

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्॥ इति,
सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते।
ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम्॥ इति॥

संयोगस्य दुःखहेतुत्वे पञ्चशिखाचार्यस्य संवादमाह–तथा चोक्तमित्यादिना प्रतीकार इत्यन्तेन। तयोर्बुद्धिपुरुषयोः संयोगो दुःखहेतुस्तस्य परिवर्जनादत्यन्तोच्छेदाद् दुःखस्यात्यन्तिकः

---

1. क च छ–भोक्तृभोग्ययोग्यतैवौपचारिकोऽत्र, ख–भोक्तृभोग्यतैवात्रौपचारिकः, ग घ–भोक्तृभोग्ययोग्यतैवात्रौपचारिकः।
2. क घ च छ–आत्मानं, ख ग–आत्मांशः।

प्रतीकार उच्छेदः स्यादित्यर्थः। नन्वनादिकालप्रवृत्तस्य दुखहेतुसंयोगस्योच्छेदो [1]न शक्यसंभावन इत्याशयेन पृच्छति प्रसङ्गात्तच्छक्यत्वमवधारयितुम्। कस्मादिति– उत्तरम्–दुःखहेतोरिति। परिहार्यस्येत्यनेन प्रकृत्यादि[2]नित्यव्यावृत्तिः। तथा च दुःख[3]हेतुत्वानित्यत्वलिङ्गेन संयोगस्य शक्यो[4]च्छेदकत्वम् अनुमेयमित्याशयः। दुःखहेतोः प्रतीकार्यत्वे लौकिकमुदाहरणमाह–तद्यथेति। भेद्यत्वं भेदजदुःखभागित्वं भेत्तृत्वं च भेदद्वारा दुःखहेतुत्वं [5]पादानधिष्ठानं पादेनानारोहणम्, पादत्राणमुपानत्, तद्व्यवहितेन वा पदा कण्टकस्यारोहणमित्यर्थः। एतत्त्रयं दुःखाश्रयदुःखहेतुतत्परीहारोपायरूपमित्यर्थः। यो वेदेत्यनेनैतत्त्रयज्ञानस्य प्रतीकारहेतुत्वं वदन्नेतत्त्रयं मुमुक्षुभिर्ज्ञेयमित्यपि सूचितवान्। ननु तापो दुःखमिति पर्यायः, तथा च दृष्टान्ते यथा भेद्यभेत्तृप्रतीकाररूपं त्रितयमस्ति नैवं दार्ष्टान्तिके, तत्रैकस्या बुद्धेरेव तप्यतापकोभयरूपताऽभ्युपगमात् पुरुषस्य निर्दुःखत्वादित्याक्षिपति–कस्मादिति। सिद्धान्तमाह–त्रित्वोपलब्धीति। बाह्यदुःखस्थल उक्तत्रयोपलब्धिबलादन्तर्दुःखस्थानेऽपि त्रयसिद्धिरिति भावः। तस्य प्रकारमाह–अत्रापीति। अत्रापि दार्ष्टान्तिकेऽपि। अयं भावः–बुद्धेरेकत्वेऽपि त्रिगुणात्मकत्वादंशत्रयमस्ति, तत्र [6]रजोंऽशस्तापकः सत्त्वांशस्तप्यो बुद्धिपुरुषयोर्वियोगश्च दुःखप्रतीकार इति त्रयमुपपन्नमिति। ननु पुरुष एव कथं न तप्यो भवतीत्याशयेन पृच्छति–कस्मादिति। सिद्धान्तमाह–[7]अत्रापीत्यादिना क्षेत्रज्ञ इत्यन्तेन। कर्मस्थत्वात् कर्मतन्त्रत्वात्, सकर्मकत्वादिति यावत्। कर्मत्वं च क्रियाव्याप्यत्वं दुःखव्याप्यत्वं वाऽ[8]परिणामिनि न संभवतीत्यर्थः। वृत्तिव्याप्यत्वं तु विषयता[9]रूपमपरिणामिन्यपि संभवतीत्यतो ज्ञानक्रियाकर्मत्वं पुरुषस्योपपद्यत इति विशेषः। यच्च पुरुषस्य स्वज्ञेयत्वं तदपि स्वप्रतिबिम्बितबुद्धिवृत्तिव्याप्यत्वमेवेति न तत्रापि परिणामापेक्षेति। नन्वेवं कथं दुःखनिवृत्तिः पुरुषार्थः, परदुःखस्याहेयत्वात् न च पुरुषनिष्ठत्वभ्रमाद् दुःखं हेयं स्यादिति वाच्यम्? विदुषामपि दुःखहानार्थमसंप्रज्ञातार्थितायाः स्वीकारादित्याशङ्कां समाधत्ते–दर्शितविषयत्वादित्यादिना। पुरुषो यतो दर्शितविषयो बुद्धिसत्त्वेन निवेदितविषयोऽतः सत्त्वे तप्यमाने[10] प्रतिबिम्बरूपेण बुद्धिसत्त्वसमानाकारो भवेन्न तु तप्यत इति मूढैर्दृश्यते अनुतप्यत इवेत्यर्थः। न हि स्वाकारप्रतिबिम्बनातिरिक्तविषयनिवेदनमपरिणामिनि

---

1. क घ च छ–न शक्यसंभावने, ख–न शक्यसम्भवात्, ग–नाशकासंभवात्।
2. क ख घ च छ–नित्य०, ग–जन्य०।
3. क ग च छ–हेतुत्वनित्यत्व०, ख–हेत्वनित्यत्व०, घ–हेतुत्वानित्यत्व०।
4. क ग घ च छ–उच्छेदकत्वं, ख–उच्छेदत्वम्।
5. क–पद०, ख ग घ च छ–पाद०।
6. क ग घ च छ–रजोंऽशस्तापकः सत्त्वांशस्तप्यः, ख–रजोंऽशस्तप्यो बाह्यरजस्तापकम्।
7. क घ–तथापीत्यादिना, ख–तपीत्यादिना, ग–साध्यतपीत्यादिना, च छ–अत्रापीत्यादिना।
8. क ख ग घ–अपरिणामिनि, च छ–परिणामिनि।
9. क ग घ च छ–रूपमपरिणामिनि, ख–रूपपरिणामिनि
10. क ख ग–सति (तप्यमाने पश्चात्) उपलभ्यते, घ च छ–सति नोपलभ्यते।

संभवति, प्रतिपादितं चैतद्वृत्तिसारूप्यमितरत्रेति सूत्रे। तथा च प्रतिबिम्बरूपेण भोगाख्य-संबन्धेन विदुषामपि दुःखस्य हेयत्वान्न पुरुषार्थासंभवदोष इति भावः। ये तु पुरुषस्य भोक्तृत्वमपि नेच्छन्ति तेषामेवाधुनिकवेदान्तिब्रुवाणामयं दोषः॥१७॥

बुद्धि के साथ आत्मा का संयोग ही नहीं होता है, यदि ऐसा स्वीकार किया जाय तो श्रुति-स्मृतियों के वे वचन उपपन्न न हो सकेंगे जो ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि प्रकृति-पुरुष-संयोग से सृष्टि होती है तथा इस संयोगविशेष के अभाव (प्रकृतिपुरुष के वियोग) से प्रलय होती है। किञ्च यहाँ भोक्तृभोग्ययोग्यता ही 'औपचारिक संयोग' रूप से नहीं कही गई है, क्योंकि बुद्धि-पुरुष की भोक्तृभोग्य-योग्यता स्वस्वामिभावरूप से अनादि है। अतः कार्य रूप से इसकी सहज उपपत्ति नहीं हो सकती है। किञ्च भोक्तृभोग्ययोग्यता को अविनाशी कहा जाय तो 'इस भोक्तृभोग्ययोग्यता में ज्ञाननाश्यत्व है' अर्थात् ज्ञान के द्वारा भोक्तृभोग्यभाव का नाश हो जाता है, इस तथ्य के प्रतिपादक वाक्य से विरोध होगा। यदि (इस असंगति के निवारण के लिये) भोक्तृभोग्यभाव को विनाशी माना जाय तो पुरुष को परिणामी कहना पड़ेगा अर्थात् इस विकल्प में पुरुष का अपरिणामित्व व्याहत होगा।

शङ्का–किञ्च बुद्धि-पुरुष का संयोग स्वीकार करने पर पुरुष को असङ्ग न कहा जा सकेगा अर्थात् उसकी असंगता को व्याघात पहुँचेगा?

समाधान–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि कमलपत्र तथा पुरुष इन दो उदाहरणों में यथाक्रम जल तथा बुद्धि का संयोग बना रहने पर भी इनकी असंगता स्वीकृत है। अपने आश्रय के विकार के हेतुभूत संयोग को 'सङ्ग' कहा जाता है (अर्थात् आश्रयीभूत कमल में संयुक्त रहने वाले जलरूप आश्रय के धर्मों (विकारों) से आश्रयी के विकारयुक्त होने पर कमल को सङ्गदोष वाला माना जा सकता है, अन्यथा नहीं), किन्तु पुरुष में इस प्रकार का संयोग स्वीकृत नहीं है। (इस प्रकार बुद्धि-पुरुष के संयोग से पुरुष में सम्भावित सङ्गदोष निरस्त हो जाता है और उसकी असङ्गता को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचती है)। इस विवरण से यह सिद्ध होता है कि बुद्धि-पुरुष का संयोग पुरुषार्थनिमित्तक है और वही 'जन्म' का हेतु होने से दुःख का कारण है। किञ्च यह संयोगविशेष परमेश्वर की 'योगमाया' है, जो योगीन्द्रों से भी अचिन्त्य (अबोध्य) केवल श्रुतिस्मृतिगम्य है और यह तर्क के द्वारा विशेषरूप से जानने योग्य नहीं है। जिस योगमाया से ईश्वर नित्य, मुक्त, असङ्ग, अविद्यादिरहित, विभु, चिन्मात्र, जीवस्थानीय आत्मा को बाँधता है। जैसा कि कहा गया है–'**अचिन्त्याः...योजयेत्**' अर्थात् 'जो पदार्थ अचिन्त्य अर्थात् समझ से परे हैं, उन्हें तर्क के द्वारा मूल्यांकित (अनुबन्धित) नहीं किया जा सकता है।' किञ्च

'सेयं भगवतो...बन्धनम्' (श्रीमद्भागवत ३/७/९) अर्थात् 'जो आत्मा सबका स्वामी और सर्वथा मुक्तस्वरूप है, वही दीनता और बन्धन को प्राप्त हो–यह बात युक्ति-विरुद्ध अवश्य है, किन्तु वस्तुतः, वही तो भगवान् की माया है।'

'संयोग दुःख का कारण है' इस विषय में भाष्यकार पञ्चशिखाचार्य के संवाद (वाक्य) को प्रस्तुत करते हैं–**'तथा चोक्तमित्यादिना प्रतीकार इत्यन्तेन।'** वाक्य का अर्थ यह है–बुद्धि-पुरुष का संयोग दुःख का कारण है। इस दुःखहेतुभूत संयोग का आत्यन्तिक उच्छेद (परिवर्जन) होने से दुःख का आत्यन्तिक (सार्वकालिक) प्रतीकार (नाश) हो जाता है।

शङ्का–अनादि काल से चले आ रहे दुःख के हेतुभूत **'संयोग'** का नाश होना सम्भव नहीं है, इस अभिप्राय से प्रसंगतः संयोगनाश की शक्यता का निर्धारण करने के लिये पूर्वपक्षी पूछता है–**'कस्मादिति।'**

समाधान–भाष्यकार उत्तर देते हैं–**'दुःखहेतोरिति।'** भाष्य में प्रयुक्त **'परिहार्यस्य'** पद से प्रकृत्यादि नित्य पदार्थों की व्यावृत्ति की गई है। (क्योंकि परिहार्यता अनित्य पदार्थ में होती है)। इस प्रकार दुःखहेतुत्व और अनित्यत्वलिङ्ग के द्वारा प्रकृतिपुरुषसंयोग में शक्योच्छेदकता अनुमित होती है। भाव यह है कि दुःखहेतु को 'परिहार्य' (परिहार के योग्य) कहने से प्रकृत्यादि (प्रकृति और पुरुष) नित्य पदार्थों की स्वतः व्यावृत्ति हो जाती है, क्योंकि नित्य पदार्थ परिहार्य नहीं होता है। अतः दुःख के हेतुभूत अनित्य लिङ्ग (बुद्धि) से उत्पन्न होने वाला (अविद्यानिमित्तक बुद्धि-पुरुष) संयोग शक्योच्छेद (उच्छेद के योग्य) है, ऐसा अनुमान किया जाया है। अनुमानप्रयोग इस प्रकार है–**प्रकृतिपुरुषसंयोगः, शक्योच्छेदः दुःखहेतुत्वादनित्यत्वाच्च।** शब्दान्तर में प्रकृति और पुरुष के नित्य होने पर भी नित्यपदार्थों का अविद्या-निमित्तक होने वाला संयोग नाश के योग्य होता है, अर्थात् परिहार्य होता है।

सम्प्रति, भाष्यकार दुःखहेतु के प्रतीकार्य (प्रतिकार-शक्यता) में लौकिक उदाहरण को प्रस्तुत करते हैं–**'तद्यथेति।'** भेदजन्य दुःखभागित्व जिसमें है, उसे **'भेद्य'** कहते हैं (जैसे पादतल में **'भेद्यत्व'** है)। भेदक्रिया द्वारा दुःखप्रदातृता जिसमें है, उसे **'भेदकर्त्ता'** कहते हैं। जैसे काँटे में **'भेत्तृत्व'** है। काँटे पर पैर न रखना अथवा पादत्राण (जूते) से आवृत्त पैर द्वारा दूर से काँटे पर पैर रखना दुःखपरिहार का उपाय है। इस प्रकार तीन बातें हुईं–दुःखाश्रय (जैसे पैर), दुःखहेतु (जैसे कण्टक) तथा दुःखपरिहारोपाय (जैसे उपानत्=पादत्राण)। **'यो वेद'** इस वाक्य के द्वारा उपरिनिर्दिष्ट ज्ञानत्रय (भेद्य, भेत्तृत्व तथा परिहार) को दुःख-प्रतीकार का हेतु बताते हुए भाष्यकार ने यह भी सूचित कर दिया है कि ये तीन मुमुक्षु के द्वारा जानने योग्य हैं।

शङ्का–'ताप' दुःख का पर्याय है। जैसे दृष्टान्त में भेद्य, भेतृत्व तथा प्रतीकाररूप त्रित्व है, वैसे दार्ष्टान्त में नहीं। क्योंकि दार्ष्टान्त में एक ही बुद्धि को **'तप्य'** तथा **'तापक'** उभयरूप स्वीकार किया गया है, क्योंकि पुरुष दुःखरहित है। अतः दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्त के साम्य के विषय में पूर्वपक्षी आक्षेप (सन्देह) करता है–**'कस्मादिति।'**

समाधान–भाष्यकार सिद्धान्त को बताते हैं–**'त्रित्वोपलब्धीति।'** बाह्य दुःख के स्थल में उक्त भेद्य, भेदक तथा परिहाररूप त्रित्व की प्राप्ति होने से अन्तर्दुःख को लेकर भी इन तीनों की सिद्धि होती है। आन्तरदुःख के स्थल में किस प्रकार त्रित्व (तप्य, तापक, प्रतीकार) की उपलब्धि होती है, इसके प्रकार को भाष्यकार बताते हैं–**'अत्रापीति।'** यहाँ **'अत्रापि'** पदसमूह से 'दार्ष्टान्त' का ग्रहण होता है अर्थात् दार्ष्टान्त में भी **'त्रित्वोपलब्धि'** होती है। सारांश यह है–एक होती हुई भी बुद्धि त्रिगुणनिर्मिता होने के कारण तीन अंश (भाग) वाली (अंशत्रयात्मक) है। उनमें से बुद्धिगत रजोगुणांश **'तापक'**, सत्त्वगुणांश **'तप्य'** तथा बुद्धि-पुरुष का वियोग (संयोगाभाव) **'दुःखप्रतीकार'** है। इस प्रकार दृष्टान्त की भाँति दार्ष्टान्त में भी त्रित्व उपपन्न होता है।

शङ्का–पुरुष ही **'तप्य'** क्यों नहीं है अर्थात् पुरुष को ही तप्य माना जाय। इस आशय से पूर्वपक्षी पूछता है–**'कस्मादिति।'**

समाधान–भाष्यकार (योगसम्मत) सिद्धान्त को बतलाते हैं–**'अत्रापीत्यादिना क्षेत्रज्ञ इत्यन्तेन।'** क्योंकि 'ताप' रूप क्रिया 'कर्मस्थ' अर्थात् कर्म के अधीन है अर्थात् 'तप्' धातु सकर्मक है। और जो क्रिया द्वारा व्याप्य (क्रियाव्याप्यत्व) अथवा दुःख द्वारा व्याप्य (दुःखव्याप्यत्व) होता है, उसे 'कर्मत्व' कहते हैं। तथाकथित कर्मता अपरिणामी पुरुष में सम्भव नहीं है। किन्तु विषयतारूपवृत्तिव्याप्यत्व अपरिणामी पुरुष में भी सम्भव है। अतः ज्ञानक्रिया की कर्मता पुरुष में उपपन्न होती है। और जो पुरुष का **'स्वज्ञेयत्व'** है, वह भी स्वप्रतिबिम्बित बुद्धिवृत्तिव्याप्यत्व रूप ही है (अर्थात् जो पुरुष की अपने आप ज्ञेयता है, वह भी अपने में प्रतिबिम्बित बुद्धिवृत्ति का विषय होना है)। अतः पुरुष को ज्ञेय बनने में परिणाम की अपेक्षा नहीं रहती है।

शङ्का–इस स्थिति में परदुःख के 'हेय' न होने से कैसे दुःखनिवृत्ति **'पुरुषार्थरूप'** है? यह भी नहीं कह सकते हैं कि पुरुष भ्रमवशात् दुःख को स्वनिष्ठ समझकर उसे दूर करने का प्रयास करता है, क्योंकि विद्वान् व्यक्ति भी दुःख का उच्छेद करने के लिये असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति का अभिलाषी रहता है, ऐसा स्वीकृत है।

समाधान–भाष्यकार उपरिनिर्दिष्ट शंका का समाधान करते हैं–**'दर्शितविषयत्वा-दित्यादिना।'** चूँकि पुरुष **'दर्शितविषय'** वाला है अर्थात् उसे बुद्धिसत्त्व द्वारा विषय अर्पित किया जाता है। अतः तप्यमान सत्त्वगुणप्रधान बुद्धि में जब पुरुष

प्रतिबिम्बित होता है, तब वह बुद्धिसत्त्व के समान आकार वाला हो जाता है, किन्तु (परमार्थतः) वह स्वयं दुःखी नहीं होता है। केवल मूढ पुरुष अपने को अनुतप्त सा समझते हैं। अपने आकार को प्रतिबिम्बित करने के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से बुद्धिसत्त्व अपरिणामी पुरुष में अपने विषय को समर्पित नहीं कर सकता है। यही तथ्य **'वृत्तिसारूप्यमितरत्र'** १/४ सूत्र में भी प्रतिपादित हुआ है। अतः **'प्रतिबिम्बरूप भोगाख्यसम्बन्ध'** के द्वारा विद्वानों को भी होने वाला दुःख **'हेय'** है। अतः विद्वानों के लिये भी दुःखनिवृत्ति अपुरुषार्थरूप नहीं है। यह दोष तो अपने को आधुनिक वेदान्ती कहने वाले उन लोगों के मत में आता है जो पुरुष में प्रतिबिम्बरूपेण सुख-दुःख का भोक्तृत्वभाव स्वीकार नहीं करते हैं॥१७॥

सम्प्रति, **'संयोग'** के एक सम्बन्धी **'दृश्य'** को बताया जा रहा है—

व्यासभाष्यम्

दृश्यस्वरूपमुच्यते—

सूत्रकार 'दृश्य' का स्वरूप सूत्रित करते हैं—

योगसूत्रम्

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥१८॥

प्रकाश-क्रिया-स्थिति-स्वभाव वाला, भूतेन्द्रियात्मक तथा भोगापवर्ग प्रयोजन वाला 'दृश्य' (गुणत्रय) है॥१८॥

व्यासभाष्यम्

प्रकाशशीलं सत्त्वम्। क्रियाशीलं रजः। स्थितिशीलं तम इति। एते गुणाः परस्परोपरक्तप्रविभागाः परिणामिनः[1] संयोग[2]विभागधर्माण इतरेतरोपाश्रयेणोपार्जितमूर्तयः परस्पराङ्गाङ्गित्वेऽ[3]प्यसंभिन्नशक्तिप्रविभागास्तुल्यजातीयातुल्यजातीयशक्तिभेदानुपातिनः प्रधानवेलायामुपदर्शित[4]संनिधाना गुणत्वेऽपि च व्यापारमात्रेण प्रधाना[5]न्तर्णीतानुमितास्तिताः पुरुषार्थकर्तव्यतया प्रयुक्तसामर्थ्याः

---

1. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न म – परिणामिनः उपलभ्यते, घ प फ ब भ य र – परिणामिनः नोपलभ्यते।
2. क ख ग च छ ज झ त थ ध न ब भ म – वियोग०, घ द प फ म र – विभाग०।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब म य र – अपि उपलभ्यते, भ – अपि नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ त त द ध प फ ब भ म य र – सन्निधाना गुणत्वे, न – सन्निधानानुगुणत्वे।
5. क ख ग घ च छ त थ द ध न प फ ब भ म य र – अन्तर्णीत०, ज झ – अन्तर्णीतेन।

संनिधिमात्रोपकारिणोऽयस्कान्तमणिकल्पाः प्रत्ययमन्तरेणैकतमस्य वृत्तिमनुवर्तमानाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति। एतद् दृश्यमित्युच्यते। तदेतद् [1]दृश्यं भूतेन्द्रियात्मकं भूतभावेन पृथिव्यादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमते[2], [3]तथेन्द्रियभावेन श्रोत्रादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमत इति। तत्तु नाप्रयोजनम[4]पि तु प्रयोजनमुररीकृत्य प्रवर्तत इति भोगापवर्गार्थं हि तद् दृश्यं पुरुषस्येति। तत्रेष्टानिष्टगुणस्वरूपावधारणमविभागापन्नं भोगः, भोक्तुः स्वरूपावधारणमपवर्ग इति। द्वयोरतिरिक्तमन्यद्दर्शनं नास्ति। तथा चोक्तम्—अयं तु खलु[5] त्रिषु गुणेषु कर्तृष्वकर्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे [6]तत्क्रियासाक्षिण्यु[7]पनीयमानान्सर्वभावानुपपन्नाननुपश्यन् न दर्शनमन्यच्छङ्कते इति। तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्तमानौ कथं पुरुषे व्यपदिश्येते इति? यथा च[8] जयः[9] पराजयो वा योद्‌धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते, स[10] हि तत्फलस्य भोक्तेति एवं बन्धमोक्षौ बुद्धावेव वर्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति। बुद्धेरेव पुरुषार्थापरिसमाप्तिर्बन्धस्तदर्थावसायो मोक्ष इति। एतेन ग्रहणधारणोहापोहतत्त्वज्ञानाभिनिवेशा बुद्धौ वर्तमानाः पुरुषेऽध्यारोपितसद्भावाः, स हि तत्फलस्य भोक्तेति॥१८॥

सत्त्वगुण प्रकाशस्वभाव वाला है। रजोगुण क्रियास्वभाव वाला है तथा तमोगुण स्थितिस्वभाव वाला है। परस्पर भिन्न किन्तु एक-दूसरे से मिले हुए अंशों वाले, (पुरुष के साथ) संयोग एवं विभाग धर्म वाले, एक-दूसरे के सहारे से (पृथिव्यादि) शरीर धारण करने वाले, परस्पर अङ्गाङ्गिभाव होने पर भी अलग-अलग शक्ति वाले, समानजातीय और असमानजातीय शक्ति अर्थात् कार्यभेद से अनुबन्धित, (अपने-अपने) प्राधान्यकाल में अपने

---

1. घ फ र – दृश्यम् उपलभ्यते, क ख ग च छ ज झ त थ द ध न प ब भ म य – दृश्यं नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ य र – परिणमते, म – परिणते।
3. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म प र – तथा, झ त – यथा।
4. क ख ग घ च ज झ द ध न प फ ब भ म य र – अपि तु प्रयोजनम् उपलभ्यते, छ त थ – अपि तु प्रयोजनं नोपलभ्यते।
5. छ थ – विशेषाविशेषलिङ्गमात्रेषु (खलु पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – विशेषाविशेषलिङ्गमात्रेषु नोपलभ्यते।
6. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न प फ ब भ म य र–त्तत्, त–त्तान्।
7. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र–उपनीय, द–अपनीय।
8. क ग च छ ज झ त थ द ध न प भ म य–च उपलभ्यते, ख घ फ ब र–च नोपलभ्यते।
9. क ग च छ ज झ त थ द ध न भ म य–जयः, ख घ प फ व र–विजयः।
10. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र– सः, द– सा (उभयत्र)।

अस्तित्व को अभिव्यक्त करने वाले, गौण होने पर भी सहकारिता रूप कार्यमात्र से अनुमित, प्रधानगुण में अन्तर्भावित सत्ता वाले, पुरुषार्थरूप कर्तव्य के हेतु प्रयुक्त सामर्थ्य वाले, सान्निध्यमात्र से अयस्कान्तमणि के समान उपकार करने वाले, अभिव्यक्ति के अतिरिक्त काल में किसी एक की वृत्ति का अनुसरण करने वाले ये तीनों गुण 'प्रधान' शब्द से अभिहित होते हैं। यह त्रिगुणात्मक 'प्रधान' 'दृश्य' पद द्वारा जाना जाता है। वह यह दृश्यरूप त्रिगुण भूतस्वरूप तथा इन्द्रियस्वरूप है। यह त्रिगुणात्मक प्रधान सूक्ष्म तथा स्थूल पृथिव्यादि भूतरूप से परिणत होता है और सूक्ष्म स्थूल श्रोत्रादि इन्द्रियरूप से परिणत होता है। यह जो प्रकृति; भूतेन्द्रियादि दृश्यरूप से परिणमित होती है, वह निष्प्रयोजन नहीं है, अपितु प्रयोजनवश ही परिणमित होती है। इसलिये यह 'दृश्य' पुरुष के भोगापवर्ग के लिये प्रवृत्त होता है। इनमें से प्रिय और अप्रिय गुणों के स्वरूप का अविभक्त रूप से अनुभव 'भोग' है और भोक्ता के स्वरूप का अनुभव 'अपवर्ग' है। इन दोनों से भिन्न कोई अन्य ज्ञान नहीं होता है। ऐसा ही कहा गया है—'कर्तृभूत इन तीनों गुणों में तथा समान एवं असमान प्रकार के उन गुणों की क्रियां के साक्षीभूत, (तीन गुणों की अपेक्षा से) चौथे एवं अकर्त्ता पुरुष में (त्रिगुणों के द्वारा) समर्पित किये जाते हुए सभी (सुख-दुःखादि) भावों को ठीक समझता हुआ यह अवेवेकी मनुष्य अन्य प्रकार के ज्ञान की शंका भी नहीं करता है।'. बुद्धि के द्वारा किये गये ये 'भोग' और 'अपवर्ग' बुद्धि में ही वर्तमान रहें, भला पुरुष में क्यों आरोपित किये जाते हैं? जैसे जय और पराजय योद्धाओं में वर्तमान होने पर भी राजा में आरोपित की जाती है और वह राजा उस फल का भोक्ता कहा जाता है। वैसे ही बन्ध-मोक्ष बुद्धि में ही रहते हुए भी पुरुष के कहे जाते हैं और वह पुरुष उस फल का भोक्ता कहा जाता है। बुद्धि के पुरुषार्थरूप प्रयोजन का पूरा न होना 'बन्ध' और पुरुषार्थ का पूरा होना 'मोक्ष' है। इस प्रक्रिया से ग्रहण, धारण, ऊहापोह, तत्त्वज्ञान और अभिनिवेश भी बुद्धि में रहते हुए पुरुष में आरोपित होते हैं और वह पुरुष उन फलों का भोक्ता कहा जाता है॥१८॥

'दृग्दर्शनशक्त्योः'...सूत्र से दो शक्तियों के संयोग को **'संसारहेतु'** कहा गया। वे दो शक्तियाँ हैं—दृक्शक्ति एवं दर्शनशक्ति। ये दो शक्तियाँ, जो मिलकर पुरोदृश्यमान जगत् का कारण बनती हैं, का अपना-अपना मौलिक स्वरूप क्या है—यह जिज्ञासा का विषय है। तदर्थ सूत्रकार ने आगामी सूत्रों का निर्माण किया है। उसमें भी

२/१७ सूत्र में निर्दिष्ट शक्तिक्रम में व्यतिक्रम करके सूत्रकार 'दर्शन' पदवाच्य 'दृश्य' के स्वरूप को प्रथमतः सूत्रांकित करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

[1]**दृश्यं व्याचष्टे–प्रकाशेत्यादि दृश्यम् इत्यन्तेन सूत्रेण। व्याचष्टे–प्रकाशेति। सत्त्वस्य हि भागः प्रकाशस्तामसेन भागेन दैन्येन वा राजसेन वा दुःखेनानुरज्यते। एवं राजसादिष्वपि द्रष्टव्यम्। तदिदमुक्तम्–परस्परोपरक्तविभागा इति। पुरुषेण सह संयोगविभागधर्माणः। यथाम्नायते–**

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥ इति।

सूत्रकार 'प्रकाश' से लेकर 'दृश्यम्' पर्यन्त सूत्र के द्वारा 'दृश्य' के स्वरूप को बतलाते हैं। भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं–'प्रकाशेति' सत्त्वगुण का भाग (कार्य) जो 'प्रकाश' है, वह तामसभाग 'दैन्य' तथा राजसभाग 'दुःख' से संयुक्त (अनुविद्ध) रहता है। अन्य गुणों की यह अनुविद्धता रजोगुणादि में भी चरितार्थ होती है। अर्थात् रजोगुण का भाग (कार्य) जो 'दुःख' (प्रवृत्ति) है वह सात्त्विक भाग 'प्रकाश' एवं तामस भाग 'दैन्य' से युक्त है। तथा तमोगुण का भाग (कार्य) जो 'दैन्य' (नियमन, आवरण) है, वह सात्त्विक भाग 'प्रकाश' एवं राजस भाग 'दुःख' से युक्त है। इसलिये भाष्यकार ने कहा है–'परस्परोपरक्तप्रविभागा इति' ये गुण पुरुष के साथ 'संयोग-वियोग धर्म' वाले हैं (अर्थात् अज्ञ से संयुक्त और विज्ञ से वियुक्त रहते हैं)। जैसा कि श्रुति में कहा है–'अजामेकां...भुक्तभोगामजोऽन्यः' अर्थात् 'अपने अनुरूप बहुत सी प्रजा उत्पन्न करने वाली, लोहित, शुक्ल तथा कृष्ण-वर्णा अजा (प्रकृति= गुण) को एक अज (जीव) सेवन करता हुआ भोगता है तथा दूसरा अज उस भुक्त भोग को त्याग देता है।'

बालप्रिया–

'**अजामेकां...भुक्तभोगामजोऽन्यः**'–श्रुति का स्पष्ट अर्थ इस प्रकार है–'**एक अज**' अर्थात् बुद्धिसत्त्व से पृथक् अपने स्वरूप को न जानता हुआ पुरुष–'**लोहितशुक्ल-कृष्ण**' अर्थात् गुणत्रयात्मिका, '**सरूप**' अर्थात् सुखदुःखमोहात्मिका बहुविध प्रजा को प्रादुर्भूत करने वाली, **एकात्मिका** (एक) प्रकृति का सेवन (जुषमाण) करता हुआ अर्थात् अविद्यात्मिका बुद्धिवृत्ति से बुद्धिस्थ सुखादियों को आत्मस्थ मानता हुआ मैं सुखी दुःखी अथवा मूढ हूँ, इस प्रकार–संसरण करता है। किन्तु '**अन्य**' अर्थात् सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमान् पुरुष इस '**भुक्तभोग**' अर्थात् सम्पादित (कृत) भोगापवर्ग

---

1. क ख ग थ द ध–दृश्यं व्याचष्टे प्रकाशेत्यादि दृश्यम् इत्यन्तेन सूत्रेण, घ च छ ज झ त न–प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्। व्याचष्टे–

प्रकृति को जड़ करके छोड़ देता है।' प्रस्तावित श्रुति की प्रथम पंक्ति द्वारा गुणों का पुरुष के साथ **'संयोगधर्म'** तथा द्वितीय पंक्ति द्वारा गुणों का **'विभागधर्म'** इंगित किया गया है।

गुणों का स्वरूप बतलाते हुए आगे कहा जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

इतरेतरोपाश्रयेणोपार्जिता मूर्तिः पृथिव्यादिरूपा यैस्ते तथोक्ताः। स्यादेतत्–सत्त्वेन शान्त-प्रत्यये जनयितव्ये रजस्तमसोरपि सत्त्वाङ्गत्वेन तत्र हेतुभावादस्ति सामर्थ्यमिति, यदापि च रजस्तमसोरङ्गित्वं तदापि शान्त एव प्रत्यय उदीयेत न घोरो [1]नापि मूढो वा सत्त्वप्राधान्य इवेत्यत आह–परस्पराङ्गाङ्गित्वेऽप्यसंभिन्नशक्तिप्रविभागा इति। भवतु शान्ते प्रत्यये जनयितव्ये रजस्तमसोरङ्गभावः। तथापि नैषां शक्तयः संकीर्यन्ते। कार्यासंकरोन्नेयो हि शक्तीनामसंकरः। असंकीर्णेन च समुदाचरता रूपेण शान्तघोरमूढरूपाणि कार्याणि दृश्यन्त इति सिद्धं शक्तीनामसंभेद इति।

ये गुण परस्पर एक-दूसरे की सहायता से पृथिव्यादिरूप **'मूर्त्ति'** अर्थात् आकार को धारण करने वाले हैं।

शङ्का–सत्त्वगुण से शान्तप्रत्यय की उत्पत्ति के समय सत्त्वगुण के अङ्ग (सहायक) रूप से रजोगुण एवं तमोगुण का भी सात्त्विक 'शान्त' कार्योत्पत्ति के प्रति हेतुभाव से सामर्थ्य अर्थात् कारणत्व है–इसलिये जब रजोगुण एवं तमोगुण का अङ्गिकाल (प्राधान्यकाल) समुपस्थित होता है उस समय भी वे सत्त्वप्राधान्य के समान 'शान्त' प्रत्यय की ही उत्पत्ति करें, न कि घोर अथवा मूढ प्रत्यय की?

समाधान–इस पर भाष्यकार का वक्तव्य है–**'परस्पराङ्गाङ्गित्वेऽप्यसंभिन्नशक्तिप्रविभागा इति।'** यह सत्य है कि (अङ्गिरूप सत्त्वगुण के द्वारा) 'शान्त' प्रत्यय की उत्पत्ति के समय रजोगुण एवं तमोगुण का अङ्गत्व रहता है, तथापि इन गुणों की तत्तत् शक्तियों में संकरता अर्थात् मिश्रणता नहीं आने पाती है। (गुणगत शक्तियों की असंकीर्णता को तत्त्ववैशारदीकार स्थूलकार्यगत असंकीर्णता से स्पष्ट करते हैं)– सत्त्वादि गुणों के 'शान्त', 'घोर' तथा 'मूढ' रूप कार्यों में असम्मिश्रणता के कारण गुणगत शक्तियों का असंकरत्व स्वतः सिद्ध है। दूसरी ओर शक्तियों में सांकर्य न होने से इन गुणगत शक्तियों का अपनी-अपनी उदारावस्था के रूप से अर्थात् विकासोन्मुखी अवस्था के रूप से शान्त, घोर तथा मूढरूप कार्य दृष्टिगत होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि गुणगत शक्तियों का असंभेद (असंकीर्णत्व) बना रहता है।

---

1. थ द ध–नापि उपलभ्यते, क,ख ग घ च छ ज झ त न–नापि नोपलभ्यते।

बालप्रिया–

'कार्यासङ्करोन्नेयो हि शक्तीनामसङ्करः'– सत्त्वगुण की सात्त्विक **'प्रकाशवृत्ति'** के समय **'प्रवृत्ति'** तथा **'नियमन'** रूप वृत्तियाँ नहीं देखी जाती हैं। इसी भाँति रजोगुण की राजस **'प्रवृत्तिवृत्ति'** के समय तदितर गुणों का व्यापार नहीं होता है। इसी प्रकार तमोगुण की तामस **'नियमनवृत्ति'** के समय में भी अन्य गुणों के व्यापार तामस व्यापार को गौण बनाकर उसे संकरित नहीं करते हैं। इस प्रकार अङ्गाङ्गिभावकाल में इन गुणों की कार्यजननशक्तियाँ पृथक्-पृथक् ही रहती हैं। अतः इन गुणों के तत्तद् व्यापारों (कार्यों) में संकरता अर्थात् मिश्रणता का प्रश्न ही नहीं उठता है।

गुणों का अगला स्वरूप है–**'संभूयकार्यकारित्व'** पूर्वपक्षी को गुणों के **'शक्त्यसंभेदत्व'** रूप के साथ उनका **'संभूयकार्यकारित्व'** रूप असंगत प्रतीत होता है। अतः प्रतीयमान असंगति को उठाकर उसका खण्डन किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्–असंभेदश्चेच्छक्तीनां न [1]संभूयकारित्वं गुणानाम्। न जातु भिन्नशक्तीनां संभूयकार्यकारित्वं दृष्टम्। न हि तन्तुमृत्पिण्डवीरणादीनि घटादीन्संभूय [2]कुर्वन्ति इत्यत आह– तुल्यजातीयातुल्यजातीयशक्तिभेदानुपातिन इति। यद्यपि तुल्यजातीय उपादानशक्तिर्नान्यत्र, सहकारिशक्तिस्त्वतुल्यजातीये। घटे तु जनयितव्ये न वीरणानामस्ति सहकारिशक्तिरपीति न तैस्तन्तूनां संभूयकारितेति भावः। तुल्यजातीयातुल्यजातीयेषु शक्येषु ये शक्तिभेदास्ताननुपतितुं शीलं येषां ते तथोक्ताः।

शङ्का–ठीक है, सत्त्वादि गुणों की शक्तियों का **'असंभेद'** स्वीकार किया जाय (अर्थात् सत्त्वादि गुणों की असंभिन्न स्वभाव वाली पृथक्-पृथक् शक्तियों को माना जाय), किन्तु गुणों का **'संभूयकारित्व'** रूप स्वीकार नहीं किया जा सकता है (अर्थात् संभिन्न सत्त्वादि गुण परस्पर मिलकर प्रकाशादि कार्य करते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता है)। क्योंकि कभी भी भिन्न-भिन्न शक्ति वाले पदार्थों का मिलकर कार्य करना दृष्टिपथ में नहीं आता है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न स्वरूप वाले तन्तु, मृत्पिण्ड तथा कटोपादानभूत तृणविशेष (वीरण) मिलकर घटादि कार्य नहीं करते हैं।

समाधान–उक्त शंका-समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं–**'तुल्यजातीयाऽतुल्यजातीयशक्तिभेदानुपातिन इति'** यद्यपि घटादि कार्य के **'तुल्यजातीय'** अर्थात् समानजातीय मृत्तिकादि में ही उपादानशक्ति (उपादानकारणता) निहित रहती है न कि **'अतुल्यजातीय'**

---

1. क ख ग ग च च ज झ त न–संभूयकारित्वं, थ द ध–संभूयकार्यकारित्वम्।
2. क ग घ च छ ज झ त द–कुर्वत, ख थ ध न–कुवन्ति।

अर्थात् भिन्नजातीय तन्त्वादि में, तथापि अतुल्यजातीयों में सहकारिकारणता निहित है (अर्थात् अतुल्यजातीय दण्ड, चक्र, सलिलादि भी घटादि कार्य के प्रति सहकारिकारण अर्थात् निमित्तकारण होते हैं। घट को उत्पन्न करने में कटोपादानभूत तृणविशेषों में न तो सहकारिशक्ति निहित है और न तृणविशेषों के साथ तन्तुओं की संभूय- कारिता। अर्थात् तृणविशेषों के साथ मिलकर तन्तुओं का कार्य करना नहीं देखा जाता है। अतः तुल्यजातीय तथा अतुल्यजातीयरूप शक्यों में जो शक्तिभेद निहित है उनके स्वभाव का अनुगमन करने वाले ये गुण हैं।

बालप्रिया–

'यद्यपि तुल्यजातीय उपादानशक्तिर्नान्यत्र, सहकारि...' अभिप्राय यह है–प्रकाशाभिव्यक्तिकाल में सत्त्वगुण **'तुल्यजातीय'** तथा अन्य दो गुण **'अतुल्यजातीय'** होते हैं। प्रवृत्त्यभिव्यक्तिकाल में रजोगुण तथा नियमनाभिव्यक्तिकाल में तमोगुण **'तुल्यजातीय'** होता है तथा **'तुल्यजातीय'** से भिन्न अन्य दो गुणों को **'अतुल्यजातीय'** कहते हैं। इससे यह सिद्धान्तित होता है कि एक कार्य के प्रति एक गुण उपादानकारण तथा अन्य दो गुण सहकारिकारण के रूप से मिलकर कार्य को उत्पन्न (अभिव्यक्त) कर सकते हैं। अतः भिन्न-भिन्न शक्तिविशिष्ट गुणों की **'संभूयकार्यकारित्व'** रूप आन्तरिक व्यवस्था किसी प्रकार व्याहत नहीं होती है। क्योंकि एक कार्य के प्रति तीनों गुणों की एक साथ उपादानता मानने में बाधा उपस्थित हो सकती है, किन्तु एक गुण की उपादानता के साथ अन्य दो गुणों का सहकारिकारणत्वरूप गठबन्धन मानने में कैसा गतिरोध?

तत्तद् गुणों की **'प्रधानवेला'** को सुस्पष्ट करने के लिये आगे विचार किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

प्रधानवेलायामिति। दिव्यशरीरे जनयितव्ये सत्त्वं गुणः प्रधानम्। अङ्गे रजस्तमसी। एवं मनुष्यशरीरे जनयितव्ये रजः प्रधानमङ्गे सत्त्वतमसी। एवं तिर्यक्शरीरे जनयितव्ये तमः प्रधानमङ्गे सत्त्वरजसी। तेनैते गुणाः प्रधानत्ववेलायामुपदर्शितसंनिधानाः कार्योपजननं प्रत्युद्भूतवृत्तय इत्यर्थः। प्रधानशब्दश्च भावप्रधानः। यथा द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने इत्यत्र द्वित्वैकत्वयोरिति। अन्यथा द्व्येकेष्विति स्यात्।

भाष्यकार बतलाते हैं–**'प्रधानवेलायामिति'** दिव्य देह को उत्पन्न करने में सत्त्वगुण प्रधान (अङ्गी) होता है एवं रजोगुण तथा तमोगुण अप्रधान (अङ्गरूप) होते हैं। मानुष देह को उत्पन्न करने में रजोगुण प्रधान तथा सत्त्वगुण एवं तमोगुण अप्रधान होते हैं। इसी प्रकार तिर्यग्देह (सर्पादिशरीर) को उत्पन्न करने में तमोगुण प्रधान तथा अन्य दो गुण सत्त्व तथा रजस् अप्रधान रहते हैं। इस पद्धति से ये गुण

अपने-अपने प्राधान्यकाल में 'उपदर्शितसन्निधान' अर्थात् स्व-स्व कार्योत्पत्ति के प्रति 'उद्भूतवृत्ति' अर्थात् अभिव्यक्त व्यापार वाले होते हैं। यहाँ 'प्रधानवेलायाम्' में प्रयुक्त 'प्रधान' शब्द के व्याकरणिक प्रयोग को स्पष्ट करते हुए तत्त्ववैशारदीकार का वक्तव्य है—'प्रधान' शब्द में 'भावप्रधान' निर्देश है अर्थात् 'प्रधान' शब्द से 'प्रधानत्व' का ग्रहण होता है। जैसे पाणिनि के 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' (१/४/२२) सूत्र में 'द्वि' और 'एक' का अर्थ क्रमशः 'द्वित्व' तथा 'एकत्व' है। और इस प्रकार द्वि एवं एक का भावप्रधान अर्थ मानने पर ही 'द्व्येकयोः' में द्विवचन का प्रयोग हुआ है। अन्यथा ('द्वि' और 'एक' शब्दों के अर्थ में बहुत्व=त्रित्व आने पर 'बहुषु बहुवचनम्' (१/४/२१) सूत्र के अनुसार) 'द्व्येकेषु' ऐसा बहुवचनान्त प्रयोग ही होता।

बालप्रिया—

'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने'—पाणिनि के इस सूत्र में 'द्वि' शब्द पर्याप्तिसम्बन्ध से द्वित्वसंख्याविशिष्ट पदार्थद्व्यार्थत्व का बोधक है तथा 'एक' शब्द एकत्वविशिष्ट पदार्थ का परिचायक है। ऐसा न मानने पर वचन की दृष्टि से 'द्व्येकेषु' ऐसा बहुवचनान्त प्रयोग होना चाहिये था। जब कि सूत्र में 'भावप्रधाननिर्देश' की दृष्टि से द्विवचन का प्रयोग किया गया है। भावप्रधाननिर्देश के अनुसार 'द्वित्व' और 'एकत्व' मिलकर पदार्थद्वय को ही बतलाते हैं। इस दृष्टि से 'द्व्येकयोः' में द्विवचन का प्रयोग हुआ है। 'द्वित्व' और 'एकत्व' ऐसे दो पदार्थों के उपचार से प्रकृत में एक प्रधान गुण में प्रधान गुणान्तर का अभाव रहता है—यह सिद्धान्त भी सुस्थिर हो जाता है।

उद्भूत प्रधान गुण से भिन्न अनुद्भूत अप्रधान गुण की सत्ता के विषय में पूर्वपक्षी को सन्देह होता है, इसी सन्देह का निराकरण किया जा रहा है—

तत्त्ववैशारदी

ननु तदा प्रधानमुद्भूततया शक्यमस्तीति वक्तुम्। अनुद्भूतानां तु तदङ्गानां सद्भावे किं प्रमाणमित्यत आह—गुणत्वेऽपि चेति। यद्यपि नोद्भूतास्तथापि गुणानामविवेकित्वात्संभूयकारित्वाच्च व्यापारमात्रेण सहकारितया प्रधानेऽन्तर्णीतं सदनुमितमस्तित्वं येषां ते तथोक्ताः।

शङ्का—कार्योत्पत्ति के समय सत्त्वादि गुणों में से किसी एक प्रधान गुण को उद्भूत रूप से निर्दिष्ट करना तो सम्भव है, किन्तु प्रधानगुण के अङ्गभूत अनुद्भूत अन्य दो गुणों के सद्भाव (अस्तित्व) में क्या प्रमाण है? अर्थात् प्रमाणाभाव से अनुद्भूत गुणों को अङ्गीकृत नहीं किया जा सकता है।

समाधान—उक्त शंका-समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं—'गुणत्वेऽपि चेति।' यद्यपि एक प्रधान गुण की उद्भूतावस्था में अङ्गभूत अन्य दो गुण 'अनुद्भूत' अर्थात् उद्भूतावस्था वाले नहीं होते हैं, तथापि गुणों के 'अविवेकित्वादि' धर्म वाले तथा 'संभूयकार्यशीलत्व'

अर्थात् मिलकर कार्य करने वाले होने से अपने अप्रधान अर्थात् गौणकाल में अपनी परिणमनक्रियारूप सहकारिकारणता के रूप से प्रधान गुण में अन्तर्निहित होकर अनुमित अस्तित्व वाले होते हैं।

बालप्रिया–

'अविवेकित्वात्'–गुणों के अविवेकित्वादि सामान्य धर्मों के अवबोधार्थ सांख्यकारिका में व्यक्ताव्यक्तज्ञ के साधर्म्य-वैधर्म्य के प्रतिपादनार्थ लिखीं गईं निम्नाङ्कित कारिकाएँ (१०,११) अवलोकनीय हैं–

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्। सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनम्प्रसवधर्मि। व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥

सम्प्रति, गुण (तत्तत् पुरुषीय बुद्ध्यादि करण) किस प्रयोजन से व्यापाररत रहते हैं–इस शंका को उठाकर उसका समाधान करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–

तत्त्ववैशारदी

ननु सन्तु गुणाः संभूयकारिणः समर्थाः, कस्मात् तत् पुनः कुर्वन्ति। न हि समर्थमित्येव कार्यं जनयति। मा भूदस्य कार्योपजननं प्रति विराम इत्यत आह–पुरुषार्थकर्तव्यतयेति। ततो निर्वर्तितनिखिलपुरुषार्थानां गुणानामुपरमः कार्यानारम्भणमित्युक्तं भवति।

शङ्का–ठीक है, भले ही गुण मिलकर कार्य करने में समर्थ हों, किन्तु किस प्रयोजन से वे कार्यारम्भ करते हैं? कार्यसम्पादन की शक्तिसम्पन्नता से समर्थ गुण यों ही शान्तादि कार्य को करते हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता है और फिर गुणों के (महदादि) कार्य का विराम भी क्यों हो? अर्थात् कार्योपजनन के प्रति गुण विराम (निर्व्यापार) को प्राप्त नहीं हो सकते हैं?

समाधान–शंका का निराकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं–'पुरुषार्थकर्तव्यतयेति।' अर्थात् ये त्रिगुण विना किसी अन्य हेतु के एकमात्र पुरुषार्थकर्तव्यता के कारण ही सामर्थ्ययुक्त होते हैं। (गुण अपने लिये नहीं, प्रत्युत पुरुष के लिये कार्य करते हैं–इससे समर्थ होते हुए भी गुण विना प्रयोजन के कार्यारम्भ क्यों करते हैं? यह शंका निरस्त हो जाती है)। (गुणों का विराम क्यों होता है?–इस शंका का उत्तर तत्त्ववैशारदीकार देते हैं)–सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप पुरुषार्थ-सम्पादन के अनन्तर निष्पादित समस्त पुरुषार्थ वाले गुणों का उपरम हो जाता है अर्थात् उस विवेकख्यातियुक्त पुरुष के प्रति कृतकृत्य गुण महदादि कार्य का आरम्भ नहीं करते हैं।

पूर्वपक्षी को गुणों की पुरुषार्थप्रयुक्त कार्योपजननता तो समझ में आ गई, किन्तु गुणों का व्यापार स्वभिन्न जिस पुरुष के उद्देश्य की पूर्तिहेतु होता है, यह समझ में नहीं आ रहा है–इसी पूर्वपक्ष को उठाकर उसका समाधानपक्ष प्रस्तुत है–

तत्त्ववैशारदी

ननु पुरुषस्यानुपकुर्वतः कथं पुरुषार्थेन प्रयुज्यत इत्यत आह–सन्निधिमात्रेति।

शङ्का–अनुपकारी अर्थात् उदासीन पुरुष के प्रति गुण कैसे पुरुषार्थ रूप से प्रवृत्त हो सकते हैं?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–**'संनिधिमात्रेति'** सन्निधिमात्रोपकार से प्रकृति अयस्कान्तमणि के समान पुरुष का उपकार करती है। (जैसे चुम्बक के सन्निधान से लोह में स्पन्दनक्रिया आ जाती है और इस प्रकार चुम्बक लोह का उपकार करता है। वैसे ही अतिव्यापक तत्त्व पुरुष के सामीप्यमात्र से जड़ प्रकृति (गुण) चैतन्यवती सी हो जाती है। अतः पुरुष से चेतनत्वरूप उपकार पाकर वह पुरुष के पुरुषार्थ के लिये प्रवृत्त होती है। इस प्रकार पुरुष-प्रयोजनार्थ गुणों की कार्योपजननता उपपन्न हो जाती है)।

पूर्वपक्षी की दृष्टि में गुणों की प्रवृत्ति का अन्य कारण है। वह कौन सा अन्य कारण है? उसे प्रस्तुत करते हुए उसका खण्डन किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

ननु धर्माधर्मलक्षणमेव निमित्तं प्रयोजकं गुणानाम्, [1]तत्किमुच्यते पुरुषार्थप्रयुक्ता इत्यत आह–प्रत्ययमन्तरेणेति। एकतमस्य सत्त्वस्य रजसस्तमसो वा प्रधानस्य स्वकार्ये प्रवृत्तस्य वृत्तिमितरे प्रत्ययं निमित्तं धर्मादिकं विनैवानुवर्तमानाः। यथा च वक्ष्यति–निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् इति।

शङ्का–धर्माधर्मरूप निमित्तकारण ही गुणों की प्रवृत्ति का प्रयोजक है, अतः यहाँ गुणों की पुरुषार्थप्रयुक्त प्रवृत्ति क्यों कही जा रही है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–**'प्रत्ययमन्तरेणेति'** अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त सत्त्वादियों में से किसी एक प्रमुखताप्राप्त गुण की वृत्ति अर्थात् व्यापार का अनुसरण, धर्मादि निमित्त के विना ही, उपसर्जनीभूत अन्य दो गुण करते हैं। जैसा कि आगे कहा जायेगा–**निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्'** (४/३)।

बालप्रिया–

'धर्मादिकं विनैव'–तात्पर्य यह है–धर्मादि निमित्त प्रकृति की प्रवृत्ति में प्रयोजक नहीं हैं, वे अपने प्रतिबन्धक का अपसारण मात्र करते हैं। अर्थात् धर्माधर्म, अपने विरुद्ध धर्मान्तररूप आवरण के भङ्ग अर्थात् नाश द्वारा, उद्बोधक ही होते हैं, न कि प्रयोजक। जैसे जलाप्लावित एक क्यारी से दूसरी क्यारी में जल को पहुँचाने की इंच्छा से कृषीवल हाथ से ही जल को स्थानान्तरित नहीं करता है अपितु जल-

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न–तत् उपलभ्यते, थ द ध–तत् नोपलभ्यते।

प्रवाह के गतिरोधक आलवाल (मेड़) को ही छिन्न-भिन्न करता है। आलवाल के टूटते (सछिद्र होते) ही जल स्वयं ही दूसरी क्यारी में पहुँच जाता है।

तत्त्ववैशारदीकार सूत्र के **'प्रकाशक्रियास्थितिशीलं'** पद के व्याख्यानरूप **'एते गुणाः'** से लेकर **'भवन्ति'** तक वैयासिक वाक्य का अन्वय करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

एते गुणाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्तीति संबन्धः। प्रधीयते [1]विधीयते विश्वं कार्यमेभिरिति व्युत्पत्त्यैतद् दृश्यमुच्यते।

(वाक्य के प्रारम्भ में प्रयुक्त) **'एते गुणाः'** पद का अन्वय वाक्य के अन्तिम अंश **'प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति'** के साथ किया जाता है। **'प्रधीयते विधीयते विश्वं कार्यमेभिः'** व्युत्पत्ति के अनुसार इन गुणों के द्वारा जगद्रूप कार्य का निर्माण (आविर्भाव) होता है, इसलिये गुणों को **'प्रधान'** शब्द से अभिहित किया जाता है। किञ्च इसी त्रिगुणात्मक प्रधान को **'दृश्य'** कहते हैं।

सम्प्रति, सूत्र के द्वितीय अंश **'भूतेन्द्रियात्मकम्'** की व्याख्या की जा रही है–

तत्त्ववैशारदी

तदेवं गुणानां शीलमभिधाय तस्य कार्यमाह–तदेतदिति। सत्कार्यवादसिद्धौ यद्यदात्मकं तत्तेन रूपेण परिणमत इति भूतेन्द्रियात्मकत्वं दीपयति–भूतभावेनेत्यादिना।

इस प्रकार (शंका-समाधानपूर्वक) गुणों के स्वभाव का अभिधान कर भाष्यकार उसके कार्य को बताते हैं–**'तदेतदिति'** सत्कार्यवाद के अनुसार जो कार्य (**यत्**) जिस कारण के स्वरूप वाला (**यदात्मक**) होता है, वह कार्य (**तत्**) उसी कारण रूप से (**तेन रूपेण**) परिणत होता है। (जैसे कारणात्मक सुवर्ण घट (कार्य) की उत्पत्ति अपने कारणभूत सुवर्ण के अनुरूप होती है, न कि कारण के विपरीत मृन्मयघट के रूप में)। त्रिगुण के कार्य **'भूतेन्द्रियात्मकत्व'** को भाष्यकार प्रदर्शित करते हैं– **'भूतभावेनेत्यादिना'** त्रिगुण **'भूतभाव'** अर्थात् तन्मात्ररूप सूक्ष्म शब्दादि तथा **'महाभूत'** रूप स्थूल आकाशादि रूप से परिणत होता है। इसी प्रकार **'इन्द्रियभाव'** अर्थात् महदहङ्काररूप सूक्ष्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-मनरूप स्थूलेन्द्रियरूप से परिणत होता है।

बालप्रिया–'

भूतभावेन'–भाष्यकार ने **'पृथिव्यादिना'** पद के द्वारा **'भूतभावेन'** पद की व्याख्या की है तथा पृथिव्यादि के अवान्तरभेद को **'सूक्ष्मस्थूलेन'** पद से विवृत किया है। सूक्ष्म

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न–आधीयते, थ द ध–विधीयते।

भूतभाव को **'अविशेष'** और स्थूल भूतभाव को **'विशेष'** भी कहते हैं। शब्दादितन्मात्राएँ **'सूक्ष्म'** तथा आकाशादि भूत **'स्थूल'** पदवाच्य हैं।

'इन्द्रियभावेन'–भाष्यकार ने **'श्रोत्रादिना'** पद के द्वारा **'इन्द्रियभावेन'** पद की व्याख्या की है तथा इन्द्रिय के अवान्तर भेद को **'सूक्ष्मस्थूलेन'** पद के द्वारा विशदीकृत किया है। महत् तथा अहंकार ये दो **'सूक्ष्मेन्द्रिय'** हैं। पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय तथा मन–ये ग्यारह **'स्थूलेन्द्रिय'** हैं।

'भूतेन्द्रियभावेन' (**भूतेन्द्रियात्मकम्**)–इस एक ही पद के द्वारा भाष्यकार ने सृष्टि को तत्त्वों को संगृहीत किया है।

सम्प्रति, सूत्र के अन्तिम चरण 'भोगापवर्गार्थम्' पर विचार करते हुए तत्त्व-वैशारदीकार कहते हैं–

तत्त्ववैशारदी

भोगापवर्गार्थमिति सूत्रावयवमवतारयति–[1]तत्तु नाप्रयोजनमिति।

भाष्यकार (गुणप्रवृत्ति के प्रयोजनरूप) **'भोगापवर्गार्थम्'** इस सूत्रावयव को अवतरित करते हैं–**'तत्तु नाप्रयोजनमिति।'** गुणत्रय निष्प्रयोजन प्रवृत्त नहीं होता है, अपितु प्रयोजन को स्वीकार करके ही गुण भूतेन्द्रियरूप से परिणत होता है। इस प्रकार गुणत्रयरूप **'दृश्य'** भोगापवर्गरूप प्रयोजन वाला है, जो पुरुष के **'भोगापवर्ग'** को निष्पन्न करता है।

सम्प्रति, **'भोग'** का स्वरूप बताया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

भोगं विवृणोति–तत्रेति। सुखदुःखे हि त्रिगुणाया बुद्धेः स्वरूपे, तस्यास्तथात्वेन परिणामात्। तथापि गुणगततया[2]वधारणे न भोग इत्यत आह–अविभागापन्नमिति। एतच्चासकृद्वि[3]वेचितम्।

भाष्यकार भोग का विवरण करते हैं–**'तत्रेति।'** सुख-दुःख त्रिगुणात्मिका बुद्धि का स्वरूप है, क्योंकि बुद्धि का सुख-दुःख रूप से परिणाम होता है, तथापि 'सुख-दुःख गुणनिष्ठ हैं' ऐसा अवधारित होने पर भोग नहीं होता है–ऐसा बतलाने के लिये भाष्यकार कहते हैं–**'अविभागापन्नमिति।'** अर्थात् पुरुष के साथ अविभागापन्न गुणस्वरूपावधारण को ही भोग कहते हैं। यह दार्शनिक पक्ष पीछे कई बार प्रतिपादित हो चुका है।

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न–तत्तु नाप्रयोजनमपि तु प्रयोजनमुररीकृत्य प्रवर्तते, थ द ध–तत्तु नाप्रयोजनमिति।
2. क ख ग थ द ध–अवधारणेन, घ च छ ज झ त न–अवधारणे न।
3. क ख ग घ च छ ज झ त न–विवेचितं, थ द ध–अवेदितम्।

सम्प्रति, 'अपवर्ग' को शब्दों से सीमांकित किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

अपवर्गं विवृणोति–भोक्तुरिति। अपवृज्यतेऽनेनेत्यपवर्गः। प्रयोजनान्तरस्याभावमाह–द्वयोरिति। तथा चोक्तं पञ्चशिखेन–अयं तु खल्विति।

भाष्यकार 'अपवर्ग' का विवरण करते हैं–'भोक्तुरिति।' तत्त्ववैशारदीकार 'अपवर्ग' शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं–'अपवृज्यतेऽनेन इति अपवर्गः' अर्थात् भोग से जो निवृत्ति है, उसे 'अपवर्ग' कहते हैं। अर्थात् भोक्ता को अपने स्वरूप का यथार्थ बोध होना 'अपवर्ग' है। शब्दान्तर में बुद्धिगत सुख-दुःख से अपने को पृथक् जान लेना पुरुष का 'अपवर्ग' है। भोग तथा मोक्ष से अतिरिक्त प्रकृति की प्रवृत्ति का अन्य कोई प्रयोजन नहीं है, इस तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं– 'द्वयोरिति।' पञ्चशिखाचार्य द्वारा भी यही बात कही गई है–'अयं तु खल्विति।' अर्थात् 'तीनों गुणों के कर्त्ता होने पर भी यह अविवेकी 'चतुर्थ' अर्थात् गुणत्रयापेक्ष तुरीय अकर्त्ता साक्षी, अत्रैगुण्यादि के द्वारा गुणविजातीय, अहेतुमत्त्वादि के द्वारा गुणसजातीय पुरुष में बुद्ध्यारूढ सुखादि सभी सांसिद्धिक धर्मों को देखता हुआ त्रिगुण से पृथक् अपने शुद्ध दर्शन (स्वरूप) के विषय में सन्देह नहीं करता है।'

सम्प्रति, भोगापवर्ग' किन्निष्ठ है–इसके व्यावहारिक एवं पारमार्थिक पक्ष को ऊहापोह के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

ननु वस्तुतो भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धिवर्तिनौ च कथं तदकारणे तदनधिकरणे च पुरुषे व्यपदिश्येते इत्यत आह–तावेताविति। भोक्तृत्वं च पुरुषस्योपपादितम्, अग्रे च वक्ष्यते। परमार्थतस्तु बुद्धेरेव पुरुषार्थापरिसमाप्तिर्बन्ध इति।

शङ्का–पूर्ववर्णित भोगापवर्ग बुद्धिजन्य एवं बुद्धि में ही वास्तविक रूप से विद्यमान रहता है तो भोगापवर्ग उसके अकारण एवं अनधिकरणरूप पुरुष में क्यों व्यवहृत होता है। भाव यह है–यदि सुखादि बुद्धिरूप धर्म हैं तो यह दृश्यरूप त्रिगुण पुरुष के भोगापवर्गार्थ है, ऐसा क्यों कहा जाता है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'तावेताविति।' 'पुरुष का भोक्तृत्व' पूर्व प्रतिपादित हो चुका है तथा आगे भी इस तथ्य को स्पष्ट किया जायेगा। (अर्थात् **वृत्तिसारूप्यमितरत्र** १/४ सूत्र में यह विषय उपपादित हुआ है तथा अग्रिम ३/३४ सूत्र में इस पर पुनः चर्चा की जायेगी)। इसका पारमार्थिक पक्ष यह है–'**बुद्धेरेव पुरुषार्थापरिसमाप्तिर्बन्ध इति**।' पुरुषार्थ की असमाप्तिपर्यन्त बुद्धि का व्यापारयुक्त रहना

बुद्धि का 'बन्ध' है और सत्त्वपुरुषान्यताख्याति की उत्पत्ति होने पर उक्त पुरुषार्थ की समाप्ति होना बुद्धि का 'मोक्ष' है।

बालप्रिया–

'पुरुषे व्यपदिश्येते'–पुरुष में भोगादि धर्म औपाधिक ही हैं, न कि पारमार्थिक। इसमें निम्नाङ्कित श्रुतियाँ प्रमाण हैं-

'विज्ञानं यज्ञं तनुते', 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः', 'ध्यायतीव लेलायतीव'।

उक्त विषय को उपसंहृत करते हुए तत्त्ववैशारदीकार आगे कहते हैं–

तत्त्ववैशारदी

एतेन भोगापवर्गयोः पुरुषसंबन्धित्वकथनमार्गेण ग्रहणादयोऽपि पुरुषसंबन्धिनो वेदितव्याः। तत्र स्वरूपमात्रेणार्थज्ञानं ग्रहणम्। तत्र स्मृतिर्धारणम्। तद्गतानां विशेषाणामूहनमूहः। समारोपितानां च युक्त्यापनयोऽपोहः। ताभ्यामेवोहापोहाभ्यां तदवधारणं तत्त्वज्ञानम्। तत्त्वावधारणपूर्वं हानो[1]पादानज्ञानमभिनिवेशः॥१८॥

'भोगापवर्ग' का पुरुष के साथ सम्बन्ध है'–ऐसा कहने से 'ग्रहणादि' भी पुरुष से सम्बन्धित हैं, ऐसा समझना चाहिये! तत्त्ववैशारदीकार 'ग्रहणादि' प्रत्येक पद के अर्थ को स्पष्ट करते हैं–स्वरूपमात्र से पदार्थ का जो ज्ञान होता है, उसे 'ग्रहण' कहते हैं। उक्त अर्थज्ञानविषयक स्मृति को 'धारण' कहते हैं। स्मृत पदार्थगत विशेषों का युक्तिपूर्वक निर्धारण 'ऊह' कहलाता है। समारोपित पदार्थ को युक्तिपूर्वक निरस्त करना 'अपोह' है। उक्त 'ऊह' तथा 'अपोह' द्वारा पदार्थ का यथार्थ ज्ञान होना 'तत्त्वज्ञान' है। पदार्थ के यथार्थज्ञानपूर्वक उसके हानोपादान (त्याग अथवा ग्रहण) का ज्ञान होना 'अभिनिवेश' है। (ये सब ग्रहणादि बुद्धि में ही विद्यमान हैं तथापि पुरुष में आरोपित होते हैं क्योंकि पुरुष बुद्धिगत फल का भोक्ता है)॥१८॥

योगवार्त्तिकम्

इदानीं द्रष्टृदृश्यसंयोगानां त्रयाणामेव स्वरूपं सूत्रकारो वक्ष्यति, तत्र दृश्यरूपप्रतिपादकं सूत्रमवतारयति–दृश्यस्वरूपमुच्यत इति। अत्र पाठक्रमवैपरीत्येनादौ दृश्यकथनस्येदं बीजं दृशिमात्र इत्यागामिसूत्रे मात्रशब्देनाखिलदृश्यभेदतो द्रष्टा प्रतिपादनीयः। तत्र च प्रतियोगिनां दृश्यानां ज्ञानमादावपेक्ष्यत इति। पूर्वसूत्रे च प्राधान्यादादौ द्रष्टुरुपन्यास इति बोध्यम्। प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्। प्रलये प्रकाशादिकार्या-भावाच्छीलपदोपादानम्। प्रकाशो बुद्ध्यादिवृत्तिरूपालोको भौतिकालोकश्च, क्रिया यत्नश्चलनं च, स्थितिः प्रकाशक्रियाभ्यां यथोक्ताभ्यां शून्यत्वं तयोः प्रतिबन्ध इति यावत्, तच्छीलं

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न–उपादानज्ञानं, थ द ध–उपादानम्।

गुणत्रयमिति विशेष्यपदमत्रोत्तरसूत्रे गुणपर्वाणीति विभागवचनाल्लभ्यते, अत एव भाष्यकारैरेते गुणा इति व्याख्यास्यन्ते।

अधुना, सूत्रकार **'द्रष्टा'**, **'दृश्य'** और उनके **'संयोग'** इन तीनों के ही स्वरूप को बतायेंगे। भाष्यकार इनमें से सर्वप्रथम, **'दृश्य'** के स्वरूप के प्रतिपादक सूत्र की उपस्थानिका रचते हैं–**'दृश्यस्वरूपमुच्यत इति।'** यहाँ विगत सूत्र **'द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः'** में निर्दिष्ट द्रष्टा और दृश्य के पाठक्रम के विपरीतक्रम से सर्वप्रथम **'दृश्य'** का स्वरूप प्रतिपादित करने का कारण (प्रयोजन) यह है कि **'द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः'** (२/२०) इस आगामी सूत्र में **'मात्र'** शब्द के प्रयोग द्वारा अखिल **'दृश्य'** से **'द्रष्टा'** का भेद प्रतिपादित करना। अतः 'द्रष्टा' से भिन्न स्वरूप वाले उसके प्रतियोगी **'दृश्य'** का ज्ञान पहले होना अपेक्षित है। (जैसे घटाभाव के ज्ञान से पूर्व घटाभाव के प्रतियोगी घट का ज्ञान आवश्यक है)। किञ्च पूर्व सूत्र में प्रधानता के कारण **'द्रष्टा'** को प्रथमतः उपन्यस्त किया गया है, ऐसा समझना चाहिये। सूत्र है–**'प्रकाशेति।'** प्रलय में प्रकाशादि कार्य का अभाव रहने से (सूत्र में) **'शील'** पद प्रयुक्त हुआ है। (सरलार्थ यह है–यद्यपि प्रलयकाल में प्रकाशादि की कारणभूता बुद्धि का प्रकृति में लय हो जाने से प्रकाशादि क्रिया का अभाव रहता है तथापि सत्कार्यवाद के अनुसार बुद्धि में प्रकाशनादि शक्ति सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहती है। सूत्रकार ने बुद्धिगत इसी स्वाभाविक धर्म के ज्ञापनार्थ **'शील'** शब्द का प्रयोग किया है)। बुद्ध्यादि वृत्तिरूप आलोक तथा भौतिकालोक को **'प्रकाश'** कहते हैं, यत्न तथा चलन को **'क्रिया'** कहते हैं तथा यथोक्त प्रकाशशून्यत्व तथा क्रियाशून्यत्व अर्थात् दोनों स्थितियों के प्रतिबन्धित (अवरुद्ध) होने को **'स्थिति'** कहते हैं। त्रिगुण ही प्रकाश, क्रिया तथा स्थिति स्वभाव वाला है। विशेषणभूत प्रकाशादि का विशेष्यपरक यह **'गुणत्रय'** पद आगामी सूत्र के **'गुणपर्वाणि'** इस गुणविभागप्रतिपादक वचन से प्राप्त होता है। इसीलिये भाष्यकार **'एते गुणाः'** कहकर **'प्रकाशक्रियास्थितिशीलं'** पद की व्याख्या करेंगे।

बालप्रिया–

'गुणत्रयमिति विशेष्यपदमत्रोत्तरसूत्रे गुणपर्वाणि'–सूत्रगत **प्रकाशक्रियास्थितिशीलं** यह विशेषणपद है। इसका विशेष्यभूत पद आगामी **विशेषाविशेषलिङ्गालिङ्गानि गुणपर्वाणि** (२/१९) सूत्र से गृहीत होता है। वक्ष्यमाण सूत्र में गुणत्रय के चार पर्व बताये गये हैं, वे हैं–विशेष, अविशेष, लिङ्ग तथा अलिङ्ग पर्व। अतः योगवार्त्तिककार का वक्तव्य है कि गुणपर्व के रूप से प्राप्त **'गुणत्रयम्'** यह विशेष्यपद है तथा **'प्रकाशक्रियास्थितिशीलम्'** यह विशेषणपद है।

योगवार्त्तिकम्

तादृशेषु गुणेषु प्रमाणमाह–भूतेति। भूतेन्द्रियात्मकं स्थूलसूक्ष्मरूपाणां भूतानां स्थूल-सूक्ष्मरूपाणां चेन्द्रियाणां कारणं तेन महदाद्यखिलकार्यकारणत्वमेव लब्धम्। तच्च गुणेषु। तेषां प्रकाशादि[1]रूपतायां च प्रमाणं त्रिगुणात्मकानां च जडकार्याणां त्रिगुणात्मकजडकारणं विनाऽनुपपत्तेरिति। गुणानां कार्यमुक्त्वा स्वरूपसत्ताप्रयोजकं प्रयोजनमाह–भोगापवर्गार्थ-मिति। भोगापवर्गप्रयोजनवदिति सूत्रार्थः। नन्वेवं गुणत्रयस्यैव दृश्यत्वं प्राप्तं न तु विकाराणा-मिति चेत्? न; गुणपर्वतयोत्तरसूत्रेण तेषामपि संग्राह्यत्वादिति।

भाष्यकार उक्त प्रकार के गुणों के विषय में प्रमाण प्रस्तुत करते हैं–'भूतेति।' स्थूल तथा सूक्ष्म 'भूतों' एवं स्थूल तथा सूक्ष्म 'इन्द्रियों' का कारणभूत गुणत्रय 'भूतेन्द्रियात्मक' है। इस प्रकार महदादि अखिल कार्यकारणात्मक रूप से 'गुणत्रय' प्राप्त होता है। इन महदादि तत्त्वों की प्रकाशादिरूपता में प्रमाण यह है कि त्रिगुणात्मक जड कार्य की त्रिगुणात्मक जड कारण के विना उपपत्ति नहीं हो सकती है। (अतः भूतेन्द्रियात्मक दृश्य ही त्रिगुण की सत्ता में प्रमाण है)। गुणों के कार्य को बताकर सूत्रकार महदादि कार्यों की स्वरूपतः स्थिति के प्रयोजकभूत प्रयोजन को कहते हैं–'भोगापवर्गार्थमिति।' महदादि दृश्य पुरुष के भोग तथा अपवर्गरूप प्रयोजन की तरह है, ऐसा सूत्रार्थ है।

शङ्का–उपर्युक्त कथन से तो गुणत्रय की ही दृश्यता प्राप्त होती है, न कि महदादि विकारों की?

समाधान–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि आगामी सूत्र के द्वारा गुणपर्व (गुण-खण्ड) के रूप से महदादि कार्यों का भी संकलन हो जाता है। (अतः गुणत्रय की दृश्यता के कथन से विकारों की दृश्यता भी स्वतः सिद्ध हो जाती है)।

योगवार्त्तिकम्

तदेतत्सूत्रं व्याचष्टे–प्रकाशशीलमिति। ननु सत्त्वादिगुणा एव चेत् प्रकाशादिशीला दृश्यत्वेनात्रोक्तास्तर्हि प्रकृत्यवचनात् सूत्रकारस्य न्यूनता, तथा सत्त्वादिगुणानामेव भूतेन्द्रिया-त्मकत्व[2]स्वीकारात् प्रकृतिसिद्धान्तक्षतिर्वैयर्थ्यादित्याशङ्क्य गुणा एव प्रकृतिशब्दवाच्याः न तु तदतिरिक्ता प्रकृतिरस्तीत्यवधारयति–एते गुणा इति। [3]सत्त्वादयो गुणा एते प्रकृतिशब्दवाच्या भवन्ति, प्रधीयतेऽस्मिन्कार्यजातमित्यादिव्युत्पत्त्या प्रधानप्रकृत्यादिशब्दैरुच्यन्त इत्यन्वयः। तथा

---

1. क–रूपाणां चेन्द्रियाणां, ख ग घ छ–रूपतायां च प्रमाणं, च–रूपतायां च प्रमाणं रूपाणां चेन्द्रियाणाम्।
2. क ख–स्वीकारे, ग–स्वीकार०, घ च छ–स्वीकारात्।
3. क–एतेन सत्त्वादयो गुणा एव प्रकृति०, ख ग–एते सत्त्वादयो गुणा एव प्रधान०, घ–एते सत्त्वादयो गुणा एव प्रकृति०, च छ–सत्त्वादयो गुणा एते प्रकृति०।

च सांख्यसूत्रम्—सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वादिति। सत्त्वादिषु गुणत्वं च पुरुषोपकरणत्वात्तद्बन्धकत्वाच्च न तु प्रकाशक्रियादिवत् परसमवेतत्वादिति भावः।

भाष्यकार प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या करते हैं—**'प्रकाशशीलमिति।'**

शङ्का—यदि प्रकाशादि स्वभाव वाले सत्त्वादि गुण ही **'दृश्य'** कहे गये हैं, तो प्रकृति की दृश्यता सूत्र में अनुक्त रहने से सूत्रकार की कमी प्रतीत होती है तथा सत्त्वादि गुणों को ही भूतेन्द्रियात्मक अङ्गीकार करने से योगसम्मत प्रकृति के सिद्धान्त को व्यर्थताप्रयुक्त क्षति पहुँचती है?

समाधान—ऐसी आशंका करके यह निर्धारित किया जा रहा है कि गुण ही **'प्रकृति'** पदवाच्य है, न कि प्रकृति को गुणातिरिक्त तत्त्व माना जाता है—**'एते गुणा इति।'** **'सत्त्वादि'** गुणों का ही अपर पर्याय **'प्रकृति'** है अर्थात् ये सत्त्वादि **'गुण'** ही **'प्रकृति'** पद वाच्य हैं। **'प्रधीयतेऽस्मिन् कार्यजातम्'** अर्थात् 'महदादि कार्यसमूह इसमें लय को प्राप्त होता है'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार **'प्रधान'**, **'प्रकृति'** आदि शब्दों के द्वारा सत्त्वादि गुणों को पुकारा जाता है। ऐसा ही सांख्यसूत्र है—**'सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्'** (६/३९) अर्थात् 'सत्त्व रजस् तथा तमस् ये तीन गुण प्रकृति के धर्म नहीं हैं, अपितु **'प्रकृतिस्वरूप'** ही हैं।' सत्त्वादियों का **'गुणत्व'** पुरुषोपकरणत्व तथा पुरुषबन्धकत्व के कारण है। अर्थात् सत्त्वादियों को गुण इसलिये कहा जाता है, क्योंकि ये पुरुष के भोग-मोक्ष को निष्पन्न करने के साधन हैं अथवा पुरुष को (रज्जु की भाँति) बांधने वाले होने से इन्हें 'गुण' कहते हैं। प्रकाशक्रियादि की तरह दूसरे में समवायसम्बन्ध से रहने के कारण इन सत्त्वादियों को 'गुण' नहीं कहा जाता है।

बालप्रिया—

'न तु प्रकाशक्रियादिवत् परसमवेतत्वात्'—वैशेषिक लोग द्रव्य में समवायसम्बन्ध से रहने वाले को 'गुण' कहते हैं। जैसे पृथिव्यादि में समवायसम्बन्ध से रहने वाले गन्धादि गुण हैं। ये संख्या में चौबीस हैं। किन्तु सांख्ययोग में सत्त्वादि गुण द्रव्याश्रित नहीं, अपितु स्वयं द्रव्यस्वरूप हैं। द्रव्यस्वरूप होने से ये द्रव्यान्तरसापेक्ष नहीं हैं। फिर भी इन्हें गुण इसलिये कहा जाता है कि ये पुरुष के प्रयोजनार्थ व्यापाररत होते हैं अथवा रज्जु की भाँति ये पुरुष को बांधने वाले होते हैं। अतः सत्त्वादि की **'गुण'** संज्ञा अन्वर्थ है।

योगवार्त्तिकम्

प्रधानशब्दवाच्यत्वोपपादनाय गुणानामेव [1]जगत्कारणत्व[2]नित्यत्वादिकं हेतुगर्भविशेषणैरुपपादयति—परस्परेति। सत्त्वस्य प्रविभागोऽधिकभागः स्वल्पाभ्यां च रजस्तमोभ्याम्

---

1. ख ग—मूल॰ (जगत् पश्चात्) उपलभ्यते, क घ च छ—मूल॰ नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ—नित्यत्व॰, च छ—अनित्यत्व॰।

उपरक्तः संसृष्टः, एवं रजसः तमस इत्येवं परस्परोपरक्तप्रविभागाः तथा संयोगविभागधर्माणः परस्परं संयोगविभागस्वभावाः। एतेन गुणानां द्रव्यत्वं सिद्धम्।

गुणों की 'प्रधान' शब्दवाच्यता ('गुण' को 'प्रधान' कहे जाने) को उपपादित करने के लिये भाष्यकार हेतुगर्भविशेषणों के द्वारा उसके जगत्कारणत्व तथा नित्यत्व को सिद्ध करते हैं–'परस्परेति।' सत्त्व का 'प्रविभाग' अर्थात् अधिक भाग 'स्वल्प' भाग वाले अर्थात् अल्प परिमाण के रजस् तथा तमस् से 'उपरक्त' अर्थात् संसृष्ट (युक्त) रहता है। इसी प्रकार रजस् तथा तमस् का अपना-अपना प्राचुर्य रूप अन्य दो गुणों के अल्पांश से 'संसृष्ट' रहता है। इस प्रकार ये गुण 'परस्परोप-रक्तप्रविभाग' वाले हैं। इसी प्रकार ये गुण 'संयोगविभागधर्म' वाले हैं अर्थात् परस्पर संयोग तथा विभाग स्वभाव वाले हैं। इससे गुणों का द्रव्य होना सिद्ध होता है।

बालप्रिया–

'एतेन गुणानां द्रव्यत्वं सिद्धम्'–सरलार्थ यह है–योगोक्त सत्त्वादि को वैशेषिकोक्त 'गुण' माना जाय तो सत्त्वादि को संयोगादि गुण का आश्रय सिद्ध करना सम्भव न होगा, क्योंकि वैशेषिक अनुसार एक गुण में दूसरा गुण नहीं रहता है। अर्थात् एक गुण का आश्रय दूसरा गुण नहीं हो सकता है। अर्थात् स्वयं दूसरे के आश्रय में रहने वाला एक गुण दूसरे पराश्रित गुण का आश्रय कैसे बन सकता है? अतः न्यायवैशेषिक में गुण को द्रव्याश्रित कहा जाना समीचीन है। किन्तु सांख्ययोग के अनुसार सत्त्वादि गुण स्वयं द्रव्यात्मक हैं। अतः उनमें संयोग-विभाग आदि धर्मों की आश्रयता समीचीन है।

योगवार्त्तिकम्

तथेतरेतरसाहाय्येनोत्पादितावयविनः कार्यकारणाभेदेन चारम्भवादाद्विशेषः। ननु यदीतरसाहाय्येन सर्वे गुणाः सर्वकार्यकारणानि तर्हि सत्त्वादेरपि क्रियाऽऽदिहेतुत्वेन सक्रियत्वाद्यापत्त्या प्रकाशादिशक्तिसाङ्कर्यमिति? तत्राह–परस्पराङ्गाङ्गित्वेऽपीति। अन्योन्याङ्गाङ्गिभावेनोत्पादितेऽपि द्रव्ये प्रकाशगुणः सत्त्वस्यैव क्रियागुणो रजस एव स्थितिगुणस्तमस एवेत्यतो न प्रकाशादिशक्तिविभागस्य संभेदः संमिश्रणमित्यर्थः तथा तुल्यजातीयातुल्यजातीय-शक्तिभेदानुपातिनः सत्त्वादिजात्या सजातीया विजातीयाश्च ये सहकारिशक्तिविशेषाः तदनुपातिनस्तेषामविशेषेणोपष्टम्भकस्वभावा इत्यर्थः। एतेन सत्त्वादीनि व्यक्तिरूपेणानन्तानि, त्रिगुणत्वादिव्यवहारस्तु सत्त्वत्वादिजातिमात्रेण वैशेषिकाणां नवद्रव्यव्यवहारवदिति सिद्धम्। अत एव लघुत्वादिधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणानामिति सांख्यसूत्रेण सत्त्वादीनां साधर्म्यवैधर्म्ये लघुत्वादिरूपे प्रदर्शिते इति। तथा प्रधानवेलायां स्वस्वप्राधान्यकालेऽभिव्यक्त-

सांनिध्या विकारेषु भवन्ति तथा गुणत्वेऽपीतरोपसर्जनतादशायामपि व्यापारमात्रेण[1] तथा विषयविधयाऽयस्कान्तमणिवच्चित्तस्याकर्षकाः। वक्ष्यति हि—अयस्कान्तमणिकल्पा विषयाः अयःसधर्मकं चित्तमिति। तथा प्रत्ययमन्तरेणाभिव्यक्तिं विना स्वानभिव्यक्तिकाल इति यावत्। तदानीमेकतमस्य यस्य कस्यचिद् गुणान्तरस्य वृत्तिमनु सूक्ष्मवृत्तिमन्तः, वृत्त्यतिशयानामेव विरोधस्योक्तत्वादिति विशेषणवर्गार्थः।

ये गुण एक दूसरे की सहायता से अर्थात् परस्पर **'अङ्गाङ्गिभाव'** से स्थित होकर कार्यकारण के अभेद से अभिव्यक्त अवयवी वाले होते हैं, अतः यह (न्यायसंम्मत) **'आरम्भवाद'** से भिन्न सिद्धान्त है। सरलार्थ यह है कि **'आरम्भवाद'** के अनुसार नैयायिक अनित्य कार्य की उत्पत्ति मानते हैं जब कि **'सत्कार्यवाद'** के अनुसार सांख्ययोगाचार्य द्रव्यात्मक सत्त्वादि में सूक्ष्मत्वेन अन्तर्निहित कार्य की स्थूलत्वेन अभिव्यक्ति मानते हैं। अभिव्यक्ति से पूर्व भी कार्य कारणानुप्रविष्ट रहता है। अतः पूर्वापर अवस्था में कारण से सम्बद्ध रहने वाले कार्य का कारण से अभेद है। अतः सांख्ययोग कार्यकारण का अभेद प्रतिपादक शास्त्र है।

शङ्का—यदि ये सत्त्वादि गुण एक दूसरे गुण की सहायता से निखिल कार्यों के कारण हैं तो सत्त्वादि को भी प्रवृत्त्यादि का हेतु मानने से सत्त्वादि में सक्रियत्वादि की आपत्ति आयेगी, जिससे प्रकाशादि शक्ति का परस्पर साङ्कर्य होगा अर्थात् एक ही सत्त्वगुण मे प्रकाशशक्ति, क्रियाशक्ति तथा स्थितिशक्ति का सम्मिश्रण मानना पड़ेगा।

समाधान—शंका-समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं—**'परस्पराङ्गाङ्गित्वेऽपीति।'** गुणों के परस्पर गौण-प्रधानभाव से युक्त होकर ही द्रव्य (तत्त्व) के आविर्भूत होने पर भी सत्त्व में ही प्रकाशगुण, रजस् में ही क्रियागुण तथा तमस् में ही स्थितिगुण स्थित है। अतः परस्पर विभक्त प्रकाशादि शक्ति का **'संभेद'** अर्थात् सम्मिश्रण नहीं होता है। **'तुल्यजातीय'** तथा **'अतुल्यजातीय'** शक्तिभेदानुपाती ये सत्त्वादिगुण जाति की दृष्टि से 'सजातीय' तथा सहकारिशक्तिविशेष से अनुपतनशील अर्थात् समान रूप से उपष्टम्भक स्वभाव वाले ये गुण 'विजातीय' कहे जाते हैं। इस विवेचन से यह सिद्धान्तित होता है कि 'व्यक्ति' रूप से सत्त्वादि अनन्त (असंख्य) हैं तथा इनमें त्रिगुणत्व का व्यवहार सत्त्वत्वादि जातिमात्र से उसी प्रकार किया जाता है, जिस प्रकार वैशेषिक दर्शन में पृथ्वीत्वादि जात्यभिप्राय से नव द्रव्य का व्यवहार किया जाता है। अतएव **लघुत्वादिधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणानाम्** (१/१२८) सांख्यसूत्र में

---

1. ख—सहकारितामात्रेण प्रधानान्तर्गततयाऽनुमितमस्तित्वं येषां ते तथोक्ताः, तथा पुरुषार्थेषु या कर्तव्यता तत्प्रयुक्तं कार्यजननसामर्थ्यं येषां ते तथोक्ताः, तथा प्रतिबिम्बरूपसान्निध्यमात्रेण पुरुषस्योपकारिणः न तु बुद्धाविव स्वाकारपरिणामजननेनोपकारिणः (मात्रेण—पश्चात्) उपलभ्यते, ख ग घ च छ—सहकारि...नोपकारिणः नोपलभ्यते।

सत्त्वादि गुणों की सधर्मता तथा विधर्मता को लघुत्वादि धर्मों के रूप से प्रदर्शित किया गया है। ये गुण 'प्रधानवेला' में अर्थात् स्व-स्व प्राधान्यकाल में कार्यों (विकारों) में अभिव्यक्त सान्निध्य से (स्पष्ट रूप से) विद्यमान रहते हैं। (अर्थात् 'कार्याभिव्यक्ति' ही त्रिगुण की प्रधानवेला है तथा कार्य का अपर पर्याय 'विकार' है)। इसी प्रकार ये गुण 'गौणकाल' में, अर्थात् एक प्रधान गुण से अन्य दो गुणों के अप्रधानता (उपसर्जनता) को प्राप्त होने पर भी, सहकारिकारण के रूप से कार्य में विद्यमान रहते हैं। तथा ये विषयरूप से चित्त को अपनी ओर उसी प्रकार आकृष्ट करते हैं, जिस प्रकार चुम्बक लोह को अपनी ओर खींचता है। जैसा कि आगे कहा गया है– 'अयस्कान्तमणिकल्पा विषयाः अयः सधर्मकं चित्तमिति।' अर्थात् अयस्कान्तमणितुल्य 'विषय' होते हैं तथा लोहधर्मक 'चित्त' होता है। 'प्रत्ययमन्तरेण' पद का अर्थ है– अभिव्यक्ति के विना अपने अनभिव्यक्त काल में। इस प्रकार अपने अनभिव्यक्तकाल में ये गुण (कोई दो गुण) स्वयं सूक्ष्म वृत्ति वाले होते हुए किसी एक प्रधान गुण की वृत्ति का अनुसरण करते हैं, क्योंकि 'वृत्त्यतिशयों' अर्थात् समान शक्ति वालों का ही परस्पर विरोध होता है, ऐसा पहले कह चुके हैं, अर्थात् एक गुण के अभिव्यक्तिकाल में अन्य दो गुणों का अप्रधानभाव से रहना विरुद्ध नहीं है। इस प्रकार व्यासभाष्य के 'एते गुणाः...वृत्तिमनुवर्तमानाः' इस विशेषणरूप पदसमूह का अर्थ सम्पन्न होता है। इनका विशेष्यभूत पद है–'प्रधानशब्दवाच्याः।'

योगवार्त्तिकम्

एतद् दृश्यमित्युच्यत इति। एतद्गुणत्रयमेव कार्यकारणभावापन्नं दृश्यमुच्यते नास्ति ततोऽतिरिक्तं [1]दृश्यान्तरमित्यर्थः। एत एव च गुणा न्यायवैशेषिकाभ्यां द्रव्याष्टकरूपेण विभज्यन्ते, वेदान्तिभिस्तु [2]मायेत्युच्यते, मायां तु प्रकृतिं विद्यादिति श्रुतेः। तदुक्तं बृहद्वासिष्ठे–

नामरूपविनिर्मुक्तं यस्मिन् संतिष्ठते जगत्।
तमाहुः प्रकृतिं केचित् मायामन्ये परे त्वणून्॥ इति।

स्यादेतत्–यदि त्रिगुणातिरिक्ता प्रकृतिर्नास्ति तदाऽजामेकां लोहितशुक्लकृष्णा-मित्यादिश्रुत्युक्तं प्रकृतेरेकत्वादिकं व्याहन्येत,[3] तथा–

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥

1. क घ च छ–दृश्यान्तरं, ख ग–दृश्यं जडम्।
2. क घ च छ–मायेत्युच्यते, ख ग–मायाशब्देन।
3. क ख ग घ–व्याहन्यते, च छ–व्याहन्येत।

इत्यादिनोक्तो व्यापकत्वाक्रियत्वनिरवयवत्वादि[1]रूपश्च सांख्यादिसिद्धान्तो व्याहन्येत, तथा–

एते प्रधानस्य गुणास्त्रयः स्युरनपायिनः॥

इत्यादिस्मृति[2]शतपरम्परासु प्रधानस्य गुणानां चाधाराधेयभावहेतुहेतुमद्भावयोर्वचनं नोपपद्येत, तथा–

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः॥

इति गीतादिवाक्योक्तं सत्त्वादेः प्रकृतिकार्यत्वं चानुपपन्नम्, तथाऽष्टाविंशतितत्त्वपक्षोऽपि नोपपद्येतेति? अत्रोच्यते – पुरुषभेदेन सर्गभेदेन च भेदाभाव एव प्रकृतेरेकत्वमजाऽऽदिवाक्यैस्तन्मूलकसांख्यादिभिश्च प्रतिपाद्यते; [3]अजावाक्येन तथातात्पर्यावधारणात्। भोग्यभोक्त्रोर्हि मध्ये भोग्या गुणा भोग्यत्वाभोग्यत्वाभ्यां सर्गभेदेन न[4] भिद्यन्ते एते भोगार्हा एते च नेति, मुक्तपुरुषोपकरणानामप्यन्यपुरुषभोग्यत्वात्। भोक्तारस्तु पुरुषाः भोक्तृत्वाभोक्तृत्वाभ्यां सर्गभेदेन भिद्यन्ते पूर्वसर्गमुक्ता नोत्तरसर्गे भोक्तारः किं त्वन्य एवेति। अतः प्रकृतिरेका पुरुषस्त्वनेक इत्युच्यते। तथा त एव गुणाः सर्वसर्गेषु स्रष्टारो भवन्ति, महदादिविकाराणां तु सर्गभेदेन भिन्नत्वं स्पष्टमेव, अतीतव्यक्तेः पुनरनुदयस्य वक्ष्यमाणत्वादिति।

यदि तु प्रकृतिरेकैव व्यक्तिः स्यात् तदा निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनामिति प्रकृतिबहुत्वसूत्रविरोध; इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयत इत्यादिश्रुतिविरोधश्चेति। व्यापकत्वं च प्रकृतेः कारणत्वसामान्येनैव बोध्यम्, कारणशून्यप्रदेशाभावाद् गन्धादेः पृथिव्यादिव्यापकत्ववत्। महदादिकं तु सामान्येनापि न व्यापकमिति। अत एवांशभेदेन प्रकृतेर्व्यापकत्वपरिच्छिन्नत्वयोरभ्युपगमाज्जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरादित्यागामिसूत्रोक्तः प्रकृत्यापूरो घटत इति। प्रकृतेरक्रियत्वं चाध्यवसायाभिमानादिरूपप्रतिनियतकार्यशून्यत्वमेव, न तु चलनादिकर्मशून्यत्वं–

प्रधानात् क्षोभ्यमाणाच्च तथा पुंसः पुरातनात्।
प्रादुरासीन्महद्बीजं प्रधानपुरुषात्मकम्॥

इत्यादिस्मृतिषु प्रकृतेरपि चलनापरनामकक्षोभावगमात्,

प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि!
चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्यभिधीयते॥

इति स्पष्टं क्रियास्मरणाच्च। यत्तु क्वचित्पुरुषस्यापि क्षोभः श्रूयते स संयोगोन्मुखत्त्वेन गौणः, प्रकृतिकर्मणैव संयोगोत्पत्तेरिति। प्रकृतेर्निरवयवत्ववाक्यानि चारम्भकावयवनिषेधकानि

1. क ख घ च छ–रूपश्च, ग–रूपस्य।
2. च छ–शत० उपलभ्यते, क ख ग घ–शत० नोपलभ्यते।
3. क ग घ च छ–अजावाक्येन, ख–अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम्। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तं भोगामजोऽन्य इति श्रुतौ।
4. क ग छ–न उपलभ्यते, ख घ च–न नोपलभ्यते।

न तु वनांशवृक्षतुल्यानामंशानां निषेधकानि। एतेन [1]एते प्रधानस्य गुणा इत्यादिवाक्यान्यप्युपपादितानि वनतुल्यस्य प्रधानस्यांशिनः पनसाम्रदाडिमादितुल्यस्य गुणद्रव्यस्यांशत्वाभ्युपगमाद् इति। यच्च सत्त्वादीनां प्रकृतिकार्यत्ववचनं तद्व्यवहाराभिप्रायेण प्रकाशादिफलोपहिततयैव हि सत्त्वादिव्यवहारो दृश्यत इति; अन्यथा गुणनित्यत्वसिद्धान्तव्याघाताद्, अखण्डैकप्रकृतेर्विचित्रपरिणामासंभवाच्च; संभवे वा महदादिकार्यान्तराणामपि केवलप्रकृतेरेव संभवाद् गुणकल्पनावैयर्थ्यम्। किं च गुणरूपावच्छेदभेदादेव तत्संभव इति चेत्? न; तथा सति गुणेभ्य एव सर्वकार्योपपत्त्या तदतिरिक्तप्रकृतिवैयर्थ्यम्। किं च यदि गुणत्रयातिरिक्ता प्रकृतिः स्यात् तदा—

गुणसाम्यमनुद्रिक्तमन्यूनं च महामते!
उच्यते प्रकृतेर्हेतुः प्रधानं कारणं परम्॥

इत्यादिस्मृतिषु सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिरिति सांख्यसूत्रे च साम्यावस्थगुणानां प्रकृतित्ववचनमाञ्जस्येन नोपपद्येत; नोपपद्यते च विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि, ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानामित्यादिसूत्रेषु भाष्ये च गुणानामेव मूलकारणत्ववचनमित्यादिदूषणं स्यादिति। साम्यावस्था च न प्रकृतिलक्षणे विशेषणमपि तु यदा कदाचित्संबन्धेनोपलक्षणम्, काकवन्तो देवदत्तस्य गृहा इतिवत्। सा च न्यूनाधिकभावेनासंहननावस्था=अकार्यावस्थेति यावत्। तदुपलक्षितगुणत्वं च प्रकृतिलक्षणं महदादिव्यावृत्तम्। तेन सर्गकालेऽपि गुणानां प्रकृतित्वोपपत्त्या न प्रकृतिनित्यताक्षतिः, नापी[2]श्वरस्य [3]तदैकरूप्येण साम्यावस्थाशून्यत्वेऽपि तत्र प्रकृतिलक्षणातिव्याप्तिरिति दिक्।

योगवार्त्तिककार भाष्य को उठाते हैं—'एतद् दृश्यमित्युच्यत इति' कार्यकारणभावापन्न यह गुणत्रय ही 'दृश्य' कहलाता है। अर्थात् गुणत्रय से अतिरिक्त दृश्यान्तर नहीं है। (किञ्च गुणत्रय से अतिरिक्त जो विकारजात परिलक्षित होता है, वह भी कार्यकारण के अभेद सिद्धान्त के अनुसार गुणत्रयात्मक ही है। अतः 'गुणत्रय' को ही 'दृश्य' कहा जाता है)। किञ्च ये ही गुण न्याय-वैशेषिक में 'द्रव्याष्टक' (पृथ्वी, जल,

---

1. अ—क ख घ च छ—एते प्रधानस्य....गुणात्मानः परिणामक्रमसमाप्तिः उपलभ्यते, ग—एते.... समाप्तिः नोपलभ्यते।
आ—क घ च छ—किं च गुणरूपावच्छेदभेदादेव तत्संभव इति चेत्? न, ख—एतेनाष्टाविंशतितत्त्वपक्षोऽप्यनुपपन्नः प्रकाशादिक्षमाणां कार्यसत्त्वादीनामेव तत्र गुणत्रयतयेरणादिति। तस्मान्नोक्तबाधकगणावकाशः गुणातिरिक्तप्रकृतावेव तु सन्ति बाधकानि। प्रकृतेर्हि व्यापिकायाः परिच्छिन्नो महदादिपरिणामो गुणरूपावच्छेदभेदादेव वक्तव्यः।
इ—क घ च छ—प्रकृतिः, ख—प्रकृतेः।
2. क घ च छ—ईश्वरस्य, ख ग—ईश्वरसत्त्वस्य
3. क ख ग घ च—सदा, छ—तदा।

तेज, वायु, आकाश, काल, दिक् तथा मन) रूप से विभक्त हैं तथा वेदान्ती इसे **'माया'** पुकारते हैं, क्योंकि **'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्'** (श्वे. उप. ४/१०) अर्थात् 'प्रकृति को माया जानो' ऐसी श्रुति है। यही तथ्य बृहद्वासिष्ठ में कहा गया है—**'नामरूप... त्वणून्'** अर्थात् 'जिसमें जगत् निवास करता है ऐसे नाम तथा रूप से रहित तत्त्व को कुछ लोग (सांख्ययोग) **'प्रकृति'** नाम से कहते हैं, कुछ (वेदान्ती) इसे **'माया'** नाम से पुकारते हैं और दूसरे (न्यायवैशेषिक) इसे **'अणु'** नाम से अभिहित करते हैं।'

शङ्का—यदि सत्त्वादि त्रिगुण से अतिरिक्त (पृथक्) प्रकृति' नाम का कोई तत्त्व नहीं है तो **'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्'** (श्वे. उप. ४/५) इत्यादि श्रुति के द्वारा कथित प्रकृति के एकत्व को व्याघात पहुँचेगा तथा **'हेतुमद...मव्यक्तम्'** (सा. का. १०) अर्थात् 'हेतुमत्त्व, अनित्यत्व, अव्यापित्व, सक्रियत्व, अनेकत्व, आश्रितत्व, लिङ्गत्व, सावयवत्व तथा परतन्त्रत्व—ये **'व्यक्त'** के धर्म हैं। इसके विपरीत अहेतुमत्त्वादि—ये **'अव्यक्त'** के धर्म हैं'—इत्यादि कारिका द्वारा कथित **'प्रकृति'** के व्यापकत्व, निष्क्रियत्व, निरवयवत्वादि रूप सांख्यादिसिद्धान्त को क्षति पहुँचेगी। तथा **'एते प्रधानस्य... रनपायिनः'** (मोक्षधर्म ३१४/१) अर्थात् 'प्रधान के ये तीन गुण अविनाशी हैं'—इत्यादि सैकड़ों स्मृतियों में प्रतिपादित प्रधान तथा गुण का आधाराधेयभावसम्बन्ध तथा हेतुहेतुमद्भावसम्बन्ध वाला वचन उपपन्न न हो सकेगा। तथा **'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः'** (१४/५)— इस प्रकार के गीतादि वाक्य द्वारा कथित 'प्रकृति' का कार्य सत्त्वादि है'—यह सिद्धान्त अनुपपन्न रह जायेगा। तथा जो लोग अट्ठाईस तत्त्व मानते हैं, उनका पक्ष भी सिद्ध न हो सकेगा। (इस प्रकार पूर्वपक्षी ने गुणातिरिक्त प्रकृति को सिद्ध करने के लिये पांच वचनों को उद्धृत किया है)।

समाधान—इस पर योगवार्तिककार कहते हैं—**'अजामेकाम्'** इत्यादि श्रुतिवाक्यों के द्वारा तथा इस श्रुति की भावार्थप्रधान (तन्मूलक) अन्य श्रुतियों के द्वारा प्रकृति के जिस एकत्व को प्रतिपादित किया गया है, उसका तात्पर्य पुरुषभेद से तथा सृष्टिभेद से प्रकृति का 'भेदाभाव' अर्थात् एकत्व प्रतिपादित करने में पर्यवसित होता है, क्योंकि **'अजामेकाम्'** इस वाक्य के द्वारा यही तात्पर्य निर्धारित होता है। भोग्य तथा भोक्ता के मध्य में भोग्य गुण 'भोग्यत्व' तथा 'अभोग्यत्व' के रूप से सर्गभेद से भिन्न-भिन्न नहीं है अर्थात् **'एते भोगार्हा एते च न'**—ये गुण भोगार्ह हैं और ये गुण भोगार्ह नहीं हैं—ऐसा अन्तर (भेद) नहीं किया जा सकता है, क्योंकि मुक्त पुरुष के उपकरणभूत (साधनभूत) गुण ही अन्य (संसारी) पुरुष के भोग्य होते हैं (अर्थात् मुक्त पुरुष के प्रति कृतकृत्य गुण ही अन्य संसारी पुरुषों के पुरुषार्थ को निष्पादित करते हैं। अतः पुरुषार्थशून्य त्रिगुण को पुरुषार्थयुक्त त्रिगुण से पृथक् नहीं माना जा सकता है)।

किन्तु भोक्ता रूप पुरुष सर्गभेद से भोक्तृत्व और अभोक्तृत्व के रूप से भिन्न-भिन्न होते हैं। जैसे पूर्व सृष्टि में मुक्त पुरुष परवर्ती (आगामी) सृष्टि में 'भोक्ता' अर्थात् बद्ध नहीं रहते हैं, किन्तु अन्य (बद्ध) पुरुष ही (दृश्यरूप भोग्य के) भोक्ता होते हैं। सरलार्थ यह है कि बद्ध तथा मुक्त की दृष्टि से पुरुष भिन्न-भिन्न हैं। इससे यह कहा जाता है कि प्रकृति 'एक' है तथा पुरुष 'अनेक' हैं। किञ्च समान गुणत्रय ही पूर्ववर्ती तथा परवर्ती सभी सृष्टियों में सृष्टा अर्थात् उपादानकारण होते हैं। महदादि कार्यों (विकारजात) की तो सर्गभेद से भिन्नता सुस्पष्ट ही है, क्योंकि आगे ऐसा प्रतिपादित किया जायेगा कि अतीत अवस्था को प्राप्त वस्तु पुनः वर्तमान अवस्था को प्राप्त नहीं होती है।

शङ्का—यदि 'प्रकृति' को एक व्यक्ति ही माना जाय तो प्रकृति के बहुत्व को प्रतिपादित करने वाले **निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्** (४/३) इस सूत्र से विरोध होगा तथा **'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'** (ऋग्वेद ६/४७/१८) इत्यादि श्रुति से विरोध होगा। यहाँ **'मायाभिः'** पद के द्वारा मायारूप प्रकृति का बहुत्व विवक्षित है। किञ्च प्रकृति को व्यापक जो कहा जाता है उसे समस्त कार्यों के प्रति सामान्यरूप से कारण होने के कारण ही समझना चाहिये, क्योंकि कारणरूप प्रकृति से शून्य ऐसा कोई प्रदेश उसी प्रकार नहीं है, जिस प्रकार पृथिव्यादि द्रव्य के व्यापकीभूत गन्धादि गुण का पृथिव्यादि में अभाव नहीं रहता है। महदादि कार्य तो सामान्यरूप से भी व्यापक नहीं हैं, (क्योंकि कार्य व्याप्य होता है)। अतएव अंशभेद से प्रकृति का व्यापकत्व तथा अव्यापकत्व स्वीकार करना चाहिये। (सरलार्थ यह है कि मूलकारणरूप प्रकृति व्यापक है तथा कारणसापेक्ष महदादिकार्यरूप प्रकृति अव्यापक है, क्योंकि मूलप्रकृति अपनी उत्पत्ति के लिये किसी कारणान्तर की अपेक्षा नहीं रखती है, अतः नित्य होने से वह व्यापक है। किन्तु महदादि कार्य अपनी अभिव्यक्ति के लिये मूलकारण प्रकृति की अपेक्षा रखते हुए ही अपने कार्य अहंकारादि के कारण बनने से प्रकृति कहलाते हैं, अतः इनमें अव्यापकत्व है)। इससे **'जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्'** (४/२) इस आगामी सूत्र द्वारा वर्णित प्रकृत्यापूर का सिद्धान्त भी घटित हो जाता है। किञ्च प्रकृति को **'निष्क्रिय'** (अक्रिय) इसलिये कहा जाता है कि उसमें अध्यवसाय, अभिमानादिरूप-प्रतिनियत कार्यशून्यत्व है अर्थात् प्रकृति में तत्तत् करणों की सुनिश्चित वृत्तिमत्ता नहीं है। न कि चलनादि कर्मशून्यता के कारण प्रकृति को **'अक्रिय'** कहा गया है। प्रकृति में चलनादिरूप कर्मता है क्योंकि प्रकृति में (**'चलन'** है अपर पर्याय जिसका ऐसी) संक्षोभक्रिया निम्नाङ्कित स्मृतिवाक्यों के द्वारा स्वीकृत है—**'प्रधानात्... प्रधानपुरुषात्मकम्'** (कू. पु. ४/१६) अर्थात् 'क्षोभ्यमाण प्रधान (वैषम्यावस्थाक गुण)

तथा पुरातन पुरुष से प्रधानपुरुषात्मक 'महत्' बीज प्रादुर्भूत हुआ।' और **'प्रकृते...इत्यभिधीयते'** (श्रीमद्भागवत ३/२६/१७) अर्थात् 'हे मानव! निर्विशेष, गुणसाम्यरूप प्रकृति में चूँकि चेष्टा अर्थात् क्षोभ होता है, इसीलिये भगवान् उसे **'काल'** कहते हैं'–इस वाक्य से प्रकृति में **'क्रिया'** स्मृत है। और श्रुतियों में जहाँ-कहीं पुरुष का भी संक्षोभ सुना जाता है, वह पुरुष के साथ प्रकृति के संयोग से उन्मुख होने के कारण **'गौण'** (अप्रधान) है, क्योंकि प्रकृतिगत क्रिया (न कि पुरुषगत क्रिया) से ही संयोग (प्रकृतिपुरुष संयोग) की उत्पत्ति होती है। और जो प्रकृति के **'निरवयवत्व'** के प्रतिपादक वाक्य हैं वे प्रकृति के अवयवारम्भक के निषेधपरक वाक्य हैं, न कि वे वन के अंशभूत वृक्षों की भाँति तत्तद् अंशों के निषेधपरक वाक्य हैं। इस विवेचन से **'एते प्रधानस्य गुणाः'** (मोक्षधर्म ३१४/१) अर्थात् 'ये प्रधान के गुण हैं'–इत्यादि वाक्य भी उपपन्न हो जाते हैं, क्योंकि अंशिरूप वन के अंशरूप पनस (कटहल), आम्र, दाडिम (अनार) आदि वृक्षों की भाँति अंशिरूप प्रधान गुण द्रव्य का महदादिरूप अंशत्व स्वीकार किया जाता है। और जो सत्त्वादि को प्रकृति का कार्य कहा जाता है, वह व्यवहारमात्र है। प्रकाशादि फल (कार्य) से उपहित होने के कारण ही सत्त्वादि का व्यवहार देखा जाता है अर्थात् प्रकाशादि क्रियोपहित सत्त्वादि ही प्रकृति के कार्यरूप से व्यवहृत होते हैं। अन्यथा (सत्त्वादि को पारमार्थिक रूप से प्रकृति का कार्य मानने पर) गुणनित्यत्ववाद (गुणों की नित्यता के सिद्धान्त) को क्षति पहुँचेगी तथा अखण्डात्मक अर्थात् एकात्मक प्रकृति का विचित्र (विविध) प्रकार का परिणाम भी सम्भव न हो सकेगा। अथवा (तुष्यतुदुर्जनन्याय से) एकात्मक प्रकृति का अनेकात्मक परिणाम मान भी लिया जाय तो महदादि कार्यान्तरों का भी केवल प्रकृतित्व ही सिद्ध होने लगेगा, जिससे सत्त्वादि गुणों की कल्पना व्यर्थ होने लगेगी। किञ्च गुणरूपावच्छेद के भेद से ही महदादि कार्यों का केवल प्रकृतित्व सम्भव होने लगेगा?

समाधान–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि गुणों से समस्त कार्यों की उपपत्ति हो जाने पर गुणातिरिक्त प्रकृति की कल्पना व्यर्थ होने लगेगी। किञ्च यदि त्रिगुणातिरिक्त प्रकृति हो तो **'गुणसाम्य...कारणं परम्'** (वि. पु. ६/४/३४) अर्थात् 'हे महामुने! सत्त्वादि गुणों की साम्यावस्था ही 'प्रकृति' है। इसी को 'प्रधान' कहते हैं। इसी प्रधान से सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है'–इत्यादि स्मृतियों में तथा **'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः'** (१/६१) अर्थात् 'सत्त्व, रजस् तथा तमस् की साम्यावस्था को 'प्रकृति' कहते हैं'– इत्याकारक सांख्यसूत्र में जो साम्यावस्थाक गुणों को 'प्रकृति' कहा गया है वह उपपन्न न हो सकेगा और इस प्रकार अनुपपन्न होने पर **'विशेषाविशेष...(२/१९), ते व्यक्तसूक्ष्मा...(४/१३), परिणामक्रमसमाप्तिः...'** (४/३२) इत्यादि योग सूत्रों में तथा

(इनसे सम्बन्धित) भाष्य में गुणों को ही जो मूलकारण कहा गया है, वह दोषावह हो जायेगा। तथा सांख्य के **'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः'** सूत्र में **'साम्यावस्था'** यह पद प्रकृतिलक्षण में विशेषणपरक नहीं है, अपितु **'काकवन्तो देवदत्तस्य गृहाः'**– वाक्य में प्रयुक्त विशेषणपरक **'काकवन्तः'** पद की भाँति कादाचित्कसम्बन्ध से उपलक्षणमात्र है। (भाव यह है कि देवदत्त के घर की काकयुक्तता सार्वकालिक नहीं है, अपितु कभी काक का अभाव भी हो सकता है। इसी प्रकार प्रकृति की साम्यावस्था सार्वकालिक नहीं, अपितु उसके एक कालविशेष प्रलयमात्र की द्योतक है। प्रकृतिगत वैषम्यावस्था के प्रादुर्भाव से उसकी साम्यावस्था का तिरोभाव भी होता है। अतः **'साम्यावस्था'** पद प्रकृति के कादाचित्क अर्थात् कभी होना और कभी न होना रूप स्थिति को ही द्योतित करता है, न कि उसकी सार्वकालिक स्थिति को)। किञ्च प्रकृति की यह **'साम्यावस्था'** गुणों के न्यूनाधिकभाव से संगाठित न होने की अवस्था है, अतः **'अकार्यावस्था'** है। (दूसरी ओर गुणों के न्यूनाधिकभाव से संगठित होने वाली अवस्था कार्याभिव्यक्ति की नियामिका होने से **'कार्यावस्था'** कहलाती है)। इसीलिये प्रकृति का अकार्यावस्था से उपलक्षित गुणत्वरूपलक्षण महदादि को व्यावृत्त करता है अर्थात् महदादिकार्यावस्थाकगुणत्व में प्रकृति का कादाचित्कलक्षण चरितार्थ नहीं होता है। प्रकृति के इस प्रकार के लक्षण से सृष्टिकाल में भी गुणों के प्रकृतित्व की उपपत्ति हो जाने से प्रकृति की नित्यता को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचती है और ईश्वर यद्यपि सर्वदा एकरूप होने से प्रकृतिगत साम्यावस्था से शून्य है तथापि ईश्वर में प्रकृति के लक्षण की अतिव्याप्ति भी नहीं होती है।

योगवार्त्तिकम्

गुणेषु प्रमाणोपदर्शकं भूतेन्द्रियात्मकमिति विशेषणं व्याचष्टे–तदेतद्भूतेति। भूतभावेनेत्यस्य विवरणं पृथिव्यादिनेति। तत्राप्यवान्तरविशेषमाह–सूक्ष्मस्थूलेनेति। तन्मात्राणि सूक्ष्माणि पृथिव्यादीनि महाभूतानि स्थूलपृथिव्यादीनि। इन्द्रियभावेनेत्यस्य विवरणं श्रोत्रादिनेति। तत्राप्यवान्तरविशेषमाह–सूक्ष्मस्थूलेनेति। [1]महदहंकारौ सूक्ष्मेन्द्रियमेकादश च स्थूलेन्द्रियाणि, इन्द्रियस्य संघात ईश्वरस्य कारणत्वादित्यर्थः।

सम्प्रति, भाष्यकार गुणों के प्रमाण को प्रदर्शित करने वाले विशेषणपरक **'भूतेन्द्रियात्मकम्'** पद की व्याख्या करते हैं–**'तदेतद्भूतेति'** यह त्रिगुणात्मक दृश्य **'भूतेन्द्रियात्मक'** है। भाष्य में **'भूतभावेन'** का विवरण पद है–**'पृथिव्यादिना'** भाष्यकार पृथिव्यादि के भी अवान्तरविशेष को बताते हैं–**'सूक्ष्मस्थूलेनेति'**। इस प्रकार

---

1. ख ग घ च छ–महदहंकारौ....गुणस्यैवापरं उपलभ्यते, क–महत्...अपरं नोपलभ्यते।

शब्दतन्मात्रादि 'सूक्ष्म' तथा पृथिव्यादि महाभूत 'स्थूल' भूतभाव (कहे जाते) हैं। भाष्य में 'इन्द्रियभावेन' का विवरण पद है–'श्रोत्रादिना' भाष्यकार इन्द्रियभाव के भी अवान्तरविशेष को बताते हैं–'सूक्ष्मस्थूलेनेति' महत् तथा अहंकार 'सूक्ष्म' इन्द्रियभाव तथा एकादश इन्द्रियाँ 'स्थूल' इन्द्रियभाव हैं, क्योंकि इन्द्रियसंघात के प्रति ईश्वर कारण है।

योगवार्त्तिकम्

भोगापवर्गार्थमिति गुणस्यैवापरं विशेषणं मोक्षोपपादकं व्याचष्टे–तत्तु नाप्रयोजन-मित्यादिना। तद् गुणत्रयं न प्रयोजनशून्यं [1]सद् भूतेन्द्रियरूपेण प्रवर्त्तते; अपि तु प्रयोजनं स्वीकृत्यैव प्रवर्त्तत इत्यतस्[2]तादृशं गुणत्रयं पुरुषस्य भोगापवर्गार्थं हि भोगापवर्गफलकमेवेत्यर्थः। भोगापवर्गौ व्याचष्टे–तत्रेष्टानिष्टेति। इष्टानिष्टगुणाः सुखदुःखात्मकाः शब्दादयः, तत्स्वरूपा-वधारणं तदाकारा बुद्धिवृत्तिः, न तु पुरुषनिष्ठः साक्षात्कारः, बुद्धिनिष्ठतायाः वक्ष्यमाणत्वात्, स हि तत्फलस्य भोक्तेत्यनेन पुरुषनिष्ठस्य भोगान्तरस्य वक्ष्यमाणत्वात् पुरुषनिष्ठभोगस्य चित्स्वरूपतया नित्यत्वेन न फलत्वमञ्जसाऽस्तीति भावः। शब्दादिवृत्तिकाले विवेकख्यातिसत्त्वे वक्ष्यमाणापवर्ग एवेति। तादृक्शब्दादिव्यावृत्त्यर्थमविभागापन्नमिति विशेषणं पुरुषेण सहावि-विक्तम्। अहंकारेण ममेत्यात्मनिष्ठतयाऽभिमन्यमानमिति यावत्। जीवन्मुक्तस्य भोगाभास एव, अहं शृणोमीत्याद्य[3]भिमन्यमानगर्भेष्वेव शब्दादिवृत्तेर्गुणेषु भोगव्यवहारात्। भोक्तुरिति। भोक्तुः पुरुषस्य यत्स्वरूपमुपाधिविविक्तचैतन्यं तदाकारा बुद्धिरपवर्गः।

[4]आद्यस्तु मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो रागसंक्षयात्।
कृच्छ्रक्षयात् तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम्॥

इति पञ्चशिखवाक्याद्, अपवृज्यतेऽनेनेति व्युत्पत्तेर्वेत्यर्थः।

सम्प्रति, भाष्यकार गुण के ही मोक्षप्रतिपादक अपर विशेषणभूत 'भोगापवर्गार्थम्' पद की व्याख्या करते हैं–'तत्तु नाप्रयोजनमित्यादिना' पूर्वप्रतिपादित यह गुणत्रय भूत तथा इन्द्रियरूप से निष्प्रयोजन प्रवृत्त नहीं होता है, अपितु प्रयोजन को स्वीकार करके ही प्रवृत्त होता है, क्योंकि तादृश गुणत्रय पुरुष को भोग तथा अपवर्गरूप फल प्रदान करता है। भाष्यकार भोग तथा अपवर्ग की व्याख्या करते हैं–'तत्रेष्टानिष्टेति' सुखात्मक तथा दुःखात्मक शब्दादिरूप इष्ट तथा अनिष्ट गुण हैं।

---

1. अ–क ग घ च छ–सद् भूतेन्द्रियरूपेण प्रवर्त्तते उपलभ्यते, ख–सद् भूतेन्द्रियरूपेण प्रवर्त्तते नोपलभ्यते।
आ–क घ च छ–रूपेण, ग–त्रयेण।
2. क घ च छ–तादृशं, ख ग–तद्दृश्यम्।
3. क ख ग घ–अभिमान०, च छ–अभिमन्यमान०।
4. क छ–आद्यः, ख ग घ च–आदौ।

शब्दादि के 'स्वरूपावधारण' का अर्थ है–तदाकाराकारित बुद्धिवृत्ति अर्थात् बुद्धि का शब्दादिविषयाकार परिणाम शब्दादि विषय का स्वरूपावधारण है, न कि पुरुषनिष्ठ साक्षात्कार, क्योंकि शब्दादिज्ञान बुद्धिनिष्ठ है, ऐसा आगे प्रतिपादित किया जायेगा। 'स हि तत्फलस्य भोक्ता' इस भाष्य के द्वारा पुरुषनिष्ठ भोगान्तर को आगे बतलाया जाने से पुरुषनिष्ठ भोग के चित्स्वरूपत्वेन नित्य होने से पुरुष में सहसा (साक्षात्) फलत्व नहीं है। बुद्धि के शब्दादिवृत्तिकाल में विवेकख्याति के उदित होने पर आगे प्रतिपादित किया जाने वाला अपवर्ग प्राप्त होता है, अतः जीवन्मुक्तिकालिक शब्दादिवृत्ति से व्यावृत्त कराने के लिये 'अविभागापन्न' यह विशेषणपद पुरुष के साथ जोड़ा गया है। क्योंकि सामान्य पुरुष अहंकार के वशीभूत होकर ये शब्दादि विषय मेरे हैं, अर्थात् आत्मनिष्ठ हैं–ऐसा अभिमान करता है। जीवन्मुक्त को सुख-दुःखादि भोग का आभासमात्र ही होता है। जैसे 'अहं शृणोमि' इत्यादि अभिमन्यमान गुणों में शब्दादिवृत्ति से भोग का व्यवहारमात्र होता है। योगवार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'भोक्तुरिति।' भोक्ता पुरुष का उपाधिरहित जो चैतन्यात्मक स्वरूप है, तदाकाराकारित वृत्ति को 'अपवर्ग' कहते हैं, (अर्थात् गुणों से पृथक् अपने स्वरूप का अवधारण होना 'मोक्ष' है अर्थात् बुद्धि में जो सुख-दुःख हैं उनको अपने में न मानना ही 'अपवर्ग है), क्योंकि पञ्चशिखाचार्य का वाक्य है–'आद्यस्तु...मोक्षलक्षणम्' अर्थात् 'पहला मोक्ष ज्ञान से होता है, द्वितीय मोक्ष रागक्षय अर्थात् वैराग्य से होता है और तपश्चर्या आदि कष्टक्षय से तृतीय प्रकार का मोक्ष कहा गया है।' अथवा 'अपवृज्यतेऽनेनेति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'जिससे छुटकारा प्राप्त होवे उसे 'मोक्ष' कहते हैं।

योगवार्त्तिकम्

ननु भोगापवर्गातिरिक्तार्थमपि दृश्यं कथं न भवतीत्याकाङ्क्षायामाह–[1]द्वयोरिति। दर्शनं बुद्धिवृत्तिः। अविभागापन्नतायां पञ्चशिखाचार्यसंवादमाह–तथा चोक्तमिति। अयं लोकेषु[2] गुणेषु सर्वकर्तृषु सत्सु गुणत्रयापेक्षया चतुर्थे तुरीये पुरुषे गुणव्यापाराणां जाग्रदादीनां साक्षिमात्रे कर्तर्युपनीयमानान् बुद्ध्या समर्प्यमाणान् गुणपरिणामान् तत्रैव पुरुषे उपपन्नान् युक्तिसिद्धानिव पश्यन् मूढो न गुणेभ्योऽन्यद्दर्शनं चैतन्यं शङ्कते संभावयत्यपीत्यर्थः। अत्र विवेकाग्रहणे भिन्नत्वे च हेतुस्तुल्यातुल्यजातीय इति पुरुषविशेषणम्, बुद्धिपुरुषयोर्द्वयोरपि स्वच्छत्वसूक्ष्मत्वादिना साम्यात् गुणपुरुषयोस्तुल्यजातीयत्वं [3]जडत्वाजडत्वपरिणामित्वा-परिणामित्वादिभिश्च वैजात्यमित्याशयः। अत्र भाष्ये गुणत्रयापेक्षया पुरुषस्य चतुर्थत्ववचनाद्

1. क ग घ–त्वयोः, ख च छ–द्वयोः।
2. क च छ–लोकेषु गुणेषु, ख–त्रिगुणेषु, ग घ–लोकस्त्रिषु गुणेषु।
3. क छ–जडत्व०, ख ग घ च–जड०।

अन्यान्यपि तुरीयवाक्यानि जाग्रदाद्यवस्थसत्त्वादिगुणत्रयापेक्षया साक्षित्वमेव पुरुषस्य तुरीयावस्थां [1]वदन्तीति सिद्धम्। तथा च स्मर्यते–

सत्त्वाज्जागरणं विद्याद्रजसा स्वप्नमादिशेत्।
प्रस्वापनं तु तमसा तुरीयं त्रिषु संततम्॥ इति।

शङ्का–भोग तथा मोक्ष के अतिरिक्त किसी अन्य प्रयोजन के लिये भी **'दृश्य'** क्यों नहीं होता है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–**'द्वयोरिति।' 'दर्शन'** शब्द का अर्थ है–'बुद्धिवृत्ति।' पूरे वाक्य का अर्थ है–भोगवृत्ति और मोक्षवृत्ति इन दो को ही बुद्धि अपने सहकारी विकारों के माध्यम से सम्पादित करती है। भोग और अपवर्ग से अतिरिक्त और कोई बुद्धिवृत्ति नहीं है। भाष्यकार बुद्धि-पुरुष की **'अविभागापन्नता'** में अर्थात् बुद्धि की वृत्ति से पुरुष अपने को अविभक्त समझता है, इस विषय में पञ्चशिखाचार्य के वाक्य को प्रमाण रूप में प्रस्तुत करते हैं–**'तथा चोक्तमिति।'** यह अविवेकी जीव तो सम्पूर्ण जगत् के कर्त्तृरूप तीनों गुणों में तथा त्रिगुण की अपेक्षा चतुर्थ (तुरीय) पुरुष में अर्थात् गुण के व्यापारभूत जाग्रदादि के साक्षिमात्र कर्त्तारूप वस्तुतस्तु अकर्त्ता पुरुष में बुद्धि के द्वारा समर्प्यमाण गुण-परिणामों को (प्रतिबिम्बित सभी शब्दादि विषयों को) पुरुष में ही युक्तिसिद्ध (वास्तविक रूप से उपस्थित) सा मानता हुआ त्रिगुण अर्थात् जडपदार्थ से अतिरिक्त कोई ज्ञानविषयक ज्ञान होता है, इस विषय में सन्देह भी नहीं करता है। (सरलार्थ यह है कि बुद्धि के द्वारा समर्पित विषयज्ञान के प्रतिसंवेदनरूप 'भोग' के अतिरिक्त 'अपवर्ग' रूप शुद्धतत्त्वदर्शन की उसे कल्पना भी नहीं होती)। भाष्य में प्रयुक्त **'तुल्यातुल्यजातीये'** पद विशेष्यभूत पुरुष का विशेषणपरक है, जो बुद्धि-पुरुष की एकता (विवेकाग्रह) तथा भिन्नता (विवेकज्ञान) में हेतु है अर्थात् बुद्धि-पुरुष की भिन्नता तथा अभिन्नता को बतलाता है। क्योंकि बुद्धि तथा पुरुष दोनों में स्वच्छत्व, सूक्ष्मत्व आदि की दृष्टि से साम्य होने से गुण तथा पुरुष में 'तुल्यजातीयता' बतलाई गई है तथा जडत्व-अजडत्व, परिणामित्व-अपरिणामित्वादि की दृष्टि से वैजात्य अर्थात् वैषम्य भी है (अतः गुण और पुरुष का 'तुल्यजातीय' से भिन्न 'अतुल्यजातीय' रूप भी है), ऐसा कथन का अभिप्राय है। भाष्य में त्रिगुण की अपेक्षा पुरुष को **'तुरीय'** बतलाया गया है और तुरीयावस्था के प्रतिपादक अन्य वाक्य भी जाग्रदाद्यवस्थ गुणत्रय की अपेक्षा से पुरुष की साक्षित्वरूप तुरीयावस्था को बतलाते हैं, ऐसा सिद्ध होता है। जैसा कि स्मृति में कहा गया है–

---

1. क ख ग घ–वदन्ति, च छ–वदति।

अर्थात् 'सत्त्वगुण से जीव की जाग्रदवस्था, रजोगुण से स्वप्नावस्था तथा तमोगुण से सुषुप्ति अवस्था माननी चाहिये। इनके अतिरिक्त तुरीय-अवस्था जो शुद्ध तथा एकरस आत्मस्वरूप है, इन तीनों में व्याप्त रहती है।'

योगवार्त्तिकम्

ननूक्तयोर्भोगापवर्गयोर्गुणकार्यतया गुणनिष्ठत्वेन कथं पुरुषस्य भोगापवर्गार्थं दृश्यमित्युक्तमित्याशङ्क्ते—तावेताविति। यतो बुद्धि[1]कृतावन्वयव्यतिरेकाभ्यां बुद्धिकार्यावतो लाघवेन बुद्धावेव वर्त्तमानौ न तु पुरुषनिष्ठावित्यादिरर्थः। दृष्टान्तप्रदर्शनपूर्वकं परिहरति—यथेत्यादिना। पुरुषे स्वामित्वाज्जयादिवत् तौ व्यपदिश्येते इति वाक्यार्थः। बन्धमोक्षौ यथोक्तभोगापवर्गौ। स हि तत्फलस्येति। बुद्धिगतयो[2]र्विषयावधारणपुरुषावधारणयोः फलस्य सुखादिरूपस्य भोक्ता स्वप्रतिबिम्बितस्य साक्षी; अतस्तयोः स्वामीत्यर्थः। अत्र पुरुषस्यापि स्वातन्त्र्येण भोगस्योक्तत्त्वात् स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति शास्त्रप्रान्तसूत्रे पुरुषस्य स्वतोऽपि मोक्षस्य वक्ष्यमाणत्वाच्च पुरुषस्य भोगापवर्गौ न निराक्रियेते, बुद्धिगतभोगापवर्गयोः स्वतोऽपुरुषार्थत्वाच्च, करणव्यापारस्य पुरुषार्थतासिद्धान्ताच्च, अपि तु परिणामरूपौ यथोक्त-भोगापवर्गाविव पुरुषस्य निराक्रियेते। अत एव तावेतावित्यनेन भोगापवर्गौ विशेषितौ भाष्यकारेणेति।

शङ्का—सत्त्वादिगुण का कार्य होने से उपरिवर्णित भोग तथा अपवर्ग में गुणनिष्ठत्व है अर्थात् भोगापवर्ग गुणनिष्ठ हैं तो फिर कैसे दृश्य को पुरुष के भोगापवर्गरूप प्रयोजन वाला बतलाया जा रहा है—इस प्रकार की शंका को भाष्यकार उठाते हैं—'तावेताविति।' चूँकि भोगापवर्ग 'बुद्धिकृत' हैं अर्थात् अन्वयव्यतिरेक से बुद्धि के कार्य हैं अतः लाघव से बुद्धि में ही वर्तमान हैं अर्थात् 'बुद्धिनिष्ठ' हैं, न कि पुरुषनिष्ठ?

समाधान—भाष्यकार उदाहरणोपस्थापनपूर्वक शंका का परिहार करते हैं—'यथेत्यादिना।' 'स्वामी' होने से पुरुष में भोग तथा मोक्ष का व्यवहार उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार राजा में जय तथा पराजय का व्यवहार होता है, ऐसा वाक्यार्थ है। बन्ध तथा मोक्ष ही यथाक्रम भोग तथा अपवर्ग हैं। योगवार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं—'स हि तत्फलस्येति।' बुद्धिगत विषयावधारण (विषयाकारावृत्ति) तथा पुरुषावधारण (पुरुषाकारावृत्ति, अर्थात् जडचेतन भेदकारावृत्ति)—इन दोनों क्रियाओं के अपने में प्रतिबिम्बित सुखादिरूप फल का भोक्ता पुरुष 'साक्षी' कहलाता है। अतः पुरुष प्रतिबिम्बविधया भोग तथा मोक्ष का अथवा विषयावधारण तथा पुरुषाव-

---

1. क ख ग घ च—कृतौ, छ—कृत०।
2. क—विषयावधारणयोः, ख—विषया च धारणा पुरुषावधारणयोः, ग घ च छ—विषयावधारण-पुरुषावधारणयोः।

धारण का 'स्वामी' है। प्रकृत सूत्र में पुरुष का भी स्वतन्त्ररूप से भोग प्रतिपादित होने से तथा शास्त्र के अन्तिम सूत्र 'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम्' (४/३४) द्वारा पुरुष का सहज (स्वतन्त्र) रूप से मोक्ष वक्ष्यमाण होने से पुरुष के भोग-मोक्ष का प्रत्याख्यान (निराकरण) नहीं किया जा सकता है। क्योंकि बुद्धिगत भोग तथा मोक्ष स्वतः पुरुषार्थरूप नहीं हैं तथा बुद्ध्यादि करणों के भोगादिविषयक व्यापार को पुरुषार्थ के सिद्धान्त वाला माना गया है। पुरुष में परिणामरूप भोगापवर्ग ही निराकृत हैं अर्थात् पुरुष में प्रतिबिम्बित भोगापवर्ग का प्रत्याख्यान नहीं किया गया है। इसीलिये भाष्यकार ने 'तावेतौ' द्वारा पुरुष में भोगापवर्ग का व्यपदेश किया है अर्थात् पुरुष को भोगापवर्ग से विशेषित किया है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार 'भोग' के मुख्य तथा गौण पक्ष को विश्लेषित करते हुए कहते हैं—

योगवार्त्तिकम्

पुरुषाणां च संसारिणां मुख्य एव भोगो [1]बुद्धिवृत्त्यविविक्तः सुखादिसाक्षात्कारः, जीवन्मुक्तेश्वरयोस्तु गौणो भोगः सुखादिसाक्षात्कारमात्ररूप इतीश्वरलक्षणसूत्रे प्रतिपादितमस्माभिरिति। यदि च पुरुषे पृथग्भोगमोक्षौ न स्वीक्रियेते तदा—

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥
मुक्तिर्हित्वाऽ[2]न्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः॥

इत्यादिवाक्यानि नोपपद्येरन्निति दिक्। बुद्धेरेव परमौ बन्धमोक्षावपि दर्शयति—बुद्धेरेवेति। बुद्धिरूपेण परिणतानां गुणानामेवेत्यर्थः, तदर्थावसायो विवेकख्यात्या पुरुषार्थसमाप्तिः। तथा च यथोक्तभोगापवर्गरूपैः पुरुषार्थैः संबन्धो बुद्धेर्बन्धो वियोगश्च मुक्तिरिति भावः एतौ च बुद्धेः परमबन्धपरममुक्ती, पूर्वोक्तौ तु भोगापवर्गावपरबन्धजीवन्मुक्ती इत्यविरोधः। एतेनेति। एतेन शब्दादिविषयभोगविवेकख्यात्योः पुरुषेष्वौपचारिकत्वेन ग्रहणा- दयोऽपि पुरुषेषूपचरितसत्ताका वेदितव्या[3] इति शेषः। ग्रहणं स्वरूपमात्रेणार्थज्ञानम्, धारणा चिन्तनम्, ऊहोऽर्थगतविशेषाणां वितर्कणम्, अपोहो वितर्कितमध्ये विचारतः क्रियतां निराकरणम्, तत्त्वज्ञानं वितर्कितमध्य एकं विचारतः कियद्विशेषावधारणम्, अभिनिवेशस्तदाकारताऽऽपत्तिरिति। प्रकृतस्य योगस्य भूमिकारूपतयैव चित्तपरिणामा अत्र गणिताः, एतैश्चान्येऽपीच्छाकृत्यादय उपलक्षणीया इति॥१८॥

---

1. क ग घ च छ—बुद्धिवृत्त्यविविक्तः, ख—अभिमानपूर्वकः।
2. क ख—अन्यथाभावं, ग—अन्यभावं, घ च छ—अन्यथारूपम्।
3. ख—एतेषां तद्विशेषत्वात् (वेदितव्या पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ—एतेषां तद्विशेषत्वात् नोपलभ्यते।

सांसारिक पुरुषों का बुद्धिवृत्ति से अभेदापन्न सुखादिज्ञानरूप ही **'मुख्य भोग'** होता है, किन्तु जीवमुक्त तथा ईश्वर में सुखादि साक्षात्काररूप ही **'गौण भोग'** होता है, यह तथ्य ईश्वर के लक्षण सूत्र में हमारे द्वारा पीछे प्रतिपादित हो चुका है। यदि पुरुष में पृथक् (परिणामभिन्न प्रतिबिम्बित) भोग तथा मोक्ष को स्वीकार न किया जाय तो ये निम्नाङ्कित वाक्य उपपन्न नहीं हो सकेंगे—**'कार्यकारण...हेतुरुच्यते'** (गीता १३/२०), **'मुक्तिर्हित्वा... व्यवस्थितिः'** (श्रीमद्भागवत २/१०/६) अर्थात् 'हे अर्जुन! तत्त्वज्ञ पुरुष शरीर एवं महदादि कार्यों तथा इन्द्रिय, वचन, दर्शन आदि करणों की कर्तृता में (कारणता में) प्रकृति को ही हेतु अर्थात् उपादानकारण कहते हैं तथा सुख-दुःखों के अनुभव में सबके साक्षिरूप से विद्यमान प्रत्यगात्मा को हेतु कहते हैं', 'अन्यथारूप (औपाधिकरूप) को छोड़कर अपने स्वरूप में अवस्थित होना पुरुष का मोक्ष है।' भाष्यकार बन्ध तथा मोक्ष को बुद्धि का ही वास्तविक रूप होना प्रदर्शित करते हैं—**'बुद्धेरेवेति'** बुद्धिरूप से परिणत गुणों के पुरुषार्थ की समाप्ति न होना **'बन्ध'** है तथा विवेकख्याति से पुरुषार्थ की समाप्ति (अर्थावसाय) होना **'मोक्ष'** है। इस प्रकार यथाक्रम भोग तथा अपवर्गरूप पुरुषार्थ के साथ बुद्धि का सम्बन्ध होना **'बन्ध'** कहलाता है तथा वियोग होना **'मोक्ष'** कहलाता है। यही बुद्धि का परमबन्ध तथा परममुक्ति है। अर्थात् बन्ध और मोक्ष बुद्धिपक्ष में वास्तविक हैं। किञ्च पूर्वप्रतिपादित जो भोग तथा अपवर्ग हैं, वे 'अपर बन्ध' और 'जीवन्मुक्ति' वाले हैं अर्थात् वे पुरुष के औपाधिक बन्ध और मोक्ष के व्याख्यापरक हैं। अतः इनमें (बुद्धिनिष्ठ भोगापवर्ग तथा पुरुषनिष्ठ भोगापवर्ग में) परस्पर विरोध नहीं है। योगवार्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं—**'एतेनेति'** इस प्रक्रिया से शब्दादि-विषयक भोग तथा भेदज्ञानविषयिणी विवेकख्याति पुरुषसामान्य में औपचारिक होने से उनमें ग्रहणादि को भी औपचारिक सत्ता वाला समझना चाहिये। भाष्य में प्रयुक्त **'ग्रहण'** शब्द का अर्थ है—'स्वरूपमात्र से होने वाला अर्थज्ञान', **'धारणा'** शब्द का अर्थ है—चिन्तन अर्थात् उक्त अर्थज्ञानविषयक स्मृति, **'ऊह'** शब्द का अर्थ है—(स्मृत) 'पदार्थगत विशेषों के विषय में तर्कणा, **'अपोह'** शब्द का अर्थ है—वितर्कित अर्थात् समारोपित पदार्थों के मध्य में से कतिपय पदार्थों को विचारपूर्वक युक्ति द्वारा दूर करना, **'तत्त्वज्ञान'** पद का अर्थ है—वितर्कित पदार्थों के विषय में विचार करके किसी विशिष्ट निर्णय पर पहुँचना अर्थात् यथार्थतत्त्व का निश्चय करना तथा **'अभिनिवेश'** चित्त की निश्चयात्मिका वृत्ति को कहते हैं। योग की भूमिका रूप से ही चित्त के परिणामों को यहाँ गिनाया गया है। वस्तुतस्तु इनसे चित्त के इच्छा, कृति आदि अन्य परिणाम भी उपलक्षित होते हैं। (इस प्रकार ग्रहणादि सब बुद्धि में ही

विद्यमान हैं, पुरुष में तो वे आरोपित मात्र हैं, क्योंकि वह पुरुष बुद्धिगत फल का भोक्ता है। इस प्रकार दृश्य का निरूपण किया गया है)॥१८॥

बालप्रिया–

पुरुषस्यापि स्वातन्त्र्येण भोगस्योक्तत्वात्– मिश्र-भिक्षु-मतभेद–वाचस्पति मिश्र ने पुरुष के स्वातन्त्र्य भोग के विषय में कुछ नहीं कहा है। वे सर्वदा पुरुष के औपाधिक भोग के पक्षपाती रहे हैं। किन्तु विज्ञानभिक्षु ने पुरुष के स्वातन्त्र्य भोग को स्पष्टतः उपपादित किया है। उनका वक्तव्य है कि सूत्र तथा भाष्य में जहाँ-कहीं पुरुष के भोगापवर्ग का निराकरण हुआ है, वह पुरुष के परिणामरूप भोग के विषय में है, न कि स्वातन्त्र्य भोग के विषय में। विज्ञानभिक्षु ने स्वमत के समर्थन में श्रुतिवाक्यों को भी उद्धृत किया है।

वस्तुतस्तु पातञ्जलयोग के टिप्पणकार बालरामोदासीन को विज्ञानभिक्षु का यह मत अपेशल प्रतीत हुआ। क्योंकि **'विज्ञानं यज्ञं तनुते'**, **'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः'**, **'ध्यायतीव लेलायतीव'**–इत्यादि श्रुतिवाक्यों के द्वारा पुरुष में भोगादि धर्म औपाधिक ही बतलाये गये हैं, न कि पारमार्थिक। टिप्पणकार बालरामोदासीन का मत है कि पुरुष के स्वातन्त्र्य भोग के समर्थन में विज्ञानभिक्षु ने जिस श्रुतिवाक्य **'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते'** को उपन्यस्त किया है उसका तात्पर्य भी पुरुष के मुख्यभोग के प्रतिपादन में पर्यवसित होता है। तथाहि–**'कार्यकारणकर्त्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते'**–इस श्लोकांश द्वारा प्रकृति का संसारकारणत्व बतलाकर प्रकृति का ऐसा करने में क्या प्रयोजन है, इस आकांक्षा के शमनार्थ श्लोक का उत्तरार्द्ध है– **'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।'** आगे चलकर पुरुष के स्वाभाविक भोग के विषय में सम्भावित शंका को निरस्त करने के लिये श्रीकृष्ण भगवान् ने गीता में कहा–**'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्। कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।'** प्रस्तुत श्लोक के द्वारा प्रकृतितादात्म्यापन्न पुरुष में गुणसङ्ग से औपाधिक भोक्तृता को ही सिद्ध किया गया है, न कि पारमार्थिक भोक्तृता को। किञ्च **'उपद्रष्टाऽनुमन्ता'** द्वारा श्रीकृष्ण ने पुरुष के स्वाभाविक साक्षित्व को ही सिद्धान्तित किया है॥१८॥

सम्प्रति, भाष्यकार अग्रिम सूत्र को अवतरित करते हैं–

व्यासभाष्यम्

[1]दृश्यानां [2]तु गुणानां स्वरूपभेदावधारणार्थमिदमारभ्यते–

---

1. क ख–दृश्यानां तु गुणानां स्वरूपभेदावधारणार्थमिदमारभ्यते २/१८ सूत्रस्य टीका, ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–दृश्यानां...रभ्यते २/१९ सूत्रस्य अवतरणिका।
2. ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–तु उपलभ्यते, क ग ब–तु नोपलभ्यते।

पूर्वोक्त दृश्यस्वरूप सत्त्वादि गुणों के स्वरूप तथा भेद का निश्चय करने के लिये अग्रिम सूत्र आरम्भ किया जा रहा है–

योगसूत्रम्

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रा[1]लिङ्गानि गुणपर्वाणि॥१९॥

विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र तथा अलिङ्ग (ये चारों) त्रिगुण की अवस्थाएँ हैं॥१९॥

व्यासभाष्यम्

तत्राकाशवाय्वग्न्युदकभूमयो भूतानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणामविशेषाणां विशेषाः। तथा श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि बुद्धीन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मनः सर्वार्थम्, इत्येतान्यस्मितालक्षणस्याविशेषस्य विशेषाः। गुणानामेष षोडशको विशेषपरिणामः। षडविशेषाः। तद्यथा–शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रं चेत्येकद्वित्रिचतुष्पञ्चलक्षणाः शब्दादयः पञ्चाविशेषाः, षष्ठश्चाविशेषोऽस्मितामात्र इति। एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतः षडविशेषपरिणामाः। यत्तत्परमविशेषेभ्यो लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वं तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति, प्रतिसंसृज्यमानाश्च तस्मिन्नेव सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय यत्तन्निःसत्तासत्तं निःसदसन्नि[2]रसदव्यक्तमलिङ्गं प्रधानं तत्[3]प्रतियन्ति। एष तेषां लिङ्गमात्रः परिणामो निःसत्तासत्तं चालिङ्गपरिणाम इति। अलिङ्गावस्थायां [4]न पुरुषार्थो हेतुः। नालिङ्गावस्थाया- मादौ पुरुषार्थता कारणं भवतीति न तस्याः [5]पुरुषार्थता कारणं भवतीति नासौ पुरुषार्थकृतेति नित्याख्यायते।[6] त्रयाणां त्ववस्थाविशेषाणामादौ पुरुषार्थता कारणं भवति। स चा[7]र्थो हेतु[8]र्निमित्तं कारणं भवतीत्यनित्याख्यायते।

---

1. अलिङ्गा गुणपर्वाः–इति पाठान्तरम्।
2. क ख ग घ च ध न प फ ब भ म य र–निरसत् उपलभ्यते, छ ज झ त थ द–निरसत् नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–प्रतियन्ति, ब–प्रतियान्ति।
4. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र–न उपलभ्यते, झ त–न नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र–पुरुषार्थता उपलभ्यते, झ त–पुरुषार्थता नोपलभ्यते।
6. छ थ–अयं प्रकृतिलयो भवप्रत्ययोऽसंप्रज्ञातः समाधिः विशेषाविशेषलिङ्गमात्राणाम् (आख्यायते पश्चाद्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र–अयं...मात्राणां नोपलभ्यते।
7. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध प फ ब भ म य र–अर्थः, न–अर्थो।
8. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध प फ ब भ म य र–निमित्तं, न–निमित्त०।

गुणास्तु सर्वधर्मानुपातिनो न प्रत्यस्तमयन्ते नोपजायन्ते। व्यक्तिभिरेवातीताना-गतव्ययागमवतीभिर्गुणान्वयिनीभिरुपजननापायधर्मका इव प्रत्यवभासन्ते। यथा देवदत्तो दरिद्राति। कस्मात्? यतोऽस्य म्रियन्ते गाव इति। गवामेव मरणात्तस्य [1]दरिद्रता, न स्वरूपहानादिति समः समाधिः। लिङ्गमात्रमलिङ्गस्य प्रत्यासन्नं तत्र तत्संसृष्टं विविच्यते, क्रमानतिवृत्तेः। तथा षडविशेषा लिङ्गमात्रे संसृष्टा विविच्यन्ते, परिणामक्रमनियमात्। तथा तेष्वविशेषेषु भूतेन्द्रियाणि संसृष्टानि विविच्यन्ते, तथा चोक्तं पुरस्तात्। न विशेषेभ्यः परं तत्त्वान्तरमस्तीति विशेषाणां नास्ति तत्त्वान्तरपरिणामः। तेषां तु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा [2]व्याख्यास्यन्ते॥१९॥

उन (चारों) में से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये (पांचों) महाभूत शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धतन्मात्र नामक (पांच) 'अविशेषों' के 'विशेष' (संज्ञक पर्व अर्थात् अवस्थाएँ) हैं। इसी प्रकार श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राणनामक ज्ञानेन्द्रियाँ; वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ—नामक कर्मेन्द्रियाँ तथा ग्यारहवाँ उभयात्मक मन—ये सब 'अस्मिता' नामक अविशेष के विशेष (पर्व) हैं। इस प्रकार गुणों के ये सोलह 'विशेष' परिणाम हैं। (गुणों के) छह 'अविशेष' परिणाम हैं। वे छह 'अविशेष' परिणाम इस प्रकार हैं—शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र तथा गन्धतन्मात्र—क्रमशः एक, दो, तीन, चार तथा पांच लक्षण वाले—ये पांच शब्दादि 'अविशेष' तथा छठवां अस्मितामात्र अविशेष है। ये, (पुरुषार्थक्रियाक्षम) अभिव्यक्तिमात्र स्वरूप वाले महत्तत्त्व के, छह 'अविशेष' परिणाम हैं। इन अविशेषों से परे यह जो अभिव्यक्तिमात्र (प्रकृति का आद्यपरिणाम) महत्तत्त्व है, इसमें रहकर ये (षड्) 'अविशेष' वृद्धि की सीमा को प्राप्त करते हैं और (प्रलय की अवस्था में) प्रविलीन होते हुए उसी अभिव्यक्तिमात्र महत्तत्त्व में प्रविष्ट होकर—जो सत्ता और असत्ता इन दोनों धर्मों से रहित, कार्यकारण-भाव से शून्य, आकाश-पुष्पादि असत् पदार्थों से विलक्षण, सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रिय की विषयता से रहित तथा उपादानकारण के न होने से किसी दूसरे कारण में लीन (लय को प्राप्त) न होने वाला जो प्रधान है अर्थात् त्रिगुण की साम्यावस्थारूप जो प्रकृति है, उसमें—लीन हो जाते हैं। यह (महत्तत्त्व) उन (गुणों) का 'लिङ्गमात्र' (संज्ञक) परिणाम है। सत्ता और

---

1. क ख ग घ प फ ब र—दरिद्राणं, च छ ज झ त थ द ध न भ म य—दरिद्रता।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न फ ब भ य र—व्याख्यायिष्यन्ते, प—व्याख्यायन्ते, म—व्याख्यास्यन्ते।

असत्तारूप प्रकृतितत्त्व (गुणों का) अलिङ्गपरिणाम है। अलिङ्गावस्था (गुणों के 'अलिङ्ग' संज्ञक पर्व) में पुरुषार्थ कारण नहीं है, क्योंकि अलिङ्गावस्था के प्रारम्भ में पुरुषार्थरूप कारण नहीं रहता है। इसलिये पुरुषार्थता इस अव्यक्तावस्था का कारण नहीं है। अतः यह अव्यक्तावस्था वाली 'प्रकृति' पुरुषार्थजन्य नहीं है, इसलिये 'नित्य' कही जाती है। शेष तीनों विशिष्ट अवस्थाओं के प्रारम्भ में पुरुषार्थतारूप कारण रहता है। यह पुरुषार्थ निमित्त-कारण बनता है, इसलिये ये तीनों अवस्थाएँ (विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र-संज्ञक पर्व) 'अनित्य' कही जाती हैं। सभी धर्मों (अवस्थाओं) में अनुगत रहने वाले सत्त्वादि तीनों गुण न तो नष्ट होते हैं और न उत्पन्न होते हैं। भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानकालिक गुणगत अभिव्यक्तियों (पर्वों) के द्वारा वे उत्पन्न और नष्ट सदृश प्रतीत होते हैं। जैसे देवदत्त दरिद्र हो रहा है। क्यों? क्योंकि देवदत्त की गायें मर रही हैं। यहाँ पर गायों के मरने से ही देवदत्त की दरिद्रता का कथन किया जाता है, न कि देवदत्त के स्वरूपनाश से। इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्त एक जैसे ही हैं। 'अलिङ्ग' अर्थात् प्रकृति का अव्यवहित प्रथम परिणाम 'लिङ्गमात्र' (महत्तत्त्व) है। उस 'अलिङ्गपर्व' से अविभक्त वह 'लिङ्गमात्रपर्व' यथायोग्य क्रम से भिन्न रूप धारण करता है। इसी प्रकार 'अविशेषपर्व' के छहों तत्त्व 'लिङ्गमात्र' से अविभक्त रहते हुए परिणामक्रम के नियम से भिन्नरूप धारण करते हैं। वैसे ही उन 'अविशेषों' से अविभक्त रहते हुए भूत, इन्द्रियरूप 'विशेष' तत्त्व भिन्न आकार धारण करते हैं। यह बात पहले कही जा चुकी है। इन विशेषों के बाद कोई अन्य तत्त्व नहीं होता है, इसलिये विशेषों का 'तत्त्वान्तर' परिणाम नहीं होता है। इन विशेषों के तो धर्म, लक्षण तथा अवस्था परिणाम आगे बतलाये जायेंगे॥१९॥

तत्त्ववैशारदी

दृश्यानां गुणानां स्वरूपभेदावधारणार्थमिदमारभ्यते—विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्रा-लिङ्गानि गुणपर्वाणि। येषामविशेषाणां शान्तघोरमूढलक्षणविशेषरहितानां ये विशेषा विकारा एव न तु तत्त्वान्तरप्रकृतयस्तेषां तानाह—तत्राकाशेति। उत्पादक्रमानुरूप एवोपन्या-सक्रमः। अस्मितालक्षणस्याविशेषस्य सत्त्व[1]प्रधानस्य बुद्धीन्द्रियाणि विशेषाः। [2]रजःप्रधानस्य कर्मेन्द्रियाणि। मनस्तूभयात्मकमुभयप्रधानस्येति मन्तव्यम्।

1. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न—प्रधानस्य, झ—प्रधानम्।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न—राजसस्य, थ द ध—रजःप्रधानस्य।

दृश्यरूप गुणों के स्वरूप एवं भेद को निर्द्धारित करने के लिये प्रस्तुत सूत्र को प्रारम्भ किया जा रहा है—**'विशेषेति'** भाष्यकार शान्त, घोर तथा मूढ अवस्थाओं से रहित जिन **'अविशेषों'** के ये **'विशेष'** कार्य (विकार) ही हैं अर्थात् तत्त्वान्तर प्रकृतिरूप नहीं हैं, उन विशेषों को बताते हैं—**'तत्राकाशेति।'** यहाँ पर्वों को तत्त्वों के उत्पत्तिक्रम से ही क्रमशः उपन्यस्त किया गया है (अन्तर यह है कि यह पर्वक्रम कारण से कार्य की ओर न बढ़ता हुआ कार्य से कारण की ओर उन्मुख है। कारण की अपेक्षा कार्य के स्थूल होने से, पदार्थगत स्फुटता को ध्यान में रखकर यथोक्त क्रम निर्दिष्ट हुआ है)। सत्त्वगुणप्रधान अस्मितालक्षणक **'अविशेष'** की बुद्धीन्द्रियाँ **'विशेष'** परिणाम हैं। रजोगुणप्रधान अस्मितालक्षणक **'अविशेष'** की कर्मेन्द्रियाँ **'विशेष'** परिणाम हैं। सत्त्वगुण तथा रजोगुणप्रधान अस्मितालक्षणक **'अविशेष'** का मन उभयात्मक (ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय रूप) **'विशेष'** परिणाम है—ऐसा समझना चाहिये।

बालप्रिया—

'सत्त्वप्रधानस्याऽस्मितालक्षणस्याऽविशेषस्य...विशेषाः'—'सत्त्वप्रधान अस्मितालक्षणक अविशेष' का अर्थ है—श्रवणस्पर्शनदर्शनादिरूप विशेषधर्म से शून्य अभिमानमात्र धर्मक 'अहङ्कार।' श्रवण, स्पर्शनादि धर्म वाली पांच ज्ञानेन्द्रियाँ अस्मितालक्षंणक अहङ्कार का 'कार्य' हैं। इसी प्रकार वचनादानादिविशेष धर्म से शून्य अभिमानमात्र-धर्मक अहंकार की वचनादानादिधर्मक पञ्च कर्मेन्द्रियाँ 'कार्य' हैं।

'उभयात्मकम्'—मन, सत्त्वरजःप्रधान अहंकार का कार्य है। मन में अधिष्ठित रहते हुए ही चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वागादि कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने विषय में प्रवृत्त होती हैं अर्थात् स्व-स्व व्यापार को करती हैं, इसलिये मन को ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रियात्मक कहा गया है। श्रुति प्रमाण है—**'अन्यत्रमनाऽभूवं नाऽश्रौषम्।'** सांख्य-कारिका में भी मन के विषय में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है—**'उभयात्मकमत्र मनः।'**

सम्प्रति, पञ्चतन्मात्र एवं अस्मिता—इन **'षड् अविशेषों'** का कारण एक ही तत्त्व है, इसे युक्तिपूर्वक सिद्ध किया जा रहा है—

तत्त्ववैशारदी

अत्र च पञ्च तन्मात्राणि बुद्धिकारणकान्यविशेषत्वादस्मितावदिति। विकारहेतुत्वं चावि-शेषत्वं तन्मात्रेषु चास्मितायां चा[1]विशिष्टम्। संकलय्य विशेषान् परिगणयति—गुणानामेष इति।

---

1. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न—**अविशिष्टं**, ज—**अविष्टब्धम्।**

पञ्चतन्मात्र बुद्धिकारणक हैं (प्रतिज्ञा), 'अविशेष' होने से (हेतु), अस्मिता के समान (उदाहरण)–इस अनुमान प्रयोग द्वारा (योगदर्शन में) अस्मिता अर्थात् अहंकार तत्त्व की भाँति पञ्चतन्मात्राओं को भी बुद्धि का कार्य बतलाया गया है। यहाँ कार्यहेतुत्वरूप **'अविशेषत्व'** तन्मात्र तथा अस्मिता दोनों में तुल्य है। संकलित कर भाष्यकार विशेषों को परिगणित करते हैं–**'गुणानामेष इति'** गुणों के ये सोलह (पञ्चमहाभूत तथा एकादश इन्द्रियाँ) **'विशेष'** परिणाम कहे जाते हैं।

बालप्रिया–

'पञ्च तन्मात्राणि बुद्धिकारणकानि'–इस बिन्दु पर सांख्ययोग में मतभेद है। सांख्य के अनुसार तन्मात्र अहंकार का कार्य है। योग के अनुसार तन्मात्र बुद्धि का कार्य है। इसीलिये वाचस्पति मिश्र ने योगदर्शन के अनुसार तन्मात्र को बुद्धि का कार्य सिद्ध करने के लिये अनुमान-प्रयोग का आश्रय लिया और 'विकारहेतुत्व' अर्थात् विकारमात्रहेतुत्व को 'अविशेष' पदवाच्य बतलाया है। विकारमात्रहेतुत्व अहंकार तथा तन्मात्र दोनों में तुल्य है। अर्थात् अहंकार से उत्पन्न एकादश इन्द्रियरूप कार्य और तन्मात्र से उत्पन्न महाभूतरूप कार्य केवल विकृतिरूप ही हैं, किसी के प्रति कारण नहीं। दार्शनिक शब्दावली में षड् अविशेषों से अभिव्यक्त तत्त्वों में तत्त्वान्तरोपादानकत्व नहीं है। इस प्रकार के छहों अविशेषों का कारण एक ही **'लिङ्गतत्त्व'** अर्थात् बुद्धितत्त्व है। अर्थात् अहंकार और तन्मात्र का उत्पत्तिस्रोत एक ही है, पृथक्-पृथक् नहीं। इसी तथ्य को वाचस्पति मिश्र ने दृढतापूर्वक सिद्ध किया है। इस परिप्रेक्ष्य में चारों पर्वों का मूल्यांकन इस प्रकार किया जा सकता है–

केवल विकृति (कार्य) समूह का पारिभाषिक नाम **'विशेष'** है।

केवल विकृति के कारणसमूह का पारिभाषिक नाम **'अविशेष'** है।

प्रकृति-विकृति के कारण का पारिभाषिक नाम **'लिङ्ग'** है।

केवल कारण का पारिभाषिक नाम **'अलिङ्ग'** है।

सम्प्रति, **'अविशेष'** पर्व का विवरण किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

अविशेषानपि गणयति–षडिति। संकलय्योदाहरति–तद्यथेति। विशिष्टं ह्यपरं परेणेति गन्ध आत्मना पञ्चलक्षणो, रस आत्मना चतुर्लक्षणो, रूपमात्मना त्रिलक्षणं स्पर्श आत्मना द्विलक्षणः, शब्दः शब्दलक्षण एवेति।

भाष्यकार **'अविशेष'** तत्त्वों को भी परिगणित करते हैं–**'षडिति'** छह **'अविशेष'** हैं। अर्थात् गुणों के **'अविशेष'** पर्व में (पञ्चतन्मात्र और अहंकार) ये छह तत्त्व हैं। भाष्यकार संकलित करके अविशेषों का उदाहरण देते हैं–**'तद्यथेति'** 'पर' से विशिष्ट 'अपर' होता है'–इस नियम के अनुसार 'अपर' अर्थात् गन्धतन्मात्रादि 'पर' अर्थात्

रसतन्मात्रादि से **'विशिष्ट'** अर्थात् युक्त होता है, इसलिये अपने स्वरूपसहित गन्धतन्मात्र **'पञ्चलक्षणक'** (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध वाला) है, अपने स्वरूपसहित रसतन्मात्र **'चतुर्लक्षणक'** (शब्द-स्पर्श-रूप-रस वाला) है, अपने स्वरूपसहित रूपतन्मात्र **'त्रिलक्षणक'** (शब्द-स्पर्श-रूप वाला) है, अपने स्वरूपसहित स्पर्शतन्मात्र **'द्विलक्षणक'** (शब्द-स्पर्श वाला) है तथा केवल अपने स्वरूप वाला शब्दतन्मात्र **'एकलक्षणक'** (शब्द वाला) है।

बालप्रिया–

'विशिष्टं ह्यपरं परेण'–'अपर' शब्द का अर्थ है–परवर्ती तथा 'पर' शब्द का अर्थ है–पूर्ववर्ती। कारण 'पर' होता है और कार्य 'अपर' होता है। परवर्ती कार्य पूर्ववर्ती कारण के धर्मों से अनुप्रविष्ट रहता है, इस नियम के अनुसार पूर्व-पूर्व शब्दादि तन्मात्राएँ उत्तरोत्तर स्पर्शादि तन्मात्राओं से वियुक्त रहती हैं और उत्तरोत्तर तन्मात्राएँ पूर्व-पूर्व तन्मात्राओं में युक्त रहती हैं। अतः शब्दादितन्मात्राओं को एकद्वित्रिचतुर्पञ्चलक्षणक कहा गया है।

सम्प्रति, छह अविशेषों के उपादानकारण पर विचार किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

कस्य पुनरमी षडविशेषाः कार्यमित्यत आह– एते सत्तामात्रस्यात्मन इति। पुरुषार्थ-क्रियाक्षमं सत्। तस्य भावः सत्ता। तन्मात्रं [1]तन्महत्तत्त्वम्। यावती काचित्पुरुषार्थक्रिया शब्दादिभोगलक्षणा सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिलक्षणा वास्ति सा सर्वा महति बुद्धौ समाप्यत इत्यर्थः। आत्मन इति स्वरूपोपदर्शनेन तुच्छत्वं निषेधति। प्रकृतेरयमाद्यः परिणामो वास्तवो न तु तद्विवर्त इति यावत्।

शङ्का–ये छह **'अविशेष'** किसके कार्य (परिणाम) हैं? अर्थात् इन छह अविशेषों का कारण कौन है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–**'एते सत्तामात्रस्यात्मन इति'** ये सत्तामात्र महत्=बुद्धि के छह 'अविशेष' परिणाम हैं। **'सत्तामात्रस्यात्मनो महतः'** भाष्य में प्रयुक्त **'सत्ता'** पद के अर्थ को स्पष्ट करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–जो पुरुषार्थक्रिया करने में समर्थ होता है, उसे **'सत्'** कहते हैं। **'सत्'** के भाव को **'सत्ता'** कहते हैं। ऐसा **'सत्तामात्र'** तत्त्व है–महत्। चाहे शब्दादिभोगरूप पुरुषार्थक्रिया हो अथवा सत्त्वपुरुषा-न्यताख्यातिरूप पुरुषार्थक्रिया हो–सभी क्रियाएँ महत् अर्थात् बुद्धि में समाप्त होती हैं (अर्थात् बुद्धि ही पुरुषार्थक्रिया को सम्पादित करती है)। **'आत्मनो महतः'** में **'आत्म'** पद के प्रयोग का प्रयोजन बताते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–यहाँ **'महत्'**

---

1. क ख ग घ च ज झ त न–तत् उपलभ्यते, थ द ध–तत् नोपलभ्यते।

के स्वरूपतः उपलब्ध होने के कारण, उसमें **'तुच्छत्व'** का निषेध **'आत्म'** पद के प्रयोग द्वारा किया गया है। प्रकृति का आद्य 'परिणाम' (कार्य) 'महत्' वास्तविक (तात्त्विक) है, न कि वह **विवर्तरूप** अर्थात् अतात्त्विक है।

बालप्रिया—

'तुच्छत्वम्'—खपुष्प के समान **'महत्'** तुच्छ अर्थात् अलीक नहीं है। अतः महत्तत्त्व में तुच्छत्व के सम्भावित सन्देह की निवृत्ति के लिये **'आत्मनः'** पद प्रयुक्त हुआ है। वेदान्तियों द्वारा मान्य जगत् की व्यवहारिक सत्ता की भाँति सांख्ययोग में महदादि रूप जगत् की व्यवहारिक सत्ता नहीं है।

'आद्यः परिणामो वास्तवो न तु तद्विवर्तः'—महत्तत्त्व को प्रकृति का आद्य परिणाम घोषित कर वेदान्त का विवर्तवाद निरस्त होता है तथा योग का परिणामवाद समर्थित होता है। प्रकृत्ति के तात्त्विक परिवर्तन को **'परिणाम'** कहते हैं तथा ब्रह्म (ब्रह्माश्रित माया) का अतात्त्विक परिवर्तन **'विवर्त'** कहलाता हैं। परिणामवाद के अनुसार जगत् की **'वास्तविक'** सत्ता है। जब कि विवर्तवाद के अनुसार जगत् की अवास्तविक अर्थात् **'व्यावहारिक'** सत्ता है। **'परिणामवाद'** के पोषक सांख्ययोगाचार्य हैं तथा **'विवर्तवाद'** के पोषक हैं—वेदान्ती। वेदान्तपरिभाषा में **'परिणाम'** तथा **'विवर्त'** का लक्षण इस प्रकार किया गया है—**'परिणामो नाम उपादानसमसत्ताककार्यापत्तिः। विवर्त्तो नाम उपादानविषमसत्ताककार्यापत्तिः'** (प्र. परि.)।

महत्तत्त्व का स्वरूप आगे बतलाया जा रहा है, जिसमें **'अविशेष'** वृद्धि को प्राप्त होता है—

तत्त्ववैशारदी

यत्तत्परं विप्रकृष्टकालमविशेषेभ्यस्तदपेक्षया संनिकृष्टकालेभ्यों लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वं तस्मिन्नेते षडविशेषाः सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय सत्कार्यसिद्धेर्विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति प्राप्नुवन्ति। ये पुनरविशेषाणां विशेषपरिणामास्तेषां च धर्मलक्षणावस्थाः परिणामा इति, सेयमेषां विवृद्धिकाष्ठा परिणामकाष्ठेति

यह जो, सन्निकृष्ट (पूर्व) काल वाले अविशेषों की अपेक्षा विप्रकृष्ट (पर) काल वाला **'लिङ्गमात्र'** अर्थात् महत्तत्त्व है, उस **'सत्तामात्र'** महत्तत्त्व में ये छह **'अविशेष'** अवस्थित रहकर (अनागतावस्था में रहकर) सत्कार्यवाद के अनुसार (**'कार्यं सत्'** को प्रमाणित करते हुए) **'विवृद्धिकाष्ठा'** अर्थात् अनभिव्यक्त (अनागत-लक्षण) से अभिव्यक्तरूप (वर्तमानलक्षणरूप) कार्य की पराकाष्ठा को प्राप्त होते हैं अर्थात् महत् के कार्य रूप में परिणत होते हैं। जैसे षड् **'अविशेषों'** के सोलह **'विशेष'** परिणाम हैं और उन सोलह के धर्म, लक्षण तथा अवस्थापरिणाम कहे जाते हैं वैसे

ही लिङ्गमात्र का षड् अविशेष परिणाम होता है और उन छह 'अविशेष' के धर्मादि परिणाम होते हैं। षड् अविशेषों की इसी परिणामकाष्ठा को **'विवृद्धिकाष्ठा'** कहते हैं।

बालप्रिया–

'तदपेक्षया'–का अर्थ है–महत्तत्त्व की अपेक्षा से। सन्निकृष्टकाल वाले अर्थात् अनन्तरभावी अहंकार और पञ्चतन्मात्र की अपेक्षा जो पूर्वभावी महत्तत्त्व है, उसे **'लिङ्गमात्र'** कहा जाता है।

'परिणामकाष्ठा'–योगसम्मत **'परिणामकाष्ठा'** के अवबोधार्थ निम्नाङ्कित सूत्र की विस्तृत व्याख्या द्रष्टव्य है–**'एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः'** (यो. सू. ३/१३)।

षड् **'अविशेषों'** की अभिव्यक्ति (उत्पत्ति) के दार्शनिक पक्ष को प्रकाशित करके सम्प्रति, **'अविशेषों'** के **'लय'** के विषय में विचार प्रस्तुत हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

तदेवमुत्पत्तिक्रममभिधाय प्रलयक्रममाह–[1]प्रतिसंसृज्यमाना इति। प्रतिसंसृज्यमानाः प्रलीयमानाः स्वात्मनि लीनविशेषा अविशेषास्तस्मिन्नेव सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय विलीय[2] सहैव महता तेऽविशेषा अव्यक्तमन्यत्र लयं न [3]गच्छतीत्यलिङ्गं प्रतियन्ति। तस्यैव विशेषणं निःसत्तासत्तम् इति। [4]सत्ता पुरुषार्थक्रियाक्षमत्वम्। असत्ता तुच्छता। निष्क्रान्तं सत्ताया असत्तायाश्च यत्तत्तथोक्तम्। एतदुक्तं भवति–सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था न क्वचित्पुरुषार्थ उपयुज्यत इति न सती। नापि गगनकमलिनी[5]व तुच्छस्वभावा। तेन नासत्यपीति।

इस प्रकार उत्पत्तिक्रम को बतलाकर सम्प्रति, भाष्यकार अविशेषों के प्रलयक्रम को उपपादित करते हैं–**'प्रतिसंसृज्यमाना इति'** **'प्रतिसंसृज्यमान'** अर्थात् प्रलीयमान (लयोन्मुखी) ये **'अविशेष'**, जिनमें **'विशेष'** लीन रहते हैं, **'सत्तामात्र'** महत्तत्त्व में (प्रकृति के तात्त्विक परिणाम पुरुषार्थक्रियाक्षम बुद्धितत्त्व में) **'लीन'** अर्थात् सूक्ष्मरूप से अवस्थित रहते हुए उसी के साथ ही **'अव्यक्त'** रूप **'अलिङ्ग'** अर्थात् किसी अन्य में लीन न होने वाले प्रकृति तत्त्व में **'लय'** को प्राप्त होते हैं। इसी अव्यक्त रूप **'अलिङ्ग'** का विशेषणभूत पद है–**'निःसत्ताऽसत्तमिति।'** **'सत्ता'** शब्द का अर्थ है–पुरुषार्थक्रियाक्षमत्व। **'असत्ता'** शब्द का अर्थ है–तुच्छत्व। इस प्रकार पुरुषार्थक्रियाक्षमत्व तथा

---

1. थ द ध–प्रतिसंसृज्यमाना इति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–प्रतिसंसृज्यमाना इति नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न–विलीय, थ द ध–निलीय।
3. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न–गच्छति, छ–गच्छन्ति।
4. क ख ग घ च छ ज झ त द न–सत्ता, थ ध–सत्त्वम्।
5. क ख ग घ च छ ज झ त न–इव, थ द ध–वत्।

तुच्छत्व जिसमें से **'निष्क्रान्त'** अर्थात् बहिर्गत हो गये हैं, उसे **'निःसत्तासत्त'** कहते हैं। (ऐसा जो **'निःसत्तासत्त'** पदार्थ है, वह **'अलिङ्गाख्य'** गुणपरिणाम है)। तात्पर्य यह है कि सत्त्व, रजस् तथा तमस् त्रिगुण की जो **'साम्यावस्था'** है, वह किसी के पुरुषार्थ-सम्पादन के लिये उपयुक्त अर्थात् क्षम (समर्थ) नहीं है। इसलिये गुणों की साम्यावस्था **'सत्'** नहीं है। खपुष्प के समान गुणों की साम्यावस्था को **'तुच्छ'** स्वभाव वाला भी नहीं कहा जा सकता है। इसलिये गुणों की साम्यावस्था **'असत्'** भी नहीं है। अतएव प्रकृति को **'निःसत्तासत्त'** विशेषण से विशेषित किया गया है।

बालप्रिया–

'निःसत्तासत्तम्'–'निःसत्तासत्त' विशेषण के द्वारा जिस तत्त्व की ओर इंगित किया है, वह **'अलिङ्गाख्य'** गुणपरिणाम है। यद्यपि **'गुणा एव प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति'** ऐसा भाष्य में पूर्वोल्लिखित है तथापि साम्यावस्थाक गुणों से प्रधानशब्दवाच्य तत्त्व के अतिरिक्त होने से **'प्रधान'** को गुण का **'अलिङ्गाख्य'** परिणामविशेष कहा है। किन्तु इससे महत्तत्त्वादि की तरह प्रधान का प्रकृतिविकृत्यात्मक होना बोधित नहीं होता है। इसी अभिप्राय वाला सांख्यसूत्र है–**'मूले मूलाऽभावादमूलं मूलम्'** (१/६७)।

पूर्वपक्षी **'अलिङ्गाख्य'** गुणपरिणाम में निरस्तीकृत **'पुरुषार्थक्रियाक्षमत्व'** को पुनः स्थापित करने का निष्फल प्रयास करता है–

तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्–अव्यक्तावस्थायामप्यस्ति महदादि तदात्मना, न हि सतो विनाशो, विनाशे वा न पुनरुत्पादो न ह्यसत उत्पाद इति महदादिसद्भावात्पुरुषार्थक्रिया प्रवर्तेत। तत्कथं निःसत्त्वमव्यक्तमित्यत आह–निःसदसदिति। निष्क्रान्तं कारणं सतः कार्यात्। यद्यपि कारणावस्थायां सदेव शक्त्यात्मना कार्यं तथापि स्वोचितामर्थक्रियामकुर्वद् असदित्युक्तम्।

शङ्का–'अव्यक्तावस्था' (अलिङ्गावस्था) में भी महदादि **'कारणात्मक'** अर्थात् प्रकृत्यात्मक होकर अवस्थित रहते हैं, क्योंकि **'सत्'** पदार्थ का नाश नहीं होता है। यदि **'सत्'** पदार्थ का नाश माना जाय तो विनष्ट पदार्थ की पुनरुत्पत्ति नहीं हो सकेगी। **'असत्'** पदार्थ प्रादुर्भूत नहीं होता है–इस नियम से अलिङ्गाख्य गुणपर्व में महदादि का सद्भाव (सूक्ष्मत्वेन अवस्थिति) होने से, कारण के कार्यात्मक होने से, अव्यक्तरूप प्रधान को पुरुषार्थक्रिया में प्रवृत्त मानना चाहिये अर्थात् **'अलिङ्ग'** में पुरुषार्थ-क्रियाक्षमत्व को स्वीकार करना चाहिये। अतः अव्यक्त को कैसे **'निःसत्त्व'** विशेषण से विशेषित किया गया?

समाधान–उक्त शंका का समाधान करने के लिये भाष्यकार (अव्यक्त को तदितर विशेषण से विशेषित करते हुए) कहते हैं–**'निःसदसदिति।'** सत् कार्य से कारण निष्क्रान्त होता है। (तात्पर्य यह है कि) यद्यपि **'कारणावस्था'** अर्थात् अलिङ्गावस्था में

'शक्तिरूप' से अर्थात् शक्त्यात्मक होकर महदादि कार्य 'सत्' ही है तथापि कारणावस्थ कार्य स्वोचित (अभिव्यक्तावस्था में निर्द्धारित अपनी) अर्थक्रिया (पुरुषार्थक्रिया) को न कर पाता हुआ 'असत्' कहा जाता है। (ऐसी स्थिति में कार्यात्मक कारण को कैसे 'सत्' कहा जा सकता है। इस प्रकार अलिङ्गाख्य गुणों की पुरुषार्थक्रियाक्षमत्व-विषयक शंका निरस्त हो जाती है)।

'निःसदसद्' विशेषण के परिप्रेक्ष्य में व्यासभाष्य में 'अलिङ्ग' के लिये प्रयुक्त 'निरसद्' विशेषण पंर विचार किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

न चैतत्कारणं शशविषाणायमानकार्यमित्याह–निरसदिति। निष्क्रान्तमसतस्तुच्छरूपात्कार्यात्। तथा हि सति व्योमारविन्दमिवास्मान्न कार्यमुत्पद्येतेति भावः।

अर्थक्रिया में अक्षम होने से कारणावस्थ कार्य को, जो 'असत्' कहा गया है, उसका तात्पर्य यह नहीं है कि कारण (साम्यावस्थाक प्रकृति) शशविषाण (खरगोश के सींग) वत् अलीक कार्य वाला है, इसी तथ्य को भाष्यकार बताते हैं–'निरसदिति।' 'असत्' अर्थात् तुच्छरूप कार्य से कारण निर्गत हो गया है अर्थात् तुच्छरूप कार्य में कारण नहीं रहता है। (इस प्रकार का तुच्छ कार्यविरहित अलिङ्गाख्य अव्यक्त है)। भाव यह है कि साम्यावस्थाक प्रकृति से आकाशपुष्प की भाँति तुच्छ कार्य उत्पन्न ही नहीं होता है। (अतः कारण की तुच्छता के बारे में विचार करना व्यर्थ है)।

तत्त्ववैशारदी

प्रतिसर्गमुक्तमुपसंहरति–एष तेषामिति। एष इत्यनन्तरोक्तात्पूर्वस्य परामर्शः। लिङ्गमात्राद्यवस्थाः पुरुषार्थकृतत्वादनित्याः, अलिङ्गावस्था तु पुरुषार्थेनाकृतत्वान्नित्येत्यत्र हेतुमाह–अलिङ्गावस्थायामिति। कस्मात्पुनर्न पुरुषार्थो हेतुरित्यत आह–नालिङ्गवस्थायामिति। भवतिना विषयेण विषयिज्ञानमुपलक्षयति। एतदुक्तं भवति–एवं हि पुरुषार्थता कारणमलिङ्गावस्थायां ज्ञायेत यद्यलिङ्गावस्था शब्दाद्युपभोगं वा सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिं वा पुरुषार्थं[1] निर्वर्तयेत्तन्निर्वर्तने हि न साम्यावस्था स्यात्। तस्मात्पुरुषार्थकारणत्वम[2]स्यां न ज्ञायत इति नास्याः पुरुषार्थता हेतुः। उपसंहरति–नासाविति। इतिस्तस्मादर्थे। अनित्यामवस्थामाह–[3]त्रयाणामिति। त्रयाणां लिङ्गमात्राविशेष[4]विशेषाणामित्यर्थः।

---

1. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न–पुरुषार्थं उपलभ्यते, झ–पुरुषार्थ नोपलभ्यते।
2. क छ थ द ध–अस्याः, ख ग घ च झ त न–अंस्यां, ज–अस्य।
3. थ द ध–त्रयाणामिति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–त्रयाणामिति नोपलभ्यते।
4. क ख घ च छ ज झ त थ द ध द ध–विशेष० उपलभ्यते, ग न–विशेष० नोपलभ्यते।

भाष्यकार पूर्ववर्णित प्रतिसर्ग को समाप्त करते हैं–'**एष तेषामिति**।' 'एषः' पद अनन्तरवाची होने से पूर्व का परामर्शक है। अतः यहाँ 'एषः' पद से प्रकृति के पूर्व कथित सत्तामात्र महत्तत्त्व गृहीत है, क्योंकि '**निःसत्तासत्तम्**' इत्यादि विशेषण सत्तामात्र महत्तत्त्व के पश्चात् कहे गये हैं। वाक्यार्थ हुआ–सत्तामात्र महत्तत्त्व गुणों का लिङ्गमात्राख्य परिणाम है तथा प्रकृति अलिङ्गाख्य परिणाम है। गुणों की लिङ्गमात्रादि (लिङ्गमात्र, अविशेष तथा विशेष संज्ञक) अवस्थाएँ पुरुषार्थजन्य होने से '**अनित्य**' हैं, किन्तु गुणों की अलिङ्गाख्य अवस्था पुरुषार्थजन्य न होने से '**नित्य**' है। तदर्थ भाष्यकार हेतु देते हैं–'**अलिङ्गावस्थायामिति**।' अर्थात् गुणों की अलिङ्गावस्था में भोगापवर्गरूप पुरुषार्थ हेतु नहीं है।

शङ्का–किस कारण से गुणों की अलिङ्गावस्था में पुरुषार्थ कारण नहीं है?

समाधान–इस पर भाष्यकार बतलाते हैं–'**नालिङ्गावस्थायामिति**।' वैयासिक वाक्य में प्रयुक्त '**भवति**' पद का अर्थ है–सत्ता अर्थात् अस्तित्व होना। अस्तित्व विषय का होता है। इस प्रकार विषयवाचक '**भवति**' पद से 'विषयिज्ञान' उपलक्षित होता है। तात्पर्य यह है–गुणों की अलिङ्गावस्था में पुरुषार्थता को तभी कारण माना जा सकता है जब गुणों की तथाकथित अलिङ्गावस्था शब्दादिविषयोपभोग अथवा प्रकृतिपुरुषभेदज्ञानरूप किसी पुरुषार्थ को सम्पादित करे। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि दोनों में से किसी एक पुरुषार्थ का निष्पादन करने पर अलिङ्गाख्य गुणों की साम्यावस्था ही नहीं रह पाती है। इसलिये न तो पुरुषार्थकारणत्व की दृष्टि से अलिङ्गावस्था का परिज्ञान होता है और न ही पुरुषार्थता अलिङ्गावस्था में हेतु (स्थितिकारण) है। शब्दान्तर में न तो गुणों की अलिङ्गावस्था पुरुषार्थ का कारण है और न ही पुरुषार्थता अलिङ्गावस्था का कारण है। भाष्यकार प्रस्तावित विषय को उपसंहृत करते हैं–'**नासाविति**।' गुणों की अलिङ्गावस्था पुरुषार्थकृत नहीं है–इस कारण से गुणों की अलिङ्गावस्था '**नित्य**' है। '**पुरुषार्थकृतेति**' में '**इति**' शब्द '**कारण**' अर्थ में प्रयुक्त है। भाष्यकार गुणों की '**अनित्य**' अवस्था को बताते हैं–'**त्रयाणामिति**।' गुणों की लिङ्गमात्र, अविशेष तथा विशेष संज्ञक तीन अवस्थाओं में '**पुरुषार्थता**' कारण है और यह '**पुरुषार्थ**' लिङ्गादि अवस्थाओं का निमित्तकारण है। इसलिये गुणों की अलिङ्गातिरिक्त तीनों अवस्थाएँ '**अनित्य**' हैं।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार '**त्रिगुण**' का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

[1]पर्वस्वरूपं दर्शयित्वा गुणस्वरूपमाह–गुणास्त्विति। निदर्शनमाह–यथा देवदत्त इति।

---

1. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न–पर्व०, ज–सर्ग०।

यत्रात्यन्तभिन्नानां गवामुपचयापचयौ देवदत्तोपचयापचयहेतू तत्र कैव कथा गुणेभ्यो भिन्नाभिन्नानां व्यक्तीनामुपजनापाययोरित्यर्थः।

गुणों के चतुर्विध पर्वों का स्वरूप प्रदर्शित करके भाष्यकार गुणों का स्वरूप बताते हैं–**'गुणास्त्विति'** समस्त परिणामों में अनुगत रहने वाले (माला की प्रत्येक मुक्तिका में अनुस्यूत सूत्र की भाँति) सत्त्वादि गुण कभी भी लय को प्राप्त नहीं होते हैं और न कभी उत्पन्न होते हैं। अर्थात् त्रिगुण अनादि तथा नित्य है। गुणों में अवभासित होने वाली लयोत्पत्ति को तत्त्ववैशारदीकार स्पष्ट करते हैं–गुणानुस्यूत भूत-भविष्यत्-वर्तमान तथा उत्पत्ति-नाशरूप धर्म वाले महत्तत्त्वादि व्यक्तियों के द्वारा ही सत्त्वादि गुण उत्पत्ति-नाशरूप धर्म के समान प्रतीत होते हैं। दर्शनजगत् में गुणों की प्रतीयमान लयोत्पत्ति को लौकिक दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करने के लिये भाष्यकार दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं–**'यथा देवदत्त इति'** ('देवदत्त दरिद्र हो रहा है, क्योंकि उसकी गायें मर रही हैं'–इस लौकिक व्यवहार को दार्ष्टान्त में घटित करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं)–जब देवदत्त से अत्यन्त भिन्न गौओं का वृद्धि-ह्रास, देवदत्त के वृद्धि-ह्रास का कारण है (अर्थात् गौओं के वर्धन और क्षय से उनके स्वामी देवदत्त की उन्नति और अवनति समझी जाती है) तब गुणों से भिन्नाभिन्न (भेदाभेदघटित)महदादि व्यक्तियों की उत्पत्ति (अभिव्यक्ति) और नाश (तिरोभाव) से गुणों में लयोत्पत्ति का व्यवहार करने में कौन सी बाधा (क्षति) है? अर्थात् क्षय तथा वृद्धि के व्यवहारमात्र से गुणों की 'नित्यता' बाधित नहीं होती है।

सम्प्रति, महदादि तत्त्वों के उत्पत्तिक्रम पर विचार प्रस्तुत हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

ननु सर्गक्रमः किमनियतो नेत्याह–लिङ्गमात्रमिति। न खलु न्यग्रोधधाना अह्नायैव न्यग्रोधशाखिनं सान्द्रं शाद्वलदलजटिलं शाखाकाण्डनिपीतमार्तण्डचण्डातपमण्डलमारभन्ते किं तु क्षितिसलिलतेजःसंपर्कात् परम्परोपजायमानाङ्कुरपत्रकाण्डतालादिक्रमेण। एवमिहापि युक्त्यागमसिद्धः क्रमश्चास्थेय इति।

शङ्का–क्या तत्त्वों का उत्पत्तिक्रम (सर्गक्रम) अनियत है?

समाधान–उत्तर नकारात्मक है। अर्थात् सर्गक्रम अनियत नहीं है–इसी तथ्य को भाष्यकार बताते हैं–**'लिङ्गमात्रमिति'** जैसे वटबीज, घनीभूत हरे-भरे पत्तों से परिव्याप्त सूर्य के प्रखर आतप के अवरोध में समर्थ शाखाओं से परिपूर्ण वृक्ष को एकाएक (झटति, अक्रम, युगपत्) आरम्भ नहीं करते हैं, किन्तु पृथ्वी-जल-तेज के स्पर्श से योजनाबद्ध (पूर्वापर) होकर उत्पन्न होने वाले अंकुर, पत्र, काण्ड, तालादि क्रम से वटबीज वृद्धि को प्राप्त होता है। वैसे यहाँ भी युक्ति तथा आगम प्रमाण से

क्रम सुनिश्चित है। इससे अलिङ्ग प्रकृति का अव्यवहित (प्रथम) कार्य महत्तत्त्व ही है, अहंकारादि नहीं–यह भी प्रमाणित हो जाता है।

बालप्रिया–

'किमनियतो न'–भाव यह है–**'अलिङ्ग'** प्रधान का जो **'प्रत्यासन्न'** अर्थात् प्रथम कार्य **'लिङ्गमात्र'** महत्तत्त्व है, वह प्रधान में सृष्टि से पहले संसृष्ट होकर ही अर्थात् अनागत अवस्था के रूप से प्रधान से अविभक्त रहकर ही सृष्टिकाल में विविक्त अर्थात् विभक्त होकर वर्तमान अवस्था को प्राप्त करता है। प्रधान से असत् रहकर महत्तत्त्व उत्पन्न नहीं होता है। इससे सत्कार्यवाद समर्थित होता है।

'युक्त्यागमसिद्धः क्रमः'–यदि पूर्वपक्षी कहे कि अहंकार को ही प्रकृति का पहला कार्य मान लिया जाय तो यह युक्त्यागम द्वारा सिद्ध नहीं है। तत्त्वों के आविर्भाव में ऐसा व्यतिक्रम मानेंगे तो श्रुत्युक्त क्रम का उल्लंघन होगा। गोपालतापनीय उपनिषद् में सृष्टिक्रम स्पष्टतः इंगित है। श्रुति इस प्रकार है–**'एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्मासीत् तस्मादव्यक्तमेवाऽक्षरं तस्मादक्षरान्महद् महतो वै अहङ्कारस्तस्मादेवाऽहङ्कारात् पञ्च तन्मात्राणि तेभ्यो भूतादीनि'** इस प्रकार उत्पादक्रम यौक्तिक भी है। किस क्रम से तत्त्वों का आविर्भाव होता है तदर्थ कापिलागम द्रष्टव्य है–**'प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारः'**

सृष्टिक्रम के निर्धारित तत्त्वों के सम्बन्ध में पुनः शंका की जा रही है–

तत्त्ववैशारदी

कथं भूतेन्द्रियाण्यविशेषसंसृष्टानीत्यत आह–तथा चोक्तं पुरस्तादिति। इदमेव सूत्रं प्रथमं व्याचक्षाणैः। अथ विशेषाणां कस्मान्न तत्त्वान्तरपरिणाम उक्त इत्यत आह–न विशेषेभ्य इति। तत्किमिदानीमपरिणामिन एव विशेषाः, तथा च नित्याः प्रसज्येरन्नित्यत आह–तेषां त्विति॥१९॥

शङ्का–कैसे पञ्च महाभूत एवं एकादशेन्द्रियरूप **'विशेष'** षड् **'अविशेषों'** से सम्बद्ध हैं?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–**'तथा चोक्तं पुरस्तादिति।'** यह प्रासंगिक तथ्य प्रकृत सूत्र के प्रारम्भ में हमारे द्वारा विवेचित हुआ है।

शङ्का–किस कारण से विशेषों का तत्त्वान्तरपरिणाम उक्त नहीं है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–**'न विशेषेभ्य इति।'** विशेषों से आगे उनसे विलक्षण तत्त्व नहीं है। अतः उक्त विशेषों का तत्त्वान्तरपरिणाम नहीं होता है।

शङ्का–तो क्या ये षोडश **'विशेष'** अपरिणामी हैं? यदि ऐसा है तो ये नित्य होने चाहिये?

समाधान–उक्त शंका का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं–**'तेषां त्विति।'** इन षोडश विशेषों का तत्त्वान्तरपरिणाम नहीं होता है किन्तु धर्मपरिणाम, लक्षण-

परिणाम तथा अवस्थापरिणाम होता है, ऐसा विभूतिपाद के १३वें सूत्र में आगे विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किया जायेगा ॥१९॥

योगवार्त्तिकम्

नन्वनेन सूत्रेण गुणानामेव दृश्यत्वं प्रोक्तं न तु विकाराणामिति न्यूनतानिरासाय प्रवर्त्तमानं सूत्रान्तरमवतारयति–दृश्यानां त्विति। स्वरूपभेदावधारणार्थम्=अवान्तरभेद-प्रतिपादनार्थमित्यर्थः। विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि। गुणात्मको वंश-स्तस्यालिङ्गादिविशेषान्तं पर्वचतुष्टयं बीजाङ्कुरवदवस्थाभेदाः नात्यन्तं भिन्ना अतो गुणेष्वेव सर्वदृश्यानामन्तर्भाव इति सूत्रकारस्याशयः। कार्यैः कारणान्यनुमीयन्त इत्याशयेन विशेषादिक्रमेण पर्वगणनम्। तत्र यस्य यस्याविशेषस्य यो यो विशेषस्तमाह–तत्राकाशेति। आकाशादीनि भूतानि शब्दादितन्मात्राणां शान्तादिविशेषशून्यशब्दादिधर्मकसूक्ष्म[1]द्रव्याणामत एवाविशेषसंज्ञकानां विशेषा अभिव्यक्तशान्तादिविशेषकाः परिणामाः, यथाक्रममिति शेषः। तथेति विशेषा–इत्यागामिनाऽन्वयः। मनस इन्द्रियमध्यप्रवेशे हेतुगर्भविशेषणं सर्वार्थमिति। सर्वेषां दशेन्द्रियाणामर्था एवार्था यस्येति मध्यमपदलोपी समासः, मनःसहकारेणैव श्रोत्रादीनां शब्दादिग्राहकत्वादिति। [2]अहंकारस्याविशेषत्वे हेतुगर्भविशेषणम्–अस्मितालक्षणस्येति। अभिमानमात्रधर्मकस्य श्रवणस्पर्शन[3]दर्शनादिरूपविशेषरहितस्याहंकारस्येति शेषः।[4] पिण्डीकृत्य विशेषपर्वोपसंहरति–गुणानामिति। एवं पञ्चभूतैकादशेन्द्रियगणः षोडशसंख्याको गुणानां विशेषाख्यः परिणाम इत्यर्थः। नन्विन्द्रियवत्तन्मात्राण्यहंकारस्य विशेषाः कथं नोक्ताः शब्दस्पर्शादिविशेषवत्वादिति चेन्न; विशेषमात्रस्यैवात्र विशेषपरिभाषणात् तन्मात्राणि[5] तु भूतानामविशेषा अपि भवन्तीति।

शङ्का–विगत सूत्र के द्वारा गुणों की ही दृश्यता सिद्ध की गई है, न कि विकारों की, (जब कि 'विकार' अर्थात् महदादि कार्य भी दृश्यरूप हैं)?

समाधान–पूर्वपक्षी की दृश्यसम्बन्धी आक्षिप्त उक्त न्यूनता का निरास करने के लिये भाष्यकार प्रवर्त्तमान (वक्ष्यमाण) सूत्रान्तर अर्थात् अगले सूत्र को अवतरित करते हैं–**'दृश्यानां त्विति'** पूर्वोक्त दृश्यरूप सत्त्वादि गुणों के **'स्वरूपभेद'** अर्थात् अवान्तर भेद को प्रतिपादित करने के लिये अग्रिम सूत्र है–**'विशेषेति'** गुणात्मक वंश के **'अलिङ्ग'** से लेकर **'विशेष'** पर्यन्त चार पर्व बीजांकुर की भाँति चार (परिणामात्मक) अवस्थाएँ

---

1. क ख घ च छ–द्रव्याणां, ग–धर्माणाम्।
2. क ग घ च छ–अहंकारस्याविशेषत्वे हेतुगर्भविशेषणं, ख–अविशेषणम्।
3. ख घ च–दर्शन० उपलभ्यते, क ग छ–दर्शन० नोपलभ्यते।
4. ख–अत्रायं विभागः–सात्त्विकाहंकाराद्बुद्धीन्द्रियाणि राजसात् कर्मेन्द्रियाणि सत्त्वमिश्रितान्मन इति (शेषः पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ–अत्र....मन इति नोपलभ्यते।
5. क ख घ छ–तन्मात्राणि, ग च–तन्मात्राणाम्।

हैं। गुण के ये चार अलिङ्गादि अवस्थाभेद गुण से अत्यन्त पृथक् नहीं हैं। अतः सत्त्वादि गुणों में ही समस्त विकारजात का अन्तर्भाव होता है, ऐसा बतलाना ही सूत्रकार को अभिप्रेत है। सूत्र में विशेषादि क्रम से गुणपर्व को उद्घोषित करने का प्रयोजन बताते हुए योगवार्त्तिककार कहते हैं कि कार्यों के द्वारा ही कारण अनुमित होते हैं, इस अभिप्राय से सूत्रकार ने विशेषादि क्रम से **'गुणपर्व'** को परिगणित किया है।

इनमें से जिस-जिस **'अविशेष'** (संज्ञक तत्त्वसमूह) का जो-जो **'विशेष'** (संज्ञक तत्त्वसमूह) है, उसे भाष्यकार बताते हैं–**'तत्राकाशेति।'** आकाशादि (पञ्च) भूत शब्दादि (पञ्च) तन्मात्राओं के अर्थात् शान्तादि **'विशेष'** से शून्य शब्दादि धर्म वाले सूक्ष्मभूतात्मक **'अविशेष'** संज्ञक द्रव्यों के **'विशेष'** हैं। इस प्रकार पृथिव्यादि **'विशेष'** अभिव्यक्तशान्तादिविशेषक परिणाम हैं। **'अविशेष'** का **'विशेषपरिणाम'** यथाक्रम होता है, ऐसा वाक्यशेष है और इसका अन्वय **'तथेति'** से लेकर **'विशेषा इति'** के साथ किया जाता है। मन को इन्द्रियवर्ग में प्रविष्ट करने में **'सर्वार्थमिति'** यह हेतुगर्भ-विशेषण पद है। **'सर्वार्थ'** में मध्यमपदलोपीसमास है–**'सर्वेषां दशेन्द्रियाणामर्था एवार्था यस्य इति सर्वार्थम्'** अर्थात् सभी दश इन्द्रियों के विषय ही जिसके विषय हैं ऐसा **'सर्वार्थ'** मन है। इन्द्रियों के विषय मन के भी विषय इसलिये कहे जाते हैं, क्योंकि मन की सहायता से ही श्रोत्रादि इन्द्रियाँ शब्दादि विषयों को ग्रहण करती हैं। अहंकार के **'अविशेषत्व'** में (अर्थात् अहंकार को **'अविशेष'** कहे जाने में) भाष्यकार द्वारा प्रदत्त हेतुगर्भविशेषण पद है–**'अस्मितालक्षणस्येति।'** श्रवण, स्पर्शन, दर्शनादिरूप विशेष से रहित अभिमानमात्र धर्मक (अभिमानात्मक वृत्तिक) **'अहंकार'** संज्ञक **'अविशेष'** की इन्द्रियाँ **'विशेष'** परिणाम हैं। विशेषान्तर्वर्ती तत्त्वों का संकलन करते हुए भाष्यकार **'विशेष'** पर्व का समापन करते हैं–**'गुणानामिति।'** इस प्रकार पञ्च महाभूत तथा ग्यारह इन्द्रियों से सम्बन्धित **'षोडशसंख्याक'** अर्थात् सोलह संख्या वाला गुणों का जो परिणाम है, वह **'विशेष'** संज्ञा से अभिहित है।

शङ्का–जिस प्रकार इन्द्रियाँ अहंकार की **'विशेष'** कही जाती हैं उसी प्रकार तन्मात्र भी अहंकार के **'विशेष'** क्यों नहीं कहे जाते हैं, क्योंकि पञ्चतन्मात्र भी शब्द, स्पर्शादिरूप **'विशेष'** से युक्त हैं? (अतः तन्मात्र को 'विशेष' पर्व के अन्तर्गत रखना चाहिये)।

समाधान–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि जो पदार्थ **'विशेषमात्र'** अर्थात् विकारमात्र (तत्त्वान्तरानुत्पादकरूप) हैं, वे ही प्रकृत में **'विशेष'** संज्ञा से परिभाषित हैं। जब कि पञ्चतन्मात्राएँ आकाशादि भूतों (कार्यों) की **'अविशेष'** (कारण) भी हैं। अतः पञ्चतन्मात्राओं को **'विशेष'** नहीं कहा गया है।

योगवार्त्तिकम्

अविशेषपर्वं व्याचष्टे—षड् अविशेषा इति। षड् गणयति—शब्दतन्मात्रमित्यादिना—अस्मितामात्र इत्यन्तेन। एकद्वित्रीति। लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं धर्मः, तन्मात्राणां द्रव्यत्वलाभाय लक्षणपदम्। तथा चोत्तरोत्तरतन्मात्रेषु पूर्वपूर्वतन्मात्राणां हेतुत्वाच्छब्दतन्मात्रं शब्दमात्रधर्मकं तत्कार्यतया स्पर्शतन्मात्रं शब्दस्पर्शोभयधर्मकम्, एवं क्रमेणैकैकलक्षण[1]धर्मवृद्धिरित्यर्थः। एतेषु च मात्रशब्दैः शान्तादिविशेषस्यैव व्यावृत्तिर्न तु गुणान्तरसंपर्कस्य, एकद्वित्र्यादिलक्षणत्ववचनात्।

तन्मात्राण्यविशेषाणि अविशेषास्ततो हि ते।
न शान्ता नापि घोरास्ते न मूढाश्चाविशेषिणः॥

इति विष्णुपुराणाच्चेति। ननु तन्मात्रेषु परस्परं कार्यकारणभावे सिद्ध एव कारणगुणक्रमेणोत्तरोत्तरं गुणवृद्धिः सेत्स्यति, तत्रैव तु किं प्रमाणं श्रुतिस्मृत्योः स्थूलभूतेष्वेवाकाशादिक्रमेण कारणतासिद्धेरिति चेत्? आकाशादिस्थूलभूतेभ्यो वाय्वाद्युत्पत्तिदर्शनेन सूक्ष्मेऽपि भूते तथा कार्यकारणभावकल्पनस्यौचित्यमिति। एतानि च तन्मात्राणि तामसाहंकाराच्छब्दादिक्रमेणोत्पद्यन्त इति बोध्यम्। अस्मितामात्रोऽभिमान[2]वृत्तिकः, तेनेन्द्रियभावापन्नाहंकारव्यावृत्तिः।

भाष्यकार अविशेषपर्व की व्याख्या करते हैं—'षड् अविशेषा इति' भाष्यकार 'शब्दतन्मात्रम्' से लेकर 'अस्मितामात्रः' तक के भाष्य द्वारा षड् (छह तत्त्वों) को गिनाते हैं—'शब्दतन्मात्रमित्यादिना अस्मितामात्र इत्यन्तेन।' अर्थात् शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, गन्धतन्मात्र तथा अस्मिता (अहंकार)—ये छह अविशेष हैं। योगवार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं—'एकद्वित्रीति।' 'लक्षण' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम्' अर्थात् जिसके द्वारा लक्षित (विशेषित) किया जाता है, उसे 'लक्षण' कहते हैं। इस प्रकार 'लक्षण' शब्द का अर्थ 'धर्म' है। भाष्यकार ने 'एकद्वित्रिचतुष्पञ्चलक्षणाः' में 'लक्षण' पद का प्रयोग इसलिये किया है, जिससे तन्मात्राओं का द्रव्यत्व सिद्ध किया जा सके। इस प्रकार उत्तरोत्तर तन्मात्राओं के प्रति पूर्व-पूर्व तन्मात्राओं में कारणता होने से शब्दतन्मात्र 'शब्दमात्रधर्मक' है। शब्दतन्मात्र का कार्य होने से स्पर्शतन्मात्र शब्दस्पर्श 'उभयधर्मक' है। इस क्रम से (उत्तरोत्तर तन्मात्राओं में) एक-एक 'लक्षण' अर्थात् धर्म की वृद्धि होती है। और इन शब्दादितन्मात्राओं में जो 'मात्र' शब्द प्रयुक्त हुआ है, उससे शब्दादि तन्मात्राओं में शान्तादि विशेष की ही व्यावृत्ति होती है, न कि गुणान्तर सम्बन्ध की, क्योंकि तन्मात्राओं को एक, द्वि, त्रि आदि 'लक्षण' (धर्म) वाला कहा गया है और इसमें विष्णुपुराण का वाक्य प्रमाण है—'तन्मात्राण्यविशेषाणि...विशेषिणः'

---

1. क ग च छ—धर्म उपलभ्यते, ख घ—धर्म नोपलभ्यते।
2. क ख ग—मात्र० (अभिमान० पश्चात्) उपलभ्यते, घ च छ—मात्र० नोपलभ्यते।

(१/२/४५) अर्थात् 'तन्मात्राओं को 'अविशेष' इसलिये कहते हैं क्योंकि उनमें शान्त, घोर और मूढ रूप 'विशेष' स्फुट नहीं रहता है।'

शङ्का—तन्मात्राओं में परस्पर कार्यकारणभावसम्बन्ध के सिद्ध होने पर ही कारणगुण (कारणगतधर्म) के क्रम से उत्तरोत्तर तन्मात्राओं में गुणवृद्धि (धर्मवृद्धि) को स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु ऐसा मानने में कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि श्रुतिस्मृतिशास्त्रों में स्थूलभूतों में ही आकाशादि क्रम से कारणत्व को सिद्ध किया गया है? अर्थात् आकाशभूत से वायुभूत, वायुभूत से तेजभूत आदि—इस क्रम से कार्यकारणभाव वर्णित है।

समाधान—श्रुति-स्मृतियां में आकाशादि स्थूलभूतों से वाय्वादि स्थूलभूतों की उत्पत्ति जैसे दिखाई गई है, वैसे ही सूक्ष्म शब्दतन्मात्रादियों में भी कार्यकारणभावसम्बन्ध की कल्पना करना उचित है। और ऐसा भी मानना चाहिये कि तामस अहंकार से शब्दतन्मात्रादि क्रम से ही तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। 'अस्मितामात्र' अर्थात् अस्मितासंज्ञक अविशेष एकमात्र अभिमानवृत्तिक है, इससे इन्द्रियभावापन्न अहंकार की व्यावृत्ति हो जाती है।

योगवार्त्तिकम्

एते सत्तामात्रस्येति। सत्ता विद्यमानता व्यक्ततेति यावत्। व्यक्ततामात्रं महत्तत्त्वमाद्य-कार्यत्वात्, प्रलये हि सर्वं विकारद्रव्यम् अतीतानागतरूपाभ्यामेव तिष्ठति न तु विद्यमानतया, अत आद्यविकारोऽङ्कुरवद्यो महान् सर्गादौ सत्तां लभते, स सत्तामात्रमुच्यते, स च सत्सा-मान्यतया सत्तामात्रमुच्यते, सद्विशेषाणामहंकारादीनां तदानीमभावात्। अत एव यास्क-मुनिना [1]जन्मादिषड्भावविकारमध्ये जन्मोत्तरमस्तितैव विकार उक्तः। तथा च संसार-वृक्षस्यास्तितामात्रपरिणामो महत्तत्त्वं वृद्धिपरिणामस्त्वहंकारादिरिति। एवंभूतस्य सर्वविका-राणामात्मनः स्वरूपस्य महतो महत्तत्त्वस्य बुद्ध्याख्यस्य परिणामः षड् अविशेषसंज्ञका इत्यर्थः। अविशेषत्वं च सामान्यत्वम्। यद्यपि षोडशविशेषाणां सामान्यत्वं महत्तत्त्व-प्रकृत्योरप्यस्ति [2]तथाऽप्यविशेषशब्दः पङ्कजादिशब्दवद्योगरूढः षट्स्वेवेति। अत्र षण्मध्ये तन्मात्राणां बुद्धिपरिणामित्वमहंकारद्वारैव मन्तव्यं सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानमिति सूत्रे भाष्येण तथा व्याख्यातत्वादिति।

योगवार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं—'एते सत्तामात्रस्येति।' ये छह सत्तामात्र महत्तत्त्व के 'अविशेष' परिणाम हैं। यहाँ 'सत्ता' शब्द का अर्थ विद्यमानता अर्थात् व्यक्तता है और यह व्यक्ततामात्र' वाला महत्तत्त्व है, क्योंकि महत् ही (प्रकृति का) प्रथम (आद्य) कार्य है। प्रलयावस्था में यच्च-यावत् कार्य-द्रव्य (महदादि

---

1. क ख ग घ च—जन्म०, छ—शब्द०।
2. क ख ग घ च—तथाप्यविशेष०, छ—तथाप्यस्ति विशेष०।

विकार) अपने मूलकारण प्रकृति में अतीत तथा अनागतरूप से ही (अतीतलक्षण-परिणाम तथा अनागतलक्षणपरिणाम से ही) अवस्थित (अन्तर्निहित) रहते हैं, न कि विद्यमान अर्थात् वर्तमानलक्षणपरिणामरूप से। अतः बीज के आद्य विकार अंकुर की भाँति सृष्टि के आदि में (प्रकृति का) आद्य विकार (प्रथम कार्य) जो महत्तत्त्व **'सत्ता'** (वर्तमानलक्षणपरिणाम) को प्राप्त करता है, वही **'सत्तामात्र'** कहलाता है और सत्सामान्य होने से महत् **'सत्तामात्र'** है, क्योंकि महत् की अभि-व्यक्ति के समय सद्भूत (सूक्ष्मरूप से अन्तर्निहित) अहंकारादि विशेष का अभाव (अनभिव्यक्तरूप) रहता है। अतएव निरुक्ताचार्य **यास्क** ने जन्मादि षड् भावविकार में **'जन्म'** विकार के पश्चात् **'अस्तिता'** विकार को बतलाया है। इस प्रकार समस्त विकारों के **'आत्मभूत'** (स्वरूपात्मक) **'महत्'** का अर्थात् बुद्धिसंज्ञक महत्तत्त्व का **'षड् अविशेष'** रूप परिणाम होता है। सामान्यत्व को **'अविशेषत्व'** कहते हैं। (अर्थात् पञ्चतन्मात्र और अहंकार में महत् से अभिव्यक्त होने की समानता है, अतः ये छह अविशेष (सामान्य) संज्ञा से अभिहित हैं)। **'अविशेष'** प्रयुक्त सामान्यत्व की अतिव्याप्ति अन्य द्रव्यों में न हो सके, तदर्थ वार्त्तिककार विशेष-अविशेष संज्ञाओं को परिभाषित करते हैं—यद्यपि पूर्ववर्णित पञ्च महाभूत एवं एकादशेन्द्रिय इन सोलह **'विशेष'** संज्ञक द्रव्यों का सामान्यत्व (परम्परया) महत्तत्त्व तथा प्रकृति में भी है (और इससे सामान्यत्वप्रयुक्त **'अविशेषत्व'** सोलह विशेषों में भी विद्यमान है) तथापि यह **'अविशेष'** शब्द उक्त छह तत्त्वों में उसी प्रकार योगरूढ है, जिस प्रकार पङ्कजादि शब्द (पङ्कात् जायते इस व्युत्पत्ति से अर्थ की व्यापकता संकुचित होकर कमलादि अर्थों में) **'योगरूढ'** है। तन्मात्र के **'अविशेषत्व'** को स्पष्ट करते हुए योग-वार्त्तिककार कहते हैं—इन षड् अविशेषों में तन्मात्राओं का **'अविशेषत्व'** बुद्धि के परिणामभूत (कार्यभूत) 'अहंकार' द्रव्य के द्वारा ही बोद्धव्य है, क्योंकि **'सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्'** (१/४५) सूत्र के भाष्य से भी ऐसा ही सिद्धान्त व्याख्यात हुआ है।

बालप्रिया—

'यास्कमुनिना...जन्मोत्तरमस्तितैव विकार उक्तः'—यास्कमुनि के अनुसार किसी भी वस्तु में छह क्रियाविकार होते हैं। वे छह विकार हैं— उत्पन्न होना, अस्तित्व वाला होना, बदलना, बढ़ना, घटना तथा नष्ट होना। स्वयं यास्कमुनि को शब्दों में—**'षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः—जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षीयते विनश्य-तीति।'** प्रकृत में विषयसङ्गति इस प्रकार है—बीजभूत प्रकृति का महद्रूप अंकुर प्रथम क्षण में अभिव्यक्तिरूप उत्पत्ति को प्राप्त करता है। अतः अपनी अभिव्यक्ति (उत्पत्ति) के समय अर्थात् स्वसत्तालाभ के क्षण में ही महत् में अन्तर्निहित

अहंकारादि कार्यों का अभिव्यक्तीकरण नहीं हो सकता है। तदर्थ द्वितीय क्षण की न्यूनतम अवधि अपेक्षित रहती है। अतः प्रथम क्षण में महत् को 'सत्सामान्य' अर्थात् सत्तामात्र वाला बताया गया है और इसमें हेतु है–'सद्विशेषाणामहंकारादीनां तदानीमभावात्।' अपनी उत्पत्ति (अभिव्यक्ति) के पश्चात् महत् अहंकारादि की अभिव्यक्ति द्वारा 'अस्तिता' वाला होता है। इसी अर्थ में यास्ककथन के साथ साम्य है।

'पङ्कजादिशब्दवद्योगरूढः'–न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार आचार्य विश्वनाथ ने 'पद' का विवेचन इस प्रकार किया है–'शक्तं पदम्। तच्चतुर्विधम्। क्वचिद्यौगिकं क्वचिद्रूढं क्वचिद्योगरूढं क्वचिद् यौगिकरूढम्। यत्रावयवशक्तिविषये समुदायशक्तिरप्यस्ति तद्योगरूढम्। यथा पङ्कजादिपदम्।' 'पद' चार प्रकार का होता है–यौगिक, रूढ, योगरूढ तथा यौगिकरूढ। जो पद अवयवशक्ति तथा समुदायशक्ति दोनों शक्तियों द्वारा स्वार्थबोधन करते हैं, वे योगरूढ कहलाते हैं, जैसे पंकज आदि पद। तथाहि–एक ही पंकज शब्द 'पंकाज् जायते इति पंकजः' इत्याकारक अपनी अवयवशक्ति के द्वारा पंक में उत्पन्न होने वाली वस्तु को कहता है और समुदायशक्ति के द्वारा पद्मत्वेन रूपेण सामान्यतः पद्म (कमल) का बोधन करता है। प्रकृत में विषय-योजना इस प्रकार है–यद्यपि षोडश 'विशेष' संज्ञक तत्त्वों को भी सामान्यत्वप्रयुक्त 'अविशेषत्व' परम्परया कहा जा सकता है तथापि 'अविशेष' पद षड् तत्त्वों में योगरूढ है। अर्थात् 'अविशेष' पद यहाँ षडतिरिक्त तत्त्वों का बोधक नहीं है।

योगवार्त्तिकम्

लिङ्गमात्रपर्व व्याचष्टे–यत्तत्परमिति। अविशेषेभ्यो यत्परं पूर्वोत्पन्नं वंशस्यो[1]द्भित्पर्ववज्जगदङ्कुरो महत्तत्त्वं तल्लिङ्गमात्रमित्यर्थः। लिङ्गमखिलवस्तूनां व्यञ्जकं तन्मात्रं महत्तत्त्वम्, महत्तत्त्वं हि स्वयंभोरादिपुंसः कार्यब्रह्मण उपाधिभूतं सर्गादौ सर्वं जगद्भासयदेवोदेति सुप्तोत्थितचित्तवत्, ज्ञानातिरिक्तस्तु व्यापारः पश्चादेवाहंकारादुत्पन्नो भवत्यतो लिङ्गमात्रमित्युच्यते। तथा च स्मृतिः–

ततोऽभवन्महत्तत्त्वमव्यक्तात् कालचोदितात्।
विज्ञानात्मात्म[2]देहस्थं विश्वं व्युञ्जंस्तमोनुदः॥[3]इति।

अब भाष्यकार 'लिङ्ग' पर्व की व्याख्या करते हैं–'यत्तत्परमिति।' वंश के ऊपर उठे पर्व की भाँति अविशेषभूत (पञ्चतन्मात्र तथा अहंकार) द्रव्यों से परे अर्थात् पूर्वोत्पन्न जो महत्तत्त्वरूप जगदङ्कुर है, वह 'लिङ्गमात्र' (पदवाच्य) है। 'लिङ्गमखिल-

1. क–उदित०, ग घ च छ–उद्भित्०।
2. क ग घ च–देहस्थं, छ–देहस्य।
3. क ग घ–इत्यादि मनुनाऽप्युक्तं–ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्। महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः (तमोनुदः पश्चात्) उपलभ्यते, च छ–इत्यादि....नुदः नोपलभ्यते।

वस्तूनां व्यञ्जकं तन्मात्रं लिङ्गमात्रम्'—तदनुसार अखिल द्रव्यों के अभिव्यञ्जकमात्र (बोधकमात्र) को 'लिङ्गमात्र' कहते हैं। यह महत्तत्त्व का स्वरूप है, अतः महत्तत्त्व को 'लिङ्गमात्र' कहते हैं। आदिपुरुष कार्यब्रह्म स्वयम्भु का उपाधिभूत महत्तत्त्व सृष्टि के प्रारम्भ में सम्पूर्ण जागतिक पदार्थों का भासन अर्थात् प्रकाशन करता हुआ ही उसी प्रकार उदित होता है जिस प्रकार सोकर उठा हुआ चित्त (विषयज्ञान में संलग्न हो जाता है)। और फिर बुद्धि के पश्चात् अहंकार से ज्ञानातिरिक्त व्यापार उत्पन्न होता है, अतः 'महत्तत्त्व' को लिङ्गमात्र कहते हैं। इसमें स्मृतिवाक्य प्रमाण है—**'ततोऽभवन्...व्यञ्जंस्तमोनुदः'** (श्रीमद्भागवत् ३/५/२७) अर्थात् 'काल की प्रेरणावश उस अव्यक्त माया से महत्तत्त्व की उत्पत्ति हुई। इसके अनन्तर उस विज्ञानात्मा ने अपनी देह में बीजरूप से विद्यमान विश्व को प्रकट करते हुए अंकुरित किया।'

योगवार्त्तिकम्

कश्चित्तु लयं गच्छतीति लिङ्गपदस्यार्थमाह—तत्तु प्रमाणादर्शनादुपेक्षितम्, अहंकारादेरपि लयगमनेन महत्तत्त्वमात्रे लिङ्गमात्रप्रयोगानौचित्याच्च, तथा लिङ्गमात्रमिति मात्रशब्दार्थानुपपत्तेश्चेति। तस्मिंस्तत्त्वे महच्छब्दप्रयोगबीजमहङ्काराद्यखिलविकाराधारत्वमाह—तस्मिन्निति। तस्मिन्सूक्ष्मरूपे ते पूर्वोक्ता अविशेषविशेषाः पदार्था अवस्थयाऽनागतावस्थया स्थित्वोत्तरोत्तरवंशपर्वाणीव विवृद्धिकाष्ठां स्थावरजङ्गमानां प्राप्नुवन्ति।

महान्प्रादुरभूद् ब्रह्मा कूटस्थो जगदङ्कुरः॥

इति स्मृतेः। तथा प्रतिसंसृज्यमानाः प्रलीयमानाश्च ते तस्मिन्नेवावस्थयाऽतीतावस्थयाऽनुगता भूत्वा तेनैव सह यत्तत्प्रसिद्धसाम्यावस्थगुणत्रयरूपमलिङ्गं तत् प्रधानाख्यमूलकारणं प्रतियन्ति प्रकृतौ लीयन्त इत्यन्वयः। एतेन महत्तत्त्वोपाधिकस्य कार्यब्रह्मणोऽपि जगत्सृष्टिस्थितिलयहेतुत्वं प्रसङ्गाद् व्याख्यातम्।

जो लोग **'लयं गच्छतीति'** अर्थात् जो लय को प्राप्त होता है, उसे 'लिङ्ग' कहते हैं—इस प्रकार 'लिङ्ग' पद का अर्थ करते हैं, वह प्रामाणिक न होने से अवहेलनीय है। क्योंकि महत्तत्त्व की भाँति अहंकारादि में भी लयानुसारिता (लयशीलता) होने से केवल महत्तत्त्व के लिये **'लिङ्गमात्र'** संज्ञा का प्रयोग औचित्यपूर्ण नहीं है तथा इससे **'लिङ्गमात्र'** में **'मात्र'** शब्द के अर्थ की संगति (उपपत्ति) भी नहीं बैठ पायेगी। (इस प्रकार विज्ञानभिक्षु ने **लयं गच्छतीति**—व्युत्पत्त्यनुसार **'लिङ्ग'** शब्द का अर्थ करने में तीन असंगतियाँ बतलाई हैं)। भाष्यकार ने अहंकारादि अखिल कार्यों के आधारकत्व को **'लिङ्गतत्त्व'** के लिये **'महत्'** शब्द के प्रयोग का कारण बतलाया है अर्थात् अहंकारादि उत्तरोत्तर कार्यों का आश्रय होने से **'लिङ्गमात्र'** अर्थात् बुद्धि को **'महत्'** कहते हैं। इसी तथ्य को भाष्यकार उद्घाटित करते हैं—**'तस्मिन्निति।'** उस सूक्ष्मरूप महत्तत्त्व में पूर्ववर्णित **'अविशेष'** तथा **'विशेष'** वर्ती तत्त्व अनागतावस्था

(अनागतलक्षणपरिणाम) से अवस्थित होकर दण्ड के उत्तरोत्तर पर्व की भाँति स्थावरजङ्गमरूप वृद्धिकाष्ठा (पराकाष्ठा) को प्राप्त होते हैं। क्योंकि इस तथ्य का प्रतिपादक स्मृतिवाक्य है–'महान्...जगदङ्कुरः' अर्थात् कूटस्थ ब्रह्म ने महत् को उत्पन्न किया, जो जगत् का अङ्कुर है।' इस प्रकार लयशील (प्रलीयमान) ये भूतादि उस सत्तामात्र महत् तत्त्व में अतीतावस्था (अतीतलक्षणपरिणाम) से युक्त होकर उसी लिङ्गतत्त्व के साथ ही, उस प्रसिद्ध साम्यावस्थाक गुणत्रयरूप जो 'अलिङ्ग' (पर्व) है, उस प्रधानाख्य मूलकारण के प्रति अभिमुख होते हैं अर्थात् प्रकृति में लीन हो जाते हैं। इससे महत्तत्त्वोपाधिक कार्यब्रह्म की भी जगत् के प्रति सृष्टि, स्थिति तथा लयहेतुता प्रसङ्गतः प्राप्त होती है अर्थात् कार्यब्रह्म जगत् का हेतु है, यह सिद्ध हो जाता है।

योगवार्त्तिकम्

प्रधानस्या[1]सङ्गत्वोपपादनायाव्यक्तमिति विशेषणं, स्वयमव्यक्ततया न परस्परव्यञ्जकमित्य-लिङ्गमित्याशयः पुरुषात्पराभिमत[2]शशशृंगादिभ्यश्च व्यावर्त्तनाय निःसत्तासत्तं विशेषणम्। निर्गते पारमार्थिके सत्तासत्ते यस्मादिति विग्रहः कूटस्थ[3]नित्यत्वादि पारमार्थिकं सत्।

सतोऽस्तित्वे च नासत्ता नास्तित्वे सत्यता कुतः॥

तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किंचित् क्वचित्कदाचिद्द्विज! वस्तुजातम्।
यच्चान्यथात्वं द्विज! याति भूयो न तत्तथा तत्र कुतो हि [4]सत्त्वम्?

इति गारुडवैष्णवादिवाक्येभ्यः [5]असत्तासामान्याभावस्यैव पारमार्थिक[6]सत्तात्वसिद्धेः। तच्च सत्त्वं प्रधाने नास्ति, महदाद्यखिलविकाररूपैः प्रलयेष्वसत्त्वात्, सूक्ष्मदृष्ट्या तु परिणा-मितया प्रतिक्षणं तत्तद्धर्मरूपेणापायाच्च। तथा च श्रुतिस्मृतयः चैतन्यं चिन्मात्रं सत्,

क्षणं न संतिष्ठति जीवलोकः क्षयोदयाभ्यां परिवर्त्तमानः॥

इत्याद्या इति। यथा च सत्तया वर्जितमेवमेवासत्तयाऽपि पारमार्थिक्या वर्जित सत्ता-सामान्याभावस्यैव पारमार्थिकासत्त्वात्। तच्च प्रधाने नास्ति, नित्यत्वादर्थक्रियाकारित्वात् श्रुतिस्मृत्य[7]नुमानादसिद्धत्वाच्च। इत्थमेव च सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं मायाऽऽख्यं प्रधानमिति वेदान्तसिद्धान्तोऽप्यवधारणीयः।

---

1. क ख ग–अलिङ्गत्व०, घ च छ–असङ्गत्व०।
2. क ग च–शशशृंगादि०, घ ख छ–शरीरादि०।
3. क ख ग–नित्यत्वं हि, घ च छ–नित्यत्वादि०।
4. क च छ–सत्त्वं, ख ग घ–तत्त्वम्।
5. क ख ग घ छ– सत्ता०, च– असत्ता०।
6. क ख ग घ छ–असत्तात्व०, च–सत्तात्व०।
7. क ख ग घ–अनुमानासिद्धत्वात्, च छ–अनुमानादसिद्धत्वात्।

नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका ।
सदसद्‌भ्यामनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी ॥

इत्यादित्यपुराणादिषु मायाऽऽख्यप्रकृतेःपारमार्थिकसत्त्वादिरूपेणानिरूप्यत्ववचनाच्च।

'प्रधान' तत्त्व की असङ्गता को उपपन्न करने के लिये (भाष्य में) **'अव्यक्तम्'** विशेषण पद प्रयुक्त हुआ है। **'प्रकृति'** स्वयं **'अव्यक्त'** (सूक्ष्म) है, अतः अपने से भिन्न तत्त्व की अनुमापक नहीं है। (जिस प्रकार महत् अपने से अन्य प्रकृति का परिचायक होता है)। इसलिये प्रकृति को **'अलिङ्ग'** कहते हैं। प्रकृति को पुरुष से तथा अन्य वादियों द्वारा अभिमत अलीक शशशृङ्गादि से व्यावृत्त (पृथक्) करने के लिये **'निःसत्तासत्तम्'** विशेषण पद प्रयुक्त हुआ है। **'निर्गते पारमार्थिके सत्तासत्ते यस्मात्'** इस विग्रह के अनुसार जिसमें से पारमार्थिक सत्ता तथा असत्ता निकल गई है उसे **'निःसत्तासत्त'** कहते हैं। पारमार्थिक सत्ता से कूटस्थनित्यत्वादि का ग्रहण होता है। (प्रकृति पुरुष की भाँति कूटस्थनित्य नहीं है। इसी प्रकार प्रकृति शशशृङ्गादि की भाँति पारमार्थिक असत् भी नहीं है। अतः प्रकृति को **'निःसत्तासत्त'** कहते हैं)। इसीलिये गारुड, वैष्णवादि वाक्यों द्वारा असत्ता के सामान्याभाव का 'पारमार्थिक सत्तात्व' सिद्ध किया गया है। वे वाक्य इस प्रकार हैं–**'सतोऽस्तित्वे...कुतः'** (ग. पु.) अर्थात् 'सत् की विद्यमानता होने पर असत् की अविद्यमानता रहती है, तब असत् की स्थिति में सत् का अस्तित्व कैसे रह सकता है', **'तस्मान्न...वस्तुजातम्'** (वि. पु. २/१२/४३) अर्थात् 'हे ब्राह्मण! विज्ञान के विना कहीं भी, कभी भी किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है', **'यच्चान्यथात्व...हि सत्त्वम्** (वि. पु. २/१२/४१) अर्थात् 'हे द्विज! जो वस्तु अन्यथात्व अर्थात् विकारत्व (परिणामत्व) को प्राप्त होती है उसमें पारमार्थिक सत्त्व कैसे रह सकता है।' (इस विवरण से यह सिद्ध होता है कि)– प्रधान में तथाकथित पारमार्थिक सत्त्व नहीं है, क्योंकि प्रलयावस्था में महदादि अखिल विकाररूपों से प्रधान विद्यमान नहीं रहता है (अर्थात् जिस प्रकार सृष्टिकाल में महदादि विकारजात वर्तमान अवस्था में रहते हुए अपने मूलकारण प्रधान की सत्ता को सिद्ध करते हैं, उसी प्रकार प्रलयावस्था में नहीं)। और यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो परिणामशील होने के कारण प्रधान का महदादि धर्म के रूप से 'अपाय' अर्थात् अभिभव (नाश भी) होता है। इस विषय की प्रतिपादिका श्रुतिस्मृतियाँ भी हैं–**'चैतन्यं चिन्मात्रं सत्'** अर्थात् "चिन्मात्र चैतन्य पुरुष ही सत् है', **'क्षणं न...परिवर्त्तमानः'** अर्थात् 'परिवर्तनशील संसार अभिभूत तथा प्रादुर्भूत हुए विना क्षण भर भी नहीं ठहरता है अर्थात् जड पदार्थमात्र प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है।' किञ्च जो **'सत्'** से रहित होता है, वही **'असत्'** होता है, तथा जो पारमार्थिक सत्ता से रहित होता है उसे **'पारमार्थिक असत्'** कहते हैं, क्योंकि

सत्तासामान्याभाव में ही पारमार्थिक असत्त्व है। यह पारमार्थिक असत्त्व प्रधान में नहीं है, क्योंकि प्रकृति में नित्यता है, अर्थक्रियाकारिता है तथा श्रुति, स्मृति, अनुमानादि प्रमाण से उसकी पारमार्थिक असत्ता सिद्ध नहीं होती है। इस विवेचन से वेदान्तियों का यह सिद्धान्त भी स्थिर हो जाता है कि 'सदसद्' से अनिर्वचनीय, त्रिगुणात्मक 'माया' संज्ञक तत्त्व 'प्रधान' है। और आदित्यादि पुराणों में 'माया' संज्ञक प्रकृति का पारमार्थिक सत् के रूप से विवेचन नहीं किया गया है। आदित्यपुराण का वाक्य इस प्रकार है–'नासद्रूपा...सनातनी' (११/२८) अर्थात् 'माया (संज्ञक प्रकृति) न असद्रूप है, न सद्रूप है और न ही सदसदुभयरूप है। वह तो सत् और असत् से अनिर्वचनीय (अवाच्य) अनादि मिथ्यारूप है।'

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार प्रपञ्च की 'अत्यन्त तुच्छता' का निषेध करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

न तु प्रपञ्चस्यात्यन्ततुच्छता; अत्यन्तविनाशिता [1]वा वेदान्तसिद्धान्तः, नाभाव उपलब्धेः, [2]भावे चोपलब्धेः इति वेदान्तसूत्राभ्यामेवात्यन्ततुच्छताया निराकरणात्, सत्त्वाच्चावरस्य असद्व्यपदेशादिति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्, वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवदित्यादियथाश्रुतवेदान्तसूत्रेभ्यः प्रपञ्चस्य सदसद्रूपताया एव सिद्धेश्च धर्मान्तरेणातीतानागतधर्मेण, शास्त्रेषु स्वप्नादिदृष्टान्ताश्च क्षणभङ्गुरत्व[3]पारमार्थिकासत्त्वांशेनैवेति बोध्यम्। न हि स्वप्नगन्धर्वनगरादयोऽप्यत्यन्तासन्तः, स्वप्नादावपि साक्षिभास्यमानसपदार्था[4]भ्युपगमात्। अन्यथा सन्ध्ये सृष्टिराह हीति वेदान्तसूत्रेणैव स्वप्ने सृष्ट्यवधारणं विरुध्येत। वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवदिति वेदान्तसूत्रे च जाग्रत्प्रपञ्चस्य केवलमानसत्वमेव निराकरोति। एतेन स्वप्नादिदृष्टान्तैः प्रपञ्चस्य मनोमात्रत्वाभ्युपगमः नवीनवेदान्तिनामपसिद्धान्त एव, वेदान्तसूत्रेणापि स्वप्नतुल्यत्वाभावनिर्णयात्। तस्माद्यथोक्तमेव प्रपञ्चस्यासत्त्वं ब्रह्ममीमांसाया अपि सिद्धान्तः, समानतन्त्र[5]सिद्धत्वाच्चेति दिक्।

उपरिनिर्दिष्ट वेदान्तसिद्धान्त के अनुसार प्रपञ्च की अत्यन्ततुच्छता अथवा अत्यन्तविनाशिता सिद्ध नहीं होती है क्योंकि (२/२/२८) 'नाभाव उपलब्धेः', 'भावे चोपलब्धेः' (१२/१/१५)–इन दो सूत्रों द्वारा प्रपञ्च की आत्यन्तिक तुच्छता को निरस्त किया गया है। इन दो सूत्रों का अर्थ है–'बाह्य पदार्थ का अभाव नहीं है, क्योंकि वस्तु की उपलब्धि होती है', 'कार्य का सद्भाव होने पर ही उसकी उपलब्धि

1. ख ग घ च–वा उपलभ्यते, क छ–वा नोपलभ्यते।
2. क ख घ च छ–भावे चोपलब्धेः उपलभ्यते, ग–भावे चोपलब्धेः नोपलभ्यते।
3. क ग घ च छ–पारमार्थिक० उपलभ्यते, ख–पारमार्थिक० नोपलभ्यते।
4. ख ग–सुखादिवत् (अभ्युपगमात् पश्चात्) उपलभ्यते, क घ च छ–सुखादिवत् नोपलभ्यते।
5. क च छ–सिद्धत्वात्, ख ग घ–सिद्धान्तत्वात्।

सम्भव हैं।' और **'सत्त्वाच्चावरणस्य...वाक्यशेषात्'** (२/१/१६), **'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्'** (२/२/२९) इत्यादि यथाश्रुत वेदान्त सूत्रों के अनुसार प्रपञ्च के अतीतानागतरूप धर्मान्तर के द्वारा सदसद्रूपत्व को ही सिद्ध किया गया है। प्रथम सूत्र का अर्थ है–'कारण में कार्य के विद्यमान रहने से भी कारण और कार्य की अभिन्नता सिद्ध होती है। यदि कहो कि उत्पत्ति से पूर्व जगत् को 'असत्' बतलाने से कार्य कारण में पहले से निहित है यह सिद्ध नहीं होता तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि वैसा लक्षणों में भिन्नता रहने के कारण कहा गया है, 'ऐसा वाक्यशेष होने से'। (अभिप्राय यह है कि श्रुतियों में जहाँ कार्य प्रपञ्च को 'असत्' कहा गया है– **'असद्वा इदमग्र आसीत्'** (तै. उ. २/७१) वहाँ **'असत्त्व'** का अर्थ **'अव्याकृतत्व'** अर्थात् **अनभि- व्यक्तत्व** है। जगत् अव्याकृत से व्याकृत होता है। व्याकृतत्व और अव्याकृतत्व ये दोनों धर्म **'अनिर्वचनीय'** माने जाते हैं। 'वाक्यशेष' पद का अर्थ करते हुए शांकरभाष्य में लिखा है–**'यदुपक्रमे सन्दिग्धार्थं वाक्यं तच्छेषान्निश्चीयते। इह च तावत् 'असदेवेदमग्र आसीद्' इत्यसच्छब्देनोपक्रमे निर्दिष्टं यत्तदेव पुनस्तच्छब्देन परामृश्य सदिति विशिनष्टि 'तत्सदासीत्' इति'**)। द्वितीय सूत्र का अर्थ है–'जाग्रत्प्रत्यय के विषय स्वप्नप्रत्यय के विषय से विपरीत धर्म वाले होने से स्वप्नादि में उपलब्ध पदार्थ के समान मिथ्या नहीं हैं।' (भाव यह है कि स्वप्नज्ञान के विषय में बाधितविषयत्व है, जब कि जाग्रत्ज्ञान के विषय में अबाधितविषयत्व। स्वप्नावस्था में दृष्ट पदार्थ का निषेध जागरित अवस्था में होता है। अतः स्वप्नप्रत्यय के मिथ्याभूत विषय के समान जाग्रत्प्रत्यय के विषय को भी मिथ्या नहीं कहा जा सकता है)। और शास्त्रों में जो स्वप्नादि के दृष्टान्त दिये गये हैं, वे स्वप्नादि के क्षणभङ्गुरतांश और पारमार्थिक असत्तांश को ही बतलाते हैं। (स्वप्न में दिखलाई पड़ने वाले) स्वप्न, गन्धर्व, नगरादि भी अत्यन्त असत् नहीं हैं, क्योंकि स्वप्नादि में भी साक्षिभास्य मानस पदार्थों को स्वीकार किया गया है। अन्यथा (स्वप्नादि की आत्यन्तिक असत्ता स्वीकार करने पर) **'सन्ध्ये सृष्टिराह हि'** (३/२/१) इस वेदान्त सूत्र के द्वारा स्वप्न में स्वाप्निक सृष्टि का प्रतिपादन (निर्धारण) करना ही विरुद्ध हो जायेगा। और **वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्'** (२/२/२९) इस वेदान्त सूत्र में तो जाग्रत् प्रपञ्च के केवलमानसत्व का ही खण्डन किया गया है (अर्थात् स्वप्नादि प्रपञ्च की भाँति जाग्रत् प्रपञ्च को भी केवल साक्षिभास्य मानस नहीं माना गया है)। इससे आधुनिक वेदान्तियों की यह मान्यता भी अपसिद्धान्तकोटिक हो जाती है कि स्वप्नादि के दृष्टान्तों से अर्थात् स्वाप्निक पदार्थों को मनोमात्र मानने से जागतिक पदार्थों में भी मनोमात्रजन्यता आ जाती है, क्योंकि वेदान्त सूत्र से भी जागतिक पदार्थों को स्वप्नतुल्य मानने का निर्णय (निर्धारण) नहीं किया गया है। (अर्थात्

स्वाप्निक पदार्थों की भाँति जाग्रत्कालिक पदार्थों को असत् नहीं माना जा सकता है। क्योंकि वेदान्तानुसार प्रपञ्च की व्यावहारिक सत्ता है और स्वप्नादि की प्रातिभासिक सत्ता है)। इस प्रकार समानतन्त्र के कारण प्रपञ्च की उपर्युक्त प्रकार की असत्ता को ब्रह्ममीमांसक भी मानते हैं।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार इस विषय में शंकोपस्थापनपूर्वक बौद्धमत को निरस्त करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

कश्चित्त्वत्रोत्तरविशेषणे चार्थक्रियाकारित्वमेव सत्त्वं विवक्षितं तच्च प्रलये प्रकृतितद्विकारयोर्नास्तीत्याह, तन्न; ईश्वरान्यपुरुषस्याप्येवमसत्तया तद्व्यावृत्त्यसम्भवात्, जीवेष्वपि हि विषयप्रकाशनव्यापारोपरम एवासत्ता लयः स्वापः प्रलयेऽस्तीश्वरप्रकरणे श्रुतिस्मृतिषु प्रसिद्ध इति।[1]

पूर्वपक्ष–कोई (बौद्ध) प्रधान के 'निःसदसत्' इस विशेषण के प्रसंग में 'सत्' का लक्षण इस प्रकार करते हैं–'अर्थक्रियाकारित्व को 'सत्' कहते हैं अर्थात् जो अर्थक्रिया को करता है उसे 'सत्' कहते हैं और यह सत्त्व प्रलयावस्था में प्रकृति और उसके कार्य (विकार) महदादि में उपलब्ध नहीं होता है। अतः 'प्रकृति' को 'असत्' मानना चाहिये।
उत्तरपक्ष– पूर्वपक्षी का यह कथन औचित्यपूर्ण नहीं है, क्योंकि ईश्वर से भिन्न पुरुष में भी बौद्धसम्मत उक्त सत्त्व नहीं है। ऐसी स्थिति में पुरुष से असत्ता को व्यावृत्त करना असम्भव हो जायेगा। प्रलयावस्था में जीवों में भी विषयप्रकाशन के व्यापार का उपरम अर्थात् अभाव माना जाता है, जिस उपरम को 'असत्ता' या 'लय' कहते हैं। यह बात ईश्वरतत्त्व के विचारप्रसङ्ग में श्रुति-स्मृतियों में कही गई है।

सम्प्रति, वार्त्तिककार प्रकृति के 'निःसदसत्' विशेषण पर विचार करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

प्रधानस्य पारमार्थिकसदसत्त्वाभावोपपत्तये तद्विकाराणामपि पारमार्थिक्यौ सदसत्ते न स्त इति प्रतिपादयितुं प्रधानस्य विशेषणान्तरं निःसदसदिति। निर्गते सदसती यस्मादिति विग्रहः। निःसन्निरसदिति पाठेऽप्ययमेवार्थः, प्रधानवृत्ति हि यद्विकारजातं तत्पारमार्थिकसन्न भवति, परिणामित्वेन स्वधर्मैः प्रतिक्षणविनाशाद्, आद्यन्तयो[2]**र्व्यक्त्यवस्थयाऽप्यसत्त्वाच्च।
वाचाऽऽर- म्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्,
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत !**

---

1. ख–किञ्च उक्तसत्ताया अभावस्य कदाचित्कतया क्षणं न सन्तिष्ठति जीवलोक इत्यदिवाक्यानां तेनानुपपत्तिरिति–(प्रसिद्ध इति पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ–किञ्च.... अनुपपत्तिरिति नोपलभ्यते।
2. क ग घ च छ–व्यक्ति०, ख–वर्तमान०।

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

इत्यादिश्रुतिस्मृतयश्च विकाराणां नित्यतारूपं सत्त्वं निराकुर्वन्ति। अत्र च श्रुतौ विकाराणामाद्यन्तयोर्नाममात्रावशेषत्वेनास्थिरतयैव तदपेक्षया स्थिरत्वरूपं सत्यत्वं कारणस्य विवक्षितम्, नित्यो नित्यानां सत्यस्य सत्यमिति श्रुत्यन्तरे तादृशार्थसिद्धेः, न पुनर्विकाराणामत्यन्ततुच्छतया; मृद्विकारस्य ब्रह्मविकारदृष्टान्तत्वानुपपत्तेः। न हि लोके मृद्विकारस्यात्यन्ततुच्छत्वं सिद्धमस्ति येन ब्रह्मकार्यप्रपञ्चतुच्छत्वे दृष्टान्तता तस्य स्यादिति। यथा प्रधानवृत्ति कार्यजातमत्यन्तसन्न भवति एवमत्यन्तासदपि न भवति, अतीतानागतादिरूपैः सदा सत्त्वात्, तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्,

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं [1]प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥

इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्य इति।

प्रधान में पारमार्थिक सत्ता तथा असत्ता नहीं है, यह सिद्ध करने के लिये और प्रधान के कार्य महदादि तत्त्वों में भी पारमार्थिक सत् और असत् का अभाव है, यह समझाने के लिये भाष्यकार ने प्रधान का दूसरा विशेषण दिया है–'निःसदसदिति।' 'निर्गते सदसती यस्मात्' 'अर्थात् जिसमें से सत् तथा असत् दोनों निकल गये हैं, ऐसा 'निःसदसत्' पद का विग्रह है। भाष्य में जहाँ-कहीं 'निःसन्निरसत्' ऐसा पाठ उपलब्ध होता है, वहाँ भी ('निःसदसत्' की) भाँति अर्थ किया जाता है। प्रधान में निहित जो विकारजात है, उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है क्योंकि परिणामी (परिणामशील) होने के कारण धर्मीभूत महदादि विकारों का स्वनिष्ठ धर्मों के द्वारा क्षण-प्रतिक्षण विनाश (उपचपापचय) होता रहता है और दूसरी बात यह है कि सृष्ट्यादि और सृष्ट्यन्त में महदादि तत्त्व व्यक्त्यवस्था (अभिव्यक्ता- वस्था, वर्तमानलक्षणावस्था अथवा धर्मी) रूप से भी स्थित नहीं रहते हैं। (अपितु अपने मूल कारण से अभिन्न होकर उसी में अवस्थित रहते हैं)। 'वाचारम्भणं... सत्यम्' (का. उ. ६/१/१), 'अव्यक्तादीनि... परिदेवना' (गीता २/२८) इत्यादि श्रुति- स्मृतियाँ भी महदादि विकारों के नित्यतारूप सत्त्व का निराकरण करती हैं। श्रुति- स्मृति वाक्यों का अर्थ है–'घटादि विकार वाणी का विलासमात्र है, वस्तुतस्तु मृत्तिका ही सत्य है', 'माया से शरीरों की उत्पत्ति होती है, बीच में आभास से उनका स्वरूप प्रतीत होता है, अन्त में माया में उनका लय हो जाता है। अतः विद्वान् पुरुष को इनके विषय में शोक नहीं करना चाहिये।' उपरिनिर्दिष्ट श्रुति में यह बतलाना अभिप्रेत है कि महदादि विकार सृष्टि के आदि तथा अन्त में नाममात्र से ही

---

1. क ग घ च छ–प्रसुप्तं, ख–सुप्तम्।

अवशिष्ट रहने से 'अस्थिर' ही हैं। उनकी अपेक्षा मूलकारण प्रकृति में स्थिरत्वप्रयुक्त सत्यत्व है क्योंकि 'नित्यो नित्यानां सत्यस्य सत्यम्' (श्वे. उप. ६/१३) इस अन्य श्रुति से भी उक्त यथेष्ट अर्थ ही परिपुष्ट होता है। महदादि विकारों की आत्यन्तिक तुच्छता का निषेध करते हुए योगवार्त्तिककार कहते हैं-अत्यन्त तुच्छ होने के कारण महदादि विकारों को 'असत्' नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि मृत्तिका के विकारभूत घटादि; ब्रह्म के विकारभूत जगत् की आत्यन्तिक तुच्छता अर्थात् पारमार्थिक असत्ता के दृष्टान्त नहीं बन सकते हैं। अर्थात् जगत् में मृत्तिका के विकारभूत घटादि की आत्यन्तिंक तुच्छता सिद्ध नहीं होती है, जिससे ब्रह्म के कार्यभूत प्रपञ्च की आत्यन्तिक तुच्छता के सिद्ध्यर्थ मृद्विकार को दृष्टान्तकोटि में रखा जा सके। प्रधानवृत्तिक (प्रधाननिष्ठ) महदादि विकारजात जिस प्रकार 'अत्यन्त सत्' नहीं है उसी प्रकार 'अत्यन्त असत्' भी नहीं है, क्योंकि महदादि कार्य अपने अतीत तथा अनागतलक्षण परिणामों के रूप से अपने मूलकारण प्रधान में सर्वदा 'सत्' है, क्योंकि 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' (बृ. आ. १/४/७), 'आसीदिदं...सर्वतः' (मनुस्मृति १/५) इन श्रुति-स्मृतियों से भी यही सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है। श्रुति-स्मृतियों का अर्थ है-'प्रलयकाल में (महदादि) अव्याकृत था', 'यह संसार (प्रलयकाल में) तम में लीन, अज्ञेय, चिह्नरहित, प्रमाणादि तर्कों से हीन अतएव अतिज्ञेय तथा सर्वज्ञ सोये हुए के समान था'।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार प्रकृति के 'निःसत्तासत्' विशेषण के विषय में सम्भावित शंकाओं को निरस्त करते हुए आगे कहते हैं–

योगवार्त्तिकम्

नन्वेवं सविकारस्य प्रधानस्य सदसत्त्वप्रतिषेधे सति प्रकृतेः सदसदात्मकताप्रतिपादकश्रुतिस्मृतिशतव्याकोपः, सदसत्ख्यातिबाधाबाधाभ्यादिति सांख्यसूत्रविरोधश्चेति? मैवम्–तथाविधवाक्यानां [1]व्यक्ताव्यक्तरूपव्यावहारिकसदसत्तापरत्वात्। सांख्यसूत्रे च बाधाबाधौ रूपभेदेन सार्वकालिकाविति। तदुक्तम्–

जगन्मयी भ्रान्तिरियं न कदाऽपि न विद्यते ।
विद्यते न कदाचिच्च जलबुद्बुदवत् स्थितम् ॥

इति। भ्रान्तिरिति पारमार्थिकभ्रममाश्रित्य ज्ञानज्ञेययोरभेदविवक्षयोक्तम्। अत एव गौतमसूत्रम्–तत्त्वप्रधानभेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्वैविध्योपपत्तिरिति। [2]तात्त्विकमिथ्याबुद्धिरनित्यपदार्थज्ञानं च प्रधानं मिथ्याज्ञानं प्रसिद्धमिथ्याज्ञानं शुक्तिरजतादिज्ञानमिति। पार-

---

1. क ग घ छ–व्यक्तरूप०, ख च–व्यक्ताव्यक्तरूप०।
2. क ग घ च छ–तात्त्विक०, ख–सात्त्विक०।

मार्थिकभ्रमलक्षणं च तदभाववति तत्प्रकारत्वमस[1]द्विषयकता वा, तदुभयमपि परिणामिनित्यपदार्थबुद्धिष्वप्यस्तीति। व्यावहारिकपारमार्थिकभेदेन सत्ताऽऽदिद्वैविध्यं च विष्णुपुराणादिषु प्रसिद्धम्।[2] यथा–

सद्भाव एषो भवते मयोक्तो ज्ञानं यथा सत्यमसत्यमन्यत्।
एतच्च यत्संव्यवहारभूतं [3]तथाऽपि चोक्तं भुवनाश्रितं तत्॥

इति। तृतीया च लोकसिद्धा [4]प्रातिभासिक्यपि सत्ता शुक्तिरजतस्वाप्नपदार्थानां मनोमात्रपरिणामानामिति। यत्तु परमात्मचैतन्यस्यैव सत्त्वं न तु जीवचैतन्यानामपीति वेदान्तरहस्यं नाऽन्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धेत्यादिश्रुतिसिद्धं तत्तु लयशून्यत्वरूपामतिपारमार्थिकसत्तामभिप्रेत्यैव बोध्यम्। प्रलये हि परमात्मनि प्रकृतिपुरुषयोर्व्यापारोपरमरूपो लयो भवति–

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ लीयेते परमात्मनि॥

इत्यादिवाक्येभ्यः। परमात्मा च सदा जाग्रत्स्वरूपतया लयशून्य इति। स एव परमार्थसन्न प्रकृतिपुरुषाविति वेदान्तमहावाक्यमर्यादा। एतेन सदसत्त्वयोर्विरोधादेकत्रासंभव इत्यप्यपास्तम्। व्यवहारपरमार्थभेदेन कालभेदेनावच्छेदभेदेन स्वरूपभेदेन प्रकारभेदेन च तयोरविरोधादिति। तदेवं श्रुतिन्यायसिद्धं [5]सत्यत्वमिथ्यात्व[6]विभागमविदुषामाधुनिकवेदान्तिब्रुवाणां प्रपञ्चात्यन्तासत्यत्वादि[7]रूपा अपसिद्धान्ता नास्तिकमता[8]नुसारिणो मुमुक्षुभिर्दूरतः [9]परिहरणीयाः, समान[10]न्यायेनान्यत्र सिद्धान्तानामेव ब्रह्ममीमांसासिद्धान्तत्वादिति सर्वं समञ्जसम्। लिङ्गमात्रपरिणाममुपसंहरति–[11]एष तेषामिति। तेषां गुणानामित्यर्थः।

शङ्का–विकाररहित प्रधान के 'सदसत्' का निषेध करने पर प्रकृति की सदसदात्मकता का प्रतिपादन करने वाली सैकड़ों श्रुति-स्मृतियाँ क्रुध हो जायेंगी तथा 'सदसत्ख्यातिबाधाबाधाभ्याम्' (५/५६) इस सांख्यसूत्र से भी विरोध होगा? सूत्र का अर्थ है–

---

1. क घ च छ–विषयकता, ख ग–विषयता।
2. क ख ग–सिद्धं, घ च छ–प्रसिद्धम्।
3. क ख ग घ–तत्र, च छ–तथा।
4. क ग घ च छ–प्रातिभासिकी, ख–प्रातीतिकी।
5. क ग घ च छ–सत्यत्व०, ख–सत्त्व०।
6. क ग घ च छ–विभागमविदुषामाधुनिक०, ख–विभागविदुषामाधुनिकानाम्।
7. क छ–रूपाश्रय०, ख ग घ च–रूपा अप०।
8. ख–अखिलसाधनाश्रद्धाहेतवः (अनुसारिणः पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ–अखिलसाधनाश्रद्धाहेतवः नोपलभ्यते।
9. क ग घ च छ–परिहरणीयाः, ख–परिहार्याः।
10. ख–तन्त्र० (समान० पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ–तन्त्र० नोपलभ्यते।
11. क घ–एतेषां, ख ग च छ–एष तेषाम्।

बाधाबाध रहने पर **'सदसत्ख्याति'** माननी चाहिये अर्थात् शुक्ति में जो रजतज्ञान हो रहा है, उसमें सत् और असत् दोनों का ज्ञान होता है।'

समाधान–पूर्वपक्षी की यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि इस प्रकार के वाक्य (श्रुति, स्मृतियाँ) तो (कार्यकारणात्मक पदार्थों के) व्यक्ताव्यक्तरूप व्यावहारिक सत्-असत् के प्रतिपादक हैं। किञ्च सांख्य सूत्र में बाधाबाध रूपभेद से सार्वकालिक हैं। जैसा कि कहा गया है–**'जगन्मयी...स्थितम्'** अर्थात् 'यह जगन्मयी भ्रान्ति कभी नहीं होती है अथवा सर्वदा होती है, ऐसा नहीं है। अपितु जल के बुद्बुदों के समान यह भ्रान्ति कभी होती है और कभी नहीं होती है।' इस श्लोक में पारमार्थिक भ्रम को आश्रय करके ज्ञान तथा ज्ञेय की अभेद-विवक्षा से **'भ्रान्ति'** कही गई है। किञ्च गौतमसूत्र है–**'तत्त्वप्रधानभेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्वैविध्योपपत्तिः'** (४/२/३७) 'सूत्रार्थ है–'तत्त्व और प्रधान के भेद से भी मिथ्याबुद्धि का द्वैविध्य है।' मिथ्याज्ञान दो प्रकार का है–तात्त्विक मिथ्याबुद्धि तथा अनित्य पदार्थज्ञानरूप प्रधान मिथ्याज्ञाम। शुक्त्यादि में रजतादिज्ञानरूप मिथ्याज्ञान प्रसिद्ध है। पारमार्थिक मिथ्याज्ञान (भ्रम) का लक्षण है–**तदभाववति तत्प्रकारत्वं, असद्विषयकता वा'** अर्थात् वस्तुविशेष का अभाव होने पर तत्प्रकारक (तद्विशेषणक) ज्ञान होना अथवा असद् वस्तुविषयक ज्ञान होना भ्रम (पारमार्थिक मिथ्याज्ञान) है। यह दोनों प्रकार का भ्रमज्ञान परिणामी नित्य पदार्थों के ज्ञानों के विषय में भी होता है। विष्णुपुराणादि शास्त्रों में व्यावहारिक तथा पारमार्थिक भेद से सत्तादि का भी द्वैविध्य प्रसिद्ध (व्याख्यात) है। जैसे–**'सद्भाव... भुवनाश्रितं तत्'** (वि. पु. २/१२/४५) अर्थात् 'इस प्रकार तुम्हारे प्रति यह परमार्थ विषय मैंने कहा है। एकमात्र ज्ञान ही सत्य है और उससे भिन्न जो कुछ है वह सब असत्य समझो। जो केवल व्यवहारभूत है उस भुवनविषयक वृत्तांन्त को तुमसे कह चुका हूँ' और तीसरी लोकसिद्ध **'प्रातिभासिकी सत्ता'** भी है जो मनोमात्र के परिणाभूत शुक्ति-रजत तथा स्वाप्निक पदार्थों की है। और जो, परमात्मचैतन्य की ही सत्ता है, न कि जीवचैतन्यों की भी, इत्याकारक वेदान्तरहस्य **'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा'** (बृ. आ. ३/७/२३) अर्थात् 'परमात्मचैतन्य से अतिरिक्त कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता तथा बोद्धा नहीं हैं'–इत्यादि श्रुति द्वारा सिद्ध है, वह तो लयशून्यत्वरूप अतिपारमार्थिक सत्ता के अभिप्राय से ही जानने योग्य है। अर्थात् वेदान्तानुसार ब्रह्म का अंशभूत जीव ब्रह्मज्ञान के पश्चात् अंशीभूत ब्रह्म में लय अर्थात् आत्यन्तिक अभेद को प्राप्त होता है, किन्तु इस प्रकार का लय अंशीभूत ब्रह्म में नहीं है। अतः **'नान्योऽतोऽस्ति'**...वेदान्तवाक्यों का अभिप्राय ब्रह्म की लयशून्य-त्वरूप अतिपारमार्थिक सत्ता को प्रतिपादित करना है, न कि उनके द्वारा जीव-चैतन्य की सत्ता का निषेध करना है। क्योंकि **'प्रकृतिः...परमात्मनि'** (अग्निपुराण

३६८/२६) अर्थात् 'परमात्मा में प्रकृति तथा पुरुष दोनों लय को प्राप्त होते हैं'– इत्यादि वाक्यों द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि प्रलयावस्था में प्रकृति तथा पुरुष दोनों का परमात्मा में 'व्यापारोपरमरूप' लय होता है अर्थात् प्रलयावस्था में प्रकृति का भोगप्रयोजक परिणाम नहीं होता है और पुरुष का भी औपाधिक भोग निष्पन्न नहीं होता है। अतः प्रलयावस्था में दोनों का व्यापारोपरमरूप लय होता है। और परमात्मा सर्वदा जाग्रत्स्वरूप होने से लयशून्य है। अत एव परमात्मा (ब्रह्म) ही परमार्थसत् है, न कि प्रकृति तथा पुरुष। इस प्रकार वेदान्तमहावाक्य का सामञ्जस्य होता है अर्थात् अभिप्राय मर्यादित होता है। इससे सत् तथा असत् का परस्पर विरोध होने से ये दोनों सदसद् एक ही पदार्थ प्रकृति में सम्भव नहीं हैं, यह शंका भी निरस्त हो जाती है। क्योंकि व्यवहार और परमार्थभेद से, काल और अवच्छेद-भेद से तथा स्वरूप और प्रकारभेद से सत् और असत् में परस्पर विरोध नहीं है। अतः ये एक ही पदार्थ में रह सकते हैं। इस प्रकार श्रुतिन्याय के अनुसार सिद्ध 'सत्यत्व' और 'मिथ्यात्व' के विभाग को लेकर आधुनिक वेदान्ती कहलाये जाने वाले अपरिपक्व लोगों ने नास्तिक मत का अनुसरण करते हुए प्रपञ्च के अत्यन्त असत्यत्वादि रूप जो अपसिद्धान्त बताये हैं, वे मुमुक्षुओं के द्वारा सर्वथा परित्याज्य हैं। क्योंकि समान न्याय से अन्य शास्त्रों के सिद्धान्त ब्रह्ममीमांसा के ही सिद्धान्त हैं, ऐसी सङ्गति कर लेनी चाहिये। भाष्यकार गुणों के 'लिङ्गमात्र' परिणाम को उपसंहृत करते हैं–'एष तेषामिति।' यह महत्तत्त्व उन गुणों का 'लिङ्गपरिणाम' है।

योगवार्त्तिकम्

अलिङ्गं पर्वं व्याचष्टे–निःसत्तासत्तं चेति। निःसत्तासत्तमित्यु[1]क्तेःयः पदार्थः सोऽलिङ्ग-नामा गुणानां परिणामः, स च साम्या[2]वस्थानात्मको गुणेभ्योऽतिरिक्त इति तस्य गुण-परिणामत्वमुपपद्यते, तस्यां च साम्यावस्थायां प्रधानवाचिशब्दो धर्मधर्म्यभेदेन महदादिव्या-वृत्त्यर्थमेवात्र श्रुतिस्मृत्योश्च प्रयुज्यते, परमार्थतस्तु गुणा एव तदुपलक्षिताः प्रधानम्, भाष्ये गुणानामेव प्रधानत्वस्यो[3]क्तत्वादिति।

भाष्यकार 'अलिङ्गपर्व' की व्याख्या करते हैं–'निःसत्तासत्तं चेति।' 'निःसत्तासत्त' (सत्ता तथा असत्तारूप दोनों धर्मों से रहित) कहने पर जो पदार्थ (अव्यक्त अथवा प्रकृति) सामने आता है, वही गुणों का 'अलिङ्ग' परिणाम है और यह साम्या-वस्थात्मक (सरूपात्मक) 'अलिङ्ग' परिणाम सत्त्वादि त्रिगुण से भिन्न है और इस

---

1. क ख ग घ–उक्तः, च छ–उक्ते।
2. क ग च छ–अवस्थानात्मकः, ख ग–अवस्थानामकः।
3. क ग घ च छ–उक्त०, ख–प्रोक्त०।

प्रकार 'अलिङ्ग' का गुणपरिणाम होना उपपन्न होता है। साम्यावस्था में 'अलिङ्ग' पर्व के लिये जो 'प्रधान' शब्द का प्रयोग होता है अर्थात् 'अलिङ्ग' को प्रधान कहा जाता है, वह तो धर्म-धर्मी के अभेद से (गुण और प्रधान में धर्म-धर्मी की अभेदविवक्षा से) महदादि को व्यावृत्त कराने के लिये है, ऐसी श्रुति-स्मृतियों के अनुसार योजना की जाती है। किन्तु पारमार्थिक रूप से गुण ही 'प्रधान' शब्द से उपलक्षित हैं। क्योंकि भाष्य में गुणों को ही 'प्रधान' शब्द से कहा गया है।

सम्प्रति, विशेषादि पर्वों एवं गुणों के अत्यन्त सूक्ष्म वैधर्म्य पर विचार किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

इदानीं पर्वणां गुणानां च परस्परवैधर्म्यैर्भेदो व्युत्पादनीयः–तत्रादावलिङ्गावस्थारूपस्य पर्वणः पर्वत्रयाद् गुणेभ्यश्च वैधर्म्यं प्रतिपादयति–अलिङ्गावस्थायामिति। पुरुषार्थौ विषय-भोगविवेकख्याती तत्कार्यौ सुखदुःखाभावौ च स पुरुषार्थो नालिङ्गावस्थां प्रति हेतुः यतोऽ-लिङ्गावस्थायामादौ सृष्टेः प्राक् पुरुषार्थता पुरुषार्थ[1]समूहः कारणं कारणत्वाभिमतो नोत्पद्यत इत्यर्थः। दुःखनिवृत्तिव्यावर्तनाय कारणमित्युक्तम्, प्रलयकाले दुःखनिवृत्तेः कर्मक्षयादेवोपपत्तेः प्रलयाप्रयोजनतया दुःखनिवृत्तिः प्रलयकारणं न भवतीत्याशयः। उपसंहरति–न तस्या इति। एतदुक्तं भवति–व्यक्तावस्थायां गुणेभ्यः शब्दाद्युपभोगादिरूपः पुरुषार्थो जायतेऽतः स तस्यामनागतावस्थः कारणं भवतु साम्यावस्थायां तु न तज्जन्यः कश्चन पुरुषार्थोऽस्तीत्यतो नास्याः पुरुषार्थः कारणमिति। एतावता किमित्यत आह–नासौ पुरुषार्थकृतेति। [2]नित्याऽऽ-ख्यायत इति। शास्त्रेष्विति शेषः। नित्या स्वाभाविकी अनैमित्तिकत्वेन पर्वत्रयापेक्षया स्थिरा, स्वाभाविकत्वेऽपि[3] धर्मादिभिः प्रतिबन्धोऽत्र गुणानां साम्यरूपः परिणाम इति भावः। अव्यक्तावस्थायाश्च स्वाभाविकत्वं न व्यक्तावस्थाऽपेक्षया। बहुकालावस्थायित्वमेव नित्यत्वं सत्यत्वापरनामकं व्यवहारे सिद्धम्, धर्मो नित्यः सुखःदुःखे त्वनित्ये इत्यादिभारता-दिव्यवहारात्। ईदृशनित्यत्वं च गीतादिषूक्तम्–

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

इत्यादिभिरिति। अथ वा सर्वदा सत्त्वरूपं नित्यत्वमेवा[4]त्राप्यर्थोऽस्तु, सर्गेऽपि गुणसाम्य-स्यात्यन्ततोऽनुच्छेदात्, अंशत एव वैषम्येणावरणरूपस्य गुणसाम्यस्य सर्वदा सत्त्वात्, अन्यथा

---

1. क ख ग घ च–समूहः, छ–भावः।
2. क ग–नित्याः व्याख्यायते, ख–नित्याख्याय, घ–नित्याः व्याख्यायन्ते, च छ–नित्याऽऽख्यायते।
3. क ख ग–सर्गकाले (अपि पश्चात्) उपलभ्यते, घ च छ–सर्गकाले नोपलभ्यते।
4. क घ–अप्यत्र, ख ग च छ–अत्रापि।

साम्यावस्थाया अत्यन्तोच्छेदे पर्वत्त्वानुपपत्तेश्च। अनेन हि सूत्रेण ऊर्ध्वमूलमधः शाखं[1] इत्यादि[2]गीताम् अव्यक्तमूलप्रभव इत्यादिमोक्षधर्मादिकं चानुसृत्य संसाररूपो गुणवृक्ष एव चतुष्पर्वतया निरूपितः, तस्य च वंशतुल्यस्य गुणवृक्षस्यावरणानां पूर्वपूर्वतत्त्वानामंशत एवोत्तरतत्त्वरूपेण परिणामो भवति समुद्रस्यांशतः फेनादिरूपतावत् न तु दध्ना दुग्धस्येव पूर्वपूर्वतत्त्वस्य सर्वांशेन परिणामः। उत्पन्नकार्यस्य कारणेन पुनरापूरणार्थं तु कारणानां स्वकार्यावरकतयाऽवस्थानं सिध्यति। तस्मात्सर्गकालेऽपि बहिरलिङ्गावस्था- वस्थानात्तस्या नित्यत्वमिति।

अधुना पूर्ववर्णित विशेषादि पर्वों एवं सत्त्वादि गुणों का परस्पर वैधर्म्यभेद व्युत्पादनीय है अर्थात् अब पर्व एवं गुणों की परस्पर विपरीतधर्मता को प्रतिपादित करना अपेक्षित है। इनमें भी भाष्यकार सर्वप्रथम **'अलिङ्ग'** अवस्थाक पर्व का अतिरिक्त तीन पर्वों एवं गुणों से वैधर्म्य को प्रतिपादित करते हैं– **'लिङ्गावस्थाया-मिति।' 'विषयभोग'** तथा **'विवेकख्याति'** ये दो पुरुषार्थ हैं। इन दो पुरुषार्थों का फल क्रमशः सुख तथा दुःखाभाव है। यह पुरुषार्थ गुण की **'अलिङ्गावस्था'** के प्रति कारण नहीं है, क्योंकि अलिङ्गावस्था के आदि में सृष्टि से पूर्व (गुणों की अलिङ्गावस्था के प्रति कोई पूर्ववर्ती) **'पुरुषार्थता'** अर्थात् भोग और मोक्षरूप पुरुषार्थसमूह उपपन्न नहीं होता है। अर्थात् गुणों की अलिङ्गावस्था के प्रति भोग और अपवर्ग कारण नहीं है। भाष्यकार ने यहाँ अलिङ्गावस्था के प्रति **'दुःखनिवृत्ति'** रूप पुरुषार्थ को हटाने के लिये **'कारण'** शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि प्रलयकाल में दुःखनिवृत्ति तो कर्मक्षय से ही उपपन्न हो जाती है। अतः प्रलय के प्रति अप्रयोजनरूप होने से दुःख- निवृत्ति प्रलय का कारण नहीं हो सकती है। इसी तथ्य को उपसंहृत करते हुए भाष्यकार कहते हैं–**'न तस्या इति।'** भाव यह है–गुणों की व्यक्तावस्था में तो गुणों से शब्दादि उपभोगरूप पुरुषार्थ उत्पन्न होता है। अतः गुणों की व्यक्तावस्था में अनागतावस्थाक पुरुषार्थ कारण हो सकता है, किन्तु गुणों की साम्यावस्था में तो गुणजन्य कोई पुरुषार्थ नहीं है। अतः गुणों की साम्यावस्था के प्रति पुरुषार्थ कारण नहीं है।

शङ्का–गुणों की साम्यावस्था के प्रति पुरुषार्थ कारण नहीं है–ऐसा मानने का प्रयोजन क्या है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–**'नासौ पुरुषार्थकृतेति नित्याख्यायत इति।'** चूँकि यह अलिङ्गावस्थाक प्रकृति पुरुषार्थजन्य नहीं है, इसलिये नित्य कही गई है। यहाँ **'शास्त्रेषु'** यह वाक्यशेष है अर्थात् शास्त्रों में अपुरुषार्थकृत **'प्रकृति'** को **'नित्य'** कहा गया है। यहाँ **'नित्य'** शब्द का अर्थ स्वाभाविक है। अतः अनैमित्तिकरूप से अर्थात्

---

1. क ख ग च–शाखं, घ–शाखः उपलभ्यते, छ–शाखं/शाखः–नोपलभ्यते।
2. क घ च छ–गीतां, ख ग–गीतायाम्।

स्वाभाविकरूप से जो विशेषादि पर्वत्रय की अपेक्षा स्थिर है, उसे **'नित्य प्रकृति'** कहते हैं। ऐसी नित्यताप्रयुक्त स्वाभाविकता प्रकृति में होने पर भी उसमें धर्मादिकों से प्रतिबन्ध होता है, यही गुणों का साम्यपरिणाम है। किञ्च अव्यक्तावस्था का यह स्वाभाविकत्व (नित्यत्व) व्यक्तावस्था की अपेक्षा से नहीं है, अपितु बहुत काल तक स्थित रहने के कारण ही गुणों की अलिङ्गावस्था (अव्यक्तावस्था) को नित्य कहा गया है, जिसको व्यवहार में **'सत्य'** नाम से कहते हैं। क्योंकि **'धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये'** अर्थात् 'धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं'–इस प्रकार महाभारतादि में ऐसा प्रयोग (व्यवहार) मिलता है। अव्यक्तावस्था की इस प्रकार की नित्यता गीतादि शास्त्रों में निम्नांकित वाक्यों द्वारा कही गई है–**'अव्यक्तादीनि...परिदेवना'** (गीता. २/२८) 'माया से शरीरों की उत्पत्ति होती है। बीच में आभास से उनका स्वरूप प्रतीत होता है। अन्त में माया से उनका लय हो जाता है। अतः विद्वान् पुरुष को उनमें शोक करने का अवकाश ही नहीं है।' अथवा सर्वदा सत्त्वरूप नित्यत्व (गुणसाम्य की स्थिति) रहने से भी अव्यक्तावस्था को **'नित्य'** कह सकते हैं, क्योंकि सृष्टिकाल में भी गुणसाम्य का आत्यन्तिक उच्छेद नहीं होता है। अपितु आंशिक वैषम्यरूप से ही आवरणरूप गुणसाम्य की सर्वदा स्थिति (सत्त्व=सत्ता) बनी रहती है। अन्यथा (साम्यावस्था का आत्यन्तिक उच्छेद (नाश) मानने पर) अलिङ्ग संज्ञक गुणपर्व ही अनुपपन्न रह जायेगा। जब कि **'ऊर्ध्वमूलमधः'** (१५/१) इत्यादि गीतावाक्य तथा **'अव्यक्तमूलप्रभवः'**–इत्यादि मोक्षधर्मादि वाक्यों का अनुसरण करके प्रकृत सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने संसाररूप गुणवृक्ष को चार पर्व वाला ही निरूपित किया है और इस वंशतुल्य गुणवृक्ष के आवरणभूत (अनभिव्यक्तरूप) पूर्व-पूर्व तत्त्वों का आंशिकरूप से ही उत्तरोत्तर तत्त्वों के रूप में उसी प्रकार परिणाम होता है, जिस प्रकार समुद्र का फेनादि के रूप में परिणाम होता है, न कि दुग्ध के दधिरूप सर्वांश परिणाम की भाँति (गुणवृक्ष के) पूर्व-पूर्व तत्त्व का सर्वांशतः परिणाम होता है। अभिव्यक्त (उत्पन्न) कार्य की कारण के द्वारा पुनः अभिव्यक्ति (आपूरण) होने के लिये कारणों का अपने-अपने कार्य के आवरक रूप से अवस्थान सिद्ध होता है (अर्थात् धर्मभूत कार्य के आश्रयभूत धर्मी की अवस्थिति बनी रहती है। जैसे घट का आश्रयभूत मृत् घटाभिव्यक्ति के पश्चात् भी विद्यमान रहता है)। अतः सर्गकाल की परिधि के बाहर अर्थात् प्रलयावस्था में भी गुणों की अलिङ्गावस्था बनी रहने से प्रकृति का नित्यत्व सिद्ध होता है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार **'गुणवृक्षस्यावरणानां पूर्वपूर्वतत्त्वानाम्'**–अपने इस पूर्वकथन के अनुसार गुणवृक्ष के आवरणों का स्वरूप स्पष्ट करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

ननु प्रकृतिमादायाष्टावेवावरणानि ब्रह्माण्डस्य श्रूयन्ते न तु तन्मात्राण्यपीति चेत्? न; सूक्ष्म[1]स्थूलयोरेकत्वविवक्षयाऽष्टधाऽऽवरणवचनात्। अत एव भागवतद्वितीयस्कन्धे परब्रह्म-गतौ पञ्चभूतानां बहिस्तन्मात्रावरणे गतिरुक्ता। इन्द्रियाणि चाकारणत्वान्नावरणानि, तेषामुत्पत्तिस्तु तन्मात्रसमानदेशा यथा तिलसमानदेशा सूक्ष्मतैलोत्पत्तिरिति दिक्।

शङ्का–प्रकृति को लेकर ब्रह्माण्ड के आठ ही आवरण सुने जाते हैं। इन आठ आवरणों में तन्मात्राएँ तो आती नहीं हैं। अर्थात् ब्रह्माण्ड के आठ आवरणों में तन्मात्राओं का समावेश नहीं होता है?

समाधान–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि सूक्ष्म और स्थूल में एकत्व विवक्षित होने से आठ आवरण सुने जाते हैं। अत एव श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध में मुक्तिदशा में (परब्रह्मगतावस्था में) पञ्च महाभूत के बाहर तन्मात्ररूप आवरण में गति बतलाई गई है। (इससे सिद्ध होता है कि अष्टावरण में तन्मात्राएँ भी अन्तर्भुक् हो जाती हैं)। और इन्द्रियाँ किसी कार्य का कारण न होने से (अकारण होने से) 'आवरणरूप' नहीं (कही गई) हैं। क्योंकि इन्द्रियों की उत्पत्ति तन्मात्र के 'समानदेश' वाली उसी प्रकार है जिस प्रकार सूक्ष्म तेल की उत्पत्ति तिल के समानदेश वाली होती है। (अभिप्राय यह है कि तन्मात्र और इन्द्रिय दोनों की उत्पत्ति अहंकाररूप 'समानदेश' से उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार तिल और तेल दोनों की उत्पत्ति 'बीज' रूप समानदेश से होती है। इस प्रकार आवरण आठ हैं–प्रकृति, महत्, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्र। इस विवरण से यह सिद्धान्त भी पर्यवसित होता है कि गुणों का 'अलिङ्गपर्व' नित्य है)।

सम्प्रति, वार्त्तिककार अलिङ्गातिरिक्त पर्वों के स्वरूप को निर्धारित करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

इतरस्मिन्नवस्थात्रये त्वनित्यत्वरूपं वैधर्म्यमाह–त्रयाणामिति। आदौ उत्पत्तौ उपादान-कारणत्वव्यवच्छेदार्थमाह–[2]स चार्थ इति। अनित्या त्रिधा[3] अवस्थेति शेषः। शेषं सुगमम्।

गुणों की अलिङ्गावस्था को छोड़कर अन्य तीन विशेषादि अवस्थाओं में अनित्यत्वरूप वैधर्म्य है, इस तथ्य का प्रतिपादन भाष्यकार करते हैं–'त्रयाणामिति' अर्थात् लिङ्गमात्र, अविशेष और विशेष संज्ञक जो अवस्थाविशेष हैं, वे पुरुषार्थता-रूप कारण से अभिव्यक्त होते हैं अर्थात् विशेषादित्रय की उत्पत्ति में पुरुषार्थता

---

1. क ख ग–स्थूलभूतयोः, घ च छ–स्थूलयोः।
2. क घ छ–सर्वार्थः, ख ग च–स चार्थः।
3. क ग घ च छ–त्रिधा, ख–त्रिविधा।

कारण है। अतः ये 'अनित्य' धर्म वाले हैं। यह पुरुषार्थ तीनों अवस्थाओं की उत्पत्ति में 'उपादानकारण' नहीं है। अतः विशेषादि की उत्पत्ति के प्रति पुरुषार्थता में उपादानकारणत्व का व्यवच्छेद करने के लिये भाष्यकार कहते हैं–'स चार्थ इति।' किञ्च यह पुरुषार्थ तीनों अवस्थाओं की स्थिति में 'निमित्तकारण' है। इसलिये विशेषादि तीनों अवस्थाएँ 'अनित्य' कही गई हैं। शेष भाष्य सुगम है।

सम्प्रति, वार्त्तिककार गुण तथा उसके पर्व के वैधर्म्य को विश्लेषित करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

पर्वसु नित्यानित्यत्वरूपं [1]वैधर्म्यमुक्त्वा पर्विणां गुणानां पर्वभ्यो वैधर्म्यमाह–गुणास्त्विति। गुणास्तु सत्त्वादयः सर्वविकारेष्वनुगता अत उत्पत्तिविनाशशून्या अनुपचरितनित्या इत्यर्थः। अलिङ्गावस्थाऽपि हि नैवं नित्येति। ननु त्रिगुणात्मकप्रकृतेर्नित्यत्वे–

प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्यात्मेच्छया हरिः।
क्षोभयामास संप्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ।
तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम!

इत्यादिस्मृतिषु प्रकृतेर्व्ययोत्पत्तिवचनं कथमुपपद्येत? तत्राह–व्यक्तिभिरेवेति। गुणान्वयिनीभिर्गुणधर्मैः कार्यव्यक्तिभिरेवातीताद्युपचयान्तपरिणामवतीभिर्हेतुभिर्जन्मविनाशवन्त इव ते गुणाः प्रतीयन्ते, कार्यकारणविभागात्, न तु तेषां स्वतो जन्मविनाशौ स्त इत्यर्थः। तथा च स्वानुगतानां व्ययादिनैव गुणात्मकप्रकृतेर्व्ययादिव्यवहार इत्याशयः। परिणामस्तु प्रकृतेः।

इस प्रकार गुणों के विशेषादि चार पर्वों में नित्यत्व तथा अनित्यत्वरूप वैधर्म्य का प्रतिपादन करने के पश्चात् भाष्यकार पर्विरूप सत्त्वादि गुणों का (पूर्ववर्णित) विशेषादि पर्वों से वैधर्म्य विवेचित करते हैं–'गुणास्त्विति।' सत्त्वादि तीन गुण महदादि सभी विकारों में अनुस्यूत (अनुगत) रहते हैं। अतः उत्पत्ति तथा विनाश से रहित ये गुण 'अनुपचरित' अर्थात् व्यवहारतः नहीं अपितु परमार्थतः 'नित्य' हैं। सत्त्वादि गुणों की अलिङ्गावस्था में भी त्रिगुणसदृश नित्यता नहीं है। अर्थात् गुण और अलिङ्ग की नित्यता समान नहीं है।

शङ्का–त्रिगुणात्मिका प्रकृति की नित्यता मानने पर 'प्रकृतिं...द्विजसत्तम' (वि. पु. १/२/२९) इत्यादि स्मृतिवाक्यों में प्रतिपादित प्रकृति का उत्पत्ति-विनाश (व्ययोत्पत्ति) कैसे उपपन्न हो सकेगा? स्मृतिवाक्य का अर्थ है– 'तदनन्तर सृष्टिकाल के आने पर परमात्मा ने स्वयं की इच्छानुसार प्रकृति-पुरुष में प्रविष्ट होकर व्ययाव्ययरूप उनको सृष्टिकार्य के लिये क्षोभित एवं प्रेरित किया। हे द्विजश्रेष्ठ, इससे त्रिगुणात्मक अव्यक्त उत्पन्न हुआ।'

---

1. क ग घ च छ–वैधर्म्य, ख–वैषम्यम्।

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**व्यक्तिभिरेवेति**' गुणों में अन्वित रहने वाले '**गुणधर्मों**' के द्वारा अर्थात् अतीतादि से लेकर उपचयपर्यन्त परिणामयुक्त हेतु वाले कार्याभिव्यक्तियों के द्वारा ये गुण उत्पत्ति और विनाशशील प्रतीत होते हैं, क्योंकि कार्य-कारण का भेद माना गया है, न कि पारमार्थिक रूप से गुणों का जन्म और विनाश होता है। इस प्रकार गुणों में अनुगत रहने वाले महदादिरूप धर्मों के लयादि (व्ययादि) से ही त्रिगुणात्मिका प्रकृति के व्ययादि (अनित्यादि) का व्यवहार किया जाता है अर्थात् प्रकृति को व्ययाव्ययशील माना जाता है। किन्तु प्रकृति का परिणाम वास्तविक है।

धर्मगतविशेष को धर्मिगत क्यों माना जाता है अर्थात् धर्मी का स्वरूप उसके धर्म के अनुसार क्यों प्रतिपादित किया जाता है, इस तथ्य को उद्घाटित करते हुए योगवार्त्तिककार आगे कहते हैं–

योगवार्त्तिकम्

पारमार्थिकत्वे सति व्याप्यानामुत्पत्तिविनाशयोः व्यापकेषु व्यवहारे दृष्टान्तमाह–यथेति। दरिद्राति क्षीणो भवति इति। समः समाधिरिति। इदं समाधानं दार्ष्टान्तिकेऽपि समानमित्यर्थः। ननु तथाऽपि प्रकृतेर्नित्यत्वं नोपपद्यते, भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः,

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ लीयेते परमात्मनि ॥

इत्यादिवाक्येभ्य इति चेत्? दत्तोत्तरत्वात्, कार्यविनाशेन तत्रापि [1]तन्निवृत्तिवचनात्, व्यापारोपरमाख्यलयस्यैव पुरुषसाहचर्येण तत्रावधारणाच्च;

वियोजयत्यथान्योन्यं प्रधानपुरुषावुभौ ।
प्रधानपुंसोरनयोरेष संहार ईरितः ॥

इति कौर्मवाक्याच्च। अन्यथा न्यायानुग्रहेण बलवतीभिः प्रकृतिनित्यताश्रुतिभिर्विरोधाच्च। एवमेव प्रकृतिपुरुषयोः पुराणेषु श्रूयमाणोत्पत्तिरन्योन्यसंयोगेनाभिव्यक्तिरेव बोध्या,

संयोगलक्षणोत्पत्तिः कथ्यते कर्मजा तयोः इति स्मृतेः।

तथा चोक्तम्–

न घटत उद्भवः प्रकृतिपुरुषयोरजयो-
रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत्।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे
सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः॥ इति ।

'**व्याप्य**' कार्यों का ही उत्पत्ति-विनाश (आविर्भाव-तिरोभाव) पारमार्थिक होने से इन व्याप्य धर्मों का व्यापक कारणों में होने वाले व्यवहार को भाष्यकार दृष्टान्त

---

1. क घ च छ–तन्निवृत्तिवचनात्, ख–निवृत्तिलंययोर्वचनात्, ग–लयनिवृत्त्योः वचनात्।

द्वारा बतलाते हैं अर्थात् व्याप्यभूत महदादि के आविर्भाव-तिरोभावरूप धर्मों को व्यापक प्रकृति का धर्म क्यों कहा जाता है, इसे भाष्यकार लौकिक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं–**'यथेति।'** जैसे 'देवदत्त दरिद्र अर्थात् क्षीण हो रहा है क्योंकि उसकी गायें मर रही हैं।' योगवार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–**'समः समाधिरिति।'** दृष्टान्तविषयक समाधान दार्ष्टान्त में भी तुल्य है अर्थात् दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में समानता है (सरलार्थ यह है–लौकिक जगत् में गायों के क्षीण होने से ही देवदत्त का क्षीण होना जिस प्रकार व्यवहृत होता है उसी प्रकार दार्शनिक जगत् में महदादि कार्यों के आविर्भावतिरोभाव का व्यवहार प्रकृति के लिये किया जाता है। वस्तुतस्तु देवदत्त के क्षीण न होने की भाँति त्रिगुणात्मक प्रकृति में आविर्भावतिरो-भावरूपता सिद्ध नहीं होती है)।

शङ्का–सिद्धान्ती द्वारा उपर्युक्त प्रकार से प्रकृति की नित्यता को प्रतिपादित करने पर भी प्रकृति की नित्यता उपपन्न नहीं होती है क्योंकि **'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः'** (श्वे. उप. १/१०) अर्थात् 'अन्त में विश्वरूपी माया की निवृत्ति हो जाती है' तथा **'प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ लीयेते परमात्मनि'** (अग्नि. पु. ३६८/२४) अर्थात् 'परमात्मा में प्रकृति तथा पुरुष दोनों का लय हो जाता है'–इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रकृति का लयत्व प्रतिपादित है?

समाधान–उत्तर दिया जा चुका है। फिर भी उक्त शंका-निरसन (प्रकृति-अनित्यत्व-खण्डन) के अन्य हेतु ये हैं–(पहले वाक्य से) महदादि कार्य के विनाश से कारण प्रकृति की निवृत्ति कही गई है, (दूसरे वाक्य से) पुरुष के साहचर्य से प्रकृति के 'व्यापारोपरम' संज्ञक लय को ही सुनिश्चित किया गया है। इसी तथ्य का प्रतिपादक कौर्मवाक्य भी है–**'वियोजयत्य...ईरितः'** (कूर्म पु. उ. ४४/२०/२१) अर्थात् 'प्रधान और पुरुष दोनों का परस्पर वियोग होता है। यही प्रधान और पुरुष का संहार कहलाता है।' अन्यथा (यदि प्रकृति के अनित्य प्रतिपादक वाक्यों का ऐसा अर्थ न किया जाय तो) प्रकृति की नित्यता को दृढ़ता से पुष्ट करने वाली श्रुतियों से विरोध होगा। इसी प्रकार पुराणों में जो प्रकृति-पुरुष की उत्पत्ति सुनी जाती है, वह भी परस्पर एक दूसरे के संयोग से **'अभिव्यक्तिरूप'** ही है। इसमें स्मृतिवाक्य प्रमाण है–**'संयोग...तयोः'** (मोक्ष धर्म २१/७/११) अर्थात् 'प्रकृति-पुरुष की कर्मजन्या संयोगलक्षणोत्पत्ति कही गई है।' ऐसा ही अन्यत्र कहा गया है–**'न घटत... रशेषरसाः'** (श्रीमद्भाग. १० उ. ८७/३१) अर्थात् 'जन्मरहित जो प्रकृति तथा पुरुष हैं उनका उत्पन्न होना नहीं बन सकता है, अपितु अजस्वरूप उन दोनों का अविद्याजनित संयोग होने से ही जल के बुलबुले की भाँति प्राणियों का जन्म होता है। फिर अपने भिन्न-भिन्न नाम तथा गुणों के सहित वे जीव मधु में समाये फलों के रसों के समान

एवं समुद्र में (विलीन) नदियों की तरह अपने आप उपाधिशून्य परमात्मा में ही लीन हो जाया करते हैं।'

सम्प्रति, कार्य से कारण का अनुमान किया जाता है, इस तथ्य को ध्यान में रखकर गुणों के अलिङ्गादि पर्वों पर विचार किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

इदानीं प्रकृत्यादीन् स्वस्वकार्यैरनुमापयितुं पर्वशब्दसूचितमलिङ्गादीनामविरलक्रमं दर्शयति–लिङ्गमात्रमिति। प्रत्यासन्नमव्यवहितकार्यम्। तत्रेति। तद्धि लिङ्गमात्रं तत्रालिङ्गेऽ-लिङ्गावस्थप्रधानेऽव्यक्तरूपेणाविभक्तमित्यतस्ततो विविच्यते विभक्तं भवति। तत्र हेतुः–क्रमेति। क्रमस्य पौर्वापर्यस्य कदाऽप्यनतिक्रमादित्यर्थः। यदि हि कारणे ह्यनागतावस्थाभिरसता-मप्युत्पत्तिः स्यात् तर्हि अविशेषात्सर्वं सर्वत्रो[1]त्पद्येत तथाऽतीतमप्युत्पद्येत, न च प्रागभावः कारणम्, अभावस्यासिद्धेः। किं चाभावस्य निमित्तकारणत्वाभ्युपगमे तस्यैवोपादानकारणत्व-मपि स्यात्, तथा च जितं[2] शून्यवादिभिः। अथाभावस्योपादानत्वं न दृष्टमिति चेत्? तुल्यं निमित्तत्वेऽपि। अत उपादानतावन्निमित्तत्वमपि नाभावस्य। तस्मात्कार्यजननशक्तिरेवानागता-वस्थारूपिणी कार्यरूपेण परिणमत[3] इति। तदनेन भाष्येण सत्कार्यवादः प्रसाधितः। तथेत्याद्यप्येवं व्याख्येयम्। महदादिभिः प्रकृत्याद्यनुमानप्रकारश्च सांख्यसूत्रैरुक्तोऽस्माभिरपि तद्भाष्ये प्रपञ्चितो विस्तरभयात्तु नेह प्रस्तूयत इति। तथा चोक्तम्–पुरस्तादिति। यथाऽविशेषेभ्योऽवान्तरभेदभिन्ना विशेषा जायन्ते तथा पुरस्तादस्यैव सूत्रस्यादावुक्तमित्यर्थः।

सम्प्रति, प्रकृत्यादि कारणों का अपने-अपने महदादि कार्यों से अनुमान कराने के लिये 'पर्व' शब्द के द्वारा बोधित अलिङ्गादि तत्त्वों के निर्बाधक्रम को भाष्यकार प्रदर्शित करते हैं–'**लिङ्गमात्रमिति**।' '**लिङ्गमात्र**' अर्थात् महत्तत्त्व '**अलिङ्ग**' अर्थात् प्रकृति तत्त्व का '**प्रत्यासन्न**' अर्थात् अव्यवहित कार्य है। इसी तथ्य को आगे बढ़ाया जा रहा है–'**तत्रेति**।' यह लिङ्गमात्र महत् उस अलिङ्गावस्थाक प्रधान में अनभिव्यक्त रूप से '**संसृष्ट**' अर्थात् अविभक्त (अभिन्न) रहता है। बाद में प्रधान से महत् विभक्त (अभिव्यक्त) होता है। प्रधान से ही महत् द्रव्य के विभक्त (आविर्भूत) होने में यह क्रम सुनिश्चित क्यों है, इसमें भाष्यकार हेतु देते हैं–'**क्रमेति**।' क्योंकि '**क्रम**' अर्थात् पौर्वापर्य (पूर्वपश्चिमता) कभी भी अतिक्रमित (उल्लंघित) नहीं होता है। यदि कारण में अनागतावस्था रूप से निहित '**असत्**' पदार्थों की भी उत्पत्ति मानी जाय तो विना किसी भेद के सभी कारणों से सभी कार्यों की उत्पत्ति होने लगेगी और

---

1. क–उत्पद्यते. ख ग घ च छ–उत्पद्येत।
2. क ख घ च छ–जितं, ग–अतीतम्।
3. क ख घ च छ–परिणमते, ग–परिणामः।

यहाँ तक कि 'अतीत' अर्थात् विनष्ट पदार्थ भी उत्पन्न होने लगेगा। दूसरी बात यह है कि अभाव के सिद्ध न होने से प्रागभाव को उत्पत्ति में कारण नहीं कहा जा सकता है। (क्योंकि सत्कार्यवादियों के यहाँ अभावविषयक कोई मान्यता ही नहीं है)। किञ्च पदार्थ की उत्पत्ति के प्रति अभाव को यदि निमिकारण स्वीकार किया जाय तो उसे उपादानकारण भी कहना पड़ेगा अर्थात् पदार्थोत्पत्ति के प्रति अभाव को 'उपादानकारण' ही क्यों न मान लिया जाय और इस प्रकार शून्यवादी बौद्धों का मत ही स्थिर (विजयी) हो जाता है।

पूर्वपक्ष–यदि पूर्वपक्षी कहे कि पदार्थोत्पत्ति के प्रति अभाव का उपादानकारणत्व दृष्ट नहीं है। अतः अभाव को उपादानकारण नहीं कहा जा सकता है?

उत्तरपक्ष–यदि अभाव का उपादानकारण होना दृष्ट नहीं है, तो तुल्य युक्ति से उसका निमित्तकारण होना भी दृष्ट नहीं है। अतः पदार्थोत्पत्ति के प्रति उपादान-कारण की भाँति अभाव निमित्तकारण भी नहीं हैं। इससे योगमतानुसार यह सिद्ध होता है कि कारण में निगूढ 'अनागतावस्थारूपिणी' कार्यजननशक्ति ही 'कार्य' रूप से परिणत होती है। इस प्रकार योगभाष्य द्वारा सत्कार्यवाद को स्थापित किया गया है। इसी प्रकार षड् अविशेष की लिङ्गमात्र से अविभक्तता और विभक्तता एवं षोडश विशेष की षड् अविशेष से अभिन्नता और भिन्नता को भी पूर्ववत् समझना चाहिये। महदादि कार्यों द्वारा किस प्रकार प्रकृत्यादि कारणों का अनुमान किया जाता है, यह अनुमानप्रक्रिया सांख्यसूत्रों द्वारा गृहीत है तथा मुझ विज्ञानभिक्षु ने भी उसके भाष्य में इस तथ्य पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। किन्तु यहाँ विस्तरभय से उसे नहीं उठाया गया है। अतः कार्य से होने वाले कारण के अनुमान की प्रक्रिया सांख्य-प्रवचनभाष्य में देखनी चाहिये। योगवार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'तथा चोक्तं पुरस्तादिति।' जैसा कि सूत्र के आदि में ही कहा जा चुका है कि अविशेष' से पञ्च महाभूत और एकादशेन्द्रियरूप 'विशेष' 'उत्पन्न होते हैं।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार त्रिगुण के पर्वचतुष्ट्य के सिद्धान्त को शंकोपस्थापन-पूर्वक स्पष्ट करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

ननु कथं गुणपर्वणां चतुर्धा विभागः सूत्रकारेण कृतः, ब्रह्माण्डस्थावरजङ्गमरूपैः पर्वणामानन्त्यमाशङ्क्य ब्रह्माण्डादीनां सर्वेषां विशेषकार्याणां विशेषेष्वेवान्तर्भावमाह–न विशेषेभ्य इति। विशेषेभ्यः परमुत्तरभावि तत्त्वान्तरं तत्त्वभेदः नास्ति, अतो विशेषाणां तत्त्वान्तरपरिणामो नास्तीत्यर्थः। अतो ब्रह्माण्डादिकं सर्वं विशेषपर्वणैव गृहीतमिति भावः।

तत्त्वत्वं च द्रव्यत्वं तत्त्वान्तरत्वं च स्वा[1]वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वम्। पञ्चविंशतितत्त्वेषु पञ्चविंशतिजात्यनङ्गीकारे च तत्त्वान्तरत्वं [2]स्वावृत्तिद्रव्यविभाजकोपाधिमत्त्वमिति। नन्वेवं तत्त्वभेदात्कथमन्तःकरणस्यैकत्वं तत्र तत्रोक्तं घटेतेति? उच्यते– यथा विशेषाख्यपञ्च तत्त्वात्मिकैकेव पृथिवी प्रागुत्पद्यते, ततः तस्याः खननमन्थनादिना पार्थिवे जलतेजसी अभिव्यक्तमात्रे भवतः, एवं तत्त्वत्रयात्मक एवादौ महान् जायते, पश्चाच्च तस्याहङ्कारादिर्वृत्तिभेद इति। तर्हि किं विशेषाणां परिणामा एव न सन्ति? नेत्याह–तेषां त्विति। व्याख्यास्यन्त इति। सूत्रकारेणोत्तरपाद इति शेषः।

शङ्का–सूत्रकार ने गुणपर्वों का चार प्रकार से विभाग कैसे किया, क्योंकि ब्रह्माण्ड, स्थावर तथा जङ्गमरूप से तो पर्वों की अनन्तता (असंख्यता) सिद्ध होती है?

समाधान–ऐसी आशंका होने पर भाष्यकार **'विशेष'** के कार्यभूत अखिल ब्रह्माण्डादिकों का इन विशेषों में ही अन्तर्भूत होना प्रतिपादित करते हैं–**'न विशेषेभ्य इति।'** पृथिव्यादि विशेषों से अभिव्यक्त होने वाले परवर्ती (गो, घटादि) पदार्थ 'तत्त्वान्तर' नहीं हैं अर्थात् पूर्ववर्त्ती पृथिव्यादि भूत से परवर्ती गो, घटादि द्रव्य का तत्त्वभेद नहीं है। आकाशादि विशेषों का तत्त्वान्तरपरिणाम नहीं होता है। अतः ब्रह्माण्डादि सभी (पृथिव्यादि भूत के ही विविधरूप होने से) **'विशेष'** संज्ञक पर्व के द्वारा ही उपलक्षित (ज्ञापित) होते हैं। **तत्त्वत्व'** को ही 'द्रव्यत्व कहते हैं तथा स्वावृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्व को **'तत्त्वान्तर'** कहते हैं। किञ्च पञ्चविंशति तत्त्वों में पञ्चविंशति जाति स्वीकार न करने पर 'स्वावृत्तिद्रव्यविभाजकोपाधिमत्त्व' को 'तत्त्वान्तर' कहा जा सकता है। भाव यह है–तत्त्व (तत्त्वत्व) को द्रव्य (द्रव्यत्व) कहते हैं और तत्त्वान्तर (**अन्यत्तत्त्वं तत्त्वान्तरं**) उसे कहते हैं जिसमें स्व से भिन्न द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्व नहीं है। जैसे पृथ्वी में द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्व पृथ्वीत्व तो है किन्तु जलत्व नहीं है। इसी प्रकार जल में द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्व जलत्व तो हैं किन्तु पृथ्वीत्व नहीं। इसीलिये पञ्च महाभूतों को पञ्चतन्मात्राओं का तत्त्वान्तर परिणाम कहते हैं। किन्तु पञ्च महाभूत से आगे तत्त्वान्तर रूप तत्त्वभेद न होने से विशेषों के तत्त्वान्तरपरिणाम का निषेध किया गया है। क्योंकि पृथिवी आदि का गो, घटादि रूप से जो कार्यभेद (परिणाम) दिखलाई पड़ता है वह पृथिवी से भिन्न तत्त्वान्तररूप नहीं है। तत्त्वान्तर का दूसरा लक्षण करते हुए योगवार्तिककार कहते हैं– अथवा पच्चीस तत्त्वों में पच्चीस जाति को स्वीकार न करने पर (अर्थात् प्रकृति और पुरुष से अतिरिक्त जातिरूप किसी तीसरे नित्य पदार्थ को न मानने पर) स्व से भिन्न द्रव्यविभाजकोपाधिमत्त्व न होना तत्त्वान्तर है।

---

1. क ग घ च छ–अवृत्ति०, ख–वृत्ति०।
2. क ग घ च छ–स्वावृत्ति०, ख–तदवृत्ति०।

जैसे पृथिवी में द्रव्यविभाजकोपाधिमत्त्व पृथिवीत्व के अतिरिक्त जलत्वरूप द्रव्यविभाजकोपाधिमत्त्व नहीं है। जब कि गोघटादि में पृथिवीत्व द्रव्यविभाजकोपाधिमत्त्व ही है। अतः विशेषों का तत्त्वान्तरपरिणाम नहीं माना गया है।

शङ्का–इस प्रकार (प्रकृत्यादि में) तत्त्वभेद मानने से जहाँ-कहीं अन्तःकरण का एकत्व प्रतिपादित हुआ है, वह कैसे उपपन्न हो सकेगा?

समाधान–इस पर योगवार्त्तिककार कहते हैं कि जिस प्रकार विशेषाख्य पञ्चतत्त्वात्मिका एकाकिनी पृथिवी ही पहले उत्पन्न (अभिव्यक्त) होती है, तदनन्तर उससे खनन (खोदना), मन्थन (घर्षण, विलोडन) आदि क्रियाओं द्वारा पार्थिव जल और तेज अभिव्यक्तमात्र होते हैं। उसी प्रकार सत्त्वादि तत्त्वत्रयात्मक प्रकृति से ही सर्वप्रथम महत् उत्पन्न होता है। तदनन्तर महत् से अहंकारादि वृत्तिभेद होता है अर्थात् अहंकारादि तत्त्व अभिव्यक्त होते हैं।

शङ्का–(विशेषों का तत्त्वान्तरपरिणाम न होने से शंका की जा रही है कि) तब तो एकादशेन्द्रिय और पञ्चमहाभूतरूप षोडश **'विशेष'** तत्त्वों के परिणाम ही नहीं होंगे अर्थात् उन्हें परिणामी नहीं कहा जा सकेगा?

समाधान–नकारात्मक उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं–**'तेषां त्विति'** विशेषों का तत्त्वान्तरपरिणाम न होने पर भी उनका धर्मादिपरिणाम होता है, अतः ये परिणामी हैं। **'व्याख्यास्यन्त इति'** सूत्रकार आगामी पाद (३/१३) में विशेषों के धर्मादि त्रिविध परिणामों की व्याख्या करेंगे, ऐसा वाक्यशेष है।

बालप्रिया–

किं विशेषाणां परिणामा एव न सन्ति?–शंका का समाधानपक्ष इस प्रकार है–दो प्रकार का परिणाम होता है–पहला तत्त्वान्तरपरिणाम तथा दूसरा तत्त्वान्तरानुत्पादपरिणाम। सरल शब्दों में पहला 'कारण से विलक्षण' और दूसरा 'कारण से अविलक्षण' परिणाम होता है। महत् से लेकर महाभूतपर्यन्त कार्यशृंखला तत्त्वान्तरपरिणाम को द्योतित करती है। द्वितीय प्रकार के परिणाम की स्थिति षोडश तत्त्वों में ही सीमित है। ये षोडशतत्त्व तत्त्वान्तरपरिणामविशिष्ट न होने पर भी परिणामशून्य नहीं हैं। सांख्ययोगपरम्परा में जगत् का प्रत्येक जड तत्त्व किसी न किसी प्रकार के परिणाम से अन्वित रहता है। इसकी मीमांसा योगसूत्र के तृतीय पाद के तेरहवें सूत्र **'एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः'** में विस्तारपूर्वक की जायेगी। प्रसंगतः यह भी ज्ञातव्य है कि ये धर्मादिपरिणाम केवल भूतेन्द्रियों में ही उपलब्ध नहीं होते हैं अपितु महदादि तत्त्वों में भी इन धर्मादि परिणामों की योजना की जाती है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार योगसम्मत महदादि क्रम को शंकोपस्थापनपूर्वक प्रमाणित करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

स्यादेतत्–महदादिक्रमेणोक्तः सृष्टिप्रकार आकाशादिक्रमबोधकश्रुतिविरोधाद्धेयः, श्रुतौ तन्मात्राद्यश्रवणेन ते पदार्थाश्च कल्पिताः, मन्वादिस्मृतयश्च सांख्यकल्पनानुवादेन धर्मादिपरा एव न प्रकृत्यादिपरा इति न स्मृतिभिरपि प्रकृत्यादिसिद्धिरिति? अत्रोच्यते–गुणत्रयात्मिका प्रकृतिस्तावत् मूलकारणतया मैत्रेयोपनिषदि श्रूयते, यथा–तमो वा इदमेकमास तत्परं स्यात् तत्परेणेरितं विषमत्वं प्रयाति एतद्वै रजसो रूपं तद्रजः खल्वीरितं विषमत्वं प्रयाति एतद्वै सत्त्वस्य रूपं तत्सत्त्वमेवेरितं तमसः संप्रास्रवत् तत्सांशोऽयं यश्चेतितामात्रः प्रतिपुरुषं क्षेत्रज्ञः संकल्पाध्यवसायलिङ्गः प्रजापतिस्तस्य प्रोक्ता अस्यास्तनवो ब्रह्मा रुद्रो विष्णुरित्यादि तथा गर्भोपनिषदि चतुर्विंशतितत्त्वान्य[1]नेन क्रमेणोक्तानि, यथा–अष्टौ प्रकृतयः, षोडश विकाराः, शरीरम्[2] तस्यैव इति, तथा प्रश्नोपनिषदि च–एवं ह वैतत्सर्वं परे आत्मनि संप्रतिष्ठते देहिनाम् पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्राश्च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा चेत्यादिना परमात्मनि सर्वं त्रयोविंशतितत्त्वं तिष्ठति समुद्रे नदनदीवदित्युक्तम्। अतश्चतुर्विंशतितत्त्वानि प्रत्यक्षश्रुत्या स्मृत्यनुमेयश्रुत्या च सिद्धानि।

शङ्का–(योग में) महदादि क्रम से कथित सृष्टि-प्रकार उपेक्षणीय (हेय) है, क्योंकि यह क्रम आकाशादिक्रमबोधक श्रुतियों के विरुद्ध है। अर्थात् श्रुति-स्मृतियों में आकाशादि क्रम से ही तत्त्वों की उत्पत्ति बतलाई गई है, अतः महदादि क्रम से कथित योगसम्मत सृष्टिक्रम उपपन्न नहीं होता है। किञ्च श्रुति में तन्मात्रादि तत्त्व श्रुत न होने से ये कल्पित पदार्थ हैं। और मन्वादि स्मृतियाँ सांख्यसम्मत कल्पित पदार्थों का अनुवादमात्र करने वाली होने से धर्मादिपरक ही हैं, न कि प्रकृत्यादि-परक। अतः स्मृतिग्रन्थों से भी प्रकृत्यादि तत्त्वों की सत्ता सिद्ध नहीं होती है?

समाधान–इस पर योगवार्त्तिककार का वक्तव्य है–मैत्रेयोपनिषद् में त्रिगुणात्मिका प्रकृति सृष्टि के मूलकारण के रूप से श्रुत है। जैसे–'तमो वा...रुद्रो विष्णुः' (मैत्रेय उप. ४/६) अर्थात् 'यह प्रपञ्च एक तम ही था जो 'पर' था, वह तमस् भी पर से प्रेरित होकर विषम बन गया, यही रजस् का रूप है। वह रजस् पर से प्रेरित होकर विषम हो गया, यही सत्त्व का रूप है...।' इसी प्रकार गर्भोपनिषद् में चौबीस तत्त्वों को इसी क्रम से कहा गया है–'अष्टौ...शरीरम्' (गर्भोप. ३) अर्थात् 'आठ प्रकृतियाँ

---

1. क घ च छ–अनेन, ख ग–एव
2. क ख घ–शरीरे, ग च छ–शरीरम्।

और सोलह विकार देही (पुरुष) का शरीर है।' इसी प्रकार प्रश्नोपनिषद् में भी कहा गया है—'**एवं ह...काशमात्रा च**' (प्रश्नोप. ४/७-८) अर्थात् 'यह सब कुछ पर आत्मा में अवस्थित रहता है जैसे पृथिवी पृथिवीमात्रारूप से, जल जलमात्रारूप से, तेज तेजमात्रारूप से, वायु वायुमात्रारूप से तथा आकाश आकाशमात्रा रूप से'— इत्यादि वाक्यों द्वारा यह बताया गया है कि परमात्मा में सब के सब ये तेईस तत्त्व उसी प्रकार स्थित हैं जिस प्रकार समुद्र में नद, नदी निवास करते हैं। अतः प्रत्यक्षश्रुति के द्वारा तथा स्मृत्यनुमान वाक्यों के द्वारा सांख्यसम्मत चौबीस तत्त्व सिद्ध होते हैं।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार अपने उक्त मन्तव्य को वेदान्तवाक्यों की अनुकूलता प्रदान करते हुए कहते हैं—

योगवार्त्तिकम्

[1]अद्वैतश्रुतिस्तु न तासां बाधिका, व्यवहारपरमार्थभेदेन विषयभेदात्, [2]व्यावहारिकाद्वैतश्रुतीनां चाविभागलक्षणाभेदपरताया एव नदीसमुद्रादिदृष्टान्तैरवगमादिति। तेषां च महदादीनां सृष्टिक्रमोऽपि श्रुतौ पाठक्रमादवधार्यते,

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥

[3]इत्यादिषु। यच्च तैत्तिरीयके वियदादिसृष्टिः श्रूयते, तत्र वियतः प्राग्बुद्ध्यादिसृष्टिः। पूरणीया स्मृत्युन्नेयश्रुत्येकवाक्यतया छान्दोग्ये वियद्वायुपूरणवदिति।

अद्वैतश्रुति, उपरिवर्णित प्रत्यक्षश्रुति तथा स्मृत्यनुमेयश्रुति की बाधिका नहीं कही जा सकती है, क्योंकि व्यावहारिक और पारमार्थिक भेद से विषय भिन्न-भिन्न होता है। (अतः अद्वैतप्रतिपादक श्रुतियाँ व्यावहारिक रूप से चौबीस तत्त्वों की स्थिति की विरोधिनी नहीं हैं)। किञ्च पदार्थों की व्यावहारिक सत्ता का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों को नदी, समुद्रादि के दृष्टान्तों द्वारा '**अविभागलक्षण**' अभेदपरक ही समझना चाहिये। इन महदादि पदार्थों का अभिव्यक्तिक्रम (सृष्टि-क्रम) भी श्रुति में पाठक्रम से अवधारित होता है, जैसे—**एतस्माज्जायते...धारिणी** (मुण्डकोप. २/१/३) अर्थात् 'इससे प्राण, मन तथा सभी इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी विश्व को धारण करने वाले तत्त्व हैं।' और जो तैत्तिरीय उपनिषद् में आकाशादि क्रम से सृष्टि सुनी जाती है, वहाँ भी आकाश

---

1. क ग घ च छ—अद्वैतश्रुतिः, ख—चिन्मात्रतया सत्यताश्रुतिः।
2. क ग घ च छ—व्यावहारिक॰ उपलभ्यते, ख—व्यावहारिक॰ नोपलभ्यते।
3. ख—महत्तत्त्वमेव हि क्रियाशक्त्या प्राण इति स्मृतिषूक्तं (इत्यादिषु पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ—महत्तत्त्वं...उक्तं नोपलभ्यते।

(वियत्) से पूर्व बुद्ध्यादि तत्त्वों की उत्पत्ति की योजना कर लेनी चाहिये। जैसे स्मृतिप्रतिपादित तथ्य की श्रुति के साथ एकवाक्यता होने से छान्दोग्योपनिषद् में (अनुक्त) वियत् (आकाश), वायु आदि का अध्याहार (पूरण) कर लिया जाता है।

बालप्रिया–

'तैत्तिरीयके वियदादिसृष्टिः श्रूयते'–तैत्तिरीय उपनिषद् का वाक्य इस प्रकार है– **'तस्मादेतस्माद्वा आत्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी इति।'**

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार सांख्य के सृष्टिक्रम के तुल्य सृष्टि-क्रम को वर्णित करने वाली श्रुति को उद्धृत करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

किं च सांख्योक्तसृष्टिक्रमे स्पष्टैव श्रुतिरस्ति, यथा गोपालतापनीये–एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मासीत् तस्मादव्यक्तमेवाक्षरं तस्मादक्षरान्[1]महत् महतो वै अहङ्कारस्तस्मादेवाहङ्कारात् पञ्च तन्मात्राणि तेभ्यो भूतादीनीति। वेदान्तसूत्रैरपि बुद्ध्यादिक्रमेणैव सृष्टिरुक्ता तत्र नवीनानां कुव्याख्या चास्माभिस्तद्भाष्य एवापास्तेति। तदेवं सांख्यशास्त्रे प्रपञ्चितानि चतुर्विंशतितत्त्वानि अत्र संक्षेपतः सूत्रद्वयेनोक्तानि। एतेषां च स्वरूपादिकं तत्रैव प्रदर्शितं संक्षेपतस्त्वत्राप्युच्यते–पञ्च भूतान्येकादशेन्द्रियाणि च प्रसिद्धान्येव, तन्मात्राणि भूतानां साक्षात् कारणानि, शब्दादिमत्सूक्ष्मद्रव्याणि अतस्तानि सूक्ष्मभूतान्यपि क्वचिदुच्यन्ते, महदहङ्कारौ च मोक्षधर्मे लक्षितौ। यथा–

हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृतः।
महानिति च योगेषु विरिञ्चिरिति चाप्युत॥
धृतं चैकात्मकं येन कृत्स्नं त्रैलोक्यमात्मना।
तथैव [2]बिम्बरूपत्वाद्विश्वरूप इति श्रुतः॥
एष वै विक्रियाऽऽपन्नः सृजत्यात्मानमात्मना।
अहङ्कारं महातेजाः प्रजापतिमहङ्कृतम्॥

इत्यादि। अत्र चोपासनार्थं शक्तिशक्तिमदभेदेनोपाध्योर्नामादिकमुपाधिमत्त्वेन तयोरुक्तेर्मनुष्यपश्वादिनामरूपादिवत्। स्मृत्यन्तरेषु सांख्ययोगयोश्चाविवेकतो जडवस्तुन्येव तद्व्यवहारः. ज्ञानैश्वर्य्यादिरूपमहत्तत्त्वस्याभिमानरूपाहङ्कारस्य चान्तःकरणधर्मत्वादिति। प्रकृतिस्तु त्रयोविंशतितत्त्वकारणानि सत्त्वादिनामकसूक्ष्मद्रव्याणि [3]असंख्यातानि। गुणशब्दश्च तेषु पुरुषोप-

---

1. क ख घ च छ–महत्, ग–महान्।
2. क ख–बहु०, घ च–विश्व०, ग छ–बिम्ब०।
3. क ख ग घ–असंख्यानि, च छ–असंख्यातानि।

करणत्वात् पुरुषबन्धकत्त्वाच्च प्रयुज्यते। तच्च गुणत्रयं सुखदुःखमोहधर्मकत्वात् सुखदुःखमोहात्मकमुच्यते, पुरुषाणां सर्वार्थसाधकत्वाद्राजामात्यवत्प्रधानमुच्यते, जगदुपादानत्वात्प्रकृतिर्जगन्मोहकत्वाच्च मायेत्युच्यते, वैशेषिकादिभिश्च स्वस्वपरिभाषया परमाण्वज्ञानादिशब्दैश्चोच्यते इति। तदुक्तं वासिष्ठे—

नामरूपविनिर्मुक्तं यस्मिन् संतिष्ठते जगत्।
तमाहुः प्रकृतिं केचिन्मायामेके परे त्वणून्॥

इत्यादिनेति। एषु च त्रयोविंशतितत्त्वानि सर्गादौ स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयरूपेण परिणमन्ते। तत्र स्थूलं पञ्चभूतेभ्यः सूक्ष्मं च शेषेभ्यः, तयोश्च सूक्ष्मं काष्ठवच्चैतन्याभिव्यञ्जकत्वात् पुरुषस्य लिङ्गशरीरमित्युच्यते, तच्चाहङ्कारस्य बुद्धौ प्रवेशात्सप्तदशावयवकं सांख्यशास्त्रे प्रोक्तं सप्तदशैकं लिङ्गमिति। अत्र एकत्वं समष्ट्यभिप्रायेणोक्तम्, व्यक्तिभेदः कर्मविशेषादित्युत्तरसूत्रेण व्यक्तिरूप एकस्यैव लिङ्गशरीरस्य व्यक्तिभेदवचनात्। अयं च व्यष्टिसमष्टिभावो न वनवृक्षवत् किं तु पितापुत्रवदेव,

तच्छरीरसमुत्पन्नैः कार्यैस्तैः करणैः सह।
क्षेत्रज्ञाः समजायन्त गात्रेभ्यस्तस्य धीमतः॥

इति मन्वादिवाक्यैर्हिरण्यगर्भस्य शरीरद्वयांशैरेवाखिलपुंसां शरीर[1]द्वयोत्पत्तिरिति सिद्धेः, वनवृक्षयोस्तु नैवं कार्यकारणभावोऽस्तीति दिक्॥१९॥

किञ्च सांख्योक्त सृष्टिक्रम के विषय में अत्यन्त स्पष्ट श्रुति भी है। जैसे गोपालतापनीय उपनिषद् में कहा गया है—'एकमेवाद्वितीयं...भूतादीनीति' (गोपालोत्तरतापनीय ९) अर्थात् 'एक ही अद्वितीय ब्रह्म था, उससे 'अव्यक्त' अक्षर, उस अव्यक्त से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्राएँ तथा उन पञ्चतन्मात्राओं से भूतादि उत्पन्न हुए।' वेदान्त सूत्रों के द्वारा भी बुद्ध्यादिक्रम से ही सृष्टि कही गई है और इस विषय में नवीन वेदान्तियों ने जो अप्रामाणिक व्याख्यान किया है उसका भी खण्डन मैंने ब्रह्मसूत्र पर लिखे गये भाष्यग्रन्थ में किया है। इस प्रकार सांख्यशास्त्र में प्रपञ्चित (विस्तारपूर्वक उल्लिखित) चौबीस तत्त्वों को प्रकृत शास्त्र में दो सूत्रों (२/१८-१९) के द्वारा संक्षेप से कहा गया है। इन चौबीस तत्त्वों के स्वरूपादि को भी वहीं सांख्यशास्त्र में प्रदर्शित किया गया है, उसी का यहाँ संक्षेपतः कथन किया जा रहा है—पञ्च महाभूत तथा एकादश इन्द्रियाँ तो प्रसिद्ध ही हैं। पञ्च महाभूतों के साक्षात् कारण पञ्च तन्मात्र हैं। सूक्ष्म तन्मात्र शब्दादि युक्त हैं। अतः कहीं-कहीं ये तन्मात्र 'सूक्ष्मभूत' भी कहे गये हैं। महत् और अहंकार तत्त्व का लक्षण मोक्षधर्म में किया गया है। जैसे—'हिरण्यगर्भो... प्रजापतिमङ्कृतम्' (मोक्षधर्म ३०२/

1. क—रूप०, ख ग घ च छ—द्वय०।

१८,२०,२१)· अर्थात् 'हिरण्यगर्भ भगवान् इसे 'बुद्धि' करके जानते हैं और जिसे योगग्रन्थों में 'महान्' (महत्) नाम से बना दिया गया। जिस बुद्ध्यात्मा द्वारा यह अभेदात्मक कृत्स्न त्रैलोक्य धारण किया जाता है और जो बिम्बरूप होने से 'विश्वरूप' कहा जाता है। और यही बुद्धि विक्रियापन्न (परिणामयुक्त) होकर अपने से आत्मरूप अहंकार को उत्पन्न करती है। इसी अहंकार को महातेजस् प्रजापति और अहंकृति कहते हैं।' यहाँ पर मनुष्य, पश्वादि के नाम, रूपादि की तरह उपासना के लिये शक्तिशक्तिमान् का अभेद होने से उपाधि के नाम, रूपादि उपाधिमान् के भी होने से दोनों के कहे गये हैं। स्मृत्यन्तरों में तो सांख्ययोग का भेद न होने से जडवस्तु में ही हिरण्यगर्भादि का व्यवहार किया गया है क्योंकि ज्ञान, ऐश्वर्यादिरूप महत्तत्व तथा अभिमानरूप अहंकार में अन्तःकरणधर्मता है। प्रकृति तो सत्त्वादि नामक सूक्ष्म द्रव्यों के असंख्यरूप महदादि तेईस तत्त्वों का कारण है। तेईस तत्त्वों के लिये 'गुण' शब्द का प्रयोग इसलिये होता है, क्योंकि ये पुरुष के भोग-मोक्ष के साधन (उपकरण) हैं तथा पुरुष को बाँधते हैं। किञ्च ये गुणत्रय सुख-दुःख-मोह-धर्मक होने से सुखात्मक, दुःखात्मक तथा मोहात्मक कहे जाते हैं तथा पुरुषों के सर्वार्थ साधक होने से ये 'प्रधान' उसी प्रकार कहे जाते हैं जिस प्रकार राजा का आमात्य राजा का सर्वार्थ साधक होने से 'प्रधान' कहलाता है। जगत् का उपादान-कारण होने से त्रिगुण को 'प्रकृति' कहते हैं तथा जगत् के मोहक होने से त्रिगुण को 'माया' कहते हैं। तथा वैशेषिकादि दार्शनिक स्व-स्व शास्त्रसम्मत परिभाषा के अनुसार त्रिगुण को 'परमाणु', 'अज्ञान' आदि शब्दों से पुकारते हैं। जैसा कि योग-वासिष्ठ में कहा गया है—'नामरूप...परे त्वणून्' अर्थात् 'नाम और रूप से रहित यह जगत् जिसमें अवस्थित है, उसको कोई 'माया' कहते हैं, कोई 'प्रकृति' कहते हैं और कुछ लोग 'अणु' कहते हैं।' इन गुणों के ये तेईस तत्त्व सृष्टिकाल में 'स्थूलशरीर' और 'सूक्ष्मशरीर' के रूप से परिणत होते हैं। इनमें से स्थूलशरीर पञ्चभूतनिर्मित है तथा सूक्ष्मशरीर इन पञ्चभूतों के अतिरिक्त पञ्चतन्मात्र, एकादशेन्द्रिय, अहंकार तथा महत् संज्ञक अष्टदश तत्त्वों का समष्टि है। इन दोनों शरीरों में से सूक्ष्मशरीर को 'लिङ्गशरीर' इसलिये कहते हैं, क्योंकि काष्ठ में सन्निहित अग्नि की भाँति, यह चैतन्य का अभिव्यञ्जक होता है। अहंकार का बुद्धि में प्रवेश होने के कारण सांख्य शास्त्र में सूक्ष्मशरीर को सप्तदश अवयवात्मक कहा गया है—'सप्तदशैकं लिङ्गमिति' (सां.सू. ३/९)। इस सांख्यसूत्र में सूक्ष्मशरीर का एकत्व समष्ट्यभिप्राय से अभिहित है, वंस्तुतस्तु 'व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात्' (सां.सू. ३/१०) अर्थात् 'कर्मभेद से व्यक्तिभेद होता है'—इस आगामी सूत्र के द्वारा जातिरूप (समष्टिरूप) में एक ही लिङ्गशरीर का व्यक्तिभेद अर्थात् नानात्व कहा गया है। अर्थात् व्यष्टिक्रम की दृष्टि से एक ही

लिङ्गशरीर का असंख्येयत्व (भेद) विवक्षित है। सूक्ष्मशरीर का यह कथित व्यष्टि-समष्टि-भाव वन-वृक्ष के व्यष्टि-समष्टि-भाव के समान नहीं है अपितु पिता-पुत्र के अंशांशिभाव के समान है। क्योंकि **'तच्छरीरसमुत्पन्नैः...धीमतः'** (पद्म पु. ५/३/१५६) अर्थात् 'उसके शरीर से उत्पन्न हुए कार्यरूप करणों के साथ उस बुद्धिमान् के गात्रों से क्षेत्रज्ञ (जीव) उत्पन्न हुए'—इत्यादि मन्वादि ऋषियों के वाक्यों द्वारा यह सिद्ध होता है कि हिरण्यगर्भ के स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरांशों के द्वारा समस्त प्राणियों के दो प्रकार के शरीर उत्पन्न होते हैं। अतः शरीर का यह व्यष्टि-समष्टि-भाव पिता-पुत्र के समान है, न कि वन-वृक्ष के समष्टि-व्यष्टिभाव के समान, क्योंकि वन और वृक्ष में इस प्रकार का कार्यकारणभाव परिलक्षित नहीं होता है॥१९॥

बालप्रिया—

'अयं च व्यष्टिसमष्टिभावो न वनवृक्षवत्, किन्तु पितापुत्रवदेव'—विज्ञानभिक्षु ने इस प्रसंग में जो **'व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात्'** सांख्यसूत्र उद्धृत किया है, उस पर सांख्य-प्रवचनभाष्य लिखते हुए वार्त्तिककार के कथन का अभिप्राय यह है—'यद्यपि सर्ग के आदिकाल में हिरण्यगर्भोपाधिरूप एक ही लिङ्गशरीर है, तथापि उसके पश्चात् व्यक्तिभेद अर्थात् व्यक्तिरूप में अंशतः नानात्व होता है, जैसे एक पितृलिङ्गदेह का नानात्व पुत्र-कन्यादि लिङ्गदेहरूप से अंशतः होता है। तथाकथित देह का नानात्व जीवों के कर्मानुसार होता है'॥१९॥

भाष्यकार अगले सूत्र को उपस्थानिका के साथ प्रस्तुत करते हैं—

व्यासभाष्यम्

[1]व्याख्यातं दृश्यम्। अथ द्रष्टुः स्वरूपावधारणार्थमिदमारभ्यते—

इस प्रकार 'दृश्य' के स्वरूप पर विचार किया गया। सम्प्रति, 'द्रष्टा' के स्वरूप के निश्चयार्थ प्रस्तुत सूत्र को आरम्भ किया जा रहा है—

योगसूत्रम्

द्रष्टा [2]दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः॥२०॥

द्रष्टा चेतनमात्र तथा शुद्ध होने पर भी (बुद्धि के) ज्ञान का अनुद्रष्टा (प्रतिसंवेदी) होता है॥२०॥

---

1. क—व्याख्यातं दृश्यं २/१९ सूत्रस्य टीका तथा अथ...आरभ्यते २/२० सूत्रस्य अवतरणिका, ख ग—व्याख्यातं दृश्यम्। अथ द्रष्टुः स्वरूपावधारणार्थमिदमारभ्यते २/१९ सूत्रस्य टीका, घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—व्याख्यातं.....रभ्यते २/२० सूत्रस्य अवतरिणका।
2. दृश्य०—इति पाठान्तरम्।

व्यासभाष्यम्

दृशिमात्र इति दृक्शक्तिरेव [1]विशेषणापरामृष्टेत्यर्थः। स पुरुषो बुद्धेः प्रतिसंवेदी। स बुद्धेर्न सरूपो नात्यन्तं विरूप इति। न तावत्सरूपः। कस्मात्? ज्ञाताज्ञातविषयत्वात् परिणामिनी हि बुद्धिः, तस्याश्च विषयो गवादिर्घटादि[2]र्वा ज्ञातश्चाज्ञातश्चेति परिणामित्वं दर्शयति। सदा ज्ञातविषयत्वं तु[3] पुरुषस्यापरिणामित्वं परिदीपयति। कस्मात्? [4]न हि बुद्धिश्च नाम पुरुषविषयश्च स्याद् [5]गृहीताऽगृहीता चेति सिद्धं पुरुषस्य सदा ज्ञातविषयत्वं ततश्चापरिणामित्वमिति। किं च परार्था बुद्धिः संहत्यकारित्वात्, स्वार्थः पुरुष इति। तथा सर्वार्था[6]ध्यवसायकत्वात्त्रिगुणा बुद्धिस्त्रिगुणत्वाद[7]चेतनेति। गुणानां तूपद्रष्टा पुरुष इति। अतो न सरूपः। अस्तु तर्हि विरूप इति? नात्यन्तं विरूपः। कस्मात्? शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यः। यतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति। तमनुपश्यन्नतदात्मापि तदात्मक इव प्रत्यवभासते। तथा चोक्तम्—अपरिणामिनी हि [8]भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्य[9]र्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति, तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया [10]बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्या [11]ख्यायते॥२०॥

'दृशिमात्र' यह कहने से पुरुष विशेषणों से रहित केवल 'दृक्शक्ति' ही है—यह अर्थ हुआ। यह पुरुष बुद्धि का प्रतिसंवेदनकारी (साक्षी) है। वह न तो बुद्धि के समान रूप वाला है और न अत्यन्त असमान रूप वाला। समान

---

1. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—विशेषण०, छ थ—विशेषेण।
2. क ख ग च छ ज झ त थ द द न भ य—च, घ प फ ब भ र—वा।
3. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र—तु, झ त—न।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र—न हि, द—तर्हि।
5. क ख छ ब—अगृहीता गृहीता, ग घ प फ म र—गृहीताऽगृहीता, च ज झ त थ द ध न भ—अगृहीता, य—गृहीता चागृहीता।
6. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न प फ ब भ म य र—अध्यवसायकत्वात्, त—अध्यवसायत्वात्।
7. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र—अचेतनेति। गुणानां, द—अचेतने त्रिगुणानाम्।
8. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र—भोक्तृ०, द—भोक्तृत्व०।
9. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—अर्थे प्रतिसंक्रान्तेव, छ थ—इत्यर्थे प्रतिसंक्रान्ते च।
10. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—बुद्धिवृत्ति०, छ—बुद्धिवृत्त्या।
11. छ थ—अयं विदेहासंप्रज्ञातो भवप्रत्ययः। उपायप्रत्ययश्च योगम्च समाधिपादवर्णिता इति (आख्यायते—पश्चाद्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—अयं.... इति नोपलभ्यते।

रूप वाला नहीं है, क्यों? क्योंकि वह कभी ज्ञात और कभी अज्ञात विषय वाला होता है। बुद्धि परिणामिनी है। उसके गवादि या घटादि विषय कभी ज्ञात और कभी अज्ञात होते हैं। इस प्रकार विषय का ज्ञाताज्ञातत्व बुद्धि के परिणामित्व को प्रदर्शित करता है। पुरुष का सदाज्ञात विषय वाला होना पुरुष की अपरिणामिता को प्रकाशित करता है। क्यों? पुरुष का विषय अर्थात् बुद्धि उसे कभी ज्ञात हो, कभी अज्ञात हो–ऐसा नहीं होता। इसलिये पुरुष का सदाज्ञातविषयत्व और उससे उसका अपरिणामित्व सिद्ध होता है। और भी, मिलकर कार्य करने के कारण (त्रिगुणात्मिका) बुद्धि परार्थ (अन्य के लिये) होती है। जब कि पुरुष स्वार्थ (अपने लिये) होता है। इसी प्रकार सभी पदार्थों का ज्ञान करने के कारण बुद्धि त्रिगुणात्मिका है और त्रिगुणात्मिका होने के कारण अचेतन हैं। पुरुष गुणों का केवल उपद्रष्टा (प्रतिबिम्बग्राही) होता है। इसलिये पुरुष बुद्धि के समान रूपवाला नहीं है। तो फिर पुरुष बुद्धि के विपरीत रूप वाला होना चाहिये। परन्तु अत्यन्त विपरीत रूप वाला भी नहीं है। क्यों? शुद्ध होने पर भी पुरुष बुद्धिगत ज्ञान का अनुद्रष्टा होता है, क्योंकि बुद्धिगत ज्ञान का प्रतिबिम्ब रूप में दर्शन करता है। उस बुद्धिगतज्ञान को प्रतिबिम्ब रूप से देखता हुआ देखने वाला न होने पर भी वैसा प्रतीत होता है। ऐसा ही कहा भी गया है–'अपरिणामी तथा निष्क्रिय भोक्ता, परिणामी तत्त्व अर्थात् बुद्धि में प्रतिसंक्रान्त सा होकर उसके ज्ञान का प्रतिसंवेदन करता है। और चितिच्छायापत्ति से चेतनता को प्राप्त करने वाली बुद्धिवृत्ति का अनुकरणमात्र करने के कारण बुद्धिवृत्ति के समान ही पौरुषेय-बौद्धरूपा वृत्ति होती है'–ऐसा कहा जाता है॥२०॥

प्रस्तुत सूत्र की अवतरणिका के लिये तत्त्ववैशारदीकार ने वैयासिकी अवतरणिका की शब्दावली का ही प्रयोग किया है–

तत्त्ववैशारदी

व्याख्यातं दृश्यम्। द्रष्टुः स्वरूपावधारणार्थमिदमारभ्यते–द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः। व्याचष्टे–दृशिमात्र इति। विशेषणानि धर्मास्तैरपरामृष्टा। तदनेन मात्रग्रहणस्य तात्पर्यं दर्शितम्। स्यादेतत् यदि सर्वविशेषणरहिता दृक्शक्तिर्न तर्हि शब्दादयो दृश्येरन्, न हि दृशिनाऽसंस्पृष्टं दृश्यं भवतीत्यत आह–स पुरुष इति। बुद्धिदर्पणे पुरुषप्रतिबिम्बसंक्रान्तिरेव बुद्धिप्रतिसंवेदित्वं पुंसः। तथा च दृशिच्छायापन्नया बुद्ध्या संसृष्टाः शब्दादयो भवन्ति दृश्या इत्यर्थः।

'दृश्य' का स्वरूप व्याख्यात हुआ। सम्प्रति, 'द्रष्टा' के स्वरूपबोधार्थ अग्रिम सूत्र प्रारम्भ हो रहा है–'द्रष्टेति'। भाष्यकार (सूत्र में प्रयुक्त 'दृशिमात्रः' पद की) व्याख्या

करते हैं–'**दृशिमात्र इति**' दृक्शक्ति को ही दृशिमात्र कहते हैं। भाष्य में प्रयुक्त '**विशेषण**' पद का अर्थ है–धर्म। पुरुष (बुद्धिगत) धर्मों से (जिसे सूत्र में **प्रत्ययानुपश्यः**' पद से इंगित किया है) असंपृक्त अर्थात् असम्बद्ध है। '**दृशिमात्र**' में '**मात्र**' पद के ग्रहण का यही तात्पर्य है। भाव यह है–पुरुष केवल ज्ञानस्वरूप ही है।

शङ्का–यदि '**दृक्शक्ति**' समस्त विशेषणों (धर्मों) से रहित है, ऐसा मान लिया जाय तो शब्दादि विषय '**दृश्य**' पदवाच्य नहीं होंगे, क्योंकि उसे ही '**दृश्य**' कहते हैं, जो द्रष्टा के साथ सम्बद्ध होता है। अर्थात् द्रष्टा से असम्पर्कित पदार्थ '**दृश्य**' नहीं कहलाता है।

समाधान–उक्त शंका-समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं–'**स पुरुष इति**।' बुद्धिदर्पण (सत्त्वगुणप्रधान होने से प्रतिबिम्बग्राहक स्वच्छ बुद्धिरूप दर्पण) में पुरुष के प्रतिबिम्ब की संक्रान्ति (प्रतिच्छाया) ही पुरुष का '**बुद्धिप्रतिसंवेदित्व**' अर्थात् बुद्धिबोद्धृत्व है। अर्थात् स्वच्छ बुद्धिरूप दर्पण में जब पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है तब पुरुष दृश्य बुद्धि का द्रष्टा कहा जाता है। इसी प्रकार शब्दादि विषय यद्यपि पुरुष से असम्बद्ध हैं तथापि पुरुषच्छायापन्न बुद्धि के द्वारा शब्दादि पदार्थ पुरुष के '**दृश्य**' बनते हैं।

बालप्रिया–

'**शब्दादयो भवन्ति दृश्याः**'–तात्पर्य यह है–लौकिक जगत् में जिस प्रकार दर्पण में जब पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है तब पुरुष दर्पणगत मलिनता को भी अज्ञानवश अपना समझता है। दर्पण से सम्बद्ध मलिनता आदि के साथ उसका सम्बन्ध केवल दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ने मात्र से होता है। उसी प्रकार बुद्धि-दर्पण में प्रतिबिम्बित पुरुष बुद्धि का बोद्धा होकर बुद्धि को '**दृश्य**' बनाता है तथा बुद्धि के साथ पूर्णतः संयुक्त पदार्थों को भी पुरुष बुद्धि के माध्यम से ग्रहण करता हुआ उन्हें दृश्यता प्रदान करता है। जिस प्रकार किसी पट के ग्रहणकाल में पट से सम्बद्ध नीलादि धर्म भी स्वतः गृहीत हो जाते हैं। नीलादि धर्मों को ग्रहण करने के लिये अतिरिक्त प्रयास नहीं करना पड़ता है। गुण-गुणी में अभेदसम्बन्ध होने से एक ही प्रयत्न से दोनों गृहीत होते हैं। उसी प्रकार प्रतिबिम्बित पुरुष द्वारा बुद्धि के ग्रहणकाल में बुद्धि से सम्बद्ध शब्दादि विषय भी स्वतः गृहीत हो जाते हैं। शब्दादि का बोद्धा होने के लिये पुरुष को अतिरिक्त प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। इस प्रकार पुरुष के प्रति शब्दादि के '**दृश्य**' न बन पाने की शंका निरस्त हो जाती है।

शब्दादि विषय को दृश्यत्व प्रदान करने की पुरुष की प्रतिबिम्ब-प्रणाली के विषय में पूर्वपक्षी शंका करता है–

तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्–पारमार्थिकमेव बुद्धिचैतन्ययोः [1]कस्मादैक्यं नोपेयते, किमनया तच्छायाप-

1. क ग घ च छ ज झ त न–**कस्मादैक्यं**, थ द ध–**ऐक्यं कस्मात्**, ख–**वाक्यमिदं नोपलभ्यते**।

स्येत्यत आह—स बुद्धेर्न सरूप इति। तदाऽसरूपस्य तच्छायापत्तिर[1]पि दुर्घटेत्यत आह—नात्यन्तं विरूप इति।

शङ्का—बुद्धि में चिच्छायापत्ति मानने की अपेक्षा बुद्धि-पुरुष में पारमार्थिक ऐक्य ही क्यों न मान लिया जाय? इस प्रकार चित्छायापत्ति से बुद्धि-पुरुष का ऐक्य मानने का प्रयोजन क्या है?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**स बुद्धेर्न सरूप इति**' क्योंकि पुरुष बुद्धि के सरूप (समान धर्म वाला) नहीं है. अतः दो विरूप धर्म वाले बुद्धि और पुंरुष में पारमार्थिक ऐक्य मानना सम्भव नहीं है।

शङ्का—जब पुरुष बुद्धिसरूप ही नहीं है तो विरूप पुरुष की बुद्धि में छायापत्ति भी तो दुर्घट है? अर्थात् चिच्छायापत्ति द्वारा उनमें ऐक्य भी उपपन्न नहीं हो सकता है?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**नात्यन्तं विरूप इति**' पुरुष बुद्धि से अत्यन्त विरूप (विरुद्ध धर्म वाला) भी नहीं है। अर्थात् जैसे पुरुष बुद्धि के अत्यन्त समान धर्म वाला नहीं है, वैसे ही अत्यन्त विरुद्ध धर्म वाला भी नहीं है। अतः चिच्छाया-पत्ति दुर्घट घटना (असम्भावित स्थिति) नहीं है।

सम्प्रति, बुद्धि के अत्यन्त सरूप या अत्यन्त विरूप धर्म वाला पुरुष क्यों नहीं है, इसे तत्त्ववैशारदीकार उपपादित करते हैं—

तत्त्ववैशारदी

तत्र सारूप्यं निषेधति—न तावदिति। हेतुं पृच्छति—कस्मादिति। सहेतुकं वैरूप्ये हेतुमाह—ज्ञाताज्ञातेति। परिणामिनी बुद्धिर्यस्मात्तस्माद्विरूपा। यदा खल्वियं शब्दाद्याकारा भवति तदा ज्ञातोऽस्याः शब्दादिलक्षणो भवति विषयः। तदनाकारत्वे त्वज्ञातः। तथा च कदाचिदेव तदाकारतां दधती परिणामिनीति। प्रयोगश्च भवति—बुद्धिः परिणामिनी, ज्ञाताज्ञातविषयत्वाच्छोत्रादिवदिति। तद्वैधर्म्यं पुरुषस्य तद्विपरीताद्धेतोः सिध्यतीत्याह—सदाज्ञातेति। स्यादेतत्—सदा ज्ञातविषयश्चेत्पुरुषो न तर्हि केवली स्यादित्याशयवान्पृच्छति—कस्मादिति। उत्तरम्—न हि बुद्धिश्च नामेति। बुद्ध्यग्रहणयोरस्ति सह संभवो निरोधा-वस्थायामत उक्तं विरोधसूचनाय—पुरुषविषयश्चेति। तेनाद्यश्चकारो [2]बुद्धिं विषयत्वेन समुच्चिनोति। परिशिष्टौ तु विरोधद्योतकौ चकाराविति।

भाष्यकार बुद्धि-पुरुष के अत्यन्त सारूप्य का (युक्तिपूर्वक) निषेध करते हैं—'**न तावदिति**' वह पुरुष बुद्धि के अत्यन्त सरूप नहीं है।

शङ्का—हेतु पूछते हैं—'**कस्मादिति**' किस कारण से पुरुष बुद्धि के समान रूप वाला नहीं है?

---

1. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न—अपि, झ—एव।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध—बुद्धिम्, न—बुद्धि०।

समाधान–भाष्यकार बुद्धि-पुरुष के **'अत्यन्त सरूप'** न होने का हेतु देते हुए उनके वैरूप्य को सहेतुक बतलाते हैं–**'ज्ञाताज्ञातेति।'** बुद्धि परिणामिनी है, इसलिये बुद्धि अपरिणामी पुरुष से विरूप है। जब यह बुद्धि शब्दादि विषयाकार होती है, तब उसे शब्दादिरूप विषय ज्ञात होता है और जब बुद्धि शब्दादि विषयाकार नहीं होती है, तब उसे शब्दादि विषय अज्ञात रहता है। अतः कादाचित्क विषयाकारता को धारण करने वाली बुद्धि परिणामिनी है। इसमें अनुमान प्रयोग इस प्रकार है–

बुद्धिः परिणामिनी अर्थात् बुद्धि परिणामिनी है–**प्रतिज्ञा।**

ज्ञाताज्ञातविषयत्वान् अर्थात् ज्ञात तथा अज्ञात विषय वाली होने से–**हेतु।**

श्रोत्रादिवत् अर्थात् श्रोत्रादि के समान–**उदाहरण।**

बुद्धि से भिन्न होने से पुरुष बुद्धि के समान धर्म वाला नहीं है। इस तथ्य को भाष्यकार सहेतुक सिद्ध करते हैं–**'सदाज्ञातेति।'** सदाज्ञातविषयता पुरुष को अपरिणामी सिद्ध करती है। अर्थात् पुरुष को शब्दादि दृश्य पदार्थ सदा ही ज्ञात रहते हैं। पुरुष में शब्दादि विषय के ज्ञातृत्व में कादाचित्कत्व नहीं है। अतः पुरुष अपरिणामी है।

शङ्का–जब पुरुष सदाज्ञातविषयक ही है तो वह कभी भी केवली अर्थात् मुक्त नहीं हो सकेगा? इसी आशय से पूर्वपक्षी (भाष्य में) पूछता है–**'कस्मादिति।'** अर्थात् पुरुष सदाज्ञातविषयक क्यों है?

समाधान–**'न हि बुद्धिश्च नामेति।'** निरोधावस्था में बुद्धि तथा बुद्धि के अग्रहण का सहभाव सम्भव है। किन्तु निरोधावस्था से भिन्न सम्प्रज्ञात या व्युत्थानरूप अवस्था में उक्त तथ्य का विरोध सूचित करने के लिये भाष्यकार कहते हैं–**'पुरुषविषयश्चेति'** (अर्थात् चित्त की निरोधावस्था में पुरुष में विषयसापेक्ष सर्वज्ञातृता नहीं है किन्तु सम्प्रज्ञातादि व्युत्थानावस्था में पुरुष में विषयसापेक्ष सर्वज्ञातृत्व है। शब्दान्तर में सम्प्रज्ञात तथा व्युत्थानरूप अवस्था में बुद्धि, पुरुष का विषय भी बने और अज्ञात भी रहे, ये दोनों विरोधी बाते नहीं हो सकती हैं। अतः बुद्धि पुरुष का विषय भी बनती है और गृहीत भी होती है। ऐसी स्थिति में बुद्धि को विषय करने वाला पुरुष ज्ञातविषयक है और सदाज्ञातविषयक है। अर्थात् बुद्धि के समान कदाचित् ज्ञातविषयक नहीं है। अतएव पुरुष अपरिणामी भी सिद्ध होता है)। इससे भाष्य में आया हुआ आद्य चकार बुद्धि को विषयरूप से समुच्चित करता है तथा भाष्यस्थ शेष दो चकार विरोध के द्योतक हैं।

बालप्रिया–

'बुद्ध्यग्रहणयोरस्ति सह संभवो निरोधावस्थायाम्'–प्रस्तुत पंक्ति द्वारा पुरुष के सदाज्ञातविषयत्व होने पर भी कब पुरुष को विषय ज्ञात होता है और कब ज्ञात

नहीं होता है, के विषय में विचार प्रस्तुत है। तथ्य यह है–निरोधावस्था जिसे चित्त की निर्वृत्तिक अवस्था कहते हैं, में चित्त का विषयाकार परिणाम नहीं होता है, किन्तु बुद्धि वृत्तिरहित होकर विद्यमान रहती है–यह एक स्थिति है। बुद्धि के रहने पर भी पुरुष को बुद्धि का ज्ञान न होना–यह दूसरी स्थिति है। ऐसा क्यों? समाधानपक्ष यह है–पुरुष, निर्वृत्तिक चित्त में प्रतिबिम्बित नहीं होता है। विषयाकाराकारित अर्थात् वृत्तिविशिष्ट बुद्धिवृत्ति में ही प्रतिबिम्बग्राहक शक्ति के निहित होने से, पुरुष उसमें प्रतिबिम्बित होता है। निरोधावस्था, जिसमें चित्त की समस्त वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, में बुद्धि के विद्यमान रहने पर भी पुरुष को बुद्धि का ज्ञान क्यों नहीं होता है, यह शंका निरस्त हो जाती है। इस प्रकार असम्प्रज्ञातयोग में पुरुष की विषयसापेक्ष सर्वज्ञातृता नहीं रहती है, इसलिये पुरुष 'केवली' हो जाता है।

'आद्यश्चकारः'– भाष्य में 'बुद्धिश्च' में 'च' के प्रयोग का तात्पर्य यह है–यदि बुद्धि पुरुष विषय वाली है तो गृहीत ही है, न कि अगृहीत। इस प्रकार यह आद्य चकार बुद्धि को विषयरूप से समुच्चित करता है।

'विरोधद्योतकौ'–भाष्य के 'पुरुषविषयश्च, गृहीताऽगृहीता च' में प्रयुक्त ये दो चकार 'गृहीत' और अगृहीत' दो भिन्न (विरोधी) स्थितियों के प्रतिपादक हैं। तत्त्ववैशारदीकार ने इन दो चकारों को विरोध-द्योतक चकार कहा है।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार पुरुष के अपरिणामित्व को अनुमान द्वारा सिद्ध करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

प्रयोगस्तु पुरुषोऽपरिणामी, सदा संप्रज्ञातव्युत्थानावस्थयोर्ज्ञातविषयत्वात्। यस्तु परिणामी नासौ सदा ज्ञातविषयो [1]भवति यथा श्रोत्रादिरिति.व्यतिरेकी हेतुः।

अनुमान प्रयोग इस प्रकार है–

पुरुष अपरिणामी है–प्रतिज्ञा।

सम्प्रज्ञात तथा व्युत्थान अवस्था में सदा ज्ञात विषय वाला होने से–हेतु।

जो परिणामी होता है, वह सदा ज्ञात विषय वाला नहीं होता है–व्यतिरेकी हेतु

श्रोत्रादि के समान–उदाहरण।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार बुद्धि-पुरुष के वैधर्म्य के द्वितीय चरण पर विचार करते है–

---

1. थ द ध न–भवति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त–भवति नोपलभ्यते।

तत्त्ववैशारदी

अपरमपि वैधर्म्यमाह—किञ्च परार्थेति। बुद्धिः खलु क्लेशकर्मवासना[1]दिभिर्विषयेन्द्रियादिभिश्च संहत्य पुरुषार्थमभिनिर्वर्तयन्ती परार्था। प्रयोगश्च परार्था बुद्धिः संहत्यकारित्वाच्छयनासना[2]भ्यङ्गवदिति। पुरुषस्तु न तथेत्याह—स्वार्थः पुरुष इति। सर्वं पुरुषाय कल्पते। पुरुषस्तु न कस्मैचिदित्यर्थः।

भाष्यकार बुद्धि और पुरुष में दूसरा भी वैधर्म्य है, इसे बतलाते हैं—'**किञ्च परार्थेति।**' क्लेश, कर्म, वासनादि तथा विषयेन्द्रिय के साथ मिलकर बुद्धि, पुरुषार्थ (पुरुष के प्रति भोग तथा मोक्ष) को निष्पन्न करती हुई, 'परार्था' कही जाती है। बुद्धि के 'परार्थत्व' का साधक अनुमान इस प्रकार है—

बुद्धि परार्थ है—**प्रतिज्ञा।**

इन्द्रियादि के साथ मिलकर कार्य करने से—**हेतु।**

शय्या, आसन, तेलादि के समान—**उदाहरण।**

भाव यह है कि जिस प्रकार शय्यादि साधन मिलकर चेतन प्राणी के भोग को निष्पन्न करते हैं उसी प्रकार विषयइन्द्रियादि के साथ मिलकर बुद्धि चेतन पुरुष का भोग-सम्पादन करती है। किन्तु 'पुरुष परार्थ नहीं है। इसी बात को भाष्यकार बतलाते हैं—'**स्वार्थः पुरुष इति।**' सभी दृश्य पदार्थ पुरुष के प्रयोजन के लिये होते हैं, किन्तु पुरुष किसी के प्रयोजन के लिये नहीं होता है, इसलिये वह 'स्वार्थ' है।

बालप्रिया—

'**स्वार्थः**'—'स्व के भोगादि का साधन पुरुष है'—यह 'स्वार्थ' पद का अर्थ नहीं है, क्योंकि ऐसा अर्थ करने पर कर्तृकर्मविरोध आयेगा। 'स्वार्थ' शब्द से पुरुष 'परार्थ' नहीं है—'यह बतलाना अभिप्रेत है। इसलिये तत्त्ववैशारदीकार ने कहा है—'**सर्वं पुरुषाय कल्पते, पुरुषस्तु न कस्मैचित्।**'

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार बुद्धि-पुरुष के अपर वैधर्म्य पर विचार करते हैं—

तत्त्ववैशारदी

वैधर्म्यान्तरमाह—[3]तथा सर्वार्थेति। सर्वानर्थाञ्छान्तघोरमूढांस्तदाकारपरिणता बुद्धिरध्यवस्यति, सत्त्वरजस्तमसां चैते परिणामा इति सिद्धा त्रिगुणा बुद्धिरिति। न चैवं पुरुष इत्याह—गुणानां तूपद्रष्टा पुरुष इति। तत्प्रतिबिम्बितः पश्यति न तु तदाकारपरिणत इत्यर्थः। उपसंहरति—अत इति।

---

1. ख ग घ च ज झ त थ द ध न—आदि० उपलभ्यते, क छ—आदि० नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ त थ द ध न—अभ्यङ्गवत्, ज झ—आद्यङ्गवत्।
3. क ख ग घ च छ ज झ त—सर्वेति, थ द ध न—तथा सर्वार्थेति।

भाष्यकार बुद्धि तथा पुरुष के अन्य वैधर्म्य को बतलाते हैं—**'तथा सर्वार्थेति'** शान्त, घोर तथा मूढात्मक पदार्थ के आकार में परिणत बुद्धि निश्चयात्मिका वृत्ति वाली होती है। जितने भी दृश्य पदार्थ हैं, वे सब त्रिगुण के परिणाम हैं। अतः बुद्धि 'त्रिगुणात्मिका' सिद्ध होती है। किन्तु पुरुष बुद्धि के इस त्रिगुणात्मक रूप (धर्म) वाला नहीं है, इस तथ्य को भाष्यकार उद्घाटित करते हैं—**'गुणानां तूपद्रष्टा पुरुष इति'** बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर पुरुष बुद्ध्यारूढ दृश्य पदार्थों को देखता है, न कि विषयाकार में परिणत होकर वह विषय का द्रष्टा होता है। भाष्यकार प्रकृत विषय को उपसंहृत करते हैं—**'अत इति'** अतः बुद्धि के समान रूप (धर्म) वाला पुरुष नहीं है।

बुद्धि-पुरुष के **'अत्यन्त साधर्म्य'** का निषेध करके सम्प्रति, दोनों के **'अत्यन्त वैरूप्य'** पर विचार किया जा रहा है—

तत्त्ववैशारदी

अस्तु तर्हि विरूप इति। नात्यन्तं विरूपः। कस्मात्? यतः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः। यथा चैतत्तथोक्तं वृत्तिसारूप्यमितरत्र इत्यत्र। तथा चोक्तं पञ्चशिखेन—अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरात्मा। अत एव बुद्धावप्रतिसंक्रमा च, परिणामिनि बुद्धिरूपेऽर्थे संक्रान्तेव तद्वृत्तिं बुद्धिवृत्तिमनुपतति। नन्वसङ्क्रान्ता कथं संक्रान्तेव कथं वा वृत्तिं विनानुपततीत्यत आह—तस्याश्चेति। प्राप्तश्चैतन्योपग्रह उपरागो येन रूपेण तत्तथा प्राप्तचैतन्योपग्रहं रूपं यस्याः सा तथोक्ता। एतदुक्तं भवति—यथा निर्मले जलेऽसंक्रान्तोऽपि चन्द्रमाः संक्रान्तप्रतिबिम्बतया संक्रान्त इव, एवमत्राप्य[1]सङ्क्रान्ताऽपि सङ्क्रान्तप्रतिबिम्बा चितिशक्तिः सङ्क्रान्तेव, तेन बुद्ध्यात्मत्वमापन्ना बुद्धिवृत्तिमनुपततीति। तदनेनानुपश्य इति व्याख्यातम्, तामनुकारेण पश्यतीत्यनुपश्य इति॥२०॥

शङ्का—जब पुरुष बुद्धि के अत्यन्त सरूप नहीं है तो पुरुष को बुद्धि से अत्यन्त विरूप (विपरीत धर्म वाला) ही मान लिया जाय?

समाधान—पुरुष बुद्धि से अत्यन्त भिन्न धर्म वाला भी नहीं है।

शङ्का—किस हेतु से पुरुष बुद्धि से अत्यन्त विरूप नहीं है?

समाधान—(उक्त शंका के समाधानार्थ सूत्र का उत्तर चरण है)—**'शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्य'**—क्योंकि पुरुष **'शुद्ध'** अर्थात् बुद्धि के वृत्त्यात्मक परिणामरूप अशुद्धि से रहित है, तो भी बुद्धिवृत्ति के सदृश प्रतीत होता है। यह तथ्य **'वृत्तिसारूप्यमितरत्र'**—सूत्र के प्रसङ्ग में पूर्व कथित है। उक्त अर्थ को पञ्चशिखाचार्य ने भी कहा है—

---

1. क—सङ्क्रान्ताऽपि, ग—असङ्क्रान्ता, घ च छ ज झ त थ द ध न—असङ्क्रान्ताऽपि, ख ज—सङ्कान्ता/असङ्क्रान्ता नोपलभ्यते।

यद्यपि (पारमार्थिक दृष्टि से) भोक्तृशक्ति अपरिणामिनी अर्थात् परिणामरहिता है, अतएव बुद्धि के प्रति सञ्चारशून्या अर्थात् गमनशून्या है, तथापि (व्यावहारिक दृष्टि से) परिणामशील बुद्धिरूप पदार्थ में संक्रान्त अर्थात् प्रतिबिम्बित सी होती हुई बुद्धिवृत्ति (तद्वृति) के समान प्रतीत होती है।

शङ्का–असंक्रान्त पुरुष कैसे संक्रान्तवत् दिखलाई पड़ता है अथवा बुद्ध्याकारवृत्ति के विना कैसे बुद्ध्याकारवत् प्रतीत होता है?

समाधान–शंका का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं–'तस्याश्चेति।' चैतन्य के सम्बन्ध को ग्रहण करने वाली बुद्धिवृत्ति के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने मात्र से बुद्धिवृत्ति से अभिन्नवत् हुआ ही पुरुष 'ज्ञानवृत्ति' वाला कहा जाता है। तात्पर्य यह है–जैसे अत्यन्त स्वच्छ जल में असंक्रान्त (असञ्चरित) होता हुआ भी बिम्बभूत चन्द्रमा स्वप्रतिबिम्ब की संक्रान्ति से स्वतः संक्रान्तवत् भासित होता है। वैसे ही यहाँ पर भी बुद्धिवृत्ति में (बिम्बरूप से) संक्रान्त न होता हुआ भी पुरुष स्वप्रतिबिम्ब की संक्रान्ति से स्वतः (बिम्बरूप से) संक्रान्तवत् हुआ अर्थात् बुद्ध्याकारता को प्राप्त हुआ बुद्धिवृत्ति के समान प्रतीत होता है। इस प्रकार सूत्रगत 'अनुपश्यः' पद की व्याख्या हुई। तत्त्ववैशारदीकार 'अनुपश्यः' पद का विग्रह इस प्रकार करते हैं– 'तामनुकारेण पश्यतीत्यनुपश्यः' अर्थात् बुद्धिवृत्ति का अनुकरण करके जो देखता है, उसे 'अनुपश्यः' कहते हैं॥२०॥

बालप्रिया–

चैतन्योपग्रहः–इस पद का अर्थ है–चैतन्योपराग अर्थात् चैतन्याभिसम्बन्ध॥२०॥

योगवार्त्तिकम्

सूत्रान्तरमवतारयति–[1]व्याख्यातमिति। द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः। दृशिरत्र न गुणः, किंतु प्रकाशस्वरूपं द्रव्यं–

ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथंचन ।
ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यः सर्वगतः शिवः ॥

इत्यादिस्मृतेः। अग्न्यौष्ण्यादिषु च भेदाभेदावेव, औष्ण्याग्रहणेऽपि चक्षुषाऽग्निग्रहणात्। पुरुषस्तु ज्ञानग्रहणं विना न गृह्यत इति। मात्रशब्देन पूर्वसूत्रोक्तप्रकाश[2]क्रियाऽऽदिगुणव्यावृत्तिः, तेष्वेव च सर्वेषां शेषगुणानामन्तर्भावः, शुद्धशब्देन च [3]भूतेन्द्रियात्मकत्वव्यावृत्तिः, शुद्धेऽपि

---

1. क–व्याख्यानं, ख ग घ च छ–व्याख्यातम्।
2. क ग घ च छ–क्रिया० उपलभ्यते, ख–क्रिया० नोपलभ्यते।
3. क ख घ च छ–भूतेन्द्रियात्मकत्व, ग–भूतेन्द्रियात्मक०।

बुद्ध्यभेदभ्रमोपपादनाय [1]शेषविशेषणम्। अत्र च परिणामित्वपारार्थ्याचेतनत्वा[2]दीनि बुद्धेरशुद्धिः, तद्राहित्यं च पुरुषस्य शुद्धिरिति भाष्ये व्यक्तीभविष्यति। प्रत्ययानुपश्यः[3] प्रत्ययसमानाकारताऽऽपन्न इव सन् बुद्धिवृत्तिसाक्षीत्यर्थः। अनेन विशेषणेन द्रष्टरि प्रमाणं चोक्तमिति। शुद्धोऽपीत्यादिभाष्यस्य फलान्तरं च भाष्यकारो व्याख्यास्यति।

भाष्यकार सूत्रान्तर को अवतरित करते हैं–'व्याख्यातमिति।' 'द्रष्टेति।' सूत्रगत 'दृशि' शब्द का अर्थ 'गुण' नहीं, अपितु प्रकाशस्वरूप द्रव्य है अर्थात् 'दृशि' शब्द जडभिन्न 'चेतन' का बोधक है, क्योंकि ऐसी स्मृति भी है–'ज्ञानं... शिवः' (सौर. पु. ११/२५) अर्थात् 'ज्ञान कभी भी आत्मा का धर्म नहीं है और न ही गुण। ज्ञानस्वरूप आत्मा तो नित्य, पूर्ण तथा सर्वदा शिवस्वरूप है।' अग्नि तथा औष्ण्यादि में भेदाभेद ही है, क्योंकि उष्णता का ग्रहण न होने पर भी चक्षु के द्वारा अग्नि का ग्रहण (चाक्षुष प्रत्यक्ष) होता है किन्तु पुरुष ज्ञान के विना गृहीत नहीं होता है अर्थात् पुरुष अपने ज्ञानात्मक स्वरूप से ही जाना जाता है। (अतः पुरुष और उसके तदात्मक ज्ञान में भेदाभेद नहीं अपितु अभेद है)। सूत्र में 'दृशि' शब्द के साथ जो 'मात्र' शब्द प्रयुक्त हुआ है, उससे पूर्व सूत्र में दृश्य के कथित प्रकाश, क्रियादि गुणधर्मों की पुरुष में व्यावृत्ति की गई है अर्थात् पुरुष को 'दृशिमात्र' (चैतन्यमात्र, ज्ञानमात्र) कहकर सूत्रकार ने दृश्य से पुरुष की आत्यन्तिक भिन्नता को इंगित किया है। इन गुणों में ही दृश्य के समस्त शेष धर्मों का अन्तर्भाव होता है। अर्थात् गुण के अन्यान्य धर्म भी पुरुष में सिद्ध नहीं होते हैं। सूत्र में प्रयुक्त 'शुद्ध' शब्द के द्वारा पुरुष में भूतेन्द्रियात्मकता को व्यावृत्त किया गया है अर्थात् पुरुष 'ग्राह्य' रूप भी नहीं और 'ग्रहण' रूप भी नहीं है। किन्तु 'शुद्ध' पुरुष में भी बुद्धि के साथ भ्रमात्मक अभेद की स्थापना का बोधक सूत्र का विशेषणपरक 'प्रत्ययानुपश्यः' पद है। अर्थात् सूत्रकार ने 'प्रत्ययानुपश्यः' पद के द्वारा ज्ञानस्वरूप पुरुष में बुद्धिगत धर्मों के अध्यारोप का दिग्दर्शन कराया है। बुद्धि में परिणामित्व, पारार्थ्य, अचेतनत्वादि रूप अशुद्धि है और इस अशुद्धि का राहित्य पुरुष की शुद्धि कहलाता है अर्थात् पुरुष बुद्धिगत परिणामित्वादि अशुद्धि से वियुक्त है, ऐसा भाष्य में आगे स्पष्ट किया जायेगा। सूत्रगत 'प्रत्ययानुपश्यः' पद का अर्थ है–बुद्धिगत प्रत्यय की तदाकारता को प्राप्त हुआ सा पुरुष बुद्धिवृत्ति का साक्षी कहलाता है। 'प्रत्ययानुपश्यः' इस विशेषण के द्वारा पुरुष

---

1. क–शेषं, ख ग घ च छ–शेष०।
2. क ख ग घ च–आदीनि, छ–आदि।
3. क ख ग–प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति (अनुपश्यः पश्चात्) उपलभ्यते, घ च छ–प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति नोपलभ्यते।

का द्रष्टृत्व सिद्ध होता है। भाष्यकार सूत्रगत 'शुद्धोऽपि' पद पर भाष्य करते समय इस पद के प्रयोग का अन्य प्रयोजन भी बतलायेंगे।

सूत्रगत प्रत्येक पद के प्रयोग का प्रयोजन बतलाने के पश्चात् योगवार्त्तिककार भाष्यार्थ प्रारम्भ करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

दृशिमात्रशब्दार्थमाह–दृक्शक्तिरेवेति। प्रलयमोक्षादौ जीवानां दर्शनाख्यचैतन्यफलोपधानं नास्तीति शक्तिपदोपादानम्। एवशब्दार्थमाह–विशेषणापरामृष्टेति। विशिष्यते व्यावर्त्यते [1]द्रव्यान्तरादेभिरिति विशेषणानि विशेषगुणाः वैशेषिकशास्त्रोक्ताः, तैः कालत्रयेऽप्यसंबद्धा इत्यर्थः। तेन संयोगसंख्यापरिमाणादिसत्त्वेऽप्यक्षतिः। द्रष्टेति [2]लक्ष्यपदं बुद्धिव्यावृत्ततया व्याचष्टे–स पुरुष इति। संवेदिन्या बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः, संवेदनमर्थाकारवृत्तिः, तस्याः प्रतिसंवेदनं प्रतिध्वनिवत्प्रतिबिम्बं यत्र स पुरुष इत्यर्थः। बुद्धेः साक्षीति तु पर्यवसितोऽर्थः। एतेन प्रतिबिम्बरूपयाऽऽरोपितक्रियया कल्पितं दर्शनकर्तृत्वं द्रष्टृत्वमित्यपि सूचितम्। आत्मनो ज्ञानस्वरूपत्वं च–

यथा दीपः प्रकाशात्मा स्वल्पो वा यदि वा महान् ।
ज्ञानात्मानं तथा विद्यादा[3]त्मानं सर्वजन्तुषु ॥

इत्यादिवाक्यशतानुग्रहेण लाघवतर्कानुग्रहेण चात्मत्वादिरूपव्यतिरेक्यादिलिङ्गैरनुमेयं ज्ञानाश्रयत्वकल्पने धर्मधर्मिभावापन्नवस्तुद्वयकल्पनागौरवात्। अहं जानामीतिप्रत्ययस्तु अहं गौर इति भ्रमशतान्तःपातितयाऽप्रामाण्यशङ्काऽऽस्कन्दितत्वेन यथोक्तानुमानापेक्षया [4]दुर्बल इति दिक्। बुद्धिपुरुषयोर्विवेकप्रतिपादनाय तयोरभेदभ्रमोपपादनाय च तयोर्वैरूप्य[5]सारूप्यप्रतिपादकतया क्रमेण शुद्धोऽपीत्यादिविशेषणद्वयं [6]व्याचष्टे–स न बुद्धेः सरूपो नात्यन्तं विरूप इति। पारमार्थिक[7]सारूप्याभावः शुद्धोऽपीत्याद्यदलार्थः, प्रतिबिम्बरूपापारमार्थिकसारूप्यं च शेषदलार्थः। तथा च परिणामित्वादिरूपबुद्धिसारूप्याभाव एव शुद्धिः, बुद्धिवृत्तिसारूप्यमेव च प्रत्ययानुपश्यत्वमित्यायातम्।

भाष्यकार 'दृशिमात्र' शब्द का अर्थ करते हैं–'दृक्शक्तिरेवेति।' प्रलय तथा मोक्षादि की अवस्था में जीवों (पुरुषों) का दर्शनाख्य चैतन्यफलोपधान नहीं होता है अर्थात् विषयाकाराकारित बुद्धि को चेतनवती सा बनाते हुए तद्धर्मों का पुरुष में अध्यारोप

---

1. क घ च छ–द्रव्यान्तरादेभिः, ख ग–द्रव्यान्तरादिभिः।
2. क ख घ च छ–लक्ष्य०, ग–लक्ष्यम्।
3. क–पुरुषे, ख–पुरुषं, ग घ च छ–आत्मानम्।
4. क ख ग छ–दुर्बलः, घ–दुर्बलत्वात्, च–दुर्लभः।
5. ग घ च छ–सारूप्य० उपलभ्यते, क ख–सारूप्य० नोपलभ्यते।
6. क ख ग च–व्याचष्टे उपलभ्यते, घ छ–व्याचष्टे नोपलभ्यते।
7. क ख ग घ–सारूप्यस्य, च छ–सारूप्यं०।

नहीं होता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि प्रलयादि अवस्था में पुरुष चैतन्यस्वरूप (ज्ञानस्वरूप) नहीं रहता है। किसी भी अवस्था में पुरुष के अपने स्वरूप की प्रच्युति नहीं होती है, यह प्रदर्शित करने के लिये भाष्यकार ने 'दृक्' के साथ 'शक्ति' पद का ग्रहण किया है। **'दृक्शक्तिरेव'** में प्रयुक्त 'एव' शब्द के अर्थ को भाष्यकार बतलाते हैं—**'विशेषणापरामृष्टेति'** **'विशिष्यते व्यावर्त्यते द्रव्यान्तरादेभिः'**—इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो द्रव्यान्तर के धर्मों से पृथक् है, उसे **'विशेषणापरामृष्ट'** कहते हैं। यह पुरुष द्रव्यान्तर के धर्मों से असंस्पृष्ट है। वैशेषिक शास्त्र में उक्त (आत्मा के) बुद्धि, सुख, दुःख आदि आठ विशेषगुणों से जो कालत्रय में भी परमार्थतः सम्बद्ध नहीं रहता है, ऐसा पुरुष **'विशेषणापरामृष्ट'** कहा गया है। पुरुष को द्रव्यान्तर के विशेषणों से शून्य कहने पर पुरुष में संयोग (प्रकृति-पुरुष-संयोग), संख्या (अनेकत्व) तथा परिमाण (विभु परिमाण) आदि के होने में भी किसी प्रकार की बाधा नहीं आती है। सूत्र में **'द्रष्टा'** यह लक्ष्यपद है। **'दृश्य'** रूप बुद्धि से भिन्न होने के कारण भाष्यकार **'द्रष्टा'** पद के अर्थ को बतलाते हैं—**'स पुरुष इति'** **'द्रष्टा'** पुरुष संवेदिनी बुद्धि का **'प्रतिसंवेदी'** कहलाता है। बुद्धि की विषयाकारावृत्ति को **'संवेदन'** कहते हैं। तथाकथित संवेदी बुद्धि का प्रतिसंवेदन=प्रतिबिम्ब, प्रतिध्वनि की भाँति, जिस पुरुष पर पड़ता है, वह पुरुष **'प्रतिसंवेदी'** कहलाता है। इस विवेचन से पर्यवसित अर्थ यह निकलता है कि पुरुष बुद्धि का **'साक्षी'** है। इससे यह तथ्य भी संसूचित हो जाता है कि प्रतिबिम्बरूप आरोपित क्रिया के द्वारा कल्पनाप्रधान (कल्पित) दर्शनकर्तृत्वरूप 'द्रष्टृत्व' पुरुष में है। किञ्च आत्मा का ज्ञानस्वरूपत्व—**'यथा दीपः...सर्वजन्तुषु'** (मोक्षधर्म २१०/३९) अर्थात् 'जैसे दीप प्रकाशात्मक ही होता है, चाहे वह छोटा अथवा बड़ा हो, वैसे ही समस्त प्राणियों में अन्तर्निहित आत्मा को प्रकाशस्वरूप ही समझना चाहिये'—इत्यादि सैकड़ों वाक्यों के अनुरोध तथा लाघवतर्क के आधार पर आत्मत्वादिरूप व्यतिरेकी लिङ्गों द्वारा अनुमेय है। लाघवतर्क को स्पष्ट करते हुए योगवार्त्तिककार कहते हैं कि पुरुष को ज्ञानस्वरूप न मानकर नैयायिकों की भाँति ज्ञान का आश्रय मानने की कल्पना करने पर धर्म-धर्मिभावापन्न (ज्ञान को धर्मी पुरुष का धर्म) मानने पर वस्तुद्वय की कल्पना का गौरवदोष उपस्थित होगा (जब कि ज्ञानस्वरूप पुरुष में धर्मधर्मिरूप द्वैविध्य की स्थिति है ही नहीं)। **'अहं जानामि'** अर्थात् 'मैं जानता हूँ'—इत्यादि प्रत्यय तो **'अहं गौरः'** अर्थात् 'मैं गौरवर्ण का हूँ'—इस प्रकार के सैकड़ों भ्रम से युक्त होने से अप्रमाणता की शंका से आक्रान्त होने के कारण आत्मा के यथोक्त ज्ञानस्वरूप-विषयक अनुमान की अपेक्षा दुर्बल पड़ते हैं। बुद्धि तथा पुरुष में (तात्त्विक) भेद प्रतिपादित करने के लिये उनके वैरूप्य (विपरीत धर्म) तथा सारूप्य (समान धर्म)

के बोधक जो दो पद सूत्र में 'शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्य:'–इस क्रम से आये हैं, उनकी व्याख्या भाष्यकार करते हैं–'स न बुद्धेः सरूपो नात्यन्तं विरूप इति।' सूत्रगत 'शुद्धोऽपि' प्रथम दल का अर्थ है–(बुद्धि-पुरुष में) 'पारमार्थिक सारूप्याभाव' और 'प्रत्ययानु-पश्य:' द्वितीय दल का अर्थ है–(बुद्धि-पुरुष में) 'प्रातिबिम्बिक अतात्त्विक सारूप्य'। सरल शब्दों में बुद्धि-पुरुष में पारमार्थिक विरूपता और प्रातिबिम्बिक सरूपता है। इस प्रकार बुद्धि के परिणामित्वादि धर्मों का अभाव ही पुरुष की 'शुद्धि' है तथा बुद्धिवृत्ति की सरूपता ही पुरुष का 'प्रत्ययानुपश्यत्व' है।

योगवार्त्तिकम्

सारूप्याभावसारूप्ये क्रमेण प्रतिपादयति–न तावदित्यादिना। कस्मादित्यस्योत्तरम्–परिणामिनी हि बुद्धिरिति। परिणामित्वे हेतुर्ज्ञाताज्ञातविषयत्वादिति। ज्ञातेत्याद्युक्तं विवृणोति-तस्याश्चेति। तस्या बुद्धेः। चो हेतौ। गवादिरिति। गोशब्दः शब्दवाची, अतो गवादिघटादिपदाभ्यां धर्मधर्मिसामान्यपरतया धर्मधर्मिरूपाणामशेषाणां बुद्धिविशेषाणां ग्रहणम्[1], ज्ञातोवृत्तिव्याप्यस्तदन्यश्चाज्ञातः। दर्शयति अनुमापयतीत्यर्थः। अयं भावः–यदा बुद्धिः परिणामिनी स्यात् तदैव कदाचित् बुद्धिः शब्दाद्याकारा भवति कदाचिच्च नेत्युपपद्यते। न च पुरुष इव बुद्धावपरिणामित्वेऽपि विषयस्य प्रतिबिम्बनमेव विषयाकारताऽस्तु, ततश्च प्रतिबिम्बकादाचित्कत्वेन ज्ञाताज्ञातविषयत्वमुपपद्येतेति वाच्यम्, स्वप्नध्यानादौ विषया-सान्निध्येन तत्प्रतिबिम्बासंभवात्, शास्त्रेषु बुद्धौ विषयप्रतिबिम्बवचनं तु तत्समानाकार-परिणाममात्रेणातो बुद्धेरर्थग्रहणस्यानित्यतया तस्या अर्थाकारपरिणामोऽनुमीयत इति।

भाष्यकार बुद्धि-पुरुष के सारूप्यांभाव तथा सारूप्य को क्रमशः प्रतिपादित करते हैं–'न तावदित्यादिना।' बुद्धि के समान धर्म वाला पुरुष नहीं है।

शङ्का–बुद्धि के तुल्य धर्म वाला पुरुष क्यों नहीं है?

समाधान–भाष्यकार उत्तर देते हैं–'परिणामिनी हि बुद्धिरिति।' बुद्धि परिणामिनी है (जब कि पुरुष अपरिणामी है)। बुद्धि के परिणामशीला होने में हेतु है–'ज्ञाताज्ञात-विषयत्वादिति।' बुद्धि को विषय कभी ज्ञात रहता है तथा कभी अज्ञात। (इससे यह सिद्ध होता है कि बुद्धि परिणामिनी है। पुरुष को विषय सर्वदा ज्ञात रहता है। अतः पुरुष अपरिणामी है)। भाष्यकार बुद्धि की इस कथित ज्ञातता' को उद्घाटित (स्पष्ट) करते हैं–'तस्याश्चेति।' 'तस्याः' इस सर्वनाम पद से बुद्धि का ग्रहण होता है और 'च' पद हेत्वर्थक है। योगवार्त्तिककार इसी पंक्ति के आगे के भाष्य को उठाते हैं–'गवादिरिति।' यहाँ 'गो' शब्द 'गो' शब्दवाची है, अर्थात् 'गो' शब्द के अर्थ को

---

1. ख–अथवा चेतनाचेतनरूपेण विषयद्वैविध्यप्रदर्शनादेकतरवैयर्थ्यं (ग्रहणं पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ–अथवा...वैयर्थ्यं नोपलभ्यते।

बतलाता है। अतः गवादि, घटादि पदों के धर्मधर्मिसामान्यपरक होने से बुद्धि धर्मधर्मिरूप समस्त ज्ञानविशेषों को ग्रहण करती है अर्थात् बुद्धि गो, घटादि बाह्य पदार्थों को अपने ज्ञान का विषय बनाती है। अतः बुद्धि की वृत्ति द्वारा व्याप्य जो विषय होता है अर्थात् बुद्धिवृत्ति जिस विषय के आकार से आकारित होती है, वह विषय बुद्धि द्वारा 'ज्ञात' कहलाता है और तदतिरिक्त (बुद्धि की वृत्ति का अविषयीभूत) पदार्थ 'अज्ञात' कहलाता है। इस प्रकार विषय का 'ज्ञाताज्ञातत्व' बुद्धि के परिणामित्व का अनुमान कराता है। इस प्रकार 'दर्शयति' पद का अर्थ है– 'अनुमान कराता है।' जिस समय बुद्धि परिणामिनी होती है, उस समय वह कदाचित् शब्दाद्याकार परिणाम वाली ही होती है और कभी-कभी वह विषयाकार परिणाम वाली नहीं होती है।

शङ्का–पुरुष की तरह बुद्धि के अपरिणामी होने पर भी विषय के प्रतिबिम्ब को ही बुद्धि की विषयाकारता कहा जाय। इस प्रकार (स्वच्छ) बुद्धि में घट, पटादि विषय का प्रतिबिम्ब कभी-कभी पड़ने पर बुद्धि का ज्ञाताज्ञातविषयत्व भी उपपन्न हो जाता है। अतः बुद्धि को अपरिणामी कहना चाहिये?

समाधान–यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि स्वप्नावस्था तथा ध्यानादि की अवस्था में तत्तद् विषयों के बुद्धि के समीप न रहने से उनका बुद्धि में प्रतिबिम्ब पड़ना कथमपि सम्भव नहीं है (और प्रतिबिम्ब न पड़ने पर बुद्धि को स्वप्नादि में विषयज्ञान न होना चाहिये किन्तु उसे ज्ञान होता है। अतः बुद्धि को अपरिणामिनी मानते हुए उसमें विषय-प्रतिबिम्ब की चर्चा अपेशल है)। (दूसरी बात यह है कि)– शास्त्रों में बुद्धि में विषय-प्रतिबिम्ब की जो बात कही भी गई है वह तो बुद्धि को विषय के तुल्याकार परिणाम वाला मानने से ही उपपन्न हो जाती है। इस प्रकार बुद्धि के अर्थग्रहण में कादाचित्कत्व (सामयिकत्व) होने से बुद्धि का अर्थाकार अर्थात् विषयाकार परिणाम अनुमित होता है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार पुरुष के अपरिणामित्व को पुनः निर्धारित करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

बुद्धेः परिणामित्वं दर्शयित्वा तदभावं पुरुषे दर्शयति–सदा ज्ञातेति। सदा ज्ञातो विषयो बुद्धिवृत्तिरूपो येन तस्य भावः सदाज्ञातविषयत्वम्। परिदीपयति अनुमापयति। यदि हि पुरुषः परिणामी स्यात् तदा जाड्यपरिणामेन कदाचित्पुरुषस्य विषयो बुद्धिवृत्तिरज्ञाताऽपि तिष्ठेत्। ततश्च वर्त्तमानाया अपि घटादिवृत्तेरज्ञानसंभवात् घटादिकं निश्चिनोमि न वेत्यादिसंशयः स्यात्, तथा योग्यानुपलब्ध्या घटादिज्ञानाभावनिश्चयश्च न स्यात्, अज्ञातवृत्तिसत्तासंभवा-

दिति भावः[1]। नन्वेतावता [2]भोक्तुर्ज्ञानं परिणामो माऽस्तु सुखादिपरिणामाभावस्तु कथं तेनानुमाप्यत इति चेत्? उच्यते–शब्दादिनिश्चयरूपस्य परिणामस्य बुद्धौ सिद्धयैव तत्कार्याणाम् इच्छाकृतिसुखदुःखादृष्टसंस्कारादीनां बुद्धिधर्मत्वेनैव सिद्धेः, सामानाधिकरण्य-प्रत्यासत्त्या कार्यकारणभावे लाघवादिति।

बुद्धि के परिणामित्व को प्रदर्शित करने के पश्चात् भाष्यकार पुरुष में तथा-कथित परिणाम के अभाव (अपरिणामित्व) को दिग्दर्शित करते हैं–**'सदा ज्ञातेति'** जिसे बुद्धिवृत्तिरूप विषय सर्वदा ज्ञात रहता है, उस पुरुष को सदाज्ञात विषय वाला कहते हैं और सदाज्ञातविषय का भाव ही **'सदाज्ञातविषयत्व'** कहलाता है। भाष्य में प्रयुक्त **'परिदीपयति'** क्रियापद का अर्थ 'अनुमान कराता' है। पूरे वाक्य का अर्थ इस प्रकार है–**'सदाज्ञातविषयत्व'** पुरुष के अपरिणामित्व का अनुमान कराता है। यदि पुरुष को परिणामी माना जाय तो जाड्य-परिणाम के अनुसार पुरुष को विषय अर्थात् बुद्धिवृत्ति कभी अज्ञात भी रहेगी। अर्थात् पुरुष को सदाज्ञातविषयक नहीं कहा जा सकेगा। इससे पुरुष में वर्तमानकालिक घटादि-विषयक अज्ञान के सम्भव होने से उसे 'मैं' घट को जान रहा हूँ अथवा नहीं'–इत्याकारक संशय भी होने लगेगा और यहाँ तक कि प्रत्यक्षयोग्यानुपलब्धि से पुरुष को घटादिविषयक ज्ञाना-भाव का भी निश्चय न हो सकेगा क्योंकि उसमें अज्ञातवृत्ति की सत्ता असम्भव है।
शङ्का–ठीक है, उपरिनिर्दिष्ट अनियमितताओं के कारण भोक्ता पुरुष का ज्ञानरूप परिणाम न माना जाय किन्तु इससे (आपके कथनानुसार) पुरुष के सुखादि-परिणामाभाव को भी अनुमान द्वारा कैसे सिद्ध किया जा सकेगा? अर्थात् पुरुष का 'अपरिणामित्व' भी अनुमानविधया सिद्ध नहीं किया जा सकता है?
समाधान–वार्त्तिककार उत्तर देते हैं–बुद्धि में ही शब्दादिनिश्चयरूप परिणाम (अध्यवसायात्मिका वृत्ति) के सिद्ध होने से उसके कार्यरूप इच्छा, कृति, सुख, दुःख, अदृष्ट तथा संस्कारादि भी बुद्धि के धर्मरूप से ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि कार्य-कारण में सामानाधिकरण्यन्याय (प्रत्यासत्ति) मानने में ही लाघव है।
बालप्रिया–

'सामानाधिकरण्यप्रत्यासत्त्या कार्यकारणभावे लाघवात्'–सरलार्थ यह है–बुद्धिरूप अधिकरण में जिन शब्दादि विषयों का निश्चय होता है, वह निश्चयात्मक ज्ञान

---

1. ख–किं च प्रमाणाभावादप्यज्ञातवृत्तिर्न सिद्ध्यति। ततश्च लाघवादप्येकैकमेवाविलुप्तविभुचैतन्यं तत्तद्बुद्धीनां वर्तमानाखिलवृत्तिविषयकं कल्प्यते। नियमेन वृत्तिगोचरानंतज्ञानकल्पने गौरवादनवस्थापत्तेश्च वृत्तेश्चैतन्यविषयता च वृत्तिस्वरूपं वृत्तिबिम्बो वेत्यन्यदेतदिति दिक् (इति भावः पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ–किं च....इति दिक् नोपलभ्यते।
2. क ग घ छ–भोक्तुर्ज्ञान०, ख–भोक्तृज्ञानं, च–भोक्तुर्ज्ञानम्।

अपने कार्य इच्छा, कृति, सुखादि को भी उसी बुद्धिरूप अधिकरण में ही उत्पन्न करेगा। अतः वे भी बुद्धि के ही धर्म या परिणाम कहे जायेंगे, न कि पुरुष के। और ऐसा मानने में लाघव भी है।

सम्प्रति, वार्त्तिककार प्रलयादि में पुरुष के सदाज्ञातविषयत्व को शंकोपस्थापन-पूर्वक सिद्ध करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

ननु न पुरुषस्यापि सदाज्ञातविषयत्वं प्रलयादौ स्वविषयस्य बुद्धिवृत्तेरदर्शनादित्याक्षिपति —कस्मादिति। समाधत्ते— न हीति। न हि पुरुषविषयो बुद्धिवृत्तिरपि शब्दादि[1]वत्स्याच्च तिष्ठेच्च, अथ वा अगृहीता गृहीता च कालभेदेन भवतीत्यर्थः। तथा च स्मर्यते—

न चिंदप्रति[2]चित्राऽस्ति दृश्याभावादृते किल।
क्वचिन्नाप्रतिबिम्बेन किलादर्शोऽवतिष्ठते ॥ इति।

तथा च प्रलयादौ वृत्त्याख्यविषयाभावादेव तां न पश्यतीति भावः। उपसंहरति—इति सिद्धमिति।

शङ्का—पुरुष भी सदाज्ञातविषय वाला नहीं है, क्योंकि प्रलयादि में उसकी विषयभूता बुद्धिवृत्ति का अभाव रहता है, ऐसा पूर्वपक्षी आक्षेप करता है—'**कस्मादिति**'

समाधान—भाष्यकार आक्षेप का समाधान करते हैं—'**न हीति**' पुरुष के ज्ञान की विषयभूता बुद्धिवृत्ति शब्दादि विषय के समान नहीं है अर्थात् बुद्धि के शब्दादि विषय के समान पुरुष की विषयभूता बुद्धिवृत्ति कालभेद से कभी ज्ञात और कभी अज्ञात नहीं रहती है। अर्थात् पुरुष के बुद्धिरूप विषय का ज्ञान पुरुष को सर्वदा रहता है। पुरुष की यही सदाज्ञातविषयता पुरुष को अपरिणामी सिद्ध करती है। ऐसा ही स्मृतिवाक्य है—'**न चिदप्रतिबिम्बा...किलादर्शोऽवतिष्ठते**' अर्थात् 'चितिशक्ति (पुरुष) दृश्याभाव हुए विना अर्थात् दृश्य की सत्ता बने रहते कभी भी अप्रति-बिम्ति (प्रतिबिम्बशून्या) नहीं होती है। क्या दर्पण कभी अप्रतिबिम्बित होकर अवस्थित रह सकता है अर्थात् कभी नहीं रह सकता है।' किञ्च प्रलयादि में तो वृत्त्याख्य विषय का अभाव रहने के कारण ही पुरुष बुद्धिवृत्ति को नहीं देख पाता है, न कि बुद्धिवृत्ति के रहते पुरुष को बुद्धिवृत्ति का ज्ञान नहीं होता है। भाष्यकार तथ्य को उपसंहृत करते हैं—'**इति सिद्धमिति**' इससे यह सिद्ध होता है कि पुरुष में '**सदाज्ञातविषयत्व**' तथा '**अपरिणामित्व**' है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार बुद्धि-पुरुष के 'परार्थत्व' तथा 'अपरार्थत्व' रूप वैधर्म्य को विश्लेषित करते हैं—

---

1. क ख घ च छ—वत्स्यात्, ग—रूपात्।
2. क ख ग घ छ—प्रतिबिम्बा, च—प्रतिचित्रा।

योगवार्त्तिकम्

परिणामित्ववदेव परार्थत्वापरार्थत्वरूपमपि वैधर्म्यं बुद्धिपुरुषयोर्दर्शयति—किं चेति। बुद्धिः परार्था स्वभिन्नस्य भोगादिसाधनं संहत्यकारित्वात्=सहकारिसापेक्षव्यापारकत्वात्, शय्याऽऽसनशरीरादिवत्। पुरुषश्च स्वार्थः, स्वस्य च भोगादिसाधनम् उक्तहेत्वभावाद् यन्नैवं तन्नैवम्, यथा स एव दृष्टान्त इत्यर्थः। बुद्धेर्हि व्यापारो विषयग्रहणादिरिन्द्रियादिसापेक्षः शय्याऽऽदीनामपि शयनादि[1]कार्यं भूम्यादिसापेक्षं, पुरुषस्य सुखादिप्रकाशनं च व्यापार एव न भवति, स्वरूपतो नित्यत्वात्। नापि सुखादिसत्त्वे तत्प्रकाशार्थं पुरुषः सहकारिणमपेक्षत इति भावः। बुद्ध्यादेः परार्थत्वे च श्रुतिः न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवतीत्यादि।[2]

भाष्यकार उपरिवर्णित परिणामित्व-अपरिणामित्व की तरह ही बुद्धि-पुरुष में परार्थत्व-अपरार्थत्व वैधर्म्य को भी प्रदर्शित करते हैं—'किं चेति।' बुद्धि के 'परार्थत्व' का साधक अनुमान इस प्रकार है—

बुद्धिः परार्थाः (स्वभिन्नस्य भोगसाधनम्) अर्थात् अपने से भिन्न तत्त्व के भोग की साधनभूता बुद्धि 'परार्था' है—'प्रतिज्ञा।'

संहत्यकारित्वात् (सहकारिसापेक्षव्यापारकत्वात्) अर्थात् सहकारिकारणसापेक्ष होकर भोगादि क्रिया को निष्पादित करने वाली होने से—हेतु।

शय्याऽऽसनशरीरादिवत् अर्थात् शय्या, आसन, शरीरादि की भाँति—उदाहरण।

पुरुष के 'स्वार्थत्व' का साधक अनुमान इस प्रकार है—

पुरुषः स्वार्थः (स्वस्य च भोगादिसाधनम्) अर्थात् 'स्व' के भोगादि का साधनभूत पुरुष 'स्वार्थ' है—प्रतिज्ञा।

उक्तहेत्वभावात् अर्थात् बुद्धि के परार्थत्व का उक्त हेतु वाला न होने से—हेतु।

यन्नैवं तन्नैवम्, यथा स एव अर्थात् जो मिलकर कार्य करने वाला नहीं है, वह 'परार्थ' भी नहीं है, जैसे पुरुष—व्यतिरेकव्याप्ति।

उक्त अनुमान-प्रयोग द्वारा प्रतिपादित तथ्य को स्पष्टता प्रदान करते हुए योगवार्त्तिककार आगे कहते हैं—बुद्धि का विषयग्रहणादिव्यापार इन्द्रियादिसापेक्ष होता है। अर्थात् इन्द्रियप्रणालिका के द्वारा बुद्धि बाह्य विषयोपरक्त होती है, जैसे

---

1. क—कार्यं, ख ग घ च छ—कार्यम्।
2. ख—तथायुक्तश्च भोगाख्यकार्येऽपि सहकार्यपेक्षाऽभ्युपगमे विनिगमकाभावात्। सर्वेष्वेव सहकारित्वाभिमतेषु विनाशिन्योः संख्याभोगव्यक्तयः कल्पनीयः। अतो लाघवात् संहत्यकारिभ्योऽभिन्नोऽनुरूपभोगात्मक एव पदार्थो नित्यः कल्पित इति। ननु सर्वानुगतत्वात् केवलबुद्धेरेव भोगोऽस्तीति, चेन्न 'न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्' इति चतुर्थपादे निराकरिष्यमाणत्वादिति (इत्यादि पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ—तथा.....माणत्वादिति नोपलभ्यते।

शय्यादि का भी शयनादिकार्य भूम्यादिसापेक्ष होता है। किन्तु पुरुष का सुखादि-प्रकाशनरूप व्यापार अर्थात् सुखादि विषयाकार परिणाम ही नहीं होता है, क्योंकि पुरुष स्वरूपतः नित्य है। किञ्च पुरुष के सुखस्वरूप होनें पर उसे सुखादिप्रकाशन के लिये सहकारिकारण की अपेक्षा नहीं रहती है। बुद्ध्यादि (करण) के 'परार्थत्व' में श्रुति प्रमाण है–'न वा अरे...प्रियं भवति' (बृ.आ. २/४/५) अर्थात् सबके प्रयोजन के लिये सब प्रिय नहीं होता है, अपितु अपने ही प्रयोजन के लिये सब प्रिय होता है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार 'स्वार्थ' तथा 'परार्थ' पदों के अन्य अर्थों का मूल्यांकन करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

अत्र कश्चित्–स्वार्थ इति साध्यस्य न परार्थ इत्यर्थमाह तन्न, भृत्यचेतनस्यापि स्वामि-चेतनार्थत्वदर्शनात्। परार्थत्वमेव तु परमात्रार्थत्वमिति चेत्? न, अचेतनत्वरूपं वैधर्म्यान्तर-माह–तथा सर्वार्थेति। सुखदुःखमोहात्मकांस्त्रिगुणान् सर्वार्थान् बुद्धिरपि तदाकारतया त्रिगुणा सत्त्वादिगुणत्रयमयीत्यनुमीयते, त्रिगुणत्वाच्च पृथिव्यादिवदचेतनेति सिद्धम्। गुणानां तूपद्रष्टा पुरुषो [1]द्रष्टा बुद्धिसान्निध्येन बुद्धिवृत्तिप्रतिबिम्बमात्रतो गुणद्रष्टा भवति न गुणाकारपरिणामेन बुद्धिवदिति। अतो न स त्रिगुणः, ततश्चेतन इति शेषः। उपसंहरति–अत इति। अतो वैधर्म्यत्रयान्न बुद्धिसरूपः पुरुष इत्यर्थः। एतावता शुद्ध इति व्याख्यातम्।

पूर्वपक्ष–कुछ लोग 'स्वार्थ' पद का अर्थ 'साध्यस्य न परार्थः' करते हैं। अर्थात् साध्य परार्थ नहीं होता है। अतः साध्यभूत पुरुष परार्थ नहीं होता है, अपितु स्वार्थ होता है।

उत्तरपक्ष–यह पक्ष न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि चेतन भृत्य को भी चेतन स्वामी के प्रयोजनार्थ देखा जाता है। अर्थात् पुरुष को साध्य होने से 'स्वार्थ' कहा जाय तो स्वामी के प्रति भृत्य का परार्थत्व उपपन्न न हो सकेगा। अतः 'स्वार्थ' पद की उपरि-वर्णित व्याख्या ठीक नहीं है।

पूर्वपक्ष–'परमात्रार्थत्व' को ही परार्थत्व कहा जाय? (अर्थात् बुद्ध्यादि करण पुरुष के लिये ही हैं। अतः बुद्ध्यादि में परमात्रार्थत्व होने से 'परार्थत्व' है। पुरुष 'स्व' प्रयोजन को सिद्ध करने के साथ 'पर' प्रयोजनार्थ भी होता है। अतः 'परमात्रार्थत्वाभाव' होने से पुरुष 'स्वार्थ' कहा जा सकेगा)।

उत्तरपक्ष–यह कथन ठीक नहीं है। इसके लिये भाष्यकार 'अचेतनत्व' वैधर्म्यान्तर को बतलाते हैं–'तथा सर्वार्थेति।' सुख-दुःख-मोहपरक त्रिगुणात्मक निखिल पदार्थों को ग्रहण करती हुई बुद्धि तदाकाराकारित होने से सत्त्वादिगुणत्रयमयी है, ऐसा

---

1. क ख ग घ च–द्रष्टृ०, छ–द्रष्टा।

अनुमान किया जाता है। बुद्धि की अनुमित त्रिगुणात्मकता से उसका अचेतनवती होना भी पृथिव्यादि पदार्थों की भाँति सिद्ध होता है। दूसरी ओर गुणों का उपद्रष्टा पुरुष, बुद्धिसामीप्य से केवल तद्वृत्ति में प्रतिबिम्बित होता हुआ **'गुणद्रष्टा'** कहलाता है, न कि बुद्धि की भाँति गुणाकारपरिणाम के द्वारा पुरुष में **'गुणद्रष्टृत्व'** उपपन्न होता है। इस प्रकार पुरुष का 'अत्रिगुणत्व' उसके 'चेतनत्व' धर्म को भी सिद्ध करता है। भाष्यकार तथ्य को उपसंहृत करते हैं–**'अत इति'** इस प्रकार वैधर्म्यत्रय (परार्थत्वस्वार्थत्व, परिणामित्व-अपरिणामित्व तथा चेतनत्व-अचेतनत्व) के कारण पुरुष बुद्धि के समान धर्म वाला(सरूप) नहीं है। इस प्रक्रिया से सूत्रगत **'शुद्धः'** पद प्रतिपादित हुआ।

बालप्रिया–

'अत्र कश्चित् स्वार्थ इति साध्यस्य न परार्थ इत्यर्थमाह तन्न'–मिश्र-भिक्षु-मतभेद– योगवार्तिककार ने **'अत्र कश्चित्'** के द्वारा मिश्र मत की ओर संकेत कर अपनी असहमति व्यक्त की है। वाचस्पति मिश्र के मत का अभिप्राय यह है–**'स्वार्थ'** पद का अर्थ यह नहीं है कि पुरुष **'स्व'** के भोगादि का साधन है।' क्योंकि ऐसा अर्थ करने में कर्मकर्तृविरोध आता है। अपितु **'स्वार्थ'** शब्द का अर्थ है कि पुरुष परार्थ नहीं है। स्वयं मिश्र जी के शब्दों में–**'सर्वं पुरुषाय कल्पते, पुरुषस्तु न कस्मैचित्'** विज्ञानभिक्षु ने **'स्वार्थ'** शब्द का अर्थ **'स्वस्य च भोगादिसाधनम्'** किया है। और **'स्वार्थ'** पद के इसी अर्थ को आधार बनाकर युक्तियों द्वारा मिश्रमत का नामानुल्लेखपूर्वक खण्डन किया है। भिक्षु द्वारा प्रदत्त से युक्तियाँ ग्रन्थ का अर्थ करते समय पीछे बतलाई जा चुकी हैं।

वस्तुतस्तु आगे चलकर नीरक्षीरविवेकी विद्वानों को भिक्षुमत में अनेक विसंगतियाँ परिलक्षित हुईं–**'स्वार्थ'** पद का अर्थ **'स्वस्य भोगादिसाधनम्'** किया जाय तो योग का यह सिद्धान्त व्याहत होता है कि 'पुरुष' के भोग तथा अपवर्ग का साधन प्रकृति है।' इस स्थिति में पुरुष को स्वीय भोगादि का साधन कहना असंगत प्रतीत होगा। किञ्च **'स्वार्थ इत्यस्य न परार्थः'** ऐसा कहकर भिक्षु ने मिश्रमत के खण्डनार्थ **'भृत्यचेतनस्यापि स्वामिचेतनार्थत्वदर्शनात्'** यह जो तर्क प्रस्तुत किया है कि चेतन भृत्य चेतन स्वामी के प्रयोजनार्थ प्रवृत्त होता है, तो वह भी समीचीन नहीं है, क्योंकि सूत्रकार तथा भाष्यकार का लक्ष्य चेतन पुरुषों के मध्य स्वस्वामिभाव की स्थापना करना नहीं है, अपितु संहत (बुद्धि) एवं असंहत (पुरुष) के मध्य **'परार्थ'** तथा **'स्वार्थ'** की चर्चा करना सूत्रकार एवं भाष्यकार का लक्ष्य रहा है। इस प्रकार भिक्षुमतानुसार चेतन के परार्थत्व की व्याख्या समीचीन प्रतीत नहीं होती है।

बुद्धि-पुरुष में सरूपता न रहने के कारण उनके वैषम्य को क्यों प्रदर्शित किया जा रहा है? इस शंका के समाधान के लिये वार्त्तिककार आगे लिखते हैं–

योगवार्त्तिकम्

ननु सर्वाभिमाननिवृत्त्यर्थं सामान्यत एव दृगदृश्यविवेकः प्रतिपादनीयः, तत्किमिति बुद्धिपुरुषयोरेव वैषम्यं[1] प्रतिपाद्यत इति चेत्? न; बुद्धिरेव पुरुषस्य साक्षाद् दृश्या, बुद्ध्यारूढतयैवान्येषां दृश्यत्वात्। तस्यामे[2]व साक्षादभिमानः तत्सम्बन्धादेवान्यत्राभिमानात्; मृतदेहे सुषुप्त्यवस्थप्राणे च चैतन्याभावस्य स्पष्टत्वात्, एकैकेन्द्रियघातेऽपि चैतन्योपलब्धेः [3]इन्द्रियाणामप्यचैतन्यस्य स्पष्टत्वात्। अतो बुद्धिविवेकादेव सर्वाभिमाननिवृत्तिरित्याशयेन बुद्धिवैधर्म्यमेव पुरुषेषु प्रायशः प्रतिपाद्यते। किञ्च बुद्ध्य[4]तिरिक्तेभ्य आत्मविवेकस्य न्याय-वैशेषिकाभ्यामेव सिद्धत्वेन बुद्धितो विवेक एव सांख्ययोगयोरसाधारणं कृत्यमिति।

शङ्का–यहाँ (पुरुष को होने वाले अहं सुखी, अहं दुःखी इत्यादि) समस्त प्रकार के अभिमान (अभेदात्मक अहंकार) की निवृत्ति कराने के लिये (शब्दान्तर में बुद्धि-पुरुष के वृत्त्यात्मक अभेद का निरोध कराने के लिये) द्रष्टा तथा दृश्य का भेद ही प्रतिपादनीय है तो यहाँ बुद्धि-पुरुष के वैषम्य को क्यों बताया जा रहा है?

समाधान–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि बुद्धि ही पुरुष की साक्षात् दृश्य बनती है। बुद्ध्यतिरिक्त पदार्थ तो बुद्ध्यारूढ (बुद्धिवृत्ति के विषय) होते हुए ही पुरुष की दृश्यता को प्राप्त करते हैं। अतः पुरुष साक्षाद् रूप से बुद्धि में ही आत्माभिमान करता हुआ बुद्धिसम्बन्ध से ही अन्य दृश्य पदार्थों के विषय में (घटमहं जानामि इत्याकारक) चेतनत्व का अभिमान करता है। (सरल शब्दों में पुरुष का बुद्धि-विषयक आत्माभिमान बुद्ध्यारूढ दृश्य पदार्थों में भी उपचरित होता है)। यही कारण है कि पुरुष मृतदेह तथा सुषुप्त्यवस्थाक प्राण में चैतन्याभिमान नहीं करता है, क्योंकि उस समय चैतन्याभिमान की हेतुभूता बुद्धिवृत्ति नहीं होती है। अर्थात् मृतदेह तथा सुषुप्त्यवस्थप्राण में चैतन्याभाव सुस्पष्ट है। इसी प्रकार एक-एक इन्द्रिय की शक्ति के क्षीण होने पर भी (पुरुष का बुद्धिवृत्ति के साथ सम्बन्ध होने से) चैतन्योपलब्धि होती है। इससे इन्द्रियों का अचेतनत्व भी स्पष्ट हो जाता है। (सरल शब्दों में बुद्धिवृत्ति से अभिन्न पुरुष को ही विषयाभिमान होता है, अन्यथा नहीं)। अतः बुद्धिविवेक से ही (बुद्धि से पुरुष का पार्थक्य बतलाने से ही) पुरुष के सर्वाभिमान (दृश्याभिमान) की निवृत्ति होती है, इसी अभिप्राय से पुरुष में बुद्धि-वैधर्म्य ही बहुधा वर्णित हुआ है। किञ्च न्यायवैशेषिकों द्वारा बुद्ध्यतिरिक्तों से ही

---

1. क घ च छ–वैषम्यं, ख ग–वैधर्म्यम्।
2. क ख–च (एव पश्चात्) उपलभ्यते, ग घ च छ–च नोपलभ्यते।
3. ख ग घ च छ–इन्द्रियाणामप्यचैतन्यस्य स्पष्टत्वात्। अतो बुद्धि० उपलभ्यते, क–इन्द्रियाणां... बुद्धि० नोपलभ्यते।
4. क ख घ च छ–अतिरिक्तेभ्यः, ग–अतिरिक्तस्य।

आत्मतत्त्व का अन्तर (भेद) सिद्ध हो जाने से प्रकृत सांख्ययोगशास्त्र में बुद्धि से ही आत्मतत्त्व का पार्थक्य (भेद) स्थापित करना मुख्य उद्देश्य रहा है।

बालप्रिया–

'बुद्ध्यतिरिक्तेभ्य आत्मविवेकस्य...सांख्ययोगयोरसाधारणं कृत्यम्'–न्यायवैशेषिकों के अनुसार आत्मा के आठ विशेष गुणों में बुद्धि भी एक विशेष गुण है। आत्मा ज्ञानाधिकरण है। अर्थात् **'बुद्धि'** संज्ञक गुण, द्रव्याश्रित होने से, आत्मद्रव्य में समवायसम्बन्ध से रहता है। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक में ज्ञान आत्मा का स्वरूप नहीं, अपितु धर्म (गुण) है। यही कारण है कि न्यायवैशेषिकमत में मुक्तावस्था में आत्मा जड हो जाता है, क्योंकि उस समय आत्मा में ज्ञानरूप चैतन्य धर्म नहीं रहता है। सांख्ययोग के अनुसार आत्मा ज्ञानस्वरूप है। तथा प्रकृति का प्रथम विकारभूत बुद्धितत्त्व, जो जड है, वह चेतन पुरुष से भिन्न है। यहाँ न्याय-वैशेषिक की तरह बुद्धि (ज्ञान) आत्मा का विशेष गुण नहीं है। दोनों अत्यन्त पृथग्भूत तत्त्व हैं। केवल अविद्यावशात् दोनों में अभेद प्रतीति होती है। यह दोनों दर्शनों का अपना-अपना विशिष्ट मत है। योगवार्त्तिककार यहाँ यह बतलाना चाहते हैं कि सांख्ययोग में न्यायवैशेषिकों की उक्त मान्यता का खण्डन करते हुए पुरुष को बुद्धि से भी पृथक् सिद्ध किया गया है। वह वैशेषिकों के अनुसार ज्ञान का आश्रय नहीं है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार बुद्धि और पुरुष के **'आत्यन्तिक वैधर्म्य'** का खण्डन करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

अत्यन्तवैरूप्यं निराकर्त्तुमु[1]त्थापयति–अस्तु तर्हीति। यत इत्यस्य पूर्वेणान्वयः। प्रत्ययानुपश्य इत्येतद्व्याचष्टे–प्रत्ययं बौद्धमिति। बुद्धिवृत्तिमनुपश्यतीत्यर्थः। ननु बुद्धिद्रष्टृत्वेऽपि कथं नात्यन्तं बुद्धिवैरूप्यं तत्राह–तमनुपश्यन्निति। यतस्तमनुपश्यन्नतः पुरुषोऽतदात्माऽपि परमार्थतो बुद्ध्यसरूपोऽपि तत्सरूप इव प्रकाशते तदनुकारी भवति स्फटिक इव जपासरूप इत्यर्थः। अर्थाकारत्वस्यैवार्थग्रहणरूपतायाः बुद्धिस्थले सिद्धत्वादित्य[2]र्थः। प्रतिबिम्बरूपेण च मिथ्यासारूप्येण न पारमार्थिकासारूप्यविरोधः।

बुद्धि और पुरुष के अत्यन्त वैरूप्य का निराकरण करने के लिये भाष्यकार प्रकृत विषय को उठाते हैं–**'अस्तु तर्हीति'**

(शङ्का–पुरुष को बुद्धि से अत्यन्त विरूप ही माना जाय?

समाधान–बुद्धि से अत्यन्त विपरीत धर्म वाला पुरुष नहीं है।

---

1. क ख घ च छ–उत्थापयति, ग–उत्पादयति।
2. क ख ग–भावः, घ च छ–अर्थः।

शङ्का—क्या?

समाधान—चूँकि शुद्ध होता हुआ भी पुरुष 'प्रत्ययानुपश्यः' है)। योगवार्त्तिककार बतला रहे हैं कि भाष्यस्थ 'यतः' पद का अन्वय 'शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यः' इस पूर्ववाक्य के साथ करना चाहिये। भाष्यकार 'प्रत्ययानुपश्यः' अंश की व्याख्या करते हैं—'प्रत्ययं बौद्धमिति।' पुरुष बुद्धिवृत्ति को देखता है इसलिये उसे 'प्रत्ययानुपश्यः' कहा गया है।

शङ्का—बुद्धि का द्रष्टा होते हुए भी पुरुष को बुद्धि से अत्यन्त विरूप क्यों नहीं माना जाता है?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'तमनुपश्यन्निति।' बुद्धिवृत्ति को देखता हुआ पुरुष 'अतदात्मक' होते हुए भी अर्थात् पारमार्थिक रूप से बुद्धि के सरूप न होते हुए भी 'तदात्मक' अर्थात् बुद्धिसरूप अर्थात् तदनुसारी उसी प्रकार प्रतीत होता है, जिस प्रकार (स्वच्छ) स्फटिक (रक्तवर्णीय) जपाकुसुम के 'सरूप' अर्थात् समानरक्तिम वर्ण वाला प्रतीत होता है। क्योंकि अर्थग्रहण (विषयज्ञान) रूप अर्थाकारता (विषयाकार परिणाम) तो बुद्धिस्थल (बुद्धितत्त्व) में ही प्रामाणिक है। अथ च प्रातिबिम्बिक भ्रमात्मक सरूपता से बुद्धि-पुरुष के पारमार्थिक असारूप्य (पारमार्थिक वैधर्म्य) का सिद्धान्त बाधित नहीं होता है।

सम्प्रति, उपरिनिर्दिष्ट तथ्य को प्रमाणित किया जा रहा है—

योगवार्त्तिकम्

यथोक्तयोः सारूप्यवैरूप्ययोः[1] पञ्चशिखाचार्यवाक्यं प्रमाणयति—तथा चोक्तमिति। [2]भोक्तृशक्तिर्बुद्धिवत्परिणामिनी न[3] भवति तथा बुद्धिवत्स्वविषये संक्रान्ता उपरक्ताऽपि न[4] भवति, विकारहेतुसंयोगस्यैवोपरागत्वात् बुद्धिविकारप्रतिबिम्बेनैवोपपत्तौ पुरुषस्य विकार-कल्पनावैयर्थ्यात्। आभ्यां विशेषणाभ्यां वैरूप्यं दर्शितम्।

सम्प्रति, भाष्यकार बुद्धि-पुरुष के पूर्व प्रतिपादित सारूप्य-वैरूप्य के विषय में पञ्चशिखाचार्य के वचन को प्रमाण रूप में उपस्थित करते हैं—'तथा चोक्तमिति।' भोग्यशक्ति की भाँति भोक्तृशक्ति परिणामिनी नहीं है और भोग्यशक्ति के विषयदेश-पर्यन्त सञ्चरण (उपराग) की भाँति भोक्तृशक्ति स्वज्ञातविषय तक सञ्चार भी नहीं करती है अर्थात् पुरुष का बुद्धिवत् विषयोपराग नहीं होता है, क्योंकि विकार (परिणाम) के हेतुभूत संयोग को ही 'उपराग' कहते हैं। (ऐसा 'उपराग' एक मात्र

1. क ख ग—वैरूप्यसारूप्ययोः, घ च छ—सारूप्यवैरूप्ययोः।
2. क ग घ च छ—भोक्तृशक्तिः.....समाधातृत्वादेवाचार्यदेशीय उक्त इत्यर्थः (२/२४) उपलभ्यते, ख—भोक्तृशक्तिः.......इत्यर्थः नोपलभ्यते।
3. क ग घ च—न उपलभ्यते, छ—न नोपलभ्यते
4. क ग घ—न, च छ—च।

बुद्धि में होता है, क्योंकि इन्द्रियप्रणाली के द्वारा चित्त का बाह्य वस्तु के साथ विषयाकार परिणामरूप उपराग होता है, किन्तु ऐसा विषयोपराग पुरुष में सम्भव नहीं है। अतः भोक्तृशक्ति को **'अप्रतिसञ्चारिणी'** कहा जाता है)। पुरुष में विषयोपराग न होने से पुरुष को **'घटमहं जानामि'** इत्यादि प्रकार से विषयज्ञान कैसे होगा? इसे स्पष्ट करते हुए योगवार्त्तिककार आगे लिखते हैं—बुद्धि के विषयाकारपरिणामरूप 'विकार' का (पुरुष में) प्रतिबिम्ब (प्रतिफलन) पड़ने से ही पुरुष के विषयज्ञान की उपपत्ति (संगति) लग जाती है। अतः पुरुष में इस प्रकार के विकार की कल्पना करना व्यर्थ है। इस प्रकार पञ्चशिखाचार्य ने **'अपरिणामिनी'** तथा **'अप्रतिसंक्रमा'** इन दोनों विशेषणों के द्वारा चितिशक्ति का भोग्यशक्ति से वैरूप्य (पार्थक्य) प्रदर्शित किया है।

सम्प्रति, पञ्चशिखवचन के उत्तरार्द्ध द्वारा इन दो शक्तियों के सारूप्य को प्रमाणित किया जा रहा है—

योगवार्त्तिकम्

इदानीं सारूप्यं दर्शयितुमादौ बुद्धेश्चिद्रूपत्वमुपपादयति—परिणामिन्यर्थ इति। परिणामिनि स्वस्वार्थे विषये बुद्धौ प्रतिबिम्बरूपेण संक्रान्तेवोपरक्तेव सती तद्वृत्तिं विषयाद्याकारामनुपतति चेतनामिव करोति यथा सूर्यो जलेऽनुपतन् जलं सूर्यमिव करोति तद्वत्। अनेन बुद्धेः रूपं दर्शयित्वा पुरुषस्य बुद्धिसारूप्यं दर्शयति—तस्याश्चेति। हिशब्दोऽवधारणे। तस्या अपि भोक्तृशक्तेर्ज्ञानवृत्तिर्ज्ञानरूपा [1]वृत्तिर्बुद्धिवृत्त्यविशिष्टैवेत्याख्यायत इत्यन्वयः। अत्र हेतुः प्राप्तेति। उपग्रह उपरागः उक्तरीत्या प्राप्तचैतन्योपरागकल्पाया बुद्धिवृत्तेरनुकारिणी प्रतिबिम्बोद्ग्राहिणी। तन्मात्रतयेति ज्ञानवृत्तेर्विशेषणम्। तथा च परस्परप्रतिबिम्बात् द्वयोरपि चेतनत्वसुखादिपरिणामकत्वंरूपं सारूप्यमित्यर्थः। आख्यायत इत्यनन्तरमितिशब्दः पूरणीयः।

अधुना, भाष्यकार बुद्धि-पुरुष के सारूप्य का विवेचन करने से पूर्व बुद्धि की चिदाकारतापत्ति का उपपादन करते हैं—**'परिणामिन्यर्थ इति।'** चितिशक्ति तत्-तद् विषयाकारित परिणामिनी बुद्धि में प्रतिबिम्बविधया संक्रान्त अर्थात् उपरक्त सी होती हुई विषयाद्याकारता को प्राप्त होती है और विषयाकारित बुद्धि को चेतनवती उसी प्रकार बनाती है, जिस प्रकार जल में प्रतिबिम्बित सूर्य, जल को अपने समान तेजोमय बनाता है। इस प्रकार बुद्धि की चिदाकारता को व्युत्पादित करके भाष्यकार अधुना, पुरुष के बुद्धिसारूप्य को प्रतिपादित करते हैं—**'तस्याश्चेति।'** प्रकृत वाक्य में प्रयुक्त **'हि'** अव्यय निर्धारणार्थक है अर्थात् प्रकृत तथ्य को दृढता प्रदान करने के लिये **'हि'** अव्यय प्रयुक्त हुआ है। उस भोक्तृशक्ति की भी **'ज्ञानवृत्ति'**=ज्ञानरूपा वृत्ति

1. क ग घ छ—वृत्तिर्बुद्धि०, च बुद्धिर्वृत्ति०।

बुद्धिवृत्ति से 'अवशिष्ट' ही कही जाती है, ऐसा वाक्यान्वय करना चाहिये। इसमें कारण है–'प्राप्तेति।' 'उपग्रह' शब्द का अर्थ है–उपराग (सम्बन्ध)। परस्पर-प्रतिबिम्ब की प्रतिपादित उक्त रीति से 'लब्धचैतन्योपरागकल्पा'=चैतन्यवती सदृशा बुद्धिवृत्ति की 'अनुकारिणी' अर्थात् प्रतिबिम्बोद्ग्राहिणी 'चितिशक्ति' होती है। आगे बतला रहे हैं– 'तन्मात्रतया' यह पद 'ज्ञानवृत्तेः' का विशेषण है। इस प्रकार परस्पर प्रतिबिम्ब के कारण बुद्धि-पुरुष दोनों में चेतनत्व तथा सुखादिपरिणामकत्वरूप सारूप्य भी है। भाष्य के 'आख्यायते' पद के पश्चात् 'इति' शब्द को जोड़ लेना चाहिये।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार प्रस्तुत सूत्र के भाष्य के तात्पर्य को समझाने के लिये विषय-वस्तु को आगे बढाते हैं–

योगवार्त्तिकम्

तदनेन सूत्रेण जीवेश्वरसाधारण्येनैव चिन्मात्रत्वमुक्तम्। तथा च श्रुतिस्मृती–

चेतामात्रः प्रतिपुरुषं क्षेत्रज्ञः ।
ज्ञानमेव परं ब्रह्म ज्ञानं बन्धाय चेष्यते ।
ज्ञानात्मकमिदं विश्वं न ज्ञानाद्विद्यते परम् ।

इति। ये तु वैशेषिकादयो ज्ञानाश्रयमात्मानं मन्यन्ते ते श्रुतिस्मृतिविरोधेनोपेक्षणीयाः। किंच लाघवात् प्रतिपुरुषमेकैकमात्रव्यक्तिनित्यज्ञानसिद्धौ तस्याश्रयो गौरवात्, न कल्प्यंते, जानामीतिप्रत्ययस्य संयोगसम्बन्धेनैवोपपत्तेः। यथा हीन्धनं तेजस्वीति प्रत्ययः संयोगसम्बन्धेन प्रमा तथैव बुद्धौ ज्ञानाख्यद्रव्य[1]संयोगसंबन्धेन ज्ञानवत्त्वप्रत्ययः प्रमैव। लोकानामहमिति प्रत्यये चावश्यं बुद्धिरपि भासते, अनादिमिथ्याज्ञानवासनाऽऽख्यदोषस्य प्रतिबन्धे मानाभावात्। अतोऽहं जानामीत्यविदुषां प्रत्ययोऽहमंशे भ्रमो ज्ञानवत्त्वांशे प्रमेत्यावयोः समानमेव। विदुषां तु जानामीति प्रत्ययोऽसिद्ध एव, परमेश्वरस्य सर्वज्ञत्वादिव्यवहारस्तु लोकव्यवहारादिति। अधिकं तु सांख्यभाष्यादौ प्रोक्तमिति दिक्॥२०॥

इस सूत्र के द्वारा जीव तथा ईश्वर की समानरूप से चिन्मात्रता कथित है। ऐसे ही श्रुति तथा स्मृतिवाक्य हैं–'चेतामात्रः प्रतिपुरुषं क्षेत्रज्ञः' (मैत्रायण्युप. ४/६) अर्थात् 'प्रत्येक पुरुष को चैतन्यमात्र क्षेत्रज्ञ समझना चाहिये', 'ज्ञानं..परम्' (वि. पु. २/३/४८) अर्थात् 'ज्ञान (आत्मज्ञान) ही परब्रह्म है और ज्ञान (विषयज्ञान) ही बन्ध का कारण है। यह संसार ज्ञानात्मक है। ज्ञान से अधिक श्रेष्ठ कुछ नहीं है।' और जो वैशेषिकादि दार्शनिक आत्मा को ज्ञानाधिकरणरूप (ज्ञानाश्रय) मानते हैं, उनका मत श्रुति-स्मृति-विरुद्ध होने से अनादरणीय (उपेक्षणीय) है। किञ्च प्रत्येक पुरुष (आत्मा) में एक-एक व्यक्तिरूपात्मक नित्यज्ञान को सिद्ध करने में लाघव

---

1. क ग–संयोगेन, घ च छ–संयोगसंबन्धेन।

होने से ज्ञानाधिकरणरूप पुरुष की गौरवदोषयुक्त कल्पना नहीं की जाती है अर्थात् आत्मा और ज्ञान दो की पृथक्-पृथक् गौरवशाली कल्पना करने की अपेक्षा एक ज्ञानात्मक पुरुष को मानने में लाघव है। क्योंकि 'जानामि' अर्थात् 'मैं जानता हूँ'–इत्याकारक प्रत्यय (ज्ञान) तो संयोगसम्बन्ध (बुद्धि-पुरुष के संयोगसम्बन्ध) से ही उपपन्न हो जाता है। जैसे 'इन्धनं तेजस्वी' अर्थात् 'इन्धन गर्म है' यह ज्ञान संयोग-सम्बन्ध (इन्धन को स्पर्श करने) से ही प्रमात्मक सिद्ध होता है, वैसे ही बुद्धि में ज्ञानाख्य द्रव्य का संयोगसम्बन्ध होने से ज्ञानवत्त्वप्रत्यय (ज्ञानवती बुद्धिः इत्याकारक ज्ञान) प्रमारूप सिद्ध होता है। प्राणियों को होने वाले 'अहम्' अर्थात् अहमाकार प्रत्यय में बुद्धि भी अनिवार्यतः भासित होती है, क्योंकि अनादि मिथ्याज्ञानजन्य वासना-दोष के अवरुद्ध होने में कोई प्रमाण नहीं है। (अर्थात् 'अहं' प्रत्यय में बुद्धि का प्रतिभासरूप मिथ्यात्व सहज है)। इसीलिये अविद्वानों को होने वाला 'अहं जानामि' अर्थात् 'मैं जान रहा हूँ' इत्याकारक ज्ञान 'अहम्' अंश में भ्रमरूप है और ज्ञानवत्त्व अंश में प्रमारूप है'–यह बात हम दोनों वैशेषिक तथा योगमत में समान ही है। विद्वानों को 'जानामि' इत्याकारक ज्ञान होता ही नहीं है। परमेश्वर में तो सर्वज्ञत्वादि का प्रयोग लोकव्यवहार के कारण होता है। यह विषय सांख्यप्रवचन-भाष्य में विस्तारपूर्वक प्रतिपादित हुआ है॥२०॥

वैयासिकी उपस्थानिका के विना अगला सूत्र प्रस्तुत हो रहा है–

योगसूत्रम्

[1]तदर्थ एव दृश्यस्या[2]त्मा॥२१॥

उसके लिये ही दृश्य का स्वरूप है॥२१॥

व्यासभाष्यम्

दृशिरूपस्य पुरुषस्य कर्म[3]रूपतामापन्नं दृश्यमिति तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा[4] [5]स्वरूपं भवतीत्यर्थः। [6]तत्स्वरूपं तु पररूपेण प्रतिलब्धात्मकं भोगापवर्गार्थतायां

---

1. एतदर्थः, तदर्थ–इति पाठान्तरे।
2. आत्मता–इति पाठान्तरम्।
3. क ख ग छ ज थ द ब–विषयतां, घ च झ त ध न प फ भ म य र–रूपताम्।
4. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ य–भवति (आत्मा पश्चात्) उपलभ्यते, घ प फ म र–भवति नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प प ब भ र–स्वरूपं भवतीत्यर्थः उपलभ्यते, भ य–स्वरूपं भवतीत्यर्थः नोपलभ्यते।
6. क ख ग–तत्स्वरूपं तु पररूपेण प्रतिलब्धात्मकं भोगापवर्गार्थतायां कृतायां पुरुषेण न दृश्यत इति। स्वरूपहानादस्य नाशः प्राप्तः, न तु विनश्यति। कस्मात् २/२१ सूत्रस्य टीका, घ च छ ज झ त

कृतायां[1] पुरुषेण न दृश्यत इति। स्वरूपहानादस्य नाशः प्राप्तः, न तु विनश्यति॥२१॥

यह दृश्य साक्षिरूप पुरुष का कर्म बनता है, इसलिये दृश्य का आत्मा अर्थात् स्वरूप पुरुष के लिये ही होता है–ऐसा कहा जाता है। दृश्य का जडात्मक रूप अन्य के (चैतन्य) रूप से सत्ता प्राप्त करता है। भोग तथा अपवर्ग नामक पुरुषार्थ पूरा हो जाने पर पुरुष के द्वारा नहीं देखा जाता है। इसलिये स्वरूपहानि होने से उसके नाश का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। किन्तु दृश्य नष्ट नहीं होता है॥२१॥

तत्त्ववैशारदी

द्रष्टृदृश्ययोः स्वरूपमुक्त्वा स्वस्वामिलक्षणसम्बन्धाङ्गं दृश्यस्य द्रष्ट्रर्थत्वमाह-तदर्थ एव दृश्यस्यात्मेति। व्याचष्टे–दृशिरूपस्येति।[2] दृशिरूपस्य पुरुषस्य भोक्तुः कर्मरूपतां भोग्यतामापन्नं दृश्यमिति, तस्मात्तदर्थ एव द्रष्ट्रर्थ एव दृश्यस्यात्मा भवति न तु [3]दृश्यार्थः। ननु नात्मात्मार्थम् इत्यत आह–स्वरूपं भवतीति। एतदुक्तं भवति–सुखदुःखात्मकं दृश्यं भोग्यम्। सुखदुःखे चानुकूलयितृप्रतिकूलयितृणी तत्त्वेन तदर्थे एव व्यवतिष्ठेते। विषया अपि हि शब्दादयस्तादात्म्यादेव चानुकूलयितारः प्रतिकूलयितारश्च। न चा[4]त्मैवैषामनुकूलनीयः प्रतिकूलनीयश्च, स्वात्मनि वृत्तिविरोधात्। अतः पारिशेष्याच्चितिशक्तिरेवानुकूलनीया च[5] प्रतिकूलनीया च। तस्मात्तदर्थमेव दृश्यं न तु दृश्यार्थम्।

विगत सूत्र में 'द्रष्टा' तथा 'दृश्य' का स्वरूप प्रतिपादित करने के पश्चात् इन दोनों के स्वस्वामिलक्षणक सम्बन्ध के अङ्गभूत दृश्य की द्रष्ट्रर्थता को पतञ्जलि सूत्रित करते हैं–'तदेति।' भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं–'दृशिरूपस्येति।' दृशिरूप भोक्ता पुरुष की 'कर्मरूपता'=भोग्यता को 'आपन्न'=प्राप्त यह दृश्य तत्त्व है, इसलिये 'तदर्थ'=द्रष्ट्रर्थ (द्रष्टा के लिये) 'दृश्य' का स्वरूप है, न कि दृश्यार्थ। अर्थात् पुरुष के भोग तथा मोक्ष के सम्पादन के लिये ही दृश्य की सार्थकता है, न कि एक दृश्य की सार्थकता दूसरे दृश्य के लिये है।

थ द ध न प फ भ म र–तत्स्वरूपं---विनश्यति २/२१ सूत्रस्य टीका तथा कस्मात् २/२२ सूत्रस्य अवतरणिका, ब–तत्स्वरूपं...दृश्यत इति २/२१ सूत्रस्य टीका तथा स्वरूपहानात्... कस्मात् २/२२ सूत्रस्य अवतरणिका, य–तत्स्वरूपं---कस्मात् २/२२ सूत्रस्य अवतरणिका।

1. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न प फ ब भ म य र–कृतायां, थ–प्रकृतायाम्।
2. ग थ द ध–दृशिरूपस्येति उपलभ्यते, क ख घ च छ ज झ त न–दृशिरूपस्येति नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न–दृश्य०, झ–दृष्टः।
4. क ख ग घ च छ ज झ त न–आत्मैवैषाम्, थ द ध–एषामात्मैव।
5. थ द ध–च उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–च नोपलभ्यते।

शङ्का—आत्मा को आत्मार्थ मान लिया जाय?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—**'स्वरूपं भवतीति'** तात्पर्य यह है—सुख तथा दुःखरूप जो **'दृश्य'** है, वही **'भोग्य'** (भोगक्रिया के योग्य) कहा जाता है और सुख-दुःख अनुकूलयितृ तथा प्रतिकूलयितृ रूप से अनुकूलनीय तथा प्रतिकूलनीय ही हैं, न कि आत्मार्थ। (शब्दान्तर में—भोग्यत्वरूप से सुख-दुःख भोक्त्रर्थ ही हैं, न कि आत्मार्थ। किञ्च शब्दादि विषय भी तादात्म्यसम्बन्ध से सुख-दुःख-मोहात्मक होने से अनुकूल तथा प्रतिकूल रूप ही हैं। अपना विषय आप न होने से अपना स्वरूप किसी को अनुकूल तथा प्रतिकूल नहीं होता है। अन्यथा कर्मकर्तृविरोध आता है। अतः परिशेषात् चितिशक्ति के लिये ही ये शब्दादि विषय अनुकूलनीय तथा प्रति-कूलनीय होते हैं। इससे विषयों में अनुकूल तथा प्रतिकूलजनकता पुरुष के लिये है, न कि दृश्य के लिये दृश्य का स्वरूप।

सम्प्रति, शब्दादि विषय अर्थात् बुद्धि की दृश्यता की अवधि पर विचार प्रस्तुत हो रहा है—

तत्त्ववैशारदी

अतश्च तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा न दृश्यार्थः, [1]यत्स्वरूपमस्य यावत्पुरुषार्थमनुवर्तते, निर्वर्तिते च पुरुषार्थे निवर्तते इत्याह—[2]तत्स्वरूपमिति। स्वरूपं तु दृश्यस्य जडं पररूपेणात्म-रूपेण चैतन्येन[3] प्रतिलब्धात्मकमनुभूतस्वरूपं भोगापवर्गार्थतायां कृतायां पुरुषेण न दृश्यते। भोगः सुखाद्याकारः शब्दाद्यनुभवः। अपवर्गः सत्त्वपुरुषान्यतानुभवः। तच्चैतदुभयमप्य[4]जानतो जडाया बुद्धेः पुरुषच्छायापत्त्येति पुरुषस्यैव। तथा च पुरुषभोगापवर्गयोः कृतयोर्दृश्यस्य भोगापवर्गार्थता समाप्यत इति भोगापवर्गार्थतायां कृतायामित्युक्तम्। अत्रान्तरे चोदयति—स्वरूपहानादिति। परिहरति—न तु विनश्यतीति॥२१॥

चूँकि पुरुष के लिये दृश्य का स्वरूप है, न कि दृश्य के लिये दृश्य का स्वरूप—इसलिये जब तक भोग तथा अपवर्ग रूप पुरुषार्थ समाप्त नहीं होता है, तब तक

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न—यत्स्वरूपमस्य यावत्पुरुषार्थमनुवर्तते निर्वर्तिते च पुरुषार्थे निवर्तते इत्याह—तत्स्वरूपमिति। स्वरूपं तु दृश्यस्य जडं पररूपेणात्मरूपेण चैतन्येन प्रतिलब्धात्मक-मनुभूतस्वरूपं भोगापवर्गार्थतायां कृतायां पुरुषेण न दृश्यते। भोगः सुखाद्याकारः शब्दाद्यनुभवः। अपवर्गः सत्त्वपुरुषान्यतानुभवः। तच्चैतदुभयमप्यजानतो जडाया बुद्धेः पुरुषच्छायापत्त्येति पुरुषस्यैव। तथा च पुरुषभोगापवर्गयोः कृतयोर्दृश्यस्य भोगापवर्गार्थता समाप्यत इति भोगापवर्गार्थतायां कृतायामित्युक्तम्। अत्रान्तरे चोदयति—स्वरूपहानादिति। परहरति—न तु विनश्यतीति २/२१ सूत्रस्य टीका, थ—यत्स्वरूपं.....न तु विनश्यतीति २/२२ सूत्रस्य अवतरणिका।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न—स्वरूपमिति, थ द ध—तत्स्वरूपमिति।
3. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न—चैतन्येन, झ—चेतनेन।
4. क घ च ज झ त थ—आजानतः, ख ग छ द ध न—अजानतः।

दृश्यभूता प्रकृति अपनी प्रवृत्ति करती ही रहती है और विवेकख्याति का उदय होने पर यथोक्त पुरुषार्थ समाप्त हो जाता है। अतः प्रकृति की प्रवृत्ति भी समाप्त हो जाती है। इसी तथ्य को भाष्यकार तथ्यीकृत करते हैं–'तत्स्वरूपमिति' दृश्य प्रकृति का जडात्मक स्वरूप 'पररूप' अर्थात् चैतन्यात्मक आत्मा के रूप से 'प्रतिलब्धात्मक' अर्थात् अनुभूत होता है अर्थात् अनुभव का विषय बनता है। किन्तु भोगापवर्गरूप पुरुषार्थ के सम्पन्न हो जाने पर पुरुष के द्वारा नहीं देखा जाता है। 'भोग' शब्द का अर्थ है–सुखाद्याकार शब्दादि का ज्ञान। 'अपवर्ग' शब्द का अर्थ है–प्रकृति-पुरुष का भेदज्ञान। इन दोनों की सिद्धि दोनों के स्वरूप को न जानने वाली जड़स्वरूपा बुद्धि में पुरुष की छायापत्ति से होती है। अतः ये पुरुष के ही भोग-मोक्ष कहे जाते हैं। और पुरुष के प्रति भोगापवर्गरूप क्रिया निष्पादित कर लेने पर दृश्य का भोगापवर्गरूप प्रयोजन समाप्त हो जाता है। इसलिये भाष्य में 'भोगापवर्गार्थतायां कृतायाम्'–ऐसा कहा है। इसी बीच पुनः शंका की जा रही है–'स्वरूपहानादिति।'

शङ्का–इस स्थिति में सत्त्वपुरुषान्यताख्याति का उदय होने पर दृश्य के स्वरूप (परार्थत्व) का हान होने से तथाकथित गुणादि दृश्य का भी नाश प्रसक्त होगा?

समाधान–शंका का परिहार करते हुए भाष्यकार कहते हैं–'न तु विनश्यतीति।' दृश्यात्मक प्रकृति का स्वरूप पुरुष के भोगापवर्ग के निष्पादन के पश्चात् भी नष्ट नहीं होता है॥२१॥

बालप्रिया–

'अस्य नाशः प्राप्तः'–पूर्वपक्षी की उक्त शंका के मूल में यह अवान्तर-शंका निहित है–उपनिषद् में प्रति जीव के लिये भिन्न-भिन्न प्रकृति मानी गई है। इससे जिस जीव को विद्या प्राप्त होती है, उसी के दृश्य का नाश होता है। और इस प्रकार तद्भिन्न पुरुषरूप अधिकरण में अविद्या के रहने में कोई विरोध नहीं है। किन्तु प्रधान को एक मानने पर लोकव्यवहार सिद्ध नहीं हो सकेगा। अतः यदि सांख्ययोगाचार्यों के अनुसार प्रकृति को एक माना जाय तो किसी एक पुरुष को विवेकज्ञान होने पर सकल दृश्य का जब नाश हो गया, तब अन्य जो अविवेकी पुरुष हैं, उनके भोग-मोक्ष का सम्पादन कौन करेगा? अर्थात् कोई नहीं। अतः एक को विवेकज्ञान प्राप्त होने पर सबके मोक्ष की आपत्ति आयेगी। भाष्यकार ने इसी शंका के निरसन के लिये सिद्धान्त रूप से 'न तु विनश्यति' कहा है। अग्रिम सूत्र में इस शंका को निरस्त किया जायेगा॥२१॥

योगवार्त्तिकम्

बुद्ध्यतिरिक्ते द्रष्टरि प्रमाणमाह सूत्रकारः–तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा। तस्य पुरुषस्यार्थः प्रयोजने भोगापवर्गाविवार्थः प्रयोजनं यस्य स तथेति। मध्यमपदलोपी समासः, पुरुषस्य

[1]भोगापवर्गप्रयोजनकमेव दृश्यस्य स्वरूपं कार्यकारणात्मकं गुणत्रयं न स्वार्थमित्यर्थः। तथा च गुणाः परार्थाः संहत्यकारित्वात् शय्याऽऽदिवदित्यनुमानेन बुद्ध्याद्यतिरिक्तस्य पुरुषाख्यस्य परस्य सिद्धिरिति भावः। इदं चानुमानं पूर्वसूत्रे व्याख्यातम्।

अधुना, सूत्रकार बुद्धि से अतिरिक्त 'द्रष्टा' पुरुष के सिद्ध्यर्थ प्रमाण देते हैं– **'तदेति।' 'तस्य पुरुषस्यार्थः प्रयोजने भोगापवर्गावेवार्थः प्रयोजनं यस्य स तदर्थः'**–पुरुष का भोगापवर्गरूप प्रयोजन (अर्थ) ही जिसका प्रयोजन (अर्थ) है, इस प्रकार का दृश्य है–यहाँ मध्यमपदलोपी बहुव्रीहिसमास है। यहाँ 'भोगापवर्ग इस मध्यमपद का प्रयोग नहीं हुआ है, अतः यह मध्यमपदलोपी समास है। पुरुष के भोगापवर्गप्रयोजनक ही दृश्य का स्वरूप है अर्थात् कार्यकारणात्मक गुणत्रय 'स्वार्थः' नहीं अपितु परार्थ है।

गुणाः परार्थाः–अर्थात् गुण परार्थ हैं–प्रतिज्ञा।

संहत्यकारित्वात्–अर्थात् संहत्यकारी (मिलकर कार्य करने वाले) होने से–हेतु।

शय्यादिवत्–अर्थात् शय्यादि के समान–उदाहरण।

उक्त अनुमान-प्रयोग द्वारा यह सिद्ध होता है कि बुद्ध्यतिरिक्त कोई 'पुरुष' संज्ञक 'पर' तत्त्व है। यह अनुमान-प्रयोग पूर्व सूत्र में विश्लेषित हो चुका है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार सूत्र में 'आत्मा' पद के प्रयोग का कारण बतलाते हैं–

योगवार्त्तिकम्

तदर्थमेव दृश्यमित्येतावन्मात्रेणैव निर्वाहेऽप्यात्मपदं धात्वर्थे दर्शने तदर्थत्वान्वयभ्रम-निरासाय प्रयुक्तमिति।

'तदर्थमेव दृश्यम्'–इस प्रकार से गठित सूत्र के द्वारा ही दृश्य से अतिरिक्त पुरुष की सत्ता-सिद्धि का यथेष्ट प्रयोजन पूर्ण हो सकता था, फिर भी सूत्र में 'आत्मा' पद का प्रयोग इसलिये किया गया है जिससे 'दर्शन' रूप धात्वर्थ में तदर्थत्व के अन्वय का भ्रम-निरास किया जा सके।

बालप्रिया–

'तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा'–प्रस्तुत सूत्र के द्वारा पुरुष को प्रयोजनवान् बतलाना अभिप्रेत नहीं है, अपितु द्रष्टा की कल्पित दर्शनरूप क्रिया की कर्मता में दृश्य का दृश्यत्व पर्यवसित करना अभिप्रेत है। पारमार्थिक रूप से तो दर्शनशक्ति (ज्ञानक्रिया) बुद्धि रूप दृश्य में ही निहित है। अतः पुरुष के कल्पित दर्शन से भिन्न दृश्य के स्वरूपात्मक दर्शन की उपपत्ति लगाने के लिये सूत्र में 'आत्मा' पद प्रयुक्त हुआ है। स्वयं भिक्षु के शब्दों में–**'आत्मपदं धात्वर्थे दर्शने तदर्थत्वान्वयभ्रमनिरासाय प्रयुक्तमिति।'**

---

1. क ग घ–पुरुषस्य (भोगापवर्ग० प्राक्) उपलभ्यते, च छ–पुरुषस्य नोपलभ्यते।

योगवार्त्तिकम्

तदर्थत्वे युक्तिं वदन् सूत्रं व्याचष्टे–दृशिरूपस्येति। यतो दृशिरूपस्य पुरुषस्य यत् कर्मेव कर्म दर्शनं तद्विषयतां गतमेव वस्तु दृश्यं भवति, दर्शनं च सर्ववस्तूनां प्रयोजनमिति सर्वसंमतमतस्तदर्थमेव दृश्यस्य गुणादेः स्वरूपं भवति तिष्ठतीत्यर्थः। न हि परप्रयोजनकं वस्तु परप्रयोजनं विना क्षणमपि स्थातुं क्षमते, नित्यमनित्यं वा प्रयोजनं विना कस्यापि परार्थस्यावस्थानादर्शनेन पुरुषार्थस्य तत्स्थितिहेतुत्वसिद्धेरिति भावः। अनेन च सूत्रेण चैतन्याधीना सत्ता दृश्यस्य न तु[1] स्वत इति सिद्धम्॥२१॥

दृश्य की पुरुषार्थरूपता में युक्ति को देते हुए भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं–**'दृशिरूपस्येति'** **'दृशिरूप'** अर्थात् ज्ञानस्वरूप पुरुष का कर्म के समान जो दर्शनरूप कर्म है, उस कल्पित दर्शनकर्म (क्रिया) की विषयता को प्राप्त हुई वस्तु ही **'दृश्य'** कहलाती है। **'दर्शन'** ही यच्च-यावत् सभी (जड) वस्तुओं की उत्पत्ति, स्थित्यादि का प्रयोजन है, यह सभी को मान्य है। अतः पुरुष-दर्शनार्थ ही **'गुणादि'** दृश्य का स्वरूप ठहरता है। पर-प्रयोजन वाली वस्तु परप्रयोजन के विना क्षण भर भी ठहरने के लिये समर्थ नहीं होती है। किसी भी परार्थ वस्तु की अवस्थिति नित्य अथवा अनित्य किसी भी प्रयोजन के विना नहीं देखी जाती है, इसलिये पुरुषार्थ में ही दृश्य की स्थितिहेतुता सिद्ध होती है। अर्थात् **'पुरुषार्थ'** ही दृश्य का **'स्थितिकारण'** है। इस सूत्र के द्वारा यह भी निर्णीत हो जाता है कि दृश्य की सत्ता पुरुष के अधीन है, न कि वह स्वतन्त्र है॥२१॥

बालप्रिया–

'तत्स्वरूपं तु पररूपेण...न तु विनश्यति–मिश्र-भिक्षु-मतभेद–इस भाष्यांश के पाठस्थान के विषय में मिश्र तथा भिक्षु में मतभेद है। वाचस्पति मिश्र ने इस भाष्यांश को इक्कीसवें सूत्र का ही भाष्य मानकर वहीं पर इसकी व्याख्या की है। किन्तु विज्ञानभिक्षु ने तथाकथित भाष्यांश को अग्रिम सूत्र की अवतरणिका के रूप में प्रयुक्त माना है। वाचस्पति मिश्र ने **'कस्मात्'** पद का ही अग्रिम सूत्र की वैयासिकी अवतरणिका के रूप में प्रयोग किया है॥२१॥

भाष्यकार प्रश्नपरक एकपदीप अवतरणिका द्वारा अग्रिम सूत्र को अवतरित करते हैं–

व्यासभाष्यम्

कस्मात्?

---

1. क ग घ–तु उपलभ्यते, च छ–तु नोपलभ्यते।

किस कारण से 'दृश्य' का विनाश (सर्वथा अभाव) नहीं होता है? उत्तर है—

योगसूत्रम्

[1]कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं [2]तदन्यसाधारणत्वात्॥२२॥

विवेकज्ञानयुक्त मुक्त पुरुष के प्रति वह 'दृश्य' नष्ट होकर भी, सर्वपुरुष (विवेकी-अविवेकी) साधारण होने से नष्ट नहीं होता है॥२२॥

व्यासभाष्यम्

कृतार्थमेकं पुरुषं प्रति दृश्यं नष्टमपि नाशं प्राप्तमप्यनष्टं तदन्यपुरुषसाधारणत्वात्। कुशलं पुरुषं प्रति नाशं प्राप्तमप्यकुशलान्पुरुषान्प्रति [3]न कृतार्थमिति तेषां दृशेः कर्मविषयतामापन्नं लभत एव[4] पररूपेणा[5]त्मरूपमिति। अतश्च दृग्दर्शनशक्त्योर्नित्यत्वादनादिः संयोगो व्याख्यात इति। तथा चोक्तम्—धर्मिणामनादिसंयोगाद्धर्ममात्राणामप्यनादिः संयोग इति॥२२॥

एक कृतार्थ पुरुष के प्रति 'नष्ट' अर्थात् नाश को प्राप्त हुआ भी वह दृश्य अनष्ट बना रहता है, क्योंकि दृश्य कृतार्थ तथा अकृतार्थ सभी पुरुषों के प्रति साधारण है। कुशल पुरुष के प्रति नाश को प्राप्त होकर भी 'दृश्य' बद्ध पुरुषों के प्रति कृतार्थ नहीं होता है। अर्थात् प्रयोजनवान् बना रहता है। इस प्रकार अकृतार्थ पुरुषों की ज्ञानशक्ति की कर्मविषयता (भोग्यता) को प्राप्त होता हुआ वह 'दृश्य' चेतन पुरुष के द्वारा अपनी स्वरूपसत्ता को प्राप्त करता है अर्थात् अस्तित्ववान् बना रहता है। इस प्रकार दृक्शक्ति और दर्शनशक्ति के नित्य होने के कारण इनका संयोग अनादि माना गया है। कहा भी गया है— 'धर्मिरूप सत्त्वादि गुणों का आत्मा के साथ अनादि संयोग होने से धर्ममात्र महदादि का भी आत्मा के साथ अनादि सम्बन्ध है॥२२॥

तत्त्ववैशारदी

नन्वत्यन्तानुपलभ्यं कथं न विनश्यतीत्याशयवान्पृच्छति—कस्मादिति। सूत्रेणोत्तरमाह—कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्। कृतोऽर्थो यस्य पुरुषस्य स तथा। तं प्रति

---

1. कृतार्थे—इति पाठान्तरम्।
2. तत्—नोपलभ्यते।
3. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य—न कृतार्थं, घ प फ र—अकृतार्थम्।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र—एव, द—एवम्।
5. क ख ग घ च ज झ त द ध प फ ब भ म य र—आत्म०, छ थ न—अनात्म०।

नष्टमप्यनष्टं तद्दृश्यम्। कुतः? सर्वान् पुरुषान्कुशलानकुशलान्प्रति साधारणत्वात्। व्याचष्टे–कृतार्थमेकमिति। नाशोऽदर्शनम्। अनष्टं तु दृश्यम्, अन्यपुरुषसाधारणत्वात्। तस्माद् दृश्यात्परस्यात्मनश्चैतन्यं रूपं तेन, तदिह श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रसिद्धमव्यक्तमनवयव-मेकमनाश्रयं व्यापि नित्यं विश्वकार्यशक्तिमत्। यद्यपि कुशलेन [1]तं प्रति कृतकार्यं न दृश्यते तथाप्यकुशलेन दृश्यमानं [2]न नास्ति। न हि रूपमन्धेन न दृश्यत इति चक्षुष्मतापि दृश्यमानम-भावप्राप्तं भवति। न च प्रधानवदेक एव पुरुषः, तन्नानात्वस्य जन्ममरणसुखदुःखोपभोग-मुक्तिसंसारव्यवस्थया सिद्धेः। एकत्वश्रुतीनां च प्रमाणान्तरविरोधात्कथञ्चिद्देशकालविभागा-भावेन भक्त्याप्युपपत्तेः। प्रकृत्येकत्वपुरुषनानात्वयोश्च श्रुत्यैव साक्षात्प्रतिपादनात्–

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

इति श्रुतिः। अस्या एव श्रुतेश्चानेन सूत्रेणार्थोऽनूदित इति। यतो दृश्यं नष्टमप्यनष्टं पुरुषान्तरं प्रत्यस्ति, अतो दृग्दर्शनशक्त्योर्नित्यत्वादनादिः संयोगो व्याख्यातः। अत्रैवागमिना-मनुमतिमाह–तथा चोक्तमिति। धर्मिणां गुणानामात्मभिरनादिसंयोगाद्धर्ममात्राणां महदादी-नामप्यनादिः संयोग इति। एकैकस्य महदादेः संयोगोऽनादिरप्यनित्य एव यद्यपि तथापि सर्वेषां महदादीनां नित्यः, पुरुषान्तराणां साधारणत्वात्। अत उक्तम्–धर्ममात्राणामिति। मात्र-ग्रहणेन व्याप्तिं गमयति। अत एतद् भवति–यद्यप्येकस्य महतः संयोगोऽतीततामापन्नस्तथापि महदन्तरस्य पुरुषाणां संयोगो नातीत इति नित्य उक्तः ॥२२॥

शङ्का–विवेकज्ञान होने पर जब दृश्य की प्रतीति ही नहीं होती है, तो (ऐसी स्थिति) में दृश्य का नाश ही क्यों न मान लिया जाय? इसी आशय से भाष्यकार प्रश्न करते हैं–'कस्मादिति।'

समाधान–सूत्र से उत्तर दिया जा रहा है–'कृतार्थमिति।' 'कृतोऽर्थो यस्य पुरुषस्य स कृतार्थः' अर्थात् जिस पुरुष का प्रयोजन सम्पन्न हो चुका है, उस पुरुष को 'कृतार्थ' कहते हैं। इस प्रकार कृतार्थ पुरुष के प्रति नष्ट होता हुआ भी 'दृश्य' (अकृतार्थ पुरुषों के प्रति) नष्ट नहीं होता है। अर्थात् अन्य अकृतार्थ पुरुषों के पुरुषार्थरूप प्रयोजन की निष्पत्ति में वह व्यापृत रहता है।

शङ्का–क्यों?

समाधान–क्योंकि दृश्य कुशल-अकुशलरूप विवेकी-अविवेकी सभी पुरुषों के प्रति साधारण होता है। भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं–'कृतार्थमेकमिति।' 'नाश' शब्द का अर्थ है–'अदर्शन।' अर्थात् विवेकी पुरुष के प्रति दृश्य अदर्शनरूप होता है, किन्तु सर्वपुरुषसाधारण होने के दृश्य अकुशल पुरुष के प्रति नष्ट नहीं होता है। दृश्य से

1. क छ–तत्प्रतिकूल०, ख ग घ च ज झ त थ द ध न–तं प्रति कृत०।
2. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न–न उपलभ्यते, त–न नोपलभ्यते।

भिन्न 'पुरुष' चैतन्यस्वरूप है। इसलिये श्रुति, स्मृति, इतिहास, तथा पुराणप्रसिद्ध **'दृश्य'** (प्रधानतत्त्व) अव्यक्त, अनवयव, एक, अनाश्रय व्यापक, नित्य और समस्त कार्य-जननशक्तिसम्पन्न है। यद्यपि विवेकज्ञानयुक्त व्यक्ति के प्रति कृतकृत्य **'दृश्य'** विवेकी अर्थात् कुशल पुरुष के द्वारा देखा नहीं जाता है तथापि अज्ञानी पुरुष के द्वारा भी दृश्य नहीं देखा जाता है, ऐसा नहीं है। किन्तु अकुशल पुरुष के द्वारा दृश्य देखा जाता है। जैसे रूप अन्ध के द्वारा नहीं देखा जाता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि रूप है ही नहीं, क्योंकि नेत्रवान् व्यक्ति द्वारा देखा जाता हुआ रूप अभाव को प्राप्त नहीं होता है। किञ्च जैसे प्रकृति एक है, वैसे पुरुष एक नहीं है। पुरुष अनेक हैं। जन्म-मरण, सुख-दुःख तथा भोग-मोक्ष की व्यवस्था से पुरुष का नानात्व सिद्ध होता है। अथ च पुरुषैकत्व का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों का प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तर के साथ विरोध होने से तथा पुरुषैकत्वपक्ष में कथञ्चित् देश, काल के विभाग का अभाव होने से उन्हें भक्तिपरक अर्थात् लक्षणापरक मानकर भी उपपन्न किया जाता है। क्योंकि श्रुति के द्वारा ही प्रकृति का एकत्व तथा पुरुष का अनेकत्व स्पष्टतया प्रतिपादित हुआ है। श्रुति इस प्रकार है—**'अजामेकां... भुक्तभोगामजोऽन्यः'** श्रुति का अर्थ पीछे किया जा चुका है। प्रकृत सूत्र के द्वारा भी श्रुति का यही तात्पर्य (अर्थ) समर्थित हुआ है। क्योंकि **'विवेकी'** के प्रति नष्ट हुआ भी **'दृश्य'** विवेकिभिन्न **'अविवेकी'** पुरुषों के प्रति **'अनष्ट'** रूप होता है। अतः दृक्शक्ति और दर्शनशक्ति दोनों के नित्य होने से उनका संयोग भी अनादि सिद्ध होता है। भाष्यकार इस विषय में शास्त्रकारों का मत प्रस्तुत करते हैं—**'तथा चोक्तमिति।'** वचन इस प्रकार है—**'धर्मिणाम्...संयोग इति।'** धर्मिरूप 'सत्त्वादि गुणों' का पुरुषों के साथ अनादिसंयोग होने से धर्मरूप **'महदादि'** विकारों अर्थात् कार्यों का भी पुरुष के साथ **'अनादिसंयोग'** है। यद्यपि एक-एक महदादि का पुरुष के साथ संयोग अनादि होता हुआ भी अनित्य है तथापि सर्व महदादियों का सर्व पुरुषों के साथ नित्य संयोग है, क्योंकि महदादि अन्य पुरुषों के प्रति साधारण होते हैं। इसलिये कहा है—**'धर्ममात्राणामिति।'** यहाँ पर **'मात्र'** पद के प्रयोग से पुरुष और बुद्धि के संयोग की व्याप्ति संसूचित होती है। अतः यह सिद्ध होता है—यद्यपि एक महत् का (एक अविवेकी पुरुष के साथ होने वाला) संयोग (पुरुष के विवेकज्ञानयुक्त होने पर) अतीत अवस्था को प्राप्त होता है तथापि अतीतावस्थाक महत् से भिन्न महत् व्यक्तियों तथा पुरुषों का संयोग अतीत अवस्था वाला नहीं होता है। अतः दृष्टा-दृश्य का संयोग **'नित्य'** है॥२२॥

बालप्रिया—

'न च प्रधानवदेक एव पुरुषः'—

शङ्का–'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः', 'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः'–इत्यादि श्रुति-स्मृतियों से पुरुष का एकत्व विवक्षित है, फिर कैसे पुरुष के कुशलाकुशल के भेद से प्रधान के नष्टाऽनष्टत्व का व्यवहार किया जाता है?

समाधान–शंका-समाधानार्थ तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–'न च प्रधानवदेकः पुरुष इति' इस तथ्य का पुष्टीकरण तत्त्वैशारदीकार ने 'तन्नानात्वस्येति' शब्दावली द्वारा किया है। 'पुरुष' के 'जन्म' शब्द का अर्थ है–अपूर्व देहेन्द्रियादि के साथ पुरुष का अभिसम्बन्ध-मात्र। पुरुष के देहादि परिणाम को जन्म नहीं कहते हैं। क्योंकि पुरुष अपरिणामी है। 'पुरुष के मरण' शब्द का अर्थ है–गृहीत देहादि का परित्यागमात्र। पुरुषनाश को मरण नहीं कहते हैं। क्योंकि पुरुष कूटस्थ नित्य है। यदि समस्त शरीरों में एक ही पुरुष (आत्मा) को माना जाय (अर्थात् शरीरभेद से आत्मा का नानात्व स्वीकार न किया जाय) तो एक पुरुष के जन्म-मरण, सुखी-दुःखी, बद्ध-मुक्त होने पर अन्य पुरुषों के भी जन्मादि की 'अनियंत्रित स्थिति' आने लगेगी। अतः जन्मादि की व्यवस्था के लिये पुरुषबहुत्व स्वीकृत है। तदर्थ सांख्य सूत्र भी है–जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्–१/१४९। यही तथ्य सांख्यकारिका 'जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्...' की तत्त्वकौमुदी टीका में वाचस्पति मिश्र द्वारा विस्तारतः प्रतिपादित हुआ है॥२२॥

योगवार्त्तिकम्

सूत्रान्तरमवतारयितुमुपक्रमते–तत्स्वरूपमिति। ननु दृश्यस्वरूपं यदि परस्य पुरुषस्य रूपेण दर्शनेन निमित्तेन तदर्थं प्रति लब्धात्मकं लब्धसत्ताकं तर्हि भोगापवर्गार्थतायां भोगापवर्गरूपे पुरुषस्यार्थसमूहे कृते सति पुरुषेण न दृश्यत इति कृत्वा स्वरूपत्यागान्नाशोऽत्यन्तोच्छेदोऽस्य गुणादेः प्रसक्त इत्यर्थः। प्रयोजनसमाप्त्या हि प्रयोजनकारि नाश्यत इति धर्माधर्मवासनाचित्तादिस्थले दृष्टम्। तथा च प्रकृतिनित्यत्वसृष्ट्यादिप्रवाहानुच्छेदनित्यैश्वर्यादिसिद्धान्तहानिरिति पूर्वः पक्षः। अत्र सिद्धान्तमाह–न तु विनश्यतीति। पृच्छति–कस्मादिति। अत्र प्रत्युत्तरं सूत्रं पठति–कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्। व्याचष्टे–कृतार्थमिति। बुद्ध्या कृतः समापितोऽर्थो यस्येति कृतार्थमेकं कंचिन्मुक्तपुरुषं प्रति गुणादिकं नष्टं प्रयोजनाकरणात् राज्ञो राज्यवन्नष्टमपि सामान्यतो न नष्टं तस्मिन्नकृतार्थे अन्यपुरुषे च तस्य साधारणत्वादित्यर्थः। योजितं सूत्रं तात्पर्यतो व्याचष्टे–कुशलमित्यादिना–रूपमितीत्यन्तेन। कुशलं कल्याणमुक्तम्। अकृतोऽर्थो येनेत्यकृतार्थम्। शेषं व्याख्यातप्रायम्। सोऽयं सूत्रार्थः श्रुत्याऽप्यनुगृहीतः। यथा–

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

इति। तदनेन सूत्रेण प्रकृतिनित्यत्वं पुरुषबहुत्वं च प्रतिपादितम्, तथा पुरुषभेदात् प्रकृते[1]र्बहुत्वं नास्तीत्येवंरूपं प्रकृतेरेकत्वं च प्रतिपादितं विज्ञानवादादिनिरासायेति।

सूत्रान्तर (अग्रिम सूत्र) को अवतरित करने के लिये भाष्यकार भूमिका बांधते हैं अर्थात् विषय को प्रारम्भ करते हैं—**'तत्स्वरूपमिति'**

पूर्वपक्ष—यदि **'दृश्य'** का स्वरूप पर **'पुरुष'** के दर्शनरूप निमित्त के कारण तदर्थ के प्रति लब्धसत्ता वाला है अर्थात् पुरुष की कल्पित दर्शनक्रिया ही दृश्य का **'स्थितिकारण'** है तो पुरुष के भोगापवर्गरूप अर्थद्वय (प्रयोजनसमूह) के निष्पन्न (सम्पादित) हो जाने पर पुरुष दृश्य को नहीं देखता है अर्थात् पुरुष के दर्शनक्रिया की कर्मता **'दृश्य'** में नहीं रहती है, इससे यह अनुषक्त (स्थिर) होता है कि स्वरूपनाश से (दृश्य का दृश्यत्व समाप्त होने से) गुणादि दृश्य का आत्यन्तिक उच्छेद हो जाता है। क्योंकि प्रयोजन के सम्पादित हो जाने पर प्रयोजन को निष्पन्न करने वाला व्यर्थ हो जाता है। जैसा कि धर्माधर्मजन्य वासना तथा (वासना के आधारभूत) चित्तादि के प्रसंग में दिखाई पड़ता है। और ऐसा मान लेने पर प्रकृति की नित्यता, सृष्ट्यादि प्रवाह की निरन्तरता तथा (ईश्वर की) नित्यैश्वर्यता आदि सभी सिद्धान्त व्याहत (अपसिद्धान्तकोटिक) हो जाते हैं—ऐसा पूर्वपक्ष है।

उत्तरपक्ष—इस विषय में भाष्यकार सिद्धान्त बतलाते हैं—**'न तु विनश्यतीति।'** दृश्यरूप प्रकृति का कभी विनाश नहीं होता है।

पूर्वपक्ष—पूर्वपक्षी पूछता है—**'कस्मादिति।'** किस कारण से दृश्य का नाश नहीं होता है?

उत्तरपक्ष—शंका के उत्तर रूप में सूत्र पढा जा रहा है—**'कृतार्थमिति।'** भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—**'कृतार्थमिति।' 'बुद्ध्या कृतः समापितोऽर्थो यस्येति'**—इस (बहुव्रीहि-परक) विग्रह के अनुसार बुद्धि के द्वारा जिसके प्रति अर्थ समर्पित किया जा चुका है, वह पुरुष **'कृतार्थ'** कहलाता है अर्थात् जिस विवेकी पुरुष के प्रति बुद्धि अपनी दृश्यार्थता को पूर्ण कर चुकी है, ऐसे **'कृतार्थ'** अर्थात् किसी मुक्त पुरुष के प्रति गुणादि रूप बुद्धि निष्प्रयोजन हो जाने से उसी प्रकार नष्ट हो जाती है जिस प्रकार राजा के लक्ष्यशून्य होने से राज्य नष्ट हो जाता है। वस्तुतस्तु कृतार्थ पुरुष के प्रति नष्ट हुआ भी दृश्य पुरुषसामान्य की दृष्टि से नष्ट नहीं होता है, क्योंकि अकृतार्थ अन्य पुरुषों के प्रति वह साधारण है अर्थात् अकृतार्थ पुरुषों के प्रति कर्त्तव्य को पूरा करने में वह लगा रहता है। सम्प्रति, भाष्यकार कथित सूत्र के तात्पर्य को समझाते हैं—**'कुशलमित्यादिना रूपमितीत्यन्तेन।' 'कुशल'** शब्द का अर्थ **'कल्याण'** है अर्थात् लब्धकल्याण मुक्त पुरुष को **'कुशल'** (कृतार्थ) कहते हैं और अकुशल को **'अकृतार्थ'**

---

1. क ग—भेदः, घ च छ—बहुत्वम्।

अकुशल को 'अकृतार्थ' कहते हैं। 'अकृतार्थ' पद का विग्रह है–'अकृतोऽर्थो येन इति' अर्थात् जिसने अर्थ (मोक्ष) को प्राप्त नहीं किया है, उस पुरुष को 'अकृतार्थ' कहते हैं। श्रुति द्वारा भी सूत्र का यही अभिप्राय अनुमोदित हुआ है। श्रुति है–'अजामेकां... भुक्तभोगामजोऽन्यः' (श्वे. ४/५) अर्थात् 'अपने ही समान त्रिगुणमय अनेक भूतसमूहों को रचने वाली, लोहित-शुक्ल-कृष्ण-गुणमयी, एकरूपा अजा (अनादि प्रकृति) को निश्चय ही एक अज (अज्ञानी जीव) आसक्त होकर भोग करता है और दूसरा अज (ज्ञानी महापुरुष) इस भोगी गई प्रकृति को त्याग देता है।' प्रकृत सूत्र के द्वारा प्रकृति का नित्यत्व तथा पुरुष का बहुत्व निर्णीत हुआ है तथा इसी के साथ-साथ विज्ञानवाद आदि मतमतान्तरों का अपनोदन करने के लिये पुरुष-भेद से प्रकृति का बहुत्व नहीं, अपितु 'एकत्व' प्रतिपादित (एवं समर्थित) हुआ है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार पुरुष-बहुत्व को शंका-समाधान की शैली से प्रतिपादित करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

नन्वेवं–

यथा घटीकुम्भकमण्डलुस्थमाकाशमेकं बहुधा हि भिन्नम्।
तथा सुबाहुः स च काशिपोऽहमन्ये च देहेषु शरीरभेदैः॥

इत्येवंविधश्रुतिस्मृतिशतोक्तं सर्वात्मनात्मैक्यं विरुद्धमिति चेत्? न, तादृशवाक्यैः प्रकरण-भेदेन क्वचिदवैधर्म्यलक्षणाभेदप्रतिपादनात्, सर्वात्मनामवैधर्म्यज्ञानेनैवापरिणामितया बुद्ध्या-द्यभिमाननिवृत्तितो मोक्षसिद्धेः, क्वचिच्चाविभागलक्षणाभेदप्रतिपादनात्। ततश्चैकस्यैव परमात्मनो मुख्यात्मता सिध्यतीति। एतच्च सर्वं ब्रह्ममीमांसाभाष्ये श्रुतिभाष्यादिषु च प्रपञ्चितमस्माभिः। न पुनस्तादृशवाक्यानां जीवात्मपरमात्माखण्डतापरत्वं सम्भवति, बन्धमोक्षानुपपत्तिरूपसत्तर्कानुग्रहेण बलवद्भिर्भेदग्राहकश्रुतिस्मृतिशतैर्विरोधात्, अधिकं तु भेददर्शनात्, अंशो नानाव्यपदेशादिति ब्रह्ममीमांसामारभ्य सर्वदर्शनसूत्रैरतिस्फुटमात्म-भेदप्रतिपादनेन भेदस्यैव श्रुत्यर्थत्वावधारणाच्च। अपि च सर्वात्मनात्मैक्यमात्रज्ञानान्न संसारा-भिमाननिवृत्तिः सम्भवति, एकस्मिन्नेवाकाशेऽवच्छेदभेदेन शब्दतदभाववद् एकस्मिन्नेवात्मनि अवच्छेदभेदेन[1] संसारासंसारयोः सम्भवात्। विवेकज्ञानापेक्षणे च तत एवाभिमान-निवृत्तेरैक्यज्ञानस्य न दृष्टद्वारा मोक्षहेतुत्वं स्यात्। नाप्यात्मैक्यज्ञानात् सर्वात्मब्रह्मो[2]पासनं संभवति, साक्षात् कुक्कुरत्वादिदृष्ट्याऽत्र ब्रह्मणो निन्दाया एव प्रसङ्गात्, जडवर्गेष्वविभाग-लक्षणाभेदेनोपासनाया अवश्यकल्प्यत्वेन चेतनवर्गेष्वपि तथैवौचित्याच्च। तस्मात् प्रयोजना-

---

1. क घ च–अवच्छेदेन, ग छ–अवच्छेदभेदेन।
2. क ग–उपासनाफलं, घ च छ–उपासनम्।

भावात् नात्माखण्डताप्रतिपादने श्रुतिस्मृत्योस्तात्पर्यम्। अधिकं तु ब्रह्ममीमांसायामस्माभिराधुनिकवेदान्तिब्रुवमतखण्डनावसरे प्रतिपादितमिति दिक्।

शङ्का—योगमतानुसार पुरुष का **'बहुत्व'** मानने पर सैकड़ों श्रुति-स्मृतियों में वर्णित सर्वात्मभूत आत्मा का **'एकत्व'** विरुद्ध होने लगेगा? अर्थात् पुरुष की संख्या के विषय में योग तथा श्रुतिवाक्यों में एकवाक्यता स्थापित न हो सकेगी। श्रुति है—यथा **घटीकुम्भ...देहेषु शरीरभेदैः** (मार्क. पु. ३७/४२) अर्थात् 'जैसे घट, कुम्भ और कमण्डलु में रहने वाला आकाश (व्यापक होने से) एक है तथापि घटावच्छेदेन, कुम्भावच्छेदेन तथा कमण्डल्ववच्छेदेन आकाश की भिन्नता (अनेकता) प्रतीत होती है। वैसे ही सबाहु, कापिश, मुझ और अन्य में निहित आत्मा एक है तथापि शरीर-भेद से आत्मतत्त्व की भिन्नता कही जाती है।'

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इन वाक्यों के द्वारा प्रकरण-भेद से कहीं-कहीं आत्मतत्त्व का अवैधर्म्यलक्षणक अभेद प्रतिपादित हुआ है (न कि सर्वत्र) और वह इसलिये है जिससे सभी आत्माओं में अभेदज्ञानपूर्वक उनके अपरिणामित्व रूप के द्वारा बुद्ध्याद्यभिमान (परिणामिनी बुद्धि में अपरिणामी आत्मत्व की भ्रमैक्य प्रतीति) की निवृत्तिपूर्वक जीव को मोक्ष सिद्ध हो सके। और कहीं-कहीं आत्माओं का केवल अविभागलक्षणक अभेद प्रतिपादित हुआ है। अतः आत्मैक्यवाद युक्ति-युक्त नहीं है। किञ्च आत्मैक्य श्रुति से एक ही परमात्मा की मुख्यात्मता सिद्ध होती है (न कि उनके बहुत्व का निषेध होता है)। ब्रह्ममीमांसाभाष्य तथा श्रुतिभाष्यादि ग्रन्थों में मैंने (विज्ञानभिक्षु ने) इस पर पूर्णरूप से विचार किया है। इतना ही नहीं सभी आत्माओं का एकत्व प्रतिपादित करने वाले श्रुतिवाक्य जीवात्मा तथा परमात्मा के अखण्डतापरक भी नहीं हो सकते हैं, क्योंकि बन्ध-मोक्ष की अनुपपत्तिरूप प्रबल युक्तियों के आधार पर (तत्-तत् पुरुषों के लिये पृथक-पृथक् बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था न बन पाने के कारण) जीवात्मा-परमात्मा का भेद प्रतिपादित करने वाली सैकड़ों प्रबल श्रुतियों से अखण्डतापरक श्रुतियों का विरोध होगा। किञ्च **'अधिकं तु भेददर्शनात्'** (ब्र. सू. २/१/२२) अर्थात् 'नित्य, शुद्ध, बुद्ध तथा मुक्त स्वभाव वाला होने से ब्रह्म जीव से अधिक है' क्योंकि श्रुतिवाक्यों से जीव और ब्रह्म का भेद निर्दिष्ट है, तथा **'अंशो नानाव्यपदेशात्'** (ब्र. सू. २/३/४३) अर्थात् 'भेदप्रतिपादक श्रुतिवाक्यों के द्वारा जीव में ईश्वरांशत्व सिद्ध होता है'—इन सूत्रों के द्वारा **'ब्रह्म'** के विवेचन को आरम्भ करके वेदान्तदर्शन के आगे के सभी सूत्रों के द्वारा अतिस्फुटता के साथ आत्मतत्त्व का भेद प्रतिपादित हुआ है। इससे श्रुतिवाक्यों का अर्थ भी जीवात्माओं के भेद-प्रतिपादन में ही पर्यवसित होता है। किञ्च सभी आत्माओं में आत्मैक्यज्ञान होने मात्र से संसाराभिमान (अनात्म से आत्माभिमान)

आत्माभिमान) की निवृत्ति (नाश) सम्भव नहीं है क्योंकि एक ही आत्मा में अवच्छेदभेद से संसार और असंसाररूप दोनों स्थितियाँ उसी प्रकार सम्भव हो सकती हैं जिस प्रकार एक ही विभु आकाश में शब्द और उसका अभाव (शब्दाभाव) दोनों रह सकते हैं। संसारोच्छेद के लिये विवेकज्ञान अपेक्षित होने पर उसी से अनात्म में होने वाली आत्मत्वाभिमान की निवृत्ति होती है। न कि सभी आत्माओं का ऐक्यज्ञान दृष्टद्वार से मोक्ष का हेतु बनता है। और न ही आत्मैक्य-ज्ञान से सर्वात्मरूप ब्रह्म की उपासना की जा सकती है, क्योंकि ऐसा मानने पर साक्षात् कुक्कुरत्वादि दृष्टि से ब्रह्म की निन्दा अर्थात् अपकर्ष का ही प्रसंग आयेगा। और जिस प्रकार जड पदार्थों में अविभागलक्षणक अभेद के द्वारा उपासना कल्पित होती है, उसी प्रकार चेतन पदार्थों में भी अविभागलक्षणक अभेद के द्वारा उपासना का औचित्य बन जायेगा। अतः प्रयोजनाभाव के कारण यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्माओं के अखण्डता- प्रतिपादन में श्रुति-स्मृतियों का तात्पर्य निहित नहीं है। ब्रह्ममीमांसा (वेदान्तसूत्र) पर टीका करते हुए मैंने (विज्ञानभिक्षु ने) अपने को आधुनिकं वेदान्ती कहलाने वालों के मत का विस्तारपूर्वक खण्डन किया है।

वेदान्तबिन्दु से श्रुति-स्मृति-वाक्यों में आत्मतत्त्व की एकवाक्यता स्थापित करने के पश्चात् योगवार्त्तिककार योगशास्त्र से उसकी अन्तःसंगति बैठाते हैं–

योगवार्तिकम्

तदेवं विशेषाविशेषेत्यादिसूत्रगणेन द्रष्टुः पुरुषस्य स्वत एव दर्शनशक्तेश्च बुद्धेः कारणरूपेण नित्यत्वे सिद्धे तयोः संयोगः प्रवाहरूपेणानादिरिति शास्त्रेषु व्याख्यानमुपपन्न-मित्याह–अतश्चेति। विनाशित्वेऽपि भावरूपाणां गुणानामनादित्वं न घटेत ततश्च तत्कार्य-बुद्धेः ततश्च बुद्धिपुरुषसंयोगस्येति भावः। बुद्धिपुरुषसंयोगस्य प्रवाहरूपेणानादित्वे पञ्च-शिखाचार्यसंवादमाह–तथा चोक्तमिति। धर्मिणां गुणानां पुरुषैः सहानादिसंयोगादिति तु गुणनित्यत्वं विना धर्मसामान्यानां बुद्ध्यादीनां संयोगानादित्वं न घटत इति प्रतिपादनाय प्रदर्शितम्। तदेवं प्रकाशप्रवृत्तीत्यादिसूत्रैः पञ्चविंशतितत्त्वान्यत्र संक्षेपतो विवेकेनोक्तानि। विस्तरस्तु सांख्यदर्शने द्रष्टव्यः, प्रकृतिपुरुषविवेकस्यैव मुख्यतस्तत्र प्रतिपादनात् अत्र योगस्यैवेति॥२२॥

इस प्रकार '**विशेषाविशेष...**' इत्यादि सूत्रसमूह (२/१९,२०,२१) के द्वारा द्रष्टा-पुरुष की स्वतः तथा दर्शनशक्तिरूप बुद्धि की कारणरूप से नित्यता (नित्य कारण में कार्य की सूक्ष्मत्वेन अवस्थितिरूप नित्यता) सिद्ध हो जाने पर दृक्शक्ति और दर्शनशक्ति दोनों का 'संयोग' प्रवाहरूप से अनादि है–ऐसा शास्त्रों में प्रतिपादित व्याख्यान भी युक्तियुक्त ठहरता है। अतः भाष्यकार बतलाते हैं–'**अतश्चेति**' बुद्ध्यादि

भावरूप (कार्यरूप) गुणों के विनाशी होने पर उनका अनादित्व नहीं घटेगा। इस प्रक्रिया से जब कार्य-बुद्धि हो तब बुद्धि-पुरुष का संयोग होगा। अतः दृक्शक्ति और दर्शनशक्ति के संयोग को प्रवाहरूप से अनादि कहा गया है। बुद्धि-पुरुष-संयोग की प्रवाहरूपेण अनादिता में भाष्यकार पञ्चशिखाचार्य के वचन को उठाते हैं–'**तथा चोक्तमिति**' धर्मिरूप गुणों का पुरुषों के साथ अनादि संयोग होने के कारण गुण की नित्यता सिद्ध होती है, क्योंकि गुण के नित्य हुए विना धर्मरूप बुद्ध्यादि के साथ पुरुष-संयोग की अनादिता घटित नहीं हो सकती है, यह प्रतिपादित करने के लिये बुद्धि-पुरुष-संयोग को प्रवाहरूपेण अनादि बतलाया गया है। इस प्रकार प्रकाश-प्रवृत्तीत्यादि (**प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्** २/१८-२०) सूत्रों के द्वारा पंचविंशति तत्त्वों को यहाँ संक्षेपतः भेदपुरस्सर प्रतिपादित किया गया है। सांख्यदर्शन में तत्त्वों के स्वरूप का विस्तार अवलोकनीय है, क्योंकि वहाँ प्रकृति-पुरुष का अन्तर ही मुख्यरूप से प्रतिपादित हुआ है। इस योगग्रन्थ में तो (वृत्तिनिरोधरूप) योग का विश्लेषण ही मुख्य है॥२२॥

सम्प्रति, भाष्यकार अग्रिम सूत्र को अवतरित करते हैं–

व्यासभाष्यम्

संयोगस्वरूपाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते–

संयोग का स्वरूप बतलाने की इच्छा से यह सूत्र प्रवृत्त हो रहा है–

योगसूत्रम्

स्वस्वामिशक्त्योः [1]स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः॥२३॥

स्वशक्ति (बुद्धि) और स्वामिशक्ति (पुरुष) के स्वरूप की संलक्ष्यता (ज्ञान) के लिये दोनों का संयोग होता है॥२३॥

व्यासभाष्यम्

पुरुषः स्वामी दृश्येन [2]स्वेन दर्शनार्थं संयुक्तः। तस्मात्संयोगाद् दृश्यस्योपलब्धिर्या स भोगः, या तु द्रष्टुः स्वरूपोपलब्धिः सोऽपवर्गः। दर्शनकार्यावसानः संयोग इति दर्शनं वियोगस्य कारणमुक्तम्। दर्शनमदर्शनस्य प्रतिद्वन्द्वीत्यदर्शनं संयोगनिमित्तमुक्तम्। नात्र दर्शनं मोक्षकारणम्, अदर्शनाभावादेव [3]बन्धाभावः स

---

1. स्वरूपोपलब्धिः, स्वरूपोपलब्धेः हेतुः–इति पाठान्तरे।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र–स्वेन उपलभ्यते, द–स्वेन नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र–बन्ध०, झ त–सम्बन्ध०।

मोक्ष इति। दर्शनस्य भावे बन्धकारणस्या[1]दर्शनस्य नाश इत्यतो [2]दर्शनज्ञानं कैवल्यकारणमुक्तम्। किं चेदमदर्शनं नाम? १- किं गुणानामधिकारः? २- आहोस्विद् दृशिरूपस्य स्वामिनो दर्शितविषयस्य प्रधानचित्तस्यानुत्पादः स्वस्मिन्दृश्ये [3]विद्यमाने दर्शनाभावः? ३- किमर्थवत्ता गुणानाम्? ४- अथाविद्या स्वचित्तेन सह निरुद्धा स्वचित्तस्योत्पत्तिबीजम्? ५- किं स्थितिसंस्कारक्षये गतिसंस्काराभिव्यक्तिः? यत्रेदमुक्तम्—प्रधानं स्थित्यैव वर्तमानं विकाराकरणादप्रधानं स्यात्, तथा गत्यैव वर्तमानं विकारनित्यत्वादप्रधानं स्यात्। उभयथा चास्य प्रवृत्तिः[4] प्रधानव्यवहारं लभते, नान्यथा। कारणान्तरेष्वपि कल्पितेष्व[5]पि समानश्चर्चः। ६- दर्शनशक्तिरेवादर्शनमित्येके; प्रधानस्यात्मख्यापनार्था प्रवृत्तिरिति श्रुतेः। सर्वबोध्यबोधसमर्थः प्राक्प्रवृत्तेः पुरुषो न पश्यति, सर्वकार्यकरणसमर्थं दृश्यं तदा न दृश्यत इति। ७- उभयस्याप्यदर्शनं धर्म इत्येके। तत्रेदं दृश्यस्य स्वात्मभूतमपि पुरुष[6]प्रत्ययापेक्षं दर्शनं दृश्यधर्मत्वेन भवति, तथा पुरुषस्यानात्मभूतमपि दृश्यप्रत्ययापेक्षं पुरुषधर्मत्वेने[7]व [8]दर्शनमवभासते। ८- [9]दर्शनज्ञानमेवादर्शनमिति केचिदभिदधति। इत्येते शास्त्रगता विकल्पाः। तत्र विकल्पबहुत्वमेतत्[10]सर्वपुरुषाणां [11]गुणानां संयोगे साधारण[12]विषयम्॥२३॥

'स्वामी' पुरुष 'स्व' दृश्य के साथ दर्शन के लिये संयुक्त होता है। इसलिये संयोग से जो दृश्य का ज्ञान होता है, उसे 'भोग' कहते हैं। जो द्रष्टा के

---

1. क ख ग घ च छ ज त द ध न प फ ब भ म य र—अदर्शनस्य, झ—अदर्शनम्, थ—अज्ञानादिदर्शनस्य।
2. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ य—दर्शनम्, घ प फ म र—दर्शन०।
3. क ख ग च छ ज त थ द ध न ब भ य—विद्यमाने यः, घ प फ म र—विद्यमाने, झ—विद्यमानयोः।
4. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ—वृत्तिः, घ प फ म य र—प्रवृत्तिः।
5. क ग छ फ—एव, ख घ च ज झ त थ ध न प ब भ य र—एषः, द—एषु, म—अपि।
6. क ग घ च छ झ थ द ध न प फ ब भ म य र—प्रत्ययापेक्षं दर्शनम्, ख ज त—प्रत्ययमपेक्ष्यादर्शनम्।
7. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ भ म य र—इव, छ थ ब य—एव।
8. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ य—अदर्शनं, घ प फ म र—दर्शनम्।
9. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ—दर्शनम्, घ प फ म य र—दर्शन०।
10. क ख ग ब—सर्वपुरुषाणां गुणानां संयोगे साधारणविषयम् २/२४ सूत्रस्य अवतरणिकांशः, घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—सर्व....विषयम् २/२३ सूत्रस्य टीका।
11. क ग च छ ज झ त थ द ध न भ म र—गुणानां संयोगे, ख घ प फ ब र—गुणसंयोगे, य—गुणासंयोगे।
12. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—विषयम्, ब—विषयः।

स्वरूप का ज्ञान होता है, उसे 'अपवर्ग' कहते हैं। संयोग (इन दोनों के) ज्ञानरूपी कार्य में पर्यवसित होता है। इसलिये ज्ञान (विवेकज्ञान) को बुद्धि तथा पुरुष के वियोग का कारण कहा गया है। दर्शन (ज्ञान) अदर्शन (अज्ञान) का प्रतिस्पर्धी है, इसलिये अज्ञानं (बुद्धि-पुरुष के) संयोग का कारण कहा गया है। किन्तु यहाँ (सांख्ययोगशास्त्र में) ज्ञान को मोक्ष का कारण नहीं मानते हैं, प्रत्युत (विवेकज्ञानोदय के पश्चात्) अज्ञानाभाव से ही होने वाला जो संयोगाभाव (बन्धनाभाव) है, वही मोक्ष है। ज्ञान होने पर संयोग के कारणभूत अज्ञान का नाश हो जाता है। इसलिये दर्शन अर्थात् ज्ञान को मोक्ष का कारण कहा गया है। अब प्रश्न यह है कि 'अदर्शन' क्या है? १-क्या सत्त्वादि गुणों का कार्य (कार्यारम्भण-सामर्थ्य) 'अदर्शन' है? २-अथवा द्रष्टारूप पुरुष को विषय का ज्ञान कराने वाले (विवेकख्याति-विशिष्ट) चित्त का उत्पन्न न हो पाना 'अदर्शन' है। अर्थात् दृश्यरूप बुद्धि के विद्यमान रहने पर भी 'दर्शनाभाव' रहना अदर्शन है? ३-क्या सत्त्वादि गुणों की भोगापवर्गरूप अर्थवत्ता ही 'अदर्शन' है? ४-अथवा अपने चित्त के साथ-साथ निरुद्ध हुए चित्त की पुनरभिव्यक्ति का बीज ही 'अदर्शन' है? ५-क्या 'स्थितिसंस्कार' के क्षीण होने पर 'गतिसंस्कार' का अभिव्यक्त होना 'अदर्शन' है? इस विषय में यह कहा गया है—यदि प्रकृति सर्वदा स्थिति रूप से ही वर्तमान रहे, तो विकारों की अभिव्यक्ति न करने के कारण अप्रधान अर्थात् गौण हो जायेगी। इसी प्रकार यदि प्रकृति सर्वदा गतिरूप से ही अवस्थित रहे, तो विकारों के नित्य हो जाने के कारण (भी) वह अप्रधान अर्थात् गौण हो जायेगी। प्रकृति का गति और स्थिति दोनों रूपों से रहना ही उसे 'प्रधान' नाम से व्यवहृत कराता है, न कि किसी दूसरे रूप (कारण) से। अन्य कारणों के कल्पित किये जाने पर भी यही बात रहेगी। ६-कुछ लोगों का कहना है कि ज्ञानशक्ति ही अदर्शन है, 'प्रकृति की प्रवृत्ति अपने को प्रकाशित करने के लिये होती है'—इस श्रुति के आधार पर। सम्पूर्ण पदार्थों को जानने में समर्थ पुरुष, प्रधान की प्रवृत्ति के पूर्व दृश्य को नहीं देखता है और सब कार्य करने में समर्थ दृश्य उस समय तक (पुरुष के द्वारा) नहीं देखा जाता है। ७-एक सम्प्रदाय ऐसा मानता है कि अदर्शन दोनों का धर्म है। उक्त दोनों अदर्शनों में जो पहले प्रकार का अदर्शन है, वह जड़भूत दृश्य का अपना स्वरूप होते हुए भी चेतनरूप पुरुषच्छाया की अपेक्षा से दर्शन दृश्य के धर्मरूप से प्रतिभासित होता है। इसी प्रकार दूसरे प्रकार का जो अदर्शन है, वह यद्यपि पुरुष का अपना स्वरूप नहीं है, तो भी बुद्धिरूप दृश्य की

अपेक्षा से पुरुष को अपने धर्म की भाँति प्रतीत होता है। ८-विषयों का दर्शन अर्थात् ज्ञान ही अदर्शन है-ऐसा कुछ लोग कहते हैं। इस प्रकार ('अदर्शन' के निरूपण के प्रसङ्ग में) ये आठ प्रकार के विकल्प शास्त्रों में कहे गये हैं। इनमें से बहुत से विकल्प (चौथे को छोड़कर) सभी पुरुषों के समान रूप से गुणों के साथ होने वाले संयोग के विषय में हैं॥२३॥

तत्त्ववैशारदी

तदेवं तादर्थ्ये संयोगकारणे उक्ते प्रासङ्गिके प्रधाननित्यत्वे [1]संयोगसामान्यनित्यत्वे हेतौ चोक्ते संयोगस्य यत्स्वरूपमसाधारणो विशेष इति यावत्तदभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते—स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोग इति। यतो दृश्यं तदर्थमतस्तज्जनितमुपकारं भजमानः पुरुषस्तस्य स्वामी भवति। भवति च तद्[2] दृश्यमस्य स्वम्। स चानयोः संयोगः शक्तिमात्रेण व्यवस्थितस्तत्स्वरूपोपलब्धिहेतुः। तदेतद्भाष्यमवद्योतयति—पुरुष इति। पुरुषः स्वामी योग्यतामात्रेण दृश्येन स्वेन योग्यतयैव दर्शनार्थं संयुक्तः। शेषं सुगमम्। स्यादेतत्—द्रष्टुः स्वरूपोपलब्धिरपवृज्यतेऽनेनेत्यपवर्ग उक्तः। न च मोक्षः साधनवान्, तथा सत्ययं मोक्षत्वादेव च्यवेतेत्यत आह—[3]दर्शनकार्यावसान इति। दर्शनकार्यावसानो बुद्धिविशेषेण सह पुरुषविशेषस्य संयोग इति दर्शनं वियोगकारणमुक्तम्। कथं पुनर्दर्शनकार्यावसानत्वं संयोगस्येत्यत आह—दर्शनमिति। ततः किमित्यत आह—अदर्शनमिति। अदर्शनमविद्या संयोगनिमित्तमित्युक्तम्। उक्तमर्थं स्पष्टयति—नात्रेति। ननु दर्शनम[4]दर्शनं [5]विरोधि विनिवर्तयतु[6], बन्धस्य तु कुतो निवृत्तिरित्यत आह—दर्शनस्येति। [7]बुद्ध्यादिविविक्तस्यात्मनः स्वरूपावस्थानं मोक्ष उक्तः, न तस्य साधनं दर्शनमपि त्वदर्शननिवृत्तिरित्यर्थः।

इस प्रकार पुरुष के भोगापवर्ग की निष्पत्ति के लिये प्रकृति-पुरुष के संयोग को हेतु तथा बुद्धि-पुरुष के प्रासङ्गिक संयोगसामान्य की नित्यता में प्रधान की नित्यता को हेतु बताने के पश्चात् द्रष्टा-दृश्य-संयोग का जो असाधारण स्वरूपविशेष है उसे कहने की इच्छा से पतञ्जलि प्रकृत सूत्र को प्रवृत्त करते हैं—'स्वेति'। चूँकि दृश्य का स्वरूप पुरुष के भोगापवर्गरूप प्रयोजन के लिये है। अतः दृश्य से उत्पन्न हुए उपकार का सेवन करने वाला पुरुष दृश्य का 'स्वामी' होता है और वह दृश्य पुरुष

---

1. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न—संयोगसामान्यनित्यत्वे उपलभ्यते, ज—संयोग...नोपलभ्यते।
2. क ख घ च छ ज झ त न—तत् उपलभ्यते, ग थ द ध—तत् नोपलभ्यते।
3. थ द ध न—दर्शनकार्यावसान इति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त—दर्शन...नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न—अदर्शनम् उपलभ्यते, झ—अदर्शनं नोपलभ्यते
5. क ग द ध—विरोधिनम्, ख घ च च ज झ त थ न—विरोधि।
6. क ग घ च छ ज झ त—निवर्तयतु, ख थ द ध न—विनिवर्तयतु।
7. क ख ग घ च छ त थ द ध न—बुद्ध्यादि०, ज झ—बुद्धया हि।

का 'स्व' होता है। इस प्रकार स्वस्वामिशक्तिरूप से व्यवस्थित इन दोनों का संयोग दोनों के यर्थाथ स्वरूप की उपलब्धि=ज्ञान का कारण होता है। इसी तथ्य को भाष्यकार प्रदर्शित करते हैं–'पुरुष इति।' पुरुष स्वामित्वरूप योग्यतामात्र से स्वत्वरूप योग्यता वाले दृश्य के साथ दर्शन के लिये संयुक्त होता है। शेष भाष्य सुगम है।

शङ्का–'**अपवृज्यतेऽनेनेत्यपवर्गः**'–इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'जिससे छुटकारा प्राप्त होता है उसे '**अपवर्ग**' कहते हैं', यही द्रष्टा की '**स्वरूपोपलब्धि**' है। यह मोक्ष साधनवान् अर्थात् उपाय द्वारा सिद्ध होने योग्य नहीं है, अन्यथा (मोक्ष को साधनवान् मानने पर) पुरुष की भी मोक्ष से च्युति होने लगेगी। (अतः द्रष्टा-दृश्य-संयोग को स्वरूपो-पलब्धि का हेतु मानना न्यायसंगत नहीं है)।

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**दर्शनकार्यावसान इति**।' '**दर्शनकार्यावसान**' अर्थात् दर्शनरूप कार्य के न होने तक ही बुद्धिविशेष के साथ पुरुषविशेष का संयोग रहता है। अतः विवेकज्ञान (दर्शन) को कथित संयोग का '**वियोगकारण**' कहा गया है।

शङ्का–दर्शनरूप कार्य के निष्पन्न होने पर 'संयोग' की समाप्ति हो जाती है, ऐसा क्यों कहा गया है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**दर्शनमिति**।' '**दर्शन**' अर्थात् विवेकज्ञान '**अदर्शन**' अर्थात् अज्ञान का विरोधी है। इसलिये विवेकज्ञानोदय के पश्चात् जैसे अज्ञान नष्ट हो जाता है, वैसे ही अज्ञानमूलक '**संयोग**' भी नष्ट हो जाता है।

शङ्का-इस कथन से क्या सिद्ध होता है?

समाधान–इसके स्पष्टीकरण के लिये भाष्यकार कहते हैं–'**अदर्शनमिति**।' इससे यह सिद्ध होता है कि '**अदर्शन**' अर्थात् अविद्या उक्त 'संयोग' का '**निमित्तकारण**' है। भाष्यकार इसी कथित तथ्य को स्पष्ट करते हैं–'**नात्रेति**।' सांख्ययोगमत में विवेकज्ञान मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है। क्योंकि विवेकज्ञान द्वारा अज्ञानरूप अविवेक का अभाव होने से ही जो जन्म-मरणरूप '**बन्ध**' का अभाव होता है, उसे ही '**मोक्ष**' कहते हैं।

शङ्का–'**विवेकज्ञान**' अपने विरोधी '**अदर्शन**' का नाशक हो, किन्तु इससे '**बन्धनिवृत्ति**' (मुक्ति) कैसे होती है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**दर्शनस्येति**।' बुद्ध्यादि धर्मों से विविक्त (पृथक्) आत्मा के '**स्वरूपावस्थान**' को '**मोक्ष**' कहते हैं। इस '**स्वरूपावस्थानरूप**' मोक्ष का साधन '**दर्शन**' (विवेकज्ञान) नहीं है, अपितु अदर्शन-निवृत्ति (ही) दर्शन का प्रयोजन है। अर्थात् अदर्शन-निवृत्ति का साधन '**दर्शन**' है।

बालप्रिया–

'न तस्य साधनं दर्शनम्'–तात्पर्य यह है–विवेकज्ञान अज्ञान की निवृत्ति द्वारा मोक्ष का साधन है, साक्षात् नहीं। जिस प्रकार मीमांसा में याग अपूर्वोत्पत्ति द्वारा स्वर्ग का साधन है, साक्षात् नहीं। इस प्रकार मोक्ष को साधनवान् मानने पर मोक्ष के अनित्य होने की उद्भावित असङ्गति निराकृत हो जाती है।

प्रकृति और पुरुष दोनों के नित्य एवं व्यापक होने से उनका संयोग सर्वदा बना रहता है। अतः सर्वदा बन्धरूप अवस्था ही बनी रहेगी, तो मोक्ष की चर्चा कैसी? इस शंका के निवारणार्थ 'संयोग' के विभिन्न पहलुओं को उद्भावित कर **'संयोगविशेष'** को बन्धहेतु रूप में उपन्यस्त किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

असाधारणं संयोगहेतुमदर्शनविशेषं ग्रहीतुमदर्शनमात्रं विकल्पयति– किं चेदमिति। पर्युदासं गृहीत्वाह–किं गुणानामधिकार इति। अधिकारः कार्यारम्भणसामर्थ्यम्। ततो हि संयोगःसंसारहेतुरुपजायते।

प्रकृति-पुरुष-संयोग' के हेतुभूत असाधारण अदर्शनविशेष का ज्ञान कराने के लिये भाष्यकार अदर्शनमात्र के विभिन्न विकल्पों को उपन्यस्त करते हैं–**'किं चेदमिति।'** **'दर्शन'** से जिसका नाश होता है, उस **'अदर्शन'** का स्वरूप क्या है–

प्रथमविकल्प–भाष्यकार **'पर्युदास'** का ग्रहण करके अदर्शन के स्वरूप के विषय में प्रथम विकल्प को प्रस्तुत करते हैं– **'किं गुणानामधिकार इति।'** **'अधिकार'** शब्द का अर्थ है–कार्यारम्भणसामर्थ्य अर्थात् महदादिविकारजननशक्ति। इससे संसार का हेतुभूत प्रकृति-पुरुष-संयोग उत्पन्न होता है।

बालप्रिया–

'पर्युदासं'–'अदर्शन' का प्रसज्यप्रतिषेधपरक अर्थ होता है–**'दर्शनाभाव'** और पर्युदासपरक अर्थ होता है–**'दर्शनविरोधी'**। यहाँ 'अदर्शन' के स्वरूप का बोधक प्रथम विकल्प पर्युदासघटित है। पर्युदासघटित 'अदर्शन' शब्द के दर्शनविरोधिरूप भाव-पदार्थ होने पर उसमें गुणों की कार्यारम्भणशक्ति सम्भावित है, किन्तु प्रसज्यप्रति-षेधघटित **'दर्शनाभाव'** रूप अभाव पदार्थ में यह शक्ति निहित नहीं हो सकती है।

तत्त्ववैशारदी

प्रसज्यप्रतिषेधं गृहीत्वा द्वितीयं विकल्पमाह–आहोस्विदिति। दर्शितो विषयः शब्दादिः सत्त्वपुरुषान्यता च येन चित्तेन तस्य तद्विषयस्यानुत्पादः। एतदेव स्फोरयति–[1]स्वस्मिन्निति।

---

1. थ द ध–स्वस्मिन्निति' उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–स्वस्मिन्निति नोपलभ्यते।

स्वस्मिन्दृश्ये शब्दादौ सत्त्वपुरुषान्यतायां चेति। तावदेव प्रधानं विचेष्टते न यावद् [1]द्विविधं दर्शनमभिनिर्वर्तयति। निष्पादितोभय[2]दर्शनं तु विनिवर्तत इति।

द्वितीय विकल्प–प्रसज्यप्रतिषेध का ग्रहण करके भाष्यकार (अदर्शन के स्वरूप के विषय में) द्वितीय विकल्प को उठाते हैं–**'आहोस्विदिति'** जिस चित्त के द्वारा (पुरुष को) शब्दादि विषय का भोग तथा प्रकृति-पुरुष का भेदज्ञान कराया जाता है, ऐसे शब्दादिविषयक चित्त का जो **'अनुत्पाद'** अर्थात् अनुत्पत्ति है, क्या वही **'अदर्शन'** है? भाष्यकार इसी तथ्य को स्पष्ट करते हैं–**'स्वस्मिन्निति'** शब्दादि विषय और प्रकृति-पुरुष के भेदरूप दृश्य के विद्यमान रहने पर जो ज्ञान का अभाव है, वह भी **'अदर्शन'** कहा जा सकता है। क्योंकि तब तक प्रधान चेष्टा करता है, जब तक शब्दादि विषय तथा प्रकृति-पुरुष का भेदज्ञान निष्पन्न नहीं हो जाता है और जब ये दोनों कार्य निष्पन्न हो जाते हैं तब (तत्पुरुषीय) प्रधान निवृत्त हो जाता है। अतः उक्त कार्य की निवृत्ति से पूर्व जो **'अज्ञान'** है, क्या वही **'अदर्शन'** है।

तत्त्ववैशारदी

पर्युदास एव तृतीयं विकल्पमाह–किमर्थवत्ता गुणानामिति। सत्कार्यवादसिद्धौ हि भाविनावपि भोगापवर्गार्थावव्यपदेश्यतया स्त इत्यर्थः।

तृतीय विकल्प–भाष्यकार 'अदर्शन' के पर्युदासघटित तृतीय विकल्प को बताते हैं–**'किमर्थवत्ता गुणानामिति।'** सत्कार्यवाद के अनुसार गुणों में भविष्यत्कालिक भोगापवर्ग भी अव्यपदेश्य (भावी) रूप से विद्यमान रहते हैं। क्या ऐसे भविष्यत्कालिक भोगापवर्ग का ज्ञान न होना ही क्या **'अदर्शन'** है।

बालप्रिया–

'गुणानामधिकारः/गुणानामर्थवत्ता'–प्रथम और तृतीय विकल्प में अन्तर यह है–प्रथम विकल्प में गुणों के **'कार्यारम्भणसामर्थ्य'** को **'अदर्शन'** कहा गया है और तृतीय विकल्प में गुणों की **'अनागतावस्थाक भोगापवर्गार्थवत्ता'** को **'अदर्शन'** बतलाया गया है।

तत्त्ववैशारदी

पर्युदास एव चतुर्थं विकल्पमाह–अथाविद्येति। प्रतिसर्गकाले स्वचित्तेन सह निरुद्धा प्रधानसाम्यमागता वासनारूपेण [3]स्वचित्तोत्पत्तिबीजम्। तेन दर्शनादन्याऽविद्यावासनैवादर्शनमुक्ता।

---

1. क ख ग घ च ज त थ द ध न–द्विविधं, छ झ–विविधम्।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न–दर्शनं, द–दशनि।
3. क ख ग घ च छ ज झ त द न–स्व०, थ ध–स्वम्।

चतुर्थ विकल्प–'अदर्शन' के पर्युदासघटित चतुर्थ विकल्प को भाष्यकार प्रस्तुत करते हैं–'अथाऽविद्येति' प्रलयकाल में स्वचित्त के साथ 'निरुद्ध' अर्थात् प्रधान में साम्य (लय) को प्राप्त हुई अविद्या वासनारूप से अपने चित्त की पुनरुत्पत्ति का बीज अर्थात् हेतु होती है। इस विकल्प में दर्शन से भिन्न 'अविद्याजन्य वासना' को ही 'अदर्शन' कहा गया है। क्या यही 'अविद्या' पदवाच्य 'अदर्शन' है?

बालप्रिया–

'चित्तस्योत्पत्तिबीजम्'–इस विकल्प का स्पष्टीकरण यह है–प्रलयकाल में अपने आश्रयभूत चित्त के साथ प्रधान अर्थात् प्रकृति में साम्य अर्थात् तिरोभाव को प्राप्त होती हुई भी सृष्टिकाल में स्वाश्रयभूता चित्त की पुनरुत्पत्ति की बीजभूता जो विपर्ययज्ञानवासना है, क्या वही 'अदर्शन' है? आगे चलकर 'अदर्शन' का यही पक्ष (विकल्प) सिद्धान्त रूप से प्रतिष्ठापित होगा।

तत्त्ववैशारदी

पर्युदास एव पञ्चमं विकल्पमाह–[1]किं स्थितीति। किं स्थितिसंस्कारस्य प्रधानवर्तिनः साम्यपरिणामपरम्परावाहिनः क्षये, गतिः=महदादिविकारारम्भस्तद्धेतुः संस्कारः प्रधानस्य गतिसंस्कारस्तस्याभिव्यक्तिः कार्योन्मुखत्वम्। तदुभयसंस्कारसद्भावे मतान्तरानुमतिमाह–यत्रेदमुक्तमिति। ऐकान्तिकत्वं व्यासेधद्भिः, प्रधीयते जन्यते विकारजातमनेनेति प्रधानम्। तच्चेत्स्थित्यैव वर्तेत न कदाचिद्गत्या ततो विकाराकरणान्न प्रधीयते तेन किञ्चिदित्यप्रधानं स्यात्। अथ गत्यैव वर्तेत न कदाचिदपि स्थित्या, तत्राह–तथा गत्यैवेति। क्वचित्पाठः स्थित्यै गत्यै इति। [2]तादर्थ्ये चतुर्थी, एवकारश्च द्रष्टव्यः।

पञ्चम विकल्प–अदर्शन का पर्युदासघटित अर्थ करते हुए ही भाष्यकार पञ्चम विकल्प को उठाते हैं–'किं स्थितीति' 'स्थितिसंस्कार'=प्रधानवर्ती (अव्यक्तनिष्ठ) साम्य-परिणाम के परम्पराप्रवाह का क्षय होने पर जो 'गतिसंस्कार'=गति अर्थात् महदादि विकार के आरम्भ के हेतुभूत संस्कार की 'अभिव्यक्ति' रूप कार्योन्मुखता है, क्या उसे 'अदर्शन' कहते हैं? संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'क्या प्रधान की कार्य-प्रवहणशीलता को 'अदर्शन' कहते हैं? प्रधान के इन दो प्रकार के संस्कारों के सद्भाव में भाष्यकार पूर्वाचार्यों की सम्मति प्रदर्शित करते हैं–'यत्रेदमुक्तमिति' एकान्तवाद का खण्डन करने वाले सांख्याचार्यों के द्वारा यह वचन कहा गया है। पञ्चशिखाचार्य के वचन का अर्थ करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–'प्रधीयते जन्यते विकारजात-मनेनेति प्रधानम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिससे (महदादि) कार्यसमूह उत्पन्न होता है, उसे 'प्रधान' कहते हैं। यदि 'प्रधान' सर्वदा 'स्थितिसंस्कार' से ही विद्यमान रहे, कभी

---

1. थ द ध–किं स्थितीति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–किं स्थितीति नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न–तादर्थ्ये उपलभ्यते, थ–तादर्थ्ये नोपलभ्यते।

भी गतिरूप से (गतिसंस्कार से) उपलब्ध न हो सके तो (ऐसी स्थिति में) महदादि कार्यों का कारण बनकर उन्हें अभिव्यक्त न कर पाने से 'प्रधान' का प्रधानत्व व्याहत होगा। फलतः उसे 'अप्रधान' कहना पड़ेगा। यदि 'प्रकृति' सर्वदा 'गतिसंस्कार' से ही उपलब्ध मानी जाय, कभी भी वह 'स्थितिसंस्कार' से न रहे तो इस विकल्प के विषय में भाष्यकार क़हते हैं–'तथा गत्यैवेति।' पाठान्तर को ध्यान में रखते हुए तत्त्ववैशारदीकार का वक्तव्य है–कहीं-कहीं 'स्थित्या गत्या' के स्थान पर 'स्थित्यै गत्यै' ऐसा पाठभेद भी उपलब्ध होता है। इस पाठ में तादर्थ्य ('के लिये' अर्थ) में चतुर्थी है। और 'गत्यैव स्थित्यैव' में एवकार से भी यही अभिप्राय अभिव्यक्त होता है।

बालप्रिया–

'ऐकान्तिकत्वं व्यासेधद्भिः'–तात्पर्य यह है–स्थितिसंस्कार से ही प्रधान रहे, गतिसंस्कार से नहीं, अथवा गतिसंस्कार से ही प्रधान रहे, स्थितिसंस्कार से नहीं–इन दो विकल्पों (पक्षों) में से किसी एक विकल्प को मानने का निराकरण करते हुए पञ्चशिखाचार्य द्वारा उक्त वचन कहा गया है।

'तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या'–इस वार्तिक के अनुसार 'उसके लिये' अर्थ में चतुर्थी विभक्ति विहित है। जैसे **'मुक्तये हरिं भजति'**–में **'मुक्तये'** पद में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग **'तादर्थ्य'** अर्थ में विवक्षित है।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार उक्त विकल्प की व्याख्या करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

स्थित्यै चेन्न वर्तेत न क्वचिद्विकारो विनश्येत्। तथा च भावस्य सतोऽविनाशिनो नोत्पत्तिरपीति विकारत्वादेव च्यवेत। एवं च न प्रधीयतेऽत्र किञ्चिदित्यप्रधानं स्यात्। तदुभयथा स्थित्या गत्या चास्य [1]प्रवृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते नान्यथैकान्ताभ्युपगमे। न केवलं प्रधाने, कारणान्तरेष्वपि परब्रह्मतन्मायापरमाण्वादिषु कल्पितेषु समानश्चर्चो विचारः। तान्यपि हि स्थित्यैव वर्तमानानि विकाराकरणादकारणानि स्युः, गत्यैव वर्तमानानि विकारनित्यत्वाद- कारणानि स्युरिति च।

यदि 'प्रधान' सदा 'गति' रूप से ही रहे, कभी भी 'स्थिति' रूप से न रहे तो महदादि कार्य (विकार) का कभी नाश न हो पायेगा। ऐसी स्थिति में अविनाशी सत्पदार्थ (महदादि) की उत्पत्ति नहीं होगी–फलतः प्रधान का अपने महदादि कार्यत्व (विकारत्व) स्वरूप से ही अधोपतन (स्खलन) हो जायेगा। अर्थात् महदादि का विकारत्व व्याहत होगा। वे प्रकृति के कार्य नहीं कहला सकेंगे। इस प्रकार 'न प्रधीयतेऽत्र किञ्चिदिति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रधान' में किसी भी तत्त्व का लय न

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त–वृत्तिः, थ द ध न–प्रवृत्तिः।

होने से उसे 'अप्रधान' कहना पड़ेगा। (अर्थात् प्रकृति का प्रधानत्व महदादि सापेक्ष है। उक्त व्याख्या के अनुसार नित्य महदादि का 'अप्रधानत्व' सिद्ध न हो पाने के कारण तत्सापेक्ष प्रकृति का 'प्रधानत्व' भी सिद्ध न हो सकेगा–यह प्रधान में मात्र **'गतिसंस्कार'** की परिकल्पना से उद्भावित दोष है)। अतः जब **'स्थिति'** और **'गति'** (सम और विषम) रूप दोनों प्रकार से 'प्रधान' की प्रवृत्ति होती है, तभी वह 'प्रधानत्व' व्यवहार को प्राप्त होता है अर्थात् 'प्रधान' पदवाच्य होता है। प्रकृति की उभयप्रकारक प्रवृत्तियों में से किसी एक प्रवृत्ति को स्वीकार करने पर प्रधान के प्रधानत्व को क्षति पहुँचती है। जगत् के कारणवाद को लेकर 'प्रकृति' सम्बन्धी विचार योगशास्त्र में ही चर्चित नहीं हुआ है, अपितु (वेदान्त, न्यायादि शास्त्रों के) परब्रह्मनिष्ठ माया, परमाणु आदि विभिन्न कारणान्तरों के विषय में भी इस प्रश्न को लेकर समान रूप से चर्चा हुई है। (अर्थात् जगत् के मूलकारण के नित्यानित्यपक्ष का अथवा जगत् और कारण के प्रधानाप्रधानत्व का मूल्यांकन किया गया है।) यदि परमाणु आदि कारण भी सदा स्थितिरूप से ही रहेंगे तो कार्य को उत्पन्न न करने के कारण वे 'अकारण' कहे जायेंगे और यदि सदा गति रूप से ही रहेंगे तो भी कार्य के नित्य होने से वे परमाणु आदि 'अकारण' कहे जाने लगेंगे अर्थात् उनका जगत्कारणत्व ही व्याहत होगा।

बालप्रिया–

'स्थित्यैव गत्यैव'–तात्पर्य यह है कि परिणामशीला प्रकृति के स्वरूप का प्रकटीकरण दो प्रकार से होता है–**'गतिसंस्कार'** के रूप में तथा **'स्थितिसंस्कार'** के रूप में। **'संस्कार'** शब्द का अर्थ है–**'परिणाम'**। **'गतिसंस्कार'** का अपर पर्याय है–विषमपरिणाम तथा **'स्थितिसंस्कार'** का दूसरा नाम है–साम्यपरिणाम। प्रकृतिनिष्ठ परिणाम की ये दो विधाएँ काल के दो खण्डों को इंगित करती हैं। काल के वे दो खण्ड हैं–सृष्टिखण्ड तथा प्रलयखण्ड। काल का प्रत्येक खण्ड प्रकृति के एक-एक परिणाम से नियन्त्रित एवं सम्बद्ध है। 'गतिसंस्कार' से सृष्टिखण्ड तथा स्थितिसंस्कार से प्रलयखण्ड नियन्त्रित एवं सम्बद्ध है। त्रिगुण की तुल्य परिमाण में अवस्थिति **'स्थिति'** है तथा न्यूनाधिक परिमाण में अवस्थिति **'गति'** है। प्रलयावस्था में प्रकृति के तीनों गुण स्वरूपतः ही परिणत होते हैं। सत्त्वगुण का सत्त्वगुण के रूप में, रजोगुण का रजोगुण के रूप में तथा तमोगुण का तमोगुण के रूप में परिणाम होता है। प्रलयावस्थाक परिणाम में महदादि कार्य प्रकृति में लयोन्मुख होते हैं। अतः प्रकृति की एवंविधा लयस्थिति, जिसमें कार्यारम्भणसामर्थ्य सक्रिय नहीं रहता है, को प्रकृति का **'स्थितिसंस्कार'** कहते हैं। सृष्ट्यवस्थाक परिणाम के समय प्रकृति में प्रच्छन्न महदादि कार्य अभिव्यक्ति रूप गति को प्राप्त होते हैं। अतः प्रकृति की एवंविधा

गतिस्थिति, जिसमें महदादि कार्य अभिव्यक्ति वाले होते हैं, को प्रकृति' का **'गतिसंस्कार'** कहते हैं। दिवस के पश्चात् निशा तथा निशा के पश्चात् दिवस की भाँति उभयविध परिणाम में निरन्तर परिणमित होती हुई प्रकृति अपने में प्रधानत्व तथा नित्यत्व का आपादन करती हुई महदादि कार्य को 'अप्रधान' तथा 'अनित्य' सिद्ध करती है। तदर्थ सांख्यकारिका (१६) द्रष्टव्य है–

कारणमस्त्यव्यक्तम्, प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रविशेषात् ॥

तत्त्ववैशारदी

पर्युदास एव षष्ठं विकल्पमाह–दर्शनशक्तिरेवेति। यथा प्रजापतिव्रते नेक्षेतोद्यन्तमादित्यमित्यनीक्षणप्रत्यासन्नः संकल्पो गृह्यत एवमिहापि दर्शननिषेधे तत्प्रत्यासन्ना तन्मूला शक्तिरुच्यते। सा च दर्शनं भोगादिलक्षणं प्रसोतुं[1] द्रष्टारं दृश्येन योजयतीति। अत्रैव श्रुतिमाह–प्रधानस्येति।

षष्ठ विकल्प–अदर्शन के पर्युदासघटित अर्थ को लेकर भाष्यकार षष्ठ पक्ष को प्रदर्शित करते हैं–**"दर्शनशक्तिरेवेति।** जैसे प्रजापतिव्रत के प्रसंग में आई **'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्'** श्रुति द्वारा अनीक्षण ही गृहीत होता है, वैसे ही प्रस्तुत प्रसंग में 'दर्शनशक्ति' ही 'अदर्शन' शब्द से अभिहित है। और वह शक्ति भोगादिरूप दर्शन को उत्पन्न करने के लिये द्रष्टा को दृश्य के साथ संयोजित करती है। भाष्यकार इस विषय में श्रुति को प्रस्तुत करते हैं–**'प्रधानस्येति।'** अर्थात् 'प्रधान की प्रवृत्ति अपने स्वरूप का ख्यापन (ज्ञान) कराने के लिये होती है।'

राम्प्रति तत्त्ववैशारदीकार संभावित शंका के उपस्थापनपूर्वक उक्त श्रति के अर्थ को स्पष्ट करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्–[2]आत्मख्यापनार्थं प्रधानं प्रवर्तत इति श्रुतिराह, न त्वात्मदर्शनशक्तिः प्रवर्तत इत्यत आह–सर्वबोध्यबोधसमर्थ इति। प्राक्प्रवृत्तेः प्रधानस्य नात्मख्यापनमात्रं प्रवृत्तौ प्रयोजकम्, असामर्थ्ये तदयोगात्। तस्मात्सामर्थ्यं [3]प्रवृत्तेः प्रयोजकमिति श्रुत्यार्थादुक्तमित्यर्थः। दर्शनशक्तिः प्रधानाश्रयेत्यङ्गीकृत्य षष्ठः कल्पः।

शङ्का–उक्त श्रुति ने 'प्रधान आत्मख्यापन के लिये प्रवृत्त होता है'–इतना मात्र कहा है, न कि प्रधान की आत्मभूता (स्वरूपभूता) **'दर्शनशक्ति'** प्रवृत्त होती है, ऐसा कहा है?

---

1. क छ–प्रस्तोतुं, ख ग घ च ज झ त थ द ध न–प्रसोतुम्।
2. क ख घ च छ ज झ त न–आत्मख्यापनार्थं प्रधानम्, ग ध द ध–प्रधानमात्मख्यापनार्थम्।
3. क ख घ च छ ज झ त थ ध–प्रवृत्तेः, ग द न–वृत्तेः।

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**सर्वबोध्यबोधसमर्थ इति**' प्रधान की प्रवृत्ति से पूर्व आत्मख्यापनमात्र, प्रधान की प्रवृत्ति का प्रयोजक (निमित्तकारण) नहीं हो सकता है क्योंकि शक्तिहीन पदार्थ में 'प्रवृत्ति' का सामर्थ्य निहित नहीं रहता है। अतः श्रुति के द्वारा लक्षणया यही कहा गया है कि 'प्रधाननिष्ठ शक्ति ही प्रधान की प्रवृत्ति का निमित्तकारण (प्रयोजक) है।' इस प्रकार दर्शनशक्ति प्रधान के आश्रित रहती है, यह स्वीकार करके ही पष्ठ विकल्प (दर्शनशक्ति ही अदर्शन है) किया गया है।

बालप्रिया—

'**अनीक्षणप्रत्यासन्नः सङ्कल्पः**'—मीमांसा में ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य बताते समय '**अथातः प्रजापतिव्रतम्**' वाक्य द्वारा प्रकरण का आरम्भ (उपक्रम) हुआ है। ब्रह्मचारी के क्या कर्त्तव्य हैं, इसे द्योतित करने के लिये वहाँ निम्नाङ्कित वाक्य पढ़ा गया है—

'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन।
नोपरक्तं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम्॥'

यहाँ '**नेक्षेत**' इस नञ्घटित पद का '**ईक्षणाभाव**' अर्थ किया जाय अथवा '**अनीक्षणसंकल्प**' अर्थ किया जाय—विचारणीय है। यदि प्रसज्यप्रतिषेध के अनुसार '**नेक्षेत**' का 'ईक्षणाभाव' अर्थ किया जाय तो यह अर्थ ब्रह्मचारी के कर्तव्य के प्रसङ्ग में युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि यहाँ '**ईक्षणाभाव**' (नञ् का मुख्यार्थ 'अभाव') अनुष्ठेय नहीं है। अतः '**नेक्षेत**' का पर्युदासघटित '**अनीक्षणसंकल्प**' अर्थ लेने पर '**अथातः प्रजापतिव्रतम्**' तथा '**नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्**' दोनों वाक्यों में एकवाक्यता स्थापित होती है। पहले वाक्य से ब्रह्मचारी के जिस व्रत का उपक्रम हुआ है, उसी के कर्त्तव्य का विशदीकरण दूसरे वाक्य से हुआ है—ऐसी एकवाक्यता है। इस प्रकार दृष्टान्त में जिस प्रकार पर्युदासघटित '**अनीक्षणसंकल्प**' रूप मानसी क्रिया का सिद्धान्त स्वीकृत है उसी प्रकार अदर्शन के प्रकृत षष्ठ विकल्प में पुरुष को आत्मस्वरूप प्रदर्शित कराने के लिये प्रधाननिष्ठ जो '**समुत्साहशक्ति**' है, उसी को '**अदर्शन**' कहा गया है।

'**प्राक्प्रवृत्तेः प्रधानस्य नात्मख्यापनमात्रं प्रवृत्तौ प्रयोजकम्**'—तात्पर्य यह है कि जब तक प्रधान की महदादि रूप से प्रवृत्ति नहीं होती है तब तक 'प्रधान' पुरुष को अपना स्वरूपबोध नहीं करा पाता है। दूसरी ओर महदादि रूप से प्रधान का दृश्यत्व (दर्शनशक्तित्व) प्रधान की प्रवृत्ति के विना संभव नहीं है और प्रधान की प्रवृत्ति तन्निष्ठ शक्ति के विना संभव नहीं है। यह नियम है कि अशक्त की प्रवृत्ति सम्भव न होने से सशक्त ही प्रवृत्त होता है। अतः प्रवृत्ति से पूर्व प्रधाननिष्ठ निमित्तकारणभूता दर्शनशक्ति ही अदर्शन है—ऐसा यह षष्ठ विकल्प है।

तत्त्ववैशारदी

इमामेवोभयाश्रयामास्थाय सप्तमं विकल्पमाह–[1]उभयस्याप्यदर्शनमिति। उभयस्य पुरुषस्य च दृश्यस्य चादर्शनं दर्शनशक्तिधर्म इत्येके।

सप्तम विकल्प–इस दर्शनशक्ति को प्रकृति-पुरुष उभयाश्रित मानकर भाष्यकार अदर्शनगत सप्तम विकल्प करते हैं–'**उभयस्याप्यदर्शनमिति**।' कोई एक सम्प्रदाय ऐसा कहता है कि '**अदर्शन**' रूप '**दर्शनशक्ति**' प्रधान और पुरुष दोनों का धर्म है।

बालप्रिया

'**उभयस्याप्यदर्शनम्**'–तात्पर्य यह है–यद्यपि पुरुष को '**सर्वबोध्यबोधसमर्थ**' कहा जाता है तथापि असङ्ग और अपरिणामी होने से वह, प्रधान की महदाद्याकारा प्रवृत्ति से पूर्व, दृश्य का द्रष्टा बनने में असमर्थ है। यह पुरुषनिष्ठ 'अदर्शन' है। दूसरी ओर यद्यपि प्रकृति को '**सर्वकार्यकरणसमर्थ**' कहा जाता है तथापि अपने महदादि-व्यापार से पूर्व प्रकृति द्रष्टा=पुरुष का दृश्य बनने में समर्थ नहीं है। यह प्रकृतिनिष्ठ 'अदर्शन' है। अतः एक सम्प्रदायविशेष अदर्शनरूप दर्शनशक्ति को प्रधान तथा पुरुष उभयनिष्ठ मानने का पक्षपाती है।

'**अदर्शन**' के उक्त विकल्प को तत्त्ववैशारदीकार प्रश्नपूर्वक स्पष्ट करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्– मृष्यामहे दृश्यस्येति, तस्य सर्वशक्त्याश्रयत्वात्। न द्रष्टुरिति पुनर्मृष्यामः, न हि तदाधारा ज्ञानशक्तिः, तत्र ज्ञानस्यासमवायात्। अन्यथा परिणामापत्तिरित्यत आह– तत्रेदमिति। भवतु दृश्यात्मकं, तथापि तस्य जडत्वेन तद्गतशक्तिकार्यं दर्शनमपि जडमिति न शक्यं तद्धर्मत्वेन विज्ञातुम्, जडस्य स्वयमप्रकाशत्वात्। अतो दृशेरात्मनः प्रत्ययं [2]चैतन्यच्छायापत्तिमपेक्ष्य दर्शनं तद्धर्मत्वेन[3] भवति विज्ञायते, विषयेण विषयिण उपलक्षणात्। नन्वेतावतापि दृश्यधर्मत्वमस्य ज्ञानस्य भवति, न तु पुरुषधर्मत्वमपीत्यत आह–तथा पुरुषस्येति। [4]सत्यं पुरुषस्यानात्मभूतमेव तथापि दृश्यबुद्धिसत्त्वस्य यः प्रत्ययश्चैतन्यच्छाया-पत्तिस्तमपेक्ष्य पुरुषधर्मत्वेनेव, न तु पुरुषधर्मत्वेन। एतदुक्तं भवति–चैतन्यबिम्बोद्ग्राहितया बुद्धिचैतन्ययोरभेदाद् बुद्धिधर्माश्चैतन्यधर्मा इव चकासतीति।

शङ्का–'**अदर्शन**' दृश्य का धर्म है, यह बात तो हम स्वीकार कर सकते हैं, क्योंकि दृश्य सभी शक्तियों का आश्रय है। (अतः दृश्य में दर्शनशक्तिरूप अदर्शन रहे, तो

---

1. थ द ध–उभयस्याप्यदर्शनमिति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–उभयस्याप्यदर्शन-मिति नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न–चैतन्य०, ज–चैतन्यम्।
3. क ख ग घ च छ ज झ त न–तद्धर्मत्वेन, थ द ध–दृश्यधर्मत्वेन।
4. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न–सत्यं, छ–सत्त्वम्।

इसमें आश्चर्य और असंगति की बात नहीं है।) किन्तु दर्शनशक्तिरूप 'अदर्शन' को पुरुष का धर्म मानना हमें सह्य नहीं है। ज्ञानशक्ति पुरुषाश्रित नहीं है। क्योंकि पुरुष में ज्ञान का सम्बन्ध नहीं है अर्थात् पुरुष का ज्ञान के साथ आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध नहीं है (क्योंकि पुरुष तो ज्ञानस्वरूप है। शब्दादि विषय का द्रष्टृत्व पुरुष में व्यवहारतः है)। अन्यथा (ज्ञान को पुरुष का धर्म मानने पर) पुरुष को परिणामी मानना पड़ेगा?

समाधान—शंका- समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं—**'तत्रेदमिति।'** उक्त दो प्रकार के अदर्शनों (पुरुषनिष्ठ अदर्शन तथा प्रधाननिष्ठ अदर्शन) में प्रधाननिष्ठ अदर्शन जड रूप दृश्य का अपना स्वरूप हो अर्थात् दृश्यात्मक हो तथापि दृश्यरूप प्रकृति के जड़ होने से दृश्यगत (प्रधानगत) शक्ति का महदादि कार्य रूप दर्शन भी जड है। अतः जड होने से दर्शनशक्तिरूप अदर्शन बुद्धि के अर्थात् प्रधान के धर्म रूप से ज्ञात होने योग्य नहीं है; क्योंकि जड़ स्वयं अप्रकाशरूप होता है। अर्थात् जड बुद्धि (प्रकृति) रूप दृश्य स्वयं प्रकाशरूप नहीं है। अतः पुरुष की चिच्छायापत्ति की अपेक्षा करके दर्शन दृश्य के धर्म रूप से ज्ञात होता है। क्योंकि विषय से विषयी का ग्रहण होता है। (तात्पर्य यह है जैसे, चिच्छायापत्ति से दर्शन दृश्य के धर्म रूप से ज्ञात होता है वैसे ही अभेदविवक्षया दर्शन पुरुष के धर्मरूप से भी अवभासित होता है)।

शङ्का—सिद्धान्ती के उपर्युक्त व्याख्यान से तो इतना ही विदित होता है कि 'दर्शन' दृश्य का धर्म है। इससे दर्शन पुरुष का धर्म है—यह विदित नहीं होता है।

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—**'तथा पुरुषस्येति।'** यह सत्य है कि अदर्शन पुरुष का आत्मभूत अर्थात् अपना स्वरूप नहीं है, तथापि दृश्यात्मक बुद्धिसत्त्व की जो चैतन्यछायापत्तिरूप वृत्ति है, उसकी अपेक्षा करके 'अदर्शन' पुरुष के धर्म रूप से प्रतिभासित होता है। वस्तुतस्तु अदर्शन पुरुष का धर्म नहीं है। भाव यह है—बिम्बभूत चैतन्य के प्रतिबिम्ब का ग्राहक होने से बुद्धि और चैतन्य का अभेद होता है। इससे बुद्धिधर्म चैतन्यधर्म के रूप से भासित होता है। (इस प्रकार दर्शन-शक्तिरूप अदर्शन बुद्धिनिष्ठ की भाँति पुरुषनिष्ठ कैसे है? यह शंका निरस्त हो जाती है। तथा प्रस्तुत सप्तम विकल्प द्वारा उपस्थापित 'अदर्शन उभयनिष्ठ धर्म है' व्याख्यात हो जाता है)।

तत्त्ववैशारदी

अष्टमं विकल्पमाह—[1]दर्शनज्ञानमिति। ज्ञानमेव[2] शब्दादीनामदर्शनं न तु सत्त्वपुरुषा-

---

1. थ द ध—दर्शनज्ञानमिति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न—दर्शनज्ञानमिति नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न—दर्शनज्ञानमेव, थ द ध—ज्ञानमेव।

न्यताया इति केचित्। यथा चक्षू रूपे प्रमाणमपि रसादावप्रमाणमुच्यते। एतदु[1]क्तं भवति– सुखाद्याकारशब्दादिज्ञानानि स्वसिद्ध्यनुगुणतया द्रष्टृदृश्यसंयोगमाक्षिपन्तीति।

अष्टम विकल्प–भाष्यकार **'अदर्शन'** के स्वरूप का आठवाँ विकल्प प्रस्तुत करते हैं–**'दर्शनज्ञानमिति।'** शब्दादिविषयक ज्ञान को ही अदर्शन कहते हैं, न कि सत्त्वपुरुषा-न्यताख्यातिविषयक ज्ञान को। जैसे रूपविषयक ज्ञान के प्रति चक्षु प्रमाण (साधन) है, किन्तु रसादिविषयक ज्ञान के प्रति वह प्रमाण (साधन) नहीं है। इससे यह सुस्थिर होता है–सुखाद्याकार शब्दादिज्ञान अपनी सिद्धि के अनुरूप द्रष्टा और दृश्य के संयोग का आक्षेप करते हैं।

अदर्शन के स्वरूपप्रतिपादक आठ विकल्पों में से कौन सा विकल्प सिद्धान्ततः संग्राह्य है, इस पर विचार प्रस्तुत हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

तदेवं विकल्प्य चतुर्थं विकल्पं स्वीकर्तुमितरेषां विकल्पानां सांख्यशास्त्रगतानां सर्वपुरुष-साधारण्येन भोगवैचित्र्याभावप्रसङ्गेन दूषयति–इत्येते शास्त्रगता इति॥२३॥

इस प्रकार अदर्शन के (लक्षणपरक) आठ विकल्पों (पक्षों) को प्रस्तुत कर उनमें से चतुर्थ विकल्प को (सिद्धान्ततः) अङ्गीकृत करने के लिये तदितर सांख्य-शास्त्रगत विकल्पों में, सर्वपुरुषसाधारणता के कारण प्रत्येक पुरुष के प्रति भोग-वैचित्र्य का अभाव रहने से, दोष की उद्भावना करते हुए भाष्यकार कहते हैं– **'इत्येते शास्त्रगता इति।'** अदर्शन के ये सातों लक्षण उसी अदर्शन में घटित होते हैं, जो गुण के साथ समस्त पुरुषों का संयोग होने में साधारणकारण हैं॥२३॥

बालप्रिया–

विकल्पबहुत्वं...साधारणविषयम्–भाव यह है कि **'संयोग'** दो प्रकार का है–एक सामान्यसंयोग तथा दूसरा विशेषसंयोग। प्रकृति तथा पुरुष के व्यापक होने से उनका सर्वदा बने रहने वाला संयोग यहाँ चर्चित नहीं है। यहाँ उस **'संयोग'** पर विचार किया जा रहा है, जो अदर्शनमूलक है। अदर्शनमूलक संयोग भी दो प्रकार का है। इनमें से प्रकृति-पुरुष का अदर्शनमूलक संयोग संसार का हेतु है तथा बुद्धि-पुरुष का अदर्शनमूलक संयोग तत्तत्पुरुषीय सुख-दुःख तथा बन्ध-मोक्ष का प्रयोजक है। अदर्शन के आठ विकल्पों में से चतुर्थ को छोड़कर शेष सभी विकल्प समस्त पुरुषों के सामान्यगुणसंयोग के प्रति अर्थात् पुरुषार्थ के हेतुभूत **'संयोगसामान्य'** के प्रति **'साधारणकारण'** हैं अर्थात् समष्टिरूपा अविद्या का लक्षण प्रस्तुत करते हैं, न कि सुखदुःखवैविध्य के हेतुभूत **'संयोगविशेष'** के प्रति **'असाधारणकारण'** को बतलाने वाले

---

1. क ख थ द ध–अत:, ग घ च छ ज झ त न–उक्तम्।

हैं। अर्थात् वे व्यष्टिरूपा अविद्या का लक्षण नहीं करते हैं। अतः ये विकल्प यहाँ गृहीत नहीं हैं। यदि पूछा जाय कि अदर्शन का कौन सा स्वरूप संयोगविशेष के प्रति कारण है? उत्तर है कि सुख-दुःखादि-वैचित्र्य का व्यवस्थापकभूत एक-एक पुरुष का एक-एक बुद्धि के साथ अदर्शननिमित्तक जो असाधारणसम्बन्ध है, उसे ही संयोगविशेष कहते हैं। चतुर्थ विकल्प में अदर्शन का यही स्वरूप प्रतिपादित हुआ है। अतः चतुर्थ विकल्प को सिद्धान्त रूप से माना गया है। क्योंकि तभी **'स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः'** सूत्र से एकवाक्यता हो सकती है॥२३॥

योगवार्त्तिकम्

द्रष्टृदृश्ययोः स्वरूपमुक्तम्। इदानीं तत्संयोगस्य स्वरूपप्रदर्शकं सूत्रमुत्थापयति—संयोगस्वरूपेति। द्रष्टृदृश्ययोः संयोगसामान्यं न हेयहेतुः, प्रलयमोक्षादिसाधारण्यात्। अतः संयोगगतविशेषावधारणायेदं सूत्रं प्रववृत[1] इत्यर्थः। स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः। स्वशक्तिर्दृश्यं भोग्यतायोग्यत्वात्, स्वामिशक्तिर्द्रष्टा भोक्तृयोग्यत्वात्, तयोः स्वरूपोपलब्धौ हेतुर्यः संयोगविशेषः स एव द्रष्टृदृश्यसंयोगोऽत्र हेयहेतुरुक्त इत्यर्थः, [2]विभुनो द्रष्टृदृश्यसंयोगसामान्यस्य सार्वकालिकत्वेन [3]हेयाहेतुत्वादिति भावः। स च संयोगविशेषो बुद्धिद्वारकः दृश्यबुद्धिसत्त्वोपाधिरूपः सर्व धर्मा इति पूर्वभाष्यात्। अतो दृश्यवत्या बुद्ध्या संयोग एवात्र संयोगविशेषः,

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

इत्येवंविधश्रुत्यादिभ्यो लिङ्गदेहात्मसंयोगादेवात्मनो विषयदर्शनावगमादिति।

द्रष्टा और दृश्य का स्वरूप उक्त हुआ। अधुना भाष्यकार 'द्रष्टा-दृश्य-संयोग' के स्वरूपप्रतिपादक सूत्र को उठाते हैं—**'संयोगस्वरूपेति।'** द्रष्टा और दृश्य का 'संयोग-सामान्य' हेयहेतु नहीं है, क्योंकि इन दोनों का संयोगसामान्य तो (सृष्टिकाल की भाँति) प्रलय, मोक्षादि की अवस्था में भी विद्यमान रहता है। (अतः द्रष्टा-दृश्य का सार्वकालिक संयोगसामान्य संसार का कारण नहीं है। अतः द्रष्टा-दृश्य के संयोगगत वैशिष्ट्य अर्थात् **'संयोगविशेष'** का स्वरूप सुनिश्चित करने के लिये यह उत्तर सूत्र प्रवृत्त हो रहा है—**'स्वेति।'** भोग्यता की योग्यता निहित होने से दृश्य को **'स्वशक्ति'** कहते हैं तथा भोक्तृयोग्यता होने से द्रष्टा को **'स्वामिशक्ति'** कहते हैं। इन दोनों शक्तियों के अपने-अपने दृश्यत्व और द्रष्टृत्वरूप की उपलब्धि का उपायभूत जो **'संयोगविशेष'** है, वही द्रष्टृदृश्यसंयोग यहाँ **'हेयहेतु'** कहा गया है। द्रष्टा और दृश्यरूप

---

1. क ग—प्रवर्तते, घ च छ—प्रववृते।
2. क ग घ च—विभुना, छ—विभुनः।
3. क—हेतुत्वात्, ग—हेयहेतुत्वात्, घ च छ—हेयाहेतुत्वात्।

प्रकृति के व्यापक होने से उनका सर्वकालावस्थित 'द्रष्टृदृश्यसंयोगसामान्य' 'हेयहेतु' नहीं हो सकता है। (क्योंकि संयोगसामान्य का नाश कभी न होने से पुरुष का मोक्ष उपपन्न न हो सकेगा। किञ्च यह 'संयोगविशेष' बुद्धिद्वारक अर्थात् दृश्यात्मक बुद्धि-सत्त्वोपाधिरूप है, क्योंकि 'सर्वे धर्माः' ऐसा विगत भाष्य २/१७ है। भाष्य का अर्थ है–बुद्धिसत्त्वोपारूढ सभी धर्म बुद्धि के हैं। अतः दृश्यवती बुद्धि के द्वारा होने वाला संयोग ही यहाँ 'संयोगविशेष' कहा गया है। क्योंकि 'आत्मेन्द्रिय...दमनीषिणः' (कठोप. १/३/४) अर्थात् 'इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा को विचारशील लोग 'भोक्ता' कहते हैं'–इस प्रकार की श्रुतियों से यह ज्ञात होता है कि 'लिङ्गदेह' अर्थात् सूक्ष्म-शरीर के साथ आत्मा का संयोग होने से ही आत्मा को विषयज्ञान होता है।

बुद्धि-पुरुष संयोग को विश्लेषित करते हुए योगवार्त्तिककार आगे कहते हैं–

योगवार्त्तिकम्

एतेन भोक्तृभोग्ययोग्यतैव द्रष्टृदृश्ययोरनादिः संबन्धः, संयोगाङ्गीकारे पुरुषस्य परिणामित्वापत्तेरिति कस्यचित् प्रलापः सूत्रस्वरसाद्धेयः, तथा सति स्वस्वामिभावः संयोग इत्येव सूत्रौचित्यात्, संयोगस्यानाद्येकव्यक्तित्वे सत्यागामिसूत्राभ्यामुत्पत्तिविनाशवचनानुपपत्तेश्च, चेतनत्वाचेतनत्वातिरिक्तस्य प्रतिनियतस्य [1]योग्यत्वस्य ज्ञानावच्छेदकस्यानिरूपणाच्च, तयोश्च मोक्षकालसाधारण्येन [2]हेयाहेतुत्वात्।

शङ्का–द्रष्टा-दृश्य का भोक्तृभोग्ययोग्यतारूप सम्बन्ध 'अनादि' है, किन्तु ऐसा संयोग मानने पर पुरुष को परिणामी कहना पड़ेगा?

समाधान– उक्त शंका का खण्डन करते हुए योगवार्त्तिककार कहते हैं कि जो कोई ऐसा कहते हैं वह सूत्रानुसारी (सूत्राभिप्रायपरक) न होने से त्याज्य (हेय) है, क्योंकि तब तो (पूर्वपक्षी के अनुसार) 'स्वस्वामिभावः संयोगः' इतना ही सूत्र उचित होगा, उक्त संयोग को एक व्यक्तित्वेन अनादि मानने पर आगामी दो सूत्रों द्वारा संयोग के उत्पत्ति और विनाश का कथन अनुपपन्न रहेगा, चेतनत्व और अचेतनत्व के अतिरिक्त प्रतिनियत योग्यता के ज्ञानावच्छेदक को निरूपित नहीं किया जा सकेगा तथा प्रकृति-पुरुष दोनों के ही मोक्षकाल में सामान्यतया विद्यमान रहने से उनके भोक्तृभोग्ययोग्यतारूप सम्बन्ध में हेयकारणत्व उपपन्न न होगा–इत्यादि अनेक अनुपपत्तियाँ आयेंगी।

योगवार्त्तिककार 'संयोग' का स्वरूपप्रतिपादक अगला विकल्प उठाते हैं–

---

1. क घ–योग्यस्य ज्ञानावच्छेदकस्य, ग–योग्यतयाऽवच्छेदकस्य, च छ–योग्यत्वस्य ज्ञानावच्छेदकस्य।
2. क घ च छ–हेयाहेतुत्वात्, ग–हेयहेतुत्वात्।

योगवार्त्तिकम्

यदि च स्वभुक्तवृत्तिवासनावत्त्वं प्रवाहरूपेण च वासनाया अनादित्वं तदेव च संयोग इत्युच्यते, तथाऽपि तादृशसंयोगस्य भाष्यवक्ष्यमाणमविद्यावासनाजन्यत्वादिकं न घटेतैव यथाश्रुतसंयोगत्यागानौचित्यादिकं चेति। यच्चोक्तं संयोगेन परिणामित्वमिति, तत्परिणाम-लक्षणाज्ञानात्। संयोगविभागमात्रेणाकाशादौ परिणामव्यवहाराभावेन सामान्यगुणातिरिक्त-धर्मोत्पत्तिरेव परिणाम इत्युक्तवात्। अन्यथा प्रतिसर्गं प्रकृतिपुरुषयोः संयोगविभागौ श्रुति-स्मृत्योः श्रूयमाणौ विरुध्येताम्, न हि प्रतिसर्गं योग्यतोत्पादविनाशौ घटेतां पुरुषस्य परिणामप्रसङ्गात्, यथाश्रुतसंयोगविभागयोरेवोत्पादादिक्रमौचित्याच्चेति दिक्।

शङ्का—यदि स्वभुक्त विषयवृत्तिजन्य वासनावत्त्व तथा प्रवाहरूप से वासना का अनादित्व जो है, उसे ही 'संयोग' (प्रकृति-पुरुष-संयोग का कारण) कहा जाय? तो
समाधान—ऐसा कहने पर तादृश अनादि संयोग में भाष्योक्त अविद्यावासना का जन्यत्व सिद्ध न हो सकेगा तथा यथाश्रुत 'संयोग त्याग' के अनौचित्य आदि दोष आयेंगे।

शंका—और जो पूर्वपक्षी प्रकृति-पुरुष-संयोग से पुरुष में परिणामित्व दोष की उद्‌भावना करते हैं,

समाधान—तो उनकी यह शंका 'परिणामलक्षण' के स्वरूप की अज्ञानता के कारण है। संयोग, विभागमात्र से आकाशादि (विभु पदार्थों) में 'परिणाम व्यवहार' नहीं होता है अर्थात् संयोगादि से आकाश को परिणामी नहीं माना जाता है। क्योंकि सामान्य-गुणातिरिक्त धर्मोत्पत्ति को ही 'परिणाम' कहते हैं। अर्थात् उसी पदार्थ को परिणामी कहते हैं जिसमें धर्मविशेष की उत्पत्ति होती है। जैसे मृत्तिका में घटरूप धर्मविशेष की उत्पत्ति होती है, अतः मृत्तिका को परिणामी कहते हैं। पुरुष में किसी निरुपाधिक धर्मविशेष की उत्पत्ति नहीं होती है, अतः पुरुष को 'परिणामी' नहीं कहा जा सकता है)। अन्यथा प्रतिसर्ग (प्रत्येक सृष्टि) में प्रकृति-पुरुष का श्रुति-स्मृति-वर्णित संयोग-विभाग परस्पर विरुद्ध ही रहेगा। प्रतिसर्ग में भोक्तृभोग्ययोग्यता का उत्पाद-विनाश न घट पाने से पुरुष के परिणामी होने का अनभिप्रेत प्रसंग आयेगा। जब कि बुद्धि-पुरुष के यथाश्रुत (पूर्वोक्त) संयोग-विभाग में ही उत्पादादि-क्रम का औचित्य निहित है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार भाष्यार्थ प्रारम्भ करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

सूत्रार्थं विवृणोति—पुरुष इत्यादिना सोऽपवर्ग इत्यन्तेन। संयुक्त इति। भवतीति शेषः। सूत्रे स्वरूपपदं च विवेकख्यातिपर्यन्तस्य दर्शनसामान्यस्य संयोगजन्यत्वप्रतिपादनायेति। इदानीं विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय इति तस्य हेतुरविद्येति चागामिसूत्रद्वयार्थोऽनेनैव

सूत्रेणोपपादित इत्येतत्क्रमेण प्रतिपादयति–दर्शनकार्येत्यादिना। कृतकृत्यस्य प्रयोजनाभावेनावस्थानासंभवेन दर्शनरूपकार्यावसानः संयोग इत्यतो दर्शनं द्रष्टृस्वरूपोपलब्धिर्वियोगकारणमर्थादनेन सूत्रेणोक्तमुपपादितं तथा दर्शनमदर्शनस्य प्रतिद्वन्द्वि विरोधीत्यतोऽदर्शनं संयोगहेतुरित्यप्यर्थादुक्तमुपपादितम्, दर्शनादर्शनयोर्विरोधेन विरुद्धयोरेव वियोगसंयोगयोस्तदुभयकार्यत्वौचित्यादित्यर्थः।

भाष्यकार सूत्रार्थ को खोलते हैं–'**पुरुष इत्यादिना सोऽपवर्ग इत्यन्तेन**' पहले वाक्य के विषय में वार्त्तिककार कहते हैं–'**संयुक्त इति**' '**भवति**' यह वाक्यशेष है। अर्थात् वाक्य के अन्त में '**भवति**' क्रियापद को जोड़कर वाक्य का अर्थ इस प्रकार करना चाहिये कि '**स्वामी**' स्थानीय पुरुष '**स्व**' स्थानीय बुद्धि के साथ '**दर्शन**' के लिये संयुक्त होता है। सूत्र में '**स्वरूप**' पद का प्रयोग इसलिये किया गया है, जिससे विवेकख्यातिपर्यन्त दर्शनसामान्य का संयोगजन्यत्व प्रतिपादित किया जा सके (अर्थात् बुद्धिपुरुष की स्वरूपोपलब्धि का हेतुभूत संयोगविशेष भोगदर्शन से उन्मुख होकर विवेकख्याति पर्यन्त पहुँचता है। तत्पश्चात् निमित्ताभाव से संयोगाभाव होता है अतः सूत्र में '**स्वरूप**' पद के प्रयोग से संयोगविशेष का एक निश्चित अवधि तक अवस्थित रहना द्योतित किया गया है)। भाष्यकार ने प्रकृत सूत्र के द्वारा ही '**विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः**' (२/२६) तथा '**तस्य हेतुरविद्या**' (२/२४) इन दो आगामी सूत्रद्वय का 'प्रयोजन' निष्पादित किया है। अब इसी तथ्य को क्रमशः प्रतिपादित करते हैं–'**दर्शनकार्येत्यादिना**।' कृतार्थ तत्त्व की अवस्थिति का और कोई उद्देश्य न रह जाने से उसका आगे ठहरना सम्भव नहीं होता है। इस कारण से संयोग को '**दर्शनरूपकार्यावसान**' कहते हैं अर्थात् स्वस्वामिशक्तियों की स्वरूपोपलब्धि का हेतुभूत संयोग विवेकदर्शनरूप कार्य के निष्पन्न हो जाने पर समाप्त हो जाता है। अतः 'द्रष्टा' पुरुष के (निरुपाधिक) स्वरूप का उपलब्धिरूप दर्शन संयोगविशेष का '**वियोगकारण**' है। इस प्रकार प्रकृत सूत्र के द्वारा '**विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः**' इस वक्ष्यमाण सूत्र का प्रतिपाद्य विषय उक्त है तथा यह भी उपपादित है कि दर्शन (ज्ञान) अदर्शन (अज्ञान) का प्रतिद्वन्द्वी (विरोधी) है। अतः अदर्शन इनका 'संयोगकारण' है। इस प्रकार प्रकृत सूत्र के द्वारा '**तस्य हेतुरविद्या**' इस वक्ष्यमाण सूत्र का प्रतिपाद्य विषय कथित है। दर्शन तथा अदर्शन में परस्पर विरोध होने से दोनों विरोधियों की ही वियोग और संयोगरूप उभयकार्यता युक्तिसंगत है।

बालप्रिया–

'**विरुद्धयोरेव वियोगसंयोगयोस्तदुभयकार्यत्वौचित्यात्**'–सरलार्थ यह है कि दर्शनअदर्शन तथा संयोग-वियोग ये परस्परसापेक्ष शब्द हैं। दर्शन और अदर्शन दोनों का अपना-अपना कार्य अपने प्रतिद्वन्द्वी के कार्य में अवरोध उत्पन्न करना है। अतः

दोनों को उभय कार्य वाला माना जाता है। जैसे 'अदर्शन' पृथग्भूत बुद्धि-पुरुष के पार्थक्य को आवृत्त करता हुआ उनका 'संयोगकारण' कहलाता है। वैसे ही 'दर्शन' बुद्धि-पुरुष के प्रातीतिक अभेद को यथार्थ भेद में परिवर्तित करता हुआ बुद्धि-पुरुष के संयोग का 'वियोगकारण' कहा जाता है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार 'अदर्शन' से भिन्न 'दर्शन' के 'भावात्मक' पक्ष को शंकोपस्थापनपूर्वक स्पष्ट करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

ननु अदर्शनं यदि[1] संयोगकारणं तर्हि अदर्शनाभावादेव संयोगविनिवृत्त्यात्मको मोक्षो भविष्यति कथं दर्शनमपि मोक्षहेतुरुच्यते इत्याशङ्कायामाह–नात्र दर्शनमिति। अस्मच्छास्त्रे दर्शनं तत्त्वज्ञानं न मोक्षकारणं गौरवात्, [2]निरोधादिभिर्व्यवधानेन मोक्षाव्यवहितप्राक्काले ज्ञाने नियमासंभवात्; किं तु अदर्शनस्य वक्ष्यमाणरूपस्यांभावादेव द्रष्टुर्दृश्यसंयोगाभावः, स एव मोक्ष इत्यर्थः। एतेन मोक्षस्यानिमित्तिकतया स्वाभाविकत्व[3]रूपं नित्यत्वं लब्धम्। नन्वेवं विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय इत्यग्रिमसूत्रविरोधो दर्शनं वियोगस्य कारणमिति स्वोक्तिविरोधश्च तत्राह–दर्शनस्य भाव इति। सुगमम्। उक्तं शास्त्रे। तथा च तत्त्वज्ञानं मोक्षे प्रयोजकमात्रमिति।

शङ्का–द्रष्टा तथा दृश्य के संयोग का कारण यदि अदर्शन है, तो अदर्शनाभाव से ही 'संयोग निवृत्त्यात्मक' मोक्ष हो जायेगा। तब्र 'दर्शन' को भी मोक्ष का हेतु क्यों कहा जा रहा है?

समाधान–ऐसी आशंका होने पर भाष्यकार कहते हैं–'**नात्र दर्शनमिति**।' योगशास्त्र में गौरवदोष के कारण 'दर्शन' अर्थात् तत्त्वज्ञान मोक्ष का हेतु नहीं है। किञ्च विरोधिस्वरूप निरोधादि वृत्तियों से व्यवहित होने के कारण मोक्ष के अव्यवहित पूर्व काल में ज्ञान (ज्ञानात्मक वृत्ति) का नियमतः होना संभव नहीं है अर्थात् विवेकवृत्ति का भी '**इयमेव हेयम्**' करके परवैराग्य द्वारा निरोध हो जाता है। किन्तु अदर्शन, जिसका स्वरूप आगे प्रतिपादित किया जायेगा, का अभाव होने से ही द्रष्टा का दृश्य से '**संयोगाभाव**' हो जाता है और यही संयोगाभाव '**मोक्ष**' कहलाता है। इस व्याख्यान से यह भी निर्णीत हो जाता है कि निर्नैमित्तिक होने से मोक्ष में स्वाभाविक 'नित्यत्व' है।

शङ्का–अदर्शनाभाव को 'संयोगाभाव' का कारण मानने से '**विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः**' इस अग्रिम सूत्र से विरोध होगा तथा 'दर्शन द्रष्टा-दृश्य-संयोग का वियोग-

1. क ग–चेत्, छ–यदि, घ च–चेत्/यदि नोपलभ्यते।
2. क ग घ–निरोधादिभिः, च छ–विरोधादिभिः
3. क–रूपे, ग घ च छ–रूपम्।

कारण है'–ऐसे स्वोक्त वचन से ही अन्तर्विरोध होगा?

समाधान--इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**दर्शनस्य भाव इति**' भाष्यार्थ सुगम है। कहाँ उक्त है? उत्तर है–शास्त्र में। (सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ यह हुआ कि 'विवेकज्ञान' रूप दर्शन के प्रादुर्भूत होने पर बन्धकारणभूत 'अदर्शन' का नाश हो जाता है। अतः योगशास्त्र में दर्शनज्ञान को कैवल्य का कारण कहा गया है।) योगवार्त्तिककार भाष्य के उक्त कथन के अभिप्राय को स्पष्ट करते हैं–तत्त्वज्ञान मोक्ष के प्रति प्रयोजक-मात्र है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार 'अदर्शन' के स्वरूपप्रतिपादक अष्ट विकल्पों का मूल्यांकन करते हुए मान्य विकल्प को निर्धारित करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

उत्तरसूत्रेणासाधारणं संयोगहेतुमदर्शनमवधारयितुमुक्तादर्शनं विकल्प्य पृच्छति–किं चेदमिति। किं पुनः संयोगकारणत्वेनोक्तमदर्शनमित्यर्थः। नामेति वाक्यालङ्कारे। यद्यपि संयोगो दर्शनकारणमितिसूत्रेणादर्शनस्यानुत्पाद एव संयोगहेतुतयाऽत्र प्रसक्तो नान्यः, तथाऽपि तत्सम-नियततया अन्येषामपि [1]संशयकोटित्वं बोध्यम्।

तत्र प्रथमो विकल्पः–किं गुणानामिति। गुणानां सत्त्वादीनाम् अधिकारः कार्यारम्भण-सामर्थ्यम्, ज्ञानाग्न्यदग्धा कार्यविशेषजननशक्तिरित्यर्थः। ततोऽपि हि संसारहेतुसंयोगविशेषो जायत इति। द्वितीयं विकल्पं परित्यज्य सर्वविकल्पेषु बन्धकत्वगुणयोगेनादर्शनशब्दो गौणः।

द्वितीयं विकल्पमाह–आहोस्विदिति। अदर्शनमित्यत्र दर्शनशब्दस्य करण[2]साधनत्व-प्रतिपादनाय दृशिरूपस्य स्वामिनो दर्शितविषयस्येति चित्तविशेषणं दृशिस्वरूपाय स्वामिने दर्शितो विषयो येन तस्येत्यर्थः। [3]उक्तमेव विवृणोति–स्वस्मिन्निति। स्वस्मिंश्चित्ते पुरुषार्थ-रूपेण दृश्ये शब्दादिवृत्तौ सत्त्वपुरुषान्यतावृत्तौ च सति यो दर्शनाभावश्चित्तवृत्त्यभाव इत्यर्थः। मोक्षकालीनं दर्शनाभावं व्यावर्त्तयितुं सत्यन्तम्। संयोगाहेतुतया तु तादृशमदर्शनं नात्र विचारणीयं चित्ते हि पुरुषार्थसत्तायामेवादर्शनं संयोगहेतुर्भवति इति भावः।

व्यर्थतया द्वितीयविकल्पस्य विशेष्यभागपरित्यागमात्रेण तृतीयं विकल्पमाह–किमर्थ-वत्तेति। सत्कार्यसिद्धेर्भाविभोगापवर्गयोरव्यपदेश्ययोः स्वकारणेषु गुणेषु अवस्थानमित्यर्थः।

---

1. क–संशयकोटिज्ञानात्प्रदग्धाकार्यकोटित्वं बोध्यं, ग घ च छ–संशयकोटित्वं बोध्यम्।
2. क घ च छ–साधनत्व०, ग–साध्यत्व०।
3. क घ च छ–उक्तमेव विवृणोति–स्वस्मिन्निति। स्वस्मिंश्चित्ते पुरुषार्थरूपेण दृश्ये शब्दादिवृत्तौ सत्त्वपुरुषान्यतावृत्तौ च सति यो दर्शनाभावश्चित्तवृत्त्यभाव इत्यर्थः–उपलभ्यते, ग–उक्तम्........ इत्यर्थः नोपलभ्यते।

चतुर्थं विकल्पमाह—अथाविद्येति। पञ्चपर्वा अविद्या प्रलयकाले स्वचित्तेन सह गुणेषु लीना वासनारूपेण स्वाश्रयचित्तस्योत्पत्तिबीजमित्यर्थः। तथा चाविद्यावासनैवादर्शनमिति। अयमेव पक्षः सिद्धान्तो भविष्यति।

पञ्चमं विकल्पमाह—किं स्थितीति। प्रधाननिष्ठस्य [1]साम्यपरिणामहेतोः स्थितिसंस्कारस्य क्षये सति गतिसंस्कारस्य महदादिरूपविसदृशपरिणामहेतोरभिव्यक्तिरित्यर्थः। तयैव हि प्रकृति-क्षोभद्वारा पुंप्रकृत्योः संयोगो जन्यते इति। तदुभयसंस्कारसद्भावे मतान्तरं प्रमाणयति—यत्रेद-मिति। स्थित्यै गत्यै इति तादर्थ्ये चतुर्थ्यौ, एवकारौ च तयोः पश्चादध्याहार्यौ। स्थित्यैवेति पाठे तु विशेषणे तृतीया इति। तथा च प्रधानं चेत् स्थितिमात्रेण वर्त्तेत तदा विकाराजन-कत्वान्न प्रधानं स्यात् मूलकारणत्वं हि प्रधानत्वमिति, तथा गतिमात्रेण चेद्वर्त्तेत तदा महदादीनामपि प्रकृतिवदेव नित्यत्वापत्त्या किं कस्य मूलं स्यादिति न व्यवहारः संभवत्यत [2]उभयथा स्थितिगतिभ्यामेव प्रधानस्यावस्थानं प्रधानव्यवहारं लभते कार्यतया न पुनरन्य-थेत्यर्थः। न केवलं मूलकारण एवायं स्थितिगत्योः कालभेदेन निर्णायको विचारः किं तु कल्पितेषु विकाररूपेषु[3] कारणभेदेषु[4] अपि महदादिष्वेष चर्चो विचारः समान इति प्रसङ्गा-दवधारयति। नास्तिकानां कुर्वद्रूपतावादमपाकर्तुं कारणान्तरेष्वपीति। स च चर्चो यथा [5]मृदादिकं यदि स्थित्यैव निवृत्त्यैव वर्त्तेत तर्हि कदाऽपि घटानुत्पादनेन कारणत्वहानिः, यदि गत्यैव प्रवृत्त्यैव वर्त्तेत तदा मृद्घटयोर्द्वयोरेव तुल्यकालतया कार्यकारणव्यवस्थाऽनुपपत्तिर[6]तो विकाररूपकारणमपि स्थितिगत्युभयवदेवेति।

षष्ठं विकल्पमाह—दर्शनशक्तिरेवेति। पुरुषायात्मानन्दर्शयितुं या क्षमता सा दर्शनशक्तिः सैव चादर्शनमित्यर्थः। इयं च शक्तिर्विवेकख्यात्यनुत्पादरूपा [7]संयोगहेतुः। तथा चोक्तं सांख्य-कारिकया—

> दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या इति,
> पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
> पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥ इति।

---

1. क ग घ—साम्य०, च छ—असाम्य०।
2. क ग घ—एव (उभयथा पश्चात्) उपलभ्यते, च छ—एव नोपलभ्यते।
3. क घ च छ—विकाररूपेषु उपलभ्यते, ग—विकाररूपेषु नोपलभ्यते।
4. क ग—कारणान्तरेषु, घ च छ—कारणभेदेषु।
5. क घ च छ—मृत्०, ग—महत्०।
6. च छ—अतो विकाररूपकारणमपि स्थितिगत्युभयवदेवेति। षष्ठं विकल्पमाह—दर्शनशक्तिरेवेति। पुरुषायात्मानन्दर्शयितुं या क्षमता सा दर्शनशक्तिः उपलभ्यते, क ग घ—अतो.....दर्शनशक्तिः नोपलभ्यते।
7. क ग—संयोगस्य, घ च छ—संयोग०।

तृतीयविकल्पस्थस्य शब्दादिवृत्त्यनुत्पादस्य त्यागादस्य ततो भेदः। प्रधानस्य दर्शनशक्तौ श्रुतिं प्रमाणयति–प्रधानस्येति। काललुप्तशाखास्थेयं श्रुतिः।

सप्तमं विकल्पमाह–सर्वबोध्येत्यादिनाऽवभासत इत्यन्तेन। सर्वबोधे समर्थोऽपि पुरुषः प्रधानप्रवृत्तेः प्राक् न पश्यति इत्येकमदर्शनं पुरुषनिष्ठमपरं[1] च सर्वकार्याणां करण उत्पादने समर्थं स्वरूपयोग्यमपि दृश्यं प्रधानं तदा प्राक् प्रधानप्रवृत्तेः पुरुषेण न दृश्यत इति दृश्यनिष्ठमदर्शनमित्येवमुभयस्याप्यदर्शनं धर्म इत्येक आहुरित्यर्थः। एतदेवात्रादर्शनमिति शेषः। ननु जडानामदर्शनात्मकत्वात् कथं तेषामदर्शनं धर्मः स्यात्, अभावस्याधिकरणस्वरूपत्वाद् अव्यभिचारेण लाघवादेकत्वसिद्धेश्च; कथं वा दृशिस्वरूपस्य पुरुषस्यादर्शनं घटते, प्रकाशरूपस्याप्रकाशरूपत्वासंभवाद् इत्याशङ्क्य समाधत्ते–तत्रेदमिति। तत्रादर्शनद्वयमध्य इदमेकमदर्शनं दृश्यस्वरूपभूतमपि दृश्यधर्मत्वेन विशिष्टं भवति। तत्र हेतुः–पुरुषप्रत्ययापेक्षमिति। पुरुषप्रत्ययं बोधमपेक्ष्य तदविषयतयेति यावत्। तथेति। तथा पुरुषस्य निर्धर्मत्वात् सदा प्रकाशरूपत्वाच्चानात्मभूतमप्यदर्शनं पुरुषधर्मत्वेनैव लौकिकबुद्ध्याऽवभासते। तत्र हेतुः–दृश्यप्रत्ययापेक्षमिति। दृश्यप्रत्ययमपेक्ष्य दृश्यगोचरप्रत्ययाभावेनेति यावत्।

अष्टमं विकल्पमाह–दर्शनज्ञानमिति। ज्ञानं वासनारूपं तस्यापि दृश्यसंयोगहेतुत्वात्; न तु भोगापवर्गरूपमनागतावस्थं दर्शनमत्रोक्तम्, अर्थवत्तया पौनरुक्त्यादिति। उपसंहरति–इत्येत इति। शास्त्रेष्वेतेऽज्ञानभेदास्तान्त्रिकैरुच्यन्त इत्यर्थः॥२३॥

आगामी सूत्र के द्वारा द्रष्टा-दृश्य के असाधारणसंयोग (संयोगविशेष) के हेतुभूत 'अदर्शन' का स्वरूप निर्धारित करने के लिये भाष्यकार अदर्शन को विकल्पपूर्वक पूछते हैं–'किं चेदमिति।' द्रष्टा-दृश्य के संयोग के कारण रूप से कथित 'अदर्शन' का स्वरूप क्या है? 'अदर्शनं नाम'–में 'नाम' पद वाक्य की शोभा के लिये प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि उभयकृत संयोग दर्शन का कारण है, ऐसा सूत्र में प्रतिपादित होने के कारण 'स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः' ऐसा सूत्र होने से दर्शन का अनुत्पाद ही संयोग के हेतुरूप से यहाँ प्रसक्त (प्राप्त) होता है, न कि किसी अन्य प्रकार का 'संयोग' कारण है, तथापि इसके समनियत (व्याप्त) होने से अन्य विकल्पों को भी संयोग के कारण रूप में मानने की संशयात्मक स्थितियाँ हो सकती हैं। अतः द्रष्टा-दृश्य-संयोग के कारण की सभी संशय कोटियों को विकल्पतः प्रस्तुत किया जा रहा है–

प्रथम विकल्प–'किं गुणानामिति' सत्त्वादि गुणों के कार्यारम्भण सामर्थ्य (कार्यजननशक्ति) को 'अधिकार' कहते हैं। अर्थात् ज्ञानाग्नि से अदग्धीभूत कार्यविशेष को अभिव्यक्त करने वाली शक्ति को 'गुणों का अधिकार' कहा गया है। इससे संसार का

---

1. क घ च छ–अपरं, ग–अयं च।

हेतुभूत संयोगविशेष उत्पन्न होता है। तो क्या गुणाधिकार 'अदर्शन' है। योगवार्त्तिककार 'अदर्शन' के विषय में एक सामूहिक तथ्य प्रस्तुत करते हैं–अदर्शन से सम्बन्धित द्वितीय विकल्प को छोड़कर अवशिष्ट सभी विकल्पों में बन्धनकारी 'गुण' की दृष्टि से 'अदर्शन' शब्द का प्रयोग गौण है। अर्थात् पुरुष को बाँधने वाले रज्जुरूप 'गुण' के अर्थ में 'अदर्शन' पद का प्रयोग गौण समझना चाहिये।

द्वितीय विकल्प–भाष्यकार 'अदर्शन' के द्वितीय विकल्प का वर्णन करते हैं–**'आहोस्विदिति।'** 'अदर्शन' के स्वरूप-प्रतिपादन के प्रसंग में 'दर्शन' शब्द के करण- साधनत्व (**दृश्यतेऽनेन**) को बतलाने के लिये **'दृशिरूपस्य स्वामिनो दर्शितविषयस्य'** यह **'चित्तस्य'** पद का विशेषण बनता है। **'दर्शितविषय'** पद की व्युत्पत्ति है–**'दृशिस्वरूपाय स्वामिने दर्शितो विषयो येन तस्य'** अर्थात् द्रष्टृरूप स्वामी के प्रति विषय (भोग तथा अपवर्ग) को प्रदर्शित करना जिसके द्वारा किया जाता है ऐसा चित्त **'दर्शितविषय'** कहलाता है। भाष्यकार अपने उक्त अभिप्राय को खोलते हैं–**'स्वस्मिन्निति।'** चित्त में पुरुषार्थरूप से शब्दादिवृत्ति तथा सत्त्वपुरुषान्यतावृत्तिरूपात्मक दृश्य के रहने पर जो दर्शनभाव अर्थात् **चित्तवृत्तिभाव'** है, क्या उसे **'अदर्शन'** कहते हैं? मोक्षकालीन दर्शनाभाव को व्यावृत्त करने के लिये (मोक्ष की अवस्था में समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाने से यह भी दर्शनाभाव की सी एक विशिष्ट दशा है, अतः इसके निवारण के लिये) **'सति'** तक वाक्यांश है। किन्तु ऐसा 'अदर्शन' बुद्धि-पुरुष के संयोग का कारण न होने से यहाँ प्रासङ्गिक नहीं है, क्योंकि चित्त में पुरुषार्थ की सत्ता रहने पर ही अर्थात् चित्त के कृतकृत्य न हो सकने तक ही 'अदर्शन' को बुद्धि-पुरुष-संयोग का कारण कहा जाता है।

तृतीय विकल्प–द्वितीय विकल्प के अनुपयोगी होने से विशेष्यभाग के परित्यागपूर्वक (**'प्रधानचित्तस्य'** को न लेते हुए) भाष्यकार तृतीय विकल्प को अनुबन्धित करते हैं–**'किमर्थवत्तेति।'** क्या 'सत्कार्य' के सिद्ध होने से अव्यपदेश्यभूत (भावी) भोग तथा अपवर्ग की अपने कारणभूत गुणों में अवस्थिति बनी रहना **'अदर्शन'** है?

चतुर्थ विकल्प–भाष्यकार **'अदर्शन'** के स्वरूपबोधक चतुर्थ विकल्प को प्रस्तुत करते हैं–**'अथाविद्येति'**। प्रलयकाल में चित्त के साथ लीन होती हुई पञ्चपर्वात्मक अविद्या वासनारूप से अपने आश्रयभूत चित्त की उत्पत्ति का कारण होती है। इस पक्ष के अनुसार अविद्याजनित वासना ही **'अदर्शन'** शब्द का अर्थ है। यही विकल्प सिद्धान्तरूप से स्वीकार किया जायेगा।

पञ्चम विकल्प–भाष्यकार **'अदर्शन'** शब्द के पञ्चम विकल्प को प्रतिपादित करते हैं–**'किं स्थितीति।'** प्रधानवर्ती साम्यपरिणाम (सरूपपरिणाम) के कारणभूत **'स्थितिसंस्कार'** का क्षय होने पर महदादिरूप विसदृशपरिणाम (विषमपरिणाम) के कारणभूत

'गतिसंस्कार' की अभिव्यक्ति होती है। इसी गतिसंस्कारात्मिका अभिव्यक्ति द्वारा निष्पन्न प्रकृतिगत क्षोभ से प्रकृति-पुरुष (बुद्धि-पुरुष) का संयोग उत्पन्न होता है। (तो क्या यह गतिसंस्कार की अभिव्यक्ति **'अदर्शन'** पदवाच्य है)। प्रकृत्यन्तर्वर्ती द्विविध संस्कार (स्थितिसंस्कार तथा गतिसंस्कार) के सद्भाव में भाष्यकार मतान्तर को प्रमाणरूप में उपस्थित करते हैं–**'यत्रेदमिति।'** वचन में उद्धृत **'स्थित्यै गत्यै'** इन दोनों पदों में तादर्थ्य में चतुर्थी विभक्ति हुई है। अर्थात् इन दोनों पदों का 'स्थिति के लिये' और 'गति के लिये' ऐसा अर्थ क्रमशः किया जाता है। इन दोनों पदों के पश्चात् **'एव'** पद का अध्याहार करना चाहिये। (इससे प्रतीत होता है कि वार्त्तिककार को **'स्थित्यै गत्यै'** ऐसा भाष्य पाठ मान्य है)। पाठभेद को ध्यान में रखते हुए वार्त्तिककार कहते हैं कि जहाँ-कहीं **'स्थित्यैवेति'** ऐसा पाठभेद उपलब्ध होता है वहाँ विशेषण में तृतीया विभक्ति समझनी चाहिये। अर्थात् प्रधान के विशेषणरूप से इन पदों को प्रयुक्त मानना चाहिये। उक्त तथ्य का स्पष्टीकरण इस प्रकार है–यदि प्रधान सर्वदा स्थितिमात्र अर्थात् स्थितिसंस्कार से ही अवस्थित रहे तो कार्य का जनक (कारण) न होने से उसे 'प्रधान' नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि मूलकारणत्व में ही प्रधानत्व है। इसी प्रकार यदि प्रधान (सर्वदा) गतिमात्र अर्थात् विषमसंस्कार से ही अवस्थित रहे तो प्रकृति की भाँति महदादि कार्यों को भी नित्य मानने की आपत्ति आयेगी, फलतः 'कौन किसका मूल है' यह सिद्ध न हो सकेगा। अतः स्थितिसंस्कार तथा गतिसंस्कार दोनों प्रकार से ही प्रधान तत्त्व की विद्यमानता उसे 'प्रधान' पदवाच्य बनाती है। किञ्च प्रकृति का यह प्रधानत्व कार्याभिव्यक्ति के कारण है, किसी अन्य कारण से नहीं। केवल मूलकारणभूता प्रकृति के विषय में ही कालभेद से स्थितिसंस्कार एवं गतिसंस्कार का यह तथ्य निर्णीत नहीं हुआ है अर्थात् इस वर्णन से केवल प्रकृति के ही प्रलयकालीन और सृष्टिकालीन द्विविध संस्कारों को प्रतिपादित नहीं समझना चाहिये, अपितु विकाररूप से कल्पित महदादि कारणभेदों में भी द्विविध संस्कारों की मान्यता तुल्य है, ऐसा प्रसङ्गतः सुनिश्चित होता है। नास्तिकों के कुर्वद्रूपतावाद का खण्डन करने के लिये भाष्यकार ने **'कारणान्तरेष्वपि'** पद का प्रयोग किया है। महदादि कार्यों में यह तथ्य इस प्रकार संयोजित होता है– यदि मृदादि निवृत्तिरूप स्थितिसंस्कार से ही अवस्थित रहें तो कभी भी घटादि कार्य की उत्पत्ति संभव न होने से उन्हें कारण नहीं कहा जा सकेगा। अर्थात् मृदादि का कारणत्व उपपन्न न हो सकेगा। और यदि मृदादि प्रवृत्तिरूप गतिसंस्कार से ही अवस्थित रहें तो मृत्तिका और घट दोनों के ही तुल्यकालिक होने से उनमें कार्य-कारण की स्थिति ही नहीं बन पायेगी। अतः प्रकृति के विकाररूप महदादि कारण भी स्थिति संस्कार और गतिसंस्कार दोनों अवस्था वाले होते हैं।

षष्ठ विकल्प—भाष्यकार षष्ठ विकल्प को बतलाते हैं—'**दर्शनशक्तिरेवेति**।' पुरुष के प्रति अपने को प्रदर्शित करने की जो (बुद्धिगत) क्षमता है, वह दर्शनशक्ति कहलाती है। क्या यही दर्शनशक्ति अदर्शन पदवाच्य है। विवेकख्याति की अनुत्पत्तिरूपा यह शक्ति बुद्धि-पुरुष के संयोग का कारण होती है। जैसा कि सांख्यकारिकाओं द्वारा अभिहित है—'**दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या**' (६६) अर्थात् 'मैं पुरुष द्वारा देख ली गई हूँ, ऐसी प्रकृति उस पुरुष से उपरत हो जाती है और अन्य के संयोग का कारण बनी रहती है' तथा '**पुरुषस्य...कृतः सर्गः**' (११) अर्थात् 'पुरुष के द्वारा ही प्रधान का दर्शन हो सकने के लिये तथा प्रधान के द्वारा पुरुष का कैवल्य हो सकने के लिये (दर्शन और कैवल्य के इच्छुक) प्रकृति-पुरुष का संयोग होता है और उसी संयोग से सृष्टि भी होती है।' अदर्शन के तृतीय विकल्प से इस विकल्प का अन्तर बतलाते हुए वार्त्तिककार कहते हैं—तृतीय विकल्प में प्रतिपादित शब्दादिवृत्ति के अनुत्पाद का परित्याग करते हुए इस विकल्प में केवल विवेकख्याति की अनुत्पादरूपा शक्ति को अदर्शन कहा गया है। यही तृतीय विकल्प से इस विकल्प का अन्तर है। भाष्यकार प्रधाननिष्ठ दर्शनशक्ति के विषय में प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—'**प्रधानस्येति**।' अर्थात् प्रधान की आत्मख्यापन के लिये प्रवृत्ति होती है। वार्त्तिककार बतला रहे हैं कि कालगति से लुप्त शाखा की यह श्रुति है। अर्थात् अद्यतन ग्रन्थों में यह श्रुति नहीं मिलती है।

सप्तम विकल्प—भाष्यकार 'अदर्शन' विषयक सप्तम विकल्प को बताते हैं—'**सर्व-बोध्येत्यादिनाऽवभासत इत्यन्तेन**।' सब कुछ जानने में सक्षम पुरुष भी प्रधान की प्रवृत्ति से पूर्व नहीं देखता है—यह प्रथम प्रकार का पुरुषनिष्ठ 'अदर्शन' है। द्वितीय प्रकार का 'दृश्यनिष्ठ' अदर्शन यह है कि महदादि निखिल कार्यों को उत्पन्न करने में समर्थ अर्थात् स्वरूपयोग्यता वाला दृश्यात्मक प्रधान तब तक प्रवृत्त नहीं होता है जब तक पुरुष के द्वारा नहीं देख लिया जाता है। इस प्रकार का अदर्शन प्रकृति और पुरुष दोनों का धर्म है, ऐसा कुछ लोग मानते हैं। यही सप्तम विकल्प प्रतिपादित अदर्शन है, ऐसा वाक्यशेष है। '**उभयस्याप्यदर्शनं धर्म इत्येके**' इसका यह वाक्यशेष है।

शङ्का—जड़ पदार्थों के अदर्शनरूप होने से अदर्शन जड़ पदार्थों का धर्म कैसे हो सकता है, क्योंकि अभाव (दर्शनाभावरूप अदर्शन) अधिकरणस्वरूप होता है। (अतः अभावरूप अदर्शन को दृश्य का धर्म नहीं कहा जा सकता है)। किञ्च किसी प्रकार का अन्तर्विरोध न होने के कारण लाघवगुण से जड़निष्ठ अदर्शन को तदात्मक मानते हुए उनका एकत्व सिद्ध होता है। दूसरी ओर दृशिरूप पुरुष का अदर्शन कैसे सिद्ध हो सकता है? अर्थात् पुरुषनिष्ठ अदर्शन की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि प्रकाशस्वरूप पुरुष में अप्रकाशत्व सम्भव नहीं है?

समाधान—ऐसी आशंका होने पर भाष्यकार समाधान करते हैं–**'तत्रेदमिति'** उक्त अदर्शनद्वय के मध्य में पहला अदर्शन दृश्यस्वरूपात्मक होता हुआ भी दृश्यधर्मत्व से पुरुषविशिष्ट होता है। इसमें कारण यह है–**'पुरुषप्रत्ययापेक्षमिति'** अर्थात् बुद्धिगत अदर्शन तद्विषयक न होते हुए भी पुरुषप्रत्यय विषयसापेक्ष होता है। **'तथेति'** इसी प्रकार पुरुष के निर्धर्मक तथा प्रकाशस्वरूप होनें से तथाकथित (पुरुषनिष्ठ) 'अदर्शन' अनात्मभूत है, तथापि लोकबुद्धि द्वारा वह पुरुष के धर्मरूप से ही अवभासित होता है। इसमें हेतु है–**'दृश्यप्रत्ययापेक्षमिति'** पुरुषगत अदर्शन दृश्यप्रत्ययसापेक्ष होता है अर्थात् दृश्यविषयक प्रत्यय के अभाव रूप से वह अवभासित होता है।

अष्टम विकल्प—भाष्यकार अदर्शनविषयक अष्टम विकल्प का प्रतिपादन करते हैं–**'दर्शनज्ञानमिति'**। विषयों का वासनारूप ज्ञान ही अदर्शन है, क्योंकि यह भी द्रष्टा-दृश्य के संयोग का कारण है। यहाँ पर भोगापवर्गरूप अनागतावस्थ दर्शन को 'अदर्शन' नहीं कहा गया है, क्योंकि ऐसा मानने पर भोगापवर्ग के अर्थवान् होने से पुनः उन्हें द्रष्टा-दृश्य-संयोग का हेतु मानने पर पुनरुक्तिदोष उपस्थित होगा। भाष्यकार प्रकृत विषय को उपसंहृत करते हैं–**'इत्येत इति'** शास्त्रों में तान्त्रिकों द्वारा ये अज्ञान के भेद कहे गये हैं॥२३॥

परवर्ती सूत्र के साथ पूर्ववर्ती सूत्र का अन्वय करते हुए भाष्यकार अगले सूत्र को अवतरित करते हैं–

व्यासभाष्यम्

यस्तु प्रत्यक्चेतनस्य स्वबुद्धिसंयोगः–

प्रत्यक्चेतन अर्थात् पुरुष का अपनी बुद्धि के साथ जो संयोग होता है–

योगसूत्रम्

तस्य हेतुरविद्या ॥२४॥

उसका कारण 'अविद्या' है॥२४॥

व्यासभाष्यम्

विपर्ययज्ञानवासनेत्यर्थः। विपर्ययज्ञानवासनावासिता च[1] न कार्यनिष्ठां पुरुष[2]ख्यातिं बुद्धिः प्राप्नोति, साधिकारा[3] पुनरावर्तते। सा तु पुरुषख्याति[4]पर्यवसानां

---

1. क ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य–च उपलभ्यते, ख घ प फ र–च नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब ब म य र–ख्यातिम्, झ त–ख्याति०।
3. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र–साधिकारा, झ त–समाधिकारा।
4. क ग च छ झ त थ ध न न भ य–पर्यवसानां, ख घ ज द प फ भ र–पर्यवसाना॥

कार्य[1]निष्ठां प्राप्नोति, चरिताधिकारा निवृत्ता[2]दर्शना बन्धकारणाभावान्न पुनरावर्तते। अत्र कश्चित्[3]षण्डकोपाख्यानेनोद्घाटयति—मुग्धया भार्ययाभिधीयते षण्डकः—आर्यपुत्र? अपत्यवती मे भगिनी किमर्थं नाहमिति। स तामाह—मृतस्तेऽहमपत्यमुत्पादयिष्यामीति। तथेदं विद्यमानं ज्ञानं चित्त[4]निवृत्तिं न करोति, विनष्टं करिष्यतीति का प्रत्याशा। तत्राचार्यदेशीयो वक्ति—ननु बुद्धिनिवृत्तिरेव मोक्षः, अदर्शनकारणाभावाद् बुद्धि[5]निवृत्तिः। तच्चा[6]दर्शनं बन्धकारणं दर्शनान्निवर्तते। तत्र चित्तनिवृत्तिरेव मोक्षः। [7]किमर्थमस्थान एवास्य मतिविभ्रमः॥२४॥

(सूत्र में प्रयुक्त 'अविद्या' पद का अर्थ है)—विपर्ययज्ञानजनित वासना। मिथ्याज्ञान की वासना से आपूरित (परिपूर्ण) बुद्धि विवेकख्यातिरूपी कार्य-समाप्ति (निरधिकारता) को प्राप्त नहीं करती है, फलतः कर्त्तव्ययुक्त होकर (प्रलय के पश्चात् अग्रिम सृष्टि में) पुनः अभिव्यक्त होती है। किन्तु विवेकख्याति में पर्यवसित हो चुकने वाली वह बुद्धि चरिताधिकारा हो जाती है अर्थात् कर्त्तव्यसमाप्ति को प्राप्त कर लेती है। कृतकृत्य हुई तथा अज्ञान को नष्ट कर चुकने वाली बुद्धि, संयोग के कारण के नष्ट हो जाने से, पुनः अभिव्यक्त नहीं होती है। यहाँ पर कोई नास्तिक, नपुंसक की कथा के माध्यम से, आक्षेप करता है—कोई भोली-भाली पत्नी अपने नपुंसक पति से कहती है—'हे आर्यपुत्र! मेरी बहिन पुत्रवती हो चली है मैं क्यों नहीं हुई'? वह उससे कहता है—'मरकर मैं तुम्हारे लिये पुत्र उत्पन्न करूँगा।' इसी प्रकार प्रकृत में विवेकख्यातिरूपी ज्ञान विद्यमान रहता हुआ भी जब चित्त की निवृत्ति नहीं करता है, तब स्वयं नष्ट हो जाने पर चित्त को निवृत्त कर देगा—इसमें क्या प्रमाण है? अर्थात् इस विषय में क्या आशा की जा सकती है? इस विषय में एकदेशीय आचार्य कहते हैं कि बुद्धि की निवृत्ति ही मोक्ष है। अविद्यारूप अपने कारण के अभाव से बुद्धि की निवृत्ति हो जाती है। बन्धन अर्थात् संयोग की कारणभूता अविद्या विवेकख्याति से ही निवृत्त होती है। यहाँ चित्तनिवृत्ति को ही मोक्ष कहा गया है। अतः किस कारण इस नास्तिक को अनवसर में ही मतिभ्रम हो गया, यह समझ में नहीं आ रहा है ॥२४॥

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र—निष्ठां, द—निष्ठा।
2. क ख ग घ च ज झ थ द ध न प प ब भ म य र—अदर्शना, छ त—अदर्शन०।
3. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ—पण्डक०, ध प फ म य र—षण्डक०।
4. क ख ग घ च छ ज थ ध न प फ ब भ म य र—निवृत्तिं, झ त द—वृत्तिम्।
5. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न प फ ब भ म य र—निवृत्तिः, त—वृत्तिः।
6. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—अदर्शनम्, ज—अदर्शन०।
7. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न फ ब भ म य र—किमर्थम्, प—कथम्।

तत्त्ववैशारदी

चतुर्थं विकल्पं निर्धारयितुं सूत्रमवतारयति—यस्तु प्रत्यक्चेतनस्य स्वबुद्धिसंयोग इति। [1]प्रतीपमञ्चति प्राप्नोतीति प्रत्यक् असाधारणस्तु संयोग एकैकस्य पुरुषस्यैकैकया बुद्ध्या वैचित्र्यहेतुः। सूत्रं पठति—तस्येति। नन्वविद्या विपर्ययज्ञानम्, तस्य भोगापवर्गयोरिव स्वबुद्धिसंयोगो हेतुः, असंयुक्तायां बुद्धौ तदनुत्पत्तेः। तत्कथमविद्या संयोगभेदस्य हेतुरित्यत आह—विपर्ययज्ञानवासनेति। सर्गान्तरीयाया अविद्यायाः स्वचित्तेन सह निरुद्धाया अपि प्रधानेऽस्ति वासना। तद्वासनावासितं च प्रधानं तत्तत्पुरुषसंयोगिनीं तादृशीमेव बुद्धिं सृजति। एवं पूर्वपूर्वसर्गेष्वित्यनादित्वाददोषः। अत एव प्रतिसर्गावस्थायां न पुरुषो मुच्यत इत्याह—विपर्ययज्ञानेति। यदा पुरुष[2]ख्यातिं कार्यनिष्ठां प्राप्ता तदा विपर्ययज्ञानवासनाया बन्धकारण-स्याभावान्न पुनरावर्तत [3]इत्याह—सा त्विति।

अदर्शन के पूर्वोल्लिखित अष्ट विकल्पों में से चतुर्थ विकल्प को सिद्धान्ततः निर्धारित करने के लिये भाष्यकार सूत्र को अवतरित करते हैं—'यस्तु प्रत्यक्चेतनस्य स्वबुद्धिसंयोग इति।' तत्त्ववैशारदीकार 'प्रत्यक्' शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं—"प्रति=प्रतीपं, अञ्चति=प्राप्नोतीति प्रत्यक्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो विपरीत रूप को प्राप्त करता है, उसे 'प्रत्यक्' कहते हैं। इस प्रकार 'प्रत्यक्चेतन' शब्द का अर्थ है—अज्ञानी पुरुष। ऐसे एक-एक पुरुष का एक-एक बुद्धि के साथ होने वाला वैचित्र्य का हेतुभूत संयोग 'असाधारण संयोग' (संयोगविशेष) कहलाता है। भाष्यकार सूत्र पढ़ते हैं—'तस्येति।' अविद्या, विपर्ययज्ञान है। भोगापवर्ग के समान विपर्ययज्ञान का हेतु 'स्वबुद्धिसंयोग' है, क्योंकि स्वबुद्धिसंयोग न होने पर बुद्धि में विपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। तो फिर कैसे अविद्या संयोगभेद का हेतु (कारण) है।

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'विपर्ययज्ञानवासनेति।' सर्गान्तरीय अविद्या का अपने (आश्रयभूत) चित्त के साथ निरोध (लय) हो जाने पर भी अविद्याजनित वासना प्रधान में विद्यमान रहती है। इस वासना से वासित प्रधान (अग्रिम सृष्टि में) तत्तत् पुरुषों से संयुक्त हुई तादृशी पूर्ववासनावासिता बुद्धि को ही उत्पन्न करता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व सर्गों में अर्थात् पूर्व के अनन्त सर्गों में भी मिथ्याज्ञानरूपा वासना का अनादित्व होने से कोई दोष (अन्योन्याश्रयदोष) नहीं है। अर्थात् पूर्व के अनन्त सर्गों में भी अनादिवासनारूप अविद्या के विद्यमान रहने से नूतन सृष्टि की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं है। अत एव प्रलयावस्था में (वासनारूप अविद्या के विद्यमान रहने से) पुरुष मुक्त नहीं होता है, 'ऐसा भाष्यकार बतलाते हैं—

---

1. क त—प्रति प्रति, ख थ द ध—प्रति प्रतीपं, ग घ च छं ज झ न—प्रतीपम्।
2. क ख ग घ च झ त थ द ध न—ख्यातिम्, छ ज—ख्यातिः।
3. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न—इत्याह, ख—इत्यत आह।

'विपर्ययज्ञानेति' विपर्ययज्ञान की वासना से वासित बुद्धि जब तक सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप **'कार्यनिष्ठा'** अर्थात् स्वकर्त्तव्य की चरमसीमा को प्राप्त नहीं करती है तब तक **'साधिकारा'** अर्थात् कार्यारम्भण में समर्थ होकर सर्ग-सर्गान्तरपर्यन्त आवृत्तिशील रहती है और पुरुष के साथ संयुक्त होती है। किन्तु जब बुद्धि पुरुषख्याति अर्थात् भेदज्ञानरूपा **'कार्यनिष्ठा'** अर्थात् स्वकर्त्तव्य की इतिश्री को प्राप्त होती है, तब बन्ध के कारण विपर्ययज्ञानजनित वासना का अभाव (उच्छेद) होने से वह पुनः आवृत्तिशील नहीं रहती है, ऐसा भाष्यकार बतलाते हैं—**'सा त्विति'**

बालप्रिया—

'ननु...संयोगभेदस्य हेतुः'—शंका का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—'संयोग होने पर विपर्ययज्ञान और विपर्ययज्ञान होने पर संयोग', इस प्रकार अन्योन्याश्रयदोष को ध्यान में रखते हुए शंकालु कहता है जैसे 'भोगापवर्ग' का हेतु बुद्धिपुरुषसंयोग है वैसे विपर्ययज्ञान का हेतु भी वही बुद्धिपुरुषसंयोग ही है। इसमें प्रमाण यह है कि बुद्धि का पुरुष के साथ संयोग न रहने पर उसमें (बुद्धि में) विपर्ययज्ञान का उदय नहीं होता है। अतः संयोग हुए विना अविद्या को बुद्धिपुरुषसंयोग का कारण कैसे कहा जा रहा है?

'विपर्ययज्ञानवासना—इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से यह सिद्ध होता है कि विपर्ययज्ञानजनित वासना ही बुद्धि-पुरुष के संयोग का असाधारण कारण है। इससे अविद्या कैसे संयोगविशेष का कारण है? इस शंका का भी समाधान हो जाता है।

'बन्धकारणाभावात्' की उपयोगिता को न समझ पाने वाले पूर्वपक्षी को तदाधारित 'न पुनरावर्त्तते' की मोक्ष-सम्बन्धी मान्यता षण्डकोपाख्यान की भाँति असम्भव प्रतीत होती है। सम्प्रति, मोक्ष-सम्बन्धी इसी असम्भव स्थिति को षण्डकोपाख्यान द्वारा पूर्वपक्षी स्पष्ट करता है—

तत्त्ववैशारदी

अत्र कश्चिन्नास्तिकः कैवल्यं षण्डकोपाख्यानेनोपहसति। षण्डकोपाख्यानमाह—मुग्धयेति। किमर्थमित्यर्थशब्दो निमित्तमु[1]पलक्षयति, प्रयोजनस्यापि निमित्तत्वात्। षण्डको[2]पाख्यानेन साम्यमापादयति—तथेदमिति।[3] इदं विद्यमानं गुणपुरुषान्यता[4]ख्यातिज्ञानं चित्त[5]निवृत्तिं न

1. क ख ग घ च छ ज झ त न—उपलक्षयति, थ द ध—लक्षयति।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न—उपाख्यानेन, थ द ध—उपाख्यान।
3. थ द ध—तथेदमिति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त—तथेदमिति—नोपलभ्यते।
4. थ द ध न—ख्याति० उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त—ख्याति० नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न—निवृत्तिं, ज—वृत्तिम्।

करोति, परवैराग्येण ज्ञानप्रसादमात्रेण [1]ससंस्कारं निरुद्धं विनष्टं करिष्यतीति का प्रत्याशा। यस्मिन्सत्येव यद्भवति तत्तस्य कार्यम्, न तु यस्मिन्नसतीति भावः। अत्रैकदेशिमतेन परिहारमाह—[2]तत्राचार्यदेशीय इति। ईषदपरिसमाप्त आचार्य आचार्यदेशीयः। आचार्यस्तु वायुप्रोक्ते कृतलक्षणः—

आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते॥ इति।

शङ्का—अब कोई नास्तिक षण्डकोपाख्यान द्वारा 'विवेकज्ञान से कैवल्य प्राप्त होता है'—इस विषय में उपहास करता है। अर्थात् कैवल्योपाय पर आक्षेप करता है। भाष्यकार सर्वप्रथम षण्डकोपाख्यान को बतलाते हैं—'**मुग्धयेति**।' भाष्यार्थ करते समय पीछे षण्डकोपाख्यान को बतलाया जा चुका है। षण्डकोपाख्यान के प्रकरण में आये '**किमर्थम्**' में '**अर्थ**' शब्द 'निमित्त' अर्थ को ध्वनित करता है, क्योंकि प्रयोजन भी निमित्त होता है। (अर्थात् हे आर्यपुत्र! जब मेरी बहिन पुत्रवती हो सकती है तो मैं किस निमित्त से पुत्रवती नहीं हो सकती? अर्थात् पुत्रप्राप्तिरूप प्रयोजन की निमित्तता मुझ में भी है)। भाष्यकार षण्डकोपाख्यान का दार्ष्टान्त से साम्य प्रदर्शित करते हैं—'**तथेदमिति**।' वैसे ही सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप ज्ञान (विवेकज्ञान) विद्यमान रहता हुआ जब चित्तनिवृत्तिरूप कैवल्य को नहीं कर सकता है तब परवैराग्यरूप ज्ञानप्रसादमात्र से संस्कारयुक्त निरुद्ध चित्त को विनष्ट करेगा, इस विषय में विश्वास कैसे किया जा सकता है? (अर्थात् अपने अस्तित्वकाल में ही जब विवेकज्ञान में मोक्षप्रदातृत्व शक्ति नहीं है, तब अस्तित्वहीन होकर विवेकज्ञान कैसे चित्तनिवृत्ति कर सकेगा? इस दार्ष्टान्त का दृष्टान्त पक्ष यह है कि जीवित नपुंसक में जब पुत्रोत्पत्ति का सामर्थ्य नहीं है, तब मरकर वह कैसे सामर्थ्ययुक्त हो सकता है?) क्योंकि जिसके रहने पर जो होता है, वह उसका कार्य कहा जाता है और जिसके न रहने पर जो होता है, वह उसका कार्य नहीं कहा जाता है। पूर्वपक्षी के कथन का अभिप्राय यह है कि कार्यकारणभाव के नियामक इस अन्वय-व्यतिरेक से विवेकज्ञान मोक्ष का कारण नहीं है।

समाधान—भाष्यकार एकदेशी के अनुसार उपरिवर्णित अनर्गल आक्षेप का परिहार करते हैं—'**तत्राचार्यदेशीय इति**।' तत्त्ववैशारदीकार '**आचार्यदेशीय**' का विग्रह करते हैं—'**ईषदपरिसमाप्त आचार्य आचार्यदेशीयः**'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'आचार्य' पद को प्राप्त होने में जिसे कुछ विलम्ब है, उसे '**आचार्यदेशीय**' कहते हैं। 'आचार्य' का लक्षण वायुपुराण में किया गया है—'**आचिनोति...चोच्यते**' अर्थात् 'जो शास्त्रीय अर्थों

---

1. क ख ग घ च छ ज थ द ध न—ससंस्कारं, झ त—संस्कारम्।
2. क ग घ च छ ज झ त—तत्रेति, ख न—अत्रेति थ द ध—तत्राचार्यदेशीय इति।

(सिद्धान्तों) को संचित करता है, जनता को सदाचार में नियुक्त करता है और स्वयं भी सदाचारी होता है, उसे 'आचार्य कहते हैं।'

मोक्ष के विषय में पूर्वकथित मत को ही स्पष्ट करते हुए आचार्यदेशीय पुनः कह रहा है—

तत्त्ववैशारदी

भोगविवेकख्यातिरूपपरिणतबुद्धिनिवृत्तिरेव मोक्षः, न तु[1] बुद्धिस्वरूपनिवृत्तिः। सा च धर्ममेघान्तविवेकख्यातिप्रतिष्ठाया अनन्तरमेव भवति सत्यपि बुद्धिस्वरूपमात्रावस्थान इत्यर्थः। एतदेव स्फोरयति—[2]अदर्शनेति। अदर्शनस्य बन्धकारणस्याभावाद् बुद्धिनिवृत्तिः तच्चादर्शनं बन्धकारणं दर्शनान्निवर्तते। दर्शननिवृत्तिस्तु परवैराग्यसाध्या, सत्यपि बुद्धिस्वरूपावस्थाने मोक्ष इति भावः।

शब्दादिभोगवृत्ति तथा विवेकख्यातिरूपवृत्ति में परिणत होने वाली बुद्धि की निवृत्ति को ही 'मोक्ष' कहते हैं, न कि बुद्धि के स्वरूप की निवृत्ति 'मोक्ष' है। किञ्च धर्ममेघपर्यन्त विवेकख्याति की प्रतिष्ठा के अनन्तर होने वाला बुद्धिनिवृत्तिरूप मोक्ष बुद्धि की 'स्वरूपमात्रावस्थिति रूप' है। (अर्थात् बुद्धि का निर्वृत्तिक होना ही बुद्धिनिवृत्ति है, न कि सर्वथा नाश)। भाष्यकार इसी अर्थ को ही स्पष्ट करते हैं— 'अदर्शनेति।' अदर्शन अर्थात् बन्ध के कारण का अभाव होने से बुद्धि की निवृत्ति होती है। और यह बन्ध का हेतुभूत अदर्शन, 'दर्शन' अर्थात् विवेकख्यातिरूप विद्या से निवृत्त होता है। सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप 'दर्शन' की निवृत्ति परवैराग्य द्वारा होती है। इस प्रकार बुद्धिवृत्ति की निवृत्ति होने पर बुद्धितत्त्व की जो 'स्वरूपावस्थिति' है उसे मोक्ष कहते हैं।

बालप्रिया—

वस्तुतस्तु षण्डकोपाख्यान की यहाँ प्रसक्ति ही नहीं है। दोनों में मूलभूत विषमता यह है कि पुत्र के प्रति पिता साक्षात् कारण होता है, परम्परया नहीं। जब कि विवेकख्याति मोक्ष का परम्परया कारण है, साक्षात् नहीं।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार भाष्यकार के मत को उपस्थित करते हैं—

तत्त्ववैशारदी

एकदेशिमतमुपन्यस्य स्वमतमाह—तत्र चित्तनिवृत्तिरेव मोक्ष इति। ननूक्तं दर्शने निवृत्तेऽचिराच्चित्तस्वरूपनिवृत्तिर्भवतीति कथं दर्शनकार्येत्यत आह—[3]किमर्थमस्थान एवा-

---

1. क ग थ द ध—च, ख घ च छ ज झ त न—तु।
2. थ द ध—अदर्शनेति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त—अदर्शनेति नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त द न—किम्, थ ध—कथम्।

स्य[1] मतिविभ्रम इति। अयमभिसन्धिः—यदि दर्शनस्य साक्षाच्चित्तनिवृत्तौ कारणभावम-[2]ङ्गीकुर्वीमहि तत एवमुपालभ्येमहि, किं तु विवेकदर्शनं प्रकर्षकाष्ठां प्राप्तं निरोधसमाधि-भावनाप्रकर्षक्रमेण चित्तनिवृत्तिमत्पुरुषस्वरूपावस्थानोपयोगीत्यातिष्ठामहे, तत्कथमुपालभ्ये-महीति ॥२४॥

इस प्रकार एकदेशीय के मतानुसार पूर्वपक्षी की शंका को निरस्त करके सम्प्रति भाष्यकार स्वमत (सिद्धान्तमत) से उक्त शंका का परिहार करते हैं—'**तत्र चित्तनिवृत्तिरेव मोक्ष इति।**' चित्तनिवृत्ति ही मोक्ष है।

शङ्का—दर्शन अर्थात् विवेकख्याति के निवृत्त (निरुद्ध) होने पर अविलम्ब (त्वरित) चित्तस्वरूप की निवृत्ति होती है तो मोक्ष दर्शन का कार्य है, यह कैसे कहा गया है?

समाधान--इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**किमर्थमस्थान एवाऽस्य मतिविभ्रमः**' (समझ में नहीं आ रहा है कि किस कारण से इस नास्तिक को असमय में मतिभ्रम हुआ है)। भाव यह है—यदि हम विवेकख्याति को चित्तनिवृत्तिरूप मोक्ष के प्रति साक्षात् कारण स्वीकार करते, तो नास्तिक उक्त उपालम्भ दे सकता था, किन्तु हम ऐसा तो कहते नहीं हैं। हम तो यह कहते हैं कि पराकाष्ठा को प्राप्त होती हुई विवेकख्याति निरोध-समाधि की भावना के प्रकर्ष से धीरे-धीरे चित्त-निवृत्ति करती हुई पुरुष के स्वरूपावस्थानरूप मोक्ष के प्रति उपयोगिनी होती है। अतः नास्तिक लोग हमें उपालम्भ कैसे दे सकते हैं?

बालप्रिया—

'**बुद्धिनिवृत्तिरेव मोक्षः, चित्तनिवृत्तिरेव मोक्ष**':—इन दो वाक्यों पर विचार किया जा रहा है—

शङ्का—यदि चित्तनिवृत्ति ही मोक्ष है तो आचार्यदेशीय के मत से स्वमत में अन्तर क्या है? क्योंकि आचार्यदेशीय ने भी बुद्धिनिवृत्ति को ही मोक्ष कहा है। और योगदर्शन में बुद्धि और चित्त पर्याय रूप से व्यवहृत होते हैं। अतः '**चित्तनिवृत्तिरेव मोक्षः**' को दूसरा विकल्प नहीं अपितु अपर समाधान समझना चाहिये' यह आचार्यदेशीय के मत का तात्पर्य है।

समाधान—आचार्यदेशीय मत और स्वमत में थोड़ा सा अन्तर यह है कि एकदेशीय के मत में बुद्धि के रहने पर भी बुद्धि के शब्दाद्याकार परिणाम की निवृत्ति मोक्ष है। और स्वमत में बुद्धि का ही स्वरूपतः विलय मोक्ष है। यही एकदेशीय मत और सिद्धान्ती के मत में अन्तर है॥२४॥

---

1. थ द ध—एवास्य उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त थ न—एवास्य नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न—अङ्गीकुर्वीमहि, थ द ध—अङ्गीकुर्महि।

योगवार्त्तिकम्

[1]संयोगभेदेन सर्वेषामेवादर्शनानां हेतुत्वं सिद्धान्तयन्नेव संयोगविशेषहेत्वदर्शनविशेषपरतयोत्तरसूत्रमवतारयति—तत्र विकल्पेति। तत्रादर्शने विकल्पबहुत्वं भेदबाहुल्यमेतत्पुरुषसामान्यस्य गुणसामान्यस्य च पुरुषार्थहेतुसंयोगसामान्यं प्रति कारणतायां बोध्यम्।

संयोग-भेद से (उपरिवर्णित) सभी अदर्शनों में संयोग-हेतुता को सिद्धान्तित करते हुए ही द्रष्टा-दृश्य के संयोगविशेष का हेतुभूत अदर्शन विशेषपरक होने से भाष्यकार उत्तर (परवर्ती) सूत्र को अवतरित करते हैं—'तत्र विकल्पेति।' 'अदर्शन' के विषय में प्रतिपादित यह विकल्पबाहुल्य पुरुषसामान्य तथा गुणसामान्य के पुरुषार्थ-हेतुक 'संयोगसामान्य' के प्रति कारण रूप में जानने योग्य है।

'बालप्रिया—

'तत्र विकल्पबहुत्वमेतत्सर्वपुरुषाणां गुणानां संयोगे साधारणविषयम्'—मिश्र-भिक्षु-मतभेद—वाचस्पति मिश्र ने इस भाष्य-वाक्य को पिछले तेईसवें सूत्र का अंश माना है. जब कि विज्ञानभिक्षु ने इसे प्रकृत सूत्र की अवतरणिका के रूप में संयोजित किया है।

योगवार्त्तिकम्

यस्तु प्रत्येकचेतनस्य तत्तच्चेतनस्य स्वबुद्धिसंयोगो हेयहेतुः स्वस्वामीत्यादिप्रकृतसूत्रेणोक्तः तस्य हेतुरविद्या चतुर्थविकल्परूपमदर्शनमेवेति सूत्रेण सहान्वयः। प्रत्यक्चेतनस्येति पाठे स्वस्वबुद्ध्यनुगमशीलचेतनस्येत्यर्थः। अयं भावः—अविद्याक्षयोत्तरमपि जीवन्मुक्तस्य भोगार्थं विषयरूपेण परिणतैर्गुणैः सह संयोग उत्पद्यतेऽतो नाविद्या गुणपुरुषसंयोग[2]सामान्ये हेतुः किं तु यथोक्तो गुणाधिकारादिरेव, स्वबुद्धिसंयोगस्तु जन्मापरनामाऽविद्यां विना न भवतीति बुद्धिपुरुषसंयोग एवासाधारण्येनाविद्याहेतुर्भवति। सैव च बुद्धिः संयोगद्वारा द्रष्टृदृश्यसंयोगहेतुर्विद्योच्छेद्या च भवतीत्याशयेन सैवोत्तरसूत्रेण सूच्यते, न गुणाधिकारादिः, तस्य ज्ञानानुच्छेद्यत्वात्। एकस्य पुंसो मुक्तावपि पुरुषान्तरार्थं गुणाधिकारादितादवस्थ्यात्। यदेव च पुरुषेणोच्छेत्तुं शक्यते तदेव हेयनिदानमत्र प्रतिपादनीयम्; अन्यथा कालकर्मेश्वरादीनामपि हेयहेतुसंयोगकारणतया तेषामप्यत्र प्रतिपाद्यताऽऽपत्तेरिति। तस्य हेतुरविद्या। तस्य द्रष्टृदृश्यसंयोगस्य बुद्धिपुरुषसंयोगद्वारा हेतुरविद्येत्यर्थः।

'प्रत्येकचेतन' अर्थात् तत्तत् पुरुष का स्व-स्व बुद्धि के साथ जो संयोग होता है, वही 'हेयहेतु' है जिसे स्वस्वामिशक्त्योः (२/२३) सूत्र द्वारा व्युत्पादित किया गया है।

---

1. क ग घ च—संयोगभेदेन...प्रतिपाद्यताऽऽपत्तेरिति २/२३ सूत्रमधिकृत्य भाष्यवार्तिकस्य उत्तरार्द्धः, छ—संयोगभेदेन...प्रतिपाद्यताऽऽपत्तेरिति २/२४ सूत्रमधिकृत्य भाष्यवार्तिकस्य पूर्वार्द्धः।
2. क ग घ छ—सामान्ये, च—सामान्यम्।

अतः 'तस्य हेतुरविद्या' (२/२४) इस सूत्र के साथ चतुर्थ विकल्प में प्रतिपादित 'अदर्शन' का ही अन्वय किया जाता है। 'प्रत्येकचेतनस्य' के स्थान पर जहाँ-कहीं 'प्रत्यक्चेतनस्य' ऐसा पाठभेद समुपलब्ध होता है वहाँ इस पाठ का अर्थ यह किया जाता है–'अपनी-अपनी बुद्धि का अनुगमन करने वाले चेतन पुरुष का' (बुद्धि के साथ होने वाला संयोग अविद्यानिमित्तक होता है)। तात्पर्य यह है कि विवेकाग्नि द्वारा अविद्या का नाश हो जाने पर भी जीवन्मुक्त के (प्रारब्ध कर्म के) भोग-निष्पत्त्यर्थ विषयरूप से परिणाम को प्राप्त गुणों के साथ पुरुष का संयोग बना रहता है। अतः अविद्या गुण-पुरुष के संयोगसामान्य का कारण नहीं है, अपितु पूर्व प्रतिपादित गुणाधिकार ही बुद्धि-पुरुष के संयोग का कारण है। पुरुष का बुद्धि के साथ संयोग, जिसे 'पुरुष का जन्म' इस पर्याय से भी कहा जाता है, 'अविद्या' के विना संभव नहीं है। अतः बुद्धि-पुरुष के संयोग में असाधारण रूप से 'अविद्या' ही कारण है अर्थात् बुद्धि-पुरुष के संयोगविशेष का असाधारणकारण है–अविद्या। द्रष्टा-दृश्य के संयोग की हेतुभूता यही अविद्यात्मिका वृत्ति संयोगविधया विद्या के द्वारा उच्छेद्य (नष्ट होने योग्य) है–इसी अभिप्राय वाले उत्तर सूत्र द्वारा यह सूचित होता है। न कि विद्या (विवेकख्याति) के द्वारा गुणाधिकारादि की उच्छिन्नता सूचित होती है, क्योंकि ज्ञान के द्वारा गुणाधिकार का उच्छेद (नाश) संभव नहीं है। कारण यह है कि एक पुरुष के मुक्त हो जाने पर भी अन्य पुरुषों के प्रति गुणाधिकारादि तदवस्थ बना रहता है। यहाँ उसी हेयहेतु को प्रतिपादित किया जा रहा है, जिसका पुरुष के द्वारा उच्छेद संभव हो सके। अन्यथा काल, कर्म, ईश्वरादि में भी हेयहेतु= संयोग की कारणता होने से उनके भी नाश्यत्व की आपत्ति आयेगी। अर्थात् बुद्धि-पुरुष के संयोग का असाधारणकारण किसी को न मानने पर यह असामाञ्जस्य स्थिति उत्पन्न होगी कि पुरुष के मोक्षार्थ काल, कर्म, ईश्वरादि रूप सामान्यकारण का भी नाश होना अपेक्षित रहेगा। अतः सूत्र है–'तस्येति।' बुद्धि-पुरुष के संयोग द्वारा अविद्या द्रष्टा-दृश्य के संयोग का कारण है।

बालप्रिया–

'प्रत्येकचेतनस्य'–मिश्र-भिक्षु-मतभेद–वाचस्पति मिश्र के अनुसार **'प्रत्यक्चेतनस्य'** ऐसा भाष्यांश है। **'प्रत्यक्'** शब्द का अर्थ करते हुए तत्त्ववैशारदीकार ने कहा है–**'प्रतीपमञ्चति प्राप्नोतीति प्रत्यक्'**। जब कि विज्ञानभिक्षु को **'प्रत्येकचेतनस्य'** ऐसा भाष्यपाठ अभीष्ट है। भिक्षु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है–**'यस्तु प्रत्येकचेतनस्य तत्तच्चेतनस्य'**। भिक्षु ने पाठभेद कहते हुए **'प्रत्यक्चेतनस्य'** का अर्थ भी किया है–**'स्वस्वबुद्ध्यनुगमशीलचेतनस्य।'**

योगवार्त्तिकम्

भाष्यकारेण च सूत्रकारतात्पर्याभिप्रायेणैव तस्येत्यस्य बुद्धिसंयोगस्येत्यर्थ उक्तः; न तु साक्षादेव द्रष्टुर्दृश्यसामान्यसंयोगस्यैव पूर्वसूत्रे प्रकृतत्वात्। बुद्धिसंयोगस्येति। अविद्या चात्र [1]नानात्मन्यात्मबुद्धिमात्रम्, तस्य बुद्धिसंयोगा[2]हेतुत्वात्; अनित्यादौ नित्यादिबुद्धिरूपाणामविद्यानां वक्ष्यमाणविवेकख्यातिनाश्यत्वानुपपत्तेश्च। सा चाविद्या बुद्धिसंयोगजन्यतया तदव्यवहितप्राक्काले न सम्भवतीत्यत आह भाष्यकारः—विपर्ययेति। सर्गान्तरीयाविद्यायाः स्वचित्तेन सह निरुद्धायाः प्रधाने या वासना स्थिता तया वासितं प्रधानं तत्पुरुषसंयोगिनीं तादृशीमेव बुद्धिं सृजतीत्यनादित्वान्न दोषः।

योगवार्त्तिककार कह रहे हैं कि भाष्यकार ने भी सूत्रकार के तात्पर्य के अनुसार ही सूत्रगत **'तस्य'** पद का अर्थ **'बुद्धिसंयोगस्य'** किया है, न कि द्रष्टा का साक्षात् दृश्यसामान्य के साथ होने वाले संयोग का हेतु अविद्या को बताया है, क्योंकि द्रष्टा-दृश्य का संयोगसामान्य तो पूर्व सूत्र में प्रतिपादित हो चुका है। वार्त्तिककार भाष्य को उठाते हैं—**'बुद्धिसंयोगस्येति।'** यहाँ **'अविद्या'** का अर्थ केवल 'अनात्म् में आत्मबुद्धि' नहीं है, क्योंकि उसका यह स्वरूप बुद्धि-पुरुष के संयोग का हेतु नहीं है तथा अनित्यादि में होने वाला नित्यादिज्ञानरूप अविद्या के भेदों का वक्ष्यमाण विवेकख्याति से नाश्यत्व उपपन्न नहीं होता है अर्थात् विवेकख्याति से अनित्यादि में नित्यादिबुद्धिरूप अविद्या की निवृत्ति नहीं होती है। और वह अविद्या बुद्धिसंयोग से जन्य होने के कारण संयोग से अव्यवहित पूर्वकाल में विद्यमान नहीं हो सकती है, अतः भाष्यकार कहते हैं—**'विपर्ययेति।'** स्व चित्त के साथ निरुद्ध हुई पूर्वजन्मीय (सर्गान्तरीय) अविद्या-वासना जो प्रधान में स्थित है, उस वासना से वासित **'प्रधान'** उस पुरुष से सम्बन्धित उसी बुद्धि को उत्पन्न करता है। अतः अविद्याजन्य वासना के अनादि होने से किसी प्रकार का दोष (असंगति) नहीं आता है।

बालप्रिया—

'तस्येत्यस्य बुद्धिसंयोगस्येत्यर्थ उक्तः'—मिश्र-भिक्षु-मतभेद—वार्त्तिककार की इस व्याख्या से ऐसा प्रतीत होता है कि **'तस्य बुद्धिसंयोगस्य'** यह पाठ भी प्रकृत सूत्र के भाष्य का अंश है, अन्यथा वार्त्तिक का शब्दार्थसम्बन्धी यह निर्देश असमीचीन सिद्ध होगा। तत्त्ववैशारदी में **'बुद्धिसंयोगस्य'** इस भाष्यांश को नहीं उठाया गया है। अतः यह विचारणीय तथ्य है।

सम्प्रति, अविद्याजन्य वासना के कथित मन्तव्य को स्पष्ट किया जा रहा है—

---

1. छ—न उपलभ्यते, क ग घ च— न नोपलभ्यते।
2. क ग घ च—हेतुत्वात्, छ- अहेतुत्वात्।

योगवार्त्तिकम्

अविद्यावासनायां बुद्धिपुरुषसंयोगहेतुत्वे युक्तिमाह—विपर्ययेति। विपर्ययज्ञानवासना-बलात् पुरुषख्यातिरूपां कार्यनिष्ठां स्वकर्त्तव्यचरमावधिं न प्राप्नोति बुद्धिरतः स्वाधिकारतया पुनरावर्त्तते पुरुषेण संयुज्यते, सा तु बुद्धिः पुरुषान्यताख्यातिपर्यन्ता सती कार्यसमाप्तिं प्राप्नोति परवैराग्योत्पादात्, ततश्च चरिताधिकारा निष्पादितकार्या निवृत्ताविद्या सती संयोगाख्यबन्धस्य कारणाभावात् न पुनः पुरुषेण संयुज्यत इत्यर्थः। तथा चान्वयव्यतिरेकाभ्यां विपर्ययवासनाबुद्धिः पुरुषसंयोगहेतुरिति भावः।

अविद्याजन्य वासना में बुद्धि-पुरुष-संयोग की कारणता है, इसे भाष्यकार सयुक्तिक प्रमाणित करते हैं—'विपर्ययेति।' विपर्ययज्ञान (विपर्यस्त ज्ञान) के वासना-प्राबल्य से पुरुषख्यातिरूपिणी 'कार्यनिष्ठा' अर्थात् स्वकर्तव्य की चरमावधिरूप कार्य-समाप्ति को बुद्धि प्राप्त नहीं करती है। अतः साधिकार होने से (कर्त्तव्यशून्य न होने से) बुद्धि संसार में लौट आती है और पुरुष के साथ संयुक्त होती है। यह बुद्धि पुरुषान्यताख्यातियुक्त होकर कार्यसमाप्ति को प्राप्त करती है अर्थात् विवेकख्याति के उदित होने पर ही बुद्धि 'निरधिकारा' होती है, क्योंकि तब (विवेकख्याति के प्रति भी) परवैराग्य उदित होता है। तदनन्तर 'चरिताधिकारा' अर्थात् अविद्यानिवृत्तिरूप कार्य को सम्पन्न कर चुकी बुद्धि पुनः पुरुष के साथ संयुक्त नहीं होती है, क्योंकि तब बुद्धि का पुरुष के साथ संयुक्त होने का कोई उद्देश्य नहीं रह जाता है अर्थात् संयोग की कारणभूता अविद्या की निवृत्ति हो जाने से पुनः संयोगावकाश नहीं रह जाता है। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से यह सिद्धान्तित होता है कि विपर्यस्त-ज्ञानजन्य वासना से वासित बुद्धि ही पुरुषसंयोग का कारण है।

सम्प्रति, कारणाभाव से कार्याभाव के सिद्धान्त को स्पष्ट किया जा रहा है—

योगवार्त्तिकम्

पुरुषख्यात्या चित्तस्य निवृत्तिरिति यदुक्तं तत्र नास्तिकाक्षेपं निराचिकीर्षुस्तं प्रदर्श-यति—अत्र कश्चिदिति। [1]षण्डकोपाख्यानेन दृष्टान्तेनो[2]द्घाटयति आक्षिपतीत्यर्थः। नपुंसका-ख्यानमेवाह—मुग्धयेत्यादिना उत्पादयिष्यतीत्यन्तेन। सः=षण्डकः। तां=भार्याम्। विनष्टमिति। विनष्टं परवैराग्येण निरुद्धं ज्ञानं चित्तनिवृत्तिरूपं मोक्षं करिष्यतीति नास्ति प्रत्याशेत्यर्थः। उपेक्षासूचनाय पूर्वाचार्य[3]मुखेनात्र सिद्धान्तमाह—तत्रेति। ईषदसमाप्त आचार्य आचार्य-देशीयः। उपेक्षणीये प्रत्युत्तरदानमात्रेणाचार्यदेशीयत्वम्। आचार्यश्च वायौ प्रोक्तः—

---

1. क ग घ—पंडक०, च छ—षण्डक०।
2. क घ च छ—उद्घाटयति, ग—उच्चारयति।
3. क च छ—मुखेन, ग घ—मुख्येन।

आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते॥ इति।

नन्विति सम्बोधने। एतदुक्तं भवति–ज्ञानं न साक्षान्मोक्षहेतुरस्माभिरिष्यते किंत्वविद्याख्यादर्शननिवृत्तितत्कार्यनिरोधयोगद्वारा, तथा च विनष्टमपि ज्ञानं बुद्धिपुरुषवियोगरूपमोक्षव्यापारद्वारा कारणं सम्भवत्येवेति। ननु [1]यद्ययमाचार्यदेशीयः तर्हि किं बुद्धिचित्तादिनामकान्तःकरणनिवृत्तिमोक्ष एव न भवतीत्याशङ्कायामाह–तत्र चित्तेति। चित्तनिवृत्तिर्मोक्षो भवत्येव, किंतु तत्र स्थान एवास्य नास्तिकस्य बुद्धिव्यामोह व्यर्थ इत्यतोऽत्रोपेक्षणीये समाधातृत्वादेवाचार्यदेशीय उक्त इत्यर्थः॥२४॥

'पुरुषख्याति' अर्थात् विवेकज्ञान के द्वारा चित्त का लय (निवृत्ति) होता है, ऐसा जो कहा गया है इस विषय में नास्तिक के आक्षेप का खण्डन करने के इच्छुक भाष्यकार नास्तिक मत को प्रदर्शित करते हैं–'अत्र कश्चिदिति'। इस प्रसंग में कोई नास्तिक दृष्टान्तस्थानीय नपुंसक के आख्यान द्वारा आक्षेप करता है। भाष्यकार षण्डकोपाख्यान को ही बताते है–'मुग्धयेत्यादिना उत्पादयिष्यतीत्यन्तेना' यहाँ 'सः' पद से षण्डक तथा 'ताम्' पद से भार्या अर्थ गृहीत है। 'विनष्टमिति' विनष्ट अर्थात् परवैराग्य द्वारा निरुद्ध ज्ञान चित्तनिवृत्तिरूप मोक्ष को दिलायेगा, इस विषय में कोई आशा (संभावना) ही नहीं है। (अर्थात् विवेकख्यातिरूप ज्ञान विद्यमान रहता हुआ जब चित्त को निवृत्त करने में असमर्थ रहता है, तब अपने अभावकाल में वह कौन सा चमत्कार दिखला सकता है? अतः परवैराग्य द्वारा निरुद्धज्ञान चित्तनिवृत्तिरूप मोक्ष के लिये अक्षम है–ऐसा पूर्वपक्षी के कथन का आशय है)। नास्तिक के उक्त कथन में उपेक्षा व्यक्त करने के लिये भाष्यकार पूर्वाचार्य के कथनपूर्वक यहाँ सिद्धान्त को कहते हैं–'तत्रेति'। 'ईषदसमाप्त आचार्य आचार्यदेशीयः' अर्थात् जिसने आचार्य पद को अभी प्राप्त नहीं किया है, उस व्यक्ति को 'आचार्यदेशीय' कहते हैं। जिस बात का उत्तर देने की आचार्य लोग उपेक्षा करते हैं, ऐसे उपेक्षणीय विषय का प्रत्युत्तर देने मात्र से आचार्य का आचार्यदेशीयत्व सिद्ध होता है। वायुपुराण में 'आचार्य' के विषय में बतलाया गया है–'आचिनोति...चोच्यते' (५९/३०) अर्थात् 'शास्त्रीय अर्थों (उद्देश्यों अर्थात् प्रयोजनों) का जो संचय करता है, दूसरे को सदाचार में नियुक्त करता है तथा स्वयं भी जो सदाचारी होता है, उसे ही 'आचार्य' कहते हैं। 'ननु' अव्यय यहाँ सम्बोधन अर्थ में प्रयुक्त है। सार यह है–योग के आचार्यों द्वारा यह स्वीकृत नहीं है कि ज्ञान साक्षात् मोक्ष का हेतु है, अपितु अविद्याख्य 'अदर्शन' की निवृत्तिपूर्वक अनित्यादि में नित्यादिवृत्तिरूप उसके कार्य के निरोध द्वारा (सर्ववृत्ति-

---

1. क च छ–यदि, ग घ–यत्।

निरोधात्मक योग द्वारा) ज्ञान मोक्ष का हेतु होता है। इस प्रकार विनष्ट अर्थात् निरुद्ध होता हुआ भी ज्ञान बुद्धि-पुरुष की वियोगरूपिणी मोक्षसम्बन्धिनी क्रिया द्वारा मोक्ष का हेतु अवश्य बन सकता है।

शङ्का–यदि आचार्यदेशीय के अनुसार अविद्याख्य अदर्शन की निवृत्ति ही मोक्ष है तो बुद्धि, चित्तादि नामक अन्तःकरण की निवृत्ति को 'मोक्ष' नहीं कहा जा सकेगा?

समाधान–ऐसी शंका होने पर भाष्यकार कहते हैं–'**तत्र चित्तेति**।' चित्तनिवृत्ति को ही मोक्ष कहते हैं। किन्तु यहाँ विचार का उचित स्थान पाये विना ही नास्तिक को होने वाला मतिभ्रम निस्सार है। अतः यहाँ उपेक्षणीय विषय में समाधान करने से ही आचार्य को आचार्यदेशीय कहा गया है॥२४॥

बालप्रिया–

'**नास्तिकस्य बुद्धिव्यामोहो व्यर्थः**–'अभिप्राय यह है कि यहाँ किसी भी प्रकार के सन्देह की स्थिति है ही नहीं। क्योंकि संयोगाभाव और मोक्ष में कार्यकारणभाव तो बन नहीं सकता है। यदि बुद्धि की निवृत्ति पूर्ववर्त्ती और मोक्ष परवर्ती होता, तब तो दोनों में कारणकार्यभाव होता और तब यह प्रश्न किसी प्रकार संगत हो सकता था कि बुद्धि विनष्ट हो चुकने के बाद कैसे पुरुष के मोक्षरूपी कार्य को सम्पादित कर पाती है? जब बुद्धिनाश का ही दूसरा नाम 'मोक्ष' है, तब फिर बुद्धि द्वारा उसके सम्पादित होने की कौन सी अनुपपत्ति उपस्थित होती है?॥२४॥

भाष्यकार अवतरणिका के साथ अगले सूत्र को उपस्थित करते हैं–

व्यासभाष्यम्

[1]**हेयं दुःखमुक्तम्। हेयकारणं च संयोगाख्यं सनिमित्तमुक्तम्। अतः परं हानं वक्तव्यम्**–

'हेय' दुःख को बतलाया गया तथा 'संयोग' नामक 'हेयहेतु' को कारण-सहित बतलाया गया। इसके पश्चात् परवर्ती (व्यूह) 'हान' कहा जाना चाहिये–(अतः 'हान' प्रतिपादक सूत्र है)-

योगसूत्रम्

तद[2]भावात्संयोगाभावो हानं [3]तद्दृशेः कैवल्यम्॥२५॥

---

1. क ख ग–हेयं दुःखमुक्तम्। हेयकारणं च सयोगाख्यं सनिमित्तमुक्तम्। अतः परं हानं वक्तव्यम् २/२४ सूत्रस्य टीका, घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–हेयं...वक्तव्यम् २/२५ सूत्रस्य अवतरणिका।
2. अभावः–इति पाठान्तरम्।
3. तदेव–इति पाठान्तरम्।

उस (अविद्या) के नष्ट हो जाने से संयोग का नाश होना 'हान' है और यही पुरुष का कैवल्य है॥२५॥

व्यासभाष्यम्

तस्यादर्शनस्याभावाद् बुद्धिपुरुषसंयोगाभाव आत्यन्तिको बन्धनोपरम इत्यर्थः। एतद् हानम्। तद्दृशेः कैवल्यं, पुरुषस्यामिश्रीभावः [1]पुनरसंयोगो गुणैरित्यर्थः। दुःखकारणनिवृत्तौ दुःखोपरमो हानम्, तदा स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुष इत्युक्तम्॥२५॥

उस अविद्या का नाश होने से बुद्धि और पुरुष के संयोग का अभाव होता है अर्थात् बन्धन की सर्वथा एवं सर्वदा के लिये निवृत्ति हो जाती है। यही 'हान' कहलाता है। यही दृक्शक्ति का 'कैवल्य' है अर्थात् पुरुष का (बुद्धि से सर्वथा) पृथक्करण अर्थात् गुणों के साथ पुरुष का फिर से संयोग न होना है। दुःख के कारण (संयोग) की निवृत्ति हो जाने पर दुःख की निवृत्ति हो जाना 'हान' है। उस समय पुरुष अपने (वास्तविक) रूप में प्रतिष्ठित होता है—ऐसा कहा गया है॥२५॥

तत्त्ववैशारदी

तदेवं व्यूहद्वयमुक्त्वा तृतीयव्यूहाभिधानाय सूत्रमवतारयति—हेयं दुःखमु[2]क्तमिति। तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यमिति। सूत्रं व्याचष्टे—तस्येति। अस्ति हि महाप्रलयेऽपि संयोगाभावोऽत उक्तमात्यन्तिक इति। दुःखोपरमो हानमिति पुरुषार्थता दर्शिता। शेषमतिरोहितम्॥२५॥

इस प्रकार **'हेय'** और **'हेयहेतु'** दो प्रकार के व्यूह को प्रतिपादित करके भाष्यकार तृतीय **'हान'** व्यूह को निरूपित करने के लिये सूत्र को अवतरित करते हैं—**'हेयं दुःखमुक्तमिति।'** सूत्र है—**'तदिति'** भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—**'तस्येति।'** भाष्य में **'बन्धनोपरम'** के विशेषणरूप में प्रयुक्त **'आत्यन्तिक'** पद की सार्थकता को बतलाते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं)—यद्यपि महाप्रलय में भी बुद्धि-पुरुष का संयोगाभाव रहता है तथापि वह मोक्षरूप नहीं है। क्योंकि प्रलयावस्था में बन्धन का आत्यन्तिक उच्छेद नहीं होता है। अतः प्रलयावस्थाक संयोगाभाव को **'हान'** की समकक्षता से पृथक् करने के लिये भाष्यकार ने **'आत्यन्तिक'** पद का प्रयोग किया है। पूर्वपक्षी कहीं **'संयोगाभाव'** को ही पुरुषार्थ न समझ ले, अतः भाष्यकार कहते हैं कि **'दुःखनिवृत्ति'**

---

1. क ख ग घ च ज त ध न प फ ब भ म य र—पुनरसंयोगः, छ थ—पुरुषसंयोगो लिङ्गमात्रादि०, झ द—पुनरयं योगः।
2. ख घ च छ ज झ त न—उक्तं उपलभ्यते, क ग थ द ध—उक्तं नोपलभ्यते।

'हान' है। इससे 'दुःखोपरमत्व' में पुरुषार्थता प्रदर्शित की गई है। शेष भाष्य अतिरोहित अर्थात् स्पष्ट है॥२५॥

बालप्रिया–

आत्यन्तिकः–'सांख्ययोगशास्त्र को आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक दुःखनिवृत्ति मान्य है, इसके लिये ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका द्रष्टव्य है–

दुःखत्रयाभिघाताज् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्ताऽत्यन्तोऽभावात्॥१॥ ॥२५॥

योगवार्त्तिकम्

तदेवं हेयहेयहेतुरूपं व्यूहद्वयं व्याख्याय तृतीयव्यूहस्य सूत्रमवतारयति–हेयमिति। निमित्तमविद्या। तदभावात्संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्। तस्या अविद्याया अभावाद्विनाशाद् बुद्धिपुरुषसंयोगनिवृत्तिद्वारा द्रष्टृदृश्यसंयोगनिवृत्तिः दुःखहानमित्युच्यते, कार्यकारणयोरभेदोपचारात्। तस्य पुरुषार्थत्वायोक्तं तद् दृशेः कैवल्यमिति। तदेव च हानं पुरुषस्य कैवल्यमित्यप्युच्यत इत्यर्थः। इममेव सूत्रार्थं भाष्यकारः प्रकारान्तरेणाह–तस्येति। बुद्धिपुरुषसंयोगशब्देन कार्यकारणाभेदात् द्रष्टृदृश्यसंयोगोऽपि ग्राह्यः। प्रलयकालीनवियोग-व्यावर्त्तनायात्यन्तिक इति [1]विशेषणं बन्धनोपरमस्य।

इस प्रकार 'हेय' और 'हेयहेतु' दो व्यूहों की व्याख्या करके भाष्यकार तृतीय व्यूह 'हान' के प्रतिपादक सूत्र को अवतरित करते है–'हेयमिति।' 'निमित्त' शब्द से अविद्या गृहीत है। सूत्र है–'तदिति।' 'तत्' अर्थात् (पूर्ववर्णित) अविद्या का 'अभाव' अर्थात् नाश होने से बुद्धि-पुरुष के संयोग की निवृत्ति द्वारा जो द्रष्टृ-दृश्य-संयोग की निवृत्ति होती है, उसे 'दुःखहान' कहते हैं, क्योंकि कार्यकारण के अभेदोपचार से दुःख के कारणगत अविद्यानिमित्तक 'संयोग' का अभाव होने से अविद्या-जन्य दुःखकार्य का भी अभाव (दुःखनाश) कहा गया है। 'दुःखनाश' में 'पुरुषार्थता' को प्रतिपादित करने के लिये सूत्र में कहा गया है–'कैवल्यमिति'। यही दुःखनाश पुरुष का 'कैवल्य' भी कहा जाता है। ऐसा सूत्रार्थ है। भाष्यकार उपरिनिर्दिष्ट सूत्रार्थ को प्रकारान्तर से कहते हैं–'तस्येति।' कार्य-कारण का अभेद होने से भाष्य में प्रयुक्त 'बुद्धि-पुरुष-संयोग' शब्द से 'द्रष्टृदृश्यसंयोग' को भी गृहीत समझना चाहिये। प्रलयकालिक संयोगाभाव-रूप वियोग को व्यावृत्त करने के लिये 'आत्यन्तिक' पद 'बन्धनोपरम' विशेषण के रूप में प्रयुक्त है।

बालप्रिया–

आत्यन्तिको बन्धनोपरमः–प्रलयकाल में बुद्धि-पुरुष का आत्यन्तिक संयोगाभाव नहीं

---

1. क ख ग–बन्धनोपरमस्य विशेषणं, घ च छ–विशेषणं बन्धनोपरमस्य।

होता है, अतः तत्प्रयुक्त दुःखाभावरूप मोक्ष भी आत्यन्तिक नहीं है। प्रकृत में अदर्शनाभाव से होने वाला बुद्धि-पुरुष का यही संयोगाभाव 'हान' पदवाच्य है, जिसमें आत्यन्तिक बन्धनोपरमता है। ऐसा 'बन्धनोपरम' प्रलयकालिक संयोगाभाव में नहीं है। इस प्रकार 'बन्धनोपरम' के विशेषणरूप में प्रयुक्त 'आत्यन्तिक' पद उस सीमा प्रहरी की भाँति है जो 'हान' की सीमा में प्रलयकालीन संयोगाभाव को घुसपैठ करने से रोकता है।

वार्त्तिककार सूत्र की वैयासिकी व्याख्या को आगे बढ़ाते हैं–

योगवार्त्तिकम्

एतद्धानमिति पूर्वेण सहान्वेति। तद् दृशेः कैवल्यमित्येतद्व्याचष्टे–तद् दृशेरिति। तद्धानं गुणैः बुद्धिगुणैः दुःखादिभिः पुनरसंयोगः प्रतिबिम्बरूपेणासम्बन्ध इत्यर्थः, स एव च दुःखभोगनिवृत्तिरूपः स्वतः पुरुषार्थरूप इति भावः। सूत्रस्य फलितार्थमाह–दुःखेति हान-मित्यन्तेन। व्याख्याते कैवल्यशब्दार्थे तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानमिति गतसूत्रं प्रमाणयति–तदेति। तदा दुःखनिवृत्तौ, अस्य च हानव्यूहस्य चतुर्थपादे विस्तरो भविष्यतीत्यत्र दिङ्मात्रेण स उक्तः॥२५॥

भाष्य है–'एतद्धानमिति'। यह पद 'तस्य बन्धनोपरमः' इस पूर्व पद के साथ अन्वित होता है अर्थात् पूर्व वाक्य के द्वारा जिस बन्धनोपरम को प्रतिपादित किया गया है, वही 'हान' है। भाष्यकार सूत्र के 'तद् दृशेः कैवल्यम्' अंश की व्याख्या करते हैं– 'तद् दृशेरिति'। वही संयोगाभाव 'हान' है जब बुद्धि के दुःखादिरूप गुणों के साथ पुरुष का पुनः संयोग नहीं होता है अर्थात् पुरुष का बुद्धि के साथ प्रतिबिम्बविधया पुनः सम्बन्ध स्थापित न होना 'हान' है। किञ्च दुःखभोग का यही निवृत्तिरूप हान स्वतः पुरुषार्थरूप है। भाष्यकार सूत्र के निष्कृष्ट अर्थ को बतलाते हैं–'दुःखेति'... हानमि-त्यन्तेन'। कैवल्य शब्द का अर्थ व्याख्यात हो जाने के पश्चात् भाष्यकार तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं (१/३) इस विगत सूत्र को प्रमाण रूप में प्रस्तुत करते हैं– 'तदेति'। 'तदा' अर्थात् दुःखरूप वृत्तिमात्र का निरोध होने पर पुरुष उपाधिशून्य अपने नैसर्गिक ज्ञानात्मक (चैतन्यात्मक) स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। चतुर्थ पाद में इस 'हान' व्यूह को विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किया जायेगा, यहाँ पर उसका संकेत मात्र किया गया है॥२५॥

व्यासभाष्यम्

[1]अथ हानस्य कः प्राप्त्युपाय इति–

1. क ख ग–अथ हानस्य कः प्राप्त्युपाय इति २/२५ सूत्रस्य टीका, घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–अथ....इति २/२६ सूत्रस्य अवतरणिका।

अब 'हान की प्राप्ति का उपाय क्या है?

योगसूत्रम्

विवेकख्यातिर[1]विप्लवा हानोपायः॥२६॥

अविप्लुत विवेकख्याति 'हानोपाय' है॥२६॥

व्यासभाष्यम्

सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययो विवेकख्यातिः, सा त्वनिवृत्तमिथ्याज्ञाना प्लवते। यदा मिथ्याज्ञानं दग्धबीजभावं [2]बन्ध्यप्रसवं संपद्यते [3]तदा विधूतक्लेशरजसः सत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य विवेकप्रत्ययप्रवाहो निर्मलो भवति। सा विवेकख्यातिरविप्लवा [4]हानस्योपायः। [5]ततो मिथ्याज्ञानस्य दग्धबीजभावोपगमः पुनश्चाप्रसव इत्येष मोक्षस्य मार्गो हानस्योपाय इति॥२६॥

बुद्धिसत्त्वरूप प्रकृति (जड) तथा पुरुष (चेतन) के भेदज्ञान को विवेकख्याति कहते हैं। मिथ्याज्ञान से पूर्णतया रहित न हुई अर्थात् असमाप्तविपर्ययज्ञान वाली विवेकख्याति बाधायुक्त होती है। जब मिथ्याज्ञान दग्धबीजभाव वाला होकर क्षीणप्रसवता को प्राप्त होता है, तब रजोगुण के क्लेश से रहित, परवैशारद्य की प्राप्ति के अनन्तर परवशीकार संज्ञा में स्थित हुए बुद्धिसत्त्व के विवेकज्ञान का प्रवाह विशुद्ध हो जाता है। अविप्लुतविवेकख्याति अर्थात् अज्ञानरूप विप्लव (बाधा) से शून्य विवेकख्याति हान का उपाय(मोक्ष का साधन) है। इस अविप्लुतविवेकख्याति के द्वारा मिथ्याज्ञान दग्धबीजावस्था को प्राप्त होता है और फिर प्रसवशून्यता होती है—यही मोक्ष का मार्ग अर्थात् 'हानोपाय' है॥२६॥

तत्त्ववैशारदी

हानोपायलक्षणं चतुर्थं व्यूहमाख्यातुं सूत्रमवतारयति—अथेति। विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। आगमानुमानाभ्यामपि विवेकख्यातिरस्ति। न चासौ व्युत्थानं तत्संस्कारं वा निवर्तयति, तद्वतोऽपि तदनुवृत्तेरिति तन्निवृत्त्यर्थमविप्लवेति। विप्लवो मिथ्याज्ञानं तद्रहिता।

---

1. अनभिभवा—इति पाठान्तरम्।
2. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—बन्ध्यप्रसवं, छ—बन्धाप्रसवम्।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म र—तदा, य—यदा।
4. क ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ—हान०, ख घ प फ म य र—हानस्य।
5. छ थ—सा द्वयी अस्मिता सास्मिता च। या विश्वं निर्माय स्वात्मानं त्रिविधं विभज्य क्रीडति साऽस्मिताख्या। या तया सहिता तत्तादात्म्यं प्राप्य भेदविश्वात्मक इव मन्यते सा सास्मिता। तयोः संयोगाभावेन ख्यातिः कैवल्यं स्वस्वकैवल्ये विवेकाभावात् (ततः पूर्वम्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—सा....भावात् नोपलभ्यते।

एतदुक्तं भवति—श्रुतमयेन ज्ञानेन विवेकं गृहीत्वा युक्तिमयेन च व्यवस्थाप्य दीर्घकाल-नैरन्तर्यसत्कारासेविताया भावनायाः प्रकर्षपर्यन्तं [1]समधिगता साक्षात्कारवती विवेकख्याति-र्निवर्तितसवासनमिथ्याज्ञाना निर्विप्लवा हानोपाय इति। शेषं भाष्यं सुगमम्॥२६॥

हानोपायरूप चतुर्थ व्यूह को प्रतिपादित करने के लिये भाष्यकार सूत्र को अवतरित करते हैं—'**अथेति**' सूत्र है—'**विवेकेति**' आगम और अनुमान प्रमाण से भी प्रकृति-पुरुष का भेदज्ञान होता है। किन्तु आगमादिलभ्य विवेकख्याति, व्युत्थानात्मक प्रत्यय अथवा तज्जन्य संस्कार को नष्ट नहीं कर पाती है, क्योंकि आगम और अनुमान प्रमाण द्वारा निष्पन्न विवेकज्ञान के रहने पर भी व्युत्थानात्मक अर्थात् प्रकृति-पुरुषाभिन्नात्मक प्रत्यय की अनुवृत्ति अर्थात् अभिव्यक्ति होती रहती है। इसलिये व्युत्थानात्मक प्रत्ययानुत्पाद के लिये (सूत्र में) '**अविप्लवा**' पद प्रयुक्त हुआ है। '**विप्लव**' शब्द का अर्थ है—मिथ्याज्ञान। मिथ्याज्ञानरहित को '**अविप्लवा**' कहते हैं। इस प्रकार मिथ्याज्ञानरहित विवेकख्याति ही आविद्यक प्रत्यय के अनुत्पाद का कारण है। अभिप्राय यह है—'**श्रौतज्ञान**' अर्थात् शब्दप्रमाण से '**विवेक**' अर्थात् जड़-चेतन के भेदज्ञान की अवाप्ति (अधिगम) करके और अनुमानप्रमाण से उसकी यौक्तिक स्थापना करकें, दीर्घावधिपर्यन्त बाधारहित होकर निष्ठापूर्वक अनुष्ठित भावना की उत्कृष्टावधि में प्राप्त होने वाली प्रत्यक्षात्मिका, वासनासहित भ्रमज्ञान की समूलोच्छेदिका स्वयं निर्विप्लववती विवेकख्याति '**हानोपाय**' कही जाती है। शेष भाष्य सुकर है॥२६॥

बालप्रिया—

'**हानोपायः**'—चतुर्थ व्यूह को लेकर विचार किया जा रहा है—

शङ्का—'**हान**' प्रतिपादक सूत्र के '**तदभावात्**' पञ्चम्यन्त पद के द्वारा ही यह ज्ञात हो जाता है कि '**संयोगाभाव**' (प्रकृति-पुरुष-संयोग-निवृत्ति) रूप हान '**अविद्या**' के नाश से होता है। अतः अविद्यानाश ही हानोपाय (हानहेतु) है। अतः '**हानोपाय**' प्रतिपादक सूत्र की आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई?

समाधान—हानोपायप्रतिपादक सूत्र हान के हेतुभूत अविद्याभाव की प्राप्ति का उपाय बतलाता है। अतः सूत्र की आवश्यकता तदवस्थ है। दूसरी बात यह है कि अविद्या-भाव साक्षात् मोक्ष का हेतु है और विवेकख्याति अविद्या की निवृत्ति द्वारा मोक्ष का हेतु है, यह इंगित करना अभिप्रेत रहा। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर भाष्यकार ने सूत्र की प्रश्नपरक अवतरणिका इस प्रकार रची है—'**हानस्य कः प्राप्त्युपायः?**'॥२६॥

---

1. क ख ग घ च छ झ त न—समधिगता, ज द ध—समाधिगता, थ—समाधिजा।

योगवार्त्तिकम्

अतः परं हानोपायव्यूहश्चतुर्थपादस्यापि कियत्पर्य्यन्तं वाच्यः, तत्र चतुर्थव्यूह[1]प्रतिपादन-सूत्रमवतारयति–अथेति। बुद्धिसंयोगनिवृत्तिरेव साक्षाद् दुःखहाने कारणं विवेकख्यातिस्तु बुद्धिसंयोगहेत्वविद्यानिवर्त्तकत्वेन परम्परयेति प्राप्तिशब्देन सूचितम्। विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। साक्षात्कारनिष्ठारूपत्वलाभायाविप्लवेति विशेषणम्।

तत्रा[2]विप्लवशब्दात् कथमेतल्लभ्यत इत्याकाङ्क्षायामाह–[3]प्लवते। मिथ्याज्ञानसंस्कारवशात् मिथ्याज्ञानेनान्तराऽन्तराऽभिभूयत इत्यर्थः। यदेति। यदा तु साक्षात्कारदशायां सूक्ष्म-मिथ्याज्ञानमनागतावस्थं दग्धबीजतुल्यावस्थं तस्य विवरणं बन्ध्यप्रसवं बन्ध्यप्रसवसामर्थ्यं भवति तदा विधूतक्लेशाख्य[4]धूलेर्बुद्धिसत्त्वस्यात एव परवैशारद्ये वैलक्षण्ये। अस्यैव विवरणं परस्यां वशीकारसंज्ञायां परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकार इति सूत्रोक्तायामि[5]च्छाऽ-प्रतिघातरूपायां वर्त्तमानस्य विवेकख्यातिप्रवाहो निर्मलो मिथ्याज्ञानाकलुषितो भवति। अतः सा विवेकख्यातिरविप्लवोच्यते, सा [6]परमसाक्षात्काररूपिणी हानोपाय इत्यर्थः।

चतुर्व्यूहवाद के चतुर्थपाद (भाग) का 'हानोपाय' संज्ञक व्यूह 'हेय' आदि तीन से आगे (ग्रन्थ में) कहाँ तक वाच्य है अर्थात् उसका स्वरूप कहाँ तक प्रतिपादित हुआ है? इसके लिये चतुर्थ 'हानोपाय' व्यूह के प्रतिपादक सूत्र को भाष्यकार अवतरित करते हैं–'अथेति।' बुद्धिसंयोग की निवृत्ति ही दुःखहान (दुःखत्याग) का साक्षात् कारण है और विवेकख्याति बुद्धिसंयोग की हेतुभूता अविद्या की उन्मूलिका होने से दुःखत्याग के प्रति परम्परया कारण है। इस तथ्य को भाष्यकार ने 'प्राप्ति' शब्द से सूचित किया है। अर्थात् 'प्राप्ति' शब्द 'परम्परया कारण' की ओर इंगित करता है। सूत्र है–'विवेकेति।' विवेकख्यात्यात्मक साक्षात्कार की चरमोत्कृष्ट स्थिति (पराकाष्ठावस्था) गृहीत हो सके तदर्थ सूत्र में 'अविप्लवा' यह विशेषण पद है।

'अविप्लव' शब्द से कैसे 'साक्षात्कार के निष्ठारूप' अर्थ का लाभ होता है? ऐसी आकांक्षा होने पर भाष्यकार कहते हैं–'प्लवते।' अविप्लुतता को प्राप्त हुए विना विवेकख्याति, मिथ्याज्ञानजन्य संस्कार के कारण प्रादुर्भूत मिथ्यावृत्ति से बीच-बीच में अभिभूत (तिरस्कृत) होती रहती है। (भावार्थ यह है कि विवेकाग्नि द्वारा मिथ्या-ज्ञानवासना के दग्ध होने पर ही उसका निरापद (अविप्लुत) मार्ग प्रशस्त होता

---

1. क च छ–प्रतिपादन०, ख–प्रतिपादकं, ग घ–प्रतिपादने।
2. क ख घ च छ–अविप्लव०, ग–विप्लव०।
3. क ग–सा त्विति विप्लवते, ख–सा त्विति प्लवते, घ च छ–प्लवते।
4. क ख घ च छ–धूलेः, ग–मले।
5. क घ च छ–इच्छाऽप्रतिघात०, ख–चिन्ताप्रतिघात०, ग–चित्तप्रतिघात०।
6. क घ च छ–परम०, ख ग–पर०।

होता है)। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'यदेति।' सत्त्वपुरुषान्यतात्मक साक्षात्कार की अवस्था में जब अनागतावस्थ सूक्ष्म मिथ्याज्ञान दग्धबीज की भाँति दग्ध हो जाता है, इसी 'दग्धबीजभाव' का विवरण पद है–'बन्ध्यप्रसवा' इसका अर्थ है–जब मिथ्याज्ञान बन्ध्यप्रसवसामर्थ्य अर्थात् कार्याभिव्यक्तिरूप सामर्थ्य से शून्य हो जाता है तब बुद्धिसत्त्व का क्लेशाख्य मल (धूलि) प्रक्षालित हो जाता है, यही बुद्धिसत्त्व की 'परविशारदता' (विलक्षणता) है। बुद्धि की परविशारदता का विवरण पद है–'परस्यां वशीकारसंज्ञायाम्', जो 'परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः' (१/४०) सूत्र में उक्त है। इस प्रकार इच्छा के अप्रतिघातरूप में स्थित बुद्धिसत्त्व का विवेकख्यातिप्रवाह 'निर्मल' अर्थात् मिथ्याज्ञानरूप कालिमा से रहित हो जाता है। ऐसी विवेकख्याति 'अविप्लवा' कही जाती है। यही परमसाक्षात्काररूपिणी अविप्लुता विवेकख्याति 'हानोपाय' है।

सम्प्रति, विवेकख्याति की हानोपायता के 'द्वारत्व' पर विचार किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

केन द्वारेण हानोपाय इत्याकाङ्क्षायामाह–तत इति। ततो विवेकख्यातेः कारणात् मिथ्याज्ञानस्य सूक्ष्मरूपस्य दग्धबीजताप्राप्तिः, ततश्च पुनरप्रसव इति कृत्वा एष विवेकख्यातिरूपश्चित्तनिवृत्त्यादिरूपमोक्षस्य पन्थाः। अस्य विवरणं हानोपाय इत्यर्थः। नन्वेवं ज्ञानादेव दुःखहानाख्यमोक्षवचनाद् असंप्रज्ञातयोगस्य किं प्रयोजनमिति चेत्? न, परवैराग्यजासम्प्रज्ञातयोगस्याप्यत्र ज्ञानद्वारतया मोक्षहेतुत्वाशयादिति॥२६॥

शङ्का–विवेकख्याति किस प्रकार 'हानोपाय' होती है?

समाधान–ऐसी आकांक्षा होने पर भाष्यकार कहते हैं–'तत इति।' विवेकख्याति के कारण सूक्ष्मरूप (तन्ववस्थाक) मिथ्याज्ञान दग्धबीजता को प्राप्त होता है, तदनन्तर दग्धबीज को पुनः स्वकार्यजननशक्तिरहित बनाती हुई विवेकख्याति चित्तनिवृत्त्यादिरूप (चित्तलयरूप) मोक्ष को प्रशस्त करती है। यही हानोपाय का स्वरूप (विवरण) है।

शङ्का–इस प्रकार विवेकख्यातिरूप ज्ञान से ही दुःखनिवृत्तिसंज्ञक मोक्ष की प्राप्ति बतलाई जाने से असम्प्रज्ञात योग का कौन सा प्रयोजन रह जाता है? अर्थात् निष्प्रयोजनक असम्प्रज्ञात व्यर्थ प्रतीत होता है?

समाधान–असम्प्रज्ञातयोग व्यर्थ नहीं है, क्योंकि परवैराग्यजन्य असम्प्रज्ञातयोग भी विवेकज्ञान के माध्यम से मोक्ष का हेतु होता है॥२६॥

योगसूत्रम्

तस्य सप्त[1]धा [2]प्रान्तभूमिः प्रज्ञा॥२७॥

उस (विवेकख्यातिमान् योगी) की उत्कृष्ट स्तर वाली प्रज्ञा सात प्रकार की होतीं है॥२७॥

व्यासभाष्यम्

तस्येति प्रत्युदितख्यातेः प्रत्याम्नायः। सप्तधेत्यशुद्ध्यावरणमलापगमाच्चित्तस्य प्रत्ययान्तरानुत्पादे सति [3]सप्तप्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनो भवति। तद्यथा— १. परिज्ञातं हेयं नास्य पुनः परिज्ञेयमस्ति। २. क्षीणा हेयहेतवो न पुनरेतेषां क्षेतव्यमस्ति। ३. साक्षात्कृतं निरोधसमाधिना हानम्। ४. भावितो विवेकख्यातिरूपो हानोपाय इति। एषा चतुष्टयी कार्या विमुक्तिः प्रज्ञायाः। चित्तविमुक्तिस्तु त्रयी। ५. चरिताधिकारा बुद्धिः। ६. गुणा गिरिशिखर[4]कूटच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः सह तेनास्तं गच्छन्ति। न चैषां [5]प्रविलीनानां पुनरस्त्युत्पादः, प्रयोजनाभावादिति। ७. एतस्यामवस्थायां गुणसंबन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली पुरुष इति। एतां सप्तविधां प्रान्तभूमिप्रज्ञामनुपश्यन्पुरुषः कुशल इत्याख्यायते। प्रतिप्रसवेऽपि चित्तस्य मुक्तः कुशल इत्येव भवति, गुणातीतत्वादिति॥२७॥

(सूत्रस्थ) 'तस्य' पद से विवेकख्यातिसम्पन्न योगी का परामर्श (ग्रहण) होता है। (रजोगुण एवं तमोगुण की) अशुद्धिरूप आवरण के दूर होने से चित्त में पुनः व्युत्थानरूप प्रत्ययान्तर की उत्पत्ति न होने पर विवेकख्यातिसम्पन्न योगी की 'सप्तधा' अर्थात् सात प्रकार की ही प्रज्ञा होती है। जैसे—

१. 'हेय' (दुःखरूप संसार) को मैंने भली-भाँति जान लिया है। अधुना इस विषय में कुछ जानना अवशिष्ट नहीं है।
२. 'हेयहेतु' (अविद्यादि क्लेश) क्षीण हो चुके हैं। अब इनमें क्षीण करने योग्य कुछ नहीं है।
३. 'निरोधसमाधि द्वारा हान' का साक्षात्कार कर लिया है।

---

1. विधा—इति पाठान्तरम्
2. प्रान्तभूमौ, प्रीतभूमिः, प्रकृतिभूमिः—इति पाठान्तराणि।
3. क ग छ थ न—सप्तधा, ख घ च ज झ त द ध प फ ब भ म य र—सप्तप्रकारा।
4. क ग च छ ज झ त थ द ध न—तटच्युता, ख घ प फ ब भ म य र—कूटच्युता।
5. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न प प भ म य—प्रविलीनानां, घ र—विलीनानां, ब—प्रतिलीनानाम्।

४. विवेकख्यातिरूप 'हानोपाय' निष्पन्न हो चुका है।
ये चार कार्यविमुक्तिप्रज्ञा हैं। निम्नाङ्कित तीन चित्तविमुक्तिप्रज्ञा हैं–
५. बुद्धि कृतकृत्य हो गई है।
६. पर्वतशिखर के अग्रभाग से स्खलित आधारहीन पत्थरों की भाँति गुण अपने मूलकारण में लयोन्मुख होकर चित्त के साथ अस्त हो गये हैं। प्रविलीन हुए इन गुणों का प्रयोजन न रहने से इनका पुनः आविर्भाव नहीं होता है।
७. इस अवस्था में त्रिगुणों के सम्पर्क से परे शुद्ध चैतन्यमात्र ज्योतिस्वरूप निर्मल मुक्त पुरुष रह जाता है।

इस प्रकार उच्चस्तरीय बुद्धि को देखने वाला पुरुष 'कुशल' (जीवन्मुक्त) कहा जाता है तथा चित्त के पूर्णतः प्रविलीन हो जाने पर 'मुक्त' (विदेहमुक्त) कुशल कहलाता है, क्योंकि वह गुणातीत होता है॥२७॥

तत्त्ववैशारदी

विवेकख्यातिनिष्ठायाः स्वरूपमाह सूत्रेण–तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञेत्यनेन। व्याचष्टे–तस्येति। प्रत्युदितख्यातेर्वर्तमानख्यातेर्योगिनः प्रत्याम्नायः परामर्शः। अशुद्धिरेवावरणं चित्तसत्त्वस्य, तदेव मलं तस्यापगमाच्चित्तस्य प्रत्ययान्तरानुत्पादे तामसराजसव्युत्थानप्रत्ययानुत्पादे निर्विप्लवविवेकख्यातिनिष्ठामापन्नस्य सप्तप्रकारैव प्रज्ञा [1]विवेकिनो भवति। विषयभेदात्प्रज्ञाभेदः। प्रकृष्टोऽन्तो यासां भूमीनामवस्थानां तास्तथोक्ताः। यतः परं नास्ति स प्रकर्षः। प्रान्ता भूमयो यस्याः प्रज्ञाया विवेकख्यातेः सा तथोक्ता।

पतञ्जलि सूत्र के द्वारा 'विवेकख्यातिनिष्ठ' योगी का स्वरूप बतलाते हैं–'तस्येति।' भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं–'तस्येति।' 'तस्य' पद 'प्रत्युदितख्याति' अर्थात् वर्तमानख्याति वाले (विवेकख्यातिसम्पन्न) योगी का 'प्रत्याम्नाय' अर्थात् परामर्शक है। चित्तसत्त्व (सत्त्वगुणप्रधान बुद्धितत्त्व) के लिये 'अशुद्धि' ही आवरणस्वरूप है और इसी 'आवरण' को 'मल' कहते हैं। इस आवरणरूप मल के प्रक्षालित हो जाने से चित्त में 'प्रत्ययान्तरानुत्पाद' अर्थात् राजस तथा तामस व्युत्थित वृत्तियों के उत्पन्न न होने पर विप्लवशून्य विवेकख्याति की पराकाष्ठा को प्राप्त तत्त्वज्ञ योगी को सात प्रकार की ही प्रज्ञा होती है। विषयभेद से ये प्रज्ञा के सात भेद हैं। 'प्रान्तभूमिः' पद का विग्रह है–प्रकृष्टोऽन्तो यासां भूमीनाम् अवस्थानां तास्तथोक्ताः (प्रान्तभूमिः)–इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिन भूमियों=अवस्थाओं की सर्वोत्कृष्ट 'अन्त' वाली स्थिति है, उन्हें 'प्रान्तभूमि' कहते हैं। क्योंकि इससे अधिक 'प्रकर्ष'=उत्कृष्टता नहीं है। जिस

---

1. क छ ज–विवेकः, ख ग घ च झ त थ द ध न–विवेकिनः।

विवेकख्यातिरूप प्रज्ञा की ये प्रान्त भूमियाँ हैं, उस प्रकार की यह 'प्रान्तभूमि' कही गई है।

तत्त्ववैशारदी

ता एव सप्तप्रकाराः [1]प्रज्ञाभूमीरुदाहरति–तद्यथेति। तत्र पुरुषप्रयत्ननिष्पाद्यासु चतसृषु भूमिषु प्रथमामुदाहरति–परिज्ञातं हेयमिति। यावत्किल प्राधानिकं तत्सर्वं परिणामतापसंस्कारैर्गुणवृत्तिविरोधाद् दुःखमेवेति हेयम्। तत्परिज्ञातम्। प्रान्ततां दर्शयति–नास्य पुनः [2]किंचिदपरिज्ञेयमस्तीति। द्वितीयामाह–क्षीणा इति। प्रान्ततामाह–न पुनरिति। तृतीयामाह–साक्षात्कृतमिति। प्रत्यक्षेण निश्चितं मया संप्रज्ञातावस्थायामेव निरोधसमाधिसाध्यं हानम्। न पुनर[3]स्मात् परं निश्चेतव्यमस्तीति शेषः। चतुर्थीमाह–[4]भावित इति। भावितो निष्पादितो विवेकख्यातिरूपो हानोपायः, नास्याः परं भावनीयमस्तीति शेषः। एषा चतुष्टयी कार्या विमुक्तिः समाप्तिः। कार्यतया प्रयत्नव्याप्यता दर्शिता। क्वचित्पाठः कार्यविमुक्तिरिति, कार्यान्तरेण विमुक्तिः प्रज्ञाया इत्यर्थः। प्रयत्ननिष्पाद्यानुनिष्पादनीयामप्रयत्नसाध्यां चित्तविमुक्तिमाह–चित्तविमुक्तिस्तु त्रयीति। प्रथमामाह–चरिताधिकारा बुद्धिरिति। कृतभोगापवर्गकार्येत्यर्थः।द्वितीयामाह–गुणा इति। प्रान्ततामाह–न चैषामिति। तृतीयामाह–एतस्यामवस्थायामिति। एतस्यामवस्थायां जीवन्नेव पुरुषः कुशलो मुक्त इत्युच्यते, चरमदेहत्वादित्याह–एतामिति। अनौपचारिकं मुक्तमाह–प्रतिप्रसव इति। प्रधानलयेऽपि[5] चित्तस्य मुक्तः कुशल इत्येव भवति, गुणातीतत्वादिति॥२७॥

सम्प्रति, भाष्यकार उन सात प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञाओं का वर्णन करते हैं–'तद्यथेति।' पुरुष के प्रयत्न द्वारा सिद्ध होने वाली उन चार प्रकार की भूमियों में से प्रथम प्रज्ञा-भूमि को भाष्यकार कहते हैं–'परिज्ञातं हेयमिति।' जितना भी प्रधानजन्य विकारजात है, वह सब परिणाम, ताप, संस्कार तथा गुणवृत्तिविरोध के कारण दुःखस्वरूप ही है, इसलिये 'हेय' है। ऐसे दुःखमय 'हेय' संसार को मैंने अच्छी प्रकार से ज़ान लिया है। भाष्यकार इस भूमि के प्रान्तत्व को प्रदर्शित करते हैं–'नास्य पुनः किञ्चिदपरिज्ञेयमस्तीति।' अब भाष्यकार द्वितीय प्रज्ञाभूमि को बताते हैं–'क्षीणा इति।' हेय के हेतुभूत निखिल अविद्यादि क्लेश मेरे क्षीण हो चुके हैं। भाष्यकार प्रज्ञा की प्रान्तता को बतलाते हैं–'न पुनरिति।' अब इनमें से कुछ भी क्षय करने योग्य नहीं रहा है। भाष्यकार तृतीय प्रज्ञाभूमि को बतलाते हैं–'साक्षात्कृतमिति।' सम्प्रज्ञात

---

1. क ख ग घ च छ ज झ न–प्रान्तभूमीः, थ द ध न–प्रज्ञाभूमीः।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न–किञ्चिदपरिज्ञातं परिज्ञेयमस्ति, थ ध–किञ्चिदपरिज्ञेयमस्तीति।
3. क ख ग घ च छ ज झ–अस्याः, त–यस्याः, थ द ध न–अस्मात्।
4. थ द ध–भावित इति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–भावित इति नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ झ त ध द ध न–अपि उपलभ्यते, ज–अपि नोपलभ्यते।

अवस्था में ही मैंने निरोधसमाधिसाध्य 'हान' का प्रत्यक्ष कर लिया है। अब इससे अधिक कुछ प्रत्यक्ष करने के लिये अवशिष्ट नहीं है। भाष्यकार चतुर्थ प्रज्ञाभूमि को बतलाते हैं–'भावित इति।' विवेकख्यातिरूप 'हानोपाय' को मैंने 'भावित'=निष्पादित कर लिया है। अब इससे अधिक कुछ निष्पादनीय अवशिष्ट नहीं है। ये चार प्रकार की कार्यविमुक्ति प्रज्ञाएँ हैं। 'विमुक्ति' शब्द का अर्थ है–समाप्ति। 'कार्य' शब्द से इन चार प्रज्ञाओं की प्रयत्नसापेक्षता प्रदर्शित की गई है। कहीं-कहीं 'कार्यविमुक्तिः' ऐसा पाठ-भेद मिलता है। यहाँ 'प्रज्ञा की कार्यान्तर से विमुक्ति को 'कार्यविमुक्ति' कहा गया है। प्रयत्नसाध्य प्रज्ञा के पश्चात् निष्पादकीय अप्रयत्नसाध्य (स्वतःसाध्य) चित्तविमुक्ति प्रज्ञा को भाष्यकार बतलाते हैं–'चित्तविमुक्तिस्तु त्रयीति।' चित्तविमुक्ति प्रज्ञाएँ तीन प्रकार की हैं। भाष्यकार पहली चित्तविमुक्ति प्रज्ञा को बतलाते हैं–'चरिताधिकारा बुद्धिरिति।' मेरी बुद्धि कृतभोगापवर्ग कार्य वाली हो चुकी है। भाष्यकार दूसरी चित्त-विमुक्ति प्रज्ञा को बतलाते हैं–'गुणा इति।' (भाष्यार्थ पीछे द्रष्टव्य है।) इस भूमि की प्रान्तता बताई जा रही है–'न चैषामिति।' प्रयोजन के अभाव से आत्यन्तिक रूप से लीन हुए गुणों की पुनः (मुक्त पुरुष के प्रति) उत्पत्ति नहीं हो सकती है। भाष्य-कार तीसरी चित्तविमुक्ति प्रज्ञा को बतलाते हैं–'एतस्यामवस्थायामिति।' इस अवस्था में जीवन्मुक्त पुरुष 'कुशल', 'मुक्त' कहलाता है, क्योंकि योगी का यह चरमदेह होता है अर्थात् उसका पुनर्जन्म नहीं होता है–इसीलिये भाष्यकार कहते हैं–'एतामिति।' भाष्यकार अनौपचारिक (वास्तविक) मुक्त को कहते हैं–'प्रतिप्रसव इति।' प्रधान में लय को प्राप्त होने पर भी (वस्तुतस्तु) चित्त (बुद्धि) की ही मुक्तता=कुशलता (चरिताधिकारता) होती है, क्योंकि पुरुष तो स्वतः गुणातीत है॥२७॥

योगवार्त्तिकम्

तस्या विवेकख्यातेरविप्लवाख्यनिष्ठाया लक्षणमाह–तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा। तस्य विवेकख्यातिरूपहानोपायस्य प्रान्तभूमिकारूपिणी प्रज्ञा सप्तधेत्यर्थः। तदेतद्व्याचष्टेतस्ये-तीति। तच्छब्दोक्तहानोपायस्य स्वरूपाख्यानं प्रत्युदितख्यातेरिति, अन्यथा तस्येति पुंल्लिङ्गानु-पपत्तेः। प्रत्याम्नायः परामर्शः। न चात्र प्रत्युत्पन्नख्यातेः पुरुषस्य परामर्श इत्यर्थः सम्भवति, पुरुषस्य पूर्वसूत्रेष्वप्रस्तुतत्वात्।

सूत्रकार अविप्लवाख्यनिष्ठारूपिणी (निर्विघ्ना साक्षात्कारस्वरूपिणी) विवेक-ख्याति का लक्षण करते हैं–'तस्येति।' 'तस्य'=विवेकख्यातिरूप हानोपाय की चरम अवस्था वाली प्रज्ञा सात प्रकार की है, ऐसा सूत्रार्थ है। भाष्यकार सूत्र का विवरण करते हैं–'तस्येतीति।' सूत्र में 'तस्य' पद द्वारा गृहीत 'हानोपाय' के स्वरूप को भाष्यकार ने 'प्रत्युदितख्यातेः' पद से व्याख्यात किया है, अन्यथा 'तस्य' यह पुंल्लिङ्ग-प्रयोग उपपन्न न हो सकेगा। 'प्रत्याम्नाय' शब्द का अर्थ है–परामर्श (ज्ञान)। 'यहाँ 'तस्य' पद से जिसे

विवेकख्याति प्राप्त हो चुकी है, ऐसे विवेकख्यातियुक्त पुरुष का ग्रहण (परामर्श) नहीं होता है, क्योंकि (अव्यवहित) विगत सूत्रों में पुरुष उल्लिखित नहीं हुआ है। (अतः अप्रस्तुत 'पुरुष' का प्रस्तुतीकरण अप्रासंगिक है)।

बालप्रिया–

'तस्य'–मिश्र-भिक्षु-मतभेद–सूत्रगत **'तस्य'** पद के भाष्य **'प्रत्युदितख्यातेः'** इस समस्त पद का अर्थ वाचस्पति मिश्र ने **'योगिनः'** किया है। मिश्र के अनुसार बहुव्रीहिसमास-परक **'प्रत्युदितख्यातेः'** पद विवेकी (योगी) का परामर्शक है और सूत्रकार द्वारा निर्दिष्ट सप्त प्रान्तभूमि प्रज्ञा विवेकी की ही होती है। दूसरी ओर विज्ञानभिक्षु ने नामानुल्लेखपूर्वक **'तस्य'** पद को लब्धख्यातिमान् पुरुषपरक मानने में शास्त्रीय विरोध व्यक्त किया है। स्वयं भिक्षु के शब्दों में–**'न चाऽत्र प्रत्युत्पन्नख्यातेः पुरुषस्य परामर्श इत्यर्थ संभवति'**। भिक्षु का वक्तव्य है कि पूर्व सूत्रों में **'पुरुष'** से सम्बन्धित व्याख्या प्राप्त न होने से असामयिक पुरुष-प्रसङ्ग को उठाना न्यायोचित नहीं है। अपितु सूत्र-गत तच्छब्द से कथित हानोपाय के ख्यापक **'प्रत्युदितख्यातेः'** पद में कर्मधारयसमास है। इस प्रकार भिक्षु ने सूत्रगत **'तस्य'** पद को हानोपाय का परामर्शक माना है।

वस्तुतस्तु व्यासभाष्य के अनुशीलन से मिश्र द्वारा किया गया सूत्रगत **'तस्य'** पद का अर्थ व्यासभाष्यानुसारी प्रतीत होता है। स्पष्टीकरणार्थ–विगत सूत्र **'तदभावात् संयोगाऽभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्'** (२/२५) में तच्छब्द के द्वारा जिस प्रकार उसके अव्यवहित पूर्व सूत्र **'तस्य हेतुरविद्या'** (२/२४) में उल्लिखित **'अविद्या'** पद का परामर्श किया जाता है, उसी प्रकार प्रकृत सूत्र **'तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा'** (२/२७) में तच्छब्द के द्वारा अव्यवहित पूर्व सूत्र **'विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः'** (२/२६) में उल्लिखित **'हानोपाय'** पद का कहीं परामर्श न होने लगे, इसीलिये (तच्छब्द के साथ **'हानोपाय'** के अन्वय का वारण करने के लिये) भाष्यकार को ऐसी उद्घोषणा करनी पड़ी–**'तस्येति प्रत्युदितख्यातेः प्रत्याम्नायः'**। यदि भाष्यकार को सूत्रगत **'तस्य'** पद से **'हानोपाय'** का ही ग्रहण करना अभिप्रेत रहता तो भाष्यकार की **'तस्येति प्रत्युदितख्यातेः प्रत्याम्नायः'** यह विशेषोक्ति अकिञ्चित्करा कही जायेगी, क्योंकि पूर्व सूत्रों की भाँति यहाँ भी अव्यवहित पूर्व सूत्र में कथित विषय का तच्छब्द से स्वतः ग्रहण हो जायेगा। किञ्च तच्छब्द से परामृष्ट **'हानोपाय'** के स्वरूपख्यापन के रूप में भाष्य के **'प्रत्युदितख्यातेः'** पद को मान भी लिया जाय तो **'विवेकिनः'** अर्थ के अलभ्य रह जाने से आगे का भाष्य **'सप्तप्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनो भवति'** भी अन्त-र्विरोधयुक्त हो जायेगा। अर्थात् व्यासभाष्य के वाक्यों की अन्तःसंगति नहीं बैठ पायेगी। किञ्च तच्छब्द को विवेकी पुरुष का अवबोधक मानने में जो अप्रस्तुत

विषय के ग्रहण का असामञ्जस्य बतलाया जा रहा है, वह भी उचित प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि तच्छब्द से बुद्धिनिष्ठ प्रज्ञा (विवेकख्यातिरूप बौद्ध पदार्थ) का परामर्श होने पर भी उस वृत्ति के बोद्धारूप से 'पुरुष' तत्त्व के ग्रहण की प्रासंगिकता आ जाती है। अतः भाष्यानुसारी मिश्रमत संग्राह्य है।

सम्प्रति, वार्त्तिककार सूत्रगत अन्य पदों की व्याख्या करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

सप्तधेत्येतद्व्याख्यातुं गृह्णाति–सप्तधेतीति। अशुद्ध्येति। अशुद्धिर्विपर्ययाख्याऽविद्या तत्कार्यपापादिकं चोत्तरसूत्रभाष्यात्, सैवावरणरूपो मलस्तदपगमाच्चित्तस्य प्रत्ययान्तराणां [1]विवेकख्यात्यन्येषामनुत्पादे सति [2]परवैराग्यजान्निरोधयोगादुत्थानदशायां [3]सप्ताकारा प्रज्ञा विवेकिनो निष्पन्नज्ञानस्य लिङ्गं भवतीत्यर्थः। एवकारोऽयोगव्यवच्छेदे। प्रकारन्यूनता नास्तीत्यर्थः।

भाष्यकार सूत्रगत 'सप्तधा' पद की व्याख्या करने के लिये (प्रतीक रूप में) इस पद का ग्रहण करते हैं–'सप्तधेतीति' अब भाष्यकार इसकी व्याख्या प्रारम्भ करते हैं– 'अशुद्ध्येति' भ्रमज्ञानरूपा अविद्या 'अशुद्धि' है और अशुद्ध्याख्य अविद्या के पापादि कार्य हैं, क्योंकि ऐसा उत्तरसूत्र के भाष्य में कहा गया है और इसी पापादि को आवरणरूप मल कहते हैं। इस मल के प्रक्षालित (निर्गत) हो जाने से अर्थात् अविद्याख्य मल के नष्ट हो जाने से चित्त के विवेकख्यात्यतिरिक्त प्रत्ययों की (राजस तथा तामस व्युत्थानात्मक वृत्तियों की) उत्पत्ति नहीं होती है। फलतः प्रत्ययान्तरानुत्पादकाल में परवैराग्य से उदित निरोधयोग (असम्प्रज्ञातयोग) से उत्थित दशा में आने पर निष्पन्नज्ञान की प्रतीकात्मक सात प्रकार की प्रज्ञा विवेकी को होती है। (सप्तप्रकारैव में) एवकार पद 'अयोगव्यवच्छेदक' है अर्थात् तथाकथित प्रज्ञा के सप्त प्रकार की न्यूनता (प्रज्ञा के सात से कम भेद होने) का निषेध करता है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार प्रज्ञा के सात प्रकारों का विस्तारपूर्वक विश्लेषण करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

एकस्या एव प्रज्ञायाः सप्तप्रकारत्वमुदाहरति– तद्यथेत्यादिना। प्रथमं प्रकारमाह–परि-

---

1. क ग घ च छ–विवेकख्यात्यन्येषां, ख–मिथ्याज्ञानरूपाख्यामत्यन्तम्।
2. क ग घ च छ–परवैराग्यजान्निरोधयोगादुत्थानदशायां उपलभ्यते, ख–परवैराग्य... दशायां नोपलभ्यते।
3. क घ च छ–सप्ताकारा, ख ग–सप्तप्रकारा।

ज्ञातमिति। परिज्ञातं साक्षात्कृतं मुमुक्षुभिर्हेयं नास्यामवशिष्टं पुन[1]र्हेयमस्तीत्यर्थः। द्वितीयं प्रकारमाह—क्षीणा इति। ततश्च हेयहेतवोऽविद्याकामकर्मादयो विवेकसाक्षात्कारेण मम क्षीणा इत्यादिरर्थः। तृतीयं प्रकारमाह—साक्षात्कृतमिति। ततश्चाविद्यादिक्षयादुत्पन्नेन निरोधसमाधिना हेतुना व्युत्थानकाले दुःखहानरूपो भाविमोक्षो मया साक्षात्कृतः देहपातानन्तरमेतादृशो मे मोक्षो भवितेति सजातीयसाक्षात्कार एव सजातीयान्तर[2]साक्षात्कारविनाशे परिचितः, असम्प्रज्ञातयोगदृष्टान्तेन कैवल्यमपि दृष्टप्रायमिति फलितार्थः। यथाश्रुते निरोधसमाधौ हानसाक्षात्कारानुपपत्तिर्वृत्त्यभावादिति। असम्प्रज्ञातकालीनश्च दुःखाभावो योग्यानुपलब्ध्या व्युत्थाने साक्षात्क्रियते। यदि ह्यसम्प्रज्ञातेऽपि दुःखं स्यात् तदाऽनुभूयेत, ततश्च सुप्तोत्थान इव व्युत्थाने स्मर्येतेति। अथ वा निरोधसमाधिना निष्पाद्यं हानं मोक्षो हानगोचरसम्प्रज्ञातेन साक्षात्कृतमित्यर्थः। चतुर्थं प्रकारमाह—भावित इति। ततश्च फलनिष्पत्त्या विवेकख्यातिरूपो हानोपायो भावितो निष्पादितः फलनिष्पत्त्यैव साधनस्य सिद्धेरिति। वस्तुतस्तु भावित इत्यादिप्रकारस्य द्वितीयस्थल एव पाठः, आञ्जस्येन क्रमोपपत्तेः। एषेति। एषा प्रान्तभूमिप्रज्ञाया विषयो हेयज्ञानसमाप्त्यादिरूपा चतुष्टयी प्रज्ञायाः प्रज्ञाऽऽख्यतत्त्वज्ञाननिमित्तात् पुंसां कार्यमुक्तिः [3]कार्याद्विमुक्तिः कर्त्तव्यसमाप्तिः जीवन्मुक्तिरित्यर्थः। [4]इयं परवैराग्यरूपा चित्तनाशस्याद्यभूमिकारूपा।

(प्रज्ञात्वरूपेण) एक ही प्रज्ञा के सात प्रकारों को भाष्यकार प्रदर्शित करते हैं—'तद्यथेत्यादिना।'

प्रथम प्रज्ञा—भाष्यकार प्रथम प्रज्ञा का वर्णन करते हैं—'परिज्ञातमिति।' मुमुक्षुओं द्वारा 'हेय' तत्त्व मुझे 'परिज्ञात'=साक्षात्कृत हो चुका है। इस अवस्था में अब पुनः हेय के योग्य कुछ अवशिष्ट नहीं रहा है।

द्वितीय प्रज्ञा—भाष्यकार द्वितीय प्रज्ञा का वर्णन करते हैं—'क्षीणा इति।' विवेकसाक्षात्कार के द्वारा मेरे सभी अविद्या, काम, कर्मादिरूप 'हेयहेतु' क्षीण (नष्ट) हो चुके हैं। अर्थात् अब क्षयार्थ कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहा है।

तृतीय प्रज्ञा—भाष्यकार तृतीय प्रज्ञा का वर्णन करते हैं—'साक्षात्कृतमिति।' अविद्यादि 'हेयहेतु' के नाश से समुत्पादित निरोधसमाधि के कारणभूत सम्प्रज्ञातरूप व्युत्थानकाल में मैंने दुःखहानरूप भाविमोक्ष को साक्षात्कृत कर लिया है। अतः देहपात

---

1. क ख ग घ च—ज्ञेयं, छ—हेयम्।
2. क—साक्षात्कारनाशे परिचितः, ख ग—साक्षात्कारत्वेनात्रोपचारितः, घ च छ—साक्षात्कारविनाशे परिचितः।
3. क ग घ च छ—कार्याद्विमुक्तिः उपलभ्यते, ख—कार्याद्विमुक्तिः नोपलभ्यते।
4. क च छ—इयं परवैराग्यरूपा चित्तनाशस्याद्यभूमिकारूपा उपलभ्यते, ख ग घ—इयं....रूपा नोपलभ्यते।

(शरीरत्याग) के पश्चात् मुझे इस प्रकार का मोक्ष प्राप्त होगा। इस प्रकार सजातीय साक्षात्कार ही सजातीयान्तर साक्षात्कार के विनाश (निरोध) के रूप में जाना जाता है। इससे यह फलित होता है कि असम्प्रज्ञातयोग के दृष्टान्त द्वारा कैवल्य भी दृष्टप्राय (व्याख्यातप्राय) हो जाता है। अर्थात् कैवल्य का स्वरूप भी योगी को प्रत्यक्षप्राय हो जाता है। यथाश्रुत (**तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः १/५१**) निरोधसमाधि अर्थात् असम्प्रज्ञात योग में तो 'हान' का साक्षात्कार होना सम्भव नहीं है, क्योंकि असम्प्रज्ञात योग में वृत्त्यभाव रहता है। किन्च असम्प्रज्ञातकाल में होने वाला (वृत्त्यभावरूप) दुःखाभाव योग्यानुपलब्धि के कारण (प्रत्यक्षयोग्य न हो पाने के कारण) व्युत्थानरूप सम्प्रज्ञात समाधि में ही योगी द्वारा साक्षात्कृत होता है। यदि असम्प्रज्ञातकाल में भी (चित्त में) दुःख विद्यमान रहे तो (वृत्त्यात्मक) दुःख का ज्ञान चित्त को होना चाहिये और तत्पश्चात् असम्प्रज्ञात में अनुभूत दुःख का, असम्प्रज्ञात के व्युत्थानरूप सम्प्रज्ञातकाल में, उसी प्रकार स्मरण होना चाहिये जिस प्रकार सोकर उठे हुए व्यक्ति को स्वप्नकालिक पदार्थों का स्मरण होता है। (इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि निरोधसमाधि में हान का साक्षात्कार नहीं होता है)। अथवा भाष्यकार द्वारा कथित तृतीय प्रान्तभूमि प्रज्ञा का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—निरोधसमाधि (असम्प्रज्ञातसमाधि) के द्वारा निष्पादित (बुद्धि-पुरुष का संयोगाभावरूप) हान अर्थात् मोक्ष (जो द्रष्टा पुरुष का कैवल्य रूप है) का साक्षात्कार योगी को हानविषयक सम्प्रज्ञात के द्वारा होता है।

चतुर्थ प्रज्ञा—भाष्यकार चतुर्थ प्रज्ञा का वर्णन करते हैं—'**भावित इति**।' 'हान' रूप फल के निष्पादित हो जाने से 'विवेकख्यातिरूप हानोपाय निष्पादित (भावित) हो चुका है'—इत्याकारिका प्रज्ञा होती है, क्योंकि फल की प्राप्ति से ही साधनसिद्धि अनुमित होती है। अर्थात् '**हान**' रूप कैवल्य फल के सिद्ध हो जाने से विवेकख्यातिरूप हानोपाय की भी निष्पन्नता स्वतः सिद्ध है। वार्त्तिककार प्रकृत प्रज्ञा के विषय में अपनी मान्यता को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि यथार्थ रूप से '**भावितः**' इत्यादि प्रकार का पाठ द्वितीय प्रज्ञा के स्थल में ही होना चाहिये, क्योंकि '**भावन**' के यथावत् क्रम की उपपत्ति वहीं लगती है।

सम्प्रति, उपरिवर्णित चार प्रान्तभूमि प्रज्ञाओं के सामान्यस्वरूप को समवेतरूप से प्रतिपादित किया जा रहा है—'**एषेति**।' प्रान्तभूमि प्रज्ञा का विषय हेयज्ञान-समाप्त्यादिरूप से चार प्रकार का है। प्रज्ञा के कारण अर्थात् प्रज्ञाख्य तत्त्वज्ञान के निमित्त से योगियों (पुरुषों) को '**कार्यविमुक्ति**' अर्थात् जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है। '**कार्यविमुक्ति**' (कार्य से विमुक्ति) शब्द का अर्थ है—कर्तव्यसमाप्ति। यह परवैराग्यरूपा '**कार्यविमुक्ति**' चित्तनाश की प्रथम भूमिका के समान है।

सम्प्रति, अन्तिम तीन 'चित्तविमुक्ति' प्रज्ञाओं को विश्लेषित किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

चित्तेति। चित्ताद्विमुक्तिः चित्तविमुक्तिः परममुक्तिः, साऽपि प्रान्तभूमिप्रज्ञाया विषयः त्रिविधा भवति, चित्तविमुक्तिस्तु स्वयमेव भवति न तत्र साधनापेक्षेत्याशयेन पृथगुपन्यासः। तत्राद्यां चित्तविमुक्तिमाह–चरिताधिकारा बुद्धिरिति। समाप्तभोगापवर्गा भवति बुद्धिरित्यर्थः। इयं परवैराग्यरूपा चित्तनाशस्याद्यभूमिकारूपा। द्वितीयामाह–गुणा इति। बुद्धेर्गुणाः संसारसुखदुःखादयः स्वकारणे सत्त्वादित्रिगुणमयप्रकृतौ लीयमानास्तेन चित्तेन सहात्यन्तलयं गच्छन्ति। तत्र दृष्टान्तः–गिरीति। गिरिशिखरकूटाच् च्युताः शिला इवावस्थातुमक्षमा इत्यर्थः। एषा च लिङ्गशरीरस्य विनश्यदवस्था द्वितीयभूमिका। तृतीयामाह–न चैषामिति। न चैषां संस्कारसुखादीनां पुनरुद्भवोऽस्ति, पुरुषार्थसमाप्त्या प्रयोजनाभावाद् इत्यत एतस्यामवस्थायां पुरुषो बुद्ध्यादिगुणसम्बन्धविशेषशून्यः स्वरूपमात्रज्योतिः निर्विषयकचिज्ज्योतिस्वरूपोऽमल औपाधिकतमोमालिन्यरहितः केवली केवलेषु मुक्तेष्वविभागी भवतीत्यर्थः। इयं चात्यन्तिकलयनिष्पत्तिरूपा विदेहकैवल्यस्य चरमभूमिका। इमां त्रिविधां चित्तभूमिं भाविनीमेव जीवन्मुक्तदशायां विशुद्धचित्तो योगी साक्षात्करोतीति बोध्यम्। तदेवं सप्तविषयत्वात्सप्तप्रकारा प्रज्ञा व्याख्याता। इदानीं सूत्रतात्पर्यार्थमाह–एतां सप्तविधामिति। प्रज्ञावानित्यनुक्त्वा प्रज्ञामनुपश्यन्निति निरभिमानताप्रतिपादनायोक्तम्। बुद्धिवृत्तिं प्रज्ञां साक्षिभावेनैव जीवन्मुक्तः पश्यति न त्वभिमन्यत इत्याशयः। कुशलः कल्याणोऽकल्याणबुद्धिपत्नीपरित्यागादिति। ज्ञानिनो जीवन्मुक्तस्य लक्षणं सूत्रेणोक्तं तत्प्रसङ्गात्त्वयं परममुक्तस्य ततो विशेषमाह–प्रतिप्रसव इति। चित्तस्यात्यन्तं लयेऽपि कुशल इत्येव भवति, दुःखादिभिः सत्त्वादिभिश्च कुशलगुणैरत्यन्तवियोगादित्यर्थः। एवकारेण जीवन्मुक्तदशायामपि बाधितमकुशलं तिष्ठतीत्युक्तम्। अत एव चाख्यायत इत्यनेन जीवन्मुक्तावस्थायां गौणं कुशलत्वं व्याख्यायात्र भवतीत्यनेन मुख्यं कुशलत्वमुच्यत इति। यत्तु गीतायां–

सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।

इति ज्ञानिनोऽपि गुणातीतत्वमुक्तं तद्गुणाभिमानशून्यतामात्रं परमेश्वरस्य निर्गुणत्ववदिति॥२७॥

वार्त्तिककारः भाष्य को उठाते हैं–'चित्तेति।' चित्त से भी विमुक्ति प्रदान करने वाली प्रज्ञा को 'चित्तविमुक्ति' अथवा परममुक्ति कहते हैं। प्रान्तभूमि प्रज्ञा की विषय बनी हुई यह चित्तविमुक्ति भी तीन प्रकार की है। 'कार्यविमुक्ति' प्रज्ञा से 'चित्तविमुक्ति' प्रज्ञा को पृथक् इसलिये किया गया है, क्योंकि (कार्यविमुक्ति प्रज्ञा के पश्चात्) यह चित्तविमुक्ति प्रज्ञा स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। उसे साधन की अपेक्षा नहीं रहती है। (जब कि चतुर्विध कार्यविमुक्ति प्रज्ञा प्रयत्नसापेक्ष है)।

प्रथम चित्तविमुक्ति प्रज्ञा–भाष्यकार पहली चित्तविमुक्ति प्रज्ञा का वर्णन करते हैं– **'चरिताधिकारा बुद्धिरिति'** बुद्धि समाप्तभोगापवर्ग वाली अर्थात् कर्तव्यरहिता हो जाती है। यह परवैराग्यरूपा चित्तविमुक्ति चित्तनाश की पहली भूमि है।
द्वितीय चित्तविमुक्ति प्रज्ञा–भाष्यकार दूसरी चित्तविमुक्ति प्रज्ञा का वर्णन करते हैं– **'गुणा इति'** बुद्धि के संसार, सुख, दुःखादि गुण अपने कारणभूत सत्त्वादि त्रिगुणमय प्रकृति की ओर लयाभिमुख होकर चित्त के साथ अत्यन्त लयता को प्राप्त होते हैं। इसमें दृष्टान्त है–**'गिरीति'** जिस प्रकार पर्वतशृङ्गों से स्खलित शिलाखण्ड (निराधार होकर) पुनरवस्थान के लिये समर्थ नहीं होते हैं उसी प्रकार चित्त के सुख-दुःखादि धर्म भी चित्तलय के पश्चात् निराश्रित होकर, चित्त के साथ लय हुए विना, ठहर नहीं सकते हैं। यही लिङ्गशरीर के नाश वाली द्वितीय चित्तविमुक्ति प्रज्ञा है।
तृतीय चित्तविमुक्ति प्रज्ञा–भाष्यकार तीसरी चित्तविमुक्ति प्रज्ञा के विषय में बतलाते हैं–**'न चैषामिति'** (आत्यन्तिक लय को प्राप्त चित्त के) संस्कार, सुखादि धर्मों का पुनः आविर्भाव नहीं होता है, क्योंकि (पुरुष के प्रति) बुद्धि के उद्देश्य की समाप्ति हो जाने से तद्धर्म भी प्रयोजनशून्य हो जाते हैं। अतः इस अवस्था में पुरुष बुद्ध्यादि गुण के सम्बन्धविशेष (भोक्तृभोग्यभावसम्बन्ध) से शून्य, **'स्वरूपमात्रज्योति'**= निर्विषयक चिज्ज्योतिस्वरूप, **'अमल'**=औपाधिक तमोमालिन्य से रहित तथा **'केवली'**= मुक्त पुरुषों से अविभक्त हो जाता है। यही विदेहकैवल्य की आत्यन्तिक लय-निष्पत्तिरूप चरमभूमि है। जीवन्मुक्त दशा में योगी इन तीन चित्तविमुक्ति प्रज्ञाओं का साक्षात्कार करता है, ऐसा समझना चाहिये। इस प्रकार सात विषय वाली होने से सप्तविध प्रज्ञा व्याख्यात हुई। अधुना, भाष्यकार सूत्र के तात्पर्यार्थ को समझाते हैं–**'एतां सप्तविधामिति'** यहाँ पर प्रज्ञावान् न कहकर भाष्यकार ने जीवन्मुक्त योगी की निरभिमानता को बतलाने के लिये **'प्रज्ञामनुपश्यन्'** कहा है। आशय यह है कि जीवन्मुक्त योगी बुद्धिवृत्ति अर्थात् प्रज्ञा को साक्षिभाव से ही देखता है, न कि तद्विषयक अभिमान (**अहं प्रज्ञावान्**) करता है। इस अवस्था में योगी **'कुशल'**= कल्याणकारी कहलाता है, क्योंकि वह अकल्याणकारिणी बुद्धिरूप विधर्मी से अत्यन्त विमुक्त हो जाता है। सूत्र के द्वारा ज्ञानी जीवन्मुक्त का लक्षण किया गया है। इसी प्रसङ्ग से भाष्यकार परममुक्त का जीवन्मुक्त से अन्तर (पार्थक्य) बतलाते हैं–**'प्रतिप्रसव इति'** (प्रधान में) चित्त का आत्यन्तिक लय होने पर भी योगी **'कुशल'** ही कहलाता है, क्योंकि दुःखादियों से और कुशलगुण सत्त्वादियों से योगी का अत्यन्त वियोग हो जाता है। **'एवकार'** पद के प्रयोग से भाष्यकार ने यह बतलाया है कि जीवन्मुक्त अवस्था में भी कुशल योगी में अकुशलत्व बाधित ही रहता है। (अर्थात् जीवन्मुक्त अवस्था में भी योगी का कृतकृत्य बुद्धिगुणों से सम्पर्कराहित्य

रहता है)। अत एव 'आख्यायते' क्रियापद के द्वारा जीवन्मुक्त दशा में प्रान्तभूमि प्रज्ञावान् योगी के 'गौण कुशलत्व' का व्युत्पादन करके भाष्यकार आगे (वाक्यांश में) 'भवति' क्रियापद से प्रान्तभूमिज्ञ के 'मुख्य कुशलत्व' को बतलाते हैं। किञ्च गीता में 'सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते' (१२/१६) अर्थात् 'जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेग से मुक्त है, यह योगी 'गुणातीत' कहलाता है'–इत्याकारक वाक्य से ज्ञानी को भी जो 'गुणातीत' कहा गया है, वह परमेश्वर के गुणाभिमानशून्यतापरक निर्गुणत्व की भाँति है। अर्थात् जिस प्रकार ईश्वर गुणाभिमान से रहित होने के कारण 'निर्गुण' कहलाता है उसी प्रकार बुद्ध्यादि गुणों में आत्माभिमान की निवृत्ति हो जाने पर प्रान्तभूमिज्ञ योगी 'गुणातीत' कहलाता है॥२७॥

व्यासभाष्यम्

[1]सिद्धा भवति विवेकख्यातिर्हानोपाय इति। न च सिद्धिरन्तरेण साधन-मि[2]त्येतदारभ्यते–

विवेकख्याति 'हानोपाय' है–यह सिद्ध होता है। किन्तु 'साधन' के विना 'सिद्धि' नहीं होती है, इसलिये विवेकख्यातिरूपी सिद्धि के साधन का प्रति-पादक सूत्र प्रारम्भ हो रहा है–

योगसूत्रम्

[3]योगाङ्गानुष्ठानाद[4]शुद्धिक्षये ज्ञान[5]दीप्तिरा[6]विवेकख्यातेः॥२८॥

योग के अङ्गों का (सफल) अभ्यास करने से अशुद्धि का क्षय (नाश) होने पर विवेकख्यात्युदयपर्यन्त ज्ञान का प्रकाश होता है॥२८॥

व्यासभाष्यम्

योगाङ्गान्यष्टावभिधायिष्यमाणानि। तेषामनुष्ठानात्पञ्चपर्वणो विपर्ययस्या-शुद्धिरूपस्य क्षयो नाशः। तत्क्षये सम्यग्ज्ञानस्याभिव्यक्तिः। यथा यथा च साधना-

---

1. क ग–सिद्धा भवति विवेकख्यातिहानोपाय इति। न च सिद्धिमन्तरेण साधनमित्येतदारभ्यते २/२७ सूत्रस्य टीका, ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–सिद्धा...आरभ्यते २/२८ सूत्रस्य अवतरणिका।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–इत्येतत्, ब–इत्यत इदम्।
3. योगाङ्गानां, योगाङ्गान्यष्टौ -इति पाठान्तरे।
4. अविशुद्धि०–इति पाठान्तरम्।
5. प्रदीप्ति०, दीप्त०–इति पाठान्तरे।
6. विवेक०–इति पाठान्तरम्

न्यनुष्ठीयन्ते तथा तथा तनुत्वम[1]शुद्धिरापद्यते। यथा यथा च क्षीयते तथा तथा क्षयक्रमानुरोधिनी ज्ञानस्यापि दीप्तिर्विवर्धते। सा खल्वेषा विवृद्धिः प्रकर्षमनुभवत्याविवेकख्यातेः। आगुणपुरुषस्वरूप[2]विज्ञानादित्यर्थः। योगाङ्गानुष्ठानमशुद्धेर्वियोगकारणं, यथा परशुश्छेद्यस्य। विवेकख्यातेस्तु प्राप्तिकारणं, यथा धर्मः सुखस्य, नान्यथा कारणम्। कति चैतानि कारणानि शास्त्रे भवन्ति? नवैवेत्याह। तद्यथा—

उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः।
वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम्॥ इति।

तत्रोत्पत्तिकारणं मनो भवति [3]विज्ञानस्य। स्थितिकारणं मनसः पुरुषार्थता, शरीरस्येवाहार इति। अभिव्यक्तिकारणं [4]यथा रूपस्यालोकस्[5]तथा रूपज्ञानम्। विकारकारणं मनसो विषयान्तरम्, यथाग्निः पाक्यस्य। प्रत्ययकारणं धूमज्ञानमग्निज्ञानस्य। प्राप्तिकारणं योगाङ्गानुष्ठानं विवेकख्यातेः। वियोगकारणं तदेवाशुद्धेः। अन्यत्वकारणं यथा सुवर्णस्य सुवर्णकारः। एवमेकस्य स्त्रीप्रत्ययस्याविद्या मूढत्वे, द्वेषो दुःखत्वे, रागः सुखत्वे, [6]तत्त्वज्ञानं माध्यस्थ्ये। धृतिकारणं [7]शरीरमिन्द्रियाणाम्, [8]तानि च तस्य। महाभूतानि [9]शरीराणाम्, तानि च परस्परं सर्वेषाम्। [10]तैर्यग्यौनमानुषदैवतानि च परस्परार्थत्वादिति। [11]एवं नव कारणानि। तानि च यथासंभवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यानि। योगाङ्गानुष्ठानं तु द्विधैव कारणत्वं लभत इति॥२८॥

योग के आठ अंग आगे बतलाये जायेंगे। उनका अनुष्ठान (अभ्यास) करने से पाँच पर्व (भेद) वाली विपर्ययरूपिणी अशुद्धि का नाश हो जाता है। विपर्ययात्मिका अशुद्धि का क्षय होने पर यथार्थज्ञान का आविर्भाव (उदय)

---

1. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न प फ ब भ म य र—अशुद्धिः, त—अशुद्धेः।
2. छ थ—अयं सवितर्कः संप्रज्ञातः समाधिः, स्थूलान्तर्गतयुक्तत्वात् (विज्ञानात् पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—अयं...युक्तत्वात् नोपलभ्यते।
3. क ख ग च ज झ त द ध न भ य—ज्ञानस्य, घ प फ ब म र—विज्ञानस्य, छ थ—ज्ञानम्।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—यथा, व—यदा।
5. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—तथा, ख—यथा।
6. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र—तत्त्व०, झ—तत्।
7. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र—शरीरम्, झ त—शरीर०।
8. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—तानि च तस्य, छ थ—तेषाम्।
9. क ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—शरीराणां, तानि च उपलभ्यते, ख ज—शरीराणां...च नोपलभ्यते।
10. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—तैर्यग्यौनमानुषदैवतानि च परस्परार्थत्वादिति उपलभ्यते, ज—तैर्यग्यौन...दिति नोपलभ्यते।
11. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न भ म य—एवम्, घ प फ ब र—इत्येवम्।

होता है। जैसे-जैसे योग-साधनों का अनुष्ठान (अभ्यास) किया जाता है वैसे-वैसे विपर्ययरूपिणी अशुद्धि धूमिल पड़ती जाती है। फिर जैसे-जैसे विपर्यय-रूपिणी अशुद्धि क्षीण होती जाती है वैसे-वैसे अशुद्धिक्षय के अनुपातानुसार (परिणामानुसार) ज्ञान का प्रकाश क्रमशः बढ़ता जाता है। ज्ञान के प्रकाश का यह वर्धन विवेकख्याति की पराकाष्ठा को प्राप्त करता है। 'आविवेकख्याति' का अर्थ है—सत्त्वादि गुण और पुरुष दोनों के सम्यक् स्वरूपज्ञानपर्यन्त। योगाङ्गानुष्ठान तथाकथित अशुद्धि का 'वियोगकारण' है। जैसे कुल्हाड़ी छेदन-योग्य वस्तु के प्रति 'वियोगकारण' है। किन्तु योगाङ्गानुष्ठान विवेकख्याति का 'प्राप्तिकारण' है। जैसे सुख का 'प्राप्तिकारण' धर्म है। योगाङ्गानुष्ठान अन्य किसी प्रकार से विवेकख्याति का कारण नहीं है। शास्त्र में ये कारण कितने प्रकार के प्रतिपादित हैं? शास्त्र में नौ प्रकार के कारण बतलाये गये हैं। जैसा कि स्मृतिवाक्य है—'उत्पत्ति, स्थिति, अभिव्यक्ति, विकार, प्रत्यय, आप्ति, वियोग, अन्यत्व तथा धृति (संज्ञक)—ये नौ प्रकार के कारण स्मृतिग्रन्थों में बतलाये गये हैं।' इन नौ प्रकार के कारणों में—

१. मन विज्ञान का 'उत्पत्तिकारण' है।
२. पुरुषार्थ मन का 'स्थितिकारण' है। जैसे भोजन शरीर का 'स्थितिकारण' है।
३. आलोक तथा रूपज्ञान रूप का 'अभिव्यक्तिकारण' है।
४. ध्येयान्तर मन का 'विकारकारण' है। जैसे अग्नि पाक्य (पकाने योग्य) वस्तु का 'विकारकारण' है।
५. धूमज्ञान अग्निज्ञान का 'प्रत्ययकारण' है।
६. योगाङ्गानुष्ठान विवेकख्याति का 'प्राप्तिकारण' है।
७. वही योगाङ्गानुष्ठान अशुद्धि का 'वियोगकारण' है।
८. सुवर्णकार सुवर्ण का 'अन्यत्वकारण' है। इसी प्रकार एक ही स्त्रीज्ञान का अविद्या में मूढता, दुःखरूपता में द्वेष, सुखरूपता में राग और मध्यस्थता (उदासीनता) में तत्त्वज्ञान 'अन्यत्वकारण' है।
९. शरीर इन्द्रियों का 'धृतिकारण' है। और इन्द्रियाँ शरीर का 'धृतिकारण' हैं। महाभूत शरीर के 'धृतिकारण' हैं। तिर्यग्योनि, मानुषयोनि और दैवयोनि के शरीर भी एक-दूसरे के उपकारी होने से परस्पर 'धृतिकारण' वाले हैं।

इस प्रकार नौ कारण हैं। इन नौ कारणों को यथासम्भव अन्य पदार्थों में भी घटित कर लेना चाहिये। योगाङ्गानुष्ठान तो दो प्रकार की कारणता को प्राप्त करता है॥२८॥

तत्त्ववैशारदी

तदेवं चतुरो व्यूहानुक्त्वा तन्मध्यपतितस्य हानोपायस्य विवेकख्यातेर्गोदोहनादिवत्प्राग-सिद्धेरसिद्धस्य चोपायत्वाभावात्सिद्ध्युपायान् वक्तुमारभत इत्याह—सिद्धेति। तत्राभिधास्य-मानानां साधनानां येन प्रकारेण विवेकख्यात्युपायत्वं तद्दर्शयति सूत्रेण—योगाङ्गानुष्ठानाद-शुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः। योगाङ्गानि हि यथायोगं दृष्टादृष्टद्वारेणाशुद्धिं क्षिण्वन्ति।

इस प्रकार चार व्यूहों (हेय, हेयहेतु, हान तथा हानोपाय) को कहकर उनमें से विवेकख्यात्यात्मक 'हानोपाय' गोदोहन आदि क्रिया के समान (साधनानुष्ठान से पूर्व) असिद्ध है और असिद्ध वस्तु में साधनत्व का अभाव रहता है। अतः विवेक-ख्याति की सिद्धि के उपायों को बताने के लिये भाष्यकार भूमिका बाँधते हैं— **'सिद्धेति।'** वक्ष्यमाण यमादि साधनों में विवेकख्याति के प्रति जिस व्यापार से साधनत्व (उपायत्व) है अर्थात् यमादि साधन विवेकख्याति के प्रति जिस प्रकार से कारण बनते हैं, उसे सूत्र द्वारा प्रदर्शित किया जा रहा है—**'योगेति।'** योगाङ्ग उपयुक्त रूप से दृष्टादृष्टद्वार द्वारा अशुद्धि का क्षय (नाश) करते हैं।

बालप्रिया—

'दृष्टादृष्टद्वारेण'—तात्पर्य यह है कि शौचादि दृष्टद्वार से 'विपर्ययरूप' **'अशुद्धि'** का नाश करते हैं। शौचादि अशुद्धिक्षय का साक्षात् साधन है। और स्वाध्यायादि अदृष्टद्वार से अर्थात् परम्परया अशुद्धि का नाश करते हैं। **'अशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिः'**— सूत्रकार के इस कथन का तात्पर्य यह है कि यमादि साधन ज्ञानोत्पत्ति के प्रति कारण नहीं हैं, अपितु प्रतिबन्धरूपिणी अविद्या के अपसारण द्वारा ज्ञानप्राप्ति के प्रति कारण बनते हैं। ऐसी स्थिति में पूर्वजन्म में ही यमादि का अनुष्ठान करने से जिन जड़भरतादि ऋषियों का अशुद्धिक्षय हो चुका है, उन्हें इस वर्तमान जन्म में यमादि का अनुष्ठान नहीं करना पड़ता है, क्योंकि उन्हें यमादि पहले ही सिद्ध हो चुके रहते हैं।

सूत्रगत **'अशुद्धि'** शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए तत्त्ववैशारदीकार आगे कहते हैं—

तत्त्ववैशारदी

पञ्चपर्वणो विपर्ययस्येत्युपलक्षणं पुण्यापुण्ययोरपि जात्यायुर्भोगहेतुत्वेनाशुद्धिरूपत्वादिति। शेषं सुगमम्। नानाविधस्य कारणभावस्य दर्शनाद्योगाङ्गानुष्ठानस्य कीदृशं कारणत्वमित्यत आह—योगाङ्गानुष्ठानमिति। अशुद्ध्या वियोजयति बुद्धिसत्त्वमित्यशुद्धेर्वियोगकारणम्। दृष्टान्तमाह—यथा परशुरिति। परशुश्छेद्यं वृक्षं मूलेन वियोजयति। अशुद्ध्या वियोजयद्

बुद्धिसत्त्वं विवेकख्यातिं प्रापयति। यथा धर्मः [1]सुखम्। तथा योगाङ्गानुष्ठानं विवेकख्यातेः प्राप्तिकारणं नान्येन प्रकारेणेत्याह—विवेकख्यातेस्त्विति।

भाष्यकार ने अविद्यादि पाँच भाग वाले विपर्यय को **'अशुद्धि'** कहा है। भाष्यकार के इस वक्तव्य को ध्यान में रखकर ही तत्त्ववैशारदीकार कह रहे हैं कि **'पञ्चपर्वणो विपर्ययस्य'**—यह उपलक्षणमात्र (समस्त वस्तु के लिये उसके किसी एक भाग का कथनमात्र) है, क्योंकि अविद्यादि पाँच ही नहीं, अपितु पुण्यापुण्यरूप कर्माशय भी जाति, आयु तथा भोगरूप विपाक का हेतु होने से **'अशुद्धिरूप'** है। शेष भाष्य सुगम है। (जगत् में) अनेक प्रकार का कार्यकारणभाव दिखलाई पड़ता है, अतः विचारणीय है कि योगाङ्गानुष्ठान अशुद्धिक्षय का कैसा कारण है?—इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए भाष्यकार कहते हैं—**'योगाङ्गानुष्ठानमिति।'** योगाङ्गानुष्ठान बुद्धिसत्त्व को अशुद्धि से वियुक्त अर्थात् पृथक् करता है, इसलिये योगाङ्गानुष्ठान अशुद्धिक्षय का **'वियोगकारण'** है। भाष्यकार दृष्टान्त देते हैं—**'यथा परशुरिति।'** जैसे कुठार भेद्य वृक्ष को मूल से वियुक्त (निर्मूल) करता है वैसे योगाङ्गानुष्ठान बुद्धिसत्त्व को अशुद्धि से वियुक्त करता हुआ (बुद्धिसत्त्वनिष्ठ अशुद्ध्यपसारणपूर्वक) विवेकख्याति को प्राप्त कराता है अर्थात् बुद्धि में पुम्प्रकृतिभेदाकारवृत्ति का उदय कराता है। जैसे धर्म सुख को प्राप्त कराता है अर्थात् धार्मिक क्रिया सुखोपलब्धि का **'प्राप्तिकारण'** है वैसे ही योगाङ्गानुष्ठान विवेकख्याति का **'प्राप्तिकारण'** है। योगाङ्गानुष्ठान इससे भिन्न प्रकार से विवेकख्याति के प्रति कारण नहीं है, ऐसा भाष्यकार कहते हैं—**'विवेकख्यातेस्त्विति।'**

भाष्य में आगे **'नान्यथा'** पद को लेकर विचार किया जा रहा है—

तत्त्ववैशारदी

नान्यथेति प्रतिषेधश्रवणात्पृच्छति—कति चैतानीति। उत्तरम्—नवैवेति। तानि दर्शयति कारिकया—तद्यथोत्पत्तीति। अत्रोदाहरणान्याह—तत्रोत्पत्तिकारणमिति। मनो [2]हि विज्ञानमव्यपदेश्यावस्थातोऽपनीय वर्तमानावस्थामापादयदुत्पत्तिकारणं विज्ञानस्य।

भाष्य में **'नान्यथा कारणम्'** अर्थात् 'अन्य किसी प्रकार का कारण नहीं है'—ऐसा निषेध सुनाई पड़ने से पूर्वपक्षी प्रश्न करता है (क्योंकि निषेध प्राप्तिपूर्वक होता है)—**'कति चैतानीति।'** कितने प्रकार के कारण हैं? उत्तर है—**'नवैवेति।'** नौ प्रकार के कारण हैं। भाष्यकार कारिका के द्वारा इन नौ कारणों को प्रदर्शित करते हैं—**'तद्यथोत्पत्तीति।'** अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति, अभिव्यक्ति, विकार, प्रत्यय, आप्ति, वियोग, अन्यत्व तथा धृति—ये नौ कारण शास्त्रविहित हैं। भाष्यकार इनके उदाहरण प्रस्तुत

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न—सुखम्, थ द ध—सुखस्य।
2. ख ग घ च छ ज झ त न—हि उपलभ्यते, क थ द ध—हि नोपलभ्यते।

करते हैं–'तत्रोत्पत्तिकारणमिति' विज्ञान को 'अव्यपदेश्य' अर्थात् अनागत अवस्था से बाहर निकालकर वर्तमान अवस्था में प्रतिष्ठित करता हुआ मन विज्ञान का 'उत्पत्तिकारण' है।

बालप्रिया–

'उत्पत्तिः'–सत्कार्यवाद के अनुसार कारण में सूक्ष्मरूप से निहित अनागत-कालिक वस्तु का स्थूलत्वेन वर्तमान अवस्था को प्राप्त करना 'उत्पत्ति' कहलाता है। जैसे मृत्तिका में सूक्ष्मत्वेन निहित घट का अनागत से वर्तमान अवस्था में प्रवेश करना 'उत्पत्ति' कहलाता है।

तत्त्ववैशारदी

स्थितिकारणं मनसः पुरुषार्थता। अस्मिताया उत्पन्नं मनस्तावदवतिष्ठते न यावद् द्विविधं पुरुषार्थमभिनिर्वर्तयति। अथ निर्वर्तितपुरुषार्थद्वयं स्थितेरपैति, तस्मात्स्वकारणादुत्पन्नस्य मनसोऽनागतपुरुषार्थता स्थितिकारणम्। दृष्टान्तमाह–शरीरस्येवेति। प्रत्यक्षज्ञान[1]निमित्तमिन्द्रियद्वारा वा स्वतो वा विषयस्य संस्क्रियाभिव्यक्तिस्तस्याः कारणं यथा रूपस्यालोकः।

'स्थितिकारण' को बतलाते हुए वैयासिकी पंक्ति है–'स्थितिकारणं मनसः पुरुषार्थता।' पुरुषार्थता मन का स्थितिकारण है। अस्मितारूप अहंकार से प्रादुर्भूत मन तावत्कालपर्यन्त अवस्थित रहता है, यावत्कालपर्यन्त वह द्विप्रकारक पुरुषार्थ को निष्पादित नहीं कर लेता है। तत्पश्चात् निष्पादित पुरुषार्थद्वय मन को उसकी वर्तमानावस्था से वियुक्त कर देता है। अतः अपने कारण अहंकार से उत्पन्न मन का 'स्थितिकारण' अनागतपुरुषार्थता अर्थात् भविष्य में सम्पादित होने वाला भोगापवर्गरूप पुरुषार्थ है। भाष्यकार इसमें दृष्टान्त देते हैं–'शरीरस्येवेति' जैसे भोजन शरीर का स्थितिकारण है। प्रत्यक्षज्ञान का निमित्त, इन्द्रिय द्वारा अथवा स्वतः विषय के संस्कार अर्थात् विषयनिष्ठ प्राकट्यरूप संस्क्रिया, जिसे अभिव्यक्ति कहते हैं, का कारण है। जैसे (प्रत्यक्ष ज्ञान का निमित्त) आलोक 'रूप' का 'अभिव्यक्तिकारण' है।

बालप्रिया–

'अभिव्यक्तिः'–'अभिव्यक्ति' शब्द से बुद्धिवृत्ति तथा पौरुषेयबोध दोनों का ग्रहण होता है। बुद्धिवृत्ति के प्रति आलोक कारण है तथा पौरुषेयबोध के प्रति बुद्धिवृत्ति-रूप रूपज्ञान कारण है। इस प्रकार 'अभिव्यक्तिकारण' का विभाग कर लेना चाहिये।

'प्रत्यक्षज्ञाननिमित्तम्'...तत्त्ववैशारदीय इस पंक्ति का आशय यह है–यद्यपि रूप की प्राकट्यरूप अभिव्यक्ति में चक्षुरिन्द्रिय निमित्त है तथापि अन्धकार में नामरूप-

---

1. क ख ग घ ङ छ झ ट ण द ध न–निमित्तम्, ज–निमित्तत्वम्।

विरहित पदार्थ की अभिव्यक्ति न होने से आलोक को विषयगत 'रूप' का 'अभिव्यक्तिकारण' कहा गया है। दूसरी स्थिति में आलोकसहकृत इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होने पर भी तब तक विषयगत रूप की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है जब तक रूपाकारवृत्ति का उदय नहीं होता है। अतः (आलोक की भाँति) रूपज्ञान भी 'रूप' का 'अभिव्यक्तिकारण' है।

तत्त्ववैशारदी

विकारकारणं मनसो विषयान्तरम्। यथा हि मृकण्डोः समाहितमनसो वल्लकीविपञ्च्यमानपञ्चमस्वरश्रवणसमनन्तरमुन्मीलिताक्षस्य [1]स्वरूपलावण्ययौवनसंपन्नामप्सरसं [2]प्रम्लोचामीक्षमाणस्य समाधिमपहाय तस्यां सक्तं मनो बभूवेति। अत्रैव निदर्शनमाह— [3]यथाग्निरिति। यथाग्निः पाकस्य तण्डुलादेः कठिनावयवसन्निवेशस्य प्रशिथिलावयवसंयोगलक्षणस्य विकारस्य कारणम्। सत एव विषयस्य प्रत्ययकारणं धूमज्ञानमग्निज्ञानस्येति। ज्ञायत इति ज्ञानम्। अग्निश्चासौ ज्ञानं चेत्यग्निज्ञानं तस्य। एतदुक्तं भवति—वर्तमानस्यैवाग्नेर्ज्ञेयस्य प्रत्ययकारणतया कारणमिति।

'विकारकारण' को बतलाते हुए वैयासिकी पंक्ति यह है—'विकारकारणं मनसो विषयान्तरम्' अर्थात् ध्येयातिरिक्त पदार्थ का चिन्तन मन का 'विकारकारण' है। जैसे वीणा से निःसृत सप्तस्वरान्तर्गत कोकिल स्वर के सदृश पञ्चम स्वर को सुनने के अनन्तर उन्मीलित नेत्र वाले अर्थात् भंगसमाधि वाले मृकण्डु मुनि का समाहित चित्त यौवन के सौन्दर्य से सम्पन्न प्रम्लोचा नामक अप्सरा के दर्शन से उसी में आसक्त हो गया अर्थात् मन में कामभावना प्रादुर्भूत हुई। इसी विकारकारण के विषय में भाष्यकार दृष्टान्त देते हैं—'यथाग्निरिति।' जिस प्रकार अग्नि कठिन अवयवसन्निवेश वाले चावल आदि के 'पाक्य' अर्थात् शिथिल अवयवसंयोगरूप विकारत्व का कारण है। अर्थात् अग्नि के द्वारा कठिन अवयव वाला चावल कोमल अवयव वाला बना दिया जाता है। अतः अग्नि पाक्य पदार्थ का 'विकारकारण' है। 'प्रत्ययकारण' पहले से विद्यमान सत् पदार्थ के विषय में प्रसृत होता है। जैसे धूमज्ञान अग्निज्ञान का 'प्रत्ययकारण' है। 'ज्ञायत इति ज्ञानम्'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो विदित होता है, उसे ज्ञान कहते हैं। 'अग्निश्चासौ ज्ञानं च' अर्थात् अग्निविषयक जो ज्ञान है, उसे अग्निज्ञान कहते हैं। तात्पर्य यह हुआ—वर्तमान ज्ञेय अग्नि के प्रत्ययकारण के रूप से धूमज्ञान कारण है।

---

1. क घ च छ ज झ त द ध न—स्वरूप०, ख ग—रूप०, थ—सुरूप०।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न—प्रम्लोचा, थ द ध—उम्लोचा।
3. थ द ध—यथाग्निरिति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न—यथाग्निरिति नोपलभ्यते।

बालप्रिया—

सत एव विषयस्य प्रत्ययकारणं धूमज्ञानमग्निज्ञानस्येति। ज्ञायत इति ज्ञानम्'—भाव यह है—**'ज्ञप्तिः ज्ञानम्'** इस भावल्युडन्त से **'अग्निज्ञानस्य'** में **'अग्नेः ज्ञानम्'** ऐसा षष्ठी तत्पुरुषसमास नहीं है, अन्यथा **'प्रत्ययकारणम्'** इस पद से पुनरुक्ति की आपत्ति आयेगी। अर्थात् अग्नि के ज्ञान के ज्ञान की पुनरुक्ति आती है। अपितु **'कृत्यल्युटो बहुलम्'**—इस सूत्र के अनुसार ज्ञेयार्थक कर्म के साधनभूत ज्ञान शब्द से (**ज्ञायत इति ज्ञानम्** द्वारा) कर्मधारयसमास इस प्रकार करना चाहिये—**अग्निश्चासौ ज्ञानं चेति, अग्नि ज्ञानम्, तस्य अग्निज्ञानस्येति।** इसीलिये तत्त्ववैशारदीकार ने कहा है—**'ज्ञायत इति ज्ञानम्'**

सम्प्रति, छठे **'प्राप्तिकारण'** का वर्णन किया जा रहा है—

तत्त्ववैशारदी

[1]प्राप्तिकारणम्—औत्सर्गिकी निरपेक्षाणां कारणानां कार्य[2]क्रिया प्राप्तिः। तस्याः कुतश्चिदपवादोऽप्राप्तिः। यथा निम्नोपसर्पणस्वभावानामपां प्रतिबन्धः सेतुना, तथेहापि बुद्धिसत्त्वस्य सुखप्रकाशशीलस्य स्वाभाविकी सुखविवेकख्यातिजनकता प्राप्तिः। सा कुतश्चिदधर्मात्तमसो वा प्रतिबन्धान्न भवति। धर्माद्योगाङ्गानुष्ठानाद्वा तदपनये तदप्रतिबद्ध[3]वृत्तिस्वभावत एव तज्जनकतया तदाप्नोति। यथा वक्ष्यति—निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवदिति। तदेवं विवेकख्यातिलक्षणकार्यापेक्षया प्राप्तिकारणमुक्तम्। अवान्तरकार्यापेक्षया [4]तु तदेव वियोगकारणमित्याह—वियोगकारणमिति।

निरपेक्ष (दूसरे कारणों की अपेक्षा न रखने वाले) कारणों में कार्य को उत्पन्न करने की जो स्वाभाविक शक्ति है, उसे **'प्राप्ति'** कहते हैं। उस स्वाभाविकी कार्यक्रिया का किसी अपवाद (परिस्थितिविशेष) से जो प्रतिबन्ध (अवरोध) होता है, उसे **'अप्राप्ति'** कहते हैं। जिस प्रकार जल की निम्नप्रवहणशीलता को सेतु (पुल) के द्वारा प्रतिबन्धित किया जाता है। भाव यह है—जल में नीचे की ओर बहने की स्वाभाविकी शक्ति निहित है। जलनिष्ठ इसी शक्ति को 'प्राप्ति' कहते हैं। वैज्ञानिक साधनों से जल की इस प्रवहणशीलता को रोकना 'अप्राप्ति' है। कालान्तर में जलावरोधक को हटा देने से 'जल को निम्नप्रवहणशीलतारूप शक्ति पुनः प्राप्त हो गई है', ऐसा व्यवहार किया जाता है। वस्तुतस्तु यह स्वाभाविकी शक्ति जल में पहले से ही विद्यमान है। अपवाद को दूर कर देने मात्र से जल की प्रवहणशीलता का निरापद मार्ग प्रशस्त हो जाता है। उसी प्रकार यहाँ भी सुखप्रकाशशील (सत्त्व-

---

1. थ द ध न—प्राप्तिकारणं उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त—प्राप्तिकारणं नोपलभ्यते।
2. घ च त थ द ध न—क्रिया उपलभ्यते, क ख ग छ ज झ—क्रिया नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न—वृत्ति०, छ—वृत्तिः।
4. क ख घ च छ ज झ त न—तु उपलभ्यते, ग थ द ध—तु नोपलभ्यते।

गुणप्रधान होने से सुख और प्रकाशरूप धर्म वाली) बुद्धि में सुख (विषयादिजन्य सुख) और प्रकृति-पुरुष के भेदज्ञान को उत्पन्न करने की स्वाभाविकी शक्ति निहित है। इसी स्वाभाविकी सुखविवेकख्यातिजनकता को 'प्राप्ति' कहते हैं। किन्तु यह स्वाभाविकी शक्ति अधर्म अथवा तमोगुणरूप प्रतिबन्धक के कारण किसी प्रकार उद्बुद्ध नहीं होती है। धर्म अथवा योगाङ्गानुष्ठान से अधर्मादिरूप अवरोधक के दूर हो जाने पर अप्रतिहतवृत्तिस्वभाव वाला बुद्धिसत्त्व स्वभावतः ही धर्म और विवेकख्याति की उत्पत्ति के कारणरूप से अपनी शक्ति को प्राप्त करता है। यह बात **'निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्'** (४/३) सूत्र में कही जायेगी। इस प्रकार विवेकख्यातिरूप कार्य की दृष्टि से योगाङ्गानुष्ठान को **'प्राप्तिकारण'** कहा गया है। यही योगाङ्गानुष्ठान (अशुद्धिक्षय रूप) अवान्तरकार्य की दृष्टि से **'वियोगकारण'** है, ऐसा भाष्यकार ने कहा है–**'वियोगकारणमिति।'**

सम्प्रति, आठवें **'अन्यत्वकारण'** पर विचार किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

अन्यत्वकारणमाह–[1]अन्यत्वकारणं यथा [2]सुवर्णकारः सुवर्णस्येति। कटककुण्डलकेयूरादिभ्यो भिन्नाभिन्नस्य भेदविवक्षया कटकादिभिन्नस्या[3]भेदविवक्षया कटकाद्यभिन्नस्य सुवर्णस्य कुण्डलादन्यत्वम्। तथा च कटककारी सुवर्णकारः कुण्डलादभिन्नात्सुवर्णादन्यत्कुर्वन्नन्यत्वकारणम्।

भाष्यकार **'अन्यत्वकारण'** को बतलाते हैं–**'अन्यत्वकारणं यथा सुवर्णकारः सुवर्णस्येति।'** कटक (कंगन), कुण्डल (कान की बाली), केयूर (बाजूबन्ध) आदि से भिन्नाभिन्न–भेदाभिप्राय से कटकादिरूप भिन्नता वाले और अभेदाभिप्राय से कटकादिरूप अभिन्नता वाले–सुवर्ण (धर्मी) का कुण्डलादि (धर्म) से अन्यत्व है। (तात्पर्य यह है कि सुवर्णरूप कारण का कार्य होने से कटकादि सुवर्ण से भिन्न भी हैं और कारण में कार्य के सत् रहने से कटकादि कार्य सुवर्ण कारण सें अभिन्न भी हैं। इसलिये कार्य का कारण से 'भेदाभेद' कहा जाता है। ऐसे भिन्नाभिन्नरूप सुवर्ण में कुण्डल की दृष्टि से **'अन्यत्व'** है। तथाकथित 'अन्यत्व' का आधान जो करता है, उसे **'अन्यत्वकारण'** अर्थात् अन्यत्व का निमित्त कहा जाता है। वह **'अन्यत्वकारण'** कौन है, इसे तत्त्ववैशारदीकार बतलाते हैं–कटक बनाने वाला सुवर्णकार कुण्डलादि से अभिन्न

---

1. ख ग घ च छ ज झ त न–अन्यत्वकारणं उपलभ्यते, क थ द ध–अन्यत्वकारणं नोपलभ्यते।
2. ख थ द ध–सुवर्णस्य सुवर्णकारः, ग घ च छ ज झ त न–सुवर्णकारः सुवर्णस्य, क–सुवर्णस्य.../ सुवर्णकारः...नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न–अभेदविवक्षया कटकाद्यभिन्नस्य उपलभ्यते, त–अभेद... भिन्नस्य नोपलभ्यते।

सुवर्ण से कटक को पृथक् करता हुआ 'अन्यत्वकारण' कहा जाता है। अर्थात् सुवर्णकार सुवर्ण को कटक, कुण्डलादि विभिन्न आकृतियाँ प्रदान करता है, अतः सुवर्णकार को 'अन्यत्वकारण' कहते हैं।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार 'अन्यत्वकारण' को 'विकारकारण' से सोदाहरण पृथक् सिद्ध करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

अग्निरपि पाक्यस्यान्यत्वकारणं यद्यपि, तथापि धर्मिणो धर्मयोः पुलाकत्वतण्डुलत्वयोर्भेदाविवक्षया धर्मयोरुपजनापायेऽपि धर्म्यनुवर्तत इति न तस्यान्यत्वं शक्यं वक्तुमिति विकार[1]मात्रकारणत्वमुक्तमिति न संकरः। न च संस्थानभेदो धर्मिणोऽन्यत्वकारणमिति व्याख्येयम्, सुवर्णकार इत्यस्यासंगतेः। बाह्यमन्यत्वकारणमुपन्यस्याध्यात्मिकमुदाहरति–एवमेकस्येति। अविद्या कमनीयेयं [2]कन्यकेत्यादिज्ञानम्। सम्मोहयोगात्स एव स्त्रीप्रत्ययो मूढो विषण्णो भवति चैत्रस्य, मैत्रस्य पुण्यवतो बत कलत्ररत्नमेतन्न तु मम भाग्यहीनस्येति। एवं सपत्नीजनस्य तस्यां द्वेषः स्त्रीप्रत्ययस्य दुःखत्वे। एवं मैत्रस्य तस्या भर्तुः रागस्तस्यैव स्त्रीप्रत्ययस्य सुखत्वे। तत्त्वज्ञानं त्वङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जासमूहः स्त्रीकायः स्थानबीजादिभिरशुचिरिति विवेकिनां माध्यस्थ्ये वैराग्ये कारणमिति।

यद्यपि अग्नि भी पाक्य तण्डुलादि के 'अन्यत्व' का कारण है, तथापि धर्मीभूत पाक्य पदार्थ के 'पुलाकत्व', तण्डुलत्वरूप धर्मों का भेद विवक्षित न होने से इन धर्मों की उत्पत्तिं और नाश होने पर भी 'धर्मी' बना रहता है। अतः पाक्य धर्मी के प्रति अग्नि को 'अन्यत्वकारण' कहना सम्भव नहीं है। अग्नि में पाक्य पदार्थ के प्रति 'विकारकारणत्व' कहा गया है। अतः दोनों कारणों में संकर (अन्तर्मिश्रण) नहीं है। संस्थानभेद धर्मी का अन्यत्वकारण होता है, ऐसी व्याख्या नहीं करनी चाहिये, अन्यथा सुवर्णकार के 'अन्यत्वकारण' के प्रसङ्ग में यह सङ्गत नहीं होगा। इस प्रकार बाह्य पदार्थों में 'अन्यत्वकारण' को दिखलाकर भाष्यकार अन्यत्वकारण का आध्यात्मिक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं–'एवमेकस्येति।' 'यह कन्या कितनी सुन्दर है'–इत्यादि ज्ञान को अविद्या कहते हैं। यही स्त्रीविषयक ज्ञान मोह के कारण चैत्र को दुःखी करता है–'अहो! अत्यन्त भाग्यशाली मैत्र की यह स्त्रीरूप मणि है, मुझ भाग्यहीन की नहीं।' स्त्रीविषयक ज्ञान की दुःखरूपता में पत्नियों का कमनीय स्त्री के प्रति द्वेष' कारण है अर्थात् उसी स्त्रीविषयक ज्ञान में दुःखत्वरूप अन्यत्व का कारण सपत्नी- निष्ठ द्वेष है। उसी स्त्रीविषयक ज्ञान की सुखरूपता में उसके पति मैत्र का

1. क ख ग घ च छ ज झ त न–मात्र० उपलभ्यंते, थ द ध–मात्र० नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न–कन्यका, ग थ द ध–कन्या।

अपनी पत्नी के प्रति राग कारण है अर्थात् उसी स्त्रीविषयक ज्ञान में सुखत्वरूप अन्यत्व का कारण पतिनिष्ठ 'राग' है। उसी स्त्री में 'त्वक्, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा की समुदायरूप यह स्त्रीकाया स्थानबीजादि के कारण अशुचिपूर्ण है'–इत्याकारक तत्त्वज्ञान तत्त्वज्ञानी के माध्यस्थ्य अर्थात् वैराग्य का कारण है। अर्थात् उसी स्त्री-विषयक ज्ञान में मध्यस्थत्वरूप अर्थात् उदासीनतारूप अन्यत्व का कारण तत्त्वज्ञ-निष्ठ तत्त्वज्ञान है।

बालप्रिया–

स्थानबीजादिभिः–इसके द्वारा तत्त्ववैशारदीकार ने २/५ सूत्र के भाष्य में उद्धृत उस श्लोक की ओर इंगित किया है, जिसमें देह की अशुचिता के कारण संगृहीत हैं। वह श्लोक इस प्रकार है–

'स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि।
कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुः॥'

सम्प्रति, अन्तिम **'धृतिकारण'** को प्रतिपादित किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

धृतिकारणं शरीरमिन्द्रियाणां विधारकम्। इन्द्रियाणि च शरीरस्य। [1]सामान्य[2]करण-वृत्तिर्हि प्राणाद्या वायवः पञ्च। तदभावे शरीरपातात्।

इन्द्रियों को धारण करने वाला शरीर इन्द्रियों का **'धृतिकारण'** है। इसी प्रकार इन्द्रियाँ भी शरीर का **'धृतिकारण'** हैं। प्राणादि (प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान) पाँच वायु करणों की सामान्यवृत्ति हैं। क्योंकि करणों के प्राणनादि सामान्य-व्यापार न करने पर देहपात अर्थात् मृत्यु होती है।

बालप्रिया–

'सामान्यकरणवृत्तिर्हि प्राणाद्याः'...इस सिद्धान्त के मूल में एक शंका निहित है। वह शंका इस प्रकार है–

शङ्का–शरीर को धारण करने वाले प्राणादि हैं, न कि इन्द्रियाँ। अतः वाचस्पति मिश्र ने **'इन्द्रियाणि च शरीरस्य'** वाक्य द्वारा इन्द्रियों को शरीर का **'धृतिकारण'** कैसे कहा है?

समाधान–प्राणादि वृत्तियाँ इन्द्रियादि करणों के सामान्यव्यवहारमात्र हैं, न कि उनसे पृथक्। अतः इन्द्रियों को शरीर का **'धृतिकारण'** कहने से इन्द्रियों के सामान्यव्यवहार रूप प्राणादि का भी शरीर के प्रति **'धृतिकारणत्व'** स्वतः प्राप्त है। क्योंकि सांख्यनय में

---

1. क ख ग थ द ध–सामान्य०, घ च छ ज झ त न–सामान्या।
2. क ख घ च ज झ त थ द ध न–करणवृत्तिः, ग–कारणवृत्तिः, छ–करणवृत्तेः।

करणों के सामान्यव्यापार (सामान्यकरणवृत्ति) से अतिरिक्त प्राणादि नहीं हैं–ऐसा कहा गया है। तदर्थ सांख्यकारिका द्रष्टव्य है–

'स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च'॥२९॥

प्राणादि पञ्च वायु को 'जीवनवृत्ति' भी कहते हैं। वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्व-कौमुदी में प्राणादि के तत्तत् स्थानों पर भी प्रकाश डाला है–

१. प्राणो नासाग्रहृन्नाभिपादाङ्गुष्ठवृत्तिः–'नासिका के अग्र भाग में, हृदय में, नाभि में, दोनों पैरों में और अंगूठे में 'प्राण' रहता है।' प्राणनात् प्राणः–इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्राणनादि के द्वारा शरीर को धारण करने से तथाकथित वायु 'प्राण' कहलाता है। २. 'अपानः कृकाटिकापृष्ठपादपायूपस्थपार्श्ववृत्तिः'–कृकाटिका (गर्दन के उन्नत भाग), पीठ, दोनों पैर, पायु, उपस्थ तथा दोनों पार्श्व भाग में 'अपान' रहता है। 'मलमूत्रादेः अपनयनात् अपानः'–मल, मूत्रादि का निःसारण करने से तथाकथित वायु 'अपान' कहलाता है। ३. 'समानो हृन्नाभिसर्वसन्धिवृत्तिः'–हृदय, नाभि तथा सभी सन्धियों में 'समान' रहता है। नाड़ियों में रसों को समानरूप से ले जाने के कारण तथाकथित वायु 'समान' कहलाता है। ४. 'उदानो हृत्कण्ठतालुमूर्धभ्रूमध्यवृत्तिः'–हृदय, कण्ठ, तालु, मूर्धा तथा भ्रूमध्य में 'उदान' रहता है। 'रसादयूर्ध्वनयनात् उदानः'–रसादिकों को ऊपर पहुँचाने के कारण तथाकथित वायु को 'उदान' कहते हैं। ५. व्यानस्त्वग्वृत्तिः'–त्वचा में 'व्यान' रहता है। 'बलवत्कर्महेतुत्वात् सर्वशरीरव्यापित्वाच्च व्यानः'– प्रबल कर्म का कारण तथा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने से तथाकथित वायु 'व्यान' कहलाता है।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार 'धृतिकारण' के अन्य उदाहरणों को प्रस्तुत करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

एवं मांसादिकायाङ्गानाम[1]पि परस्परं विधार्यविधारकत्वम्। एवं महाभूतानि पृथिव्यादीनि मनुष्यवरुणसूर्यगन्धवहशशिलोकनिवासिनां शरीराणाम्। तानि च परस्परम्। पृथिव्यां हि गन्धरसरूपस्पर्शशब्दगुणायां पञ्च महाभूतानि परस्परं विधार्यविधारकभावेनावस्थितान्यप्सु चत्वारि तेजसि त्रीणि द्वे च मातरिश्वनीति। तैर्यग्योनमानुष[2]दैवतादीनि च विधार्यविधारक-भावेनावस्थितानि। नन्वाधाराधेयभावरहितानां कुतस्तत्त्वमित्यत आह–परस्परार्थत्वादिति। मनुष्यशरीरं हि पशुपक्षिमृगसरीसृपस्थावर[3]शरीरोपयोगेन ध्रियते। एवं व्याघ्रादिशरीरमपि

1. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न–अपि, त–इव।
2. क ख ग थ द ध–दैवादीनि, घ च छ ज झ त न–दैवतादीनि।
3. क ख ग घ च छ ज झ त न–शरीर० उपलभ्यते, थ द ध–शरीर० नोपलभ्यते।

मनुष्यपशुमृगादिशरीरोपयोगेन। एवं पशु[1]पक्षिमृगादिशरीरमपि स्थावराद्युपयोगेन। एवं दैवशरीरमपि मनुष्योपहृतच्छागमृगकपिञ्जलमांसाज्यपुरोडाशसहकारशाखाप्रस्तरादिभिरिज्यमानं तदुपयोगेन। एवं देवतापि वरदानवृष्ट्यादिभिर्मनुष्यादीनि धारयतीत्यस्ति परस्परार्थत्वमित्यर्थः। शेषं सुगमम्॥२८॥

इसी प्रकार शरीर के मांसादि अङ्गों में भी परस्पर विधार्यविधारकभावसम्बन्ध अर्थात् 'धृतिकारणत्व' है। इसी प्रकार मनुष्य, वरुण, सूर्य, वायु और शशिलोकवासी शरीरों के 'धृतिकारण' पृथिव्यादि महाभूत हैं। और ये पृथिव्यादि महाभूत भी परस्पर विधार्यविधारकभाव अर्थात् धृतिकारणत्व से स्थित हैं। जैसे गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्दगुणक पृथ्वी में पञ्च महाभूत परस्पर विधार्यविधारकभाव से अवस्थित हैं, रसादिगुणक जल में चार भूत, रूपादिगुणक तेज में तीन भूत, स्पर्शादिगुणक (मातरिश्वा) वायु में दो भूत परस्पर विधार्यविधारकभावसम्बन्ध से अवस्थित हैं। इसी प्रकार तिर्यक्, मनुष्य तथा देवयोनि के शरीर भी परस्पर विधार्यविधारकभाव से अवस्थित हैं।

शङ्का–जब तिर्यक्, मनुष्यादि शरीरों में आधाराधेयभावसम्बन्ध नहीं है, तो इनमें विधार्यविधारकभावसम्बन्ध कैसे कहा जा सकता है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**परस्परार्थत्वादिति**।' जिस प्रकार पशु, पक्षी, मृग, सरीसृप स्थावरादि के शरीरोपयोग से मनुष्यशरीर धारण किया जाता है। इसी प्रकार व्याघ्रादि शरीर भी मनुष्य, पशु, मृगादि के शरीरोपयोग से धारण किया जाता है। इसी प्रकार पशु, पक्षी, मृगादि शरीर भी स्थावरादि के उपयोग से धारण किया जाता है। इसी प्रकार दैवशरीर भी मनुष्यों द्वारा काम में लाये गये बकरा, मृग तथा पपीहा के माँस, घृत, पुरोडाश, सहकारशाखा (आम्रशाखा), प्रस्तरादि मूल्यवान् रत्नादि द्वारा निष्पादित याग से पूजित होकर उसके उपयोग से धारण किया जाता है। इसी प्रकार वरदान और वृष्टि आदि के द्वारा देवता भी मनुष्यादि शरीरों को धारण करता है। इस प्रकार तिर्यक्, मनुष्य तथा देवों के शरीर परस्पर उपयोगी हैं। अर्थात् तिर्यगादि शरीरों में परस्परार्थत्व है। शेष भाष्य सुगम है॥२८॥

बालप्रिया–

'**कुतस्तत्त्वम्**'–यहाँ 'तत्त्व' शब्द का अर्थ परस्पर विधार्यविधारकत्व है। जैसा कि बालरामोदासीन ने कहा है–'**तत्त्वं परस्परविधार्यविधारकत्वम्**'॥२८॥

योगवार्त्तिकम्

अतः परं शास्त्रसमाप्तिपर्यन्तं हानोपायव्यूहस्याशेषविशेषास्तत्प्रसङ्गेनैव च हानव्यूहस्य

---

1. थ द ध–पक्षि० उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–पक्षि० नोपलभ्यते।

विशेषाश्च व्याख्येयाः, तत्रादौ विवेकख्यात्युपायप्रतिपादकं सूत्रजातमवतारयति—सिद्धेति। सिद्धा निष्पन्नाऽविप्लवेति यावत्। योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः। सामान्यतो ज्ञानं श्रवणमननाभ्यामपि भवतीति दीप्तिपदं, दीप्तिश्चात्राश्रुतामतविशेषग्रहणम्।

यहाँ से लेकर शास्त्र की समाप्ति तक 'हानोपाय' व्यूह की समस्त विशेषताएँ तथा प्रसङ्गतः 'हान' व्यूह का वैशिष्ट्य व्याख्यान योग्य है। अतः भाष्यकार व्याख्येय विषयवस्तु में से सर्वप्रथम विवेकख्याति के साधनोपस्थापक सूत्रसमूह को अवतरित करते हैं—'सिद्धेति।' 'सिद्धा' शब्द का अर्थ है—'निष्पन्ना' अर्थात् 'अविप्लवा।' अविप्लुत विवेकख्याति ही 'हानोपाय' है—यह भाष्यकार के कथन का अभिप्राय है। विवेकख्याति का उपायप्रतिपादक सूत्र है—'योगेति।' वार्त्तिककार सूत्रगत 'दीप्तिः' पद के प्रयोग का प्रयोजन बतलाते हैं—श्रवण और मनन से भी विषय का सामान्यज्ञान होता है। अर्थात् अनुमान और शब्द से होने वाला विषयज्ञान सामान्यविषयक ही होता है, अतः ज्ञान का वैशिष्ट्य प्रतिपादित करने के लिये सूत्रकार ने 'दीप्तिः' पद का प्रयोग किया है। इससे 'अश्रुत' और 'अमत' विषयविशेष गृहीत होता है।

बालप्रिया—

'ज्ञानदीप्तिः'—सरलार्थ यह है—अनुमान और शब्दप्रमाण से होने वाले विषयज्ञान की दीप्ति विवेकख्यातिवत् नहीं है। ये विषयगत सामान्यज्ञान में पर्यवसित होते हैं। जब कि विवेकख्याति की दीप्ति पदार्थगत अशेषविशेषपर्यन्त पहुँचती है। अतः योगाङ्गानुष्ठान द्वारा अशुद्धिक्षयपूर्वक निष्पादित अश्रुत तथा अमत विषयज्ञान-विषयक दीप्ति (अविप्लुतविवेकख्याति) यहाँ अभिप्रेत है।

सम्प्रति, वार्त्तिककार सूत्रगत 'योगाङ्गानुष्ठानात्' पद की व्याख्या करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

अत्र योगाङ्गानुष्ठानादित्यनेन वक्ष्यमाणयमादीनां योगाङ्गत्वमपि ज्ञानाङ्गतावदेव विवक्षितम्, अन्यथा तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्येत्यागामिसूत्रे योगाङ्गतायां विशेषस्याप्रकृताभिधानताप्रसङ्गात्।

'योगाङ्गानुष्ठानात्' इस पद के द्वारा आगे बतलाये जाने वाले यमादि (आठ) अङ्गों की योगाङ्गता भी उसी प्रकार विवक्षित है जिस प्रकार प्रकृत में यमादि की ज्ञानाङ्गता। अन्यथा (यमादि को अशुद्धिक्षयपूर्वक विवेकख्यात्यात्मक ज्ञान का ही अङ्ग मानने पर) 'तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य' (३/८) इत्याकारक आगामी सूत्र में (सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात के रूप से) योगाङ्ग के रूप में यमादि का वैशिष्ट्य-प्रतिपादन (उसका बहिरंगत्व अथवा अन्तरंगत्व) अप्रासंगिक हो जायेगा।

बालप्रिया–

'योगाङ्गत्वमपि ज्ञानाङ्गतावदेव'–वार्त्तिककार के इस कथन का अभिप्राय यह है कि प्रकृत सूत्र के द्वारा यद्यपि योगाङ्गानुष्ठान को विवेकख्यात्यात्मक ज्ञान के अङ्ग रूप से प्रथमतः उपस्थापित किया गया है, तथापि इस कथन को सम्प्रज्ञातादि योगाङ्गता के अविरुद्ध समझना चाहिए। तभी सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात योग की दृष्टि से यमादि अष्टाङ्गों के बहिरङ्गत्व तथा अन्तरङ्गत्व को निर्धारित किया जा सकेगा। वस्तुतस्तु विवेकख्याति भी तो तत्त्वसाक्षात्कारवती सम्प्रज्ञातसमाधि की ही चरमोत्कृष्ट अवस्था है।

उपरिनिर्दिष्ट तथ्य को स्पष्टीकरणता प्रदान करते हुए योगवार्त्तिककार पूर्वपक्षी की ओर से शङ्का करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

ननु योगाङ्गानि योगसाधनानि, तानि च पूर्वोक्ततया पुनर्नाकाङ्क्ष्यन्त इति चेत्? न, कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्यादिभाष्येणैव दत्तोत्तरप्रायत्वात्। पूर्वपादे ह्युत्तमाधिकारिणाम् अभ्यासवैराग्ये एव योगयोः साधनमुक्तं, ततश्च मध्यमाधिकारिणां तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानान्यपि केवलानि साधनान्येतत्पादस्यादावुक्तानि, अतः परं मन्दाधिकारिणां यमादीन्यपि योग[1]साधनानि वक्तव्यानि ज्ञानसाधनप्रसङ्गेनेत्य[2]पौनरुक्त्यम्।

शङ्का–यमादि आठ योगाङ्ग सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात योग के साधन हैं और वे पूर्वप्रतिपादित हो चुकने के कारण निराकांक्ष हैं। अतः यमादि की योगाङ्गविषयिणी आकांक्षा यहाँ प्राप्त ही नहीं है?

समाधान–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि **'कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यात्'** (२/१ की वैयासिकी उपस्थानिका)–इत्यादि भाष्य के द्वारा किये गये प्रश्न का ही उत्तर पीछे दिया गया है, न कि यमादि योगाङ्गों को योगसाधन के रूप में पीछे प्रतिपादित किया गया है। अतः योगाङ्गों की योगसाधनता साकांक्ष है। प्रथम पाद में उत्तमाधिकारियों को सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात योग प्राप्त करने के लिये 'अभ्यास' तथा 'वैराग्य' ये दो साधन बताये गये हैं। तदनन्तर प्रस्तुत द्वितीय पाद के प्रारम्भ में मध्यमाधिकारियों के लिये 'तपः', 'स्वाध्याय' तथा 'ईश्वरप्रणिधान' ये तीन साधन बताये

---

1. ख–क्रियायोगाख्यानि तद्द्वारैः सह पिण्डीकृत्य (साधनानि–पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ–क्रिया...कृत्य नोपलभ्यते।
2. ख–योगस्य हि भूमिकात्रयं साधनावस्था भवति–योगारुरुक्षुयुञ्जमानयोगारूढरूपेण। तत्र च ज्ञानकर्मणोः प्राधान्येन समसमुच्चयेन चानुष्ठानं भूमिकाभेदेन साधनं योगारुरुक्षोः क्रियायोगः प्रधानम्। युञ्जमानस्य कर्मज्ञानयोः समसमुच्चययोगाङ्गाष्टकानुष्ठानरूपः। योगारूढस्य तु प्रधानं ज्ञानयोगोऽभ्यासवैराग्यरूप इति (पौनरुक्त्यं–पश्चात्)उपलभ्यते, क ग घ च छ–योगस्य... वैराग्यरूप इति नोपलभ्यते।

गये हैं। इसके आगे मन्दाधिकारियों के लिये यमादि योगसाधनों को ज्ञान- साधन के प्रसंग में बताया जा रहा है। अतः पुनरुक्तिदोष नहीं है।

योगवार्त्तिककार उक्त तथ्य को और अधिक प्रौढता प्रदान करते हुए आगे कहते हैं–

योगवार्त्तिकम्

यद्यपि ज्ञानमप्यसम्प्रज्ञातयोगसाधनतयाऽस्मिन् शास्त्रे प्रतिपादितं तथाऽपि तद्योगसामान्येऽङ्गं न भवति, सम्प्रज्ञाताहेतुत्वात्। अतो योगसामान्यस्य ज्ञानस्य चोभयोरेव तुल्यवदङ्गतयाऽत्र यमादीन्यष्टावेव योगाङ्गतया प्रतिपादयिष्यन्त इति।

यद्यपि इस शास्त्र में ज्ञान को भी असम्प्रज्ञात योग के साधन के रूप से वर्णित किया गया है तथापि ज्ञान योगसामान्य (सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात) दोनों का अङ्ग (साधन) नहीं है, क्योंकि सम्प्रज्ञात के प्रति उसमें हेतुता नहीं है। अतः योगसामान्य और ज्ञान दोनों के प्रति तुल्य अङ्गता (साधनता) होने से यहाँ यमादि आठों का योगाङ्ग के रूप से प्रतिपादन किया जायेगा। (इस प्रकार वार्त्तिककार ने सूत्र में छिपे मन्तव्य को स्पष्ट किया है)।

सम्प्रति, वार्त्तिककार भाष्य की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

सूत्रं व्याचष्टे–योगाङ्गानीति। विपर्ययस्येति। [1]योगाङ्गतया विपर्ययशब्देन तत्कार्यं पापादिकमपि ग्राह्यं तस्याप्यशुद्धिरूपत्वात्,

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः।
यथाऽऽदर्शतले प्रख्ये पश्यन्त्यात्मानमात्मनि॥

इति स्मृतेः। नाशश्चात्र तनुता, तथा तथा तनुत्वमशुद्धिरापद्यत इत्युत्तरवाक्यात्, क्लेशतनूकरणार्थश्चेत्युक्तसूत्राच्च। अतो न ज्ञानेनैव क्लेशानामत्यन्तोच्छेद इति सिद्धान्तव्याघातः। अनुरोधिनी=अनुसारिणी, दीप्तिः=सूक्ष्मग्राहिता। [2]आगुणपुरुषेति। गुणाश्रयः सत्त्वादयः, पुरुषश्च जीवेश्वरावित्यर्थः। एतेन जिज्ञासामात्रद्वारा यमनियमान्तर्गतसर्वकर्मणां ज्ञानहेतुत्वजिज्ञासाऽनन्तरं च कर्म त्याज्यमनुत्पन्नज्ञानेनापीति वेदान्तिब्रुवाणां मतं दुर्मतं मन्तव्यम्, विपर्ययतानवद्वारा यमनियमान्तर्गतकर्मणां ज्ञानहेतुत्वसिद्धेरिति। अत एव

कर्मणा सहिताज् ज्ञानात् सम्यग्योगोऽभिजायते।
ज्ञानं च कर्मसहितं जायते दोषवर्जितम्॥

इति कौमार्दिषु कर्मणां [3]ज्ञानसाहित्येनानुष्ठानं सिद्धम्। यद्यपि विषयान्तरसञ्चाराख्य-

---

1. क च छ–योगाङ्गतया उपलभ्यते, ख ग घ–योगाङ्गतया नोपलभ्यते।
2. क–आगुण०, ख ग घ च छ–गुण०।
3. क–ज्ञानकारणं तथा साहित्येन, ख ग घ च छ–ज्ञानसाहित्येन।

प्रतिबन्धनिवृत्तिरूपतया सम्प्रज्ञातोऽपि ज्ञानकारणं तथाऽप्यशुद्धिक्षयद्वारा योगाङ्गानुष्ठानानामेव ज्ञानदीप्तिहेतुत्वमस्ति न योगस्येत्यङ्गपदोपादानमिति।

भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—**'योगाङ्गानीति।'** योग के अङ्ग रूप से यमादि आठ साधन आगे बतलाये जायेंगे। **'विपर्ययस्येति।'** यहाँ **'विपर्यय'** शब्द से उसके कार्य-रूप जो पापादि हैं, वे भी यहाँ संगृहीत हैं, क्योंकि ये पापादि भी अशुद्धिरूप हैं। पापादि की अशुद्धिरूपता में स्मृति प्रमाण है—**'ज्ञानमुत्पद्यते...पश्यन्त्यात्मानमात्मनि'** (ग.पु. १/२२९/६-७) अर्थात् 'पापकर्म (दुष्कृत्य) का नाश होने पर मनुष्यों को ज्ञान उपजता है। दर्पण के समान स्वच्छ ज्ञानधर्म वाले बुद्धिरूप आत्मा में पुरुष अपने स्वरूप को देख पाते हैं।'

सूत्र में प्रयुक्त **'क्षय'** शब्द के **'नाश'** अर्थ के विषय में वार्त्तिककार कहते हैं कि यहाँ **'नाश'** शब्द का **'तनुता'** अर्थ किया जाता है, क्योंकि **'तथा तथा तनुत्वमशुद्धि-रापद्यते'**—ऐसा अग्रिम वैयासिक वाक्य है तथा **'समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च'** (२/२) ऐसा विगत सूत्र है। अर्थ है—जैसे-जैसे यमादि साधनों का अनुष्ठान किया जाता है, वैसे-वैसे पापादिरूप अशुद्धि तनुता को प्राप्त होती जाती है। इस प्रकार **'नाश'** शब्द का **'तनुता'** अर्थ करने से 'ज्ञान से ही क्लेशों का आत्यन्तिक नाश होता है'—इस सिद्धान्त को क्षति नहीं पहुँचती है। अर्थात् योगाङ्गानुष्ठान से क्लेशों की तनुता और ज्ञानाग्नि द्वारा तन्वीकृत कलेशों की आत्यन्तिक उच्छिन्नता दोनों की अन्तःसङ्गति बैठ जाती है। **'अनुरोधिनी'** पद का अर्थ **'अनुसारिणी'** तथा **'दीप्तिः'** पद का अर्थ **'सूक्ष्मग्राहिता'** है। इससे वैयासिक वाक्य का अर्थ यह बनता है—जैसे-जैसे अशुद्धि का क्षय होता है, वैसे-वैसे क्षयक्रम का अनुसरण करती हुई प्रज्ञा सूक्ष्म-ग्राहिता को प्राप्त होती जाती है। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं— **आगुणपुरुषेति।** 'गुण के आश्रयभूत सत्त्वादि' यह **'गुण'** शब्द का अर्थ है तथा 'जीवेश्वर' यह **'पुरुष'** पद का अर्थ है। इस प्रकार ज्ञान की यह विशिष्ट दीप्ति सत्त्वादि गुणत्रय तथा जीवेश्वररूप पुरुष इन दोनों के स्वरूपभेदज्ञानपर्यन्त प्रकर्षता को प्राप्त होती है। इससे वेदान्तियों का यह मत भी अमर्षणीय (दुर्वार सहनीय) हो जाता है कि 'जिज्ञासामात्र से यमनियमान्तर्वर्ती सभी कर्म ज्ञान के हेतु हैं तथा जिज्ञासा के पश्चात् अनुत्पन्न ज्ञान से कर्म भी त्याज्य हैं', क्योंकि विपर्यय (अविद्या) रूप अशुद्धि की तनुता द्वारा यम, नियमान्तर्गत कर्म को ज्ञान का हेतु सिद्ध किया गया है। अत एव **'कर्मणा...दोषवर्जितम्'** (३/२३) कूर्मादि पुराणों में ज्ञानसहित कर्मा-नुष्ठान को सिद्ध किया गया है। कौर्मवाक्य का अर्थ है—'कर्म के सहित ज्ञान से सम्यक् योग समुत्पन्न होता है। और जो कर्म के सहित ज्ञान है वह दोषों से वर्जित ही होता है।' यद्यपि विघ्नान्तर सञ्चाराख्य प्रतिबन्ध की निवृत्ति रूप से अर्थात्

व्युत्थानात्मक वृत्ति के निरोधपूर्वक सम्प्रज्ञातयोग भी ज्ञान का कारण है तथापि योगाङ्गानुष्ठान में ही अशुद्धिक्षय के द्वारा ज्ञानदीप्ति का कारणत्व निहित है। अर्थात् योगाङ्गानुष्ठान अशुद्धिक्षयपुरस्सर ज्ञान को विवेकख्यातिरूप सूक्ष्मता प्रदान करता है। अतः योगाङ्गानुष्ठान ज्ञानदीप्ति का हेतु है, न कि योग। इसी अभिप्राय से सूत्र में 'योग' शब्द के साथ 'अङ्ग' पद का ग्रहण किया गया है।

सम्प्रति, योगाङ्गानुष्ठान अशुद्धिक्षय का किस प्रकार का कारण है? इस शङ्का के समाधानार्थ नवविधकारणवाद पर प्रकाश डाला जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

ननु नानाविधकार्यकारणभावदर्शनाद् योगाङ्गान्यशुद्धिक्षयं प्रति ज्ञानं प्रति च कीदृशं-कारणमित्याकाङ्क्षायामाह–योगाङ्गानुष्ठानमशुद्धेरिति। अशुद्धेः कारणं वियोगरूपेणातिशयेनेत्यर्थः। अयं भावः–सत एव वस्तुनोऽतिशयहेतुः कारणमुच्यते, असदुत्पादस्यानभ्युपगमात्। तथा च सत्येवाशुद्धिर्वियोगाख्येनातीतावस्थारूपेणातिशयेन योगाङ्गानां कार्येति। एवं दृष्टान्तेऽपि बोध्यम्। विवेकख्यातेस्तु प्राप्तिकारणमिति। प्राप्तिरूपातिशयाधायकतया विवेकख्यातेः कारणमित्यर्थः। प्राप्तिश्चोत्पत्तौ प्रतिबन्धनिवर्त्तनम्। तत्र दृष्टान्तमाह–यथेति। नान्यथा कारणमिति। न [1]वैशेषिकाणामिवोत्पत्तिकारणमस्मन्मते, धर्मादीनां निमित्तकारणानां प्रतिबन्धनिवृत्तिकारणत्वसिद्धान्तादित्याशयः। निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवदिति सूत्रे चैतद् व्यक्तीभविष्यति। विवेकख्यातेरुत्पत्तौ च चित्तमेव कारणं स्वत एव सर्वार्थग्रहणसामर्थ्यादिति।

पृच्छति–कति चैतानीति। उत्तरम्–नवैवेत्याहेति। पूर्वाचार्यगण इति शेषः। कारिकोक्तानि नव कारणानि यथोक्तक्रममुदाहरति–तत्रेति। ज्ञानस्य वृत्तिरूपस्योत्पत्तिरूपातिशयेन मनः कारणं सम्भवति, उपादानत्वादित्यर्थः। आप्तिकारणं च नोत्पत्तौ साक्षात्कारणं किं तु प्रतिबन्धनिवृत्तिद्वारेति। घटादिषु दण्डादीनि च पूर्वोक्ताप्तिकारणमध्य एव प्रवेशनीयानि। उत्पत्तिकारणत्वमुपादानकरणत्वमिति। स्थितीति। भोगापवर्गरूपं पुरुषार्थसामान्यं मनसः स्थितिरूपातिशयेन कारणं भवति, पुरुषार्थसमाप्तौ मनसः स्वयमेव [2]लयादित्यर्थः। अत्र प्राधान्येनैव मनउदाहृतं पुरुषार्थस्य सर्वभोग्यानामेव स्थितिहेतुत्वादिति। अभिव्यक्तीति। आलोकरूपज्ञानं च रूपस्याभिव्यक्तिरूपातिशयेन कारणमित्यर्थः। अभिव्यक्तिश्च बुद्धिवृत्तिः पौरुषेयबोधश्च। तत्र बुद्धिवृत्तावालोकः कारणं पौरुषेयबोधे च रूपज्ञानं बुद्धिवृत्तिरूपमिति विभागः। विकारकारणमिति। एकाग्रस्य मनसो विषयान्तरं स्वगोचररागादिविकाररूपातिशयेन कारणं भवतीत्यर्थः। प्रत्ययकारणमिति। प्रत्ययः सम्प्रत्ययः प्रामाण्यनिश्चय इति यावत्।

---

1. क ख ग–वैशेषिकादीनां, घ च छ–वैशेषिकाणाम्।
2. क ख ग–विलयात्, घ च छ–लयात्।

तथा च पर्वते वह्निरस्तीति शब्दादिना यदग्निज्ञानं तस्य सम्प्रत्ययकारणं पर्वते धूमदर्शनमित्यर्थः। यथाश्रुतेऽग्निज्ञानस्येत्यत्र ज्ञानशब्दवैयर्थ्यात्, आनुमानिकज्ञानस्याप्यभिव्यक्तिमध्य एव प्रवेशाच्च।

शङ्का–अनेक प्रकार का कार्यकारणभावसम्बन्ध दिखलाई पड़ने से यह जिज्ञासा होती है कि यमादि योगाङ्ग अविद्यारूप अशुद्धिक्षय तथा ज्ञान के प्रति किस प्रकार का कारण है?

समाधान–ऐसी जिज्ञासा होने पर भाष्यकार कहते हैं–**'योगाङ्गानुष्ठानमशुद्धेरिति।'** योगाङ्गानुष्ठान अशुद्धि का पूर्णतया **'वियोगकारण'** है। गूढार्थ यह है–वस्तु के सत् होने पर ही उसमें आधिक्यपरक कारण कहा जाता है, क्योंकि सांख्ययोगमत में असत् की उत्पत्ति को स्वीकार नहीं किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार विपर्ययाख्य अशुद्धि वियोगाख्य अतीतावस्थारूप अतिशय के रूप से यमादि योगाङ्गों का कार्य है। यही स्थिति दृष्टान्तवाक्य में भी ज्ञातव्य है। अर्थात् छेद्य काष्ठ वियोगाख्य अतीतावस्थारूप अतिशय के रूप से परशु का कार्य है। **'विवेक- ख्यातेस्तु प्राप्तिकारणमिति।'** योगाङ्गानुष्ठान प्राप्तिरूप अतिशयाधायक के रूप से विवेकख्याति का **'प्राप्तिकारण'** है। उत्पत्ति में प्रतिबन्धं की निवृत्ति को **'प्राप्ति'** कहते हैं। जैसे विवेकख्याति की उत्पत्ति में अशुद्धिरूप प्रतिबन्ध के निवर्तक योगाङ्गानुष्ठान को **'प्राप्तिकारण'** कहते हैं। **'प्राप्तिकारण'** के विषय में भाष्यकार दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं–**'यथेति।'** जिस प्रकार धर्म प्रतिबन्धकीभूत अधर्म की निवृत्ति द्वारा सुख का प्राप्तिकारण है। वार्तिककार 'प्राप्तिकारण' के गूढार्थ को स्पष्ट करने के लिये आगे का भाष्य उठाते हैं–**'नान्यथा कारणमिति।'** वैशेषिक दर्शन में जिस प्रकार का उत्पत्तिकारण मान्य है, उस प्रकार का उत्पत्तिकारण योगदर्शन में स्वीकृत नहीं है। योगदर्शन में निमित्तकारणीभूत धर्मादियों में अधर्मादि प्रतिबन्ध का निवृत्तिरूपकारणत्व अङ्गीकृत है। योग का यह सिद्धान्त **'निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्** (४/३) सूत्र में स्पष्ट किया जायेगा। विवेकख्याति की उत्पत्ति में चित्त ही कारण है अर्थात् चित्त विवेकख्याति का उत्पत्तिकारण है, क्योंकि चित्त में सर्वार्थग्रहण का सामर्थ्य स्वतः ही विद्यमान है।

शङ्का–प्रश्नकर्त्ता पूछता है–**'कति चैतानीति।'** कारण कितने प्रकार के हैं?

समाधान–उत्तर है–**'नवैवेत्याहेति।'** कारण नौ ही हैं, ऐसा योग के पूर्वाचार्य कहते हैं। भाष्यकार नवकारणवाद की प्रतिपादिका कारिका में उक्त नौ कारणों को यथाक्रम सोदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

उत्पत्तिकारण–वार्तिककार भाष्य को उठाते हैं–**'तत्रेति।'** मन उत्पत्तिरूप अतिशय के रूप से वृत्तिरूप ज्ञान का कारण हो सकता है, क्योंकि मन ज्ञान का उपादान-

कारण है। अतः मन को विज्ञान का **'उत्पत्तिकारण'** कहा जाता है। **'आप्तिकारण'** उत्पत्ति का साक्षात्कारण नहीं होता है, अपितु प्रतिबन्ध (अवरोध) की निवृत्ति द्वारा ही उसका कारणत्व बनता है। घटादियों के प्रति जो दण्डादि कारण हैं, उनको **'आप्तिकारण'** के मध्य में ही प्रवेश करना चाहिये। अर्थात् दण्डादि निमित्त को घटादि का **'आप्तिकारण'** मानना चाहिये, क्योंकि उपादानकारण को ही **'उत्पत्तिकारण'** कहते हैं।

स्थितिकारण—वार्त्तिककार भाष्य को उठाते हैं—**'स्थितीति'।** स्थितिरूप अतिशय के रूप से भोगापवर्गरूप पुरुषार्थसामान्य मन का **'स्थितिकारण'** है। पुरुषार्थ के समाप्त होने पर मन स्वतः ही लय को प्राप्त होता है। यहाँ मन के **'स्थितिकारण'** के रूप से **'पुरुषार्थ'** को इसलिये उदाहृत किया गया है क्योंकि **'पुरुषार्थ'** ही सभी भोग्य पदार्थों का **'स्थितिकारण'** है।

अभिव्यक्तिकारण—वार्त्तिककार भाष्य को उठाते हैं—**'अभिव्यक्तीति'।** आलोक (प्रकाश) तथा रूपज्ञान (रूपविषयकज्ञान) ये दोनों अभिव्यक्तिरूप अतिशय के रूप से 'रूप' के **'अभिव्यक्तिकारण'** हैं। अर्थात् रूप को अभिव्यक्त करने वाला **'आलोक'** तथा **'रूपज्ञान'** होता है, क्योंकि आलोक तथा रूपज्ञान के विना रूप की अभिव्यक्ति नहीं होती है। यह अभिव्यक्ति बुद्धिवृत्ति तथा पौरुषेयबोधरूप है। इन दोनों अभिव्यक्तियों में अन्तर यह है कि बुद्धिवृत्ति के प्रति **'आलोक'** कारण है तथा पौरुषेयबोध के प्रति बुद्धिवृत्त्यात्मक **'रूपज्ञान'।**

विकारकारण—वार्त्तिककार भाष्य को उठाते हैं—**'विकारकारणमिति'।** स्वगोचररागादिविकाररूप अतिशय के रूप से विषयान्तर एकाग्रमन का **'विकारकारण'** है।

प्रत्ययकारण—वार्त्तिककार भाष्य को उठाते हैं—**'प्रत्ययकारणमिति'।** **'प्रत्यय'** शब्द का अर्थ 'यथार्थज्ञान' अर्थात् प्रामाणिक निश्चय है। जैसे **'पर्वते वह्निरस्ति'** अर्थात् 'पर्वत में अग्नि है' इत्यादि शब्दादि के द्वारा जो अग्निज्ञान होता है उसके यथार्थ निश्चय का कारण पर्वत में धूमदर्शन है। अतः धूमज्ञान अग्निज्ञान का **'प्रत्ययकारण'** है। क्योंकि यथाश्रुत मानने पर **'अग्निज्ञानस्य'** में 'ज्ञान' शब्द व्यर्थ होने लगेगा तथा आनुमानिक ज्ञान भी अभिव्यक्तिकारण के अन्तर्गत आने लगेगा।

बालप्रिया—

'प्रत्ययकारणं धूमज्ञानमग्निज्ञानस्य'—मिश्र-भिक्षु-मतभेद—वाचस्पति मिश्र के एतत्सम्बन्धी व्याख्यान से यह सिद्ध होता है कि वे **'अग्निज्ञानस्य'** इस भावल्युडन्त 'ज्ञान' शब्द से षष्ठीतत्पुरुष नहीं मानते हैं, क्योंकि ऐसा मानने पर **'प्रत्ययकारणम्'** के द्वारा पौनरुक्त्यापत्ति आयेगी। अपितु **'कृत्यल्युटो बहुलम्'** के अनुसार ज्ञेयार्थक कर्म के साधनभूत ज्ञानशब्द से कर्मधारय समास है। इसीलिये वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—

'ज्ञायत इति ज्ञानम्, अग्निश्चासौ ज्ञानं चेति अग्निज्ञानं तस्य (अग्निज्ञानस्य)।' जब कि विज्ञानभिक्षु 'अग्निज्ञानस्य' में ज्ञान शब्द के वैयर्थ्य के कारण ऐसा मानते हैं कि 'पर्वते वह्निरस्ति'–इत्याकारक शब्दादि के द्वारा जो अग्निज्ञान होता है, उसका 'प्रत्ययकारण' अर्थात् निश्चयकारण 'पर्वत में धूमदर्शन' है।

वस्तुतस्तु विज्ञानभिक्षु का यह मत युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि इस पक्ष में आनुमानिक ज्ञान का संग्रह नहीं होता है। वाचस्पत्युक्त रीति से अर्थ सम्भव होने पर अर्थान्तरत्व उचित नहीं है। विज्ञानभिक्षु ने 'अभिव्यक्तिकारण' के मध्य में आनुमानिक ज्ञान के प्रवेश की जो अनुपपत्ति स्वमतस्थापनहेतु प्रस्तुत की है वह भी उचित प्रतीत नहीं होती है, क्योंकि जैसे रूपप्रत्यक्षज्ञान का निमित्त आलोक है वैसे धूमज्ञान अग्निप्रत्यक्ष का निमित्त नहीं है।

योगवार्त्तिककार अवशिष्ट कारणों के विषय में आगे कहते हैं–

योगवार्त्तिकम्

प्राप्तिकारणमिति। आप्तिः प्राप्तिरित्येक एवार्थः। एतद्व्याख्यातम्। वियोगेति। एतदपि व्याख्यातम्। ननु वियोगकारणे कारणव्यवहार एव नास्तीति चेत्? न, [1]मशकार्थोऽयं धूम इत्यादिव्यवहारदर्शनात्, कर्मकार्ययोरेकार्थतयाऽशेषधातुकर्मणामेव कार्यत्वाच्चेति। अन्यत्वकारणमिति। रूपभेदकारणमित्यर्थः। ननु विकारकारणादस्य को भेद इति चेत्? उच्यते–सुवर्णादेः कटकादिरूपतात्यागेन कुण्डलादिरूपतायां यत्कारणं तत्सुवर्णादेर्विकारकारणमुच्यते, तदेव च कारणं कटकादेरन्यत्वकारणमुच्यते, कटकादिविनाशपूर्वकमन्येषां कुण्डलादीनामुत्पादनात्। अतः कार्यभेदेनैकस्यैव वस्तुनो द्विधा कारणत्वमिति। सुवर्णस्येति। सुवर्णपिण्डादेरित्यर्थः। सुवर्णस्य सर्वविकारानुगतत्वेन सुवर्णान्यत्वा[2]कारणत्वात्। अतोऽस्य विकारकारणात् भेदात्। सुवर्णपिण्डं कुण्डलं करोति इत्यादिप्रत्ययश्चास्यां कारणतायां प्रमाणमिति। बाह्यमन्यत्वकारणमुदाहृत्यान्तरमप्यन्यत्वकारणमुदाहरति–एवमेकस्येति। स्त्रीप्रत्ययस्य=आकारपरिणतबुद्धिद्रव्यस्य वृत्त्याख्यस्यैकजातीयस्य मूढत्वादिधर्माणामन्यत्वे भिन्नत्वेऽविद्याऽऽदिचतुष्टयं कारणमित्यर्थः। तत्र मोहः कर्त्तव्याकर्त्तव्यशून्यता, दुःखत्वसुखत्वे दुःखित्वसुखित्वे, माध्यस्थ्यं रागद्वेषमोहशून्यता। धृतिकारणमिति। शरीरमिन्द्रियाणाम् आश्रयविधया धारकम्, तानि चेन्द्रियाणि तस्य शरीरस्य योगक्षेमनिर्वाहकत्वेन धारकाणि। एवं पृथिव्यादीनि महाभूतान्याधारतयैव शरीराणां धारकाणि, तानि च परस्परं सर्वेषामिति, तानि च महाभूतान्यन्योन्यं सर्वेषां सर्वाणि धारकाणि, आकाशं वायोर्धारकम्, चक्रवात्या च छिद्राकाशस्य धारिका,

1. क ख घ च छ–मशकार्थः, ग–शक्यार्थः।
2. क ग–अकरणात्, ख च छ–मकारणत्वात्, घ–अकारणात्।

छिद्रस्य तत्तन्त्रत्वात् तदाश्रितत्वाच्च। एवं वायुस्[1]तेजाधारकः तेजश्चावरणादिरूपमण्डान्तर्वर्त्ति-वायूनां धारकमित्यादिरूपेण व्याख्येयम्। तथा तैर्यग्योनमानुषदैवतानि च शरीराणि परस्परं धारकाणि, आश्रयाश्रयिभावाभावेऽपि यज्ञवृष्ट्यादिभिरन्योन्यमुपकारकत्वात्,

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः

इत्यादिभ्य इत्यर्थः। अथैवं स्थितिकारणाद् [2]धृतिकारणस्य कथं भेद इति? उच्यते—कार्यानुप्रवेशाप्रवेशाभ्याम् अवान्तरभेदात्। स्थितिहेतुर्हि पुरुषार्थाहारादिर्मतः शरीराद्यविभक्तः सन्नेव तानि स्थापयति, धृतिहेतुश्च शरीरादिरिन्द्रियादीननुप्रविश्यैव तानि धारयतीति महान् विशेष इति। उपसंहरति—इत्येवमिति। यथायोग्यमेभिरेव कारणत्वैरविद्याकर्मजी-वेश्वरादीनां सर्वकारणत्वप्रतिपादिकाः श्रुतिस्मृतयो व्याख्येया इत्याशयवानाह—तानि च यथासम्भवमिति। आधुनिकास्तु—उत्पाद्यविकार्याप्यसंस्कार्यरूपैश्चतुर्विधं कार्यमाहुः। तैस्तु नवानामेव कार्याणां चतुर्धा विभागः कृत इति। प्रकृतमुपसंहरति—योगाङ्गेति॥२८॥

प्राप्तिकारण—वार्त्तिककार भाष्य को उठाते हैं—'प्राप्तिकारणमिति' 'प्राप्ति' शब्द का एक ही अर्थ है—आप्ति। 'प्राप्तिकारण' का वर्णन पीछे किया जा चुका है। योगाङ्गा-नुष्ठान विवेकख्याति का 'प्राप्तिकारण' है।

वियोगकारण—वार्त्तिककार भाष्य को उठाते हैं—'वियोगेति' 'वियोगकारण' का भी वर्णन पीछे किया जा चुका है। योगाङ्गानुष्ठान अशुद्धिक्षय का 'वियोगकारण' है।

शङ्का—वियोगकारण में 'कारण' शब्द का व्यवहार ही नहीं किया जा सकता है, अर्थात् वियोगकारण का कारणत्व ही नहीं बनता है?

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि 'मशकार्थोऽयं धूमः' अर्थात् 'मच्छर के लिये यह धूम है' ऐसा व्यवहार देखा जाता है। अर्थात् यहाँ मशकनिवृत्ति के वियोगकारण के रूप से 'धूम' व्यवहृत है। दूसरा हेतु यह है कि कर्म और कार्य के एकार्थक होने से यच्च-यावत् (समस्त) धातुओं के कर्म ही कार्यरूप हैं।

अन्यत्वकारण—वार्त्तिककार भाष्य को उठाते हैं—'अन्यत्वकारणमिति' पदार्थगत रूपभेद के कारण को 'अन्यत्वकारण' कहते हैं। जैसे सुवर्णकार सुवर्ण का 'अन्यत्व-कारण' है।

शङ्का—'विकारकारण' से 'अन्यत्वकारण' में क्या अन्तर है?

समाधान—वार्त्तिककार शङ्का का समाधान करते हैं—सुवर्णादि धर्मी के कटकादिरूप धर्म के परित्यागपूर्वक सुवर्ण में कुण्डलादिरूप धर्म को स्थापित करने में जो हेतु है, वह सुवर्णादि धर्मी का 'विकारकारण' कहलाता है और वही कटकादि धर्मों का 'अन्यत्वकारण' कहा जाता है, क्योंकि कटकादि धर्मों के विनाशपूर्वक (तिरोभाव-

---

1. क ख ग घ—तेजसो धारकः, च छ—तेजोधारकः।
2. ख ग घ च—धृतिकारणस्य उपलभ्यते, क छ—धृतिकारणस्य, नोपलभ्यते।

पूर्वक) कुण्डलादि अन्य धर्मों की उत्पत्ति (अभिव्यक्ति) होती है। अतः कार्यभेद से एक ही वस्तु में **'विकारत्व'** तथा **'अन्यत्व'** रूप द्विधा कारणत्व गृहीत है। वार्त्तिककार तदर्थ भाष्य को उठाते हैं–**'सुवर्णस्येति।'** यहाँ **'सुवर्ण'** शब्द से सुवर्णपिण्डादि गृहीत हैं, क्योंकि कार्यरूप सभी कटक, कुण्डलादि विकारों में सुवर्ण के अनुगत रहने से सुवर्णकार सुवर्ण के अन्यत्व का कारण नहीं है, केवल सुवर्णपिण्डात्मक आकृति के प्रति **'अन्यत्वकारण'** होता है। अतः अन्यत्वकारण का विकारकारण से अन्तर (भेद) है। इसमें **'सुवर्णपिण्डं कुण्डलं करोति'** अर्थात् 'सुवर्णकार सुवर्णपिण्ड को कुण्डल बना रहा है'–इत्याकारक प्रत्यय अन्यत्वकारणता में प्रमाण है। 'बाह्य' **'अन्यत्वकारण'** को उदाहृत कर भाष्यकार 'आन्तर' **'अन्यत्वकारण'** का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं–**'एवमेकस्येति।'** एक ही स्त्री के आकार में परिणत बुद्धिद्रव्य के एकजातीय वृत्त्याख्य प्रत्यय के मूढत्वादि धर्मों के अन्यत्व (भिन्नत्व) में अविद्यादिचतुष्टय कारण है। अर्थात् स्त्रीविषयक ज्ञान जो सर्वत्र एक ही है, उसी के मोहादि की भिन्नता में अविद्यादि **'अन्यत्वकारण'** हैं। इसमें से उस स्त्री के प्रति कर्त्तव्याकर्त्तव्यशून्यता अर्थात् करणीय-अकरणीय के ज्ञान से शून्य होना **'मोह'** है, दुःखत्व बुद्धि होना **'द्वेष'** है, सुखत्व बुद्धि होना **'राग'** है तथा राग-द्वेष-मोह से शून्य होना **'माध्यस्थ्य'** है।

धृतिकारण–वार्त्तिककार भाष्य को उठाते हैं–**'धृतिकारणमिति।'** आश्रय होने से शरीर इन्द्रियों का धारक है तथा योगक्षेम की निर्वाहक होने से ये इन्द्रियाँ भी शरीर की धारक हैं। इसी प्रकार शरीरों का आधार होने से पृथिव्यादि महाभूत शरीरों के धारक हैं और ये महाभूत परस्पर एक-दूसरे के अर्थात् सभी सबके धारक हैं। जैसे वायु का धारक आकाश है और मण्डलाकार वायु (चक्रवात) छिद्राकाश का धारक है, क्योंकि छिद्रात्मक आकाश वायु के अधीन तथा वायु आकाशाश्रित होती है। इसी प्रकार वायु तेजोधारक होता है और तेज अण्डान्तर्वर्त्ती वायु के आवरणादि रूप का धारक होता है। इस प्रकार भूतों में धार्यधारकादि-सम्बन्ध की योजना कर लेनी चाहिये। इसी प्रकार तिर्यक्, मनुष्य और देवशरीर भी परस्पर एक दूसरे के धारक हैं। इनमें आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध का अभाव होने पर भी ये यज्ञ, वृष्ट्यादि के द्वारा परस्पर उपकारक होते हैं। जैसा कि कहा गया है–**देवान्...भावयन्तु वः'** (गीता ३/११) अर्थात् 'श्रौत और स्मार्त यज्ञ से तुम लोग इन्द्रादि देवताओं को प्रसन्न रखो। यज्ञ से सन्तुष्ट हुए इन्द्रादि देव अभीष्ट फल के प्रदान द्वारा तुम्हें सन्तुष्ट करें। (यों एक दूसरे की सन्तुष्टि से तुम लोग परम कल्याण को प्राप्त करोगे)।'

शङ्का–तो फिर **'स्थितिकारण'** से **'धृतिकारण'** का अन्तर कैसे किया जाता है?

समाधान–उत्तर यह है कि कार्य के अनुप्रवेश और प्रवेश के द्वारा **'स्थितिकारण'** और **'धृतिकारण'** का अवान्तरभेद किया जाता है। जैसे शरीर से अविभक्त होकर ही पुरुषार्थ तथा आहारादि शरीरादि को अवस्थित रखते हैं, अतः ये पुरुषार्थादि शरीर के **'स्थितिकारण'** हैं और इन्द्रियादियों में प्रवेश किये विना ही शरीरादि को धारण करते हैं, अतः शरीरादि इन्द्रियों के **'धृतिकारण'** हैं। यही स्थितिकारण और धृति-कारण में अपने आधार में अनुप्रविष्ट और अप्रविष्ट होने का महान् अन्तर है। भाष्यकार कारण-प्रकरण को उपसंहृत करते हैं–**'इत्येवमिति।'** इन्हीं सब कारणों के अन्तर्गत ही अविद्या, कर्म, जीव, ईश्वरादियों के सर्वकारणत्व को प्रतिपादित करने वाली श्रुति, स्मृतियों को व्याख्यात समझना चाहिये। इसी आशय से भाष्यकार कहते हैं–**'तानि च यथासम्भवमिति।'** आधुनिक वेदान्ती लोग उत्पाद्य, विकार्य, आप्य और संस्कार्यभेद (रूप) से चार प्रकार के कार्य मानते हैं। उन्होंने उक्त नौ प्रकार के कार्यों को ही चार प्रकार से विभक्त किया है। सम्प्रति, भाष्यकार सूत्र के प्रकृत विषय को उपसंहृत करते हैं–**'योगाङ्गेति।'** प्रकृत प्रकरण में योगाङ्गानुष्ठान का द्विधाकारणत्व (अशुद्धिक्षय के प्रति **'वियोगकारणत्व'** तथा विवेकख्याति के प्रति **'प्राप्तिकारणत्व'**) सिद्ध होता है॥२८॥

भाष्यकार अगले सूत्र की अवतरणिका रचते हैं–

व्यासभाष्यम्

[1]तत्र योगाङ्गान्यवधार्यन्ते–

अब योगाङ्गों का अवधारण किया जा रहा है–

योगसूत्रम्

यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टा-वङ्गानि॥२९॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि ये आठ 'योगाङ्ग' हैं॥२९॥

व्यासभाष्यम्

यथाक्रममे[2]षामनुष्ठानं स्वरूपं च वक्ष्यामः॥२९॥

क्रमानुसार इनका अनुष्ठान और स्वरूप कहा जायेगा॥२९॥

---

1. ख–तत्र योगाङ्गान्यवधार्यन्ते २/२८ सूत्रस्य टीका, क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–तत्र...र्यन्ते २/२९ सूत्रस्य अवतरणिका।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न ब भ य–एषां, प फ म र–एतेषाम्।

तत्त्ववैशारदी

संप्रति न्यूनाधिकसंख्याव्यवच्छेदार्थं योगाङ्गान्यवधारयति—तत्र योगाङ्गान्यवधार्यन्त इति। यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। अभ्यास-वैराग्यश्रद्धावीर्यादयोऽपि यथायोगमेतेष्वेव स्वरूपतो [1]नान्तरीयकतयान्तर्भावयितव्याः॥२९॥

अधुना, योगाङ्गों की न्यूनाधिक संख्या का निरास करने के लिये भाष्यकार योगाङ्गों को सुनिश्चित करते हैं—'**तत्र योगाङ्गान्यवधार्यन्त इति**।' सूत्र है—'**यमेति**।' यमादि आठ अङ्गों में ही अभ्यास, वैराग्य, श्रद्धा, वीर्यादि भी स्वरूपतः तथा नान्तरीयकरूप से अन्तर्भूत हो जाते हैं॥२९॥

बालप्रिया—

'**यथायोगमेतेष्वेव...अन्तर्भावयितव्याः**'—वाचस्पति मिश्र की इस पंक्ति में परोक्षरूप से निहित शङ्का का स्वरूप और उसका समाधान इस प्रकार है—

शङ्का—सूत्रकार नें '**अष्टौ**' पद के द्वारा योगाङ्गों की संख्या 'आठ' कैसे निर्धारित की है, क्योंकि इससे प्रथमपाद में उक्त अभ्यासादियों का संग्रह इन आठ में नहीं हो सकेगा?

समाधान—योग के इन्हीं आठ अंगों में अभ्यास-वैराग्यादि का स्वरूपतः तथा नान्तरीयकतया अन्तर्भाव हो जाता है। अतः '**अष्टौ**' पद के द्वारा योगाङ्गों की गणना दोषावह नहीं है।

शङ्का—यद्यपि साधनपाद के प्रारम्भ में '**तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः**' (२/१) सूत्र द्वारा वर्णित तप आदि क्रियायोग का तो नियमों (**शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि नियमाः** २/३२ सूत्र द्वारा निर्दिष्ट अन्तिम तीन भेदों) में स्वरूपतः अन्तर्भाव हो सकता है, किन्तु अभ्यासादि का तो यमादि में स्वरूपतः भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता है?

समाधान—पूर्वपक्षी की उक्त सम्भावित शङ्का के परिहारार्थ ही तत्त्ववैशारदीकार ने '**नान्तरीयकतया चेति**' कहा है। इस विषय में विचार करने से पूर्व '**नान्तरीयक**' पद का अर्थ विचारणीय है। अन्य निष्पादक यत्न से जिसकी निष्पत्ति नहीं होती है अथवा जो पृथक् न किया जा सके, उसे '**नान्तरीयक**' कहते हैं। (**न अन्तराविनाभवः—अन्तरा+छ+कन् इति नान्तरीयक**)। यमादि योगाङ्गों के अनुष्ठानकाल में अभ्यासादि का होना अवश्यम्भावी है। अतः तथाकथित अवश्यंभावितया अभ्यासादि में नान्तरीयकत्व है। अथवा यह कहा जा सकता है कि वैराग्य का सन्तोष में अन्तर्भाव होता है। श्रद्धा और वीर्य के विना तपः और स्वाध्याय का अनुष्ठान सम्भव नहीं है। अतः श्रद्धा

1. क च छ—नान्तरीयकतया च, ख ग घ ज झ त थ द ध न—नान्तरीयकतया।

और वीर्य का तपः और स्वाध्याय में अन्तर्भाव हो जाता है और अभ्यास का समाधि में अन्तर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार मैत्र्यादि का भी धारणा में अन्तर्भाव ज्ञातव्य है। क्योंकि अभ्यास और वैराग्यादियों के विना धारणा, ध्यान और समाधि की निष्पत्ति अर्थात् सिद्धि नहीं होती है। अतः अभ्यासादि की आक्षेप से ही प्राप्ति हो जाती है–ऐसा भी ममाधान किया जाता है। इस प्रकार अभ्यासादि के प्रथक् रूप से उक्त होने पर भी यमादि योगाङ्गों की संख्या आठ बतलाना समीचीन है॥२९॥

योगवार्त्तिकम्

सूत्रान्तरमवतारयति–तत्रेति। यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। पूर्वपादोक्तान्यन्तरङ्गाणि अभ्यासवैराग्यश्रद्धाप्राणायामादीन्यस्य पादस्यादावुक्तानि, मध्यमसाधनानि तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि अत्यन्तबहिरङ्गैरनुक्तसाधनैः सह पिण्डीकृत्य योगज्ञानोभयसाधनतयाऽत्रोच्यन्त इत्यपौनरुक्त्यम्। [1]क्रियासाधननिरूपणं तूत्तममध्यमाधमा[2]धिकारिभेदात्। तत्र वैराग्यस्य सन्तोषे प्रवेशः, श्रद्धाऽऽदीनां च तपआदिषु, परिकर्मणां च धारणाऽऽदित्रिक इति। श्रवणमननयोश्च प्रमाणविधयैव ज्ञानहेतुत्वं साक्षादस्तीत्याशयेनाशुद्धिक्षयद्वारकेषु ज्ञानसाधनेषु न ते [3]परिगणिते इति मन्तव्यम्। भाष्ये यथाक्रममेषामनुष्ठानमिति कर्तव्यमिति शेषः। अयं तूत्सर्ग एव, ईश्वरप्रसादाज्जितोत्तरभूमिकस्य नाधरभूमिषु विनियोग इति भाष्ये वक्तव्यत्वात्, अन्यथा बहिरङ्गान्तरङ्गविभागप्रतिपादनवैयर्थ्यापत्तेश्चेति॥२९॥

भाष्यकार सूत्रान्तर को अवतरित करते हैं–'तत्रेति' सूत्र है–'यमेति' पूर्व पाद में कथित अभ्यास, वैराग्य, श्रद्धा, प्राणायाम आदि अन्तरङ्ग साधनों तथा द्वितीय पाद के आदि में व्याख्यात तपः, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधानरूप मध्यम साधनों को अत्यन्त बहिरङ्ग अनुक्त साधनों के साथ मिलाकर योग और ज्ञान दोनों के साधन रूप से अष्टाङ्गयोग को यहाँ बतलाया जा रहा है। अतः पुनरुक्तिदोष प्रसक्त नहीं होता है। क्योंकि योगाङ्गरूप क्रिया-साधनों का तीन स्थानों पर उल्लेख उत्तम, मध्यम तथा अधमरूप अधिकारिभेद से किया गया है। इनमें से पूर्वप्रतिपादित वैराग्य का सन्तोष में, श्रद्धादियों का तप आदियों में तथा मैत्री-करुणादि चित्त-परिकर्म का धारणादित्रय में अन्तर्भाव हो जाता है। श्रवण और मनन में तो प्रमाणविधया ही साक्षात् ज्ञानहेतुता है। इसी अभिप्राय से अशुद्धिक्षय के द्वारभूत

1. क ग घ च छ–क्रिया०, ख–त्रिधा।
2. क ख च छ–अधिकारि०, ग घ–अधिकार०।
3. ख–अथवा नियमान्तर्गतस्वाध्यायेन तयोर्ग्रहणं (परिगणिते-पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ– अथवा...ग्रहणं नोपलभ्यते।

ज्ञानसाधनों में इन दोनों को परिगणित नहीं किया गया है, ऐसा समझना चाहिये। वार्त्तिककार कहते हैं–भाष्य में **'यथाक्रममेषामनुष्ठानम्'** के पश्चात् **'कर्त्तव्यम्'** ऐसा वाक्यशेष समझना चाहिये। अर्थात् यमादि का यथाक्रम अनुष्ठान करना चाहिये, यह व्यासदेव के भाष्य का अर्थ है। योगाङ्गानुष्ठान को यथाक्रम करना चाहिये' यह सामान्यनियम ही है क्योंकि 'ईश्वर की कृपा से जिसने उत्तरभूमि को जीत लिया है, उसे पूर्वभूमियों का अनुष्ठान नहीं करना पड़ता है'–ऐसा भाष्य में पीछे कहा जा चुका है। अन्यथा (उत्तरभूमि को जीत लेने पर भी पूर्व भूमियों के अनुष्ठान की अनिवार्यता रहने से) साधनों का बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्गरूप से विभाग करना व्यर्थ हो जायेगा॥२९॥

बालप्रिया–

'यथाक्रममेषामनुष्ठानम्'–मिश्र-भिक्षु-मतभेद–वाचस्पति मिश्र ने **'यथाक्रममेषामनुष्ठानं स्वरूपं च वक्ष्यामः'** इस सम्पूर्ण वाक्य को प्रकृत सूत्र का भाष्य मानकर उसकी तद्वत् व्याख्या की है, किन्तु भिक्षु ने प्रकृत सूत्र के भाष्य को **'अनुष्ठानम्'** पर्यन्त मानकर **'कर्त्तव्यमिति'** को वाक्यशेष बतलाया है। भिक्षु ने **'स्वरूपं च'** इत्यंश को उत्तर सूत्र की अवतरणिका माना है॥२९॥

सम्प्रति, भाष्यकार अगले सूत्र की एकपदीय संक्षिप्त अवतरणिका को रचते हैं–

व्यासभाष्यम्

तत्र–

इन तथाकथित आठ योगाङ्गों में से–

योगसूत्रम्

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः॥३०॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह–(ये पाँच) 'यम' हैं॥३०॥

व्यासभाष्यम्

तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः, उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतयै[1]व तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते, तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते। तथा [2]चोक्तम्–स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते

---

1. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य–एव उपलभ्यते, घ प फ र–एव नोपलभ्यते।
2. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–च, ख–हि।

तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति। सत्यं यथार्थे वाङ्[1]मनसे। यथा दृष्टं यथानुमितं [2]यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति। परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता सा यदि न [3]वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिबन्ध्या वा भवेदिति। एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय। यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्पापमेव भवेत्। तेन पुण्या[4]भासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टं तमः प्राप्नुयात्। [5]तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्। स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम्, तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति। ब्रह्मचर्यं [6]गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः। विषयाणामर्जनरक्षण[7]क्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह इति एते यमाः॥३०॥

उन पाँचों यमों में से–सब प्रकार से सदैव किसी भी प्राणी को पीड़ा न पहुँचाना 'अहिंसा' है। अहिंसा के बाद वाले सभी (अवशिष्ट) यम और नियम अहिंसामूलक होते हैं। अहिंसासिद्धिपरक होने के कारण अहिंसा की निष्पत्ति के लिये ये (चारों यम और पाँचों नियम) चारों ग्रहण किये जाते हैं। उसी अहिंसा को सर्वथा निर्मल या निर्दोष करने के लिये ही इनका अभ्यास (अनुष्ठान, ग्रहण) किया जाता है। वैसे ही कहा भी गया है–'वह यह ब्राह्मण जैसे-जैसे अनेक व्रतों का पालन करता जाता है, वैसे-वैसे असावधानी से होने वाली हिंसा के कारणों से दूर होता हुआ उस अहिंसा को अत्यन्त निर्मल करता जाता है।' जो पदार्थ जैसा हो, (उसके सम्बन्ध में) वैसी ही वाणी और वैसा ही मन का होना 'सत्य' कहलाता है। जैसा देखा गया हो, जैसा अनुमान किया गया हो और जैसा (आगम द्वारा) सुना गया हो–(उसके विषय में) वैसी ही वाणी और मन का होना 'सत्य' है। अन्य लोगों में अपने ज्ञान को पहुँचाने के लिये, जो बात बोली जाती है, वह बात यदि धोखा देने वाली अथवा मिथ्या अथवा ज्ञान उत्पन्न करने में असमर्थ न

---

1. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–मनसे, छ–मनसि।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–यथा श्रुतम् उपलभ्यते, ब–यथा श्रुतं नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र–वञ्चिता, द–वञ्चिका।
4. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र–आभासेन, झ–अभ्यासेन।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात् उपलभ्यते, ब–तस्मात्...ब्रूयात् नोपलभ्यते।
6. क ग–गुह्येन्द्रियस्य, ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–गुप्तेन्द्रियस्य।
7. क ख घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र–क्षय० उपलभ्यते, ग छ थ–क्षय० नोपलभ्यते।

हो, तो वह सत्य (रूप) है। ऐसी वाणी सभी प्राणियों के उपकार के लिये प्रवर्तित होती है, प्राणियों का अपकार करने के लिये नहीं। यदि इस प्रकार से बोली जाने पर प्राणियों की हानि करने वाली ही हो, तो वह सत्य नहीं होगी, अपितु पापरूप ही होगी। पुण्य का रूप धारण किये हुए इस पुण्याभास से नरक ही प्राप्त होता है। इसलिये परीक्षा करके सभी प्राणियों के लिये हितकारी सत्य बोलना चाहिये। शास्त्राज्ञा के विपरीत दूसरों के द्रव्य का ग्रहण करना 'स्तेय' है। उसका अभाव, जिसमें मन से भी दूसरे की सम्पत्ति को लेने की इच्छा न हो उसे, 'अस्तेय' कहा जाता है। उपस्थ संज्ञक गुप्तेन्द्रिय का निग्रह 'ब्रह्मचर्य' कहलाता है। विषयों में अर्जन, रक्षण, क्षय, संग तथा हिंसा-दोष के दिखलाई पड़ने से उन विषयों का जो परित्याग है, उसे 'अपरिग्रह' कहते हैं। ये पाँच यम हैं॥३०॥

तत्त्ववैशारदी

यमनियमाद्यङ्गान्युद्दिश्य यमनिर्देशकं सूत्रमवतारयति– तत्रेति। अहिंसासत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। योगाङ्गमहिंसामाह–सर्वथेति। ईदृशीमहिंसां स्तौति–उत्तरे चेति। तन्मूला इति। अहिंसामपरिपाल्य कृता अप्यकृतकल्पा, निष्फलत्वादित्यर्थः। तत्सिद्धिपरतयैवा-नुष्ठानम्। अहिंसा चेन्मूलमुत्तरेषां कथं तेऽहिंसासिद्धिपरा इत्यत आह–तत्प्रतिपादनायेति। सिद्धिर्ज्ञानोत्पत्तिरित्यर्थः। स्यादेतत्–अहिंसाज्ञानार्था यद्युत्तरे, कृतं तैरन्यत एव तदवगमा-दित्यत आह–तदवदातेति। यद्युत्तरे नानुष्ठीयेरन्नहिंसा मलिना स्यादसत्यादिभिरित्यर्थः। अत्रैवागमिकानां संमतिमाह–तथा चेति। सुगमम्।

(पूर्व सूत्र में नामतः निर्दिष्ट) यम, नियमादि (अष्ट) अङ्गों (योगाङ्गों) को लक्ष्य करके भाष्यकार (सर्वप्रथम) यम के स्वरूपप्रतिपादक सूत्र को अवतरित करते हैं–**तत्रेति।** यम का प्रतिपादक सूत्र है–**'अहिंसेति।'** भाष्यकार योग के साधनभूत **'अहिंसा'** को बतलाते हैं–**'सर्वथेति।'** भाष्यकार अहिंसा के प्रशंसात्मक स्वरूप को बताते हैं–**'उत्तरे चेति। तन्मूला इति।'** अहिंसाव्रत का पालन किये विना अनुष्ठित सत्यादि योगाङ्ग न किये हुए के बराबर होते हैं, क्योंकि वे फलहीन रहते हैं। अतः अहिंसा की सिद्धि के लिये ही सत्यादि अनुष्ठेय हैं।

शङ्का–जब अहिंसा अपने उत्तरवर्ती सत्यादि योगाङ्गों का मूल है, तो ये उत्तरवर्ती सत्यादि 'अहिंसासिद्धिपरक' कैसे कहे गये हैं?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–**'तत्प्रतिपादनायेति।'** यहाँ **'तत्सिद्धिपरतया'** में प्रयुक्त **'सिद्धि'** शब्द का अर्थ **'ज्ञानोत्पत्ति'** है। अतः अहिंसा का ज्ञान कराने के लिये उत्तरवर्ती सत्यादि का अनुष्ठान किया जाता है।

शङ्का–यदि अहिंसोत्तर यमादि अहिंसा का ज्ञान कराने के लिये हैं, तो उन पश्चाद्वर्ती यमादि के अनुष्ठान (परिपालन) से क्या लाभ? क्योंकि अन्य (श्रुत्यादि) उपायों से ही 'अहिंसा' विषयक ज्ञान हो सकता है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'तदवदातेति' यदि अहिंसा-परिपालन के पश्चात् सत्यादि का अनुष्ठान (अभ्यास) न किया जाय तो अनुष्ठित अहिंसा असत्यादियों द्वारा कलुषित हो जाती है। अतः सत्यादि का परिपालन व्यर्थ नहीं है। भाष्यकार इस विषय में शास्त्रकारों की सहमति को व्यक्त करते हैं–'तथा चेति' इस का अर्थ सरल है, (जो पीछे द्रष्टव्य है)।

बालप्रिया–

'तन्मूला':–सा अहिंसैव मूलं प्रयोजनं येषां यमादीनां ते तन्मूला इत्यर्थः।

सम्प्रति, यम के दूसरे भेद 'सत्य' के विषय में बतलाया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

सत्यलक्षणमाह–यथार्थे वाङ्मनसे इति। यथाशब्दं साकाङ्क्षं पूरयति–यथा दृष्ट-मिति। प्रतिसंबन्धिनं तथाशब्दं प्रतिक्षिपति–तथा वाङ्मनश्चेति। विवक्षायां कर्तव्यायामिति। अन्यथा तु न सत्यम्। एतत्सोपपत्तिकमाह–[1]परत्रेति। परत्र पुरुषे स्वबोधसंक्रान्तये स्वबोध-सदृशबोधजननाय वागुक्तोच्चरिता। अतः सा यदि न वञ्चिता वञ्चिका, यथा द्रोणा-चार्येण स्वतनयाश्वत्थाममरणम्। आयुष्मन्सत्यधन? अश्वत्थामा हतः? इति पृष्टस्य युधिष्ठिरस्य प्रतिवचनं हस्तिनमभिसंधाय [2]सत्यं हतोऽश्वत्थामेति। तदिदमुक्तस्योत्तरं न युधिष्ठिरस्य स्वबोधं संक्रामयति। स्वबोधो ह्यस्य हस्तिहननविषय इन्द्रियजन्मा। न चासौ संक्रान्तः किं त्वन्य एव तस्य तनयवधबोधो जात इति।

भाष्यकार 'सत्य' का लक्षण करते हैं–'यथार्थे वाङ्मनसे इति' 'सत्य' के लक्षण में प्रयुक्त साकांक्ष 'यथा' शब्द को अर्थात् 'यथा' शब्द के अर्थ को भाष्यकार पूरा करते हैं–'यथा दृष्टमिति' जैसा प्रत्यक्षप्रमाणरूप इन्द्रियों से प्रत्यक्ष किया गया हो, जैसा तर्क से अनुमान किया गया हो और जैसा आगम से सुना गया हो, उसे 'यथार्थ' कहते हैं। 'यथा' शब्द अपने प्रतिसम्बन्धी (सहसम्बन्धी) 'तथा' शब्द की अपेक्षा करता है। अतः भाष्यकार 'यथा' सापेक्ष 'तथा' शब्द का आक्षेप करते हैं–'तथा वाङ्मनश्चेति' अर्थात् वैसी ही वाणी और मन होना चाहिये।

शङ्का–किस समय वाणी और मन की दृष्टादि पदार्थ के विषय में एकवाक्यता होनी चाहिये?

---

1. थ द ध–परत्रेति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–परत्रेति नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ थ द ध न–सत्यं, झ त–आर्यसत्यं, ज–अप्यसत्यम्।

समाधान—इस पर तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं—**विवक्षायां कर्तव्यायामिति।** अर्थात् जिस समय यथादृष्ट यथानुमित तथा यथाश्रुत पदार्थ को कहने की आवश्यकता पड़े, उस समय वाणी और मन में एकवाक्यता होनी चाहिये। तभी वाणी **'सत्य'** कहलाती है। अन्यथा दृष्टादि से विपरीत अर्थ का बोध कराने के लिये प्रयुक्त वाणी **'सत्य'** नहीं है। वाणी और मन की एकवाक्यता के लिये भाष्यकार कहते हैं—**'परत्रेति।' 'परत्र'** अर्थात् अन्य पुरुष के चित्त में अपने (चित्तनिष्ठ) ज्ञान के सदृश ज्ञान को उत्पन्न करने के लिये जो वाणी कही जाती है वह (उच्चरित वाणी) यदि **'वञ्चिता'** अर्थात् विपरीतबोधजनिका (अथवा परज्ञानोत्पादनसामर्थ्यहीना) न हो तो **'सत्य'** कही जाती है। जैसे द्रोणाचार्य ने अपने पुत्र अश्वत्थामा की मृत्यु के बारे में युधिष्ठिर से पूछा—**'आयुष्मन् सत्यधन! अश्वत्थामा हतः'?** अर्थात् 'हे सत्यनिष्ठ युधिष्ठिर! क्या अश्वत्थामा मारा गया'? इस प्रकार पूछे गये युधिष्ठिर ने 'हाथी' को लक्ष्य करके प्रत्युत्तर दिया—**'सत्यं हतोऽश्वत्थामेति।'** अर्थात् 'हाँ अश्वत्थामा मारा गया।' युधिष्ठिर का यह प्रत्युत्तर द्रोणाचार्य में यथार्थ ज्ञान को प्रतिसंक्रमित न करा सका। क्योंकि युधिष्ठिर के चित्त में जो प्रत्यक्षात्मक बोध था, वह 'हस्तिहननविषयक' था और द्रोणाचार्य को इसके विपरीत 'पुत्रहननविषयक' ज्ञान हुआ। अतः युधिष्ठिर की वाणी में **'स्वबोधसंक्रान्ति'** का अभाव होने से वह वञ्चिता वाणी ही कही गयी है, न कि उसे सत्य वाणी कहा गया है।

बालप्रिया—

द्रोणः—द्रोणाचार्य भरद्वाज ऋषि के पुत्र थे। इनका यह नाम इसलिये पड़ा कि घृताची नामक अप्सरा को देखते ही जब उनका वीर्यपात हुआ तो उन्होंने उसको एक द्रोण में सुरक्षित रखा। जन्म से ब्राह्मण होने पर भी द्रोण ने परशुराम से शस्त्रास्त्र विज्ञान की शिक्षा प्राप्त की। बाद में धनुर्विद्या और शस्त्रचालन द्रोण ने कौरव और पाण्डवों को सिखलाया। जिस समय महाभारत का युद्ध हुआ तो वे कौरव पक्ष से लड़े और जब भीष्म घायल होकर शरशय्या पर लेट गये तो कौरवसेना की बागडोर द्रोण ने संभाली तथा चार दिन तक युद्ध करके पाण्डव पक्ष के हजारों योद्धाओं को मौत के घाट उतारा। युद्ध के पन्द्रहवें दिन रात को भी संग्राम होता रहा और फिर सोलहवें दिन प्रातःकाल कृष्ण के सुझाव पर भीम ने द्रोण को सुनाकर कहा कि 'अश्वत्थामा मारा गया'। तथ्य यह था कि अश्वत्थामा नाम का हाथी जो युद्ध में काम आया था, वह मारा गया था। इस पर विश्वास न कर इस तथ्य की यथार्थता जानने के लिये द्रोणाचार्य ने सत्यवादी युधिष्ठिर से पूछा। युधिष्ठिर ने भी कृष्ण के परामर्शानुसार बात को छलपूर्वक टाल दिया। उन्होंने 'अश्वत्थामा' शब्द को ऊँचे स्वर से उच्चारण किया तथा 'गज' शब्द को

धीमें स्वर से (वेणी. ३/९)। अपने एक मात्र पुत्र की मृत्यु का समाचार सच समझकर अत्यन्त शोकग्रस्त हो द्रोण पिता मूर्छित हो गये। उसी समय धृष्टद्युम्न ने (जिसने द्रोण को मारने की प्रतिज्ञा की थी) उस अवसर से लाभ उठाकर द्रोण का सिर काट दिया। इस कथानक से सुस्पष्ट हो जाता है कि युधिष्ठिर की वाणी वञ्चनायुक्त थी।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार 'सा यदि न भ्रान्ता वा' द्वारा भाष्योक्त सत्य वाणी के द्वितीय तथा तृतीय विशेषण 'भ्रान्तिरहितत्व' तथा 'प्रतिपत्तिबन्ध्यरहितत्व' को स्पष्ट करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

भ्रान्ता वा भ्रान्तिजा। भ्रान्तिश्च विवक्षासमये वा ज्ञेयार्थावधारणसमये वा। प्रतिपत्त्या बन्ध्या प्रतिपत्तिबन्ध्या। यथा[1]र्यान्प्रति म्लेच्छभाषा प्रतिपत्तिबन्ध्या, निष्प्रयोजना वा स्यादिति यथानपेक्षिताभिधाना वाक्। तत्र हि परत्र स्वबोधस्य संक्रान्तिरप्यसंक्रान्तिरे[2]व निष्प्रयोजनत्वादिति। एवंलक्षणमपि सत्यं [3]परापकारफलं सत्याभासं न तु सत्यमित्याह–एषेति। तद्यथा सत्यतपसस्तस्करैः सार्थगमनं पृष्टस्य सार्थगमनाभिधानमिति। अभिधीयमाना=उच्चार्यमाणा। शेषं सुगमम्।

इसी प्रकार मिथ्याज्ञान को उत्पन्न करने वाला वाक्य भी सत्य नहीं कहलाता है। अर्थात् कुछ कहने की इच्छा के समय में अथवा ज्ञेय पदार्थ का दूसरे को निश्चय कराने के समय में कही गई वाणी भ्रान्तिपूर्ण नहीं होनी चाहिये। अन्यथा वह 'असत्य' कहलाती है। इसी प्रकार प्रतिपत्ति (ज्ञान) को प्रतिबन्धित करने वाली वाणी को 'प्रतिपत्तिबन्ध्या' कहते हैं। अर्थात् दूसरे को ज्ञान कराने में असमर्थ (प्रतिपत्तिबन्ध्या) वाणी को भी सत्य नहीं कहते हैं। जैसे आर्यों के प्रति म्लेच्छ आदि जातियों के द्वारा बोली गई भाषा प्रतिपत्तिबन्ध्या होती है। अर्थात् यथार्थ होते हुए भी सत्य नहीं है, क्योंकि वह वचन-बोध कराने में समर्थ नहीं होता है। अथवा निष्प्रयोजन होने से भी वह अयथार्थरूप है। इसी प्रकार विना किसी अपेक्षा के कही गई वाणी भी 'असत्य' रूप है। ऐसे स्थल में अनपेक्षित वाक् से यदि दूसरे में अपने ज्ञान का संक्रमण हो भी जाय, तो भी वह कथित वाक् असंक्रमित ही है, क्योंकि विना किसी प्रयोजन के वह कही गई है। सत्य के उपर्युक्त लक्षण के अनुसार कथित वाक्य यदि दूसरे को कष्ट पहुँचाता है तो वह भी सत्य नहीं,

---

1. क च–अर्थान्, ख ग घ छ ज झ त थ द ध न–आर्यान्।
2. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न–एव, त–इव।
3. क छ–परोपकार०, ख ग घ च ज झ त थ द ध न–परापकार०।

अपितु 'सत्याभास' है। इसीलिये भाष्यकार कहते हैं–'**एषेति**।' अर्थात् जो वाणी सत्य कही गई है, वह भी तभी सत्य कही जाती है, जब सभी प्राणियों के उपकार के लिये उच्चरित की गई हो और वह किसी भी प्राणी के अपघात का कारण न बने। जैसे लुटेरों के द्वारा पीछा किये जाते हुए सत्यवादी और तपस्वी ब्राह्मण के गमन (पलायन) का मार्ग लुटेरों को बतलाना असत्य है। भाष्य में आये '**अभिधीयमाना**' पद का अर्थ है–'**उच्चार्यमाणा**' अर्थात् उच्चारण की गई वाणी। शेष भाष्य सरल है।

बालप्रिया–

'**परापकारफलं सत्याभासम्**'–धर्मशास्त्र में अनिष्टकारक सत्य भाषण का निषेध किया गया है–

'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्'

अर्थात् 'सत्य बोलो', 'प्रिय सत्य बोलो किन्तु अप्रिय सत्य न बोलो।'

सम्प्रति, यम के तीसरे भेद अस्तेय का वर्णन किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

अभावस्य भावाधीननिरूपणतया स्तेयलक्षणमाह–स्तेयमशास्त्रपूर्वकमिति। विशेषेण सामान्यं लक्ष्यत इत्यर्थः। मानसव्यापारपूर्वकत्वाद्वाचनिककायिकव्यापारयोः प्राधान्यान्मनोव्यापार उक्तोऽस्पृहारूपमिति।

'**अभाव**' का निरूपण '**भाव**' के निरूपण के अधीन होता है, इसलिये भाष्यकार '**स्तेय**' का लक्षण करते हैं–'**स्तेयमशास्त्रपूर्वकमिति**।' अर्थात् शास्त्रविहित पद्धति का उल्लंघन करते हुए दूसरे के द्रव्य का ग्रहण 'स्तेय' कहलाता है। इस विशेष नियम से सामान्य नियम की ओर इंगित किया गया है। अर्थात् शास्त्रानुसार द्रव्य के ग्रहण को '**अस्तेय**' कहते हैं। भाष्यकार द्वारा अस्तेय की परिभाषा में प्रयुक्त '**अस्पृहारूपम्**' पद के तात्पर्य को तत्त्ववैशारदीकार बतलाते हैं–वाचिक तथा कायिक व्यापार मानसव्यापारपूर्वक होते हैं। अतः मानसव्यापार की प्रधानता होने से भाष्यकार ने '**अस्तेय**' के लक्षण में मनोव्यापार के प्राधान्य को बतलाया है–'**अस्पृहारूपमिति**।' अर्थात् मन से भी किसी अन्य के पदार्थ के ग्रहण की इच्छा न होना '**अस्तेय**' है।

सम्प्रति, यम के चौथे भेद '**ब्रह्मचर्य**' का वर्णन किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

ब्रह्मचर्यस्वरूपमाह–गुप्तेति। संयतोपस्थोऽपि हि स्त्रीप्रेक्षणतदालापकन्दर्पायतनतदङ्गस्पर्शनसक्तो न ब्रह्मचर्यवानिति तन्निरासायोक्तं गुप्तेन्द्रियस्येति। इन्द्रियान्तराण्यपि तत्र लोलुपानि रक्षणीयानीति।

भाष्यकार 'ब्रह्मचर्य' का स्वरूप बतलाते हैं–'गुप्तेति।' उपस्थेन्द्रिय में संयत (जिसने जननेन्द्रिय के आवेगों को नियन्त्रित कर लिया है, ऐसा) व्यक्ति भी ब्रह्मचारी नहीं कहलाता है, यदि वह स्त्रीप्रेक्षण (स्त्री के ऊपर सस्पृह दृष्टिपात), प्रेमपूर्वक वार्तालाप तथा कामोत्तेजक अङ्गस्पर्श में आसक्ति रखता है। इसलिये इन सब (प्रेमपूर्ण प्रसंगों) के निराकरण के लिये भाष्यकार ने कहा हैं–'गुप्तेन्द्रियस्येति।' ब्रह्मचर्यव्रती को उपस्थेन्द्रिय की भाँति उद्विग्नकारी अन्य इन्द्रियों को भी नियन्त्रित रखना चाहिये।

बालप्रिया–

'उपस्थस्य'–यहाँ 'उपस्थ' शब्द अन्य इन्द्रियों का भी उपलक्षक है। किसी भी इन्द्रिय का ब्रह्मचर्योपघाती व्यापार वर्जित है। इसलिये दक्षमुनि ने ब्रह्मचर्य के आठ भेदों द्वारा इन्द्रिय-संयम के क्षेत्र को इंगित किया है। दक्षमुनि का वचन इस प्रकार है–

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः। विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्॥

सम्प्रति, यम के अन्तिम पाँचवें भेद 'अपरिग्रह' का वर्णन किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

अपरिग्रहस्वरूपमाह–विषयाणामिति। तत्र सङ्गदोष उक्तो भोगाभ्यासमनु विवर्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणामिति (२/१५ भाष्ये) हिंसालक्षणश्च दोषो नानुपहत्य भूतान्युपभोगः संभवतीति (२/१५ भाष्ये)। अशास्त्रीयाणामयत्नोपनतानामपि विषयाणां निन्दितप्रतिग्रहादिरूपार्जनदोषदर्शनाच्छास्त्रीयाणामप्युपार्जितानां च रक्षणादिदोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः॥३०॥

भाष्यकार 'अपरिग्रह' का स्वरूप बतलाते हैं–'विषयाणामिति।' 'भोगाभ्यासमनु विवर्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणामिति' (२/१५) अर्थात् 'बारम्बार भोगों को भोगने से व्यक्ति की भोगेच्छा (राग) और इन्द्रियों की भोगविषयिणी पटुता बढ़ती है'–इसके द्वारा भाष्यकार ने विषयसंगजनित दोष को बताया है तथा 'नानुपहत्य भूतान्युपभोगः संभवतीति' (२/१५) अर्थात् 'प्राणियों की हिंसा किये विना विषयों का उपभोग सम्भव नहीं है'–इसके द्वारा विषयभोग में हिंसासम्बन्धी दोष बताये हैं। अप्रयत्नोपलब्ध (अनायाससाध्य) होते हुए भी शास्त्रनिषिद्ध विषयों में गर्हित प्रतिग्रहादिरूप अर्जनदोष होने से तथा शास्त्रविहित पद्धति से प्राप्त विषयों में भी रक्षणादि दोष होने से विषय-ग्रहण के प्रति होने वाली अस्वीकृति को 'अपरिग्रह' कहते हैं॥३०॥

योगवार्त्तिकम्

उत्तरसूत्रजातमवतारयति–स्वरूपं चेति। स्वरूपं च यथा[1]क्रममेषामतः परं वक्ष्याम इत्यर्थः। तत्र अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

भाष्यकार योगाङ्गप्रतिपादक आगामी सूत्रसमूह को अवतरित करते हैं–'स्वरूपं चेति' अब यमादि का यथाक्रम स्वरूप आगे बताया जायेगा। सूत्र है–(तत्र) 'अहिंसेति'

बालप्रिया–

स्वरूपं च/तत्र–मिश्र-भिक्षु-मतभेद–वाचस्पति मिश्र ने 'स्वरूपं च' भाष्यांश को विगत सूत्र के भाष्य का अंश माना है तथा 'तत्र' पद को प्रस्तुत सूत्र की अवतरणिका माना है। जब कि विज्ञानभिक्षु 'स्वरूपं च' को प्रकृत सूत्र की अवतरणिका के स्थान पर रखते हैं तथा 'तत्र' पद को सूत्रं के साथ जोड़ते हैं। इस प्रकार वैयासिक पदों के स्थान के विषय में मिश्र तथा भिक्षु में अन्तर है।

सम्प्रति, वार्त्तिककार 'अहिंसा' का स्वरूप बताते हैं–

योगवार्त्तिकम्

योगाङ्गभूतां प्रकृष्टामहिंसां लक्षयति–तत्राहिंसा [2]सर्वथेति। आश्रमविहितनित्यकर्मा-विरोधेनेति विशेषणीयैं, शौचादिषु क्षुद्रजन्तुहिंसाया अपरिहार्यत्वात्। अत एव योगिनां प्राणायामादिकं तत्पापक्षालनाय नित्यतया शास्त्रे [3]विहितमिति। अहिंसाया अविरोधेनैव सत्यादयो यमनियमा अनुष्ठेया इति प्रतिपादनाय तस्याः श्रेष्ठत्वमाह–उत्तरे चेति। तन्मूला इति। सैव मूलं प्रयोजनं येषामिति विग्रहः। अतोऽहिंसासिद्धिपरतयैव शास्त्रेषु इतरयमनियमाः प्रतिपाद्यन्त इति। तत्सिद्धिपरतयैवेत्यस्य विवरणम्–तत्प्रतिपादनायेति। सत्यादिभिरहिंसा सिध्यतीति प्रतिपादनायेति तस्या[4]र्थः। तथा तदवदातरूप[5]करणायाहिंसानिर्मलीकरणायैव योगिभिरुपादीयन्तेऽनुष्ठीयन्ते चेत्यर्थः। शौचतपआद्यकरणे च नरकादिना हिंसाऽप्यन्ततोऽस्तीति मन्तव्यम्। तथा चेत्यादि सुगमम्। तथा मोक्षधर्मेऽप्युक्तम्–

यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम्।
सर्वाण्येवा[6]पिधीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे॥
एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपि धीयते॥ इति।

---

1. क ख घ च छ–क्रमं, ग–श्रुतम्।
2. क ग घ च छ–सर्वर्येति, ख–सर्वेति।
3. क घ च छ–विहितं, ख ग–विधीयते।
4. क ख घ च छ–अर्थः, ग–अर्थतः।
5. क ग घ च–करणाय, ख–कारणाय, छ–करण०।
6. क ग घ च छ–अपि धीयन्ते, ख–उपाधीयन्ते।

भाष्यकार सर्वप्रथम (सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात) योग के साधनभूत प्रकृष्ट **'अहिंसा'** का लक्षण करते हैं—**'तत्राहिंसा सर्वथेति।'** यहाँ अहिंसा के लक्षण में **'आश्रमविहितनित्यकर्माविरोधेन'** इस विशेषण पद को जोड़ना चाहिये, क्योंकि शौचादि दैनन्दिन क्रियाओं में तुच्छ जन्तुओं की हिंसा होना अवश्यंभावी (अपरिहार्य) है। अत एव शौचादि से अपरिहार्यतः होने वाले हिंसादिरूप पाप को प्रक्षालित करने के लिये शास्त्र में योगियों के लिये प्राणायामादि क्रियाएँ विहित हैं। इससे अहिंसा का प्रकृष्ट लक्षण यह हुआ—'आश्रमविहित नित्य कर्म के अविरोधपूर्वक सर्वथा एवं सर्वदा किसी भी प्राणी के प्रति द्रोह-बुद्धि न रखना अहिंसा है।' अहिंसा के विरुद्ध न रहने से (शास्त्रसम्मत अहिंसा का पालन करने से) ही सत्यादि यम तथा नियम अनुष्ठेय (पालन किये जाने योग्य) होते हैं, इसे प्रतिपादित करने के लिये अहिंसा का श्रेष्ठत्व बताया जा रहा है—**'उत्तरे चेति।** **तन्मूलेति।'** अहिंसा के उत्तरवर्ती यम, नियमादि अहिंसामूलक होते हैं। **'सैव मूलं प्रयोजनं येषाम्'** यह **'तन्मूला'** पद का विग्रह है। अतः अहिंसासिद्धिपरक होने से ही शास्त्रों में यम, नियमादि इतर साधनों को प्रतिपादित किया गया है। **'तत्सिद्धिपरतयैव'** को विवृत करने (खोलने) वाला अन्य पद है—**'तत्प्रतिपादनायेति।'** सत्यादि योगाङ्गों के द्वारा अहिंसा सिद्ध होती है, यही **'तत्प्रतिपादनाय'** पद का अर्थ है। भाष्य के **'तदवदातरूपकरणाय'** पद का अर्थ है कि अहिंसा के निर्मलीकरण के लिये ही योगियों द्वारा अहिंसोत्तर यमादि का अनुष्ठान किया जाता है। अर्थात् यदि उत्तरवर्त्ती यम, नियमादि का अनुष्ठान नहीं किया जाता है तो अनुष्ठित अहिंसा भी असत्यादि द्वारा मलिन हो जाती है। अतः अहिंसा की शुद्धि के लिये सत्यादि विहित हैं। किञ्च शौच, तप आदियों के अननुष्ठित रहने पर नरकवासियों द्वारा भी हिंसा अन्ततः होती ही है, ऐसा समझना चाहिये। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं—**'तथा चेत्यादि।'** उद्धृत वाक्य का अर्थ सरल है। ऐसा ही मोक्षधर्म में भी कहा गया है—**'यथा नागपदे... धर्मार्थमपि धीयते'** (२४५/१८-१९) अर्थात् 'जिस प्रकार हाथी के पैर में पदगामियों के अन्य सभी पैर समाहित हो जाते हैं उसी प्रकार अहिंसा में सभी धर्म और अर्थ अन्तर्भूत हो जाते हैं।'

सम्प्रति, यम के द्वितीय भेद 'सत्य' के बारे में बतलाया जा रहा है—

योगवार्त्तिकम्

सत्यं लक्षयति—सत्यमिति। यथाऽर्थत्वं व्याचष्टे—यथा दृष्टमिति। दर्शनादीनां प्रमात्वमपि विवक्षितम्, भ्रान्त्या वेति वक्ष्यमाणत्वात्, अज्ञाननिमित्तकपापान्तरवद् भ्रान्तिनिमित्त-

का[1]सत्यस्यापि पापत्वौचित्यात्। मनश्चेति। मनश्च तथा तात्पर्ययुक्तमित्यर्थः। तेन यदा दृष्टादिविपरीतार्थबोधने तात्पर्यं तदा यथाऽर्था वागसत्यैव भवति, यथाऽश्वत्थामा हत इति युधिष्ठिरवाक्यम्। तत्र हि गजविषये वाक्यस्य सत्यत्वेऽपि मनसो न सत्यत्वं दृष्टविपरीतद्रोणपुत्र[2]हनने तात्पर्यादिति। सत्यस्योदाहरणं सामान्यत आह—परत्रेत्यादिना इतीत्यन्तेन। इति[3]शब्दात्पूर्वं तदा सत्यमिति पूरणीयम्। स्वविनोदाय [4]गीतावाक्यादीनां परप्रतिपत्तिबन्ध्यत्वादावपि नासत्यत्वमित्यतस्तद्व्यावर्त्तनार्थं [5]परत्र स्वबोधसंक्रान्तय इत्युक्तम्। वञ्चिता विपरीतार्थबोधनेच्छया [6]प्रयुक्ता, भ्रान्ता भ्रमेण प्रयुक्ता, प्रतिपत्तिबन्ध्या अप्रसिद्धपदादिभि[7]र्न बोधजननक्षमेत्यर्थः। यथोक्तसत्यलक्षणे लोकहितत्वमपि विशेषणं देयमित्याह—एषेति। एषा वाक् प्रवृत्ता ब्रह्मणा निर्मिता, अतो यदि च, एवमपि यथाऽर्थाऽपि, अभिधीयमानोच्चार्यमाणेत्यादिरर्थः। सा च वाक् यथा दस्युभिः सार्थगमनं पृष्टस्य सार्थगमनाभिधानम्, इत्यादिरूपा, पुण्याभासेन पुण्यवत्प्रतीयमानेन। तत्र हेतुः—पुण्यप्रतिरूपकेणेति। पुण्यसदृशेनेत्यर्थः। कष्टं दुःखात्मकं तमो नरकमित्यर्थः। सत्यं यथाऽर्थं ब्रूयादित्यर्थः। अत्र चासत्यनिवृत्तिमात्रं सत्य- शब्देन विवक्षितम्, तस्यैव तत्त्व[8]सम्भवात्, अन्यथाऽसत्यस्य वचनेऽपि यमप्रसङ्गाच्चेति।

भाष्यकार 'सत्य' का लक्षण करते हैं—'सत्यमिति।' वाणी और मन की यथार्थता को 'सत्य' कहते हैं। भाष्यकार वाणी और मन के यथार्थत्व को स्पष्ट करते हैं—'यथा दृष्टमिति।' 'सत्य' के लक्षण में 'यथा दृष्टादि' से दर्शनादि का प्रमात्व भी विवक्षित है। अर्थात् वाणी और मन का सत्यत्वव्यवहार प्रत्यक्षादि ज्ञानों के यथार्थत्व (प्रमात्व) पर आधारित है, क्योंकि भाष्यकार स्वयं आगे कहेंगे—'भ्रान्ता वेति।' अर्थात् 'यथादृष्ट' वस्तुस्थिति का कथन निर्भ्रान्त होना चाहिये। इसीलिये अज्ञानतावश कृत अन्य पाप की भाँति भ्रान्तिवश प्रयुक्त असत्यवचन से भी पाप होना उचित है। अर्थात् जिस प्रकार अविद्यावश कृत पाप कर्म से पापात्मक (दुःखात्मक) फल प्राप्त होता है, उसी प्रकार भ्रान्तिवश कृत असत्य व्यवहार से पापात्मक (दुःखात्मक) फल को स्वीकार किया गया है। वार्तिककार सत्य के लक्षण में प्रयुक्त 'मनश्चेति' की व्याख्या करते हैं—यहाँ 'मन' शब्द से 'तात्पर्ययुक्त मन' गृहीत है। अर्थात् सत्यकथन में मन का तात्पर्य देखा जाता है। फलतः जब दृष्टादि अर्थ से विपरीत अर्थ का बोध

---

1. क ग घ च छ—असत्यस्य, ख—सत्यस्य।
2. क घ च छ—हनने, ख ग—हननबोधने।
3. क ख घ च छ—शब्दात्पूर्वं, ग—शब्दानुपूर्वम्।
4. क घ च छ—गीतावाक्यादीनां, ख ग—गीतादिरूपवाक्यानाम्।
5. क ग घ च छ—परत्र, ख—परत्व०।
6. क ग घ च छ—प्रयुक्ता, ख—प्रत्युक्ता (उभयत्र)।
7. क घ च छ—न बोधजननक्षमा, ख ग—बोधजननाक्षमा।
8. क च छ—तत्त्वसंभवात्, ख—व्रतसंभवात्, ग घ—तदसंभवात्।

कराना मन को अभिप्रेत रहे, तब उच्चरित यथार्थ वाणी 'असत्य' ही कहलाती है। जैसे 'अश्वत्थामा हतः' युधिष्ठिर का यह वाक्य 'असत्य' परक है, क्योंकि 'गजहनन' के विषय में वाक्य का सत्यत्व (यथार्थत्व) होने पर भी मन का सत्यत्व नहीं है, क्योंकि दृष्ट 'गजहनन' के विपरीत 'द्रोणपुत्रहनन' में वक्ता के मन का तात्पर्य है। भाष्यकार सामान्यरूप से सत्य का उदाहरण देते हैं–'परत्रेत्यादिना इतीत्यन्तेन।' यहाँ 'इति' शब्द से पूर्व 'तदा सत्यम्' इतना अंश जोड़ना चाहिये। अपने आनन्द के लिये (अहंतुष्टि के लिये) गीता आदि शास्त्रों के ऐसे वाक्यों का प्रयोग करना जो दूसरे के ज्ञान को प्रतिबन्धित करे अर्थात् दूसरा व्यक्ति उसका उत्तर न दे सके, ऐसे वाक्यों में असत्यत्व न होते हुए भी उन्हें 'सत्य-लक्षण' की परिधि से व्यावृत्त करने के लिये भाष्यकार द्वारा 'परत्र स्वबोधसंक्रान्तये' पदद्वय अभिहित हैं। विपरीत अर्थ का बोध कराने की इच्छा से प्रयुक्त वाणी 'वञ्चिता', भ्रम से प्रयुक्त वाणी 'भ्रान्ता' तथा अप्रसिद्ध पदों के प्रयोग से अर्थबोधन में अक्षम वाणी 'प्रतिपत्तिबन्ध्या' कही गई है। ऊपर दिये हुए 'सत्य' के लक्षण में 'लोकहितत्वम्' यह विशेषण पद भी जोड़ लेना चाहिये, इस पर ही भाष्यकार कहते हैं–'एषेति।' ब्राह्मण द्वारा निर्मित इस प्रकार का वाक्य यदि समस्त प्राणियों के उपकार के लिये प्रवृत्त अर्थात् उच्चरित होता हुआ किसी प्राणी के अपघात के लिये न हो, तो उस वाक्य को सत्य कहते हैं। और यदि 'दस्युभिः सार्थगमनं पृष्टस्य सार्थगमनाभिधानम्' अर्थात् दस्यु से पीछा किये जाते हुए भी व्याचारी के बारे में (दस्यु द्वारा) पूछे जाने पर व्याचारी के मार्ग का अभिधान करने वाला वाक्य यथार्थ होता हुआ भी अपकारपरक होने से सत्य नहीं होता है, किन्तु उससे पाप ही होता है। अर्थात् सत्य होने पर भी पापजनक होने से वह मिथ्या के तुल्य है। 'पुण्याभास' शब्द का अर्थ है–पुण्यवत् प्रतीयमान। इसमें हेतु है–'पुण्यप्रतिरूपकेणेति।' 'पुण्यप्रतिरूप' शब्द का अर्थ है–'पुण्यसदृश'। 'कष्टं तमः' पद का अर्थ है–दुःखात्मक नरक। अर्थात् पुण्यप्रतिरूप वाणी से दुःखरूप नरक प्राप्त होता है। ठीक से विचार करके समस्त प्राणियों के लिये हितकरी सत्य अर्थात् यथोचित (यथार्थ) वाणी कहनी चाहिये। वस्तुतस्तु यहाँ 'सत्य' शब्द से 'असत्य की निवृत्ति-मात्र' अभिप्रेत है, क्योंकि असत्य की निवृत्तिमात्र से ही सत्य तत्त्व की स्थापना होती है। अन्यथा (सत्य को असत्य का निवृत्तिपरक रूप न मानने पर) असत्य-वचन को भी 'यम' कहने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा।

सम्प्रति, यम के क्रमप्राप्त तृतीय भेद 'अस्तेय' का विश्लेषण किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

अस्तेयं लक्षयितुमभावस्य प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणतयाऽऽदौ स्तेयं लक्षयति–स्तेयमिति। प्रतिग्रहव्यावर्त्तनायाशास्त्रपूर्वकमिति। अत्र चौर्येणापि स्वत्वं ज्ञायत इत्यवगम्यते।

अथ वा स्वीकरणं ममेति बुद्धिमात्रं भ्रमसाधारणमिति, तत्प्रतिषेधस्तन्निवृत्तिस्तथाऽप्यस्पृहामु[1]पलक्ष्याह–सस्पृहारूपमिति।

(किसी भी वस्तु के) 'अभाव' का निरूपण उसके प्रतियोगिरूप 'भाव' के निरूपण के अधीन होने से भाष्यकार 'अस्तेय' का लक्षण करने से पहले 'स्तेय' का लक्षण करते हैं–'स्तेयमिति।' 'प्रतिग्रह' अर्थात् दानादि द्वारा राजा से गृहीत ब्राह्मणोचित अर्थसंग्रह को स्तेय के लक्षण से व्यावृत्त करने के लिये भाष्यकार ने 'अशास्त्रपूर्वकम्' पद का प्रयोग किया है। चोरी करने वाला व्यक्ति चौर्यविधि से संगृहीत पदार्थ के विषय में भी जो 'स्व' अर्थात् स्वामित्व का अनुभव करता है, वह भी स्तेय है। अथवा 'यह मेरा है' इत्याकारक भ्रमात्मक स्वीकृति (स्वीकरण) को 'स्तेय' कहते हैं। इस प्रकार चौर्य की निवृत्ति होने पर भी परद्रव्य के ग्रहण की इच्छा के अभाव को 'अस्तेय' से लक्षित करते हुए भाष्यकार कहते हैं–'अस्पृहारूपमिति।'

सम्प्रति, यम के क्रमप्राप्त चतुर्थ भेद 'ब्रह्मचर्य' की व्याख्या की जा रही है–

योगवार्त्तिकम्

ब्रह्मचर्यं लक्षयति–गुप्तेति। गुप्तेन्द्रियस्येति स्वोक्तस्य विवरणमुपस्थस्येति। संयम इत्यत्रोपसर्गेणान्येन्द्रियसाहित्यमुपस्थस्य ग्राह्यम्। तेनोपस्थस्य विषये सर्वेन्द्रियव्यापारोपरम इति लक्षणम्। तथा चोक्तं दक्षसंहितायाम्–

ब्रह्मचर्यं सदा रक्षेदष्टधालक्षणं पृथक्।
स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्॥
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः॥ इति।

प्रकृष्टमीक्षणं प्रेक्षणं रागपूर्वकं दर्शनमित्यर्थः।

भाष्यकार 'ब्रह्मचर्य' का लक्षण करते हैं–'गुप्तेति।' भाष्यकार ने स्वोक्त 'गुप्तेन्द्रियस्य' पद को 'उपस्थस्य' पद के द्वारा उद्घाटित किया है। अर्थात् गुप्तेन्द्रिय का अर्थ है–उपस्थेन्द्रिय। 'ब्रह्मचर्य' के लक्षण में 'संयम' पद के द्वारा गौणरूप से अन्य इन्द्रियों सहित उपस्थेन्द्रिय गृहीत है। अर्थात् अन्य इन्द्रियों के साथ उपस्थेन्द्रियविषयक संयम को 'ब्रह्मचर्य' कहते हैं। इससे ब्रह्मचर्य का लक्षण है–'उपस्थस्य विषये सर्वेन्द्रियव्यापारोपरमः' अर्थात् उपस्थेन्द्रिय को लक्षित कर सभी इन्द्रियों के अब्रह्मचर्यरूप व्यापार का उपरम 'ब्रह्मचर्य' कहलाता है। जैसा कि दक्षसंहिता में कहा गया है–'ब्रह्मचर्यं...मनीषिणः' (७/३१,३२) अर्थात् 'निम्नाङ्कित आठ प्रकारों से अलग रहकर ब्रह्मचर्य की सर्वदा रक्षा करे। काम-क्रियाओं का स्मरण करना, उनके विषय में बात

1. क ख च छ–उपलक्ष्य, ग घ–उपलक्षयित्वा।

करना, स्त्री के साथ काम-क्रीडा करना, स्त्री के अङ्गों को देखना, उसके साथ गुप्त बातचीत करना, भोगेच्छा, सम्भोग-निश्चय तथा सम्भोग-क्रिया की निष्पत्ति—ये आठ प्रकार के मैथुन विद्वानों ने कहे हैं। 'प्रकृष्टम् ईक्षणं प्रेक्षणम्'—के अनुसार रागपूर्वक दर्शन को 'प्रेक्षण' कहते हैं।

सम्प्रति, यम के क्रमप्राप्त पञ्चम भेद 'अपरिग्रह' की व्याख्या की जा रही है—

योगवार्त्तिकम्

अपरिग्रहं लक्षयति—विषयाणामिति। परिग्रहे हिंसाऽऽद्या अपि दोषास्तेषां [1]दर्शनादिति विशेषणं दम्भाशक्त्यादि[2]निमित्तकास्वीकरणेऽतिव्याप्तिनिरासायेति। हिंसा चात्र दातृप्रभृतीनां बोध्या॥३०॥

भाष्यकार 'अपरिग्रह' का लक्षण करते हैं—'विषयाणामिति' अपरिग्रह के लक्षण में 'हिंसादिदोषदर्शनात्' यह विशेषण पद इसलिये दिया गया है जिससे दम्भ, अशक्ति आदि कारणों से पदार्थ के अस्वीकरण (असंग्रह) में 'अपरिग्रह' के लक्षण की अतिव्याप्ति को व्यावृत्त किया जा सके। (भाव यह है कि विषय-संग्रह में सक्षम रहते हुए उनमें अर्जनादि दोष की भावना कर उनको स्वीकार न करना (त्याग देना) 'अपरिग्रह' है। 'हिंसा' का अर्थ दाता प्रभृति से बलपूर्वक पदार्थ का ग्रहण करना है॥३०॥

सम्प्रति, भाष्यकार अगले सूत्र की द्विपदीय अवतरणिका रचते हैं—

व्यासभाष्यम्

ते तु—

वे तो—

योगसूत्रम्

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः [3]सार्वभौमा महाव्रतम्॥३१॥

जाति, देश, काल तथा समय से सीमित न होते हुए (अहिंसादि यम) 'सार्वभौम महाव्रत' वाले कहे जाते हैं॥३१॥

व्यासभाष्यम्

तत्राहिंसा जात्यवच्छिन्ना—मत्स्य[4]वधकस्य मत्स्येष्वेव नान्यत्र हिंसा। सैव देशावच्छिन्ना—न तीर्थे हनिष्यामीति। सैव कालावच्छिन्ना—न चतुर्दश्यां न पुण्येऽ-

---

1. क ख घ च छ—दर्शनात्, ग—दर्शनम्।
2. क ग घ च छ—निमित्तकास्वीकरणे, ख—निमित्तस्वीकरणे।
3. सार्वभौम०—इति पाठान्तरम्।
4. क ख ग च छ थ द ध न म—वधकस्य, घ ज झ त प फ ब भ य र—बन्धकस्य।

हनि हनिष्यामीति। सैव त्रिभिरूपरतस्य समयावच्छिन्ना—देवब्राह्मणार्थे नान्यथा हनिष्यामीति। [1]यथा च क्षत्रियाणां युद्ध एव हिंसा नान्यत्रेति। एभिर्जातिदेश-कालसमयैरनवच्छिन्ना अहिंसादयः सर्वथैव परिपालनीयाः। सर्वभूमिषु सर्वविषयेषु सर्वथैवाविदितव्यभिचाराः सार्वभौमा महाव्रतमित्यु[2]च्यन्ते॥३१॥

उनमें से 'जाति' से सीमित अहिंसा यह है, जैसे मत्स्यघाती (मत्स्या-जीवक) का मछलियों को ही मारना, अन्य जीवों को नहीं। 'देश' से सीमित अहिंसा यह है—जैसे, 'तीर्थ में जीवों को नहीं मारुँगा।' 'काल' से सीमित अहिंसा यह है—जैसे, 'चतुर्दशी के दिन या किसी अन्य पवित्र दिन में जीव-हत्या नहीं करूँगा।' इन तीनों से रहित किन्तु 'समय' से सीमित अहिंसा यह है—जैसे, 'देवताओं और ब्राह्मणों के अतिरिक्त किसी अन्य प्रयोजन से हिंसा नहीं करूँगा'। जैसे क्षत्रियों को युद्ध में ही हिंसा करनी चाहिये, अन्यत्र नहीं। इन जाति, देश, काल तथा समय से असीमित अहिंसादि का सर्वदा पालन करना चाहिये। सर्वभूमिरूप सभी विषयों में सभी प्रकार से अव्यभिचरित अहिंसादि 'सार्वभौम महाव्रत' कहे जाते हैं॥३१॥

तत्त्ववैशारदी

सामान्यत उक्ताः। यादृशाः पुनर्योगिनामुपादेयास्तादृशान् वक्तुं सूत्रमवतारयति—ते त्विति। जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्। सर्वासु जात्यादि-लक्षणासु भूमिषु विदिताः सार्वभौमाः। अहिंसादय इति। [3]अन्यत्राप्यवच्छेद ऊहनीयः। सुगमं भाष्यम्॥३१॥

सामान्यरूप से अहिंसादि यम का स्वरूप पीछे प्रतिपादित किया गया। अब जिस प्रकार के अहिंसादि यम योगियों द्वारा आचरणीय हैं, उस प्रकार के अहिंसादि यम का स्वरूप बतलाने के लिये भाष्यकार सूत्र को अवतरित करते हैं—**'ते त्विति।'** सूत्र है—**'जातीति।'** जात्यादिरूप सभी भूमियों (अवस्थाओं) से सम्बद्ध अहिंसादि **'सार्वभौम'** कहे जाते हैं। वाचस्पति मिश्र भाष्य को उठाते हैं—**'अहिंसादय इति।'** अहिंसा-तिरिक्त सत्यादि में भी प्रासङ्गिक जात्याद्यनवच्छिन्नता का अध्याहार करना चाहिये। अर्थात् जाति, देशादि से निर्मुक्त सत्यादि ही **'सार्वभौम महाव्रतत्व'** की संज्ञा को प्राप्त करते हैं। भाष्य सुगम है॥३१॥

बालप्रिया—

'अन्यत्राप्यवच्छेद ऊहनीयः—भाष्यकार ने जैसे अहिंसा की जात्यादि दृष्टि से अन-

---

1. क ग—तथा, ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—यथा।
2. क ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म—उच्यन्ते, ख घ प फ य र—उच्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न—अन्यत्र, त—अत्र।

वच्छिन्नता प्रतिपादित की है, वैसे ही सत्यादि की अनवच्छिन्नता परीक्षणीय अर्थात् ऊहनीय है। जैसे–

प्राणत्राणेऽनृतं वाच्यमात्मनो वा परस्य च।
गुर्वर्थे स्त्रीषु चैव स्याद्विवाहकरणेषु च॥

उक्त स्मृति के अनुसार 'प्राणत्राणादि के लिये झूठ बोलूँगा, अन्यत्र मिथ्याभाषण नहीं करूंगा'–इस प्रकार का सत्य **'समयावच्छिन्न'** कहलाता है। 'दुर्भिक्ष के विना चोरी नहीं करूँगा'–यह अस्तेयव्रत **'कालावच्छिन्न'** है। **'भिक्षिते पारदार्य्यं च न तद् धर्मस्य दूषणम्'**–श्रुत्यनुसार 'याचना किये जाने से अतिरिक्त काल में परस्त्रीगमन नहीं करूँगा'–इत्याकारक ब्रह्मचर्य **'कालावच्छिन्न'** है। इसी प्रकार 'वृद्ध माता-पिता के भरण-पोषण के लिये ही विषयों का संग्रह करूँगा'–यह अपरिग्रह **'समयावच्छिन्न'** है। व्रताभ्यासी का साफल्य इसी में है कि जब वह अहिंसादि को जात्यादि की संकुचित भावना से ऊपर उठाकर उन्हें उपादेयता प्रदान कर **'महाव्रतत्व'** की श्रेणी में पहुँचाता है॥३१॥

योगवार्त्तिकम्

उक्तानां यमानां विशेषप्रतिपादकं पूरयित्वा पठति–ते त्विति। जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।

सामान्यरूप से कथित अहिंसादि यमों के विशेषप्रतिपादक सूत्र को 'ते तु' इस अंश से पूरा करते हुए भाष्यकार पढ़ते हैं–'ते त्विति' सूत्र है–(ते तु) 'जातीति'

बालप्रिया–

'ते तु'–मिश्र-भिक्षु-मतभेद–वाचस्पति मिश्र 'ते तु' को सूत्र की वैयासिकी अवतरणिका मानते हैं, जब कि भिक्षु के मत में 'ते तु' यह सूत्र का पूरक अंश है।

सम्प्रति, वार्त्तिककार सूत्रार्थ प्रारम्भ करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

समयः संकेतो वक्ष्यमाणनियमविशेष इति यावत्। जात्यादिभिश्चतुर्भिरनवच्छिन्नास्ते यमाः [1]यतः सार्वभौमाः सर्वास्ववस्थासु अनुगता अतो महाव्रतमिति संज्ञिता इत्यर्थः। अन्वर्थसंज्ञायाः फलं च प्रकृष्टयोगिभिरेवमनुष्ठानमिति।

सूत्र में 'समय' पद से वक्ष्यमाण नियमविशेष (परिस्थितिविशेष) को संकेतित किया गया है। जात्यादि चार के द्वारा निरवच्छिन्न (असीमित) ये यम क्योंकि 'सार्वभौम'=सभी अवस्थाओं में अनुगत होते हैं, अतएव **'महाव्रत'** संज्ञा वाले कहलाते

1. क ख ग घ–यतः उपलभ्यते, च छ–यतः नोपलभ्यते।

हैं, ऐसा सूत्रार्थ है। किञ्च इस महाव्रतत्वरूप अन्वर्थ संज्ञा का फल उत्तम योगियों के द्वारा निम्नाङ्कित प्रकार से कार्य में परिणत किया जाता है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार भाष्यार्थ प्रारम्भ करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

मुख्यमहिंसाऽऽख्ययममा‍श्रित्य जात्यवच्छिन्नादीन् व्याचष्टे—तत्राहिंसेति। जातिर्मत्स्यत्वादिः, तया परम्परया अवच्छिन्ना मत्स्याद्यतिरिक्तस्याहिंसेत्यर्थः। एवमुत्तरास्वपि परम्परयैवावच्छिन्नत्वं बोध्यम्। सैव देशेति। सैवाहिंसैव, एवमुत्तरयोरपि। त्रिभिरुपरतस्येति साङ्कर्यनिरासायोक्तम्। त्रिभिर्जात्याद्यवच्छेदैः परम्परया शून्यस्य पुरुषस्येत्यर्थः। समयावच्छिन्नस्योदाहरणद्वयमाह—देवेति। यथेति। यथा वेत्यर्थः। अहिंसाया इवान्येषामपि यमानां जात्याद्यवच्छिन्नत्वमूहनीयमित्याशयः। सूत्रतात्पर्यार्थमाह—एभिरिति। सार्वभौमशब्दस्यार्थमाह—सर्व[1]भूमिष्विति। सर्वभूमिष्वित्यस्य विवरणम्—सर्वविषयेष्विति। विषया जात्यादयो यथोक्ताः अस्यापि विवरणम्—सर्वथैवेत्यादि। ननु कुशसमिदाहरणादिवैधहिंसानामपि परित्यागे नित्यकर्मबाधेन प्रत्यवायापत्तिरिति? मैवम्—

> सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते सर्वाणि दुःखेषु तथोद्विजन्ति।
> तेषां [2]भवोत्पादनजातखेदः कुर्यान्न कर्माणि हि जातवेदः॥

इति मोक्षधर्मादिवाक्यै[3]र्जातवेदस उत्पन्नात्मज्ञानस्य योगिनः कारुणिकस्य बाह्यकर्मत्यागानुज्ञयाऽयोगिनामेव बाह्यकर्माकरणे प्रत्यवायात्, [4]योगरूपस्यैव नित्यकर्मणो मन्वादिभिर्विहितत्वाच्च। यथा [5]मनौ—

> एतानेके महायज्ञान् यज्ञशास्त्रविदो जनाः।
> अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति॥ इति।

अत एव वशिष्ठेन बाह्याभ्यन्तरकर्मणोर्विकल्प उक्तः—

> बाह्यमाभ्यन्तरं चेति द्विविधं कर्म वैदिकम्।
> तयोर[6]न्यतरत् कुर्यान्नित्यं कर्म यथाविधि॥ इति।

तयोश्चा[7]भ्यन्तरं कर्म हिंसाऽऽद्यभावाद् ऐकाग्र्यरूपत्वाच्च श्रेष्ठं गीतादिषूक्तम्—

> श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परंतप!

---

1. क ग घ च छ—भूमिषु, ख—भूतेषु।
2. क ग छ—भव०, ख घ च—भय०।
3. क छ—जातवेदसः, ख ग घ च—जातवेदस्य।
4. क च छ—योगरूपस्य, ख ग घ—योगिना मन्त्रयागरूपस्य।
5. क ग च छ—मनौ, ख घ—मनुः।
6. क ग—अन्यतमत्व०, ख घ—अन्यतमं, च छ—अन्यतरत्।
7. क ख ग घ—आन्तरं, च छ—आभ्यन्तरम्।

इत्यादिना। भाष्यकारश्च वैधहिंसाया अपि पापहेतुत्वमग्रे प्रतिपादयिष्यति, शौचादिषु चापरिहार्या हिंसा चाश्रमविहिता वेऽति न तया व्रतलोपः, स्वाश्रमधर्माविरोधित्वेन विशेषितत्वादिति॥३१॥

यम के **'अहिंसा'** संज्ञक मुख्य अङ्ग को आश्रय बनाकर भाष्यकार उसकी जात्याद्यवच्छिन्नताओं को बताते हैं–**'तत्राहिंसेति।'** मत्स्यत्वादि जाति है। इस मत्स्यत्वादि जाति की शृङ्खला से अवच्छिन्न मत्स्याद्यतिरिक्तविषयिणी अहिंसा **'जात्यवच्छिन्ना अहिंसा'** कहलाती है। अर्थात् मत्स्यबन्धक जब मछली से अतिरिक्त प्राणियों की हिंसा न करने की प्रतिज्ञा करता है तो उसका यह अहिंसाव्रत **'सार्वभौम'** न होकर **'जात्यवच्छिन्न'** होता है। इसी प्रकार देश, काल और समय की उत्तरोत्तर मर्यादा से सीमित अहिंसा को **'देशावच्छिन्न'**, **'कालावच्छिन्न'** तथा **'समयावच्छिन्न'** समझना चाहिये। वार्त्तिककार देशाद्यवच्छिन्न अहिंसा के प्रतिपादक भाष्य को उठाते हैं–**'सैव देशेति।'** अहिंसा की उत्तरोत्तर सीमितताओं को भी समझना चाहिये। तथाकथित अहिंसा 'तीर्थस्थल में हिंसा न करूँगा–इत्याकारक देश से मर्यादित होने पर **'देशावच्छिन्न'** कहलाती है तथा 'चतुर्दशी के पुण्य दिवस पर हिंसा न करूँगा'–इत्याकारक काल से सीमित होने पर **'कालावच्छिन्न'** कहलाती है। वार्त्तिककार **'समयावच्छिन्न'** अहिंसा के प्रतिपादक भाष्य को उठाते हैं–**'त्रिभिरुपरतस्येति।'** इस पद के प्रयोग से चतुर्थ **'समयावच्छिन्न अहिंसा'** की प्रथम तीन प्रकार की अहिंसाओं से व्यावृत्ति की गई है। इसका अर्थ है–अहिंसा के जात्यादि त्रिविध अवच्छेद से रहित पुरुष की समयावच्छिन्ना अहिंसा होती है। भाष्यकार समयावच्छिन्ना अहिंसा के उदाहरणद्वय को प्रस्तुत करते हैं–**"देवेति। यथेति।'** अर्थात् 'देव और ब्राह्मण के लिये हिंसा करूँगा किसी अन्य के लिये नहीं' अथवा 'युद्ध में क्षत्रियों की ही हिंसा करूँगा, किसी और की नहीं'–इत्याकारक अहिंसा समयावच्छिन्ना कहलाती है। यहाँ **'यथा'** अव्यय **'वा'** अर्थ में प्रयुक्त है। अहिंसा के जात्याद्यवच्छिन्नता के समान सत्यादि अन्य यमों की भी तथाकथित जात्यादिपरक सीमितताएँ ऊहनीय (कल्पित) हैं। भाष्यकार सूत्र के तात्पर्य को बताते हुए आगे कहते हैं–**'एभिरिति।'** अर्थात् जाति, देश, काल तथा समय से अनवच्छिन्न अहिंसादि यमों का ही सर्वथा पालन करना चाहिये। भाष्यकार **'सार्वभौम'** शब्द के अर्थ को बताते हैं–**'सर्वभूमिष्विति।'** **'सर्वभूमिषु'** पद का ही विवरण पद है–**'सर्वविषयेष्विति।'** **'विषय'** शब्द से पूर्वकथित जात्यादि का ग्रहण होता है। **'सर्वविषयेषु'** पद का भी विवरण पद है–**'सर्वथैवेत्यादि।'** अब पूरे वाक्य का अर्थ हुआ–समस्त भूमियों के सभी विषयों में सर्वप्रकार से ही व्यभिचाररहित जो 'अहिंसा' आदि हैं, वे ही **'सर्वभूमि'** में होने वाले **'महाव्रत'** इस नाम से अभिहित हैं।

शङ्का–यदि कुश, समिदा आदि के आहरण (संचय) काल में होने वाली सुनिश्चित हिंसा का भी परित्याग किया जाय तो साधनाभाव से नित्य कर्म (यज्ञादि) के अनुष्ठान में बाधा पहुँचेगी, फलतः प्रत्यवाय (पाप) की आपत्ति आयेगी?
समाधान–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि **'सर्वाणि भूतानि...जातवेदः'** (मोक्षधर्म २४५/२५) अर्थात् 'सभी प्राणी सुख में आनन्द का अनुभव करते हैं तथा दुःख में उद्विग्न होते हैं। उनके लिये संसार में जन्म लेना दुःख का कारण है। इसलिये तत्त्वज्ञानी लोग (संसारप्रदातृक) कर्म को नहीं करते हैं'–इत्यादि मोक्षधर्म के वाक्यों द्वारा **'जातवेदस्'** अर्थात् विवेकज्ञानप्राप्त कृपालु योगी को बाह्य कर्म के त्याग की आज्ञा प्राप्त होने से अयोगियों को ही बाह्य कर्म का परित्याग करने पर प्रत्यवाय बतलाया गया है। इसीलिये मन्वादि ऋषियों द्वारा योगरूप नित्यकर्म विहित है। जैसा कि मनुस्मृति में कहा गया है–**'एतानेके...जुह्वति'** (४/२२) अर्थात् 'शास्त्रज्ञाता कुछ गृहाश्रमी लोग इन यज्ञों को न करते हुए सर्वदा पञ्च ज्ञानेन्द्रियों में हवन करते हैं।' अत एव वशिष्ठ मुनि ने बाह्य तथा आभ्यन्तर कर्म में विकल्प (वरणस्वातन्त्र्य) कहा है–**"बाह्याभ्यन्तरं...यथाविधिः'** अर्थात् 'वैदिक कर्म दो प्रकार का है–बाह्य तथा आभ्यन्तर। इन दोनों प्रकार के कर्मों में से किसी एक कर्म को विधिपूर्वक नित्य करना चाहिये।' इन में से आभ्यन्तर कर्म हिंसारहित तथा एकाग्ररूप होने से श्रेष्ठ है। जैसा कि गीता आदि शास्त्रों में कहा गया है–**'श्रेयान्...परंतप'** (गीता ४/३३) अर्थात् 'हे अर्जुन! सांसारिक वस्तुओं से सिद्ध होने वाले यज्ञ से ज्ञानरूप यज्ञ सब प्रकार से श्रेष्ठ है।' किञ्च भाष्यकार भी आगे यह प्रतिपादित करेंगे कि वैधहिंसा (कर्मकाण्ड-परक हिंसा)पाप का जनक (हेतु) होती है। किन्तु शौचादि दैनन्दिन क्रियाओं में होने वाली अपरिहार्य हिंसा तथा आश्रमविहित हिंसा से अहिंसाव्रत खण्डित नहीं होता है, क्योंकि स्वाश्रमधर्म का पालन करने में सुसंगतता होने से वैशिष्ट्य है।३१॥

योगसूत्रम्

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥३२॥

शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान–ये 'नियम' (कहे जाते) हैं॥३२॥

व्यासभाष्यम्

तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि [1]च बाह्यम्। आभ्यन्तरं

---

1. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–च, ज–वा।

चित्तमलानामाक्षालनम्। सतोषः सन्निहित[1]साधनादधिकस्यानुपादित्सा। तपो द्वन्द्व-सहनम्। [2]द्वन्द्वश्च जिघत्सापिपासे शीतोष्णे स्थानासने काष्ठमौनाकारमौने च। व्रतानि चै[3]षां यथायोगं कृच्छ्रचान्द्रायण[4]सान्तपनादीनि। स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणा-मध्ययनं प्रणवजपो वा। ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्।

[5]शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी॥

यत्रेदमुक्तम्—ततः प्रत्यक्चेतना[6]धिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च इति॥३२॥

उनमें मिट्टी, जल आदि से होने वाली तथा मेध्य भोजन से होने वाली शुचिता को 'बाह्य शौच' कहते हैं। चित्त के मलों का प्रक्षालन 'आभ्यन्तर शौच' कहलाता है। लब्ध साधनों से अधिक साधनों के संग्रह की अनिच्छा को 'सन्तोष' कहते हैं। द्वन्द्वसहिष्णुता को 'तप' कहते हैं। द्वन्द्व हैं—भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, खड़े ही रहना-बैठे ही रहना, आकारमौन-काष्ठमौन आदि। और (शरीर की) अनुकूलता के अनुसार कृच्छ्र, चान्द्रायण तथा सान्तपन आदि (द्वन्द्वसहनप्रधान) व्रत हैं। मोक्षप्रतिपादक शास्त्रों का अध्ययन अथवा ओंकार का जप 'स्वाध्याय' है। परमगुरु के प्रति समस्त कर्मों का अर्पण करना 'ईश्वर- प्रणिधान' है। 'शय्या या आसन पर स्थित या फिर मार्ग पर चलते हुए आत्मनिष्ठ संशयादि वितर्कजालरहित तथा संसार के मूलकारण अज्ञान-नाश पर दृष्टि लगाया हुआ योगी अक्षय्य आनन्द का अनुभव करने वाला एवं नित्यमुक्त हो जाता है।' जिस 'ईश्वरप्रणिधान' के विषय में सूत्रकार ने कहा है—'उससे जीवात्मा के स्वरूप का बोध तथा विघ्नों का निराकरण होता है'॥३२॥

तत्त्ववैशारदी

शौचादिनियममाचष्टे—शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। व्याचष्टे—शौचमिति। आदिशब्देन गोमयादयो गृह्यन्ते। गोमूत्रयावकादि मेध्यम्। तस्याभ्यवहरणादि। आदिशब्दाद् ग्रासपरिमाणसंख्यानियमादयो ग्राह्याः। मेध्याभ्यवहरणादिजनितमिति वक्तव्ये मेध्याभ्यवहरणादि चेत्युक्तं कार्ये कारणोपचारात्।

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—साधनात्, ब—साधनाश्वासात्।
2. क ग छ त थ ध—द्वन्द्वाः, ख घ च ज झ द न प फ ब म य र—द्वन्द्वः, भ—द्वन्द्वम्।
3. क ख ग च छ ज झ त थ ध न ब भ म य—एषां, घ द प फ र—एव।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब म र—सान्त०, भ य—सान्ता०।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—शय्या०, ब—शाय्या०।
6. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र—अधिगमः, झ—अधिगमो।

सूत्रकार शौचादि नियम को बताते हैं—**'शौचेति'** भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—**'शौचमिति'** **'मृज्जलादिजनितं'** भाष्य में प्रयुक्त **'आदि'** शब्द से गोमय (गोबर) आदि का ग्रहण किया जाता है। गोमूत्र तथा यावकादि (जौ आदि) पदार्थ **'मेध्य'** अर्थात् पवित्र हैं। **'मेध्याऽभ्यवहरणादि'**—भाष्य में प्रयुक्त **'आदि'** शब्द से मेध्य पदार्थ के ग्रहणकाल में ग्रास का 'परिमाण' तथा उसकी 'संख्या' का नियमन (विधान) किया गया है। बाह्यशुचिता जैसे 'मृज्जलादिजनित' है वैसे ही 'मेध्याभ्यवहरणादिजनित' है। किन्तु भाष्यकार ने **'मेध्याभ्यवहरणादिजनितम्'** के स्थान पर **'मेध्याभ्यवहरणादि'** इतना ही कहा है। अर्थात् 'जनितम्' पद का प्रयोग नहीं किया है। इसका कारण यह है कि कार्य में कारण का उपचार किया गया है। अर्थात् मेध्यादि को बाह्यशौचरूप कार्य का कारण माना है (क्योंकि सांख्ययोगनय में कार्य-कारण का अभेद स्वीकार किया गया है)।

बालप्रिया—

'ग्रासपरिमाणसंख्यानियमादयः'—शास्त्र में इसके विषय में बतलाया गया है—**'कुक्कुटाण्डप्रमाणाऽष्टग्रासादिनियमः'** अर्थात् मुर्गी के अण्डे के परिमाण के बराबर आठ ग्रास सीमित पवित्र भोजन करना चाहिये।

'मृज्जलादिजनितं...बाह्यम्'—सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ इस प्रकार है—मिट्टी, जल तथा गोमय आदि से जन्य तथा कुक्कुटाण्डप्रमाणतुल्य आठ ग्रास में गोमूत्र, जौ आदि मेध्य पदार्थों के भक्षण से जन्य जो शुचिता होती है, उसे **'बाह्य शौच'** कहते हैं।

सम्प्रति, आभ्यन्तर-शौच तथा सन्तोषादि अन्य नियमों को स्पष्ट किया जा रहा है—

तत्त्ववैशारदी

चित्तमला मदमानासूयादयः। तदपनयो मनःशौचम्। प्राणयात्रामात्रहेतोरभ्यधिकस्यानुपादित्सा सन्तोषः। प्रागेव स्वीकरणपरित्यागादिति विशेषः। काष्ठमौनमिङ्गितेनापि स्वाभिप्रायाप्रकाशनम्। अवचनमात्रमाकारमौनम्। परिक्षीणवितर्कजाल इति। वितर्कौ वक्ष्यमाणः संशयविपर्ययौ चेति। एतावता शुद्धोऽभिसंधिरुक्तः। एते च यमनियमा विष्णुपुराणे उक्ताः—

> **ब्रह्मचर्यमहिंसां च सत्यास्तेयापरिग्रहान्।**
> **सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां स्वमनो नयन्॥**
> **स्वाध्यायशौचसंतोषतपांसि नियतात्मवान् ।**
> **कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन्प्रवणं मनः॥**
> **एते यमाः सनियमाः पञ्च पञ्च प्रकीर्तिताः।**
> **विशिष्टफलदाः काम्या निष्कामाणां विमुक्तिदाः॥इति॥३२॥**

मद (मदोन्मत्तता), मान (मिथ्याभिमान), असूया (ईर्ष्या) आदि (चित्त को मलिन करते हैं, अतः) 'चित्तमल' कहे जाते हैं। इन चित्तनिष्ठ मलों को प्रक्षालित करना 'मनःशौच'=आभ्यन्तरशौच कहलाता है। प्राणयात्रारूप जीवन-निर्वाह के लिये अपेक्षित साधनों से अधिक साधनों को संगृहीत करने की भावना न होना अर्थात् यदृच्छालाभ से सन्तुष्ट रहना 'सन्तोष' है। 'अपरिग्रह' व्रत में विषयों में अर्जनादि-दोषदर्शन से विषयस्वीकृति का निषेध तो पहले ही किया जा चुका है। किन्तु यहाँ मात्र जीवन-निर्वाह के लिये अत्यन्त आवश्यक किन्तु अत्यल्प साधनों का ग्रहण विहित है। यही 'अपरिग्रह' और 'सन्तोष' में अन्तर है। (हस्तादि) संकेतों से भी अपने मन के अभिप्राय को प्रकट न करना अर्थात् शरीर को काष्ठवत् क्रियाशून्य बना लेना 'काष्ठमौन' है। केवल वाणी से अपने मन के अभिप्राय को प्रकट न करना अर्थात् हस्तादि संकेतों से ही काम चलाना 'आकारमौन' है। वाचस्पति मिश्र 'ईश्वर-प्रणिधान' के प्रसंग में व्यासदेव द्वारा उद्धृत श्लोक के एक पद को उठाते हैं– 'परिक्षीणवितर्क- जाल इति।' यहाँ 'वितर्क' शब्द से वक्ष्यमाण (२/३४) हिंसादि, संशय और विपर्यय का ग्रहण होता है। इस उद्धृत श्लोक के द्वारा ईश्वरप्रणिधान के शुद्ध अभिप्रेत अर्थ को बताया गया है। ये यम और नियम विष्णुपुराण में उक्त हैं– 'ब्रह्मचर्यमहिंसा... मुक्तिदाः' अर्थात् 'योगी को चाहिये कि वह अपने चित्त को ब्रह्म-चिन्तन के योग्य बनाता हुआ ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह का निष्कामभाव से सेवन करे। संयत चित्त से स्वाध्याय, शौच, सन्तोष और तप का आचरण करे तथा मन को निरन्तर परब्रह्म में लगाता रहे। इस प्रकार ये पाँच-पाँच यम और नियम बतलाये गये हैं। सकाम आचरण करने से ये पृथक्-पृथक् फलों को प्रदान करते हैं और निष्कामभाव से सेवन करने सें ये मोक्ष को दिलाने वाले होते हैं'॥३२॥

योगवार्त्तिकम्

यमान् व्याख्याय नियमान् व्याचष्टे–शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। स्थूलशरीरस्यैव बाह्यान्तररूपेणादौ द्विविधं बाह्यशौचं दर्शयति–मृज्जलेति। मेध्यं गोमूत्रयवाग्वादि, तेषां भक्षणं मेध्याभ्यवहरणम्। आदि[1]शब्दादुपवासादयो ग्राह्याः। मानसमपि शौचमाह–आभ्यन्तरमिति। सत्त्वस्वभावस्य चित्तस्य मला रागद्वेषादयस्तेषां मैत्र्यादिना प्रक्षालनं प्रसाद इति प्रागुक्तमित्यर्थः। सन्तोषं व्याचष्टे–सन्निहितेति। अत्यावश्यकप्राणयात्रा-निर्वाहकविद्यमानसाधनादतिरिक्तस्यालिप्सेत्यर्थः। द्वन्द्वसहिष्णुतेति। शास्त्रोक्तरीत्या निर्द्वेषं द्वन्द्वसेवनमित्यर्थः। [2]द्वन्द्वान्याह–जिघत्सेति। जिघत्सा=बुभुक्षा। यद्यपि शीतोष्णादिवत्परस्पर-

---

1. क ख ग घ–शब्देन, च छ–शब्दात्।
2. क घ च छ–द्वन्द्वानि, ख ग–द्वन्द्वान्।

विरुद्धत्वं बुभुक्षापिपासयोर्नास्ति तथाऽपि मिथुनवदेव पारिभाषिकद्वन्द्वता। स्थानमूर्ध्वावस्थानम्, आसनं चोपवेशनम्, काष्ठमौनमिङ्गितेनापि स्वाभिप्रायाप्रकाशनम्, आकारमौनं त्ववचनमात्रम्। एतानि शास्त्रोक्तव्रतेनैव सोढव्यानि न तु वृथेत्याशयेनाह–व्रतानि चैषामिति। स्वाध्यायव्याख्या सुकरा। तज्जपस्तदर्थभावनमितिप्रथमपादोक्तप्रणिधानव्यावृत्त्यर्थं द्वितीयपादाद्यसूत्र[1]वाक्यार्थमेव प्रणिधानशब्दार्थं स्मारयति–तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणमिति। एतच्च तत्रैव व्याख्यातम्। नन्वेवं तदर्थभावन[2]रूपमेव प्रणिधानमर्थो भवतु? न, बहिरङ्गताया वक्ष्यमाणत्वात्, ईश्वरभावनं हि ध्यानरूपतया योगस्यान्तरङ्गमेव अङ्गमिति त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्य इतिवक्ष्यमाणसूत्रात् सर्वकर्मार्पणमेव मुख्यतो ध्येयं न त्वीश्वरतत्त्वम्, कुर्यात् कर्म संन्यासचिन्तनमिति योगि[3]याज्ञवल्क्यवाक्यात्,

नाहं कर्त्ता सर्वमेतन्मनसा कुरुते तथा।
एतद् ब्रह्मार्पणं प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥

इति कौर्माच्च। ईश्वरस्तु सामान्यतस्तद्विशेषणतामात्रेण कर्तृत्वारोपेण च ध्येय इत्यतो युक्ता तस्य योगबहिरङ्गतेति। तदेवं सूत्रगणोक्ता यमनियमा विष्णुपुराणादिष्वपि [4]दर्शिताः–

ब्रह्मचर्यमहिंसां च सत्यास्तेयापरिग्रहान्।
सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां मनसो नयन्॥
स्वाध्यायशौचसंतोषतपांसि [5]नियतात्मवान्।
कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन्प्रवणं मनः॥ इत्यादिभिः।

अहिंसादि यम की व्याख्या करके शौचादि नियमों का वर्णन किया जा रहा है– 'शौचेति।' स्थूल शरीर के ही बाह्य और आभ्यन्तर रूप दो प्रकार के शौचों में से सर्वप्रथम 'बाह्य शौच' को भाष्यकार दिखलाते हैं–'मृज्जलेति।' गोमूत्र, यवागू आदि को 'मेध्य' कहते हैं और उनके भक्षण को 'मेध्याभ्यवहरण' कहते हैं। यहाँ 'आदि' शब्द से उपवासादि का संग्रह किया गया है। शब्दान्तर में गोमूत्र, यवागूभक्षण एवं उपवासादि से शारीरिक शुचिता को सम्पादित किया जाता है। भाष्यकार 'मानस शौच' को भी बताते हैं–'आभ्यन्तरमिति।' सत्त्वगुणप्रधान चित्त के राग, द्वेषादि मल हैं। मैत्र्यादि की भावना से चित्तसम्बन्धी रागादि मलों का अपसारण 'प्रसादन' कहलाता है, ऐसा पूर्वकथित है। भाष्यकार 'सन्तोष' का लक्षण करते हैं–'सन्निहितेति।' जीवनयात्रा के निर्वाहार्थ अत्यावश्यक मूलभूत साधनों से अतिरिक्त पदार्थविषयिणी अनिच्छा को

---

1. क च छ–वाक्यार्थं, ख ग घ–व्याख्यातम्।
2. क ख घ च छ–रूपं उपलभ्यते, ग–रूपं नोपलभ्यते।
3. क घ च छ–याज्ञवल्क्यवाक्यात्, ख ग–याज्ञवल्क्यात्।
4. क ग घ च छ–दर्शिताः, ख–प्रदर्शिताः।
5. क ग घ च छ–नियत०, ख–नियम०।

'सन्तोष' कहते हैं। वार्त्तिककार 'तप' की वैयासिकी पंक्ति को उठाते हैं–'**द्वन्द्वसहिष्णुतेति**।' शास्त्रसम्मत पद्धति से अत्यधिक आनन्दपूर्वक अर्थात् द्वेषशून्य होकर द्वन्द्वों का सेवन करना 'तप' है। भाष्यकार द्वन्द्वों को बताते हैं–'**जिघत्सेति**।' '**जिघत्सा**' शब्द का अर्थ 'बुभुक्षा' (खाने की इच्छा) है। यद्यपि शीतोष्णादि की भाँति बुभुक्षा-पिपासा में परस्पर विरुद्ध स्थिति नहीं है, तथापि शब्द-युगल की भाँति उनमें पारिभाषिक द्वन्द्वता है। अर्थात् शीतोष्णादि (ज्ञानाज्ञान, अन्धकार-प्रकाश, उठना- बैठना) की शब्दयुगलता की भाँति बुभुक्षा-पिपासा की शब्दयुग्मता परिदृष्ट होती है। '**स्थान**' शब्द का अर्थ ऊपर की ओर स्थित होना अर्थात् खड़े होना है तथा '**आसन**' शब्द का अर्थ उपवेशन अर्थात् बैठना है। संकेत से भी अपने अभिप्राय को प्रकट न होने देना '**काष्ठमौन**' कहलाता है तथा वाणी से अभिप्राय को व्यक्त न होने देना अर्थात् केवल संकेत से मन्तव्याभिव्यक्तीकरण को '**आकारमौन**' कहते हैं। ये शीतोष्णादि द्वन्द्व शास्त्र में प्रतिपादित व्रत के अनुसार ही सहन करने योग्य होते हैं अर्थात् व्यर्थ में यथेष्ट द्वन्द्व-तीव्रता सह्य नहीं है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं–'**व्रतानि चैषामिति**।' अर्थात् इन द्वन्द्वों को सहन करने के लिये कृच्छ्र, चान्द्रायण तथा सान्तपन आदि व्रत विहित हैं। '**स्वाध्याय**' नियम की व्याख्या आसान है। '**तज्जपस्तदर्थभावनम्**' सूत्र द्वारा प्रथम पाद में प्रतिपादित प्रणिधान से इसको व्यावृत्त करने के लिये भाष्यकार द्वितीय पाद के प्रथम सूत्र में कहे हुए '**प्रणिधान**' शब्द के अर्थ का ही स्मरण करते हैं–'**तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणमिति**।' इसकी व्याख्या '**क्रियायोग**' के प्रसङ्ग में की जा चुकी है।

शङ्का–तो फिर यहाँ '**ईश्वरप्रणिधान**' का '**तदर्थभावनरूप**' अर्थ ही माना जाय?

समाधान–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यहाँ ईश्वरप्रणिधान बहिरंगसाधन के रूप से वक्ष्यमाण है और ईश्वरचिन्तन तो ध्यानरूप होने से योग का अन्तरङ्गसाधन ही है, क्योंकि ध्यान का अन्तरङ्गसाधनत्वप्रतिपादक वक्ष्यमाण '**त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः** (३/७) सूत्र है। यहाँ पर तो सभी प्रकार के कर्मों का समर्पण ही मुख्य रूप से अभिप्रेत है, न कि ईश्वरतत्त्व। जैसा कि योगियाज्ञवल्क्य के '**कुर्यात् कर्म संन्यासचिन्तनम्**' (९/३३) वाक्य से तथा कूर्मपुराण के '**नाहं कर्त्ता...तत्त्वदर्शिभिः**' (३/१६) वाक्य द्वारा कर्मफल-त्याग की भावना से कर्म करने को कहा गया है। कौर्मवाक्य का अर्थ है–'मन से मैं जो कुछ भी कर्म करता हूँ, उन सबका कर्त्ता मैं नहीं हूँ। तत्त्वदर्शी ऋषियों ने इसे ही ब्रह्मार्पण कहा है।' ईश्वर तो सामान्यरूप से ध्यान का विषयमात्र होने से तथा उसमें कर्तृत्वारोप होने से वह ध्येयरूप है। अतः ईश्वर की योगबहिरङ्गता युक्तियुक्त है। इस प्रकार पतञ्जलि के एकाधिक सूत्रसमूह द्वारा प्रतिपादित (योग के अङ्गभूत) यम और नियम विष्णुपुराणादि शास्त्रों में भी प्रदर्शित किये गये हैं–'**ब्रह्मचर्यम-**

हिंसा...प्रवणं मनः' (६/७/३६) अर्थात् 'योगी को चाहिये कि वह अपने चित्त को ब्रह्म-चिन्तन के योग्य बनाता हुआ ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह का निष्कामभाव से सेवन करे। संयत चित्त में स्वाध्याय, शौच, सन्तोष और तप का आचरण करे तथा मन को निरन्तर परब्रह्म में लगाता रहे।'

सम्प्रति, यम और नियम के दस भेदों में 'ईश्वरप्रणिधान' का वैशिष्ट्य प्रतिपादित किया जा रहा है—

योगवार्त्तिकम्

एतेषु दशसु मध्य ईश्वरप्रणिधानस्य मुख्यतो योगाङ्गत्वमिति प्रतिपादनाय निर्विघ्न-परमात्मयोगहेतुत्वं तस्याह श्लोकेन—शय्यासनेति। ईश्वर[1]प्रणिधानी तदनुग्रहात्सदैव योगयुक्तः स्यादिति [2]श्लोकार्थः। स्वस्थः=परमात्मनिष्ठः, परमात्मार्पितकर्मणां मुख्यतस्तद्योगस्यैव [3]कल्पनौचित्यात्। वितर्कजालो यो वक्ष्यमाणः स वक्ष्यमाणप्रतिपक्षभावनां विनाऽपि परिक्षीणो यस्य स तथा। संसारबीजानां संस्कारादीनां क्षयमनुदिनमुपलभमानः तथाऽमृत- भोग[4]भागी त्यागी[5] चेन्मुक्तिसुखानुभवितेत्येवंभूतो नित्यमुक्तः स्यादित्यर्थः। न केवल- मी[6]श्वरेऽर्पितकर्मण ऐश्वरयोग एव भवति, अपि त्वीश्वरसाक्षात्कारद्वारा पूर्णत्वादिना जीवतत्त्वसाक्षात्कारोऽपी-त्युक्तमेव स्मारयति—यत्रेदमुक्तमिति। यत्रेश्वरयोगे।

पूर्वप्रतिपादित यम और नियम के मध्य में ईश्वरप्रणिधान योग का मुख्य अङ्ग है, यह सुनिश्चित करने के लिये भाष्यकार निम्नाङ्कित श्लोक द्वारा ईश्वरप्रणिधान को परमात्मयोग का निर्विघ्न (निरापद) साधन बताते हैं—'शय्यासनेति।' 'ईश्वर-प्रणिधानी' अर्थात् कर्मफलत्यागी भक्त ईश्वर की कृपा से सर्वदा ही योगयुक्त होवे, यह श्लोकाभिप्राय है। श्लोक में 'स्वस्थः' पद का अर्थ है—परमात्मनिष्ठ। क्योंकि जिन्होंने अपने समस्त कर्मों को ईश्वर में समर्पित कर दिया है, ऐसे ईश्वर-प्रणिधानपरायणों को उससे होने वाली योग-प्राप्ति की कल्पना करना उचित है। जिसका वक्ष्यमाण वितर्कजाल वक्ष्यमाण प्रतिपक्ष की भावना के विना भी क्षीण हो चुका है, उस ईश्वरप्रणिधानी को 'परिक्षीणवितर्कजाल' वाला कहा गया है। परिक्षीण-वितर्कजाल वाला ऐसा योगी यदि संसार के बीजभूत संस्कारादि के क्षय (नाश) का अनुदिन अर्थात् प्रत्येक दिन अनुभव करता हुआ 'अमृतभोगभागी' अर्थात् त्यागी

---

1. क ख घ च छ—प्रणिधानी, ग—प्रणिधानात्।
2. ख ग—वाक्य० (श्लोक०—पश्चात्) उपलभ्यते, क घ च छ—वाक्य० नोपलभ्यते।
3. क घ च छ—कल्पना०, ख ग—फलत्व०।
4. क ख ग घ छ—भागी, च—भोगी।
5. क घ च छ—त्यागी, ख ग—जीवन्मुक्तिः।
6. क घ च छ—ईश्वरे, ख ग—ईश्वरः।

बने तो जीवन्मुक्ति के विलक्षण सुख का अनुभव करता हुआ वह नित्यमुक्त (विदेहमुक्त) हो जाता है। ईश्वर में समस्त कर्मों के अर्पणमात्र से ही 'ऐश्वर्ययोग' की प्राप्ति नहीं होती है, अपितु ईश्वर का साक्षात्कार करके पूर्णत्वादि धर्मों से जीवतत्त्व का साक्षात्कार करना भी आवश्यक रहता है, इस पूर्वकथित तथ्य का भाष्यकार स्मरण करते हैं—'यत्रेदमुक्तमिति।' 'यत्र' शब्द का अर्थ 'ईश्वरयोग' है अर्थात् 'ईश्वरयोग' के विषय में भी ऐसा कहा गया है—'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' (२/२९)।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार शंकोपस्थापनपूर्वक यम तथा नियम के पाँच-पाँच भेदों को ही निर्धारित करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

ननु यमनियमयोर्मध्ये यज्ञ[1]दानावचनान्न्यूनतेति चेत्? न—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

इत्यादिवाक्येभ्योऽत्रानुक्तकर्मणां तपस्येवान्तर्भावात्। एवं योगिनामन्तर्यागाभयदानादेरपि तपस्येवान्तर्भावः, देवब्राह्मणा[2]र्थहिंसाया अपि त्याज्यत्ववचनेन च प्रकृष्टयोगिनां बाह्यकर्मणाम् अभावसिद्धिरिति। तदेवं यमाः पञ्च नियमाश्च पञ्च सर्वस्मृतिसिद्धाः प्रोक्ताः।

शङ्का—यम तथा नियम संज्ञक योगाङ्गों के मध्य यज्ञ, दान आदि को परिगणित न करने से सूत्रकार की न्यूनता प्रतीत होती है?

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि 'देवद्विज...तप उच्यते' (गीता १७/१४) अर्थात् 'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ब्रह्मज्ञानियों की पूजा, बाहर और भीतर की शुद्धि, कर्त्तव्य कर्म में एवं साधुजनों के विषय में सर्वत्र मन, वचन और देह के व्यापारों की एकरूपता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह 'शारीर तप' कहलाता है', इत्यादि श्रुतिवाक्यों के अनुरोध से प्रकृत प्रकरण में अकथित कर्मों का भी तप में ही अन्तर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार योगियों के अन्तर्याग, अभयदानादि का भी 'तप' में ही अन्तर्भाव हो जाता है तथा देवब्राह्मण के निमित्त भी हिंसा का प्रतिषेध उक्त होने से उत्कृष्ट अवस्था वाले योगियों के बाह्य कर्म का अभाव सिद्ध होता है। अतः निखिल स्मृतिसिद्ध यम और नियम के पाँच-पाँच भेद कहे गये हैं।

सम्प्रति, वार्त्तिककार यम और नियम के मूलभूत अन्तर को स्पष्ट करते हैं—

---

1. ख ग—आदि० (दान०--पश्चात्) उपलभ्यते, क घ च छ—आदि० नोपलभ्यते।
2. क ख घ च छ—अर्थ० उपलभ्यते, ग—अर्थ० नोपलभ्यते।

योगवार्त्तिकम्

तत्र यमानामभावरूपतया कालाद्यनवच्छिन्नत्वसम्भवात् सार्वभौमत्वमुक्तम्, नियमानां तु प्रतिनियत[1]देशकालावच्छिन्नतया न सार्वभौमत्वं सम्भवत्यतो नात्र महाव्रतरूपो विशेष उक्त इति। यथोक्तयोश्च यमनियमयोर्मध्ये निवृत्तिरूपतया शक्यसम्पादनत्वेन यमा एव परमहंसानामावश्यकाः, जडभरतादीनामप्यहिंसापालनस्य विष्णुपुराणादौ स्मरणात्, न तु नियमाः, प्रवृत्तिरूपतया योगान्तरायत्वात्। तदुक्तं भागवते–

यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान् मत्परः क्वचित्॥ इति॥३२॥

अहिंसादि यमाङ्गों के अभावरूप (निवृत्तिपरक) होने से इनमें कालादि का अनवच्छिन्नत्व सम्भव है। इसलिये जाति, देश, काल तथा समय की दृष्टि से इनमें सीमितता न होने के कारण इनका 'सार्वभौमत्व' (सभी अवस्थाओं में अव्यभिचरित रहना) कथित है, किन्तु शौचादि नियमाङ्गों में प्रतिनयत कालावच्छिन्नता होने से उनमें 'सार्वभौमत्व' सम्भव नहीं है। अतः नियम में (यम की भाँति) 'महाव्रत' रूप वैशिष्ट्य नहीं कहा गया है। उपरिवर्णित यम और नियम में से निवृत्तिरूप से जिनका सम्पादन शक्य है, ऐसे अहिंसादि ही परमहंस योगियों के लिये आवश्यक रहते हैं। इसीलिये विष्णुपुराणादि में जडभरत आदियों का भी अहिंसा-परिपालन ही सुनाई पड़ता है, न कि नियम का परिपालन, क्योंकि प्रवृत्तिरूप होने से शौचादि नियम योग के विघ्नस्वरूप ही हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवत में कहा गया है– 'यमान्...क्वचित्' (११/१०/५) अर्थात् 'मेरा भक्त अहिंसादि यमों का निरन्तर पालन करे और नियमों का भी यथाशक्ति पालन करे'॥३२॥

सम्प्रति, भाष्यकार अगले सूत्र को अवतरित करते हैं–

व्यासभाष्यम्

[2]एतेषां यमनियमानाम्–

पूर्वोल्लिखित इन यम और नियमों के–

योगसूत्रम्

[3]वितर्क[4]बाधने प्रतिपक्षभावनम्॥३३॥

वितर्कों से बाधित होने पर (वितर्कों के) विरोधी (विचारों)

---

1. ख ग–देश० उपलभ्यते, क घ च छ–देश० नोपलभ्यते।
2. क ग–एतेषां यमनियमानाम् २/३२ सूत्रस्य टीका, ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–एतेषां यमनियमानाम् २/३३ सूत्रस्य अवतरणिका।
3. सति–सूत्रस्य प्रागुपलभ्यते।
4. साधने–इति पाठान्तरम्।

की भावना करनी चाहिये॥३३॥

व्यासभाष्यम्

यदास्य ब्राह्मणस्य हिंसादयो वितर्का जायेरन्हनिष्याम्यहमपकारिणमनृतमपि वक्ष्यामि, द्रव्यमप्यस्य स्वीकरिष्यामि, दारेषु चास्य व्यवायी भविष्यामि, परिग्रहेषु चास्य स्वामी भविष्यामीति। एवमुन्मार्गप्रवणवितर्कज्वरेणातिदीप्तेन बाध्यमानस्तत्प्रतिपक्षान् भावयेत्–घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया शरणमुपागतः सर्वभूताभयप्रदानेन योगधर्मः। स खल्वहं त्यक्त्वा वितर्कान् [1]पुनस्तानाददानस्तुल्यः श्ववृत्तेनेति भावयेत्। यथा श्वा वान्तावलेही तथा त्यक्तस्य पुनराददान इत्येवमादि [2]सूत्रान्तरेष्वपि योज्यम्॥३३॥

जब इस ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासु) के (चित्त में) हिंसादि वितर्क (इस प्रकार से) उत्पन्न हों कि 'मैं अपने इस अपकारी का अवश्य वध करूँगा, झूठ भी बोलूँगा, इसका धन भी छीन लूँगा, इसकी स्त्री के साथ दुराचार भी करूँगा और इसके एकत्रित धन का मैं स्वामी भी बनूँगा'–इस प्रकार के अति उग्र, कुमार्ग की तरफ ले जाने वाले वितर्करूप ज्वर से पीड़ित होते हुए योगी को (हिंसादि में प्रवृत्त न होकर) इनके विरोधी विचारों की भावना इस प्रकार करनी चाहिये–'अतिभयंकर इस संसाररूप अंगारों में जलते हुए मैंने सम्पूर्ण जीवों को अभयप्रदान करने के लिये (अहिंसा, सत्यादिरूप) योगधर्म की शरण ली है। वही मैं अहिंसादिरूप योगधर्म का परित्याग कर योग के विरोधी उन्हीं हिंसादिरूप वितर्कों को पुनः ग्रहण कर कुत्तों जैसा आचरण करने वाला बन जाऊँगा'–ऐसी भावना करे। जैसे कुत्ता स्वयं वमन कर उसे फिर चाट लेता है, वैसे ही हिंसादिरूप वितर्कों का त्याग करके पुनः उन्हें ग्रहण करने वाला पुरुष भी कुत्ता जैसा ही आचरण वाला होता है। इस प्रकार अष्टाङ्गयोग के अन्य आसनादि योगाङ्गों में भी वितर्क की बाधा आने पर प्रतिपक्षचिन्तन करना चाहिये॥३३॥

तत्त्ववैशारदी

श्रेयांसि बहुविघ्नानि इत्येषामपवादसंभवे तत्प्रतीकारोपदेशपरं सूत्रमवतारयति–एतेषां यमनियमानामिति। सूत्रम्–वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्। [3]वितर्काणां भाष्ये नास्ति तिरोहितमिव किञ्चन॥३३॥

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–पुनः, ब–पुनः पुनः।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म प र–सूत्रान्तरेषु, ब–सूत्रान्तरे।
3. क थ द ध–वितर्काणाम् उपलभ्यते, ख ग घ च छ ज झ त न–वितर्काणां नोपलभ्यते।

'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' अर्थात् 'मंगलकारी कार्य अनेक विघ्नों से युक्त होते हैं'–इस वचन के अनुसार अहिंसादि का अनुष्ठान करते समय हिंसादि अपवाद सम्भावित होने के कारण (अर्थात् अहिंसादि व्रतों का अभ्यास करते समय विषम परिस्थिति में तद्विपरीत हिंसादि भावनाएँ व्रती को उद्वेलित करती हैं, इसलिये) वितर्क के प्रतिकारार्थ तदुपदेशपरक सूत्र को भाष्यकार अवतरित करते हैं–**'एतेषां यमनियमाना- मिति'** सूत्र है–**'वितर्केति'** प्रस्तुत सूत्र के भाष्य का कोई भी अंश अस्पष्ट नहीं है॥३३॥

बालप्रिया–

'वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्'– सूत्र के साथ **'एतेषां यमनियमानाम्'** भाष्यांश का अन्वय कर सूत्रार्थ इस प्रकार होता है–अहिंसादि से विपरीत तर्क अर्थात् विचार को **'वितर्क'** कहते हैं। जैसे 'मैं इस अपकारी को अवश्य जान से मार डालूँगा'– इत्याकारक हननादिभावना या हननादि व्यवसाय को **'वितर्क'** कहते हैं। इस प्रकार की हिंसादि विपरीतभावना के द्वारा अहिंसादि यमादियों के परिपालन से प्राप्त आत्मबल शिथिल (बाधायुक्त) होने लगता है। ऐसी विषम परिस्थिति में यमादि के अभ्यासी को वितर्कचिन्तन में 'दुःखादिफलकत्वरूप हेयत्व' का दर्शन कर शास्त्र-विहित यमादि को सम्पादित करने में पूर्ववत् आस्था बनाये रखनी चाहिये। क्योंकि वितर्कभावन से खण्डित योगाङ्गानुष्ठान निष्फल रहता है।

'व्यवायी'–ग्राम्यधर्माचरणशील अर्थात् गर्हित आचरण करने वाले व्यक्ति को **'व्यवायी'** कहते हैं।

'सूत्रान्तरेष्वपि योज्यम्'–भाव यह है कि यम की भाँति नियमादि अन्य साधनों का अभ्यास करते समय भी तद्विपरीत भावना अभ्यासी के चित्त को उद्वेलित कर सकती है और वह नियमादि के अभ्यास से पराङ्मुख हो सकता है। अतः किसी भी प्रकार की शास्त्रविरुद्ध भावना को प्रतिपक्षचिन्तन अर्थात् दोषदर्शन द्वारा मन से दूर हटाना चाहिये। उदाहरणार्थ 'मैं शौचव्रत का परित्याग करूँगा'–इत्याकारक वितर्कबाधा को इस प्रकार के प्रतिपक्षचिन्तन द्वारा दूर करना चाहिये कि 'अशौचादि अज्ञानादि फल वाले होने से परित्याज्य हैं।' यही **'सूत्रान्तरेष्वपि योज्यम्'** की गूढार्थाभिसन्धि है॥३३॥

योगवार्त्तिकम्

उक्तेषु यमनियमेषु वक्ष्यमाणविघ्नस्य निवृत्त्युपायप्रतिपादकं सूत्रं पूरयित्वाऽवतारयति–एतेषां यमनियमानामिति। वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्। वक्ष्यमाणवितर्कैर्यमादिबाधने सति वक्ष्यमाणं प्रतिपक्षभावनं कुर्यादित्यर्थः।

उपरिवर्णित यम-नियम के परिपालन में वक्ष्यमाण विघ्न की निवृत्ति के उपाय के निरूपक सूत्र को पूरक अंश के साथ जोड़कर भाष्यकार अवतरित करते हैं– **'एतेषां यमनियमानामिति।'** यह पूरक अंश है। सूत्र है–**'वितर्केति।'** आगे बताये जाने वाले वितर्कों से यमादि के बाधित होने पर अर्थात् यमादि के अनुष्ठानकाल में उनके प्रति वैयर्थ्य-भावना के बलवती होने पर वक्ष्यमाण प्रतिपक्षभावन करे अर्थात् प्रतिपक्ष-भावन से तात्कालिक यमाद्यनुष्ठानविषयिणी मन्दता को दूर करे।

बालप्रिया–

'एतेषां यमनियमानाम्'–मिश्र-भिक्षु-मतभेद–वाचस्पति मिश्र **'एतेषां यमनियमानाम्'** इत्यंश को सूत्र की अवतरणिका मानते हैं जब कि भिक्षु ने तथाकथित वैयासिक भाष्यांश को सूत्र का पूरक अंश माना है।

सम्प्रति विज्ञानभिक्षु प्रकृत सूत्र के भाष्य पर वार्त्तिक लिखते हैं–

योगवार्त्तिकम्

तदेतद्व्याचष्टे–यदाऽस्येति। विपरीतास्तर्का विचारा येष्विति वितर्कसंज्ञा हिंसाऽऽदिषु तान्त्रिकी। तर्कश्चात्र विशेषणम्। तथा च वितर्क्यमाणो हिंसाऽऽदिर्वितर्कः, तेन बाधने स्वाभिमुखीकरणे प्रतिपक्षभावनम् उत्तरसूत्रवक्ष्यमाणं कुर्यादित्यर्थः।

भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं–**'यदाऽस्येति।' 'विपरीतास्तर्का विचारा येष्विति'**– इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिनके विषय में विपरीत चिन्तन किया जाता है, उनकी **'वितर्कसंज्ञा'** है। हिंसादियों के विषय में यह **'वितर्क'** संज्ञा तान्त्रिकी (पारिभाषिकी) है। **'तर्क'** यह हिंसादियों का विशेषणपरक शब्द है। इस प्रकार वितर्क्यमाण हिंसादि को **'वितर्क'** कहते हैं। इन हिंसादि वितर्कों से अहिंसादि का बाधन=स्वाभिमुखीकरण (प्रतिपक्षत्व) होने पर अर्थात् अहिंसादि का हिंसादि से सामना होने पर साधक को आगामी सूत्र में प्रतिपादित **'प्रतिपक्षभावन'** अर्थात् विरुद्धचिन्तन करना चाहिये।

सम्प्रति, वार्त्तिककार हिंसादि के विषय में **'वितर्क'** का स्वरूप बताते हैं–

योगवार्त्तिकम्

विपरीततर्कस्याकारमाह–हनिष्यामीत्यादिना इतीत्यन्तेन। एवं नियमपञ्चकेऽपि त्यक्ष्याम्यहं शौचमित्यादयो वितर्काः [1]द्रष्टव्याः, युक्तिसाम्यात्। सूत्रतात्पर्यार्थमाह–एवमिति। एवमुन्मार्गाभिमुखेन हिंसाऽऽदिगतेन वितर्कज्वरेण ज्वलितेन बाध्यमानो योगी वितर्कविरोधि-ज्ञानविषयतया वितर्कप्रतिपक्षान् दुःखादिफलकत्वादीन् भावयेत् चिन्तयेद् इत्यर्थः। प्रतिपक्ष-भावनं व्याचष्टे–घोरेष्वित्यादिना भावयेदित्यन्तेन। वितर्कान् हिंसाऽऽदीन्। अत्र दुःख-फलत्वचिन्तनं वाक्यतात्पर्यार्थः। तुल्यत्वमेव विवृणोति–यथेति। एवमादीति। वितर्कबाधने

---

1. क ग घ च छ–द्रष्टव्याः, ख–एष्टव्याः।

प्रतिपक्षभावनमित्येवमादिकं सूत्रान्तरेषु=आसनप्राणायामसूत्रेष्वपि योजनीयम्। आदिशब्देनास्य सूत्रस्य व्याख्या, उत्तरसूत्रं च ग्राह्यम्। आसनादिषु च वितर्का आसनादिकं त्यक्ष्य-इत्यादिरूपा इति [1]शेषः॥३३॥

भाष्यकार विपरीत तर्क का स्वरूप (आकार) निर्धारित करते हैं–**'हनिष्यामीत्यादिना इतीत्यन्तेन।'** अहिंसादि यम के विषय में होने वाले वितर्क की भाँति शौचादि नियमपञ्चक के विषय में भी **'त्यक्ष्याम्यहं शौचम्'** अर्थात् मैं शौच का परित्याग कर दूँगा'–इत्यादि वितर्क होना सम्भव है, क्योंकि दोनों में युक्तिसाम्य है। भाष्यकार सूत्र के तात्पर्य को समझाते हैं–**'एवमिति।'** इस प्रकार हिंसादिरूप कुमार्ग में प्रवृत्त होने से वितर्कात्मक ज्वर से सन्तप्त होते हुए योगी को वितर्कविरोधी ज्ञान के विषय में दुःखादिफल वाले वितर्कात्मक प्रतिपक्षों का चिन्तन करना चाहिये। भाष्यकार प्रतिपक्षभावन का स्वरूप बताते हैं–**'घोरेष्वित्यादिना भावयेदित्यन्तेन।'** **'वितर्क'** शब्द से हिंसादियों को लिया गया है। प्रतिपक्षभावन के स्वरूपप्रतिपादक वाक्य का तात्पर्य यह है–हिंसादि वितर्कों में दुःखफलकत्व का चिन्तन करना। भाष्यकार परित्यक्त हिंसादि वितर्कों के पुनर्ग्रहण में कुक्कुरवृत्ति की तुल्यता को वर्णित करते हैं–**'यथेति।'** भाष्यार्थ पीछे द्रष्टव्य है। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–**'एवमादीति।'** वर्तमान **'वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्'** सूत्र को आसन, प्राणायामादि के सूत्रों में भी संयोजित करना चाहिये। **'एवमादि'** में प्रयुक्त **'आदि'** शब्द से प्रकृत सूत्र की वैयासिकी व्याख्या तथा अग्रिम सूत्र के प्रतिपाद्य विषय को आसन, प्राणायामादि योगाङ्गों में अध्याहृत समझना चाहिये। आसनादि योगाङ्गों में वितर्क का स्वरूप इस प्रकार है–**'आसनादिकं त्यक्ष्य'** अर्थात् 'आसनादि योगाङ्गानुष्ठान को छोड़ दो' इत्यादि॥३३॥

वैयासिकी उपस्थानिका के विना अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है–

योगसूत्रम्

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभ[2]क्रोधमोह[3]पूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्॥३४॥

कृत, कारित और अनुमोदित; लोभ, क्रोध और मोहपूर्वक तथा मृदु, मध्य और अधिमात्र वाले हिंसादि वितर्क दुःख एवं

---

1. क घ च छ–शेषः, ख ग–विशेषः।
2. मोहक्रोध–इतिं पाठान्तरम्।
3. पूर्विका–इति पाठान्तरम्।

अज्ञानरूपी अनन्त फल देने वाले हैं—इत्याकारक वितर्कनाशक चिन्तन ('प्रतिपक्षभावन') करना चाहिये॥३४॥

व्यासभाष्यम्

तत्र हिंसा तावत्—कृता कारितानुमोदितेति त्रिधा। एकैका पुनस्त्रिधा—लोभेन मांसचर्मार्थेन, क्रोधेनापकृतमनेनेति, मोहेन धर्मो मे भविष्यतीति। लोभक्रोधमोहाः पुनस्त्रिविधा मृदुमध्याधिमात्रा इति। एवं सप्तविंशतिर्भेदा भवन्ति हिंसायाः। मृदुमध्याधिमात्राः पुन[1]स्त्रिविधाः—मृदुमृदुर्मध्यमृदुस्तीव्रमृदुरिति। तथा मृदुमध्यो मध्यमध्यस्तीव्रमध्य इति। तथा मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति। एवमेकाशीतिभेदा [2]हिंसा भवति। सा पुनर्नियमविकल्पसमुच्चयभेदादसंख्येया, प्राणभृद्[3]भेदस्यापरिसंख्येयत्वादिति। एवमनृतादिष्वपि योज्यम्। ते खल्वमी वितर्का दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्, दुःखमज्ञानं चानन्तं फलं येषामिति प्रतिपक्षभावनम्। तथा च हिंसक[4]स्तावत्प्रथमं वध्यस्य वीर्यमाक्षिपति, ततश्च शस्त्रादिनिपातेन दुःखयति, ततो जीवितादपि मोचयति, ततो वीर्याक्षेपादस्य चेतनाचेतनमुपकरणं क्षीणवीर्यं भवति, दुःखोत्पादान्नरकतिर्यक्प्रेतादिषु दुःखमनुभवति, जीवितव्यपरोपणात्प्रतिक्षणं च जीवितात्यये वर्तमानो मरणमि[5]च्छन्नपि दुःखविपाकस्य नियत[6]विपाकवेदनीयत्वात्कथञ्चिदेवोच्छ्वसिति। यदि च कथञ्चित्[7]पुण्यावापगता हिंसा भवेत्तत्र [8]सुखप्राप्तौ भवेदल्पायुरिति। एवमनृतादिष्वपि योज्यं यथासंभवम्। एवं वितर्काणां चामुमेवानुगतं विपाकमनिष्टं भावयन् न वितर्केषु मनः प्रणिदधीत॥३४॥

उन (हिंसादि वितर्कों) में से हिंसा के बारे में बतलाते हैं—कृत (की गई), कारित (कराई गई) और अनुमोदित (समर्थन की गई)—इत्याकारक तीन प्रकार की हिंसा है। इनमें हिंसा के एक-एक अर्थात् प्रत्येक के पुनः

---

1. क ग ब—त्रिधा, घ फ भ—त्रैधा, ख च छ ज झ त थ द ध न प म य र—त्रिविधाः।
2. क ग—हिंसायाः भवन्ति, ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—हिंसा भवति।
3. ज—अपि (भेदस्य—पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—अपि नोपलभ्यते।
4. क ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य—तावत् प्रथमं, ख—तावत्, घ प फ र—प्रथमं तावत्।
5. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र—इच्छन्, झ—अनिच्छन्।
6. क ख ग घ च ज झ त थ ध न फ ब भ म य र—विपाक० उपलभ्यते, छ द—विपाक० नोपलभ्यते।
7. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य—पुण्यावापगता, घ र—पुण्यादपगता।
8. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—सुख०, छ थ—दुःख।

तीन-तीन भेद होते हैं–मांस और चर्म के 'लोभ' से होने वाली हिंसा (लोभ-पूर्विका हिंसा), इसने मेरा अपकार किया है, अतः मैं इसकी हिंसा करूँगा–इस प्रकार के 'क्रोध' से होने वाली हिंसा (क्रोधपूर्विका हिंसा) तथा पशु-बलि करने से मुझे धर्मजन्य पुण्य होगा–इस प्रकार के 'मोह' (अज्ञान) से होने वाली हिंसा (मोहपूर्विका हिंसा) लोभ, क्रोध तथा मोह के भी तीन-तीन भेद होते हैं–मृदु, मध्य और अधिमात्र। इस प्रकार हिंसा के सत्ताईस (३×३=९, ९×३=२७) भेद होते हैं। मृदु, मध्य तथा अधिमात्र भी पुनः तीन-तीन प्रकार के होते हैं–मृदु-मृदु, मध्यमृदु तथा तीव्रमृदु, मृदुमध्य, मध्य-मध्य तथा तीव्र-मध्य और मृदु-तीव्र मध्यतीव्र तथा अधिमात्रतीव्र–इस प्रकार (२७ प्रकार की हिंसा के तीन-तीन भेद होने से) हिंसा के इक्यासी (२७×३=८१) भेद होते हैं। फिर वह हिंसा प्राणियों के असंख्य भेद होने के कारण नियम, विकल्प तथा समुच्चय के भेद से असंख्य प्रकार की हो जाती है। इस प्रकार की विभाग-प्रणाली को अनृत, स्तेय, व्यभिचार तथा परिग्रह आदि में भी संयोजित करना चाहिये। वे ही ये वितर्क अनन्त दुःख तथा अनन्त अज्ञान-रूपी फल को देने वाले हैं'–इस प्रकार के विचार का नाम 'प्रतिपक्षभावना' है। प्रतिपक्षभावनम्' का विग्रह इस प्रकार है–'दुःखमज्ञानञ्चानन्तफलं येषामिति प्रतिपक्षभावनम्। हिंसा करने वाला पुरुष (सर्वप्रथम यज्ञस्तम्भ आदि में बाँधकर) वध्य पशु के बल को समाप्त कर देता है। फिर उसे शस्त्रादि के प्रहार से पीडित करता है। तदनन्तर वह उसे प्राणों से रहित कर देता है। अर्थात् उसका वध कर डालता है। (किन्तु) फिर हननकर्ता पुरुष के (स्त्री- पुत्रादि) चेतन तथा (गृह-कृषि आदि) अचेतनरूप उपकरण क्षीणवीर्य अर्थात् नष्टप्राय हो जाते हैं। किसी प्राणी को दुःख देने से हिंसक व्यक्ति नरक, तिर्यक् तथा प्रेतादि योनियों में दुःख का अनुभव करता है। दूसरे प्राणी के प्राण- वियोजन से प्रतिक्षण असाध्य रोगों से पीडित होकर मरणावस्था में स्थित होता हुआ स्वयं मर जाने की कामना करता हुआ भी दुःखरूप फल के अवश्य भोक्तव्य होने के कारण किसी तरह से सांस भर लेता रहता है। और यदि किसी प्रकार पुण्यानुष्ठान से हिंसाजन्य पाप कुछ निवृत्त हो जाय तो सुख-प्राप्ति होने पर भी वह अल्पायु होता है। (अर्थात् पाप के प्रभाव से वह पूरा सुख भी नहीं भोग पाता है)। इसी प्रकार अनृतादि में भी यथासम्भव दुःख की फलजनकता को समझ लेना चाहिये। इस प्रकार हिंसादि वितर्कों में अनुगत रहने वाले (पूर्वोल्लिखित) अनिष्ट फल की भावना करता हुआ अपने मन को वितर्कों में न लगावे॥३४॥

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार सूत्र को अवतरित करते हुए उसकी व्याख्या करते हैं--

तत्त्ववैशारदी

तत्र वितर्काणां स्वरूपप्रकारकारणधर्मफल[1]भेदान् प्रतिपक्षभावनाविषयान् प्रतिपक्षभावनास्वरूपाभिधित्सया सूत्रेणाह–वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्। व्याचष्टे–तत्र हिंसेति। प्राणभृद्भेदस्यापरिसंख्येयत्वान्नियमविकल्पसमुच्चयाः संभविनो हिंसादिषु। तत्राधर्मतस्तमःसमुद्रेके सति चतुर्विधविपर्ययलक्षणस्याज्ञानस्याप्युदय इत्यज्ञानफलत्वमप्येतेषामिति। दुःखाज्ञानानन्तफलत्वमेव हि प्रतिपक्षभावनं तद्वशादेभ्यो [2]निवृत्तेरिति तदेव प्रतिपक्षभावनं स्फोरयति–वध्यस्येति। [3]वध्यस्य पश्वादेर्वीर्यं प्रयत्नं कार्यव्यापारहेतुं प्रथममाक्षिपति यूपनियोजनेन। [4]तेन हि पशोरप्रागल्भ्यं भवति। शेषमतिस्फुटम्॥३४॥

सम्प्रति, प्रतिपक्षभावना के स्वरूप को कहने की इच्छा से पतञ्जलि वितर्कों के स्वरूप, प्रकार, कारण, धर्म तथा फल भेद वाली प्रतिपक्षभावना के विषयों को सूत्र द्वारा बताते हैं–'वितर्केति' भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं–'तत्र हिंसेति' जीवधारियों के असंख्य होने से हिंसादियों में नियम, विकल्प और समुच्चय भी असंख्य प्रकार के हो जाते हैं। अधर्म से तमःसमुद्रेक (तमोगुण का बाहुल्य) होने पर चतुर्विध विपर्ययलक्षणक (अनित्य में नित्य, अशुचि में शुचि, दुःख में सुख तथा अनात्म में आत्मरूप) अज्ञान भी उदित होता है। इसलिये हिंसादि वितर्क को (दुःखफलक की भाँति) अज्ञानफल वाला भी कहा गया है। 'ये हिंसादि वितर्क दुःख और अज्ञानरूप अनन्त फल को प्रदान करने वाले हैं'–इस प्रकार के चिन्तन को 'प्रतिपक्षभावना' कहते हैं। क्योंकि इस प्रकार की प्रतिपक्षभावना के अधीन ही हिंसादि वितर्कों की निवृत्ति होती है। इसी प्रतिपक्षभावना को भाष्यकार स्पष्ट करते हैं–'वध्यस्येति' हिंसक पुरुष सर्वप्रथम वध्य पशु आदि के 'वीर्य' अर्थात् शरीर-सञ्चालन (कार्यव्यापार) के हेतुभूत प्रयत्न को यज्ञस्तम्भ से बाँधकर नष्ट करता है, जिससे पशु दुर्बल हो जाता है। अवशिष्ट भाष्य सरल है। भाष्यार्थ पीछे द्रष्टव्य है॥३४॥

बालप्रिया–

'वितर्का...प्रतिपक्षभावनम्'–सूत्र में **'हिंसादयः'** पद के द्वारा वितर्कों का **'स्वरूप'**, **'कृतकारिताऽनुमोदिताः'** पद के द्वारा वितर्कों का **'प्रकार'**, **'लोभक्रोधमोहपूर्वकाः'** पद के

---

1. क छ ज–भेदात्, ख ग घ च झ त थ द ध न–भेदान्।
2. क छ ज झ–निवृत्तिः, ख ग घ च त थ द ध न–निवृत्तेः।
3. थ द ध–वध्यस्य उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–वध्यस्य नोपलभ्यते।
4. ख ग घ च ज झ त थ द ध न–तेन उपलभ्यते, क छ–तेन नोपलभ्यते।

द्वारा वितर्कों का 'कारण', 'मृदुमध्याऽधिमात्राः' पद के द्वारा वितर्कों का 'धर्म' तथा 'दुःखाज्ञानाऽन्तफलाः' पद के द्वारा वितर्कों का 'फल' अभिहित है।

'कृतकारितानुमोदिताः'–स्वयं निष्पादित वितर्क को 'कृत', दूसरे को प्रेरित करके कराये गये वितर्क को 'कारित' तथा दूसरे के द्वारा अनुष्ठित हिंसादि वितर्क का तिरस्कार न कर 'साधु-साधु' कहकर उसे स्वीकृति प्रदान करने को 'अनुमोदित' वितर्क कहते है।

'मृदुमध्याऽधिमात्राः'–यद्यपि यह पद 'हिंसादयः' का विशेषण प्रतीत होता है, तथापि लोभादि के मृदुत्वादि धर्म होने से उन्हें (मृदुत्वादि को) हिंसादि का भी धर्म माना गया है।

'तत्राधर्मतः'–शंका है कि व्यक्ति अज्ञान के वशीभूत होकर ही हिंसादि क्रिया में प्रवृत्त होता है। अतः हिंसा के कारणभूत अज्ञान को हिंसादि वितर्क का फल कैसे कहा जा रहा है?–इत्याकारक निगूढ शंका को दृष्टिगत रखते हुए ही तत्त्ववैशारदी-कार ने यह समाधानपक्ष प्रस्तुत किया है कि अधर्म से तमःसमुद्रेक होता है। अतः तमःसमुद्रेक होने पर अनित्यादि में नित्यादिलक्षणक अज्ञान भी उदित होता है। अतः हिंसादि को अज्ञानफलक कहना न्यायसंगत है।

'सा पुनः नियमविकल्पसमुच्चयभेदात्'–'नियम' का उदाहरण है–'मत्स्य की ही हिंसा करूँगा', 'विकल्प' का उदाहरण है–'प्रतिदिन स्थावर या जङ्गम में से किसी एक की ही हिंसा करूँगा', 'समुच्चय' का उदाहरण है–'स्थावर और जङ्गम दोनों की ही स्वेच्छा से हिंसा करूँगा।' इस प्रकार हिंसक और हिंस्य के असंख्य होने से हिंसा भी अनन्त प्रकार की हो जाती है। स्तेयादि वितर्कों में भी यह तथ्य चरितार्थ होता है॥३४॥

योगवार्त्तिकम्

इदानीं ये वितर्काः ये वा वितर्कस्य प्रतिपक्षाः यादृशं वा तच्चिन्तनं तत्त्रयमाह–वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञाना-नन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्। हिंसाऽऽदय इति वितर्काणां स्वरूपकथनं विशेषणत्रयेण। तत्तद्गतविशेषाणां कथनं सर्वथैव हेयत्वप्रतिपादनाय। दुःखादिफलकत्वकथनं च प्रतिपक्षकथ-नम्, प्रतिपक्षान् भावयेदिति। पूर्वसूत्रीयभाष्यानुपपत्त्या प्रतिपक्षभावनमित्यन्त[1]कर्मधार-यासम्भवात्। शेषेण च भावनकथनमिति। दुःखाज्ञाने एवानन्ते फले येषामिति विग्रहः।

सम्प्रति, हिंसादि वितर्क, वितर्क के प्रतिपक्षी तथा उनका यादृश चिन्तन–इन तीनों को पतञ्जलि बताते हैं–'वितर्केति।' सूत्र में 'हिंसादयः' इस विशेष्यभूत पद के

---

1. क घ च छ–अन्त०, ख ग–अत्र

'कृतकारितानुमोदिताः, लोभक्रोधमोहपूर्वकाः तथा मृदुमध्याधिमात्रा':—ये तीन विशेषण पद हैं, जो हिंसादि वितर्कों का स्वरूप ख्यापित करते हैं। हिंसादि वितर्कों के अत्यन्त हेयत्व को प्रतिपादित करने के लिये तत्तद् विशेषणगत विशेषों का कथन किया गया है। किञ्च हिंसादि का प्रतिपक्षकथन उनके 'दुःखादिफलकत्व' कथन में निहित है। अर्थात् सुखफलक अहिंसादि के विपरीत हिंसादि दुःखफलक होते हैं। यही हिंसादियों की अहिंसादियों से प्रतिपक्षता है। 'प्रतिपक्षान् भावयेत्'—इत्याकारक पूर्व-सूत्रीय भाष्य की अनुपपत्ति होने से सूत्र में 'प्रतिपक्षभावनम्' कहा गया है, क्योंकि 'प्रतिपक्षभावनम्' पर्यन्त कर्मधारय करना सम्भव नहीं है। सूत्र के शेष अंश 'दुःखाज्ञानानन्तफलाः' से प्रतिपक्षभावन को ख्यापित किया गया है। यह प्रतिपक्षभावन दुःखाज्ञानानन्तफलक है। दुःखाज्ञाने एवानन्ते फले येषामिति—इस विग्रह के अनुसार इस समस्त पद में बहुव्रीहिसमास है।

सम्प्रति, वार्त्तिककार भाष्य की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

विशेषणत्रयोक्तान् विशेषान् विवृणोति—तत्र हिंसेति। कृता वा कारिता वाऽनुमोदिता वेत्यर्थः। तत्र कृता स्वयंनिष्पादिता, कारिता कुर्वित्युक्ता, अनुमोदिता परैः क्रियमाणा साधु साध्वित्यङ्गीकृता। कृतादीनामपि [1]प्रत्येकं द्वितीयविशेषणोक्तं त्रैविध्यं व्याचष्टे—एकैकेति। लोभेनेत्यस्य व्याख्या—मांसचर्मार्थिन मांसचर्मादिप्रयोजनेन तथाऽपकृतमनेनेत्येवं क्रोधेन तथा मोहेन यज्ञार्थहिंसया निर्दोषो धर्मो भविष्यतीत्येवंरूपेणेत्यर्थः। यद्यपि मृदुमध्याधिमात्रा इति हिंसाऽऽदिविशेषणं सूत्रेऽस्ति तथापि लोभादेर्मृदुत्वादिनैव हिंसाऽऽदेर्मृदुत्वादिकमत्र विवक्षित-मर्थ[2]सौष्ठवायेत्याशयेन लोभादिविशेषणतया मृदुत्वादीन् व्याचष्टे—लोभक्रोधमोहा इति। लोभक्रोधमोहा एकैकाः पुनस्त्रिधा मृदुमध्याधिमात्रा इत्यर्थः। एवमित्यादिहिंसाया इत्यन्तमेकं वाक्यम्। मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेष इति पूर्वपादीयसूत्रानुसारेण यौक्तिकान-परान्विशेषान् स्वयमाह—मृदुमध्याधिमात्राः पुनस्त्रिधेति। सर्वत्र तीव्रत्वमधिमात्रता। शेषं स्पष्टम्। सा पुनर्नियमेति। मत्स्येष्वेव हिंसेत्यादिर्नियमः, एकस्मिन् दिवसे स्थावरस्य जङ्गमस्य वाऽन्यतरस्यैव हिंसा नोभयोरित्यादिर्विकल्पः, स्थावरजङ्गमयोरुभयोरेवाव्यवस्थया हिंसेत्यादिः समुच्चयः, इत्येवं नियमविकल्पसमुच्चयानाम् आनन्त्याद्धिंसाऽसंख्येयभेदेत्यर्थः। नियमाद्यानन्त्ये हेतुः—प्राणभृदिति। हिंसकानां हिंस्यानां वाऽसंख्यतया नियमादीनामनन्तप्रकारत्वमित्यर्थः। एवमिति। हिंसायामिवानृतादिरूपवितर्केष्वपि कृतकारितेत्यादिविभागा योजनीया इत्यर्थः।

---

1. ख—प्रत्येकं, ग—प्रत्येक०, क घ च छ—प्रत्येकं/प्रत्येक० नोपलभ्यते।
2. क ख च छ—सौष्ठवाय, ग—सौष्ठवेन, घ—सौष्ठवम्।

भाष्यकार सूत्र में हिंसादि वितर्क के लिये निर्दिष्ट विशेषणत्रय से अभिप्रेत वैशिष्ट्य का व्याख्यान करते हैं–**'तत्र हिंसेति। कृतेति।'** कृता, कारिता अथवा अनुमोदिता के भेद से हिंसा तीन प्रकार की है। इनमें से स्वकार्यान्वित हिंसा **'कृता'**, **'कुरु'** अर्थात् 'हिंसा करो'--इत्याकारक प्रेरणा द्वारा कराई गई हिंसा **'कारिता'** तथा **'साधु-साधु'** 'बहुत ठीक-बहुत ठीक' कहकर दूसरों द्वारा निष्पादित हिंसा (हिंसावृत्ति) का अनुमोदन करना **'अनुमोदिता'** हिसा है। अब भाष्यकार कृतादि त्रिविध हिंसा के भी **'लोभक्रोधमोहपूर्वकाः'** सूत्रगत इस द्वितीय विशेषण पद द्वारा कथित प्रत्येक के त्रैविध्य को प्रतिपादित करते हैं–**'एकैकेति।'** कृतादि भेद से प्रत्येक हिंसा के पुनः तीन-तीन भेद हैं। **'लोभेन'** पद की व्याख्या है–**'मांसचर्मार्थेन'** अर्थात् मांस, चर्मादि प्रयोजन के **'लोभ'** से, **'अपकृतं अनेन'** अर्थात् 'इसने मेरा अपमान किया है'–इत्याकारक **'क्रोध'** से तथा 'याज्ञिक हिंसा से अत्यन्त निर्दुष्ट (पापशून्य) धर्म होगा'–इत्याकारक **'मोह'** से कृतादि प्रत्येक हिंसा के तीन-तीन भेद हैं। यद्यपि सूत्र में **'मृदुमध्याधिमात्राः'** यह हिंसादि का विशेषणपरक अन्य पद है तथापि यहाँ लोभादि के मृदुत्वादि से ही हिंसादि का मृदुत्वादि अभिप्रेत है। अतः भाष्यकार अर्थबोध के सारल्य के लिये लोभादि के विशेषणरूप से मृदुत्वादि की व्याख्या करते हैं–**'लोभक्रोधमोहा इति।'** कृतादि त्रिविध हिंसा के हेतुभूत लोभ, क्रोध तथा मोह में से प्रत्येक के मृदु, मध्य और अधिमात्ररूप तीन-तीन भेद हैं। वैयासिक वाक्य को अन्तर्गठित करते हुए वार्त्तिककार कहते हैं–**'एवम्'** से लेकर **'हिंसायाः'** पर्यन्त एक वाक्य है। इस प्रकार हिंसा के सब मिलाकर इक्यासी भेद हो जाते हैं।' **'मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः** (१/२२) इस विगत पाद के सूत्रानुरोध से भाष्यकार मृद्वादि के अन्य युक्तिपूर्ण वैशिष्ट्यों को स्वयं बताते हैं–**'मृदुमध्याधिमात्राः पुनस्त्रिधेति।'** **'अधिमात्रता'** शब्द का अर्थ 'सर्वत्र तीव्रत्व' है। एतत्सम्बन्धी शेष भाष्य सरल है। वार्त्तिककार हिंसादि वितर्क के पुनः भेद-प्रतिपादक वैयासिक वाक्य को उठाते हैं–**'सा पुनर्नियमेति।'** 'मत्स्य की ही हिंसा करूँगा', (इस प्रकार मत्स्य के विषय में हिंसा का नियमन करना) **'नियम'** है, 'एक दिन में स्थावर अथवा जङ्गम में से किसी एक की ही हिंसा करूँगा, न कि दोनों की', (इस प्रकार हिंसा के आधारभूत पदार्थ का भेद) **'विकल्प'** है तथा (**'विकल्प'** पर ध्यान दिये विना) अनियमपूर्वक स्थावर और जङ्गम दोनों की ही हिंसा करना **'समुच्चय'** है। इस प्रकार नियम, विकल्प और समुच्चय की अनन्तता से हिंसादि (वितर्कों) के गणनातीत भेद हो जाते हैं। भाष्यकार नियमादि की असंख्यता के विषय में हेतु प्रस्तुत करते हैं–**'प्राणभृदिति।'** हिंसक और हिंस्य पदार्थों के अनन्त होने से (उनसे सम्बन्धित) नियमादि के असंख्य प्रकार (भेद) हो जाते हैं। **'हिंसा'** संज्ञक वितर्क के भेदों को उपसंहृत करते हुए

भाष्यकार आगे कहते हैं–'एवमिति' अनृतादिरूप वितर्कों में भी कृत, कारित आदि पूर्ववर्णित भेदों को उसी प्रकार संयोजित कर लेना चाहिये, जिस प्रकार 'हिंसा' संज्ञक वितर्क के भेदों को प्रदर्शित किया गया है।

सम्प्रति, वार्त्तिककार सूत्रगत 'दुःखाज्ञानानन्तफलाः' के वैयासिक भाष्य पर वार्त्तिक लिखते हैं–

योगवार्त्तिकम्

अज्ञानं चेति। अज्ञानं संमोहः। हिंसातो दुःखाज्ञाने यथा भवतस्तदाह–तथा चेति। तथा हीत्यर्थः। वीर्याक्षेपो बलान्नियमनम्। एवं त्रिप्रकारहिंसनात्त्रिप्रकारमेव दुःखं हन्ता प्राप्नोति कर्मानुरूपफलोदयादिति प्रतिपादयति–ततो वीर्येति। परस्य वीर्याक्षेपात्त[1]स्य [2]हन्तुरपि चेतनाचेतनमुपकरणं स्त्रीपुत्रधनादिकं क्षीणवीर्यं कार्याक्षमं भवति, तथा परस्य शस्त्रादिना दुःखोत्पादनाद्धन्ताऽपि नरकादिषु याम्यशस्त्रादिना दुःखमनुभवति, तथा परस्य जीवितव्यपरोपणात् प्राणवियोजनात्तत्कर्ताऽपि प्रतिक्षणं जीवितात्ययं [3]रोगादिना मरणावस्थां संमोहमयीमापन्नो मरणमिच्छन्नपि कथंचिदेव जीवति। ननु तदानीमेव कथं मरणं न भवति तत्राह–दुःखविपाकस्येति। दुःखरूपस्य विपाकस्य प्रतिनियतजन्मादिविपाकैरेव भोग्यत्वादित्यर्थः। तदेतद्धिंसाया अनन्तदुःखाज्ञानफलकत्वं गीतायामप्युक्तम्–

मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्॥
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ इति॥

सूत्रगत 'अज्ञान' शब्द का अर्थ 'संमोह' अर्थात् व्यामोह है। हिंसा से दुःख और अज्ञानरूप फल किस प्रकार प्राप्त होते हैं, इसे भाष्यकार बतलाते हैं–'तथा चेति' 'तथा च' पद का अर्थ 'तथाहि' है। (किसी विषय को स्पष्ट करने के लिये 'तथाहि' अव्यय से वाक्यारम्भ किया जाता है)। पुंस्त्व के बलपूर्वक नियमन (आघात) को 'वीर्यापेक्ष' कहते हैं। इस प्रकार तीन तरह से हिंसा करने से हन्ता भी तीन प्रकार के ही दुःख को प्राप्त करता है, क्योंकि फलप्राप्ति कर्मानुसार होती है, ऐसा भाष्यकार प्रतिपादित करते हैं–'ततो वीर्येति।' दूसरे प्राणी के वीर्य का नाश करने से हन्ता पुरुष का भी स्त्री, पुत्र, धनादिरूप चेतनाचेतन उपकरण (साधन) 'क्षीणवीर्य' अर्थात् कार्य करने में असमर्थ हो जाता है। इसी प्रकार शस्त्रादि द्वारा दूसरे को आघात पहुँचाने से हन्ता पुरुष भी नरकादि लोकों में यम के आयुध से दुःख का अनुभव करता है। इसी प्रकार दूसरे को प्राण से वियुक्त करने से हन्ता भी 'जीवितात्यय' अर्थात् रोगादि

---

1. क ख ग घ–अस्य, च छ–तस्य।
2. क ख ग च छ–हन्तुः, घ–हेतुः।
3. क घ–रागादिना, ख ग च छ–रोगादिना।

द्वारा दुःखमयी मरणावस्था को प्राप्त होकर मरण की इच्छा करता हुआ भी येन-केन-प्रकारेण जीवनयापन करता है।

शङ्का–रोगापन्नावस्था में मरण की इच्छा करने पर भी हन्ता क्योंकर मृत्यु को प्राप्त नहीं होता है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–**'दुःखविपाकस्येति।'** प्रत्येक जन्म के लिये सुनिश्चित जात्यादिरूप विपाकों के अनुसार ही दुःखरूप (सुखदुःखादिरूप) फल भोग्य होता है। अतः मरणलाभ भी ऐच्छिक नहीं है। हिंसा अनन्त दुःख और अनन्त अज्ञानरूप फल को प्रदान करने वाली है, ऐसा गीता में भी कहा गया है– **'मामात्मपरदेहेषु...योनिषु'** (१६/१८-१९) अर्थात् 'सत्पुरुषों की निन्दा करने वाले पुरुष अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ अन्तर्यामी से द्वेष करने वाले होते हैं। उन द्वेष करने वाले, अशुभाचरणशील और क्रूर कर्म करने वाले नरधमों को मैं संसार में बार-बार आसुरी योनियों में ही डालता हूँ।'

सम्प्रति, वार्त्तिककार जीवद्वेष को परमात्मद्वेष से उपमित करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

पुत्रा ह्यग्निविस्फुलिङ्गवत् पितुरंशाः, आत्मा वै जायते पुत्र इति श्रुतेः। अत ईश्वरांशजीवेषु द्वेष ईश्वरद्वेष एव। किं च जीवानामप्यात्मा परमेश्वरः, अतः शरीरद्वेषेण शरीरिद्वेषवत् जीवद्वेषेण परमेश्वरस्य द्वेषो भवतीति भावः।

पुत्र पिता का अंश उसी प्रकार है, जिस प्रकार स्फुलिङ्ग अग्नि का अंश है, क्योंकि **'आत्मा वै जायते पुत्रः'** अर्थात् 'परमात्मा से आत्मरूप पुत्र उत्पन्न होता है'– ऐसा श्रुतिवाक्य है। श्रुति के द्वारा यहाँ अग्नि-स्फुलिङ्ग की भाँति परमात्मा-जीवात्मा में पितापुत्रभावसम्बन्ध स्थापित किया गया है। अत एव ईश्वर के अंशभूत जीवों में द्वेषबुद्धि करना ईश्वर के प्रति ही द्वेषबुद्धि रखना है। किञ्च परमेश्वर तो जीवों का भी आत्मा है। अत एव शरीरद्वेष से शरीरिद्वेष की भाँति जीव के प्रति द्वेष करने से परमेश्वर के प्रति द्वेष करना है। अत एव हिंसादि के अनन्त दुःख और अनन्त अज्ञानरूप फल बताये गये हैं।

सम्प्रति, वार्त्तिककार हिंसादि के अनन्तदुःखत्व की द्वितीय स्थिति पर विचार करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

पुण्यावापगतेति। पुण्यकर्मरूपस्य सुखबीजस्य चित्तभूमावावपने गता सहावापितेत्यर्थः, धान्यबीजवपने तृणबीजानां वपनवदिति भावः। भवेदल्पायुरिति। ननु अहिंसन्सर्वाणि भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः, तस्माद्यज्ञे वधोऽवध इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिर्वैधहिंसाऽतिरिक्तहिंसाया एव प्रतिषेधात् कथं वैधहिंसाया अनिष्टसाधनत्वमुच्यत इति? अत्रोच्यते–कार्यत्व-

मिष्टसाधनत्वं वा विध्यर्थो न पुनरनिष्टाननुबन्धित्वमपि, राजत्वादिप्रापककर्मणां [1]गर्भवास-जन्याद्यनर्थहेतुतायाः सर्वसंमतत्वात्। न च बलवदनिष्टाननुबन्धित्वमपि विध्यर्थो वक्तुं शक्यते, अनिष्टेषु पुरुषाणां बलवद्द्वेषस्याव्यवस्थितेः, दुःखमेव सर्वं विवेकिन इत्युक्तत्वात्। किं च बलवदनिष्टाननुबन्धित्वस्य विध्यर्थत्वेऽपि [2]यज्ञादि[3]नान्तरीयकहिंसायाः सामान्यतोऽनिष्ट-जनकत्वश्रुत्य[4]विरोधः। अपि चावैधहिंसात्यागस्य स्वर्गादिसाधनताबोधकविधिभिर्वैधहिंसायाः स्वर्गादिसाधनताबोधकविधिभिश्च सह हिंसाया मृत्व्याद्यनिष्टहेतुताबोधकश्रुतिस्मृतीनां नास्त्येव विरोधो येन तासु सङ्कोचः कल्प्येत। अतो युक्तमुक्तं पुण्यावापगतानामपि हिंसाना-मनिष्टहेतुत्वम्। पुण्यावापगतहिंसास्वपि युधिष्ठिरादीनां प्रायश्चित्तश्रवणादप्ययमेव सिद्धान्त उन्नीयते,

> तस्माद्यास्याम्यहं तात दृष्ट्वेमं दुःखसंनिधिम्।
> त्रयीधर्ममधर्माढ्यं किंपाकफलसंनिभम्॥

इति मार्कण्डेयादिस्मृतिश्रुत्यादिभ्यश्च। अत एव स्मर्यतेऽपि—

> सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते सर्वाणि दुःखेषु तथोद्विजन्ति।
> तेषां भयोत्पादनजातखेदः कुर्यान्न कर्माणि हि [5]जातवेदः॥

इति मोक्षधर्मादिष्वि[6]ति। वधोऽवध इत्यादि वाक्यं तु वधाभासतापरमिति दिक्। एवमिति। अनृतादिष्वप्येवं दुःखाज्ञानफलकत्वं यथासम्भवं मरणादिकं विहाय योज्यमित्यर्थः। प्रतिपक्षभावनस्य प्रयोजनमाह—एवं वितर्काणामिति। अनुगतं नियतमेवमनिष्टं विपाकं वितर्काणां कार्यमेव चिन्तयन् योगी न वितर्केषु मनः प्रणिधीत ददातीत्यर्थः॥३४॥

वार्त्तिककार भाष्य को उठाते हैं—'पुण्यावापगतेति।' धान्यबीज के वपनकाल में तृणबीज के वपन की भाँति यह हिंसा, चित्तरूप भूमि में पुण्यकर्मरूप सुखबीज के अङ्कुरितकाल में सुखबीज की भाँति, अङ्कुरित होती है। इसका फल है—'भवेदल्पायु-रिति।' हिंसक प्राणी अल्पायु वाला होता है।

शङ्का—'अहिंसन् सर्वाणि भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः' (छा. उ. ८/१५/१), 'तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः'—इत्यादि श्रुति, स्मृतियों के द्वारा कर्मकाण्डविषयक नियमानुकूल वैध हिंसा के अतिरिक्त हिंसा ही प्रतिषिद्ध है। अतः यहाँ वैध हिंसा का भी अनिष्टसाधनत्व (दुःखफलकत्व) कैसे कहा जा रहा है?

---

1. क घ च छ—गर्भवासजन्य०, ख—वासजन्मादि०, ग—गर्भवासजन्म०।
2. क च छ—यज्ञादि०, ख घ—यज्ञादीन्, ग—यज्ञादीनां।
3. क ख च छ—नान्तरीयक०, ग—त्तदीयक०।
4. क घ च छ—अविरोधः, ख ग—विरोधः।
5. क ग घ—जातखेदः, ख च छ—जातवेदः।
6. क ख घ च छ—इति, ग—अपि।

समाधान–इस पर वार्त्तिककार कहते हैं–(प्रभाकरमतानुसार) '**कृतिसाध्यत्व**' अथवा (मण्डनमतानुसार) '**अनिष्टसाधनत्व**' ही विध्यर्थ है, न कि '**अनिष्टाननुबन्धित्व**' भी, क्योंकि राजत्व आदि जाति को प्राप्त कराने वाले कर्म (भी) गर्भवास से उत्पन्न अनर्थ दुःख के हेतु होते हैं, यह सर्वमान्य तथ्य है। किञ्च '**बलवदनिष्टाननुबन्धित्व**' को विध्यर्थ नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अनिष्टकारक पदार्थों के प्रति सभी मनुष्यों में बलवद् द्वेष नहीं देखा जाता है। इसमें हेतु यह है कि '**दुःखमेव सर्वं विवेकिनः**' अर्थात् 'विवेकी के लिये ही सब कुछ दुःखरूप है'–ऐसा पीछे कह चुके हैं। किञ्च यदि '**बलवदनिष्टाननुबन्धित्व**' को विध्यर्थ मान भी लिया जाय तो भी यज्ञादि में होने वाली नान्तरीयक अर्थात् अवश्यंभावी हिंसा का सामान्यतः अनिष्टकारणत्व (अनिष्टजनकत्व) श्रुतिविरुद्ध नहीं है। किञ्च अवैधहिंसात्याग के स्वर्गादिसाधनता-बोधक विधिवाक्यों के साथ तथा वैधहिंसा का स्वर्गादिसाधनताबोधक विधिवाक्यों के साथ हिंसा के मृत्य्वादि अनिष्टहेतु के बोधक श्रुतिस्मृतिवाक्यों का (परस्पर) विरोध ही नहीं है, जिससे श्रुतिवाक्यों में संकोच की कल्पना की जाय। अत एव ठीक ही कहा गया है कि पुण्य कर्म के साथ गौणरूप से रहने वाला हिंसाकर्म अनिष्ट का हेतु होता है। इसीलिये पुण्य के साथ गौणरूप से कृत हिंसादि कर्मों को लेकर युधिष्ठिर आदि का प्रायश्चित्त सुना जाता है। इससे यह सिद्धान्त सुस्थिर होता है कि अत्यल्प हिंसादि कर्म भी अनिष्टकारक होता है। मार्कण्डेयादि स्मृति तथा श्रुतिशास्त्रों से भी यही बात सिद्ध होती है–'**तस्माद्या...फलसन्निभम्**' (१०/३१) अर्थात्' हे तात! इस दुःखरूपी प्रवाह का त्याग करके मुझे जाना है अर्थात् ब्रह्मपद को प्राप्त करना है; क्योंकि वेदप्रतिपादित यह कर्ममार्ग हिंसादि, अधर्म और कुत्सित फल से युक्त है।' मोक्षधर्मादि ग्रन्थों में भी कहा गया है–'**सर्वाणि भूतानि...हि जातवेदः**' (२४५/२५) अर्थात् 'सभी प्राणिजन सुख में आनन्दित होते हैं तथा दुःख में उद्विग्न रहते हैं। प्राणियों का संसार में आना ही दुःख का कारण है। अतः तत्त्वज्ञ संसार दिलाने वाले कर्मों को नहीं करता है।' और जो '**वधोऽवधः**' इत्यादि वाक्य हैं वे वधाभास- परक हैं।

वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'**एवमिति**।' इसी प्रकार मिथ्याभाषणादि (असत्यादि) में भी मरणादि को छोड़कर यथायोग्य दुःखाज्ञानफलकत्व की योजना कर लेनी चाहिये। अब भाष्यकार '**प्रतिपक्षभावन**' का उद्देश्य बताते हैं–'**एवं वितर्काणामिति**।' इस प्रकार 'हिंसादि वितर्कों का निश्चितरूप से अनिष्ट फल है'–ऐसा चिन्तन करता हुआ योगी हिंसादि वितर्कों में अपने मन को (पुनः) न लगावे, अपितु यथोक्त प्रतिपक्षभावन द्वारा उनका परित्याग करे॥३४॥

सम्प्रति, भाष्यकार अग्रिम सूत्र की अवतरणिका रचते हैं–

व्यासभाष्यम्

[1]प्रतिपक्ष[2]भावनाहेतोर्हेया वितर्का यदास्य स्युरप्रसवधर्माणस्तदा तत्कृतमैश्वर्यं योगिनः सिद्धिसूचकं भवति। तद्यथा–

जब इस योगी के हिंसादि वितर्क दग्धबीजकल्प (उत्पत्तिसामर्थ्यरहित) हो जाते हैं, तब योगी की सिद्धि के सूचक यमादिजन्य ऐश्वर्य प्रादुर्भूत होते हैं। वह जैसे–

योगसूत्रम्

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ [3]वैर[4]त्यागः॥३५॥

अहिंसा के प्रतिष्ठित होने पर (अहिंसाप्रतिष्ठ) योगी की सन्निधि में (प्राणियों का पारस्परिक) वैरभाव छूट जाता है॥३५॥

व्यासभाष्यम्

सर्वप्राणिनां भवति॥३५॥

(अहिंसाप्रतिष्ठ योगी की सन्निधि में) सभी प्राणियों का वैर दूर हो जाता है॥३५॥

तत्त्ववैशारदी

उक्ता यमनियमाः। तदपवादकानां च वितर्काणां प्रतिपक्षभावनातो हानिरुक्ता। संप्रत्य-प्रत्यूहं यमनियमाभ्यासात् तत्तत्सिद्धिपरिज्ञानसूचकानि चिह्नान्युपन्यस्यति यत्परिज्ञानाद्योगी तत्र तत्र कृतकृत्यः कर्तव्येषु प्रवर्तत इत्याह–यदेति। अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैर-त्यागः। शाश्वतिकविरोधा अप्यश्वमहिषमूषकमार्जाराहिनकुलादयोऽपि भगवतः प्रतिष्ठिता-हिंसस्य संनिधानात्तच्चित्तानुकारिणो वैरं परित्यजन्तीति॥३५॥

यम और नियम प्रतिपादित हुए तथा उनके अनुष्ठान में बाधा पहुँचाने वाले हिंसादि वितर्कों की प्रतिपक्षभावन (विरोधिचिन्तन) से निवृत्ति बताई गई। सम्प्रति, बाधारहित (वितर्कादि विघ्न से मुक्त) होकर यम और नियम का 'अभ्यास' करने से तत्-तत् सिद्धियों के परिज्ञान के सूचक चिह्नों (लक्षणों) को उपन्यस्त किया जा रहा है, जिसके परिज्ञान से कृतकृत्य योगी तत्तद् अभ्यासों (कर्त्तव्यों) में प्रवृत्त

---

1. क ग–प्रतिपक्षभावनाहेतोर्हेया वितर्का यदास्य स्युरप्रसवधर्माणस्तदा तत्कृतमैश्वर्यं योगिनः सिद्धिसूचकं भवति। तद्यथा २/३४ सूत्रस्य टीका, ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–प्रतिपक्ष....तद्यथा २/३५ सूत्रस्य अवतरणिका।
2. क ख ग घ द ध प फ ब र–भावनात्, च छ ज झ त थ न भ म य–भावना०।
3. वैरी०–इति पाठान्तरम्।
4. त्यागं–इति पाठान्तरम्।

होता है—इसी तथ्य को भाष्यकार बताते हैं—'यदेति।' सूत्र है—'अहिंसेति।' स्वभावतः परस्पर विरोधी अश्व-महिष, मूषक-मार्जार तथा अहि-नकुलादि भी अहिंसाप्रतिष्ठ योगी के सामीप्य से उस अहिंसात्मक चित्तानुकारिता वाले होकर वैरभाव का परित्याग कर देते हैं॥३५॥

बालप्रिया—

'शाश्वतिकविरोधा अपि'—यहाँ 'अपि' पद के प्रयोग से यह बताया गया है कि अहिंसाप्रतिष्ठ योगी की सन्निधि से यह वैरत्याग प्राणिमात्र का होता है, कुछ ही जीवों का नहीं। इसीलिये भाष्यकार ने **'सर्वप्राणिनां भवति'** ऐसी सूत्राभिसन्धि बताई है॥३५॥

योगवार्त्तिकम्

यमनियमनिष्पत्तिसूचकानां [1]सिद्धान्तानां प्रतिपादकानि सूत्राणि अवतारयति—प्रतिपक्षेति। हेया हातुमर्हा एवंभूता वितर्का यदाऽस्य योगिनः प्रतिपक्षभावनातो विषयसान्निध्यकालेऽप्यप्रसवस्वभावा भवन्ति तदा तत्कृतं वितर्कहानिकृतमैश्वर्यं यमादिनिष्पत्तिसूचकं भवतीत्यर्थः। तन्निष्पत्त्यवधारणे च तत्तद्भूमिषु यत्नं विहाय भूमिका[2]न्तरेषु योगी यत्नमातिष्ठेतेत्येतत्प्रतिपादयितुं सर्वेष्वेव योगाङ्गेषु सिद्धिकथनम्। तद्यथा=तदैश्वर्यं यथा—अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। [3]प्रतिष्ठायां स्थैर्ये उक्तवितर्कैरसंस्पर्श इति यावत्। तस्यां सत्यां तत्सन्निधिस्थानां सर्वप्राणिनां मार्जारमूषकादीनामन्योन्यवैरत्यागो भवतीत्यर्थः॥३५॥

भाष्यकार यम तथा नियम के निष्पत्तिज्ञापक सिद्धान्तों के प्रतिपादक सूत्रों को अवतरित करते हैं—**'प्रतिपक्षेति।' 'हेया हातुमर्हाः'**— इस व्युत्पत्ति के अनुसार **'हान'** के योग्य ये **'हेय'** रूप हिंसादि वितर्क जब विषयसान्निध्यकाल में भी योगी के **'प्रतिपक्ष-चिन्तन'** से दग्धबीजवत् (अप्रसव स्वभाव वाले) हो जाते हैं अर्थात् कार्योन्मुख नहीं होते हैं, तब हिंसादि वितर्क के नाश से उत्पन्न ऐश्वर्यविशेष यमादि योगानुष्ठान के साफल्य को सूचित करता है। फलतः यमादि व्रतों की सिद्धि का निश्चय हो जाने पर योगी को तत्तत् पूर्ववर्ती भूमिपरक यत्न (अभ्यास) को छोड़कर उत्तरोत्तर भूमिपरक यत्न करना चाहिये। इसी तथ्य के स्थिरीकरण के लिये सभी योगाङ्गों के विषय में सिद्धि को बताया जा रहा है। भाष्यकार कहते हैं—**'तद्यथा'** अर्थात् वह ऐश्वर्यविशेष इस प्रकार है—**'अहिंसेति।'** अहिंसा के **'प्रतिष्ठित'**=वितर्कराहित्यरूप स्थिरता के होने पर अहिंसाप्रतिष्ठ योगी के समीप स्थित मार्जर, मूषक आदि सभी जीवधारियों का पारस्परिक वैरभाव समाप्त हो जाता है॥३५॥

---

1. क घ च छ—सिद्धान्तानां, ख ग—सिद्धीनाम्।
2. क घ च छ—अन्तरेषु, ख ग—अन्तरे।
3. क ख ग घ—प्रतिष्ठ०, च छ—प्रतिष्ठायाम्।

उपस्थानिका के विना अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है–

योगसूत्रम्

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्॥३६॥

सत्य के प्रतिष्ठित होने पर (सत्यप्रतिष्ठ में) क्रियाओं और उनके फलों की आश्रयता आ जाती है॥३६॥

व्यासभाष्यम्

धार्मिको भूया इति भवति धार्मिकः। स्वर्गं प्राप्नुहीति स्वर्गं प्राप्नोति। अमोघास्य वाग्भवति॥३६॥

(इस सिद्धि के फलस्वरूप) 'धार्मिक हो जाओ'–ऐसा कहने पर (अधार्मिक व्यक्ति) धार्मिक बन जाता है। 'स्वर्ग प्राप्त करो'–इस कथन से व्यक्ति स्वर्ग को प्राप्त करता है। इस प्रकार सत्यप्रतिष्ठ योगी की वाणी अचूक हो जाती है॥३६॥

तत्त्ववैशारदी

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। क्रियासाध्यौ धर्माधर्मौ क्रिया। तत्फलं च स्वर्गनरकादि। [1]ते एवाश्रयतीत्याश्रयः। तस्य भावस्तत्त्वम्। तदस्य भगवतो [2]वाचा भवतीति। क्रियाश्रयत्वमाह–धार्मिक इति। फलाश्रयत्वमाह–स्वर्गमिति। अमोघाऽप्रतिहता॥३६॥

सूत्र है–'सत्येति' सूत्रगत 'क्रियाफल' शब्द का अर्थ तत्त्ववैशारदीकार करते हैं– क्रिया के द्वारा सिद्ध होने वाले धर्माधर्म को 'क्रिया' और धर्माधर्मरूप क्रिया से प्राप्त होने वाले स्वर्ग, नरकादि को 'फल' कहते हैं। 'ते एवाऽऽश्रयतीत्याश्रयस्तस्य भावस्तत्त्वम्'– अर्थात् ये क्रिया और फल ही (वाणी के) आश्रय बनते हैं, इसलिये 'आश्रय' कहलाते हैं और आश्रय के भाव को 'आश्रयत्व' कहते हैं। यह क्रियाफलाश्रयत्व सत्य-प्रतिष्ठ वाणी में निहित होता है। अर्थात् स्वर्गादिनिरूपित आश्रयता योगी की वाणी में आती है। भाष्यकार सत्यप्रतिष्ठ योगी की वाणी की क्रियाश्रयता को बताते हैं– 'धार्मिक इति' अर्थात् सत्यजयी योगी किसी पापी पुरुष को कहे कि 'तू धार्मिक होवे' तो इतना कहने मात्र से वह व्यक्ति धार्मिक बन जाता है। अर्थात् अधर्मा- नुष्ठान में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। भाष्यकार सत्यजयी योगी की वाणी की फलाश्रयता को बताते हैं–'स्वर्गमिति' अर्थात् सत्यजयी योगी किसी को आशीर्वाद दे कि 'तू स्वर्ग को प्राप्त कर' तो वह व्यक्ति स्वर्ग प्राप्त कर लेता है। 'अमोध' शब्द का अर्थ

---

1. क ख ग घ च्र छ ज झ त द ध न–ते उपलभ्यते, थ–ते नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ छ ज झ त न–वाचा, च थ द ध–वाचः।

अर्थ है—अप्रतिहत। अर्थात् योगी की वाणी क्रियाफलानुरूप हो जाती है अर्थात् उसकी वचन-व्यर्थता समाप्त हो जाती है॥३६॥

योगवार्त्तिकम्

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। सर्वप्राणिनां भवतीत्यत्रापि शेषः। क्रिया धर्मः, तस्य फलं स्वर्गादिः, तयोराश्रयत्वं सर्वप्राणिनां सत्यप्रतिष्ठस्य वचनाद्भवतीत्यर्थः। तदेतद्व्याचष्टे—धार्मिक इति। धार्मिको भूया इति वचनात् संबोध्यो धार्मिको भवतीत्यादिरर्थः। अमोघेति। एवंप्रकारेणास्य योगिनो वाक् सत्या भवतीत्यर्थः। अत्र वाक् मनसोऽप्युप- लक्षणम्॥३६॥

सूत्र है—'सत्येति।' 'सर्वप्राणिनां भवति—यह वाक्यशेष पूर्वसूत्रवत् यहाँ पर भी संयोज्य है। 'क्रिया' शब्द का अर्थ 'धर्म' तथा 'फल' शब्द का अर्थ 'स्वर्गादि' है। इस प्रकार सत्यजयी योगी के वचनमात्र से समस्त जीवधारियों में धर्मादि 'क्रिया' और तज्जन्य स्वर्गादि 'फल' का आश्रयत्व होता है। अर्थात् जीवधारी धर्मादि क्रिया के आधार बनते हैं। भाष्यकार इसी तथ्य का वर्णन करते हैं—'धार्मिक इति।' 'धार्मिको भूयाः' अर्थात् 'तू धार्मिक हो जा'—योगी के इत्याकारक कथनमात्र से प्रार्थित व्यक्ति धार्मिक हो जाता है। 'अमोघेति।' इस प्रकार सत्यप्रतिष्ठ योगी की वाणी सत्य को धारण करने वाली हो जाती है। यहाँ पर 'वाक्' शब्द 'मन' का भी उपलक्षक है। अर्थात् योगी की वाणी और मन दोनों निर्भ्रान्त अर्थात् अचूक हो जाते हैं॥३६॥

सम्प्रति, अवतरणिका के विना अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है—

योगसूत्रम्

अस्तेयप्रतिष्ठायां [1]सर्वरत्नोपस्थानम्॥३७॥

अस्तेयविषयक प्रतिष्ठा होने पर सभी प्रकार के रत्नों की (सहज) उपस्थिति होती है॥३७॥

व्यासभाष्यम्

सर्वदिक्स्थान्यस्योपतिष्ठन्ते रत्नानि॥३७॥

सब दिशाओं में स्थित रत्न इस योगी के पास उपस्थित हो जाते हैं॥३७॥

तत्त्ववैशारदी

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। सुबोधम्॥३७॥

सूत्र है—'अस्तेयेति।' सूत्रार्थ तथा भाष्यार्थ दोनों सुबोधगम्य हैं॥३७॥

1. सर्व०—नोपलभ्यते।

योगवार्त्तिकम्

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। सर्वाभ्यो दिग्भ्यो रत्नोपस्थानं सर्वरत्नोपस्थानम्। तदेतद् व्याचष्टे–सर्व[1]दिक्स्थानीति॥३७॥

सूत्र है–'अस्तेयेति।' अस्तेयविषयिणी वितर्कशून्यता होने पर योगी को समस्त दिशाओं से सभी प्रकार के बहुमूल्य माणिक्यों की उपलब्धि होती है। इसी तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं–'सर्वदिक्स्थानीति।' अर्थात् समस्त दिग्दिगन्त के मूल्यवान् मणि-माणिक्य योगी की कल्पना के विना ही उसे प्राप्त हो जाते हैं॥३७॥

योगसूत्रम्

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां [2]वीर्यलाभः॥३८॥

ब्रह्मचर्य के प्रतिष्ठित होने पर वीर्यलाभ होता है॥३८॥

व्यासभाष्यम्

यस्य लाभादप्रतिघान्गुणानुत्कर्षयति, सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवतीति॥३८॥

जिस (ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठा) के लाभ से योगी अप्रतिहत गुणों को बढ़ाता है तथा स्वयंसिद्ध होता हुआ शिष्यों में ज्ञान का आधान करने में समर्थ होता है॥३८॥

तत्त्ववैशारदी

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। वीर्यं सामर्थ्यं यस्य लाभाद[3]प्रतिघानप्रतीघातान्गुणा-नणिमादीनुत्कर्षयत्युपचिनोति। सिद्धश्च तारादिभिरष्टाभिः सिद्धिभिरूहाद्यपरनामभिरुपेतो विनेयेषु शिष्येषु ज्ञानं योगतदङ्गविषयमाधातुं समर्थो भवतीति॥३८॥

सूत्र है–'ब्रह्मचर्येति।' सूत्रगत 'वीर्य' शब्द का अर्थ है–सामर्थ्य। ब्रह्मचर्यनिष्ठ योगी इस सामर्थ्य से 'अप्रतिघ' अर्थात् इच्छापूर्ति में बाधा न डालने वाली (अप्रतीघात) अणिमादि सिद्धियों का सञ्चय करता है। 'तारा' आदि आठ सिद्धियों, जिनका अपर पर्याय 'ऊह' आदि भी है, से युक्त होकर ब्रह्मचर्यवान् योगी शिष्यों में 'ज्ञान' अर्थात् योग और उसके साधनभूत यमादि को स्थापित करने में समर्थ होता है॥३८॥

---

1. क ख ग घ च छ–दिक्कानि।
2. सामर्थ्य०–इति पाठान्तरम्।
3. क ग थ द ध–अप्रतिघान् अप्रतिघातान्, घ च छ ज झ त न–अप्रतिघातप्रतिघातान्, ख–अप्रतिघान्.../अप्रतिघात०...नोपलभ्यते।

बालप्रिया–

'तारादिभिः'–इस पद से आठ प्रकार की सिद्धियाँ अभिप्रेत हैं। इनके नाम हैं–तार, सुतार, तारतार, रम्यक्, सदामुदित, प्रमोद, प्रमुदित तथा प्रमोदमान। सांख्यकारिका में इन को 'ऊहादि' शब्द से अभिहित किया गया है। तदर्थ सांख्यकारिका इक्यावन द्रष्टव्य है–

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः॥३८॥

योगवार्त्तिकम्

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। वीर्यं शक्तिविशेषं लक्षयति–यस्येति। यस्य वीर्यस्य लाभात्प्रतीघातवर्जितान् गुणान् ज्ञानक्रियाशक्तीरुत्कर्षयति योगी वर्धयति तथा सिद्धः स्वयं-ज्ञानी भूत्वा शिष्येषु ज्ञानाधानसमर्थश्च भवतीत्यर्थः॥३८॥

सूत्र है–'**ब्रह्मचर्येति**' भाष्यकार शक्तिविशेषरूप '**वीर्य**' का स्वरूप बताते हैं–'**यस्येति**' जिस वीर्य की प्राप्ति से योगी प्रतीघातरहित अर्थात् अप्रतिबन्धित ज्ञान-शक्ति और क्रियाशक्तिरूप गुणों की उत्तरोत्तर वृद्धि करता है और स्वयं ज्ञानी होकर शिष्यों में ज्ञान का आधान करने में समर्थ होता है॥३८॥

योगसूत्रम्

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्म[1]कथन्तासंबोधः॥३९॥

'अपरिग्रह' के स्थिर होने पर जन्म तथा उसके प्रकार का सम्यग्ज्ञान होता है॥ ३९॥

व्यासभाष्यम्

अस्य भवति। कोऽहमासं, कथमहमासं, किंस्विदिदं कथंस्विदिदं, के वा भविष्यामः, कथं वा भविष्याम इत्येवमस्य पूर्वान्त[2]परान्तमध्येष्वात्मभावजिज्ञासा स्वरूपेणोपावर्तते। एता यमस्थैर्ये सिद्धयः॥३९॥

(यह यथार्थ ज्ञान) इस योगी को प्राप्त होता है। "मैं कौन था, किस प्रकार से स्थित था, यह वर्तमान शरीर क्या है, यह शरीर किस प्रकार से स्थित है, आगे के जन्मों में हम क्या होंगे तथा किस प्रकार के होंगे"?–इस प्रकार से अपरिग्रहनिष्ठ योगी की भूत, भविष्य तथा वर्तमान (पूर्व, पर तथा

---

1. कर्मता०–इति पाठान्तरम्।
2. क ग–अपरान्त०, ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–परान्त०।

मध्य) काल से सम्बद्ध आत्मविषयिणी जिज्ञासा स्वतः उत्पन्न होती है। ये सब यमों के स्थिर हो जाने पर प्रादुर्भूत होने वाली सिद्धियाँ हैं॥३९॥

तत्त्ववैशारदी

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः। निकायविशिष्टैर्देहेन्द्रियादिभिः संबन्धो जन्म। तस्य कथन्ता किंप्रकारता। तस्याः संबोधः साक्षात्कारः। सप्रकारातीन्द्रियशान्तोदिताव्यपदेश्यजन्मपरिज्ञानमिति यावत्। अतीतं जिज्ञासते–कोऽहमासमिति। तस्यैव प्रकारभेदमु[1]त्पादे स्थितौ च जिज्ञासते–कथमहमासमिति। वर्तमानस्य जन्मनः स्वरूपं जिज्ञासते–किंस्विदिति। शरीरं भौतिकं किं भूतानां समूहमात्रमाहोस्वित्तेभ्योऽन्यदिति? अत्रापि कथंस्विदित्यनुषज्जनीयम्। क्वचित्तु पठ्यत एव। अनागतं जिज्ञासते–के वा भविष्याम इति। अत्रापि कथंस्विदित्यनुषङ्गः। एवमस्येति। पूर्वान्तोऽतीतः कालः [2]परान्तो भविष्यन्मध्यो वर्तमानस्तेष्वात्मनो भावः शरीरादिसम्बन्धस्तस्मिन् जिज्ञासा ततश्च ज्ञानम्। यो हि यदिच्छति स तत्करोतीति न्यायात्॥३९॥

सूत्र है–'अपरिग्रहेति।' तत्त्ववैशारदीकार सूत्रगत 'जन्म' शब्द का अर्थ बतलाते हैं–देवत्व, मनुष्यत्वादि जातिविशिष्ट देह, इन्द्रिय आदियों के साथ पुरुष का जो 'अभिसम्बन्ध' होता है, उसे 'जन्म' कहते हैं। इस प्रकार के जन्म की 'कथन्ता' अर्थात् किंप्रकारता का साक्षात्कार योगी को होता है। अर्थात् प्रकारसहित प्रत्यक्ष के अविषयीभूत शान्त (भूत), उदित (वर्तमान) तथा अव्यपदेश्य (भविष्य) जन्म का परिज्ञान (साक्षात्कार) योगी को होता है भूतकालिक जन्म की जिज्ञासा को भाष्यकार बताते हैं–'कोऽहमासमिति।' 'विगत जन्म में मैं कौन था? उसी पूर्वजन्म की उत्पत्ति तथा स्थिति के विषय में प्रकारभेद से जिज्ञासा इस प्रकार होती है–'कथमहमासमिति'। 'अर्थात् मैं किस प्रकार से पूर्वजन्म में स्थित था'? वर्तमान जन्म की स्वरूपविषयिणी जिज्ञासा इस प्रकार होती है–'किंस्विदिति।' अर्थात् यह वर्तमान भौतिक शरीर भूतों का समष्टिरूप ही है अथवा उससे भिन्न है? वर्तमान शरीरविषयिणी जिज्ञासा के प्रसंग में भी 'कथंस्वित्' इस जिज्ञासा का अध्याहार कर लेना चाहिये। अर्थात् मैं किस प्रकार से स्थित हूँ–ऐसी जिज्ञासा होती है। कुछ संस्करणों में 'कथंस्वित्' ऐसा पाठ मिलता भी है। अनागतकाल की शरीरविषयिणी जिज्ञासा का स्वरूप भाष्यकार बताते हैं–'के वा भविष्याम इति।' अर्थात् भावी अनन्त जन्मों में हम कौन होंगे? यहाँ पर भी 'कथंस्वित्' इस पद का अध्याहार कर लेना चाहिये। अर्थात् भावी अनन्त जन्मों में हम किस प्रकार से स्थित होंगे?-ऐसी जिज्ञासा होती है।

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न–उत्पादे, थ द ध–उत्पत्तौ।
2. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न–परान्तः, त–अपरान्तः।

विषय को उपसंहृत किया जा रहा है–'एवमस्येति' भाष्य में आये 'पूर्वान्त' शब्द का अर्थ है–अतीतकाल, 'परान्त' शब्द का अर्थ है–भविष्यत्काल तथा 'मध्य' शब्द का अर्थ है–वर्त्तमानकाल। इस प्रकार अतीतादि जन्मों में आत्मा का शरीरादि से जो संबंध होता है, तद्विषयिणी जिज्ञासा योगी को होती है और इसके बाद तद्विषयक साक्षात्कार (ज्ञान) होता है। यह न्याय (नियम) है कि 'जो जिस चीज की इच्छा करता है, उसे वह वस्तु प्राप्त हो जाती है'॥३९॥

बालप्रिया–

'अत्रापि कथंस्विदित्यनुषङ्गः'–यह शब्दावली तत्त्ववैशारदी में दो बार प्रयुक्त हुई है। यहाँ द्वितीय आवृत्ति के विषय में विचार किया जा रहा है कि भाष्य में जहाँ **'कथं वा भविष्याम इति'** ऐसा मूल पाठ उपलब्ध नहीं होता है वहाँ ही **'कथंस्वित्'** पद का अध्याहार करना चाहिये, अन्यथा नहीं। क्योंकि **'कथं वा भविष्यामः'** ऐसा पाठ उपलब्ध होने पर तो उक्त प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। अर्थात् 'भावी अनन्त जन्मों में हम किस प्रकार होंगे'? यह जिज्ञासा स्वतः प्राप्त हो जाती है॥३९॥

योगवार्त्तिकम्

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः। **अपूर्वेण देहेन्द्रियादिसंघातेन ज्ञानहेतुः संबन्धो जन्म। तस्य कथन्ता किंप्रकारता, तयोः संबन्धः[1] साक्षात्कारो जन्मकथंतासंबोधः। तथा च शान्तोदिताव्यपदेश्यानां जन्मनां स्वरूपतः प्रकारतश्च जिज्ञासामात्रेण साक्षात्कारोऽपरिग्रहस्थैर्ये भवतीत्यर्थः। तदेतद्व्याचष्टे–अस्य भवतीति। इदं सूत्रेण सहान्वेति। कोऽहमासं कथमहमास-मित्यतीतजन्मनः स्वरूपप्रकारयोर्जिज्ञासा, किंस्विदित्यादिद्वयं वर्तमानजन्मनः स्वरूपप्रकार-जिज्ञासा, के वा भविष्याम इत्यादिद्वयं च भाविजन्मन इति। पूर्वापरान्तमध्याः भूतभविष्यद्वर्त्त-मानकालाः। तेष्वस्य योगिनः स्वजन्मजिज्ञासोत्पन्नमात्रैव स्वरूपेण स्वविषयेण ज्ञानेन उपावर्त्तते विशिष्टा भवति, नास्त्यत्र साधनापेक्षेत्यर्थः। स्वतः सर्वार्थग्रहणयोग्यस्यापि चेतसोऽतीतादीनां स्वावस्थानाम् अग्रहणं परिग्रहव्यासङ्गदोषात्। अतो परिग्रह[2]स्थैर्यात्ताः क्षणं प्रणिधानमात्रेणैव गृह्यन्त इति भावः॥३९॥**

सूत्र है–'अपरिग्रहेति'। नूतन देह तथा इन्द्रियादि संघात के साथ ज्ञान का हेतुभूत जो संबंध है, उसे 'जन्म' कहते हैं। जन्म की किंप्रकारता को 'कथन्ता' कहते हैं तथा जन्म और कथन्ता के साक्षात्कार को 'जन्मकथन्तासंबोध' कहते हैं। इस प्रकार 'अपरि-ग्रह' यम के साफल्यकाल में योगी को कौतुहल (जिज्ञासा) होते ही भूत, वर्तमान और भविष्यत्कालिक जन्मों का स्वरूपतः और प्रकारतः अपरोक्षज्ञान होता है।

---

1. क ग–संबोधः, ख घ च छ–संबन्धः (उभयत्र)।
2. क ख ग घ–स्थैर्ये च छ–स्थैर्यात्।

भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं–'**अस्य भवतीति**।' '**अस्य भवति**' इत्यंश को सूत्र के साथ अन्वित किया जाता है। मैं कौन था', मैं किस प्रकार से स्थित था'–यह अतीत जन्म की 'स्वरूप' और 'प्रकार' विषयिणी जिज्ञासा है। 'यह शरीर क्या है' 'यह शरीर किस प्रकार से स्थित है' ये दो वाक्य वर्तमान जन्म के स्वरूप और प्रकारविषयक जिज्ञासापरक हैं। 'भावी जन्मों में मैं क्या होऊँगा' अथवा मैं किस प्रकार से स्थित होऊँगा'–ये दो वाक्य भाविजन्मविषयक जिज्ञासापरक हैं। 'पूर्व' शब्द भूत, 'अपरान्त' शब्द भविष्यत् तथा 'मध्य' शब्द वर्तमान काल का वाचक है। अपरिग्रहप्रतिष्ठ योगी भूत, भविष्यत् और वर्तमान में बीते हुए स्वजन्म की जिज्ञासा की उत्पत्तिमात्र से आत्मविषयक ज्ञानवान् हो जाता है। अर्थात् आत्मविषयक ज्ञान के लिये योगी को अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रहती है। स्वजन्मविषयिणी जिज्ञासा से ही आत्मविषयिणी जिज्ञासा शान्त हो जाती है। क्योंकि परिग्रहव्यासङ्गदोष (वैभव से जुड़े रहने के दोष) के कारण सभी पदार्थों को ग्रहण करने की क्षमता रखने वाला चित्त अपनी अतीतादि अवस्थाओं को नहीं जान पाता है। किन्तु अपरिग्रहविषयक स्थैर्य आने पर योगी अपनी अतीतादि अवस्थाओं को क्षण भर में ही चिन्तनमात्र से जान लेता है॥३९॥

सम्प्रति, भाष्यकार अगले सूत्र की अवतरणिका लिखते हैं–

व्यासभाष्यम्

नियमेषु वक्ष्यामः।

(पांच भेद वाले) नियम के सिद्ध होने पर योगी को जो-जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उन्हें अब कहेंगे–

योगसूत्रम्

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४०॥

(बाह्य) शौच की स्थिरता से योगी में अपने अङ्गों के प्रति घृणा तथा अन्य प्राणियों के अङ्गों को स्पर्श करने की भावना जागरित नहीं होती है॥४०॥

व्यासभाष्यम्

स्वाङ्गे जुगुप्सायां शौचमारभमाणः कायावद्यदर्शी कायानभिष्वङ्गी यतिर्भवति। किं च परैरसंसर्गः कायस्वभावावलोकी स्वमपि कायं जिहासुर्मृज्जलादिभिराक्षालयन्नपि कायशुद्धिमपश्यन्कथं परकायैरत्यन्तमेवाप्रयतैः संसृज्येत॥४०॥

अपने शरीर के अङ्गों के प्रति घृणा (ग्लानि) उत्पन्न होने पर शारीरिक पवित्रता को करता हुआ योगी शरीर के दोषों को जानकर शरीरविषयक आसक्ति से रहित हो जाता है। केवल इतना ही नहीं, वह योगी दूसरों के साथ संसर्ग करने की इच्छा से भी रहित हो जाता है। क्योंकि शरीर के स्वभाव को जानता हुआ वह योगी अपने शरीर को भी त्यागने की इच्छा करता है। मिट्टी, जल आदि से क्षालन करने पर भी अपने शरीर की भी जब वह शुद्धि नहीं देखता, तब अत्यन्त मलिन परकाय के साथ कैसे संसर्ग करेगा? अर्थात् कभी नहीं करेगा॥४०॥

तत्त्ववैशारदी

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः। अनेन बाह्य[1]शौचसिद्धिसूचकं कथितम्॥ ४०॥

सूत्र है–'शौचादिति' इस सूत्र के द्वारा बाह्य-शौच की सिद्धि का संकेत किया गया है॥४०॥

बालप्रिया–

'स्थानाद् बीजात्'..विगत श्लोक में उक्त प्रकार से शरीरदोषदर्शनशील योगी को **'कायावद्यदर्शी'** कहा गया है तथा शरीराध्यासरहित यति को **'कायाऽनभिष्वङ्गी'** कहते हैं।

'अप्रयतैः परकायैः'–इसका अर्थ है–मलिन अथवा शवतुल्य शरीरों से॥४०॥

योगवार्त्तिकम्

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः। शौचात् शौचस्थैर्यात्। अनेन सूत्रेण बाह्यशौच-स्थैर्यस्य सिद्धिरुच्यते। जुगुप्सा कुत्सा अशुचित्वदोषदर्शनं तस्याशेषतः साक्षात्कार इति यावत्। शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सायां युक्तिमप्याह–स्वाङ्ग इति। यत पूर्वमल्पजुगुप्सया शौचमभ्यस्तम् अतोऽतिशयितजुगुप्सा शौचफलं युक्तेत्याशयः। जुगुप्सां विवृणोति–कायेति। अवद्यं दोषः। तज्ज्ञानस्य फलमाह–कायानभिष्वङ्गी[2]ति। शेषं सुगमम्॥४०॥

सूत्रगत 'शौचात्' पद का अर्थ है–शौचसंज्ञक नियम के स्थिर होने से। प्रकृत सूत्र के द्वारा बाह्यशौचविषयिणी सिद्धि कही गई है। 'जुगुप्सा' शब्द का अर्थ घृणा है। अशुचित्वदोषदर्शन को जुगुप्सा कहते हैं। शौचप्रतिष्ठ योगी को शरीरसम्बन्धिनी अशुचिता का पूर्णरूप से साक्षात्कार होता है। भाष्यकार 'शौच' से होने वाली स्वशरीरसंबंधी घृणा के विषय में युक्ति को भी प्रस्तुत करते हैं–'स्वाङ्ग इति' प्रारम्भ में शरीरगत अशुचिताविषयिणी अल्पमात्रिक घृणा के द्वारा योगी 'शौच' नियम का

---

1. ख ग घ छ झ त थ द ध न–शौच०, क च ज–शौचम्।
2. क ख ग घ–अभिष्वङ्गः प्रीतिः (इति–पश्चात्) उपलभ्यते, च छ–अभिष्वङ्गः प्रीतिः–नोपलभ्यते।

अभ्यास करता है। अतः अतिशयित जुगुप्सा 'शौच' के फल से साधक को युक्त करती है। भाष्यकार जुगुप्सा का विवरण करते हैं–'कायेति।' 'अवद्य' शब्द का अर्थ है–दोष। भाष्यकार शरीरसंबंधी दोषदर्शन के फल को बतलाते हैं–'कायानभिष्वङ्गीति।' कायदोषदर्शी योगी शरीरमात्र के प्रति आसक्तिरहित हो जाता है। शेष भाष्य सुगम है॥४०॥

बालप्रिया–

नियमेषु वक्ष्यामः'–योगभाष्य में प्रकृत सूत्र की अवतरणिका के रूप में '**नियमेषु वक्ष्यामः**' ऐसा वाक्य उपलब्ध होता है। किन्तु वाचस्पति मिश्र और विज्ञानभिक्षु दोनों ने ही इस वैयासिक वाक्य को प्रतीक रूप से नहीं उठाया है। इससे तथा-कथित वैयासिक वाक्य की प्रक्षिप्तता के विषय में सन्देह होता है?॥४०॥

व्यासभाष्यम्

किञ्च-

और भी

योगसूत्रम्

सत्त्व[1]शुद्धिसौमनस्यै[2]काग्र्येन्द्रियजया[3]त्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥४१॥

बुद्धिशुद्धि, मन की प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियों पर विजय तथा आत्मसाक्षात्कार की योग्यता आती है॥४१॥

व्यासभाष्यम्

[4]भवन्तीति वाक्यशेषः। शुचेः सत्त्वशुद्धिस्ततः सौमनस्यं तत ऐकाग्र्यं तत इन्द्रियजयस्ततश्चात्मदर्शनयोग्यत्वं बुद्धिसत्त्वस्य भवतीत्ये[5]तच्छौचस्थैर्यादधिगम्यत इति॥४१॥

'भवन्ति' सूत्रवाक्य का शेष है। (आभ्यन्तर) शौच से बुद्धि-शुद्धि होती है, चित्तसत्त्व की शुद्धि से सौमनस्य अर्थात् मानसिक प्रीति होती है, सौमनस्य से एकाग्रता प्राप्त होती है, एकाग्रता से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है तथा

---

1. शुद्धौ–इति पाठान्तरम्।
2. एकाग्रता–इति पाठान्तरम्।
3. तथात्मदर्शने–इति पाठान्तरम्।
4. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–भवन्तीति वाक्यशेषः। शुचेः सत्त्वशुद्धिस्ततः सौमनस्यं तत ऐकाग्र्यं तत इन्द्रियजयः, छ–सत्त्वशुद्धौ सौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयः।
5. क ख ग घ च झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–एतच्छौच०, छ–अतस्तत्, ज–एतच्छौच०/अतस्तत् नोपलभ्यते।

इन्द्रियजय से आत्मसाक्षात्कार की योग्यता बुद्धिसत्त्व को अधिगत होती है–यह सब शौच की स्थिरता से प्राप्त होता है॥४१॥

तत्त्ववैशारदी

आन्तर[1]शौचसिद्धिसूचकमाह–किं चेति। सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च। चित्तमलानामाक्षालने चित्तसत्त्वममलं प्रादुर्भवति, वैमल्याच्[2]च तत्-सौमनस्यं स्वच्छता, [3]स्वच्छं तदेकाग्रम्, ततो मनस्तन्त्राणामिन्द्रियाणां तज्जयाज्जयस्तत आत्मदर्शनयोग्यत्वं बुद्धिसत्त्वस्य भवतीति॥४१॥

आन्तर शौच के सिद्धिसूचक फल को बताया जा रहा है–'किञ्चेति।' शौच के बाह्य भेद के समान आन्तर शौच के प्रतिष्ठित होने पर भी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। उन्हें ही सूत्र के द्वारा बताया जा रहा है। सूत्र है–'सत्त्वेति।' चित्त के (ईर्ष्या आदि) मलों के 'प्रक्षालित' अर्थात् दूरीकृत होने पर 'बुद्धिसत्त्व' मलरहित हो जाता है। चित्त के मलरहित होने पर उसे 'सौमनस्य' अर्थात् मानसिक स्वच्छता प्राप्त होती है। मानसिक स्वच्छता से वह 'एकाग्र' हो जाता है। तत्पश्चात् मन के अधीन रहकर अपना-अपना कार्य करने वाली इन्द्रियाँ विजित होती हैं। तदनन्तर चित्तसत्त्व को 'आत्मसाक्षात्कार' की योग्यता प्राप्त होती है॥४१॥

योगवार्त्तिकम्

[4]अन्तःशौचस्य सिद्धिसूचकं सूत्रमवतारयति–किं चेति। सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च। एतेषु क्रमं दर्शयति–शुचेरिति। क्षालितचित्तमलस्य सत्त्वशुद्धिः सत्त्वोद्रेको भवति, ततः सौमनस्यं प्रीतिः, स्वत एवानन्दो जायते, ततश्च प्रीतचित्तस्याविक्षेपादैकाग्र्यम्, तत इन्द्रियजयः, ततश्चात्मदर्शनयोग्यत्वमिति। सूत्रद्वयार्थमुपसंहरति–एतदिति॥ एतत्सूत्रद्वयोक्तं शौचसामान्यस्य स्थैर्यात्प्राप्यत इत्यर्थः॥४१॥

भाष्यकार 'अन्तःशौच' के सिद्धि-सूचक सूत्र को अवतरित करते हैं–'किं चेति।' सूत्र है–'सत्त्वेति।' भाष्यकार आन्तर-शौच की सिद्धि का क्रम प्रदर्शित करते हैं–'शुचेरिति।' (मैत्र्यादि भावना द्वारा) रागादि मल से रहित चित्त की 'सत्त्वशुद्धि' होती है। अर्थात् चित्त में सत्त्वगुण का प्रचुर स्फुरण (उद्रेक) होता है। तदनन्तर 'सौमनस्य' अर्थात् प्रीति होती है अर्थात् सत्त्वबहुल चित्त में स्वतः आनन्द (आध्यात्मिक ह्लाद) की उत्पत्ति होती है। तदनन्तर ह्लादयुक्त चित्त विक्षेपशून्य होकर 'एकाग्र' होता है। तदनन्तर शौचप्रतिष्ठ को 'इन्द्रियवश्यता' प्राप्त होती है। फलतः इन्द्रियजयी के स्थिर

---

1. क च ज–शौचं, ख ग घ छ झ त न–शौच०, थ द ध–शौचं/शौच० नोपलभ्यते।
2. द ध–च तत् उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त थ न–च तत् नोपलभ्यते।
3. क थ ध–स्वच्छे, ख ग घ च छ ज झ त द न–स्वच्छम्।
4. क ख घ–अतः, ग–अन्नः, च छ–अत्यन्त०।

चित्त में 'आत्मदर्शन' की अद्भुत क्षमता का आधान होता है। सम्प्रति, भाष्यकार शौचप्रतिष्ठ के सिद्धिप्रतिपादक सूत्रद्वय के अभिप्राय को उपसंहृत करते हैं– 'एतदिति' इन दोनों सूत्रों द्वारा कही गईं सिद्धियाँ शौचसामान्य की दृढ़ता से प्राप्त होती हैं॥४१॥

योगसूत्रम्

सन्तोषाद[1]नुत्तमः सुखलाभः॥४२॥

सन्तोष (के स्थिर होने) से निरतिशय सुख की प्राप्ति होती है॥४२॥

व्यासभाष्यम्

तथा चोक्तम्–

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥ इति ॥४२॥

ऐसा ही (वायुपुराण में) कहा गया है–'संसार में जो कुछ इस लोक के भोगों का सुख है और जो स्वर्ग का महान् सुख है वे दोनों तृष्णाक्षय से होने वाले सुख की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं हैं'॥४२॥

तत्त्ववैशारदी

संतोषादनुत्तमः सुखलाभः। न विद्यतेऽस्मादुत्तम इत्यनुत्तमः। यथा [2]चोक्तं ययातिना पुरौ यौवनमर्पयता–

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यताम्।
तां तृष्णां संत्यजन्प्राज्ञः सुखेनैवाभिपूर्यते॥ इति।

तदेतद् दर्शयति–यच्च कामसुखं लोक इत्यादिना॥४२॥

सूत्र है–'सन्तोषादिति' तत्त्ववैशारदीकार सूत्रगत 'अनुत्तम' पद की व्युत्पत्ति करते हैं–'न विद्यतेऽस्मादुत्तम इत्यनुत्तमः अर्थात् जिससे अधिक कुछ भी उत्तम नहीं है, उसे 'अनुत्तम' कहते हैं। ऐसा अनुत्तम सुख सन्तोष से प्राप्त होता है। यही तथ्य राजा ययाति ने अपने पुत्र पुरु के प्रति यौवन अर्पित करते समय अभिव्यक्त किया है–'या दुस्त्यजा...पूर्यते' अर्थात् 'जो दुष्ट बुद्धि वाले पुरुषों के द्वारा दुस्त्यज अर्थात् कठिनाई से त्याज्य है और जो शरीर के जीर्ण होने पर भी जीर्ण नहीं होती है, उस तृष्णा का परित्याग करता हुआ विद्वान् व्यक्ति सुख (लोकोत्तर आनन्द) से ही परिपूर्ण हो

---

1. अनुत्तम०–इति पाठान्तरम्।
2. क ग घ च छ ज झ थ द ध न–चोक्तं...सुखेनैवाभिपूर्यते (इत्यनुत्तमः पश्चात्) उपलभ्यते, ख त–चोक्तं...(लोक इत्यादिना) पश्चात् उपलभ्यते।

जाता है।' इसी तथ्य को भाष्यकार ने 'यच्च कामसुखम्'—इस श्लोक के द्वारा प्रदर्शित किया है॥४२॥

बालप्रिया—

'ययातिना पुरौ यौवनमर्पयता'—ययातिः (यस्य वायोरिव यातिः सर्वत्र रथगतिर्यस्य)— ययाति चंद्रवंशी राजा नहुष के पुत्र थे। ययाति ने शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी से विवाह किया। दैत्यों के राजा वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा दासी के रूप में देवयानी के पास गई, क्योंकि इसने किसी समय देवयानी का अपमान किया था और उस अपमान की क्षति-पूर्ति के लिये शर्मिष्ठा को देवयानी की सेविका बनना पड़ा। परन्तु ययाति को इस दासी से प्रेम हो गया। फलतः उसने गुप्तरूप से उससे विवाह कर लिया। इस बात से खिन्न होकर देवयानी अपने पिता के पास चली गई और उनसे अपने पति के आचरण की शिकायत की। शुक्राचार्य ने ययाति को प्राक्कालिक वार्धक्य और अशक्तता से ग्रस्त कर दिया। ययाति ने जब बहुत अनुनय-विनय किया तो प्रसन्न होकर शुक्राचार्य ने ययाति को अनुमति दे दी कि वह अपने बुढ़ापे को जिस किसी को दे सकता है, यदि वह लेना स्वीकार करे। उसने अपने पांचों पुत्रों से पूछा, परन्तु सबसे छोटे पुरु को छोड़कर किसी ने भी बुढ़ापा लेना स्वीकार नहीं किया। फलस्वरूप ययाति ने अपना बुढ़ापा पुरु को देकर उसकी जवानी ले ली। इस प्रकार इस समृद्ध यौवन को पाकर ययाति फिर विषयवासनाओं तथा आमोद-प्रमोद में मग्न रहने लगा। इस प्रकार का क्रम एक हजार वर्ष तक चला, परन्तु ययाति को तृप्ति नहीं हुई। अन्ततोगत्वा बड़े प्रयत्न के साथ ययाति ने इस विलासी जीवन को छोड़कर, पुरु की जवानी उसको वापिस कर दी और उसे राज्य का उत्तराधिकारी बना स्वयं पवित्र जीवन बिताने तथा परमात्मचिन्तन करने के लिये वन को प्रस्थान किया। इसी अभिप्राय को उन्होंने श्लोक द्वारा अभिव्यक्त किया है।

'कामसुखम्'—ऐहिक विषयजनित सुख को 'कामसुख' कहते हैं।

दिव्यम्—स्वर्ग में प्राप्त होने वाले सुख को 'दिव्य' कहते हैं॥४२॥

योगवार्त्तिकम्

संतोषादनुत्तमसुखलाभः। नास्त्युत्तमं सुखं यस्मात्तादृश[1]सुखस्य लाभः संतोष-स्थैर्याद्भवतीत्यर्थः। तृष्णाक्षयो हि संतोषः। तृष्णाप्रतिबन्धापगमे च चित्तस्य स्वाभाविक-सत्त्वाधिक्यनिमित्तिका सुखस्वभावता स्वत एवाविर्भवति, न तत्सुखे विषयापेक्षेति तन्निर्विषयं शान्तिसुखम् आत्मसुखमुच्यते, ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः

1. क ख घ च छ—सुखस्य, ग—सुख०।

श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य इत्यादिश्रुतेः। ईश्वरस्य पूर्णकामत्वात् श्रोत्रियस्य च ज्ञानेन कामक्षयादुभयोरेव वैतृष्ण्यस्य तुल्यतया समानं सुखमित्याशयः। बुद्धेः सत्त्वात्मकतया सुखस्वभावत्वेन जीवेऽपि नित्यं सुखमिदमेव गीयते, स्वाभाविकस्य यावद्द्रव्यभावित्वात्। तमसा पिहितत्वेन च सदाऽनभिव्यक्तत्वात्। न पुनश्चितिरेव सुखस्वरूपिणी, चिन्मात्रत्वश्रुतिस्मृतिसूत्रविरोधादेरुक्तत्वाद् इति। [1]संतोषादभिव्यक्तसुखस्यानुत्तमत्वे स्मृतिमुदाहरति–तथा चोक्तमिति। कामसुखं [2]कामेभ्यो लौकिकविषयेभ्यः सुखं दिव्यं संकल्पमात्रोत्थविषयजम्, संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति इत्यादिश्रुतेः। [3]तृष्णाक्षयसुखस्य तृष्णाक्षयाभिव्यक्तसुखस्येत्यर्थः। विदेहकैवल्ये तु सुखवाक्यानि दुःखनिवृत्त्या गौणानीति॥४२॥

सूत्र है–'सन्तोषादिति।' सन्तोष (सन्तोषस्थैर्य) से वह सुख प्राप्त होता है, जिससे उत्तम और कोई सुख नहीं है। तृष्णाक्षय (लिप्सा का दमन) ही 'सन्तोष' कहलाता है। तृष्णारूप प्रतिबन्ध के दूर हो जाने पर चित्त में स्वाभाविक सत्त्वगुण के आधिक्य के कारण सुखस्वभावता स्वतः स्फुरित (आविर्भूत) होती है और ऐसे सुख के विषय में चित्त को विषय की अपेक्षा नहीं रहती है। यह निर्विषयक दिव्य सुख है, जिसे आत्मसुख कहते हैं। इसमें श्रुति प्रमाण है–**'ते ये शतं...चाकामहतस्य'** (तै. उप. २/८) अर्थात् 'प्रजापति के सौ आनन्दों के समान ब्रह्मा का एक आनन्द है। वेद को जानने वाला कामनाओं से मुक्त पुरुष उस आनन्द को स्वभाव से ही प्राप्त कर लेता है।' तात्पर्य यह है कि ईश्वर के पूर्णकाम होने से तथा श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ के काम (तृष्णा) का ज्ञान के द्वारा क्षय हो जाने से दोनों में ही तृष्णाभाव की समानता की दृष्टि से सुख की तुल्यता है। बुद्धि के सत्त्वांशप्रचुरात्मक सुखस्वभाव वाला होने से जीव में भी ऐसा नित्य सुख प्रतिपादित किया गया है। क्योंकि स्वभाविक धर्म यावद्द्रव्यभावी होता है। अर्थात् जीवत्वरूप आत्मा के नित्य होने से उसका सुखस्वभाव भी नित्य है, किन्तु तमोगुण से आवृत्त होने के कारण जीव का सुख स्वभाव सर्वदा अभिव्यक्त नहीं होता है। किञ्च यह चितिशक्ति केवल सुखस्वरूपिणी ही नहीं है, अन्यथा चितिशक्ति के चिन्मात्रत्व के प्रतिपादक श्रुति-स्मृति-वाक्यों से विरोध होगा। भाष्यकार विजित सन्तोष से अभिव्यक्त होने वाले सुख की अनुत्तमता (अतुलनीयता) के विषय में स्मृतिवाक्य को उद्धृत करते हैं–'तथा चोक्तमिति।' काम्यमान (स्रक्, चन्दनादि) लौकिक पदार्थों से उत्पन्न सुख को 'कामसुख' कहते हैं तथा संकल्पमात्र से उत्थित विषयजन्य सुख को 'दिव्यसुख' कहते हैं, क्योंकि ऐसा श्रुतिवाक्य है–**'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति'** (छ. उ. ८/२/१)

---

1. क ख ग च छ–सन्तोषात्, घ–सन्तोष०।
2. क ख ग घ च–कामेभ्यः उपलभ्यते, छ–कामेभ्यः नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च–तृष्णाक्षयसुखस्य उपलभ्यते, छं–तृष्णाक्षयसुखस्य नोपलभ्यते।

अर्थात् 'योगी के संकल्पमात्र से ही पितरजन उपस्थित हो जाते है।' श्लोक में प्रयुक्त 'तृष्णाक्षयसुख' शब्द का अर्थ है–'लोभनाश से अभिव्यक्त होने वाला सुख'। विदेहकैवल्य के विषय में सुखप्रतिपादक वाक्य दुःखनिवृत्तिपरक होने से गौणरूप है॥४२॥

योगसूत्रम्

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः॥४३॥

तप से अशुद्धि का नाश होने पर कायसिद्धि तथा इन्द्रिय-सिद्धि प्राप्त होती है॥४३॥

व्यासभाष्यम्

निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्ध्यावरणमलम्। तदावरणमलापगमात्काय-सिद्धिरणिमाद्या। तथेन्द्रियसिद्धिर्दूराच्छ्रवण[1]दर्शनाद्येति॥४३॥

(विधिवत्) किया गया तप अशुद्ध्यावरणरूप मल को नष्ट कर देता है। उस आवरणरूप मल के दूर हो जाने से अणिमादि कायसिद्धि तथा दूर से सुनना, देखना आदि इन्द्रियसिद्धि प्राप्त होती है॥४३॥

तत्त्ववैशारदी

तपःसिद्धिसूचकमाह–कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। अशुद्धिलक्षणमावरणं ताम-समधर्मादि। अणिमाद्या महिमा लघिमा प्राप्तिश्च। सुगमम् ॥४३॥

पतञ्जलि तपःसिद्धि के परिचायक सूत्र को बताते हैं–'कायेति'। तमोगुणप्रधान 'अधर्मादि' अशुद्धिलक्षणक आवरण हैं। (भाष्य में प्रयुक्त) 'अणिमादि' शब्द से अणिमा, महिमा, लघिमा तथा प्राप्ति (संज्ञक काय) सिद्धियों को लेना है। शेष भाष्य सरल है॥४३॥

योगवार्त्तिकम्

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। व्याचष्टे–निर्वर्त्यमानमिति। अशुद्धिर[2]धर्म-स्तामसो गुणः, सैवाणिमादिशक्तेरावरको [3]मल इत्यर्थः। अणिमादिसिद्धीर्विभूतिपादे व्याख्या-स्यति। शेषं सुगमम् ॥४३॥

सूत्र है–'कायेति'। भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं–'निर्वर्त्यमानमिति'। 'अशुद्धि' अधर्म को कहते हैं और यह अशुद्धि तमोगुण का धर्म है। अशुद्धि अणिमादि शक्ति

---

1. क ख ग ज–मनन०, घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–दर्शन०।
2. क घ च छ–अधर्मः, ख ग–अधर्मादि०।
3. क ख ग घ–मलः, च छ–मतः।

को आवृत्त करने वाला मल है। अणिमादि सिद्धियाँ विभूतिपाद में कही जायेंगी। शेष भाष्य सुगम है॥४३॥

योगसूत्रम्

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः॥४४॥

सिद्धस्वाध्याय से अभीप्सित देवताओं का दर्शन होता है॥४४॥

व्यासभाष्यम्

देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति कार्ये चास्य वर्तन्त इति॥४४॥

देवता, ऋषि और सिद्धगण स्वाध्यायपरायण योगी को दिखलाई पड़ते हैं और उसके काम आते हैं॥४४॥

तत्त्ववैशारदी

स्वाध्यायसिद्धिसूचकमाह—स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः।सुगमम्॥४४॥

सूत्रकार स्वाध्यायसिद्धि के सूचक को बतलाते हैं—'स्वाध्यायेति।' भाष्यार्थ सरल है॥४४॥

योगवार्त्तिकम्

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः। संप्रयोगो दर्शनं यां देवतां द्रष्टुमिच्छति सैव दृश्या भवतीत्यर्थः। सुगमं भाष्यम् ॥ ४४॥

सूत्र है—'स्वाध्यायेति।' 'संप्रयोग' शब्द का अर्थ 'दर्शन' है। स्वाध्यायशील योगी जिस देवता को देखने की इच्छा करता है, वही देवता उसे दिखाई पड़ जाता है। शेष भाष्य सुगम है॥४४॥

योगसूत्रम्

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥४५॥

ईश्वर-प्रणिधान से समाधिसिद्धि (प्राप्त) होती है॥४५॥

व्यासभाष्यम्

ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिर्यया सर्वमीप्सितमवितथं जानाति देशान्तरे [1]देहान्तरे कालान्तरे च। ततोऽस्य प्रज्ञा यथाभूतं [2]प्रजानातीति॥४५॥

---

1. क ख ग घ च छ ज़ ज झ त थ द ध न प ब भ म य—देहान्तरे उपलभ्यते, फ र—देहान्तरे नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—प्रजानाति, ब—जानाति।

अपनी समस्त क्रियाओं को ईश्वर में समर्पित करने वाले योगी को समाधि-सिद्धि प्राप्त होती है, जिस (प्रज्ञारूप सिद्धि) के माध्यम से योगी अन्य देश, अन्य देह तथा अन्य काल में स्थित सभी अभीष्ट बातों को निर्भ्रान्त रूप से जानता है। तदनन्तर इस योगी की बुद्धि (पदार्थों का) यथार्थ रूप से साक्षात्कार करती है॥४५॥

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार **'नियम'** के अन्तिम भेद **'ईश्वरप्रणिधान'** की सिद्धि के प्रतिपादक सूत्र की व्याख्या करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। न च वाच्यमीश्वरप्रणिधानादेव चेत्सम्प्रज्ञातस्य समाधेरङ्गिनः सिद्धिः कृतं सप्तभिरङ्गैरिति, ईश्वरप्रणिधानसिद्धौ दृष्टादृष्टावान्तरव्यापारेण तेषामुपयोगात् संप्रज्ञातसिद्धौ च संयोगपृथक्त्वेन दध्न इव क्रत्वर्थता पुरुषार्थता च।

सूत्र है–**'समाधीति'।** ईश्वरप्रणिधान के फल को लेकर विचार किया जा रहा है–

शङ्का–यदि ईश्वरप्रणिधान से ही अङ्गिरूप सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि (उपलब्धि) हो जाती है तो शेष सात अङ्गों (यम, शौचादि चार भेद वाला नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा तथा ध्यान) से कौन सा प्रयोजन सिद्ध होता है? अर्थात् योग के सातों अङ्गों का प्रतिपादन व्यर्थ है?

समाधान–पूर्वपक्षी को ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि ईश्वरप्रणिधान की सिद्धि में और सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि में अन्य सप्ताङ्गों का दृष्टादृष्ट अवान्तरव्यापार द्वारा उपयोग होता है। अतः ये सात अंग व्यर्थ नहीं हैं। जैसे संयोगपृथक्त्वन्याय से दधि **'क्रत्वर्थ'** (यज्ञानुष्ठानार्थ) और **'पुरुषार्थ'** (काम्यफल-सम्पादनार्थ) दोनों के लिये होता है।

बालप्रिया–

'दृष्टादृष्टावान्तरव्यापारेण'–ईश्वरप्रणिधान तथा सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि में इतराङ्गों की उपयोगिता है, न कि व्यर्थता। इन सप्ताङ्गों की उपयोगिता दृष्टादृष्ट द्वार से निष्पन्न होती है। इनकी दृष्टादृष्टद्वारता इस प्रकार है–इनमें से आसनादि छह अङ्ग द्वन्द्व-निवृत्ति आदि दृष्टफलसम्पादन द्वारा ईश्वरप्रणिधान और सम्प्रज्ञात-समाधि की सिद्धि में उपयोगी (सहायक) होते हैं और यमादि हिंसादि अशुद्धि-क्षयरूप अदृष्टफल द्वारा उपयोगी बनते हैं।

एक अङ्ग की दृष्टादृष्टोभयार्थकता को सिद्ध करने के लिये तत्त्ववैशारदीकार ने जैमिनीय दृष्टान्त को **'संयोगपृथक्त्वेन दध्न इव क्रत्वर्थता पुरुषार्थता च'** इस पंक्ति द्वारा उपन्यस्त किया है। जिस प्रकार 'संयोग' अर्थात् विनियोजक वाक्य के 'पृथक्त्व' अर्थात् भिन्न-भिन्न होने से एक ही दधि में **क्रत्वर्थत्व** और **पुरुषार्थत्व** दोनों हैं अर्थात्

दधि दोनों फलों की सिद्धि में साधन बनता है उसी प्रकार यहाँ सूत्रकार की **'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्'** इस उक्ति के बल (प्रभाव) पर यमादि सातों अङ्ग ईश्वरप्रणिधान तथा सम्प्रज्ञातसमाधि की सिद्धि के लिये स्वीकार किये गये हैं। तथ्य का स्पष्टीकरण इस प्रकार है–

मीमांसापक्ष–पूर्वतंत्र में 'संयोगपृथक्त्व' न्याय विवेचित है। अग्निहोत्र प्रकरण में **'दध्ना जुहोति'** यह वाक्य सुना जाता है। तदनन्तर उसी प्रकरण में **'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्'** यह वाक्य पढ़ा गया है। इन दो वाक्यों को लेकर निम्नाङ्कित शंका होती है–

शङ्का–**'दध्ना जुहोति'** अर्थात् 'दधि से याग करे'–इस वाक्य से दधि नित्ययाग का साधन बनता है और दूसरे वाक्य से वह 'इन्द्रियकाम' रूप काम्यफल का साधन बनता है। यहाँ पर यह सन्देह होता है कि नित्ययाग के लिये होने पर भी दधि क्या काम्यपुरुषार्थ के लिये भी है अथवा नहीं? यदि फलार्थत्व की दृष्टि से दधि का अनित्य संयोग स्वीकार किया जाय तो दधि नित्ययाग का अङ्ग नहीं बन सकेगा। इस प्रकार **'यद् दध्ना जुहोति तदिन्द्रियार्थम्'**–से नित्य होने पर भी जो दधि सुनाई पड़ता है, वह काम्यार्थ ही सिद्ध होता है, नित्य में दधि का विधान नहीं हो पाता है।

समाधान–इस स्थिति में **'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्** (४/३/५/२) न्याय का आश्रय लिया गया है। इस न्याय के अनुसार **'एकस्य'** अर्थात् दध्यादि को **'उभयत्वे'** अर्थात् क्रत्वर्थत्व और पुरुषार्थत्व दोनों के लिये मानने में **'संयोगस्य'** अर्थात् क्रत्वर्थ और पुरुषार्थबोधक विनियोजक वाक्य का **'पृथक्त्वम्'** अर्थात् भिन्नत्व नियामक है। निष्कर्षतः **'संयोगपृथक्त्व'** न्याय से दधि क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ दोनों के लिये है।

योगपक्ष–इसी प्रकार दृष्टादृष्टव्यापार द्वारा योगमत में यमादि सप्ताङ्गों की उभयार्थकता सिद्ध हो जाती है। आगे चलकर **'त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः'** ३/७ सूत्र में यमादि पांच की दृष्टि से धारणादि तीन को सम्प्रज्ञात समाधि का अन्तरङ्ग साधन बताया जायेगा। इसी को दृष्टिगत रखते हुए पूर्वपक्षी को अधोलिखित शंका हो सकती है–

शङ्का–ईश्वरप्रणिधान के पश्चात् सम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है, ऐसा कहने से ईश्वरप्रणिधान सम्प्रज्ञात समाधि का अन्तरङ्ग साधन होगा, क्योंकि यह नियम है कि जिसके पश्चात् (ईश्वरप्रणिधान के पश्चात्) जो होता है (सम्प्रज्ञात योग होता है), वह अव्यवहित पूर्ववर्ती साधन परवर्ती फल का अन्तरङ्ग साधन माना जाता है। किन्तु ईश्वरप्रणिधान के अन्तरङ्ग साधन बनने पर सम्प्रज्ञात समाधि के प्रति धारणा, ध्यान तथा समाधि इन तीनों की अन्तरङ्गता को बतलाने वाले सूत्र से विरोध होगा। इससे वाचस्पति मिश्र के उक्त व्याख्यान को सूत्रविरुद्ध मानना पड़ेगा।

पूर्वपक्षी के इसी आक्षेप को ध्यान में रखकर तत्त्ववैशारदी की आगे की पंक्तियाँ सिद्धान्तपक्ष की दृष्टि से प्रस्तुत हो रही हैं—

तत्त्ववैशारदी

न चैवमन[1]न्तरङ्गता, धारणाध्यानसमाधीनां संप्रज्ञातसिद्धौ, संप्रज्ञातसमानगोचरतयाङ्गान्तरेभ्योऽतद्गोचरेभ्योऽस्यान्तरङ्गत्वप्रतीतेः। ईश्वरप्रणिधानमपि हीश्वरगोचरं न संप्रज्ञेयगोचरमिति बहिरङ्गमिति सर्वमवदातम्। प्रजानातीति प्रज्ञापदव्युत्पत्तिर्दर्शिता॥४५॥

समाधान—इससे धारणा-ध्यान-समाधि की सम्प्रज्ञात के प्रति अन्तरङ्गता नहीं आती है। अर्थात् उपर्युक्त विवरण से धारणादि सम्प्रज्ञात के अन्तरङ्ग साधन सिद्ध नहीं हो पाते हैं, ऐसा नहीं कहना चाहिये। धारणादि तीन का सम्प्रज्ञात के प्रति अन्तरङ्ग-साधनत्व अन्य साधनों की अपेक्षया बना रहता है। क्योंकि धारणादि तीन सम्प्रज्ञात समाधि के समानविषयक हैं और अन्य यमादि साधन सम्प्रज्ञात समाधि के असमानविषयक हैं। अर्थात् 'साध्यसमानगोचरत्वं यस्य तस्यान्तरङ्गत्वम्'—न्याय के अनुसार अन्य यमादियों के समान ईश्वरप्रणिधान भी सम्प्रज्ञातसमाधि का समान-विषयक नहीं है, अपितु वह तो उससे भिन्न ईश्वरविषयक है। इसलिये ईश्वर-प्रणिधान सम्प्रज्ञात समाधि का अन्तरङ्ग साधन नहीं है, अपितु बहिरंग साधन ही है। यह बात अच्छी प्रकार से समझ लेनी चाहिये। इस प्रकार सूत्रकार और तत्त्व-वैशारदीकार के मत में एकवाक्यता है। अतः पूर्वपक्षी की ओर से विसंगति का आक्षेप निराधार है।

तत्त्ववैशारदीकार प्रस्तुत सूत्र के भाष्य की अन्तिम पंक्ति 'ततोऽस्य' के विषय में बताते हैं कि 'प्रजानाति' इस पद के द्वारा भाष्यकार ने 'प्रज्ञा' पद की व्युत्पत्ति की है। अर्थात् जो यथाभूत अर्थ का ज्ञान कराती है, उसे 'प्रज्ञा' कहते हैं। ऐसी प्रज्ञा ईश्वर-प्रणिधानजयी को प्राप्त होती है॥४५॥

योगवार्त्तिकम्

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। व्याचष्टे—ईश्वरेति। ईश्वरेऽर्पितः सर्वभावः सर्वव्यापारो येन तस्य समाधिसिद्धेर्योगनिष्पत्ति[2]र्यथा येन प्रकारेणेश्वरानुग्रहतो भवति तदुच्यते—आदौ तावद्देशाद्यन्तरस्थमपि ध्येयं सर्वं श्रवणमननकाले यथाऽर्थमेव जानाति, गुरु[3]वाक्यादा-

---

1. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न—अनन्तरङ्गता, छ—अन्तरङ्गता।
2. ख ग घ च छ—यथा येन प्रकारेणेश्वरानुग्रहतो भवति तदुच्यते—आदौ तावत् उपलभ्यते, क—यथा...तावत् नोपलभ्यते।
3. क च छ—वाक्यात्, ख ग घ—वाक्य०।

दाव[1]विपर्यस्तं भवति, ततोऽस्य योगिनः प्रज्ञा समाधिकालेऽपि यथार्थमेव साक्षात्करोतीत्यर्थः। एवं संप्रज्ञातसिद्धावसंप्रज्ञातसमाधिः स्वयमेव सिध्यतीति तत्र प्रदर्शितम्। न चेश्वरप्रणिधानादेव योगनिष्पत्तावितराङ्गवैयर्थ्यमिति वाच्यम्, ईश्वरप्रणिधानस्य मोहमात्रनिवृत्तिद्वारत्ववचनात्, द्वारान्तरेण त्वङ्गान्तराणां समाधिसाधनत्वसंभवात्। अपि च ईश्वर[2]प्रणिधानेनैव निर्विघ्नं सर्वाण्यङ्गानि संपाद्य समाधिं जनयतीति नान्याङ्गवैफल्यम्। अथ वा अन्यान्यङ्गानीश्वरप्रणिधानद्वारा समाधिं निष्पादयन्ति, इतराङ्गानां च स्वतो नैतादृशी शक्तिरस्ति इत्याशयेनेश्वरप्रणिधानस्यैव [3]तु मुख्यतः समाधिसाधकत्वं सूत्रितमिति। बहिरङ्गत्वं त्वस्य संयमद्वारकतयाऽनावश्यकतया च वक्ष्यतीति॥४५॥

सूत्र है–'समाधीति।' भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं–'ईश्वरेति।' जिसने ईश्वर के प्रति 'सर्वभाव' अर्थात् अपनी समस्त क्रियाओं को समर्पित कर दिया है, उस ईश्वरप्रणिधानजयी को 'समाधिसिद्धि' अर्थात् योग की निष्पत्ति होती है। भक्त जिस प्रकार ईश्वर से अनुगृहीत होता है, उसे भाष्यकार बताते हैं–सर्वप्रथम योगी अन्य प्रदेशों में स्थित यच्च-यावत् ध्येय पदार्थ को, उनके श्रवण तथा मननकाल में यथार्थ रूप से ही जान लेता है। गुरुवाक्य से ही उसका निर्भ्रान्त ज्ञान होता है। तदनन्तर समाधिकाल में भी योगी की प्रज्ञा वस्तु के यथार्थरूप का ही साक्षात्कार करती है। इससे यह भी दिग्दर्शित हो जाता है कि सम्प्रज्ञात समाधि के सिद्ध होने पर योगी को असम्प्रज्ञात समाधि भी सहज प्राप्त हो जाती है।

शङ्का–यदि ईश्वरप्रणिधान से ही योग-निष्पत्ति हो जाती है, तब तो समाधि को सिद्ध करने वाले अन्य अङ्ग व्यर्थ हैं?

समाधान–ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि ईश्वरप्रणिधान को मोहमात्र की निवृत्ति का द्वार कहा गया है। और यमादि अन्य अङ्गों में तो द्वारान्तर से समाधि के प्रति साधनत्व संभव है। दूसरी बात यह है कि योगी ईश्वरप्रणिधान से ही यमादि सभी अङ्गों को निर्विघ्नतापूर्वक सम्पादित करके समाधि को प्राप्त करता है। इससे अन्य अङ्गों का वैफल्य नहीं होता है। अथवा ऐसा भी कहा जा सकता है कि अन्य योगाङ्ग ईश्वरप्रणिधान के द्वारा समाधि को निष्पादित करते हैं। अन्य योगाङ्गों में ईश्वरप्रणिधान की तरह वैसी शक्ति नहीं है, इसी अभिप्राय से ईश्वरप्रणिधान में ही मुख्यरूप से समाधिसाधकत्व को सूत्रित किया गया है। किञ्च धारणा, ध्यान तथा समाधिरूप 'संयम' के द्वार रूप से अनावश्यक होने से ईश्वरप्रणिधान के बहिरङ्गत्व को आगे प्रतिपादित किया जायेगा॥४५॥

---

1. क घ च छ–अविपर्यस्तं, ख ग–अविपर्ययः
2. क ख ग–प्रणिधानं, घ च छ–प्रणिधानेन।
3. क घ च छ–तु उपलभ्यते, ख ग–तु नोपलभ्यते।

सम्प्रति, भाष्यकार अगले सूत्र की अवतरणिका को प्रस्तुत करते हैं–

व्यासभाष्यम्

उक्ताः सह सिद्धिभिर्यमनियमाः। आसनादीनि वक्ष्यामः। तत्र–

(पाँच-पाँच) सिद्धियों सहित यम और नियम का प्रतिपादन किया गया। सम्प्रति, आसनादि योगाङ्गों को बतलाया जायेगा। उनमें–

योगसूत्रम्

[1]स्थिरसुखमासनम्॥४६॥

(जिससे शारीरिक) स्थिरता और सुख की प्राप्ति होती है, उसे 'आसन' कहते हैं॥४६॥

व्यासभाष्यम्

तद्यथा पद्मासनं वीरासनं भद्रासनं स्वस्तिकं दण्डासनं सोपाश्रयं पर्यङ्कं क्रौञ्चनिषदनं हस्तिनिषदनमुष्ट्रनिषदनं समसंस्थानं स्थिरसुखं यथासुखं चेत्येवमा-[2]दीनि॥४६॥

जैसे-पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, दण्डासन, सोपाश्रयासन, पर्यङ्कासन, क्रौञ्चनिषदनासन, हस्तिनिषदनासन, उष्ट्रनिषदनासन, समसंस्थानासन, स्थिरसुखासन, यथासुखासन–आदि अनेक प्रकार के आसन होते हैं॥४६॥

तत्त्ववैशारदी

उत्तरसूत्रमवतारयति--उक्ताः सह सिद्धिभिर्यमनियमाः। आसनादीनि वक्ष्याम इति। तत्र स्थिरसुखमासनम्। स्थिरं निश्चलं यत्सुखं सुखावहं तदासनमिति सूत्रार्थः। आस्यतेऽत्र आस्ते वानेनेत्यासनम्। तस्य प्रभेदानाह–तद्यथेति। पद्मासनं प्रसिद्धम्। स्थितस्यैकतरः पादो भून्यस्त एकतरश्चाकुञ्चितजानोरुपरि न्यस्त इत्येतद्वीरासनम् पादतले वृषणसमीपे संपुटीकृत्य तस्योपरि पाणिकच्छपिकां कुर्यात्तद् भद्रासनम्। सव्यमाकुञ्चितं चरणं दक्षिणजङ्घोर्वन्तरे [3]निक्षिपेत्, दक्षिणं चाकुञ्चितं [4]चरणं वामजङ्घोर्वन्तरे निक्षिपेदेतत्स्वस्तिकम्। उपविश्य श्लिष्टाङ्गुलिकौ श्लिष्टगुल्फौ भूमिश्लिष्टजङ्घोरुपादौ प्रसार्य दण्डासनमभ्यसेत्। योगपट्टकयोगात्सोपाश्रयम्। जानुप्रसारितबाहोः शयनं पर्यङ्कः। क्रौञ्चनिषदनादीनि क्रौञ्चादीनां निषण्णानां संस्थानदर्शना-

---

1. तत्र–सूत्रस्य प्रागुपलभ्यते।
2. क ग चं छ ज झ त थ द ध न फ ब भ म य–आदीनि, ख–आदि, घ प र–आदीति।
3. ख ग घ च छ ज झ त न–निक्षिपेत् उपलभ्यते, क थ द ध–निक्षिपेत् नोपलभ्यते।
4. ख ग घ च छ ज झ त न–चरणं उपलभ्यते, क थ द ध–चरणं नोपलभ्यते।

त्प्रत्येतव्यानि। पार्ष्णिपादाग्राभ्यां द्वयोराकुञ्चितयोरन्योन्यसंपीडनं समसंस्थानम्। येन संस्थाने-नावस्थितस्य स्थैर्यं सुखं [1]च सिध्यति तदासनं स्थिरसुखम्। तदे[2]तत्तत्र भगवतः सूत्रकारस्य संमतम्। तस्य विवरणम्—यथासुखं चेति ॥४६॥

भाष्यकार उत्तरसूत्र को अवतरित करते हैं—'**उक्ताः...इति**' सूत्र है—(**तत्र**)'**स्थिरेति**' जो 'स्थिर'=निश्चल और 'सुख'=सुखावह होता है उसे 'आसन' कहते हैं, यह सूत्रार्थ है। 'आसन' पद की व्युत्पत्ति है—'**आस्यतेऽत्र आस्ते वा अनेन इत्यासनम्**' अर्थात् जिसके द्वारा (स्थिरतापूर्वक और सुखपूर्वक) बैठा जाता है, उसे 'आसन' कहते हैं। भाष्यकार 'आसन' के भेदों को बताते हैं—'**तद्यथेति**'

पद्मासन—यह प्रसिद्ध आसन है।

वीरासन—एक पैर को पृथ्वी पर रखकर दूसरे पैर के घुटने को मोड़कर उसके ऊपर रखते हुए स्थिर होना '**वीरासन**' है।

भद्रासन—दोनों पैरों के तंतुओं को अण्डकोश के समीप एकत्र कर उनके ऊपर दोनों हथेलियों को सम्पुटित कर रखते हुए स्थिर होना '**भद्रासन**' है।

स्वस्तिकासन—बायें पैर को मोड़कर दाहिनी जांघ और ऊरु के बीच में स्थापित करना एवं दाहिने पैर को मोड़कर बाईं जांघ और ऊरु के बीच में स्थापित करते हुए स्थिर होना 'स्वस्तिकासन' है।

दण्डासन—बैठकर दोनों पादों की श्लिष्ट अंगुलियों, श्लिष्ट गुल्फों और भूमिश्लिष्ट जंघा और पादों को फैला देने की स्थिरता को '**दण्डासन**' कहते हैं।

सोपाश्रयासन—योगपट्टक द्वारा स्थित होना '**सोपाश्रयासन**' है। समाधिस्थ योगी की बाहुओं का आधारविशेष, जो काष्ठनिर्मित होता है, 'योगपट्टक' कहलाता है।

पर्यङ्कासन—जानुओं के ऊपर हाथ फैलाकर शयन करना '**पर्यङ्कासन**' है।

क्रौञ्चनिषदनासन—क्रौञ्चनिषदनादि आसन क्रौञ्चादि पक्षियों के आकारविशेष की स्थिति से जानने चाहिये। अर्थात् क्रौञ्च नामक पक्षिविशेष की तरह स्थित होने को '**क्रौञ्चासन**' कहते हैं। इसी प्रकार हस्तिसदृश स्थिति का नाम '**हस्तिनिषदन**' और उष्ट्रसदृश स्थिति का नाम '**उष्ट्रनिषदन**' है।

समसंस्थानासन—पार्ष्णि और पैर के अग्र भाग से आकुञ्चित दोनों जंघाओं के बीच के हिस्से को दबाना '**समसंस्थान**' है।

स्थिरसुखासन—शरीर के जिस संस्थानविशेष से अवस्थित योगी को स्थैर्य और सुख प्राप्त होता है, उसे '**स्थिरसुखासन**' कहते हैं। इन सभी आसनों में '**स्थिरसुखासन**'

---

1. ख घ च छ ज झ त न—च उपलभ्यते, क ग थ द ध—च नोपलभ्यते।
2. घ च छ ज झ त न—एतत् उपलभ्यते, क ख ग थ द ध—एतत् नोपलभ्यते।

सूत्रकार को सम्मत है और उसी का विवरण (संकेत) भाष्यकार ने किया है—'यथा सुखं चेति' ॥४६॥

योगवार्त्तिकम्

सूत्रान्तरमवतारयति—उक्ता इति। स्थिरसुखमासनम्। स्थिरं निश्चलं सुखकरं च यत्तदासनम् आस्यतेऽनेन प्रकारेणेत्यासनमित्यर्थः। आसनस्य भेदानाह—तद्यथेति। तत्र पद्माद्यासनचतुष्टयस्य लक्षणं वसिष्ठेनोक्तम्—

अङ्गुष्ठौ सन्निबध्नीयाद् हस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु।
ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्र! कृत्वा पादतले उभे॥
पद्मासनं भवेदेतत् सर्वेषामेव पूजितम्।
एकपादमथैकस्मिन् विन्यस्योरौ च [1]संस्थितः॥
इतरस्मिंस्तथा पादं वीरासनमुदाहृतम्।

अस्यैवार्द्धमर्द्धासनमप्युच्यते। तथा—

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्।
पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बध्वा सुनिश्चलः॥
भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविषापहम्।
जानूर्वोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे॥
ऋजुकायः सुखासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते॥ इति।

इतराण्यासनानि योग[2]प्रदीपाद्युक्तानि संक्षेपात्कथ्यन्ते—दण्डासनम्=उपविश्य श्लिष्टाङ्गुलिकौ श्लिष्टगुल्फौ भूमिश्लिष्टजङ्घोरुपादौ प्रसार्य दण्डवच्छयनम्, सोपाश्रयं योगपट्टयोगेनोपवेशनम्, पर्यङ्कं च जानुप्रसारितबाहोः शयनम्, क्रौञ्चनिषदनादीनि क्रौञ्चादीनां निषण्णानां संस्थानदर्शनात् प्रत्येतव्यानि, जानुनोरुपरि हस्तौ कृत्वा कायशिरोग्रीवाणामवक्रभावेनावस्थानं समवस्थानम् स्थिरसुखं च सूत्रोपात्तम्। तस्य व्याख्यानं यथासुखमिति। आदिशब्देन मायूराद्यासनानि ग्राह्याणि। यावत्यो जीवजातयस्तावन्त्येवासनानीति संक्षेपः॥४६॥

भाष्यकार अगले सूत्र को अवतरित करते हैं—'उक्ता इति' सिद्धिसहित यम और नियम योगाङ्गों को प्रतिपादित किया गया। अधुना आसनादि का प्रतिपादन किया जा रहा है। सूत्र है—'स्थिरेति' 'आस्यतेऽनेनेत्यासनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'स्थिर' अर्थात् निश्चल और सुखकर जो अवस्थिति (अवस्थान) है, उसे 'आसन' कहते हैं। भाष्यकार आसन के भेदों को प्रतिपादित करते हैं—'तद्यथेति' इन आसनों में से पद्मासनादि चार आसनों का लक्षण योगवासिष्ठ में किया गया है—'अङ्गुष्ठौ...

1. क ख घ च छ—संस्थितः, ग—संस्थितम्।
2. क घ च छ—प्रदीपादि०, ख ग—प्रदीपौ।

वीरासनमुदाहृतम्' अर्थात् 'हे विपेन्द्र! उरु के ऊपर दोनों पैरों को रखकर दायें हाथ से बायें पैर के अंगूठे को पकड़े और बायें हाथ से दायें पैर के अंगूठे को पकड़े। इसी को 'पद्मासन' कहते हैं। यह आसन सभी विद्वानों में पूज्य है। दाहिना पैर बायीं जंघा पर और बायें पैर को दाहिनी जंघा पर रखकर दोनों हाथों को घुटनों पर रखे। इसे ही 'वीरासन' कहते हैं।' इसी 'वीरासन' के अर्द्ध को 'अर्द्धासन' भी कहते हैं। भद्रासन और स्वस्तिकासन का लक्षण इस प्रकार है–'गुल्फौ च...तत्प्रचक्षते' अर्थात् 'वृषणों के नीचे सीवनी के दोनों पार्श्वभागों में इस प्रकार गुल्फों को रखे (अर्थात् वाम गुल्फ को सीवनी के वाम पार्श्व में और दक्षिण गुल्फ को दक्षिण पार्श्व में लगाकर स्थिर करे) और सीवनी के पार्श्व भागों के समीप में गये पादों को भुजाओं से बाँधकर अर्थात् परस्पर मिली हुई जिनकी अंगुली हों और जिनका तल हृदय पर लगा हो ऐसे हाथों से निश्चल रीति से थामकर जिसमें स्थिर हुआ जाता है उसे 'भद्रासन' कहते हैं। यह आसन सम्पूर्ण व्याधियों का नाशक होता है। जानु और उरु के बीच दोनों पैरों के तलुओं को लगा दे और दोनों हाथों के तलुओं को दोनों जानुओं पर स्थापित कर शरीर को सीधा करके बैठे, तो इसी का नाम 'स्वस्तिकासन है।' इसके अतिरिक्त योगप्रदीप में कहे हुए अन्य आसनों को यहाँ संक्षेप से बताया जा रहा है–भूमि में बैठकर श्लिष्ट अंगुलियों, श्लिष्ट गुल्फों और भूमिश्लिष्ट जंघाओं को फैलाकर दण्डवत् की तरह शयन करना 'दण्डासन' कहलाता है। योगपट्टयोग से बैठने को 'सोपाश्रयासन' कहते हैं। हाथों को घुटनों तक फैलाकर शयन करने को 'पर्यङ्कासन' कहते हैं। बैठे हुए क्रौञ्चादि पक्षियों की तरह आकृति बनाने को 'क्रौञ्चनिषदन' आदि आसन कहते हैं। दोनों जानुओं के ऊपर हाथों को रखकर शरीर, सिर और ग्रीवा को टेढ़ा किये विना (सीधा होकर) बैठने को 'समव-स्थानासन' कहते हैं। आसनों की स्थिर सुखता सूत्र के द्वारा गृहीत है। 'स्थिरसुख' की व्याख्या है–'यथा सुखमिति'। अर्थात् जिस प्रकार से अवस्थित देह सुख का अनुभव करे, उसे 'स्थिरसुखासन' कहते हैं। भाष्यगत 'आदि' शब्द से मयूरादि अन्य सभी आसन गृहीत होते हैं। सारांश यह है कि जीवों की जितनी जातियाँ है, उतने ही प्रकार के आसन भी हैं॥४६॥

योगसूत्रम्

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्॥४७॥

प्रयत्नशैथिल्य (शरीर की स्वाभाविक चेष्टाओं को शिथिल करने) से और 'अनन्त' नामक नागराज में चित्त को एकतान करने से 'आसन' सिद्ध होता है॥४७॥

व्यासभाष्यम्

भवतीति वाक्यशेषः प्रयत्नोपरमात्सिध्यत्यासनं येन नाङ्गमेजयो भवति। अनन्ते वा समापन्नं चित्तमासनं निर्वर्तयतीति॥४७॥

'होता है' यह क्रियापद उपर्युक्त सूत्रवाक्य का अवशिष्ट अंश है। शरीर की स्वाभाविक चेष्टाओं को शिथिल कर देने से अर्थात् (उन्हें नियंत्रित कर लेने से) आसन सिद्ध होता है, जिससे अङ्गकम्पन नहीं होता है। अथवा नागराज अनन्त में एकतान हुए चित्त को आसन निष्पन्न करता है॥४७॥

तत्त्ववैशारदी

आसनस्वरूपमुक्त्वा तत्साधनमाह–प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्। [1]स सांसिद्धिको हि प्रयत्नः शरीरधारको न योगाङ्गस्योपदेष्टव्यासनस्य कारणम्, तस्य तत्कारणत्व उपदेशवैयर्थ्यात् [2]स्वरसत एव तत्सिद्धेः। तस्मादुपदेष्टव्यस्यासनस्यायमसाधको विरोधी च स्वाभाविकः प्रयत्नः, तस्य च यादृच्छिकासनहेतुतयासननियमोपहन्तृत्वात्। तस्मादुपदिष्टनियमासनमभ्यस्यता स्वाभाविकप्रयत्न[3]शैथिल्यात्मा प्रयत्न आस्थेयो नान्यथोपदिष्टमासनं सिध्यतीति स्वाभाविकप्रयत्नशैथिल्यमासनसिद्धिहेतुः। अनन्ते वा नागनायके स्थिरतरफणासहस्रविधृतविश्वम्भरामण्डले समापन्नं चित्तमासनं निर्वर्तयतीति॥४७॥

आसन के स्वरूप को बतलाकर सूत्रकार उसके साधन को बताते हैं– **'प्रयत्नेति'**। शरीर को धारण करने वाला जो स्वाभाविक (नैसर्गिक) प्रयत्न है, वह प्रतिपाद्य (उपदेष्टव्य) 'आसन' नामक योगाङ्ग का कारण नहीं है, क्योंकि (शरीरनिष्ठ) स्वाभाविक प्रयत्न (चेष्टा) को 'आसन' का कारण (साधन) मानने पर उक्त आसन का उपदेश (अनुशासन) करना व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि अनुपदिष्ट शरीरावस्थितिरूप बैठने की आकृति (आसन) तो स्वभावतः अर्थात् प्रयत्ननिरपेक्षतः ही सिद्ध है। इसलिये शरीरधारक यह स्वाभाविक प्रयत्न उपदेशभूत 'आसन' को सिद्ध करने वाला नहीं है, अपितु उसका विरोधी (अपघातक) है। क्योंकि स्वाभाविक प्रयत्न तो यादृच्छिक अर्थात् स्वतःस्फूर्त (आकस्मिक) आसन का कारण (हेतु) है, इससे वह नियमबद्ध (शास्त्रीय) आसन का उपहन्ता (अवरोधक) कहा जाता है। इसलिये शास्त्रोक्त नियमबद्ध आसन के अभ्यासी द्वारा शरीर की स्वाभाविक चेष्टाओं को शिथिल करने से उपदिष्ट आसन सिद्ध होता है। अनियंत्रित स्वाभाविक चेष्टा वाले को आसन सिद्ध नहीं होता है। अतः स्वाभाविक **'प्रयत्नशैथिल्य'** को आसनसिद्धि का हेतु कहा गया है। अथवा अत्यन्त स्थिर सहस्र फणों पर ब्रह्माण्ड को धारण करने

---

1. न–सः उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध–सः नोपलभ्यते।
2. क ख त–स्वभावतः ग घ च छ ज झ थ द ध न–स्वरसतः।
3. क ख ग छ त थ द ध न–शैथिल्यात्, घ च ज झ–शैथिल्याय।

वाले नागनायक (सर्पनेता) 'अनन्त' में एकतानता को प्राप्त चित्त को आसनसिद्धि होती है। अर्थात् 'अनन्त' नाग में चित्त को एकतान करने से उनकी कृपा से 'आसन' सिद्ध होता है॥४७॥

बालप्रिया–

'प्रयत्नशैथिल्य'–यदि अनेक शारीरिक क्रियाओं के पश्चात् थककर आसन किया जाय तो अङ्गकम्पन होने से आसनस्थैर्य नहीं होता है। अतः शारीरिक प्रयत्नोपरम (प्रयत्नशैथिल्य) से ही आसन सिद्ध होता है। क्योंकि ऐसी स्थिति में अङ्ग-कम्पन नहीं होता है। इसलिये शरीरधारक 'प्रयत्न' को योगाङ्गभूत आसन का साधन (हेतु) नहीं कहा गया है। 'प्रयत्नशैथिल्य' ही आसन का साधक है॥४७॥

योगवार्त्तिकम्

आसनस्थैर्यस्योपायमाह–प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्। प्रयत्नशैथिल्यस्य द्वारमाह– येन नाङ्गेति। बहुव्यापारानन्तरं चेदासनं क्रियते तदाऽङ्गकम्पनादासनस्थैर्यं न भवतीत्याशयः। अनन्तेति। अथवा प्रयत्न[1]शालित्वेऽपि पृथिवीधारिणि [2]स्थिरतरशेषनागे समापन्नं तद्धारणया तदात्मताऽऽपन्नं चित्तमासनं निष्पादयतीत्यर्थः। तच्चानन्तानुग्रहाद्वा सजातीयभावनावशाद्वाऽदृष्टविशेषवशाद्वेत्यन्यदे[3]तत्॥ ४७॥

पतञ्जलि आसनस्थैर्य के उपाय को बताते हैं–'प्रयत्नेति।' भाष्यकार 'प्रयत्नशैथिल्य' (जिससे चित्त शैथिल्यशून्य होता है) के द्वार को बताते हैं–'येन नाङ्गेति।' बहुत अधिक श्रम के पश्चात् यदि आसन किया जाय तो अङ्गों के काँपने से आसनस्थैर्य नहीं हो सकता है। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'अनन्तेति।' आसनस्थैर्य के द्वितीय उपाय को बताते हैं–शरीर के चेष्टायुक्त होने पर भी पृथिवीधारक स्थिर-तर शेषनाग में समापन्न हुआ अर्थात् शेषनाग की धारणा से स्थिर-शेषनागात्मकता को प्राप्त हुआ चित्त आसन को निष्पन्न करता है। किञ्च अनन्त शेषनाग की कृपा से अथवा सजातीय भावना के कारण अथवा अदृष्टविशेष के कारण आसनस्थैर्य होता है॥४७॥

योगसूत्रम्

ततो [4]द्वन्द्वानभिघातः॥४८॥

---

1. क ग घ च छ–शालित्वे, ख–शीलत्वे।
2. क घ च छ–स्थिरतर०, ख ग–स्थिरतरे।
3. ख–अस्माच्च सूत्रात् योगजानन्तसाक्षात्कारे आसनजयो नापेक्ष्यत इत्यवगम्यते। वक्ष्यति च बहिरंगाभावे कदाचित् योगनिष्पत्तिमतो नाऽन्योन्याश्रयः (एतत्–पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ–अस्माच्च...याश्रयः नोपलभ्यते।
4. द्वन्द्वानाम्–इति पाठान्तरम्।

इसके पश्चात् आसन-सिद्धि होने पर शीतोष्णादि द्वन्द्वों से बाधा नहीं होती है॥४८॥

व्यासभाष्यम्

शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते॥४८॥

सिद्ध-आसन होने पर योगी शीतोष्णादि द्वन्द्वों से पीड़ित नहीं होता है॥४८॥

तत्त्ववैशारदी

आसनविजयसूचकमाह–ततो द्वन्द्वानभिघातः। निगदव्याख्यातं भाष्यम्। आसनमप्युक्तं विष्णुपुराणे–

एवं भद्रासनादीनां समास्थाय गुणै[1]र्युतम्। इति ॥४८॥

पतञ्जलि आसन-सिद्धि के सूचक को सूत्रित करते हैं–'तत इति' यह भाष्य अच्छी प्रकार से व्याख्यान हो चुका है। विष्णुपुराण में आसन के बारे में भी कहा गया है–'एवं...युतम्' (६/७/३९) अर्थात् 'इसलिये यति को भद्रासन आदि में से किसी एक-एक आसन के अवलम्बन में यम, नियम आदि के सेवनपूर्वक योगाभ्यास करना चाहिये॥४८॥

योगवार्त्तिकम्

आसनप्रतिष्ठायां सिद्धिमाह–ततो द्वन्द्वानभिघातः। भाष्यं सुगमम्॥४८॥

आसन के स्थिर होने पर तत्सम्बन्धी सिद्धि को पतञ्जलि बताते हैं–'तत इति' भाष्य सुगम है॥४८॥

योगसूत्रम्

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः॥४९॥

आसन के विजित होने पर श्वास और प्रश्वास की गति को रोकना 'प्राणायाम' है॥४९॥

व्यासभाष्यम्

[2]सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः। कौष्ठ्यस्य वायो[3]र्निःसारणं प्रश्वासः। तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः ॥४९॥

---

1. क ख ग ज झ थ द ध न–युतम्, घ च छ त–युतः।
2. क ग घ ध प फ ब म र–सत्यासनजये, ख च छ ज झ त थ द न भ य–सत्यासने।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब म य र–निश्सारणं, भ–निश्सरणम्।

आसन के सिद्ध होने पर बाह्य वायु को भीतर ग्रहण करना 'श्वास' है। उदरस्थ वायु को बाहर निकालना 'प्रश्वास' है। इन दोनों की स्वाभाविक गति का विच्छेद अर्थात् श्वास-प्रश्वास का अभाव होना 'प्राणायाम' है॥४९॥

तत्त्ववैशारदी

आसनानन्तरं तत्पूर्वकतां प्राणायामस्य दर्शयंस्तल्लक्षणमाह—तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः। रेचकपूरककुम्भकेष्वस्ति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद इति प्राणायामसामान्यलक्षणमेतदिति। [1]तथा हि—यत्र बाह्यो वायुराचम्यान्तर्धार्यते पूरके तत्रास्ति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः। यत्रापि कोष्ठ्यो वायु[2]र्विरेच्य बहिर्धार्यते रेचके तत्रास्ति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः। एवं कुम्भकेऽपीति। तदेतद् भाष्येणोच्यते—सत्यासनजय इति॥४९॥

'आसन' के पश्चात्, आसनपूर्वक 'प्राणायाम' को प्रदर्शित करते हुए (आसन-प्राणायाम में पूर्व-पश्चिमता को संकेतित करते हुए) सूत्रकार 'प्राणायाम' का लक्षण करते हैं—'तस्मिन्निति।' रेचक, पूरक और कुम्भक में श्वास-प्रश्वास का 'गतिविच्छेद' होता है, इसलिये श्वास-प्रश्वास का 'गतिविच्छेद' (श्वास-प्रश्वास के स्वाभाविक प्रवाह में विधिवत् नियन्त्रण)—यह प्राणायाम का सामान्यलक्षण है। भाव यह है—बाह्य वायु को अन्तःप्रविष्ट कराके जब भीतर ही धारण किया जाता है, तब श्वास-प्रश्वास का गतिविच्छेद 'पूरक प्राणायाम' कहलाता है। कोष्ठस्थ वायु को बाहर निकालकर जब बाहर ही धारण किया जाता है, तब श्वास-प्रश्वास का गतिविच्छेद 'रेचक प्राणायाम' कहलाता है। इसी प्रकार 'कुम्भक' में भी श्वास-प्रश्वास का गति-विच्छेद होता है। इसी को भाष्य के द्वारा कहा गया है—'सत्यासनजय इति।'

बालप्रिया—

'एवं कुम्भकेऽपीति'—यद्यपि 'कुम्भक' में ही श्वास-प्रश्वास का 'गतिविच्छेद' होता है, न कि 'पूरक' और 'रेचक' में, क्योंकि 'रेचक' में 'श्वास' का सद्भाव (अस्तित्व) और 'पूरक' में 'प्रश्वास' का सद्भाव (अस्तित्व) रहता है तथापि स्वाभाविक श्वासप्रश्वास-रूप 'विशिष्टाभाव' की सत्ता सर्वत्र रहती है। इसलिये 'गत्यभाव' को प्राणायाम का 'सामान्यलक्षण' ही मानना चाहिये॥४९॥

योगवार्त्तिकम्

क्रमप्राप्तं प्राणायाममाह—तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः। वक्ष्यमाणचतुर्विधप्राणायामस्यै[3]वं सामान्यलक्षणं गतिविच्छेदः शास्त्रोक्तरीत्या स्वाभाविकगतेः

---

1. क ख घ च छ ज झ त थ द ध न—तथा हि, ग—यथा हि।
2. क ख ग ज झ त थ द ध—विरिच्य, घ च छ न—विरेच्य।
3. क ख ग घ—इदं, च छ—एवम्।

प्रतिषेध इत्यर्थः। स च रेचकपूरक[1]कुम्भकेष्वनुगतः। नन्वेवं प्रत्येकस्यापि प्राणायामत्वापत्त्या त्रिभिर्मिलित्वै[2]कप्राणायाम इति—

प्राणायामस्तु विज्ञेयो रेचकपूरककुम्भकैः

इत्यादिवाक्योक्तं व्याहन्येतेति चेत्? न; त्रयाणां पौर्वापर्येण प्रथमभूमिकायां सहानुष्ठान-नियमादेकत्वव्यवहारोपपत्तेः। न तु तादृशवाक्येषु मिलितानामेव प्राणायामत्वं विवक्षितम्,

रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम्।
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः॥

इति वासिष्ठसंहिताऽऽदौ केवलकुम्भकस्यापि प्राणायामत्ववचनादिति।

सूत्रकार क्रमप्राप्त 'प्राणायाम' का वर्णन करते हैं—'तस्मिन्निति।' आगे प्रतिपादित चार प्रकार के प्राणायाम का सामान्यलक्षण 'गतिविच्छेद' है। अर्थात् शास्त्रोक्त प्रणाली से स्वतःप्रवहणशील प्राणवायु की गति को अवरुद्ध करना 'गतिविच्छेद' है। यह गतिरोध रेचक, पूरक तथा कुम्भक तीनों में उपलब्ध होता है।

शङ्का—रेचकादि तीनों में गतिरोध (की तुल्यता)होने से प्रत्येक को प्राणायाम कहा जाना उपपन्न नहीं होता है, अपितु तीनों से मिलकर एक 'प्राणायाम' बनता है। किन्तु ऐसा स्वीकार करने पर 'प्राणायामस्तु...कुम्भकैः' (याज्ञ.६/२.) अर्थात् 'रेचक, पूरक तथा कुम्भकभेद से प्राणायाम जानने योग्य होता है'—इस वाक्य द्वारा कथित प्राणायाम का त्रित्व व्याहत होगा।

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि प्राणायाम की प्रथम भूमिका में रेचकादि तीनों प्राणायामों का पौवापर्य के रूप से एक साथ अभ्यास करने का नियम होने से उनमें एकत्व व्यवहार उपपन्न हो जाता है, किन्तु प्राणायाम के एकत्वप्रतिपादक वाक्यों से यह विवक्षित नहीं होता है कि रेचकादि का सम्मिलित रूप ही 'प्राणा-याम' है, क्योंकि 'रेचकं...केवलकुम्भकः' इत्याकारक वाक्य के द्वारा वसिष्ठसंहिता के प्रारंभ में 'केवलकुंभक' को भी प्राणायाम बतलाया गया है। इससे प्राणायाम का त्रित्व भी उपपन्न हो जाता है। श्लोक का अर्थ है—'रेचक तथा पूरक को छोड़कर जिसमें सुखपूर्वक वायु को धारण किया जाता है उसे केवलकुम्भक प्राणायाम कहते हैं।'

सम्प्रति, वार्त्तिककार भाष्य की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

इदं सूत्रं व्याचष्टे— सत्यासन इति। यथा यमनियमयोरन्यकालकृतयोर्योगाङ्गत्वं नैव-

---

1. क ख ग—सर्वेष्वेव (कुम्भकेषु—पश्चात्) उपलभ्यते, घ च छ—सर्वेष्वेव नोपलभ्यते।
2. क च छ—एक०, ख ग ध—एकः।

मासनस्य, किं तु प्राणायामाद्यङ्गपञ्चकसाहित्येनेत्येतत् प्रतिपादयितुं सत्यासने इति विशेषणम्। तथा च सत्यासन इति समाधि[1]सूत्रपर्यन्तम् अनुवर्त्तनीयम्, गीतादावासनोपरागेणैव ध्यानादिस्मरणादिति। अत एव चासनादीनां षडङ्गानां सहानुष्ठेयत्वेनारादुपकारकतयाऽन्तरङ्गत्वमित्याशयेन स्मृत्यादिषु क्वचित्षडङ्गो योग उच्यते, यमनियमयोः कालान्तरीयतयाऽत्यन्तबहिरङ्गत्वादिति। आचमनमन्तः प्रवेशः। नन्वेवं प्रवेशनिर्गमरूपयोः श्वासप्रश्वासयोः [2]गतिरेव नास्तीत्याशयेनाह—उभयाभाव इति। तथा च गतिशब्दार्थोऽत्र न विवक्षितः स्वाभाविकश्वासप्रश्वासयोः प्रतिषेधः प्राणायाम इत्येवार्थः॥ ४९॥

भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'सत्यासन इति' जिस प्रकार भिन्न-भिन्न समय में अनुष्ठित यम और नियम में योगाङ्गत्व है, उस प्रकार का योगाङ्गत्व प्राणायामादि से भिन्न काल में साधित आसन में नहीं है, अपितु प्राणायामादि (उत्तरवर्ती) पाँच अङ्गों का एक साथ अनुष्ठान करने से ही आसन में योगाङ्गता आती है, यह प्रतिपादित करने के लिये ही भाष्यकार ने 'सत्यासने' यह विशेषणपद दिया है। अतः 'सत्यासने' इत्यंश का समाधिसूत्रपर्यन्त अध्याहार करना चाहिये। क्योंकि गीता आदि शास्त्रों में आसन के उपराग से ही अर्थात् आसन पर स्थित होकर ही ध्यानादि लगाने की बात कही गई है। अत एव आसनादि छह अङ्गों का एक साथ अनुष्ठान किया जाने से आरादुपकारक की दृष्टि से उन्हें योग का 'अन्तरङ्गसाधन' कहा गया है। इसी अभिप्राय से स्मृत्यादि ग्रंथों में कहीं-कहीं 'षडङ्ग योग' बतलाया गया है, क्योंकि आसनादि से भिन्न काल में यम तथा नियम का अनुष्ठान किया जाने से ये दोनों योग के अत्यन्त 'बहिरङ्ग साधन' हैं। 'आचमन' शब्द का अर्थ है—अन्तःप्रवेश। इस प्रकार बाह्यस्थ वायु को भीतर की ओर खींचना 'आचमन' कहलाता है।

शङ्का—जब वायु के प्रवेश और निर्गम रूप श्वास-प्रश्वास में गति ही नहीं होती है तब गत्यभाव को प्राणायाम कैसे कहा जा रहा है?

समाधान—इसी शंका को ध्यान में रखते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं—'उभयाभाव इति' यहाँ 'गति' शब्द का मुख्य अर्थ (क्रिया) अभिप्रेत नहीं है, अपितु स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास का प्रतिषेध प्राणायाम है, यही अर्थ यहाँ मान्य है॥४९॥

बालप्रिया—

'आरादुपकारकतयाऽन्तरङ्गत्वम्'—मीमांसाशास्त्र में विनियोग विधि के बोधक अङ्ग दो प्रकार के हैं—सिद्धरूप एवं क्रियारूप। क्रियारूप अङ्ग के दो भेद हैं—गुणकर्म तथा प्रधानकर्म। ये ही क्रमशः सन्निपत्योपकारक तथा आरादुपकारक कहे जाते हैं।

---

1. क ख घ च छ—सूत्र० उपलभ्यते, ग—सूत्र० नोपलभ्यते।
2. ग—विच्छेदः (गतिः—पश्चात्) उपलभ्यते, क ख घ च छ—विच्छेदः नोपलभ्यते।

'कर्माङ्गद्रव्याद्युद्देशेन विधीयमानं कर्म सन्निपत्योपकारकम्' (अर्थसंग्रह)–अर्थात् होमकर्म के अङ्गभूत द्रव्यादि को उद्देश्य करके विधीयमान जो कर्म है, उसे **'सन्निपत्योपकारक'** कहते हैं। तथा **'द्रव्याद्यनुद्दिश्य केवलं विधीयमानं कर्म आरादुपकारकम्'** (अर्थसंग्रह) अर्थात् द्रव्यादिरूप उद्देश्य के विना ही केवल विधीयमान जो कर्म है, उसे 'आरादुपकारक' कहते हैं। 'आरादुपकारक' की उपयोगिता परमापूर्वोत्पत्ति में ही होती है, जंब कि **'सन्निपत्योपकारक'** कर्म तो याग के स्वरूपभूत द्रव्य और देवता संस्कार द्वारा परम्परया यागोत्पत्त्यपूर्व में उपयोगी होते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में भाष्यकार प्रकृत में यह बतलाना चाहते हैं कि आसनादि षडङ्ग सहानुष्ठानप्रयुक्त होकर आरादुपकारक कर्मन्याय से सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञातरूप परमापूर्वोत्पत्ति के **'अन्तरङ्ग साधन'** हैं तथा यम-नियम सन्निपत्योपकारक कर्मन्याय से प्रोक्षणादि की भाँति परम्परया साध्य को सिद्ध करते हैं। अतः यम-नियम को योग का अत्यन्त **'बहिरङ्ग साधन'** कहा गया है। यह वार्त्तिककार के कथन का अभिप्राय है॥४९॥

व्यासभाष्यम्

[1]स तु–

और वह प्राणायाम–

योगसूत्रम्

बाह्या[2]भ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः॥५०॥

बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति तथा स्तम्भवृत्ति वाला प्राणायाम देश, काल और संख्या के द्वारा निर्णीत होकर 'दीर्घ' तथा 'सूक्ष्म' हो जाता है॥५०॥

व्यासभाष्यम्

यत्र [3]प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः। यत्र [4]श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः। तृतीयः स्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद् भवति। यथा तप्ते न्यस्तमुपले जलं सर्वतः संकोचमापद्यते तथा द्वयोर्युगपद्[5]गत्यभाव इति। [6]त्रयो-

---

1. स तु–नोपलभ्यते।
2. आन्तर–इति पाठान्तरम्।
3. क ख ग छ ज झ त थ–श्वास०, घ च द ध न प फ ब भ म य र–प्रश्वास०।
4. क ख ग घ छ ज झ त थ–श्वास०, च द ध न प फ ब भ म य र–प्रश्वास०।
5. क ग च छ ज झ त थ द ध न प ब भ म य–गत्यभावः, ख घ फ र–भवत्यभावः।
6. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–त्रयः, छ–यत्र।

ऽप्येते देशेन परिदृष्टा [1]इयानस्य विषयो [2]देश इति। कालेन परिदृष्टाः क्षणानामियत्तावधारणेनावच्छिन्ना इत्यर्थः। संख्याभिः परिदृष्टा एतावद्भिः श्वास[3]प्रश्वासैः प्रथम उद्घातस्तद्वन्निगृहीतस्यैतावद्भिर्द्वितीय उद्घात एवं तृतीयः एवं मृदुरेवं मध्य एवं तीव्र इति संख्यापरिदृष्टः। स खल्वयमेवमभ्यस्तो दीर्घसूक्ष्मः[4]॥५०॥

जिस प्राणायाम में 'प्रश्वास' द्वारा प्राण की स्वाभाविक गति का अभाव होता है, वह 'बाह्यवृत्ति' (रेचक) प्राणायाम है। जिस प्राणायाम में श्वास द्वारा प्राण की स्वाभाविक गति का अभाव होता है, वह 'आभ्यन्तरवृत्ति' (पूरक) प्राणायाम होता है। जिस प्राणायाम में एक ही बार के प्रयास (विधारक प्रयत्न) से प्राण की बाह्य और आभ्यन्तर वृत्तियों का अभाव हो जाता है, वह तृतीय 'स्तम्भवृत्ति' (कुम्भक) प्राणायाम है। जिस प्रकार सुतप्त प्रस्तर खण्ड पर डाला गया जल सूखकर चारों ओर से संकुचित हो जाता है, उसी प्रकार दृढ़ प्रयास से बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के प्राणों की स्वाभाविक गति का एक ही साथ अभाव हो जाता है। ये तीनों प्राणायाम 'देश' के द्वारा परीक्षित होते हैं–जैसे, अभी यहाँ तक इसका देश या स्थान है। 'काल' के द्वारा परीक्षित होते हैं–जैसे, इतने क्षणों तक यह प्राणायाम रहा। 'संख्या के द्वारा परीक्षित होते हैं–जैसे, निगृहीत प्राणायाम का इतने श्वास-प्रश्वासों द्वारा प्रथम उद्घात होता है, इतने श्वास-प्रश्वासों से द्वितीय उद्घात होता है और इतने श्वास-प्रश्वासों से तृतीय उद्घात होता है। इसी प्रकार इतनी संख्या वाला 'मृदु', इतनी संख्या वाला 'मध्य' और इतनी संख्या वाला 'तीव्र' प्राणायाम होता है–इस प्रकार संख्या के द्वारा परीक्षित होता हुआ प्राणायाम अभ्यास द्वारा 'दीर्घसूक्ष्म' होता है॥५०॥

तत्त्ववैशारदी

प्राणायामविशेषत्रय[5]लक्षणपरं सूत्रमवतारयति–स त्विति। बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। वृत्तिशब्दः प्रत्येकं संबध्यते। रेचकमाह–यत्र प्रश्वासेति। पूरकमाह–यत्र श्वासेति। कुम्भकमाह–तृतीय इति। तदेव स्फुटयति–[6]यत्रोभय

---

1. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र–इयान्, छ थ–ईशान्।
2. क ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–देशः, ख ज–दर्शितः।
3. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र–प्रश्वासैः, झ त–प्रवेशः।
4. छ थ–दीर्घः क्रमेण दीर्घकालस्तम्भितो भवति सूक्ष्मो नासिकाग्रे बहिवृत्तिहीनश्च (दीर्घसूक्ष्मः–पश्चात्)उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र–दीर्घ...हीनश्च नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ ज झ त न–लक्षणपरं सूत्रम्, थ द ध–लक्षणसूत्रम्।
6. थ द ध–यत्रोभय इति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–यत्रोभय इति नोपलभ्यते।

इति। यत्रोभयोः श्वासप्रश्वासयोः सकृदेव विधारकात्प्रयत्नादभावो भवति न पुनः पूर्ववदापूरणप्रयत्नौघविधारकप्रयत्नो नापि रेचकप्रयत्नौघविधारकप्रयत्नोऽपेक्ष्यते, किं तु यथा तप्त उपले निहितं जलं परिशुष्यत्सर्वतः संकोचमापद्यत एवमयमपि मारुतो [1]वहनशीलो बलवद्विधारकप्रयत्ननिरुद्धक्रियः शरीर एव सूक्ष्मीभूतोऽवतिष्ठते, न तु पूरयति येन पूरकः। न तु रेचयति येन रेचक इति।

तीन प्रकार के प्राणायाम के लक्षणविशेषपरक सूत्र को भाष्यकार संक्षिप्त अवतरणिका के साथ अवतरित करते हैं—**'स त्विति'** सूत्र है—**'बाह्येति'** सूत्रगत 'वृत्ति' शब्द **'बाह्य'** आदि प्रत्येक शब्द के साथ अन्वित होता है। अर्थात् बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति तथा स्तम्भवृत्ति के भेद से प्राणायाम तीन प्रकार का है। भाष्यकार रेचक प्राणायाम का वर्णन करते हैं—**'यत्र प्रश्वासेति'** जिस प्राणायाम में प्रश्वासपूर्वक गत्यभाव होता है, वह **'बाह्यवृत्ति'** प्राणायाम है। भाष्यकार पूरक प्राणायाम का वर्णन करते हैं—**'यत्र श्वासेति'** जिस प्राणायाम में श्वासपूर्वक गत्यभाव होता है, वह **'आभ्यन्तरवृत्ति'** प्राणायाम है। भाष्यकार कुम्भक प्राणायाम का स्वरूप बताते हैं—**'तृतीय इति'** भाष्यकार इसी (तृतीय प्राणायाम) को स्पष्ट करते हैं—**'यत्रोभय इति'** जिस प्राणायाम में एक ही बार के विधारक प्रयत्न से श्वास-प्रश्वास का गत्यभाव (गति-विच्छेद) होता है, उसे **'स्तम्भवृत्ति'** प्राणायाम कहते हैं। इस कुम्भक प्राणायाम में न तो पूरक प्राणायाम की तरह आपूरण प्रयत्नपुञ्जरूप विधारकप्रयत्न की अपेक्षा रहती है और न ही रेचक प्राणायाम की तरह रेचक प्रयत्नपुञ्जरूप विधारकप्रयत्न की अपेक्षा रहती है। किन्तु जिस प्रकार रक्तोष्ण पाषाण पर प्रक्षिप्त जल सब ओर से सूखता हुआ संकुचित हो जाता है उसी प्रकार स्वभावतः प्रवहणशील यह प्राणवायु भी बलवान् विधारक प्रयत्न से अवरुद्ध गति वाला होकर शरीर में ही सूक्ष्मीभूत होकर रहता है। इसमें वायु को आपूरित नहीं किया जाता है, इसलिये न तो यह पूरक रूप है और न ही इसमें वायु को रेचित किया जाता है, इसलिये यह रेचक रूप भी नहीं है।

बालप्रिया—

'न पुनः पूर्ववदापूरण...अपेक्ष्यते'—भाव यह है कि रेचन-क्रिया में लगातार रेचक-प्रयत्न करते रहना पड़ता है और पूरण-क्रिया में निरन्तर आपूरण-प्रयत्न करते रहना पड़ता है, किन्तु कुम्भक में विधारकप्रयत्न केवल एक बार करके ही

---

1. ग—बलवद्विनाशिमूलात् प्रेरितस्य वायोः शरीरस्याक्षिछननमुद्धातः तथा चोक्तं—सन्निरोधे कृते सम्यगूर्ध्वं वायुः प्रवर्तते उद्धात इति विख्यातः स्वेच्छया तु कनीयसः उद्धात कथ्यते। स किं प्रास्पृशति मस्तकमिति आधारक इति (वहनशीलः—पश्चात्) उपलभ्यते, क ख घ च छ ज झ त थ द ध न—बलवद्...आधारक इति नोपलभ्यते।

उभयाभाव की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार श्वास-प्रश्वास का एक साथ प्रवाह-भंग होने से कुम्भक में पूर्वाभ्यास की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार सूत्रगत 'परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः' पदों की व्याख्या करते हैं—

तत्त्ववैशारदी

इयानस्य देशो विषयः प्रादेशवितस्तिहस्तादिपरिमितो निवातप्रदेश ईषीकातूलादिक्रियानुमितो बाह्यः। एवमान्तरोऽप्यापादतलमामस्तकं पिपीलिकास्पर्शसदृशेनानुमितः स्पर्शेन। निमेषक्रियावच्छिन्नस्य कालस्य चतुर्थो भागः क्षणः। तेषामियत्तावधारणेना[1]वच्छिन्नः। स्वजानुमण्डलं पाणिना त्रिःपरामृश्यच्छोटिकावच्छिन्नः कालो मात्रा। ताभिः षट्त्रिंशन्मात्राभिः परिमितः प्रथम उद्घातो [2]मृदुः। स एव द्विगुणीकृतो [3]द्वितीयो [4]मध्यः। स एव त्रिगुणीकृतस्तृतीयस्तीव्रः। तमिमं संख्यापरिदृष्टं प्राणायाममाह—संख्याभिरिति। स्वस्थस्य हि पुंसः श्वासप्रश्वासक्रियावच्छिन्नेन कालेन यथोक्तच्छोटिकाकालः समानः प्रथमोद्घातकर्मतां नीत उद्घातो विजितो वशीकृतो निगृहीतः। क्षणानामियत्ताकालो विवक्षितः [5]श्वासप्रश्वासप्रचयोपपन्ना तु संख्येति कथंचिद्भेदः। स खल्वयं प्रत्यहमभ्यस्तो दिवसपक्षमासादिक्रमेण देशकालसंख्याप्रचयव्यापितया दीर्घः। परम[6]नैपुण्यसमधिगमनीयतया च सूक्ष्मो न तु मन्दतया॥५०॥

ये रेचक, पूरक तथा कुम्भक प्राणायाम देश, काल तथा संख्या के द्वारा परीक्षित होते हुए 'दीर्घसूक्ष्मता' को प्राप्त होते हैं—इस तथ्य का 'देश' से संबंधित स्पष्टीकृत रूप प्रस्तुत करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं—इतना वितस्ति (बिलस्त भर) तथा हस्तादि सीमित प्रदेश (स्थान) पर्यन्त स्थित रेचक प्राणायाम (बाह्य प्राणायाम) वायुशून्य प्रदेश में रखी धुनी हुई रुई की कम्पन-क्रिया से अनुमित होता है। इसी प्रकार पैर से लेकर मस्तकदेशपर्यन्त स्थित यह आन्तर (पूरक) प्राणायाम पिपीलिका सदृश स्पर्श से अनुमित होता है। अब 'काल' की दृष्टि से प्राणायाम की दीर्घसूक्ष्मता को बताया जा रहा है—निमेषक्रिया में व्यतीत होने वाले काल के चतुर्थांश को 'क्षण' कहते हैं। इतने क्षणों तक यह प्राणायाम रहा—इस निश्चय से प्राणायाम 'काल' की दृष्टि से परीक्षित होता है। प्राणायाम की 'संख्या' द्वारा परीक्षा

1. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न—अवच्छिन्नः, ज—अवच्छिन्नम्।
2. क घ च छ न—मृदुः, ख ग ज झ त द—मन्दः, थ ध—अर्द्धमन्दः।
3. क ख ग घ च छ ज झ त न—द्वितीयः उपलभ्यते, थ द ध—द्वितीयः नोपलभ्यते।
4. क घ च छ ज झ त—मध्यमः, ख ग थ द ध न—मध्यः।
5. क ग ज थ द ध—श्वासप्रश्वासेयत्तासङ्ख्येति, ख घ च छ झ त न—श्वासप्रश्वासप्रचयोपपन्ना तु सङ्ख्येति।
6. क ज—नैपुण०, ख ग घ च छ त थ द ध न—नैपुण्य०, झ—निपुण०।

को बताया जा रहा है–हाथ को जानु के ऊपर से चारों तरफ घुमाकर चुटकी बजाने में व्यतीत होने वाले काल को 'मात्रा' कहते हैं। ऐसी छत्तीस मात्रा से परिमित '**प्रथम उद्घात**' को '**मृदु**' कहते हैं। तदनन्तर द्विगुणीकृत अर्थात् बहत्तर मात्रा से परिमित '**द्वितीय उद्घात**' को '**मध्य**' कहते हैं तथा त्रिगुणीकृत अर्थात् एक सौ आठ मात्रा से परिमित '**तृतीय उद्घात**' को '**तीव्र**' कहते हैं। इस प्रकार के संख्यापरिदृष्ट प्राणायाम को भाष्यकार बताते हैं–'**संख्याभिरिति**।' स्वस्थ पुरुष की श्वास-प्रश्वास की क्रिया से सीमित (अवच्छिन्न) काल से उपरिवर्णित छोटिका (चुटकी बजाने) का काल तुल्य होता है। अर्थात् श्वास-प्रश्वास तथा चुटकी बजाने में बराबर समय व्यतीत होता है। इस प्रकार '**प्रथम उद्घात**' की कर्मता को प्राप्त अर्थात् '**प्रथम उद्घात**' से सीमित संख्याक प्राणायाम वशीकृत कर परीक्षित होता है। इसी प्रकार द्वितीय तथा तृतीय उद्घात परीक्षित होता है। '**काल**' तथा '**संख्या**' की दृष्टि से परीक्षित प्राणायाम का अन्तर बताते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–क्षणों (मात्राओं) की इयत्ता (मानक, माप) से प्राणायाम का '**काल**' बतलाना अभिप्रेत है तथा श्वास-प्रश्वाससमूह से युक्त इयत्ता (माप) से प्राणायाम की '**संख्या**' बतलाना अभिप्रेत है। यही इनमें कथञ्चिद् भेद है। यही प्राणायाम प्रतिदिन अभ्यास किया जाता हुआ दिवस, पक्ष, महीना आदि के क्रम से देश, काल तथा संख्यागत समुच्चय की व्याप्यता से '**दीर्घ**' कहलाता है तथा अत्यन्त निपुणतागम्य होने से अर्थात् दुर्लक्ष्य होने से प्राणायाम '**सूक्ष्म**' कहलाता है न कि मन्दता अर्थात् दुर्बलता के कारण उसे **सूक्ष्म** कहते हैं॥५०॥

बालप्रिया–

'**दीर्घसूक्ष्मः**'–जिस प्रकार घनीभूत रुई धुनी जाने पर आयात में दीर्घ (बृहत्) और सूक्ष्म (हलकी) हो जाती है, उसी प्रकार प्राणायाम भी देश, काल तथा संख्या के वृद्धिपूर्वक अभ्यास किया जाता हुआ '**दीर्घता**' तथा दुर्लक्षताप्रयुक्त '**सूक्ष्मता**' को प्राप्त होता है।

'**छोटिका**'–'**अङ्गुष्ठमध्यमाऽङ्गुलिसंघर्षजनितः शब्दश्छोटिकेत्युच्यते**' अर्थात् अँगूठे तथा बीच की अंगुली के परस्पर घर्षण से उत्पन्न शब्द को छोटिका अर्थात् चुटकी कहते हैं।

'**मात्रा**'–मात्रा का लक्षण स्कन्दपुराण में इस प्रकार किया गया है–

'जानुं प्रदक्षिणीकुर्यान्न द्रुतं न विलम्बितम्।
प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते॥'

'**उद्घातः**'–वाचस्पति मिश्र ने प्रथम उद्घात को छत्तीस मात्रा से परिमित बतलाया है। इसी क्रम से बहत्तर मात्रा परिमित द्वितीय उद्घात तथा एक सौ आठ

मात्रा परिमित तृतीय उद्‌घात है। उद्‌घात की उक्त संख्या को लेकर विचार किया जा रहा है–

शङ्का–लिङ्गपुराण तथा कूर्मपुराण में प्रथम उद्‌घात को बारह मात्रिक बताया गया है, फिर वाचस्पति मिश्र ने प्रथम उद्‌घात को शास्त्रविरुद्ध छत्तीस मात्रिक कैसे कहा है? वचन इस प्रकार हैं–

'नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्‌घात ईरितः।
मध्यमस्तु द्विरुद्धातश्चतुर्विंशतिमात्रकः॥
मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्‌घातः षट्त्रिंशन्मात्र उच्यते॥' लि. पु.।
'मात्राद्वादशको मन्दश्चतुर्विंशतिमात्रकः।
मध्यमः प्राणसंरोधः षट्त्रिंशन्मात्रकोऽन्तिमः॥' कू. पु.।

समाधान–वाचस्पति मिश्र का वक्तव्य शास्त्रविरुद्ध नहीं है, अपितु वह शास्त्रमूलक ही है। इसमें याज्ञवल्क्यस्मृति और स्कन्दपुराण की अन्तःसंगति द्रष्टव्य है। याज्ञवल्क्य स्मृति है–'अङ्गुष्ठाङ्गुलिमोक्षं त्रिस्त्रिर्जानुपरिमार्जनम्। तालत्रयमपि प्राज्ञा मात्रासंज्ञां प्रचक्षते'–इसमें छोटिकात्रय से अवच्छिन्न काल को मात्रा कहा गया है। मात्रा के इसी लक्षण को ध्यान में रखकर उपरिनिर्दिष्ट लिङ्गपुराण तथा कूर्मपुराण के वाक्यों द्वारा द्वादशमात्रिक उद्‌घात को 'मन्द' कहा गया है और वाचस्पति मिश्र ने 'अङ्गुष्ठाङ्गुलिमोक्षं च जानोश्च परिमार्जनम्। प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते'– स्कन्दपुराण के इस वाक्य के अनुसार एक छोटिकावच्छिन्न काल को मात्रा मानकर बारह को त्रिगुण कर छत्तीसमात्रिक उद्‌घात को 'मन्द' कहा है। अतः दोनों मतों में अन्तर नहीं है॥५०॥

योगवार्त्तिकम्

अवान्तरभेदप्रतिपादकमुत्तरसूत्रं पूरयित्वोत्थापयति–स त्विति। बाह्याभ्यन्तरस्तम्भ-वृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। स तु प्राणायामो बाह्यवृत्तिराभ्यन्तरवृत्तिः स्तम्भवृत्तिरिति त्रिविधः रेचकपूरककुम्भकभेदात्। तदुक्तं विष्णुपुराणे–

परस्परेणाभिभवं प्राणापानौ यथानिलौ।
कुरुतः स द्विधा तेन[1] तृतीयः संयमात्तयोः॥ इति।

स च त्रिविधः प्राणायामो देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो निर्णीतो नियमितो भवति, तदभ्यासवशात् क्रमेण दीर्घसूक्ष्मसंज्ञको भवतीति सूत्रार्थः। तदेतद् व्याचष्टे–यत्रेति। विशेषाणां सामान्यनिष्ठत्वाद् इयं सप्तमी। यत्र प्राणायामे गतिविच्छेदे प्रश्वासपूर्वकगत्यभावः प्रश्वासेन रेचकेन गतिविच्छेदः स बाह्यो बाह्यवृत्तिः प्राणायामो रेचकनामेत्यर्थः। न च रेचनं बाह्य

1. क ख घ च छ–तेन, ग–अनेन।

इत्येवास्त्विति वाच्यम्, प्राणस्यायामः प्राणायाम इति योगादरेणायामाख्यनिरोधस्य विशेष्यी-करणादिति।

भाष्यकार प्राणायाम के अवान्तरभेद के प्रतिपादक उत्तरसूत्र को पूरा करते हुए उठाते हैं–**'स त्विति।'** सूत्र है–**'बाह्येति।'** रेचक, पूरक और कुम्भक भेद से यह प्राणायाम बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्तिरूप से तीन प्रकार का है। जैसा कि विष्णुपुराण में कहा गया है–**'परस्परेण...संयमात्तयोः'** (६/७/४१) अर्थात् 'प्राण और अपान के द्वारा निरोध करने में दो प्राणायाम होते हैं तथा इन दोनों को एक ही समय रोकने से तीसरा कुम्भक प्राणायाम होता है।'

यह तीन प्रकार का प्राणायाम देश, काल और संख्या द्वारा 'परिदृष्ट'=परीक्षित =नियमित होता है। इस प्रकार अभ्यास किया जाता हुआ प्राणायाम क्रमशः दीर्घ तथा सूक्ष्म संज्ञा को प्राप्त होता है। यह सूत्रार्थ हुआ। अब भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं–**'यत्रेति।'** भाष्य में आये **'यत्र'** पद के विषय में विचार किया जा रहा है कि **'यत्र'** में (आधार) सप्तमी है, क्योंकि विशेष सामान्यनिष्ठ होता है। अर्थात् पदार्थसामान्य में ही तद्गत विशेष सत्तालाभ करता है, इस सिद्धान्त के अनुसार प्रकृत में गतिरोधरूप प्राणायामसामान्य में रेचकादि प्राणायामविशेष सत्तालाभ करते हैं। जिस गतिविच्छेदरूप प्राणायाम में **'प्रश्वासपूर्वकगत्यभावः'** अर्थात् प्रश्वासरूप रेचक के द्वारा प्राणात्मक गति का विच्छेद होता है, उसे बाह्यवृत्ति **'रेचक'** प्राणायाम कहते हैं।

शङ्का–**'रेचनं बाह्यः'** इतना ही **'रेचक'** प्राणायाम का लक्षण किया जाय?

समाधान–ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि **'प्राणस्यायामः प्राणायामः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार **'योग'** रूप शब्दनिष्ठ शक्तिविशेष द्वारा यहाँ आयामाख्य निरोध (प्राण-निग्रह) का विशिष्टीकरण किया गया है।

बालप्रिया–

योगादरेणायामाख्यनिरोधस्य विशेष्यीकरणात्'–सरलार्थ यह है कि प्रकृत में वायु के सहज आचमन और निस्सरण को प्रतिपादित करना उद्देश्य नहीं है, अन्यथा श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक क्रियां को साधना-पक्ष से अन्वित (संयोजित) करने का उपदेश व्यर्थ हो जायेगा। शास्त्र का उद्देश्य प्राण-नियंत्रण की विशिष्ट प्रणाली पर प्रकाश डालना है और तभी प्राणवायु का विशिष्ट आयाम **'प्राणायाम'** संज्ञा को धारण कर सकेगा। अतः **'रेचनं बाह्यः'** इतने मात्र से **'रेचक'** प्राणायाम का लक्षण नहीं किया जा सकता है।

सम्प्रति, प्राणायाम के आगे के भेदों को विश्लेषित किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

यत्र श्वासेति। यत्र श्वासेन पूरकेण गत्यभावः स आभ्यन्तरः आभ्यन्तरवृत्तिः प्राणायामः पूरकनामेत्यर्थः। स्तम्भवृत्तिरिति। यत्रोभयाभावः श्वासप्रश्वासयोरभावः सकृत्प्रयत्नाद्देवाभ्यासनिरपेक्षाद् भवति स स्तम्भवृत्तिः प्राणायामः कुम्भकनामेत्यर्थः। वक्ष्यमाणस्य कुम्भकभेदस्य चतुर्थप्राणायामस्य व्यावर्त्तनाय सकृत्प्रयत्नादिति विशेषणम्। स हि प्रयत्नबाहुल्येनैव भवतीति तत्रैव प्रतिपादयिष्यति। एकदैव बाह्याभ्यन्तरप्राणविलापने दृष्टान्तमाह—यथा तप्त इति। द्वयोर्बाह्याभ्यन्तरदेशयोः। देशकालसंख्याभिः परिदृष्ट इति [1]विशेषणस्यायमर्थः—एतावद्देशेन वा एतावत्कालेन वा एतावन्मात्रसंख्याभिर्वाऽवच्छिन्नो मया रेचकादिः कर्त्तव्य इत्येवमवधारित इति। तदेतद्विभज्य व्याचष्टे—त्रयोऽप्येत इति। त्रयो रेचकपूरककुम्भकाः। इयानिति। नासाग्रात् प्रादेशद्वादशाङ्गुलहस्तादिपरिमितो बाह्यदेशो रेचकस्य विषयः, स चेषीकातूलादिक्रियानिश्चेयः; पूरकस्य चापादतलमामस्तकमाभ्यन्तरो विषयः, स च पिपीलिकास्पर्शसदृशेन स्पर्शेन निश्चेयः; कुम्भकस्य [2]रेचकपूरकयोः बाह्याभ्यन्तरदेशौ समुच्चितावेव विषयः, उभयत्रैव प्राणस्य विलयात्, स च तूलस्य क्रियाया उक्तस्पर्शस्य चानुपलब्ध्या निश्चेय इति। कालेनेति। चक्षुर्निमेषावच्छिन्नस्य कालस्य चतुर्थभागः [3]क्षणः, तेषामियत्ताऽवधारणेनावच्छिन्नाः एतावत्[4]क्षणान् रेचकादिः कर्त्तव्य इति नियमिता इत्यर्थः। संख्याभिरिति। मात्राणां द्वादशादिसंख्याभिरित्यर्थः। यद्यपि संख्याभिरपि कालनियम एव क्रियते, तथाऽपि प्रकारभेदाद् भेद इति। यत्र हि शङ्खध्वन्यादिना कालनियमः क्रियते स कालेन परिदृष्टः, यत्र च वक्ष्यमाणमात्रासंख्याभिः कालनियमः क्रियते स संख्याभिः परिदृष्ट इति। संख्याऽर्थं मात्रा च मार्कण्डेयप्रोक्ता—

निमेषोन्मेषणे मात्रा तालो लघ्वक्षरं तथा।
प्राणायामस्य संख्याऽर्थं स्मृतो द्वादशमात्रिकः॥ इति।

निमेषादिलघ्वक्षरान्तं मात्राप्रमाणम्, तदे[5]व दर्शयत्युत्तरार्द्धेन—द्वादशमात्रिको द्वादशगुणितो यः कश्चन निमेषादिर[6]यं पदार्थः प्राणायामस्य संख्याऽर्थे स्मृत इत्यर्थः। एवं प्रणवादयोऽपि मात्रा वसिष्ठयाज्ञवल्क्यादिभिरुक्ताः। पूरकादित्रय एव द्वादशमात्रेत्ययमधमः कल्पः, यतः पूरकादिषु प्रत्येकं मात्रायाः [7]संख्याभेदो वसिष्ठसंहितायामुक्तः—

---

1. क ख घ च छ—विशेषणस्य, ग—विशेषस्य।
2. क ग घ च छ—रेचकपूरकयोः बाह्याभ्यन्तरदेशौ समुच्चितावेव विषयः, उभयत्रैव प्राणस्य विलयात्। ख—च पूरकदेश एव विषयः त्रयाणां सहानुष्ठाने पूरकान्तरमेव कुम्भकस्मरणात्।
3. क ग घ च छ—क्षणः, ख—लक्षणः।
4. क ख ग च छ—क्षणान्, घ—क्षण०।
5. क ख ग—विशिष्य (एव पश्चात्) उपलभ्यते, घ च छ—विशिष्य नोपलभ्यते।
6. क—अयमर्थः, ख—रूपं पदार्थः, ग घ च छ—अयं पदार्थः।
7. क—संख्यायाः, ख घ च छ—संख्या, ग—संख्यायाः/संख्या नोपलभ्यते।

एवं ज्ञात्वा विधानेन [1]प्रणवेन समाहितः।
प्राणायामत्रयं कुर्यात्पूरकुम्भकरेचकैः॥
आकृष्य श्वसनं बाह्यात् पूरयेदिडयोदरम्।
शनैः षोडशमात्राभिरुकारं तत्र [2]संस्मरन्॥
मकारं मूर्त्तिमत्रापि संस्मरन् प्रणवं जपेत्।
धारयेत् पूरितं पश्चात् चतुःषष्ट्या तु मात्रया॥
यावद्वा शक्यते तावद्धारणं जपसंयुतम्।
पूरितं रेचयेत्पश्चात् प्रणवं ह्यनिलान्वितम्॥
शनैः पिङ्गलया पुत्र! द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः।
ध्यायन्नाद्याक्षरं तत्र प्रणवस्य समाहितः॥ इति।

अकारोकारमकाराणां मूर्त्तयो ब्रह्मविष्णुरुद्रशरीराणि। तमेतं पुराणप्रोक्तं मात्राभेदं सामान्यतो भाष्यकार आह--एतावद्भिरित्यादिना। एतावद्भिः षोडशादिभिः मात्राऽऽख्यैः [3]पदार्थैः निमेषोन्मेषणादिभिः श्वासप्रवेशः पूरकः प्रथम उद्घातः। वायोरुद्धननं गतिनिरोध इति यावत्। तथा निगृहीतस्य स्तम्भितस्य वायोरेतावद्भिश्चतुःषष्ट्वादिभिर्निमेषोन्मेषणादिभिः कुम्भको द्वितीय उद्घातः। एवं तृतीय उद्घातोऽथद्रेचकः। एतावद्भिर्द्वात्रिंशदादिभि-[4]र्निमेषोन्मेषणादिभिरित्यर्थः। अत्र प्रथमादिशब्दैः पूरकादित्रये क्रमवचनात्सौत्रः पाठक्रमोऽनुष्ठाने नादर्त्तव्यः। तथा च पूरककुम्भकरेचका इत्येवौत्सर्गिकोऽनुष्ठानक्रमः, पुराणादिषु बाहुल्येन दर्शनाच्च, सृष्टौ महदादिक्रमवदिति। प्रकारान्तरेणापि संख्यापरिदृष्टत्वमाह–एवं मृदुरित्यादिना। एवम् एतावद्भिर्मात्राप्रमाणैर्मृदुः प्राणायामः, एवम् एतावद्भिर्मध्यमः, एवमेतावद्भिस्तीव्रः प्राणायाम इत्यपि संख्यापरिदृष्टो भवतीत्यर्थः। तदुक्तं कौर्मे–

मात्राद्वादशको मन्दश्चतुर्विंशतिमात्रकः।
मध्यमः प्राणसंरोधः षड्त्रिंशन्मात्रिकोऽन्तिमः ॥ इति।

अत्र पूरकादिविशेषावचनात् त्रिष्वपि प्राणायामेषु द्वादशद्वादशमात्रादिरूपैकैव संख्या इत्येवं पृथक्कल्पः। देशकालसंख्याभिः परिदृष्ट इत्यत्र चेच्छाविकल्प एव न तु समुच्चयः; उदाहृतवसिष्ठवाक्यादौ केवलमात्रासंख्यायामपि प्राणायामदर्शनात्। समुच्चयानुष्ठाने तु फलभूमा भवत्येव, भूयसि भूय इति न्यायादिति

जिसमें श्वासरूप पूरक के द्वारा प्राणवायु का गत्यभाव किया जाता है, वह 'पूरक' नाम का प्राणायाम 'आभ्यन्तरवृत्ति' कहलाता है। आगे का भाष्य है–'स्तम्भ-

---

1. क ख घ च छ–प्रणवेन, ग–प्रवेशेन।
2. क ख घ च छ–संस्मरन्, ग–संस्मरेत्।
3. क ग घ च छ–पदार्थैः, ख–प्रमाणैः।
4. क ख घ च छ–निमेषोन्मेषणादिभिः उपलभ्यते, ग–निमेषोन्मेषणादिभिः नोपलभ्यते।

वृत्तिरिति। जिसमें **'उभयाभाव'** अर्थात् श्वास-प्रश्वास दोनों का गत्यभाव **'सकृत्प्रयत्न'** से ही अर्थात् अभ्यासनिरपेक्ष होकर ही होता है, वह **'कुम्भक'** नाम का प्राणायाम **'स्तम्भवृत्ति'** कहलाता है। **'कुम्भक'** प्राणायाम के अवान्तरभेदरूप चतुर्थ प्राणायाम, जिसका विवरण आगे किया जायेगा, को तीसरे **'कुम्भक'** प्राणायाम से पृथक् (व्यावृत्त) करने लिये भाष्यकार ने **'सकृत्प्रयत्नात्'** यह विशेषण पद दिया है। चतुर्थ प्राणायाम अत्यधिक प्रयत्नाभ्यास से सिद्ध होता है, ऐसा आगे प्रतिपादित किया जायेगा। एक ही काल में बाह्यस्थ और आन्तरस्थ प्राणवायु का निरोध होने में भाष्यकार दृष्टान्त देते हैं–**'यथा तप्त इति।'** यहाँ **'द्वय'** शब्द से (प्राणवायु की स्थिति के) बाह्य एव आभ्यन्तर देश को लिया गया है। सूत्रगत **'देशकालसंख्याभिः परिदृष्टः'** इस विशेषण पद का अर्थ यह है–'इतने देश से अवच्छिन्न, इतने काल से अवच्छिन्न अथवा इतनी संख्याओं से अवच्छिन्न रेचकादि प्राणायाम मुझे करना है' ऐसा निर्धारण प्राणायाम का साधक करता है। भाष्यकार इसी बात को विभागपूर्वक स्पष्ट करते हैं–**'त्रयोऽप्येत इति।'** यहाँ **'त्रयः'** पद से रेचक, पूरक और कुम्भक गृहीत हैं। अर्थात् ये तीनों रेचकादि प्राणायाम **'देश'** द्वारा परीक्षित किये जाते हैं। रेचक, पूरक तथा कुम्भक प्राणायाम की दैशिक परीक्षा को वर्णित किया जा रहा है– **'इयानिति।'** नासिका के अग्रभाग के प्रदेश से बारह अंगुल हस्तादि परिमित जो बाह्य देश है, वह रेचक प्राणायाम का विषय है और इस रेचक प्राणायाम के **'बाह्यदेश'** का निश्चय धुनी हुई रूई की कम्पनादि क्रिया से किया जाता है। पैर से लेकर मस्तकपर्यन्त (परिमित)जो आभ्यन्तर देश है वह पूरक प्राणायाम का विषय है और इस पूरक प्राणायाम के **'आभ्यन्तरदेश'** का निश्चय पिपीलिका सदृश स्पर्श से किया जाता है। रेचक और पूरक दोनों के सम्मिलित बाह्य और आभ्यन्तर देश कुम्भक प्राणायाम के विषय हैं, क्योंकि दोनों देशों में प्राण का विलय अर्थात् स्तम्भन होता है और इस कुम्भक प्राणायाम का निश्चय (पूर्ववर्णित) तूलसंबंधी कम्पनक्रिया और पिपीलिकासदृश स्पर्श की अनुभूति न होने से अर्थात् उसके समाप्त हो जाने से किया जाता है। रेचक, पूरक तथा कुम्भक प्राणायाम की कालिक-परीक्षा को वर्णित किया जा रहा है–**'कालेनेति।'** पलक झपकने में व्यतीत होने वाले काल का चौथा भाग **'क्षण'** कहलाता है। इन क्षणों के सीमित परिमाण (इयत्ता) से संबंधित इतने क्षणपर्यन्त रेचकादि प्राणायाम किये जाते हैं। इस प्रकार काल की दृष्टि से प्राणायाम परिमित=नियमित (परीक्षित) किया जाता है। अब **'संख्या'** की दृष्टि से प्राणायाम की परीक्षा की जा रही है–**'संख्याभिरिति।'** मात्रा-सम्बन्धी द्वादशादि संख्याओं के द्वारा प्राणायाम की परीक्षा की जाती है। यद्यपि संख्याओं के द्वारा भी प्राणायाम का काल-संबंधी नियमन ही किया जाता है तथापि

प्रकारभेद से प्राणायाम का काल तथा संख्यासंबंधी अन्तर (पार्थक्य) समझना चाहिये। जिस प्राणायाम में शंख की ध्वन्यादि के द्वारा कालनियमन (काल का निश्चय) किया जाता है वह प्राणायाम 'काल' द्वारा परीक्षित (सूक्ष्म) माना जाता है और जिस प्राणायाम में आगे प्रतिपादित की जाने वाली मात्रिक संख्याओं के द्वारा काल की परीक्षा की जाती है, वह प्राणायाम 'संख्याओं' के द्वारा परिदृष्ट माना जाता है। संख्यार्थ और मात्रा मार्कण्डेयपुराण में बतलाये गये हैं–'**निमेषोन्मेषणे... द्वादश- मात्रिक**': (३९/१५) अर्थात् 'पलक झपकने, ताली अथवा लघु अक्षर के उच्चारण में व्यतींत होने वाले काल को 'मात्रा' कहते हैं और प्राणायाम के संख्यार्थ को बारह मात्रा वाला कहा गया है।' इस श्लोक में निमेषादि से लेकर लघ्वक्षरपर्यन्त 'मात्रा' का परिमाण बताया गया है। इसी 'मात्रा' को श्लोक के उत्तरार्द्ध द्वारा प्रदर्शित क़िया जा रहा है–'**द्वादशमात्रिक**' अर्थात् द्वादशगुणित जो निमेषादिरूप पदार्थ है, वह प्राणायाम की 'संख्या' अर्थ में स्मृत है। किञ्च वसिष्ठ और याज्ञवल्क्यादि आचार्यों ने प्रणवादि को भी 'मात्रा' कहा है। पूरकादि तीनों प्राणायामों में '**द्वादशमात्रा**' की ही जो परिमितता कथित है, वह '**अधम कल्प**' (पक्ष) है, क्योंकि वसिष्ठसंहिता में पूरकादि प्रत्येक प्राणायाम का मात्रासंबंधी संख्याभेद उक्त है–'**एवं ज्ञात्वा...प्रणवस्य समाहित:**' अर्थात् 'समाहित चित्त वाला योगी विधिवत् प्रणव को जानकर पूरक, कुम्भक और रेचक भेद से प्राणायामत्रय का अभ्यास करे। बाहर से प्राणवायु को खींच कर उसे इडा नाडी द्वारा उदर में पूरित करे। तदनन्तर सोलह मात्राओं के साथ धीरे-धीरे उकार का स्मरण करता हुआ और मकार मूर्ति का भी स्मरण करता हुआ प्रणव का जप करे। तदनन्तर पूरित वायु को चौंसठ मात्रापर्यन्त धारण करे। पूरित वायु को प्रणव जप के साथ तब तक धारण करे जब तक ऐसा संभव हो सके। तत्पश्चात् साधक वायुसहित पूरित प्रणव को त्याग दे। हे पुत्र ! पिंगला नाड़ी के द्वारा बत्तीस मात्रापर्यन्त प्रणव के आद्य अक्षर का ध्यान करता हुआ साधक उसमें समाहित हो जाता है।' उक्त श्लोक में अकार, उकार तथा मकार की आकृतियाँ ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र की हैं। भाष्यकार ने पुराणवर्णित उक्त 'मात्रा' भेद को ही सामान्य रूप से कहा है–'**एतावद्भिरित्यादिना**।' इन पूर्ववर्णित निमेषोन्मेषविशिष्ट सोलह मात्राख्य पदार्थों के साथ (सोलह मात्रापर्यन्त) श्वासवायु को प्रविष्ट करना पूरक संज्ञक '**प्रथम उद्घात**' है। इसमें वायु का गतिरोधरूप उद्धनन (आघात) किया जाता है, अत: इसे '**उद्घात**' कहते हैं। निमेषोन्मेषविशिष्ट चौसठ मात्राओं द्वारा निगृहीत अर्थात् स्तम्भित वायु कुम्भक संज्ञक '**द्वितीय उद्घात**' है। इसी भाँति रेचव संज्ञक '**तृतीय उद्घात**' होता है। यह रेचक संज्ञक '**तृतीय उद्घात**' निमेषोन्मेषदिशिष्ट बत्तीस मात्राओं से युक्त होता है। प्रकृत में प्रथम उद्घातादि

शब्दों के द्वारा पूरकादि तीन प्राणायामों के विषय में जो क्रम (पूरक, कुम्भक, रेचक) बताया गया है, उससे यह निर्णीत होता है कि प्राणायाम के अनुष्ठान में सूत्रोक्त बाह्य (रेचक) आभ्यन्तर (पूरक) तथा स्तम्भवृत्ति (कुम्भक) प्राणायाम वाला पाठक्रम आदरणीय अर्थात् स्वीकार्य नहीं है। प्राणायाम के अनुष्ठान का औत्सर्गिक क्रम यही है–पूरक, कुम्भक तथा रेचक। किञ्च पुराणादि शास्त्रों में प्राणायामविषयक यह क्रम बहुलता से उसी प्रकार दिखाई पड़ता है जिस प्रकार सृष्टि के विषय में महदादि तत्त्वों का क्रम परिलक्षित होता है। भाष्यकार अन्य प्रकार से भी प्राणायाम की सांख्यिक परि- दृष्टता (सूक्ष्मता) को उपन्यस्त करते हैं–'एवं मृदुरित्यादिना।' इतने 'मात्रा' परिमाण से 'मृदु प्राणायाम', इतने 'मात्रा' परिमाण से 'मध्यम प्राणायाम' तथा इतने 'मात्रा' परिमाण से 'तीव्र प्राणायाम' निष्पन्न होता है– इस प्रकार भी प्राणायाम संख्या द्वारा परीक्षित होता है। जैसा कि कूर्मपुराण में कहा गया है–'मात्राद्वादशको... मात्रि- कोऽन्तिमः' (११/३२) अर्थात् 'बारह मात्रा वाला प्राणनिरोध 'मन्द', चौबीस मात्रा वाला प्राणनिरोध 'मध्यम' तथा छत्तीस मात्रा वाला प्राणनिरोध अन्तिम अर्थात् 'तीव्र' कहलाता है।'

यहाँ प्राणायाम के मृदुत्व, मध्यत्व तथा तीव्रत्व को प्रतिपादित करते हुए उनके पूरकादि संज्ञाविशेष का अभिधान न किये जाने से यह बताया गया है कि इन तीन प्राणायामों में भी बारह-बारह मात्रा की एक ही संख्या है। इस प्रकार प्राणायाम के भेदों के अवधारण की पृथक् रीति अपनाई गई है। वार्त्तिककार प्रकृत प्रतिपादन- सूक्ष्मता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि देशकालसंख्याभिः परिदृष्टः सूत्र में प्राणायाम की परिदृष्टता के देशादि भेदों में समुच्चय नहीं अपितु इच्छानुसार विकल्प ही है अर्थात् यह अपरिहार्य नहीं है कि साधक प्राणायाम की सूक्ष्मता का परीक्षण देश, काल और संख्या की दृष्टि से युगपत् करे, क्योंकि योगवासिष्ठ के उद्धृत श्लोकादि में केवल मात्रिक संख्या को लेकर प्राणायाम (की सूक्ष्मता) को प्रदर्शित किया गया है। हाँ इतना अन्तर अवश्य है कि देश, काल और संख्या की दृष्टि से समुच्चित रूप से प्राणायाम का अभ्यास (अनुष्ठान) किये जाने पर प्राणायाम का अधिक फल प्राप्त होता है। क्योंकि 'भूयसि भूयः' ऐसा न्याय भी है।

सम्प्रति, वार्त्तिककार सूत्र के अन्तिम 'दीर्घसूक्ष्मः' पद का विश्लेषण करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

दीर्घसूक्ष्म इति दलं व्याचष्टे–स खल्विति। स बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिस्त्रिविधः प्राणायामः, एवं देशाद्यवधारणैरभ्यस्तः, स दीर्घसूक्ष्मसंज्ञको भवतीत्यर्थः। दीर्घश्चासौ [1]सूक्ष्मश्चेति

---

1. क ख घ च छ–सूक्ष्मः, ग–सौक्ष्मः।

सान्वयेयं संज्ञा। देशाद्यन्यतमनियमेन हि प्रत्यहमभ्यस्यमानः [1]क्रमेण कालवृद्ध्या दीर्घकाल-व्यापित्वेन दीर्घो भवति, वायुसंचारस्यातिसूक्ष्मतया च सूक्ष्म इति। यद्यपि अभ्यस्त इति सूत्रे नास्ति तथाऽपि दीर्घसूक्ष्मसंज्ञया अर्थाक्षिप्त एव भाष्यकारेण व्याख्यात इति। तदेवं प्राणा-यामस्य रेचक[2]कुम्भकपूरकाख्यविशेषत्रयमभ्यासाख्यगुणयोगेन तेषां दीर्घसूक्ष्मत्वं चोक्तम्॥५०॥

भाष्यकार 'दीर्घसूक्ष्मः' इत्याकारक दल (समस्त पद) की व्याख्या करते हैं–'स खल्विति' बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति तथा स्तम्भवृत्ति वा[ला] तीन प्रकार का प्राणायाम देशादि के निर्धारणपूर्वक अभ्यास किया जाता हुआ 'दीर्घ[सू]क्ष्म' संज्ञा को प्राप्त करता है। 'दीर्घश्चासौ सूक्ष्मश्चेति दीर्घसूक्ष्मः' इस व्युत्पत्ति के अनु[सा]र परीक्षित प्राणायाम की 'दीर्घसूक्ष्म' संज्ञा सार्थक (अन्वर्थ) है। देशादि में से कि[सी] एक के नियमानुसार प्रतिदिन अभ्यास किया जाता हुआ प्राणायाम क्रमशः का[ल]वृद्धि अर्थात् दीर्घकाल-व्यापिता के कारण 'दीर्घता' को प्राप्त होता है तथा वायुस[ञ्]चार के अतिसौक्ष्म्य के कारण 'सूक्ष्मता' को प्राप्त होता है। यद्यपि सूत्र में 'अभ्यस्त' पद प्रयुक्त नहीं हुआ है तथापि भाष्यकार ने 'दीर्घसूक्ष्म' संज्ञा के द्वारा प्राणायाम की अभ्यस्यता को अर्थ-विधया आक्षेपलभ्य मानकर ही उसकी व्याख्या की है। इस प्रकार रेचक, कुम्भक तथा पूरकाख्य विशेषत्रय के अभ्यासप्रयुक्त गुणयोग से प्राणायाम की 'दीर्घसूक्ष्मता' कथित है॥५०॥

अगला सूत्र है–

योगसूत्रम्

बाह्याभ्यन्तरविषया[3]क्षेपी चतुर्थः॥५१॥

बाह्य (विषयक रेचक) और आभ्यन्तर (विषयक पूरक) प्राणायाम का उल्लंघन करने वाला (दोनों की अपेक्षा न करने वाला) चौथा प्राणायाम होता है॥५१॥

व्यासभाष्यम्

देशकालसंख्याभिर्बाह्य[4]विषयपरिदृष्ट आक्षिप्तः। तथाभ्यन्तर[5]विषयपरिदृष्ट आक्षिप्तः। उभयथा दीर्घसूक्ष्मः। तत्पूर्वको भूमिजयात्क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः

1. ग–दीर्घश्चासौ सूक्ष्मादि० (क्रमेण–प्राक्) उपलभ्यते, क ख घ च छ–दीर्घश्चासौ सूक्ष्मादि० नोपलभ्यते।
2. क ख ग च छ–कुम्भकपूरक०, घ–पूरककुम्भक०।
3. आक्षेपः–इति पाठान्तरम्।
4. क ख ग च ज झ त थ द ध न ब भ म–विषय०, घ छ प फ य र–विषयः।
5. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–विषयपरिदृष्टः, ज–परिदृष्टविषयः।

प्राणायामः। तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव, देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषया[1]वधारणात्क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायाम इत्य[2]यं [3]विशेषः॥५१॥

पूर्वोक्त देश, काल एवं संख्या द्वारा बाह्य विषय (बाह्य वृत्ति) में नियमित किया गया रेचक (अभ्यास द्वारा) देश, काल आदि की सीमा से अतिक्रान्त किया जा सकता है। इसी प्रकार देश, काल एवं संख्या द्वारा आन्तर देश में नियमित किया गया पूरक भी देश, कालादि की सीमा से अतिक्रान्त बनाया जा सकता है। इस प्रकार अतिक्रान्त होने वाले दोनों प्रकार के प्राणायाम 'दीर्घ' और 'सूक्ष्म' होते हैं। (रेचक और पूरक की) भूमि सिद्ध हो चुकने पर दोनों गतियों का पूर्ण निरोध (ही) चतुर्थ प्राणायाम अर्थात् 'केवलकुंभक' कहलाता है। देश, काल तथा संख्यासहित जो तृतीय प्राणायाम अर्थात् 'सहितकुम्भक' है, वह तो देश, काल एवं संख्या द्वारा अनवधारित अर्थात् अनिश्चित, स्तम्भवृत्ति, एक बार के ही अभ्यास से निष्पन्न तथा देश, काल एवं संख्या के द्वारा नियमित होकर दीर्घ और सूक्ष्म होता है। और देश, काल तथा संख्या से रहित जो चतुर्थ प्राणायाम अर्थात् केवलकुंभक है, वह तो रेचक-पूरक के देश, काल एवं संख्या रूप विषय का निश्चय कर लेने के अनन्तर क्रमशः सम्पूर्ण भूमियों को जीतने से दोनों (रेचक और पूरक) की अपेक्षा न करता हुआ स्तम्भवृत्तिरूप चतुर्थ प्राणायाम है। यही इन दोनों कुम्भक प्राणायामों में अन्तर है॥५१॥

तत्त्ववैशारदी

एवं त्रयो विशेषा लक्षिताः। चतुर्थं लक्षयति–बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः। व्याचष्टे–देशकालसंख्याभिरिति। आक्षिप्तोऽभ्यासवशीकृताद्रूपादवरोपितः। सोऽपि दीर्घसूक्ष्मः। एवं तत्पूर्वको बाह्याभ्यन्तरविषयप्राणायामो देशकालसंख्यादर्शनपूर्वकः। न चासौ चतुर्थस्तृतीय इव सकृत्प्रयत्नादह्नाय जायते, किं त्वभ्यस्यमानस्तां तामवस्थामा[4]पन्नस्तत्तदवस्थाविजयानुक्रमेण भवतीत्याह–भूमिजयादिति। ननूभयोर्गत्यभावः स्तम्भवृत्तावप्यस्तीति कोऽस्माद[5]स्य विशेष इत्यत आह–तृतीय इति। अनालोचनपूर्वः सकृत्प्रयत्ननिर्वर्तितस्तृतीयः। चतुर्थस्त्वालोचनपूर्वो बहुप्रयत्ननिर्वर्तनीय इति विशेषः। तयोः पूरकरेचकयोर्विषयोऽनालोचितोऽयं तु देशकालसंख्याभिरालोचित इत्यर्थः॥५१॥

---

1. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध प फ ब भ म य र–अवधारणात्, त न–अनवधारणात्।
2. क ख ग ध च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र–अयं, द–अर्थः।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म र–विशेष, य–विरोधः।
4. क ख घ च छ ज झ त न–आपन्नः, ग–आपन्ने, थ द ध–समापन्नः।
5. क ख ग घ च छ ज झ त न–अस्य उपलभ्यते, थ द ध–अस्य नोपलभ्यते।

इस प्रकार तीन प्रकार के प्राणायामों का विशेष लक्षण किया गया। सम्प्रति, सूत्रकार चतुर्थ प्राणायाम का लक्षण करते हैं—'**बाह्येति**।' भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'**देशकालसंख्याभिरिति**।' यहाँ '**आक्षिप्त**' पद का अर्थ है—अभ्यास के वशीकृत रूप से रहित अर्थात् अभ्यासनिरपेक्ष यह चतुर्थ प्राणायाम भी '**दीर्घसूक्ष्म**' होता है। इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर विषय वाला प्राणायाम देश, काल और संख्या के दर्शन अर्थात् परीक्षणपूर्वक '**दीर्घसूक्ष्म**' होता है। इस प्रकार '**दीर्घसूक्ष्म**' प्राणायाम जब देशादि की परिदृष्टता से अतिक्रमित हो जाता है, तब उभयत्याग- पूर्वक जो प्राणायाम सिद्ध होता है वह चतुर्थ केवलकुम्भक प्राणायाम है। और यह चौथे प्रकार का प्राणायाम तृतीय प्राणायाम के समान सकृत् प्रयत्न से तुरन्त नहीं होता है, किन्तु अभ्यास किया जाता हुआ यह चतुर्थ प्राणायाम; उन रेचकादि अवस्थाओं को प्राप्त होकर, तत्तद् अवस्थाओं के विजयानुक्रम से सिद्ध होता है, इसी तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं—'**भूमिजयादिति**।'

शङ्का—श्वास-प्रश्वास दोनों का गत्यभाव स्तम्भवृत्ति में भी होता है, अतः चतुर्थ प्राणायाम का तृतीय प्राणायाम से क्या अन्तर है?

समाधान—इस पर भाष्यकार बतलाते हैं—'**तृतीय इति**।' देश, काल तथा संख्या के अनालोचन (अनवधारण) पूर्वक अल्पप्रयास से सम्पादित होने वाला तृतीय प्राणायाम है। चतुर्थ केवलकुम्भक प्राणायाम देश, काल तथा संख्या के आलोचन अर्थात् अवधारणपूर्वक बहुप्रयास से सिद्ध होता है। यही तृतीय (सहितकुम्भक) और चतुर्थ (केवलकुम्भक) प्राणायाम में अन्तर है। तृतीय प्राणायाम (सहित-कुम्भक) में पूरक और रेचक के विषय अनालोचित रहते हैं और चतुर्थ प्राणायाम (रहितकुम्भक) में रेचक और पूरक के विषय देश, काल और संख्या के द्वारा आलोचित रहते हैं॥५१॥

बालप्रिया—

'**चतुर्थः**'—बाह्यविषय वाला श्वास रेचक और आभ्यन्तरविषय वाला प्रश्वास पूरक कहा जाता है। ये रेचक और पूरक अतिक्रमित हो कर जहाँ रहते हैं, उसे '**बाह्याभ्यन्तराक्षेपी**' कहा जाता है। अर्थात् रेचकपूरकानपेक्षित जो प्राणायाम होता है, वही '**केवलकुम्भक**' नाम का चतुर्थ प्राणायाम है। भाव यह है कि कुम्भक प्राणायाम दो प्रकार का है—सहितकुम्भक तथा केवलकुम्भक। पूरक और रेचक के पश्चात् किया जाने वाला प्राणायाम '**सहितकुम्भक**' कहलाता है। जैसा कि वचन है—'**आरेच्याऽऽपूर्य वा कुर्यात् स हि सहितकुम्भकः**।' रेचक और पूरक को छोड़कर जिसमें सुखपूर्वक वायु को धारित किया जाता है अर्थात् रोका जाता है, उसे '**केवलकुम्भक**' कहते हैं। इसमें वशिष्ठोक्त वचन प्रमाण है—

'रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम्।
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः॥'

सूत्रकार को भी इसी प्रकार का चतुर्थ प्राणायाम मान्य है। कुछ विद्वान् लोगों ने सूत्रगत 'आक्षेपी' पद का अर्थ 'आलोच्य वर्त्तते' ऐसा किया है। इस मत में नासिका के अग्रभाग से बारह अंगुलपर्यन्त देश 'बाह्य विषय' है तथा हृदय, नाभिचक्रादिपर्यन्त प्रदेश 'आभ्यन्तरविषय' है–इन दोनों का परीक्षण करते हुए जो प्राणायाम सिद्ध होता है, उसे 'चतुर्थ' प्राणायाम कहते हैं॥५१॥

योगवार्त्तिकम्

इदानीं केवलकुम्भकरूपं प्राणायामस्य चतुर्थं विशेषमाह–बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः। बाह्याभ्यन्तरविषयकौ बाह्याभ्यन्तरवृत्ती पूर्वसूत्रोक्तौ रेचकपूरकौ, तयोराक्षेपी= अतिक्रमी, तावतिक्रम्य त्यक्त्वा स्वयमेव केवलो वर्त्तत इति यावत्, एवंभूतो यः प्राणायामः स चतुर्थ इत्यर्थः। अस्य च केवलकुम्भक इति संज्ञा वसिष्ठवाक्याद्व्यक्तीभविष्यति। पूर्वसूत्रोक्तस्तम्भवृत्तिस्तु नियमेन रेचकपूरकयोरन्तराल एव वर्त्तत इति न तदतिक्रमी। रेचकपूरकविषयातिक्रमस्यापि लाभाय विषयघटितं लक्षणमुक्तम्, न तु रेचकपूरकातिक्रमीत्ये[1]वं सूत्रितम्। अयं च कुम्भको न रेचकपूरकदेशेन परिच्छिन्नः, व्यापकत्वात्; नापि कालसंख्याभ्यां परिच्छिन्नः, स्वेच्छया माससंवत्सरादिकालस्थायित्वात्। स च प्राणायामो [2]ध्रुवस्य विष्णुपुराणे श्रूयते। तस्य हि तपसि प्राणनिरोधेन सर्वजीवप्राणनिरोधोऽभवदिति तत्रोक्तम्। अतस्तस्य केवलकुम्भक आसीदिति। अयं चतुर्थः प्राणायामः सोपायो वसिष्ठसंहितायामुक्तः। यथा–

प्रस्वेदं जनयेद्यस्तु प्राणायामो हि सोऽधमः।
मध्यमः कम्पनात् [3]प्रोक्त उत्थानं चोत्तमे भवेत्॥
पूर्वं पूर्वं प्रकुर्वीत यावदुत्तमसंभवः
निश्वासोच्छ्वासकौ देहे स्वाभाविकगुणावुभौ॥
तथाऽपि नश्यतस्तेन प्राणायामोत्तमेन हि।
तयोर्नाशे समर्थः स्यात् कर्त्तुं केवलकुम्भकम्॥
रेचकं पूरकं त्यक्त्वा मुख्यं यद्वायुधारणम्।
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः॥
सहितं केवलं वाऽपि कुम्भकं नित्यमभ्यसेत्।
यावत्केवलसिद्धिः स्यात् तावत्सहितमभ्यसेत्॥

---

1. क ख घ च छ–एवं, ग–एव।
2. क ख ग च छ–ध्रुवस्य, घ–ध्रुवः स्यात्।
3. क ख घ च छ–प्रोक्तः, ग–प्रोक्तात्।

केवले कुम्भके सिद्धे रेचकपूरकवर्जिते।
न तस्य दुर्लभं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते॥ इति।

आकाशगमनादिशक्त्याविर्भावेण कामगत्वादिकं स्याद् इत्यर्थः।

सम्प्रति, सूत्रकार प्राणायाम के केवलकुम्भक रूप चतुर्थ भेद को बताते हैं– **'बाह्येति'**। बाह्य और आभ्यन्तर विषय वाले अर्थात् बाह्याभ्यन्तरवृत्तिक पूर्व सूत्र-वर्णित रेचक और पूरक हैं। इन दोनों का 'आक्षेपी'=अतिक्रमी=अतिक्रमित अर्थात् परित्याग करके स्वयमेव 'केवल' होकर जो अवस्थित रहता है, वह चतुर्थ प्राणायाम कहलाता है। वसिष्ठवाक्य द्वारा इस प्राणायाम की 'केवलकुम्भक' संज्ञा को आगे स्पष्ट किया जायेगा। पूर्वसूत्र में प्रतिपादित 'स्तम्भवृत्ति प्राणायाम' तो रेचक और पूरक प्राणायाम के अन्तराल में ही नियमतः सम्पादित होता है, न कि रेचक और पूरक से अतिक्रमित होकर उसकी स्थिति है। अत एव रेचक और पूरकरूप विषयातिक्रम को भी संगृहीत करने के लिये सूत्रकार ने चतुर्थ प्राणायाम का उससे घटित लक्षण किया है न कि 'रेचकपूरकातिक्रमी' इतने मात्र से उसे सूत्रित किया है। किञ्च यह 'केवलकुम्भक' प्राणायाम रेचक और पूरक के देश से परिच्छिन्न नहीं होता है, क्योंकि इसका देश व्यापक है और न ही यह काल और संख्या की दृष्टि से सीमित है, क्योंकि यह यथेष्ट मास, संवत्सर (विक्रमादित्याब्द) आदि कालपर्यन्त बना रहता है। यह 'केवलकुम्भक' प्राणायाम विष्णुपुराण में ध्रुव का सुना गया है। विष्णुपुराण में यह बताया गया है कि तपपूर्वक (तपश्चर्याकाल में) प्राणनिरोध करने से उन्हें सर्वजीवविषयक प्राणनिरोध प्राप्त हुआ था। इससे यह सिद्ध होता है कि ध्रुवकुमार को 'केवलकुम्भक' प्राणायाम सिद्ध था। वसिष्ठसंहिता में उपायसहित चतुर्थ प्राणायाम वर्णित हुआ है, जो इस प्रकार है–'प्रस्वेदं जनयेत्...लोकेषु विद्यते' अर्थात् 'जो प्राणायाम प्रस्वेद को उत्पन्न करे, वह अधम' कहलाता है। शारीरिक कम्पन से उत्पन्न होने वाला प्राणायाम 'मध्यम' तथा जिसमें (पृथ्वी से) ऊपर को योगी उठे उसे 'उत्तम' प्राणायाम कहते हैं। पूर्व-पूर्व प्राणायाम का अभ्यास तब तक करते रहना चाहिये जब तक सर्वोत्तम प्राणायाम सिद्ध न हो सके। श्वास और प्रश्वास दोनों देह के स्वाभाविक गुण हैं। इनमें से उत्तम प्राणायाम के द्वारा पहले के दो प्राणायाम नष्ट हो जाते हैं। तदनन्तर दोनों प्राणायाम के नष्ट होने पर योगी 'केवलकुम्भक' प्राणायाम को नष्ट करने के लिये समर्थ होता है। रेचक और पूरक के विना ही जिसमें मुख्य रूप से वायु को धारण किया जाता है उसे ही 'केवलकुम्भक' प्राणायाम कहते हैं। साधक को सहितकुम्भक और केवलकुम्भक का नित्य अभ्यास करते रहना चाहिये। सहितकुम्भक का अभ्यास तब तक करते रहना चाहिये जब तक 'केवलकुम्भक प्राणायाम' सिद्ध न हो जाय। रेचक और पूरक की

अपेक्षा किये विना केवलकुम्भक के सिद्ध होने पर केवलकुम्भकजयी के लिये इन तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता है।' भाव यह है कि आकाशगमनादि शक्ति का आविर्भाव होने से योगी को इच्छानुसार गति का लाभ होता है।

सम्प्रति, वार्त्तिककार भाष्यानुसार केवलकुम्भक (चतुर्थ कुम्भक) प्राणायाम का विश्लेषण करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

चतुर्थस्योत्पत्तिक्रमं कथयति–देशकालेति। बाह्यविषयो रेचको देशकालसंख्याभिरादौ परिदृष्टः, पश्चाच्च देशादिभिः सहैवाक्षिप्तोऽतिक्रामितो भवतीति शेषः। अतश्च सूत्रे देश-वाचको विषयशब्दः कालसंख्ययोरप्युपलक्षणमित्याशयः। तथाऽऽभ्यन्तरविषयः पूरकोऽपि देशादिभिरादौ परिदृष्टः, पश्चाद्देशादिभिः सहैव सोऽप्याक्षिप्तो भवति। तच्चाक्षिप्तमुभयथा दीर्घसूक्ष्मो द्विविधो दीर्घसूक्ष्मश्चिरकालं देशादिभिरभ्यस्तौ रेचकपूरकाविति यावत्। तत्पूर्वकः तदुभयाक्षेपपूर्वकस्तदुभयमाक्षिपन्निति यावत्। अवान्तर[1]कालिकभूमिकाजयात् कालक्रमेण न तु शीघ्रम् उत्पद्यमानः, एवंभूत उभयोः श्वासप्रश्वासयोः गतिविच्छेदश्चतुर्थः प्राणायाम इत्यर्थः।

भाष्यकार चतुर्थ प्राणायाम के उत्पत्तिक्रम को बताते हैं–'देशकालेति।' प्रथमतः देश, काल तथा संख्या के द्वारा बाह्यविषयक रेचक प्राणायाम 'परिदृष्ट' अर्थात् परीक्षित होता है और तत्पश्चात् देशादियों के साथ ही 'आक्षिप्त' अर्थात् अतिक्रमित होता हुआ केवलकुम्भक प्राणायाम सिद्ध होता है। अतः सूत्र में देशवाचक 'विषय' शब्द काल तथा संख्यादि का भी उपलक्षक (संग्राहक) है। इस आशय के अनुसार आभ्यन्तरविषयक 'पूरक' प्राणायाम भी देशादियों के द्वारा पहले परिदृष्ट होता है और तत्पश्चात् देशादियों के साथ ही वह भी अतिक्रमित हो जाता है। यह चतुर्थ प्राणायाम उभयथा आक्षिप्त होकर 'दीर्घसूक्ष्म' होता है। अर्थात् चिरकालपर्यन्त देशादियों से परीक्षापूर्वक अभ्यास किये जाते हुए रेचक और पूरक दोनों से आक्षिप्त होकर चतुर्थ प्राणायाम दीर्घसूक्ष्मता को प्राप्त करता है। प्राणायाम की अवान्तरकालिक भूमियों के जयपूर्वक कालक्रम से धीरे-धीरे न कि शीघ्रतापूर्वक उत्पन्न होने वाले चतुर्थ प्राणायाम में श्वास-प्रश्वास दोनों का गतिविच्छेद होता है।

सम्प्रति, तृतीय प्राणायाम से चतुर्थ प्राणायाम का वैलक्षण्य प्रतिपादित किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

स्तम्भवृत्त्याख्यतृतीयप्राणायामात् मिश्रकुम्भकादस्य वैलक्षण्यमाह–तृतीयस्त्विति। तृती-यस्तु गत्यभावः स्तम्भवृत्तिर्निर्विषयेन देशेन तदुपलक्षितकालसंख्याभ्यां चानालोचितोऽनवधारितः सकृदारब्धोऽभ्यासबाहुल्यं विनैवोत्पद्यमानश्च भवति, तथा स एव तृतीयो देशकालसंख्याभिः

---

1. क ग घ च छ–अवान्तरकालिक०, ख–अवान्तरानेक०।

परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मश्च भवतीति सामान्यविशेषाभ्यां तृतीयस्य रूपद्वयमुक्तम्। चतुर्थस्य तद्विपरीततामाह–चतुर्थस्त्विति। चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयो रेचकपूरकयोर्देशाख्यविषयाद्यव-धारणानन्तरं क्रमिकभूमिजयाद्धेतोः पूरकरेचकाक्षेपपूर्वको गत्यभाव इत्ययं चतुर्थप्राणायामे तृतीयाद्विशेष इत्यर्थः। प्राणायामस्य चापरे सगर्भागर्भादयो विशेषाः पुराणादिषु द्रष्टव्याः–

जपध्यानयुतो गर्भी त्वगर्भस्तद्विवर्जितः

इत्यादिवाक्यैरिति दिक्॥५१॥

भाष्यकार 'स्तम्भवृत्ति' संज्ञक तृतीय प्राणायाम अर्थात् मिश्रकुम्भक से चतुर्थ प्राणायाम का अन्तर बताते हैं–'तृतीयस्त्विति।' स्तम्भवृत्तिरूप तृतीय गत्यभाव 'देश' रूप विषय और उससे उपलक्षित 'काल' और 'संख्या' के द्वारा 'अनालोचित'=अनव-धारित होता हुआ 'सकृदारब्ध'=अधिक अभ्यास किये विना ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार देश, काल और संख्या के द्वारा परीक्षित तृतीय प्राणायाम 'दीर्घसूक्ष्म' होता है। इस प्रकार सामान्य तथा विशेष की दृष्टि से तृतीय प्राणायाम के दो रूप बतलाये गये हैं। भाष्यकार तृतीय प्राणायाम से चतुर्थ प्राणायाम का वैपरीत्य बतलाते हुए कहते हैं–'चतुर्थस्त्विति।' श्वास और प्रश्वासरूप रेचक और पूरक के देशादिसंज्ञक विषयादि के निश्चयपूर्वक क्रमशः भूमिजय होने से रेचक तथा पूरक के आक्षेप-पुरस्सर (अतिक्रमपूर्वक) होने वाला गतिरोध अर्थात् प्राणरोध चतुर्थ प्राणायाम कहलाता है। यही चतुर्थ प्राणायाम में तृतीय प्राणायाम की अपेक्षा वैशिष्ट्य निहित है। पुराणादि शास्त्रों में प्राणायाम के सगर्भ, अगर्भ आदि अन्य भेद निम्नाङ्कित वाक्यों द्वारा द्रष्टव्य हैं–'जपध्यानयुतो...वर्जितः' (ग. पु १/२२७ /१९) अर्थात् 'जो प्राणायाम जप और ध्यानपूर्वक किया जाता है, उसे 'गर्भी' अर्थात् 'सगर्भ प्राणायाम' कहते हैं और जपादिरहित प्राणायाम को 'अगर्भी' अर्थात् 'अगर्भ प्राणायाम' कहते हैं' ॥५१॥

योगसूत्रम्

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्॥५२॥

तदनन्तर (प्राणायाम की सिद्धि से) प्रकाश पर पड़ा हुआ आवरण क्षीण हो जाता है॥५२॥

व्यासभाष्यम्

प्राणायामान[1]भ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म। यत्तदा-

---

1. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र–अभ्यस्यतः, झ त–अभ्यस्य सतः।

चक्षते—महामोहमयेने[1]न्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्त्वमावृत्य तदेवाकार्ये नियुङ्क्त[2] इति। तदस्य प्रकाशावरणं कर्म [3]संस्कारनिबन्धनं प्राणायामा[4]भ्यासाद् दुर्बलं भवति प्रतिक्षणं च क्षीयते। तथा चोक्तम्—तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति॥ ५२॥

प्राणायाम का अभ्यास करने वाले इस योगी के विवेकज्ञान को आच्छादित करने वाला कर्म क्षीण हो जाता है—यह बात जो कही गई है, उसे योगाचार बतलाते हैं—'रागात्मक इन्द्रजालरूपी विषयजाल से प्रकाशात्मक (बुद्धि) सत्त्व को ढककर वही इसे अधर्म में फँसाता है।' इस योगी के प्रकाश का आवरणभूत वह संसारमूलक कर्मसंस्कार प्राणायाम के अभ्यास से दुर्बल हो जाता है और प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है। उसी प्रकार कहा भी गया है—'प्राणायाम से बढ़कर कोई दूसरा तप नहीं है। उससे मलों की शुद्धि और ज्ञान की स्फूर्ति होती है'॥५२॥

तत्त्ववैशारदी

प्राणायामस्यावान्तरप्रयोजनमाह—ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। आव्रियतेऽनेन बुद्धि-सत्त्वप्रकाश इत्यावरणं क्लेशः पाप्मा च। व्याचष्टे—प्राणायामानिति। ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं बुद्धिसत्त्वप्रकाशः। विवेकस्य ज्ञानं विवेकज्ञानम्। [5]स हि विवेकज्ञानमावृणोतीति विवेकज्ञाना-वरणीयम्। भव्यगेयप्रवचनीयादीनां कर्तरि [6]निपातनस्य प्रदर्शनार्थत्वात्कोपनीयरञ्जनीय-वदत्रापि कर्तरि कृत्यप्रत्ययः। कर्मशब्देन तज्जन्यमपुण्यं तत्कारणं [7]च क्लेशं लक्षयति।

सूत्रकार प्राणायाम के अवान्तर प्रयोजन को बताते हैं—'तत इति' तत्त्ववैशारदी-कार सूत्रगत 'आवरण' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ करते हैं—'आव्रियतेऽनेन बुद्धिसत्त्व-प्रकाश इत्यावरणम्' अर्थात् जिसके द्वारा प्रकाशस्वभावशील बुद्धिसत्त्व आच्छादित किया जाता है, उसे 'आवरण' कहते हैं। यह 'आवरण' (अविद्यादिरूप) क्लेश और (क्लेशजन्य) पाप है। अर्थात् बुद्धि के विवेकज्ञानरूप प्रकाश का आच्छादक जो अविद्या तथा अविद्याजन्य पाप है, उसे 'प्रकाशावरण' कहते हैं। भाष्यकार सूत्र की

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध प फ ब भ म य र—इन्द्र०, न—इन्द्रिय०।
2. क घ च छ ज झ त थ द ध न प फ म य र—नियुङ्क्ते, ख भ—नियुक्तं, ग—नियुक्ते, व—विनियुङ्क्ते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ य र—संसार०, म—संस्कार०।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म थ र—अभ्यासात्, व—अभ्यासबलात्।
5. क छ ज झ थ द ध—स हि उपलभ्यते, ख ग घ च त न—स हि नोपलभ्यते।
6. क ख घ च छ ज झ त न—निपातनस्य, ग थ द ध—निपातस्य।
7. क ग—क्लेशं, ख थ द ध—क्लेशं च, घ च छ ज झ त न—च क्लेशम्।

व्याख्या करते हैं—**'प्राणायामानिति' 'ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्'**—जिसके द्वारा जाना जाता है, उसे **'ज्ञान'** कहते हैं। और वह ज्ञान बुद्धिनिष्ठ **'सत्त्वप्रकाश'** है। सत्त्वगुण प्रकाशक है और चूँकि बुद्धि सत्त्वगुणप्रधान है, इसलिये बुद्धि के सत्त्वप्रकाश को ज्ञान कहते हैं। **'विवेकस्य ज्ञानं—विवेकज्ञानम्'** अर्थात् पुंप्रकृतिभेद के ज्ञान को विवेकज्ञान (भेदज्ञान) कहते हैं। अविद्यादि क्लेश और पाप विवेकज्ञान को आवृत्त करते हैं, इसलिये क्लेश और पाप विवेकज्ञान के आवरणीय अर्थात् **'आवरक'** हैं। जिस प्रकार **'भव्य'** (भू+यत्=होने वाला), **'गेय'** (गै+यत्=गाने वाला) **'प्रवचनीय'** (प्र+वच्+अनीयर्=प्रकथन करने वाला) आदि शब्दों का कर्त्ता अर्थ में विकल्पतः निपातन (शब्द का अपवाद रूप) व्याकरणसम्मत है, उसी प्रकार यहाँ **'कोपनीय'**, **'रञ्जनीय'** आदि शब्दों की तरह **'आवरणीय'** (आङ्+वृ+अनीयर्) शब्द में भी कर्त्ता अर्थ में **'अनीयर्'** कृत्यप्रत्यय हुआ है; जिसका अर्थ है—आवरक अर्थात् आवृत्त करने वाला। विवेकज्ञान का आवरणीय कर्म क्या है? इस जिज्ञासा की शान्ति के लिये तत्त्ववैशारदीकार भाष्यगत **'कर्म'** शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हैं—**'कर्म'** शब्द से कर्मजन्य 'अपुण्य' और अपुण्य का कारण **'क्लेश'** उपलक्षित होता है।

बालप्रिया—

'भव्यगेयप्रवचनीयादीनां'—तदर्थ पाणिनि सूत्र द्रष्टव्य है—**'भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीय-जन्याप्लाव्यापात्या वा'** (३/४/६८) **'एते कृत्यान्ताः कर्त्तरि वा निपात्यन्ते'**—अर्थात् 'कृत्य-प्रत्ययान्त भव्य, गेय आदि शब्द कर्त्ता में निपातन हों, विकल्प से।' इस नियम से वाचस्पति मिश्र ने भाष्य में प्रयुक्त **'आवरणीय'** शब्द को 'आवरक' अर्थ का वाचक माना है। ज्ञातव्य है कि **'आवरणीय'** शब्द में **'कर्त्ता'** अर्थ में कृत्य प्रत्यय को संकेतित करने की आवश्यकता इसलिये प्रतीत हुई जिससे इसमें भावार्थक अथवा कर्मार्थक कृत प्रत्यय होने का भ्रम दूर किया जा सके।

'कर्मशब्देन...अपुण्यं...क्लेशम्'—इस वैशारदीय पंक्ति की व्यासभाष्योक्त **'कर्म'** शब्द के साथ अन्तःसंगति इस प्रकार है—यद्यपि भाष्यकार ने विवेकज्ञानावरणीय के लिये सामान्यतया **'कर्म'** शब्द का ही उल्लेख किया है, **'क्लेश'** शब्द का नहीं, तथापि क्लेश के क्षीण हुए विना तज्जन्य कर्म का क्षीण होना असंभव है और प्राणायाम के अनुष्ठान से रागादि क्लेश भी क्षीण होते हैं, यह अनुभवसिद्ध है। अतः प्राणायाम से अविद्यादि क्लेशों का भी क्षय होता है, यह यथार्थ वस्तुस्थिति है। किञ्च **'कर्म'** शब्द से केवल पापकर्म का ही ग्रहण होता है, पुण्य कर्म का नहीं। क्योंकि अविद्यादि क्लेश से पाप का ही उदय होता है, पुण्य का नहीं। अतः अविद्या प्रथमतः विवेकज्ञान को आच्छादित करती है। तदनन्तर पाप कर्म में नियुक्त करती है। अतः तत्त्ववैशारदी टीका की व्यासभाष्य के साथ एकवाक्यता है।

उक्त विषय को तत्त्ववैशारदीकार आगे बढ़ाते हैं–

तत्त्ववैशारदी

अत्रैवागमिनामनुमतिमाह–यत्तदाचक्षत इति। महामोहो रागः। तदविनिर्भागवर्ति-न्यविद्यापि तद्ग्रहणेन गृह्यते। अकार्यमधर्मः। ननु प्राणायाम एव चेत् पाप्मानं क्षिणोति कृतं तर्हि तपसेत्यत आह–दुर्बलं भवतीति। न तु सर्वथा क्षीयते। अतस्तत्प्रक्षयाय तपोऽपेक्ष्यत इति। अत्राप्यागमिनामनुमतिमाह–तथा चोक्तमिति। मनुरप्याह–प्राणायामैर्दहेद् दोषान् इति। प्राणायामस्य योगाङ्गता विष्णुपुराणे उक्ता–

प्राणाख्यमनिलं वश्यमभ्यासात्कुरुते तु यः।
प्राणायामः स विज्ञेयः सबीजोऽबीज एव च॥
परस्परेणाभिभवं प्राणापानौ यदानिलौ।
कुरुतस्तद्विधानेन तृतीयं संयमात्तयोः ॥इति॥ ५२॥

इस विषय में भाष्यकार आगमिकों (पञ्चशिखाचार्य) की सम्मति को प्रदर्शित करते हैं–'**यत्तदाचक्षत इति**' पञ्चशिखाचार्य के वाक्य में प्रयुक्त '**महामोह**' शब्द का अर्थ है–राग। महामोह के साथ अविनाभावसम्बन्ध से रहने वाली अविद्या भी '**महामोह**' शब्द के ग्रहण से स्वतः गृहीत होती है। अर्थात् '**महामोह**' अविद्यामूलक राग का बोधक है। वाक्यगत '**अकार्य**' शब्द का अर्थ है–अधर्म। वाक्य का अर्थ इस प्रकार होता है–इन्द्रजाल के समान रागप्रधान अविद्या के द्वारा, द्वारभूत शब्दादि विषय के द्वारा, प्रकाशशील बुद्धिसत्त्व को आच्छादित करके वही पापरूप कर्म (आवरण) उसे हिंसादि अकार्य (पापकर्म) में नियुक्त करता है।

शङ्का–यदि प्राणायाम ही हिंसादि पाप कर्म को नष्ट कर देता है तो 'तप' का ग्रहण व्यर्थ है अर्थात् 'तप' संज्ञक क्रियायोग का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है?

समाधान–इस पर भाष्यकार का वक्तव्य है–'**दुर्बलं भवतीति**' प्रकाशशील विवेकज्ञान के आच्छादक तथा संसार के कारणभूत अविद्या से जन्य पापकर्म को प्राणायाम के अभ्यास से दुर्बल किया जाता है। प्राणायाम से पापकर्म का सर्वथा क्षय नहीं होता है। अतः तन्ववस्थाक पाप-कर्म की पूर्ण रूप से निवृत्ति के लिये तप की अपेक्षा रहती है। भाष्यकार इस विषय में भी आगमिकों (पञ्चशिखाचार्य) के मत को प्रमाण रूप से रखते हैं–'**तथा चोक्तमिति**' अर्थात् प्राणायाम से अधिक श्रेष्ठ दूसरा कोई तप नहीं है, क्योंकि प्राणायाम से अविद्यादि क्लेश तथा तज्जन्य पापरूप मलों की निवृत्ति होती है और ज्ञान की दीप्ति होती है। यही तथ्य मनु भगवान् द्वारा भी कहा गया है–'**प्राणायामैर्दहेद् दोषान् इति**' अर्थात् 'योगी प्राणायाम के द्वारा अविद्यादि क्लेश और तज्जन्य पापरूप दोषों का नाश करे।' विष्णुपुराण में प्राणायाम की योगाङ्गता वर्णित है–'**प्राणाख्य...तयोः**' (६/७/४०-४१) अर्थात् प्राणवायु का वश में

किया जाना प्राणायाम है। उसके 'सबीज' और 'निर्बीज' ये दो प्रकार हैं। प्राण और अपान के द्वारा निरोध करने में दो प्राणायाम होते हैं तथा इन दोनों को एक ही समय रोकने से तीसरा 'कुम्भक' प्राणायाम होता है'॥५२॥

बालप्रिया–

'प्राणायामैर्दहेद् दोषानिति'–मनु का समग्र वचन इस प्रकार है–

प्राणायामैर्दहेद् दोषान् धारणाभिश्च किल्विषम्।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यायेनानीश्वरान् गुणान्॥

उक्त श्लोक का अर्थ है–'प्राणायाम द्वारा रागादि दोषों का दाह करे और धारणा द्वारा पाप का नाश करे। प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों का विषयों से संसर्ग निवृत्त करे और ध्यान द्वारा काम, लोभादि अनीश्वर गुणों का नाश करे।' ॥५२॥

योगवार्त्तिकम्

योगे जनयितव्ये प्राणायामस्य व्यापारं तत्सिद्धिसूचकमाह–ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। ततः=प्राणायामात्। सूत्रं व्याचष्टे–प्राणायामानिति। [1]विवेकज्ञानावरणीयं विवेकज्ञानावरकम्। अथवा कोपनीयेत्यादिवद् अत्रापि कर्त्तरि कृत्यप्रत्ययः, भव्यगेयप्रवचनीयादीनां कर्त्तरि निपातनस्य दिङ्मात्रप्रदर्शनपरत्वात्। कर्मेति। [2]कर्माधर्मः, तस्य ज्ञानप्रतिबन्धकत्वमेव ज्ञानावरकत्वम्। एतादृशं कर्म क्षीयत इत्यर्थः। कर्मणो ज्ञानावरकत्वे पूर्वाचार्यवाक्यं प्रमाणयति–यत्तदाचक्षत इति। यत्तत्कर्म एवमाचक्षते–महामोहो रागस्तन्मयेन तत्प्रचुरेणेन्द्रजालतुल्येन शब्दादिविषयेण द्वारेण प्रकाशशीलमपि बुद्धिसत्त्वमावृत्य तदेव कर्मैवाकार्ये संसारहेतुव्यापारे एव नियुङ्क्त इत्यर्थः। दुर्बलं प्रकाशावरणक्षमं भवति, तथा प्रतिक्षणं क्षीयतेऽपचीयते चेत्यर्थः। तदुक्तं मनुना–

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ इति।

दोषाः पापानि तत्कार्ये तमोमलविपर्ययौ च, तपः पापनाशकं कर्म। पापक्षये सति यद्भवति तदाह–तत इति। ततः पापाख्यकारणाभावान्मलानां तमसां तत्[3]कार्यविपर्याणां चा[4]पगमे ज्ञानदीप्तिश्चेत्यर्थः। ननु तपसैव पापक्षय इत्युक्तम्, तर्हि किं प्राणायामेनेति चेत्? न; ज्ञानावरकपापक्षये प्राणायामस्य श्रेष्ठोपायत्वात्। अत एव पूर्वपादे प्रकृष्टाधिकारिणः प्राणायाम एव साधनमुक्तम्, विक्षेपकतया तपोऽन्तराभावेऽपि तेनैव योगनिष्पत्तिसम्भवादिति॥५२॥

---

1. क ख ग–विवेकज्ञानमेवावरणीयं (विवेक०–प्राक्) उपलभ्यते, घ च छ–विवेकज्ञानमेवावरणीयं नोपलभ्यते।
2. क ग–कर्मधर्मः, ख घ च छ–कर्माधर्मः।
3. क छ–कार्याणां, ख ग घ च–कार्यविपर्याणाम्।
4. क घ च छ–अपगमे, ख ग–अपगमः।

योग की निष्पत्ति में प्राणायाम के सिद्धिसूचक व्यापार को सूत्रकार बताते हैं– 'तत इति।' 'ततः'=प्राणायाम से प्रकाशावरण का क्षय होता है। भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं–'प्राणायामानिति।' 'विवेकज्ञानावरणीय' शब्द का अर्थ है–विवेक-ज्ञानावरक। अथवा 'कोपनीय' इत्यादि शब्दों की भाँति 'आवरणीय' शब्द में भी कर्त्ता अर्थ में कृत्यप्रत्यय है, क्योंकि भव्य, गेय, प्रवचनीय आदि शब्दों में 'कर्त्ता' अर्थ में (कृत्यप्रत्यय का) निपातन दिङ्मात्रप्रदर्शनपरक है। विगत वाक्य से 'कर्म' पद को उठाते हुए वार्त्तिककार पूरे वाक्य का अर्थ करते हैं–'कर्मेति।' यहाँ 'कर्म' शब्द का अर्थ अधर्म है। अधर्मरूप कर्म में निहित जो ज्ञानप्रतिबन्धकत्व है उसे ही 'ज्ञाना-वरक' कहते हैं। अर्थात् तमोगुणप्रधान अधर्म में सत्त्वगुणप्रधान ज्ञानात्मक धर्म को आवृत्त करने की प्रतिद्वन्द्वात्मक क्षमता है। एतादृश कर्म प्राणायाम के अभ्यास से क्षीण हो जाता है। कर्म के ज्ञानावरक होने में भाष्यकार पूर्वाचार्य के वाक्य को प्रमाणरूप से उद्धृत करते हैं–'यत्तदाचक्षत इति।' जो कर्म ज्ञान का आवरक होता है, उसे पञ्चशिखाचार्य बताते हैं–'महामोह' शब्द का अर्थ है–राग तो 'महामोहमय' शब्द का अर्थ होता है–महामोह की प्रचुरता। इस प्रकार प्रचुर रागात्मक इन्द्रजालरूपी शब्दादिविषयजाल से प्रकाशस्वभाव वाले बुद्धिसत्त्व को आवृत्त करके वही कर्म 'अकार्य' अर्थात् संसार के हेतुभूत व्यापार में मनुष्य को प्रवृत्त करता है। प्राणायाम की शक्ति से यही कर्म 'दुर्बल'=ज्ञानरूप प्रकाश को आवृत्त करने में असमर्थ हो जाता है तथा प्रतिक्षण अपचय अर्थात् क्षीण होता जाता है। जैसा कि मनु भगवान् ने कहा है–'दह्यन्ते...निग्रहात् (६/७१) अर्थात् 'जैसे अग्नि से धौंके हुए सुवर्णादि धातुओं का मल नष्ट हो जाता है, वैसे ही प्राणनिग्रह से इन्द्रियों के मलों (दोषों) का भस्मीकरण हो जाता है।' प्रकृत उदाहरण में इन्द्रियगत 'दोष' से पाप, उसका कार्य तमोगुणरूप मल और विपर्यय का ग्रहण होता है। पापनाशक कर्म तप है। पाप का नाश होने पर जो होता है, उसे भाष्यकार कहते हैं–'तत इति।' प्राणायामजय द्वारा पापाख्य कारण का नाश (अभाव) होने से तमोगुणात्मक मल और उसके कार्य अज्ञानादि (विपर्ययादि) का अपगम अर्थात् अपसारण होने से ज्ञान की दीप्ति होती है। अर्थात् निर्भ्रान्त ज्ञान का प्रखर तेज फैलता है।

शङ्का–जब तप से पाप का नाश हो जाता है तो प्राणायाम क्या करेगा? अर्थात् प्राणायाम व्यर्थ है?

समाधान–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ज्ञान के आवरकभूत पाप का क्षय करने में प्राणायाम श्रेष्ठ उपाय है। अत एव पूर्वपाद में योग के उत्तमाधिकारियों के लिये प्राणायाम को ही साधन बतलाया गया है, क्योंकि विक्षेपरूप होने से तप का बीच

में अभाव होने पर भी प्राणायाम से ही योग-निष्पत्ति संभव होती है। इस प्रकार एक से दूसरे को व्यर्थ नहीं कहा जा सकता है॥५२॥

सम्प्रति, अगले सूत्र की संक्षिप्त वैयासिकी अवतरणिका उपस्थित हो रही है–

व्यासभाष्यम्

किञ्च–

(प्राणायाम से) और क्या होता है–

योगसूत्रम्

धारणासु च योग्यता [1]मनसः ॥५३॥

धारणाओं में मन की योग्यता होती है॥५३॥

व्यासभाष्यम्

प्राणायामाभ्यासादेव, प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य (१/३४) इति वचनात्।।५३॥

प्राणायाम के अभ्यास से मन में धारणा की योग्यता आती है। यह बात (प्रथम पाद के) **'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य'** सूत्र द्वारा कही गई है॥५३॥

तत्त्ववैशारदी

किञ्च--धारणासु च योग्यता मनसः। प्राणायामो हि मनः स्थिरीकुर्वन् धारणासु योग्यंकरोति॥५३॥

प्राणायाम का अन्य भी प्रयोजन है। सूत्र है–**'धारणास्विति।'** प्राणायाम मन को स्थिर करके उसे धारणाविषयक सामर्थ्य वाला कर देता है॥५३॥

बालप्रिया–

'किञ्च'–प्राणायाम के दो प्रयोजन हैं–मलनिवृत्ति तथा स्थिरता। इनमे से मल-निवृत्ति, स्थिरता के लिये उपयोगी होने से, अवान्तर प्रयोजन है और स्थिरता मुख्य प्रयोजन है। प्रस्तुत सूत्र द्वारा प्राणायाम के मुख्य प्रयोजन को बतलाया गया है तथा अव्यवहित पूर्ववर्ती सूत्र द्वारा उसके गौण प्रयोजन पर प्रकाश डाला गया है॥ ५३॥

योगवार्त्तिकम्

अन्यच्च भवतीत्या[2]ह–धारणासु च योग्यता मनसः। प्राणायामाभ्यासादेवेति सूत्रेण सहान्वयः। प्रच्छर्दनेत्यादिप्रथमपादीयसूत्रेण प्राणायामस्य धारणायोग्यतारूपस्थितिहेतुता-

---

1. मनसा–इति पाठान्तरम्।
2. क ख–किं चेति (आह–पश्चात्) उपलभ्यते, ग घ च छ–किं चेति नोपलभ्यते।

धारणायोग्यतारूपस्थितिहेतुता- वचनादित्यर्थः। [1]एतेन तस्मिन्नपि सूत्रे पूरकादित्रयात्मकः प्राणायाम एवोक्त इत्यव- धारणीयम्॥५३॥

प्राणायाम का अन्य फल भी है, ऐसा सूत्रकार बताते हैं। सूत्र है–'धारणास्विति' 'प्राणायामाभ्यासादेव' इत्यंश को सूत्र के साथ अन्वित करना चाहिये। क्योंकि 'प्रच्छर्दन-विधारणाभ्यां वा प्राणस्य' (१/३४) इस प्रथमपादीय सूत्र के द्वारा प्राणायाम को चित्त के धारणायोग्यतारूप स्थैर्य का हेतु बतलाया गया है। अर्थात् यह प्राणायाम मन को स्थिर करके उसे धारणाविषयक सामर्थ्य प्रदान करता है। इससे यह अवधारित होता है कि पूर्वपादीय सूत्र में भी पूरकादित्रयात्मक प्राणायाम ही अभिहित हुआ है। अर्थात् प्राणायामसामान्य को ही मन के स्थितिनिबन्धन का कारण बतलाया गया है॥५३॥

सम्प्रति, भाष्यकार क्रमप्राप्त 'प्रत्याहार' योगाङ्ग को अवतरित करते हैं–

व्यासभाष्यम्

अथ कः प्रत्याहारः–

अच्छा, यह बतलाईये कि प्रत्याहार का क्या लक्षण है–

योगसूत्रम्

[2]स्वविषया[3]सम्प्रयोगे [4]चित्तस्य [5]स्वरूपानुकार [6]इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः॥५४॥

इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के साथ संयुक्त न होने पर, जो चित्त के रूप की तरह का रूप हो जाना है, वह 'प्रत्याहार' है॥५४॥

व्यासभाष्यम्

स्वविषयसंप्रयोगा[7]भावे [8]चित्तस्वरूपानुकार इवेति चित्तनिरोधे चित्तव-

---

1. क ग घ च छ–एतेन तस्मिन्नपि सूत्रे पूरकादित्रयात्मकः प्राणायाम एवोक्त इत्यवधारणीयम्– उपलभ्यते, ख–एतेन...अवधारणीयं नोपलभ्यते।
2. स्वरूप०–इति पाठान्तरम्।
3. संप्रयोगाभावे, असंयोगे–इति पाठान्तरे।
4. चित्त०–इति पाठान्तरम्।
5. रूप०–इति पाठान्तरम्।
6. एव–इति पाठान्तरम्।
7. झ–इन्द्रियाणां प्रत्याहारः (अभावे–पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र–इन्द्रियाणां प्रत्याहारः नोपलभ्यते।
8. क ख–चित्तस्य, ग घ ञ छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–चित्त०।

न्निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवदुपायान्तरमपेक्षन्ते। यथा मधुकरराजं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविशमानमनुनिविशन्ते तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानीत्येष प्रत्याहारः॥ ५४॥

अपने-अपने विषयों के साथ संयोग का अभाव होने पर इन्द्रियाँ चित्त के रूप के समान रूप वाली हो जाती हैं। अतः चित्त का निरोध होने पर इन्द्रियाँ भी चित्त की भाँति निरुद्ध हो जाती हैं, उस समय अन्य प्रकार के इन्द्रिय-जय की तरह अन्य उपायों की अपेक्षा नहीं रहती है। जिस प्रकार रानी मक्खी के उड़ने पर अन्य सारी मक्खियाँ उसके पीछे-पीछे उड़ती हैं और उसके बैठं जाने पर बैठ जाती हैं उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी चित्त का निरोध होने पर निरुद्ध हो जाती हैं—यही 'प्रत्याहार' कहा जाता है॥५४॥

तत्त्ववैशारदी

तदेवं यमादिभिः संस्कृतः संयमाय प्रत्याहारमारभते। तस्य लक्षणसूत्रमवतारयितुं पृच्छति—अथेति। स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। चित्तमपि हि मोहनीयरञ्जनीयकोपनीयैः शब्दादिभिर्विषयैर्न संप्रयुज्यते, तद[1]संप्रयोगाच्चक्षुरादीन्यपि न संप्रयुज्यन्त इति सोऽयमिन्द्रियाणां चित्तस्वरूपानुकारः। यत्पुनस्तत्त्वं चित्तमभिनिविशते न तदि[2]न्द्रियाणां बाह्यविषयाणाम[3]नुकारोऽपि। अत उक्तमनुकार इवेति।

इस प्रकार यमादि योगाङ्गों के अनुष्ठान से 'संस्कृत' अर्थात् विशुद्ध चित्त वाला योगी इन्द्रियों के संयमन के लिये 'प्रत्याहार' का (अभ्यास) आरम्भ करता है। 'प्रत्याहार' के लक्षणप्रतिपादक सूत्र को अवतरित करने के लिये भाष्यकार प्रश्न करते हैं—'अथेति।' प्रत्याहार किसे कहते हैं? सूत्र से उत्तर दिया जा रहा है—'स्वेति।' जब चित्त मोहनीय (मोह उत्पन्न करने वाले), रञ्जनीय (अपने रंग में रंगकर प्रसन्न करने वाले) तथा कोपनीय (अप्राप्ति में क्रोध उत्पन्न करने वाले) शब्दादि विषयों के साथ सम्बद्ध नहीं होता है अर्थात् चित्त की शब्दादिविषयक वृत्ति नहीं बनती है तब चित्त का विषयों के साथ सम्बन्ध न होने से चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी विषयों से सम्बद्ध नहीं होती हैं। अर्थात् इन्द्रियाँ स्वविषयाभिमुख नहीं होती हैं। यही इन्द्रियों की 'चित्तस्वरूपानुकारता' है। और फिर जब चित्त बाह्य विषय में सन्लग्न नहीं होता है अर्थात् एकविषयिणी एकाग्रता को प्राप्त होता है तब बाह्यविषयिणी इन्द्रियाँ भी

---

1. क ख ग थ द ध—असंयोगात्, घ च छ ज झ त न—असंप्रयोगात्।
2. क ग छ थ द ध—इन्द्रियाणां बाह्यविषयविषयाणां, ख घ च ज झ त—इन्द्रियाणि बाह्यविषयाणि, न—इन्द्रियाणां बाह्यविषयाणाम्।
3. क घ च छ झ त—अननुकारः, ख ग ज थ द ध न—अनुकारः।

तदनुकारी हो जाती हैं। इसलिये सूत्रकार ने इन्द्रियों को 'अनुकार इव' अर्थात् चित्तस्वरूपानुकार सदृश बतलाया है।

बालप्रिया–

'मोहनीयरञ्जनीयकोपनीयैः शब्दादिभिः'–इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों के साथ निश्चित रहती हैं। कुछ विषय किसी के लिये 'रञ्जनीय' अर्थात् रागोत्पादक, 'कुछ कोपनीय' अर्थात् कोपोत्पादक तथा कुछ 'मोहनीय' अर्थात् मोहप्रद होते हैं। इन विषयों में इन्द्रियाँ आसक्त रहती हैं। सामान्यजन की इन्द्रियाँ विषयों के अनुरोध से चलती हैं और चित्त इन्द्रियों के अनुरोध से चलता है। प्रत्याहार में इन्द्रियाँ ही चित्त के अनुरोध से चलते लगती हैं। चित्त जब 'निरोध' की ओर लगा दिया जाता है तो विना किसी प्रयत्नविशेष के ही इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं।

'अनुकार इव'–

शङ्का–एकाग्रावस्था में तो (निर्विकार आत्मा के स्वरूप में) चित्त ही प्रवेश करता है, इन्द्रियाँ नहीं, क्योंकि इन्द्रियों का विषय बाह्य जगत् से संबंधित होता है। अतः आत्मा में उनका सामर्थ्य नहीं हो सकता। फिर वे चित्त की प्रकृति में अपने को कैसे मिला सकेंगी?

समाधान–पूर्वपक्षी की शंका ठीक है। अतः वास्तविक स्वरूपानुकारता की असंभावना से सूत्रकार ने सादृश्यार्थक 'इव' शब्द का प्रयोग किया है। इससे यह प्रकट होता है कि इन्द्रियाँ चित्त की प्रकृति में अपने को मिला नहीं लेतीं, प्रत्युत चित्त में मिलाने पर जैसी दशा हो सकती है, वैसी वे बन जाती हैं। इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न होने पर चित्त के स्वरूप जैसा होना 'प्रत्याहार' है। जब दो वस्तुओं में तुलना होती है, तब किसी धर्म के आधार पर ही। अतः यहाँ भी कुछ सादृश्य-धर्म होना चाहिये। 'अपने विषयों से सम्बन्ध न होना' ही यहाँ पर 'सादृश्य-धर्म' है। इसके कारण इन्द्रियाँ चित्त का अनुकरण करती हैं।

उक्त तथ्य को पुनः सुस्पष्ट किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

स्वविषयासंप्रयोगस्य साधारणस्य धर्मस्य चित्तानुकारनिमित्तत्वं सप्तम्या दर्शयति–स्वेति। अनुकारं विवृणोति–चित्तनिरोध इति। [1]द्वयोर्निरोधहेतुश्च प्रयत्नस्तुल्य इति सादृश्यम्। अत्रैव दृष्टान्तमाह–यथा मधुकरराजमिति। दार्ष्टान्तिके योजयति–तथेति। अत्रापि विष्णुपुराण-वाक्यम्–

---

1. क ख ग घ च छ झ थ द ध न–द्वयोर्निरोधहेतुः, ज–द्वयोर्निरोधे निरोधहेतुः, त–द्वयोनिरोधः निरोधहेतुः।

शब्दादिष्वनुषक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित्।
कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारपरायणः॥

तस्य प्रयोजनं तत्रैव दर्शितम्–

वश्यता परमा तेन जायते निश्चलात्मनाम्।
इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न योगी योगसाधकः ॥ इति ॥५४॥

सूत्रगत **'स्वविषयासम्प्रयोगे'** में सप्तमी विभक्ति के प्रयोग के विषय में विचार किया जा रहा है–इन्द्रियों का स्वविषय को ग्रहण न करने का जो साधारण धर्म है, वही इन्द्रिय के चित्तानुकार का **'हेतु'** (निमित्त) है–इस अर्थ को ही निमित्तसप्तमी विभक्ति के द्वारा (सूत्रकार तथा भाष्यकार ने) प्रदर्शित किया है–**'स्वेति।'** अर्थात् इन्द्रियों की चित्तानुकारता का कारण (निमित्त) है–विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध न होना। इन्द्रियों की चित्तानुकारता को भाष्यकार उद्घाटित करते हैं– **'चित्तनिरोध इति।'** चित्त के निरुद्ध होने पर इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं। यहाँ चित्तनिरोध तथा इन्द्रियनिरोध दोनों प्रकार के निरोध का हेतुभूत प्रयत्न तुल्य है, यही दोनों में सादृश्य है। (अर्थात् जब चित्त ही निरुद्ध हो जाता है, तब चक्षुरादि इन्द्रियों के निरोध के लिये अलग से प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जैसे यतमानसंज्ञक वैराग्य में होने वाले इन्द्रियजय में एक इन्द्रियनिरोध के उपाय से प्रथक् अन्य उपाय की अपेक्षा इन्द्रियनिरोध के लिये रहती है)। इस तुल्य प्रयत्न के विषय में भाष्यकार लौकिक दृष्टान्त को प्रस्तुत करते हैं–**'यथा मधुकरराजमिति।'** (जैसे छोटी मधुमक्खियाँ मधुकररानी की क्रियाओं का ही अनुगमन करती हैं। शब्दान्तर में मधुलोभी को जैसे मधुकर-पति के नियंत्रणोपायातिरिक्त उपाय को छोटी मधुमक्खियों के नियंत्रण के लिये नहीं अपनाना पड़ता है)। भाष्यकार दार्ष्टान्त में दृष्टान्त को संयोजित करते हैं–**'तथेति।'** (उसी तरह चित्त के पीछे-पीछे इन्द्रियाँ चलती हैं। शब्दान्तर में साधक को चित्त के निरोधोपायातिरिक्त उपाय को इन्द्रियों के निरोध के लिये नहीं करना पड़ता है। इस विषय में विष्णुपुराण का वाक्य है–**'शब्दादिष्व...परायणः'** (६/७/४३) अर्थात् 'फिर योगी प्रत्याहार के अभ्यासपूर्वक अपनी विषयासक्त इन्द्रियों को संयमित करके अपने चित्त के अनुसार चलने वाला बना लेता है।' इसी प्रकरण में प्रत्याहार का फल भी बतलाया गया है–**'वश्यता...योगसाधकः'** (६/७/४४) अर्थात् 'इससे इन्द्रियाँ उसके वश में हो जाती हैं, जिनको वशीभूत किये विना योग-साधन संभव नहीं होता है' ॥५४॥

बालप्रिया–

चित्तानुकारनिमित्तत्वं सप्तम्या दर्शयति'–तत्त्ववैशारदीकार के अनुसार **'स्वविषयाऽसम्प्रयोगे'** में **'निमित्तसप्तमी'** है। भाव यह है–प्राणायाम के द्वारा चित्त के विजित हो

जाने पर इन्द्रियों की स्वस्वविषयाभिमुख्याभावनिमित्तिका जो चित्तस्वभावानुसरणता है, वह 'प्रत्याहार' है। कुछ लोग 'सति सप्तमी' मानते हैं। उनके अनुसार अभ्यास किया जाता हुआ प्राणायाम ही प्रत्याहार कहलाता है। इसमें स्कन्दपुराण का वचन प्रमाण है—'प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहार उदाहृतः' ॥५४॥

योगवार्त्तिकम्

प्रत्याहारसूत्रमवतारयति— अथ क इति। स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। इन्द्रियविषयासंप्रयोगकाल इन्द्रियाणां चित्तस्वरूपानुकारितेव या भवति सा इन्द्रियाणां प्रत्याहार इत्यर्थः। जितेन्द्रियस्य हि ध्यानकाले चक्षुरादीन्यपि ध्येयवस्त्वाकारेण चित्तेन तुल्याकाराणीव भवन्ति न स्वातन्त्र्येण विषयान्तरं मनसैकीभूय सङ्कल्पयन्ति, [1]यथा चित्ते निरोधोन्मुखे सति प्रयत्नान्तरं विनैव निरुद्धानि भवन्ति, अतस्तस्येन्द्रियाणि चित्तानुकारीणीत्युच्यन्ते। अजितेन्द्रियस्य तु चक्षुरादीनि तदानीमपि रूपादिषु मनसैव धावन्ति, अतश्चित्तमेवेन्द्रियानुकारि भवति,

इन्द्रियाणां हि सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य द्रवते प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम्॥

इति स्मृतेरित्याशयः।

अजितेन्द्रियस्यापि इन्द्रियाणि विषयभोगकाले चित्तानुकारीणि भवन्त्येवेति तद्व्यावर्त्तनाय स्वविषयासंप्रयोग इत्युक्तम्। ध्यानकाले च चाक्षुषादितुल्या वृत्तिश्चित्तस्यैव भवति, न तु चक्षुरादीनाम्॥ तेषां तु तदतिरिक्तवृत्त्यभावमात्रमतोऽनुकार इवेत्युक्तम्। अत एव—

पिबन्निव च चक्षुर्भ्यां पादौ संवाहयन्निव।
चित्तेन्द्रियैक्यतो ध्यायेत्तन्मूर्त्तिं विजितेन्द्रियः॥

इत्यादिस्मृतिष्वपीवशब्द एव प्रयुक्त इति।

भाष्यकार 'प्रत्याहार' प्रतिपादक सूत्र को अवतरित करते हैं—'अथ क इति' सूत्र है—'स्वेति' स्व-स्व विषय के साथ इन्द्रियों के सम्बद्ध न होने के काल में इन्द्रियों की जो चित्तस्वरूपानुकारसदृशता है, वही इन्द्रियों का 'प्रत्याहार' है। ध्यान करते समय जितेन्द्रिय योगी की चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी ध्येय वस्तु के आकार वाले चित्त के साथ तदाकारिणी हो जाती हैं। अर्थात् इन्द्रियाँ स्वतंत्र रूप से नहीं, अपितु मन से ऐक्य स्थापित करके ही ध्येयान्तर के विषय में संकल्प करती हैं। चित्त के निरोधोन्मुख होने पर प्रयत्नान्तर के विना ही वे भी निरुद्ध हो जाती हैं। इसी अभिप्राय से इन्द्रियों को चित्तानुकारिणी कहा जाता है। जब कि अजितेन्द्रिय की चक्षुरादि इन्द्रियाँ तो ध्यानकाल में भी रूपादि विषयों की ओर मन के साथ ही धावन करती

---

1. क ख ग घ च—तथा, छ—यथा।

हैं। अतः प्रत्याहाररहित काल में चित्त ही इन्द्रियों का अनुसरण करता है। जैसा कि निम्नांकित स्मृतिवाक्य का भी यही आशय है—**'इन्द्रियाणां...पादादिवोदकम्'** (मनु. २/९९) अर्थात् 'इन इन्द्रियों में से एक भी इन्द्रिय को यदि योगी जीत न सका तो योगी का ज्ञान (ध्यान) उसी प्रकार क्रमशः ह्रास को प्राप्त होता है जिस प्रकार मशक (चमड़े के बर्तन) के एक छिद्र से भी समस्त पानी बहकर नष्ट हो जाता है।'

शङ्का—अजितेन्द्रिय पुरुष की भी इन्द्रियाँ विषयसेवनकाल में चित्त का अनुकरण करने वाली ही होती हैं, तो क्या यह भी प्रत्याहार की अवस्था है?

समाधान—उक्त भ्रान्ति के निराकरण के लिये ही सूत्र में **'स्वविषयासंप्रयोगे'** पद प्रयुक्त हुआ है। ध्यानकाल में चित्त की ही चाक्षुषादि ज्ञान के तुल्य वृत्ति बनती है, न कि चक्षुरादि इन्द्रियों की, क्योंकि ध्यानकाल में चित्त की वृत्ति से अतिरिक्त इन्द्रियों की वृत्तियों का अभाव ही रहता है। अतः सूत्रकार ने 'अनुकार इव' ऐसा कहा है। इसी कारण स्मृतिशास्त्रों में भी 'एव' अर्थ में 'इव' शब्द प्रयुक्त हुआ है—**'पिबन्निव... विजितेन्द्रियः'** अर्थात् 'आँखों से विषयपान करता हुआ तथा पैरों को चलाता हुआ ही इन्द्रियजयी चित्त और इन्द्रिय के एकाग्रतापूर्वक ध्येय मूर्ति का ध्यान करे।'

सम्प्रति, वार्त्तिककार भाष्य की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

तदे[1]तद्व्याचष्टे—स्वविषयेति। इवतीत्यन्तस्य एष प्रत्याहार इत्यागामिनाऽन्वयः। अनुकार्यस्य कार्यरूपं लक्षणमाह—चित्तनिरोध इत्यादिना अपेक्षन्त इत्यन्तेन। चित्तस्य वृत्तिनिरोधकाले यत्स्वयमेवेन्द्रियवृत्तिनिरोधो भवति; इदमेव परमं वश्यत्वं प्रत्याहार-कार्यत्वात् तल्लक्षणमित्याशयः। निरुद्धानि भवन्तीति शेषः। नेतरेन्द्रियजयवदिति। इतरे= उक्तपरमवश्यत्वादतिरिक्ता द्वितीयसूत्रवक्ष्यमाणा इन्द्रियजयाः, तेषु सत्स्वपि स्वनिरोधार्थं यथेन्द्रियाणि प्रत्याहारादिकमपेक्षन्ते नैवं यथोक्तप्रत्याहारे सति स्वनिरोधार्थं चित्तनिरोधाति-रिक्तमपेक्षन्त इत्यर्थः। इन्द्रियाणां चित्तानुकारं दृष्टान्तेन प्रतिपादयति—यथा मधिवत्यादिना निरुद्धानीत्यन्तेन। दार्ष्टान्तिके दृष्टान्तोक्तोत्पतनतुल्यो निरोधः, तेन च निवेशनतुल्यं ध्यानमप्युपलक्षणीयम्, अन्यथा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यादिप्रदर्शने न्यूनताऽऽपत्तेः। एष प्रत्याहार इति। पुरैव व्याख्यातम्।

भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—**'स्वविषयेति।'** **'इवेति।'** 'स्वविषय' पद से लेकर 'इव' यहाँ तक के वाक्यांश का **'एष प्रत्याहारः'** इस आगामी भाष्य के साथ अन्वय किया जाता है। भाष्यकार चित्तानुकारी इन्द्रियों की तद्रूपता का लक्षण करते हैं—

1. क ख घ च छ—एतत्, ग—एव।

'चित्तनिरोध इत्यादिना अपेक्षन्त इत्यन्तेन' चित्तवृत्ति के निरुद्ध होने पर इन्द्रियवृत्ति का स्वतः ही (प्रयत्ननिरपेक्ष होकर ही) जो निरुद्ध होना है, वही **'परमा वश्यता'** प्रत्याहार का कार्य होने से प्रत्याहार का लक्षण है। **'निरुद्धानि भवन्ति'** यह वाक्यशेष है। अर्थात् **'चित्तनिरोधे चित्तवन्निरुद्धानि भवन्तीन्द्रियाणि'**–ऐसा वाक्य का स्वरूप है। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–**'नेतरेन्द्रियजयवदिति'** यहाँ **'इतर'** शब्द से उपरिवर्णित परमावश्यता से अतिरिक्त आगामी सूत्र में वक्ष्यमाण इन्द्रियजयों का संग्रह होता है, जिनमें इन्द्रियाँ अपने निरोध के लिये प्रत्याहारादि की अपेक्षा रखती हैं, वैसे यहाँ ऊपर कहे हुए प्रत्याहार के सिद्ध होने पर इन्द्रियाँ अपने निरोध के लिये चित्तनिरोध से अतिरिक्त प्रयत्नान्तर की अपेक्षा नहीं करती हैं। भाष्यकार इन्द्रियों की चित्तानुकारिता को दृष्टान्त द्वारा प्रतिपादित करते हैं–**'यथा मध्वित्यादिना निरुद्धानीत्यन्तेन'** यहाँ दार्ष्टान्त (इन्द्रियों की चित्तानुकारिता) में दृष्टान्त (मक्षिकाओं द्वारा मधुकरराज की अनुगामिता के विषय में) प्रतिपादित **'उत्पतन'** को **'निरोध'** से उपमित किया गया है। अर्थात् दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में **'उत्पतन'** और **'निरोध'** का साम्य विवक्षित है। इससे **'निरोध'** शब्द से निवेशनतुल्य (ऐकाग्र्यरूप) ध्यान भी उपलक्षित (संगृहीत) होता है, अन्यथा दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में साधर्म्यादि के प्रदर्शन (प्रतिपादन) में न्यूनतापत्ति होगी। अर्थात् दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में कोई समान धर्म नहीं बन पायेगा। वार्त्तिककार भाष्य के अन्तिम पदों को उठाते हैं–**'एष प्रत्याहार इति'** इसकी व्याख्या पहले ही की जा चुकी है।

सम्प्रति, वार्त्तिककार विष्णुपुराण के वाक्य से **'प्रत्याहार'** का स्वरूप उपसंहृत करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

सोऽयं प्रत्याहारः सप्रयोजनो विष्णुपुराणे प्रोक्तः–

शब्दादिष्वनुरक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित्।
कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारपरायणः॥
वश्यता परमा तेन जायते निष्कलात्मनाम्।
इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न [1]योगी योगसाधकः॥ इति॥

अतश्च प्रत्याहार इन्द्रियधर्म इति ॥५४॥

यह प्रत्याहार विष्णुपुराण में प्रयोजनसहित इस प्रकार कहा गया है– **'शब्दादिष्वनुरक्तानि...योगसाधकः'** (६/७/४३) अर्थात् 'प्रत्याहार के अभ्यासपूर्वक योगी शब्दादि विषयों में अनुरक्त अपनी इन्द्रियों को संयमित करके उन्हें अपने चित्त के

1. क ख घ च छ–योगी, ग–योगः।

अनुसार चलने वाली बना लेता है। जिससे अत्यन्त चञ्चल इन्द्रियाँ योगवित् (प्रत्याहारजयी) के वश में हो जाती हैं। जिनको वशीभूत किये विना योग-साधन संभव नहीं होता है।' इस प्रकार सिद्ध होता है कि प्रत्याहार 'इन्द्रियधर्म' है॥५४॥

अगला सूत्र है–

योगसूत्रम्

ततः [1]परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्॥५५॥

तत्पश्चात् प्रत्याहार से इन्द्रियों की प्रबल वशवर्तिता (वशीकारता) होती है॥५५॥

व्यासभाष्यम्

शब्दादिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति केचित्। सक्तिर्व्यसनं व्यस्यत्येनं श्रेयस इति। अविरुद्धा [2]प्रतिपत्तिर्न्याय्या। शब्दादिसंप्रयोगः स्वेच्छयेत्यन्ये। राग[3]द्वेषाभावे सुखदुःखशून्यं शब्दादिज्ञानमिन्द्रियजय इति केचित्। चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः। ततश्च परमा त्वियं वश्यता यच्चित्तनिरोधे निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवत्[4]प्रयत्नकृतमुपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति॥५५॥

इति श्रीपातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे श्रीमद्व्यासभाष्ये द्वितीयःसाधनपादः॥२॥

(१) कुछ लोगों का यह कथन है कि शब्दादि विषयों में व्यसन का न होना ही 'इन्द्रियजय' है। आसक्ति व्यसन को कहते हैं, क्योंकि यह साधक को श्रेयस् अर्थात् कल्याण से वञ्चित करता है। किन्तु शास्त्रानुकूल विषयभोग करना न्यायोचित है। (२) कुछ लोग कहते हैं कि स्वेच्छा से शब्दादि विषयों का सम्पर्क करना ही 'इन्द्रियजय' है। (३) कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि राग और द्वेष न रहने पर सुखदुःखरहित शब्दादि-विषयभोग ही 'इन्द्रियजय' है। (४) महर्षि जैगीषव्य का कथन है कि चित्त की एकाग्रता होने से विषयों की और इन्द्रियों की प्रवृत्ति का न होना ही 'इन्द्रियजय' है। पूर्व प्रतिपादित इन्द्रियवश्यताओं की अपेक्षा यह चौथे प्रकार की इन्द्रियवश्यता उत्कृष्ट है। इसका कारण यह है कि चित्त के निरुद्ध होने पर उसके अधीन रहने वाली

---

1. परम०–इति पाठान्तरम्।
2. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ भ म य र–प्रतिपत्तिः, झ त–प्रतीतिः, ब–प्रतिपत्तिः वा।
3. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र–द्वेषाभावे, झ त–द्वेषाविव।
4. क ग घ च छ थ द ध न प फ ब भ म य र–प्रयत्नकृतं, ख ज झ त–प्रयत्नम्।

इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं। उस समय अन्य इन्द्रियों के जय की भाँति, योगी के लिये, प्रयत्नपूर्वक अन्य उपाय को करने की अपेक्षा नहीं रहती है॥५५॥

——xxx——

तत्त्ववैशारदी

अस्यानुवादकं सूत्रम्—ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्। ननु सन्ति किमन्या अपरमा इन्द्रियाणां वश्यता या अपेक्ष्य परमेयमुच्यते? अद्धा! तां दर्शयति—शब्दादिष्विति। एतदेव विवृणोति—[1]सक्तिरिति। सक्ती रागो व्यसनम्। कया व्युत्पत्त्या? व्यस्यतीति। व्यस्यति क्षिपति निरस्यत्येनं श्रेयस इति। तदभावोऽव्यसनं वश्यता। अपरामपि वश्यतामाह—अविरुद्धेति। श्रुत्याद्यविरुद्धशब्दादिसेवनं तद्विरुद्धेष्वप्रवृत्तिः। सैव न्याय्या, न्यायादनपेता यतः। अपरामपि वश्यतामाह—शब्दादिसंप्रयोग इति। शब्दादिष्विन्द्रियाणां संप्रयोगः स्वेच्छया, भोग्येषु स खल्वयं स्वतन्त्रो न भोग्यतन्त्र इत्यर्थः। अपरामपि वश्यतामाह—[2]रागद्वेषाभाव इति। रागद्वेषाभावे सुखदुःखशून्यं माध्यस्थ्येन शब्दादिज्ञानमित्येके। सूत्रकाराभिमतां वश्यतां परमर्षिसंमतामाह—[3]चित्तैकाग्र्य चित्तस्यैकाग्र्यात्सहेन्द्रियैरप्रवृत्तिरेव शब्दादिष्विति जैगीषव्यः। अस्याः परमतामाह—परमा त्विति। तुशब्दो वश्यतान्तरेभ्यो विशिनष्टि।

'प्रत्याहार' फल का अनुवादक (प्रतिपादक) सूत्र इस प्रकार है—'तत इति' सूत्रगत 'परमा' शब्द को लेकर तत्त्ववैशारदीकार शंका करते हैं—

शङ्का—क्या इन्द्रियों की अन्य 'अपरमा' वश्यताएँ हैं, जिनकी अपेक्षा इसे 'परमा' कहा जा रहा है?

समाधान—निस्सन्देह इन्द्रियों की अन्य 'अपरमा' वश्यताएँ हैं। शब्दादि विषयों में अव्यसन अर्थात् आसक्ति का अभाव 'इन्द्रियजय' है—ऐसा किसी आचार्य का मत है। भाष्यकार इसी मत को स्पष्ट करते हैं—'सक्तिरिति' 'सक्ति' शब्द का अर्थ है—राग और राग कहते हैं, 'व्यसन' को।

शङ्का—किस व्युत्पत्ति से 'सक्ति' शब्द 'व्यसन' पदवाच्य है? अर्थात् सक्ति को व्यसन क्यों कहते हैं?

समाधान—भाष्यकार उत्तर देते हैं—'व्यस्यतीति' जो पुरुष को श्रेय (श्रेयपरक मोक्ष मार्ग) से दूर करता है अर्थात् वञ्चित करता है—इस व्युत्पत्ति से 'सक्ति' शब्द का

---

1. थ द ध—सक्तिरिति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न—सक्तिरिति नोपलभ्यते।
2. थ द ध—रागद्वेषाभाव इति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न—रागद्वेषाभाव इति नोपलभ्यते।
3. थ द ध—चित्तैकाग्र्यादिति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न—चित्तैकाग्र्यादिति नोपलभ्यते।

अर्थ है—व्यसन। व्यसन के अभाव को अव्यसन अर्थात् **'वश्यता'** कहते हैं। भाष्यकार अन्य प्रकार की इन्द्रियवश्यता को बताते हैं—**'अविरुद्धेति।'** श्रुत्यादिशास्त्र के अविरुद्ध शब्दादि विषयों का सेवन अर्थात् तद्विरुद्ध विषयों में प्रवृत्ति न होना **'इन्द्रियवश्यता'** है। यही शास्त्रानुमोदित विषयसेवन न्याय्य है, क्योंकि यह न्यायसङ्गत है। भाष्यकार अन्य प्रकार की भी इन्द्रियवश्यता को बताते हैं—**'शब्दादिसंप्रयोग इति।'** इन्द्रियों का शब्दादि विषयों के साथ स्वेच्छापूर्वक जो **'सम्प्रयोग'**=सम्पर्क है अर्थात् भोग्य पदार्थों के साथ इन्द्रियों का स्वतंत्रतया न कि भोग्याधीन होने वाला जो सम्पर्क है उसे **'इन्द्रियवश्यता'** कहते हैं। अन्य प्रकार की भी इन्द्रियवश्यता को भाष्यकार बताते हैं—**'रागद्वेषाभाव इति।'** राग तथा द्वेष का अभाव होने पर सुखदुःखानुभूतिरहित तटस्थभाव (उदासीनभाव) से शब्दादि विषयों का ज्ञान होना **'इन्द्रियजय'** है—इस प्रकार कोई आचार्य कहते हैं। सम्प्रति, भाष्यकार द्वारा समर्थित **'इन्द्रियवश्यता'** का प्रतिपादन तत्त्ववैशारदीकार करते हैं—**चित्तैकाग्र्यादिति।'** इन्द्रियों के साथ चित्त के एकाग्र हो जाने से शब्दादि विषयों की ओर इन्द्रियों की सहज प्रवृत्ति न होना ही **'इन्द्रियवश्यता'** है—यह आचार्य जैगीषव्य का मत है। भाष्यकार इस इन्द्रियवश्यता के परमत्व=श्रेष्ठतमत्व को बताते हैं—**'परमा त्विति।'** भाष्य में आया हुआ **'तु'** शब्द, प्रथम तीन इन्द्रियवश्यताओं से सूत्रकाराभिमत अन्तिम इन्द्रियवश्यता को श्रेष्ठतमत्व की दृष्टि से पृथक् करता है।

बालप्रिया—

'अस्यानुवादकम्'—सूत्र की अवतरणिका में प्रयुक्त **'अस्य'** सर्वनाम पद से पूर्व सूत्र २/५४ की तत्त्ववैशारदी में उद्धृत विष्णुपुराण के **'वश्यता परमा...योगसाधकः'** श्लोक का बोध होता है। इस श्लोक में 'परमा **वश्यता'** का जो स्वरूप बतलाया गया है, उसी का अनुवादक प्रस्तूयमान सूत्र है, ऐसा वाचस्पति मिश्र का वक्तव्य है।

'अद्धा'—**'सन्त्यन्या अप्यपरमा वश्यताः'** इसको बताने के लिये तत्त्ववैशारदीकार ने अवधारणार्थक **'अद्धा'** अव्यय के प्रयोग द्वारा पूर्वपक्षीय शंका को समर्थित किया है।

सम्प्रति, अन्तिम इन्द्रियवश्यता के वैशिष्ट्य को उपपादित करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं—

तत्त्ववैशारदी

वश्यतान्तराणि हि विषयाशीविषसंप्रयोगशालितया क्लेशविषसंपर्कशङ्कां नापक्रामन्ति। न हि विषविद्यावित्प्रकृष्टोऽपि वशीकृतभुजंगमो भुजंगममङ्के निधाय स्वपिति विश्रब्धः। इयं तु वश्यता विदूरीकृतनिखिलविषयव्यतिषङ्गा निराशङ्कतया परमेत्युच्यते। नेतरेन्द्रियजयवदिति। यथा यतमानसंज्ञायामेकेन्द्रियजयेऽपीन्द्रियान्तरजयाय प्रयत्नान्तरमपेक्ष्यन्ते, न चैवं चित्तनिरोधे बाह्येन्द्रियनिरोधाय प्रयत्नान्तरापेक्षेत्यर्थः॥५५॥

अन्य वश्यताएँ शब्दादि विषयरूप सर्पविष से युक्त होने के कारण क्लेशरूप विषसम्पर्क की आशंका से मुक्त (अतिक्रमित) नहीं होती हैं। अर्थात् इन तीन इन्द्रिय-वश्यताओं में शब्दादि विषय की ओर प्रवृत्ति बनी रहने से क्लेशरूप विष से ग्रसित होने का भय भी बना रहता है। भुजङ्ग को भली-भाँति वशीभूत कर लेने वाला कोई भी सर्पवेत्ता अपनी गोद में सर्प को रखकर निःशङ्क (भयशून्य होकर) शयन नहीं कर सकता है। विषयसम्पर्क से सर्वथा रहित होने के कारण यह चौथे प्रकार की 'इन्द्रियवश्यता' निस्सन्देह 'परमा' कही जाती है। तत्त्ववैशारदीकार भाष्य की आगे की पंक्ति को उठाते हैं–'नैतरेन्द्रियजयवदिति' जैसे 'यतमान' संज्ञक वैराग्यकाल में एक इन्द्रिय के विजित हो जाने पर भी योगी लोग अन्य इन्द्रियों के जय के लिये उपायान्तर की अपेक्षा रखते हैं, वैसे यहाँ चित्तनिरोध हो जाने पर बाह्य इन्द्रियों के निरोध के लिये योगियों को प्रयत्नान्तर की अपेक्षा नहीं रहती है।

बालप्रिया–

'आशीविष'–द्रंष्ट्रायां विषं यस्य स आशीविषः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार **'आशीविष'** शब्द का अर्थ है–सर्प।

'प्रयत्नान्तरम्'–इस पद के द्वारा व्यतिरेक, एकेन्द्रिय तथा वशीकार संज्ञक वैराग्यरूप प्रयत्नान्तर की ओर इंगित किया है।

'न चैवं चित्तनिरोधे बाह्येन्द्रियनिरोधाय प्रयत्नान्तरापेक्षा'–अन्य तीन इन्द्रिय-वश्यताओं की अपेक्षा चतुर्थ इन्द्रिय-वश्यता को 'परमा' विशेषण से इसलिये विशेषित किया है–यद्यपि प्रथम तीन विकल्पों में इन्द्रियजय का क्रमिक विकास देखने योग्य है तथापि उनमें विषयरूप सर्प का अस्तित्व रहने से क्लेशरूप विष का भय सर्वदा बना रहता है। अतः ये तीनों पक्ष निम्नकोटि के ही इन्द्रियजय को प्रकट करते हैं। प्रथमपक्ष–**'शब्दादिष्वव्यसनम्'** में ऐन्द्रिक विषयभोग रहते हुए अनासक्ति की बात कही गई है। पहले पक्ष से ऊँची स्थिति वाले द्वितीयपक्ष–**'शब्दादिसम्प्रयोगः स्वेच्छया'** में भी योगी स्वतंत्ररूप से विषयभोग तो करता ही है, भले ही उसे भोग्य पदार्थ के वशीभूत नहीं रहना पड़ता है। तृतीयपक्ष–**'सुखदुःखशून्यं शब्दादिज्ञानम्'** में स्थिति विगत पक्ष की अपेक्षा अवश्य सुधरी है, फिर भी शब्दादि विषय का भोग इसमें भी बना रहता है। किन्तु चतुर्थपक्ष में इन्द्रियों की वश्यता अपने समग्ररूप में उभर कर सामने आती है। इसमें **'अप्रतिपत्तिः'** पद के द्वारा विषयों में इन्द्रियों की अप्रवृत्ति को ही **'इन्द्रियवश्यता'** बतलाया गया है। इसमें विषयसर्प से ग्रसित होने की संभावना ही योगी को नहीं रहती है। अतः चित्तैकाग्र्यरूप वश्यता को 'परमा' विशेषण से विशेषित किया गया है॥५५॥

पाद के अन्त में वाचस्पति मिश्र ने उक्त पाद के विषयों का संग्राहक श्लोक इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

तत्त्ववैशारदी

क्रियायोगं जगौ क्लेशान्विपाकान्कर्मणामिह।
तद्दुःखत्वं तथा व्यूहान्पादे योगस्य पञ्चकम्॥ इति॥

इति श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचितायां पातञ्जलयोगसूत्रभाष्यव्याख्यायां तत्त्ववैशारद्यां द्वितीयःसाधनपादः॥२॥

इस (द्वितीय साधन) पाद में क्रियायोग, क्लेश, कर्मफल, जगत् की दुःखरूपता तथा चतुर्व्यूह–ये पांच 'योग' के विषय प्रतिपादित हुए हैं।

इस प्रकार यह वाचस्पतिमिश्रविरचित पातञ्जलयोगसूत्रभाष्य की तत्त्ववैशारदी टीका पर लिखी गई सपाठभेदबालप्रियाख्यहिन्दी व्याख्या का यह द्वितीय साधनपाद है॥२॥

——×××——

योगवार्त्तिकम्

योगे प्रत्याहारस्यावान्तरव्यापारभूतं तत्सिद्धिसूचकमाह–ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्। ततः प्रत्याहारादिन्द्रियाणां परमो जयो भवतीत्यर्थः। तत्र परमजयप्रतिपादनार्थं बहुविधान् [1]पक्षानाह–शब्दादिष्वित्यादिना। व्यसनशब्दार्थमाह–सक्तिरिति। सक्तिः सङ्गो येन शास्त्रविरुद्धेऽपि विषयभोग इन्द्रियाणि प्रवर्त्तन्ते। व्यस्यति क्षिपति निरस्यत्येनं श्रेयस इति व्युत्पत्त्येति शेषः। एवं च सति शास्त्राविरुद्धा प्रतिपत्तिरेव भोगः। न्याय्या एवेति पूर्वोक्तेन केचिदित्यनेनान्वयः। मतान्तरमाह–शब्दादीति। इन्द्रियविषययोः सम्प्रयोगे तदपारतन्त्र्यमित्यर्थः मतान्तरमाह–रागद्वेषेति। रागद्वेषनिमित्तकाभ्यां [2]सुखदुःखाभ्यां शून्यो विषयभोगस्तथेत्यर्थः। तेनाभिमानिकसुखदुःखशून्यत्वं लब्धम्, कायिकसुखदुःखानां योगावस्थां विना परिहारासंभव इति भावः। एतेषु त्रिषूत्तरोत्तरमुत्कर्षेऽपि नैते परमा इन्द्रियजयाः, एतावन्मात्रमिन्द्रियवृत्त्य[3]निरोधात्। अतः सूत्रकारसंमतं परममाह–चित्तैकाग्र्यादिति। चित्तैकाग्र्याद्धेतोरिन्द्रियाणां याऽप्रतिपत्तिर्वृत्तिनिरोधस्तद्योग्यता स एव जय इति जैगीषव्य इत्यर्थः। तत इति। इयं च [4]वश्यता ततो हेतोः परमा वश्यता, यद् यतः चित्तनिरोधेनेत्यादिरर्थः। कालादिव्यावर्त्तनाय प्रयत्नकृतमिति। तथा च पूर्वसूत्रोक्तचित्तानुकारस्य

---

1. क ग घ च छ–पक्षान्, ख–जयान्।
2. क ख घ च छ–सुखदुःखाभ्यां उपलभ्यते, ग–सुखदुःखाभ्यां नोपलभ्यते।
3. क ग घ च छ–अनिरोधात्, ख–निरोधात्।
4. ग–इन्द्रिय० (वश्यता–प्राक्) उपलभ्यते, क ख घ च छ–इन्द्रिय० नोपलभ्यते।

फलं लक्षणं च, या समाधौ चित्तेन सहेन्द्रियाणां वृत्तिनिरोधयोग्यता सैव परमवश्यताऽऽख्यो जयोऽनेन सूत्रेणोक्त इति एतादृशवश्यताऽभावेनैव सौभरिप्रभृतीनां योगभ्रंशादियं वश्यताऽपि योगनिष्पत्तिहेतुः। अत एव [1]गीता–

यततो ह्यपि कौन्तेय! पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ इति

तदेवं ज्ञानसाधनमुखेन योगस्यापि बहिरङ्गाणि यमादिप्रत्याहारान्तानि ससिद्धीन्यत्र पादे प्रोक्तानि; धारणादित्रयस्य सिद्धिबाहुल्यात्तु सिद्धिभिः सह तत्प्रतिपादनार्थमेव समग्रस्तृतीय-पादो भविष्यति॥५५॥

इति श्रीपातञ्जलभाष्यवार्त्तिके विज्ञानभिक्षुनिर्मिते साधननिर्देशो नाम
द्वितीयः पादः॥२॥

योग में 'प्रत्याहार' के सिद्धिसूचक अवान्तरव्यापार को सूत्रकार बताते हैं–'तत इति।' प्रत्याहार से इन्द्रियों का 'परमजय' होता है। इन्द्रियों के 'परमजय' का स्वरूप प्रतिपादित करने के लिये भाष्यकार बहुत से पक्षों को उठाते हैं–'शब्दादिष्वित्यादिना।'
प्रथम मत–कुछ लोग शब्दादिविषयक 'अव्यसन' को 'इन्द्रियजय' कहते हैं। भाष्यकार 'व्यसन' शब्द का अर्थ करते हैं–'सक्तिरिति।' 'सक्ति' शब्द का अर्थ 'सङ्ग' है, जिसके कारण इन्द्रियाँ शास्त्रविरुद्ध विषयभोग में भी प्रवृत्त होती हैं। 'व्यस्यति क्षिपति निरस्यत्येनं श्रेयस इति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो पुरुष को कल्याणकारी मार्ग से च्युत कर देती है, उसे 'सक्ति' कहते हैं। सक्ति का ऐसा स्वरूप होने पर शास्त्रसम्मत 'प्रतिपत्ति'=भोग को इन्द्रियजय कहते हैं। भाष्य के 'न्याय्या एव' इस पद का अन्वय पूर्वोक्त 'केचित्' पद के साथ किया जाता है। अर्थात् कुछ लोग शास्त्रसम्मत भोग को 'इन्द्रियजय' कहते हैं।
द्वितीय मत–भाष्यकार मतान्तर को प्रस्तुत करते हैं–'शब्दादीति।' इन्द्रिय और शब्दादि विषय के 'सम्प्रयोग' अर्थात् सम्बन्ध में इन्द्रियों का विषयस्वातन्त्र्य होना अर्थात् शब्दादि विषय के प्रति उनका परतंत्र न रहना 'इन्द्रियजय' है।
तृतीय मत–भाष्यकार इन्द्रियजय के अन्य पक्ष को कहते हैं–'रागद्वेषेति।' राग-द्वेष के कारण होने वाले सुख-दुःख से रहित जो विषयभोग का सेवन है, वही 'इन्द्रियजय' है। इससे आभिमानिक सुख-दुख का राहित्य ही गृहीत होता है, क्योंकि योगावस्था के विना शरीरगत सुख-दुःख का परिहार सम्भव नहीं रहता है।

1. क ख घ च छ–गीता, ग–गीतायाम्।

'इन्द्रियजय' के पूर्ववर्णित तीनों पक्षों में यद्यपि इन्द्रियजयोत्कर्ष की उत्तरोत्तर वृद्धि (परिलक्षित) होती है, तथापि उन्हें **'परम इन्द्रियजय'** नहीं कह सकते हैं, क्योंकि इतने मात्र से ऐन्द्रिक वृत्ति का निरोध संभव नहीं है।

चतुर्थ मत–अतः भाष्यकार पतञ्जलिसम्मत 'परम इन्द्रियजय' को बताते हैं–**'चित्तैकाग्र्यादिति।'** चित्तैकाग्रता के कारण इन्द्रियों की जो **'अप्रतिपत्ति'** अर्थात् इन्द्रियवृत्तिनिरोध की योग्यता है वही **'इन्द्रियजय'** है, ऐसा सांख्ययोगाचार्य जैगीषव्य का मत है। वार्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–**'तत इति।'** इन्द्रियों की तथाकथित वश्यता के कारण **'परमा वश्यता'** आती है, क्योंकि चित्त के निरुद्ध होने पर उसके अधीन रहने वाली समस्त इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं। इस इन्द्रियजय को कालसापेक्षता से व्यावृत्त करने के लिये भाष्यकार कहते हैं–**'प्रयत्नकृतमिति।'** अर्थात् यतमानादि इतर इन्द्रियजय के समान इस इन्द्रियजय में बाह्येन्द्रियनिरोध के लिये प्रयत्नसाध्य उपायान्तर की अपेक्षा नहीं रहती है। इस प्रकार पूर्व सूत्र में इन्द्रियों की चित्तानुकारिता का फल और लक्षण तथा समाधिकाल में चित्त के साथ इन्द्रियों के वृत्तिनिरोध की जो योग्यता कथित है, वही **'परमा वश्यता'** रूप जय प्रकृत सूत्र के द्वारा कहा गया है। ऐसी इन्द्रियवश्यता प्राप्त न होने से सौभरिप्रभृति ऋषियों की समाधि भंग हुई। अतः यह वश्यता योगनिष्पत्ति का कारण है। इसीलिये गीता में कहा गया है–**'यततो ह्यपि...प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'** (२/६०-६१) अर्थात् 'हे कौन्तेय! ज्ञान में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न हो, इस अभिलाषा से समाधि में प्रयत्न करने वाले विद्वान् पुरुष के मन को भी विक्षोभकारी इन्द्रियाँ बलात् पकड़कर विषयों में गिरा देती हैं। अतः उन इन्द्रियजय और कर्मेन्द्रियों का संयम करके समाहित चित्त हो मेरा भक्त बनकर रहे, क्योंकि जिसके वश में इन्द्रियाँ होती हैं, उसी की प्रज्ञा सिद्ध होती है।'

इस प्रकार प्रकृत पाद में ज्ञान के साधन रूप से योग के भी बहिरङ्गभूत यमादि से लेकर प्रत्याहारपर्यन्त साधनों को उनकी सिद्धियों के साथ बताया गया है। योग के साधनभूत धारणादि तीन की अनेक सिद्धियाँ हैं। अतः सिद्धियों के साथ धारणादि साधनों का प्रतिपादन करने के लिये ही समग्र तृतीय पाद की रचना की जायेगी॥५५॥

इस प्रकार यह विज्ञानभिक्षुनिर्मित श्रीपातञ्जलभाष्यवार्तिक पर लिखी गई सपाठभेदबालप्रियाख्यहिन्दी व्याख्या का यह द्वितीय साधनपाद है॥२॥

——xxx——

Dr. (Miss) Vimala Karnatak
Vidyālaṅkāra

M.A. Ph.D. (BHU) - Gold Medalist
Mīmāṁsācārya (BHU) - Gold Medalist
Diploma in German (BHU)
Reader in Sanskrit

Fellowships.

* Junior Research Fellowship, University Grants Commission, 1969
* Senior Research Fellowship, University Grants Commission, 1973

Awards

* Dr. Bhagavāndās Award, Sanskrit Academy, Uttar Pradesh, 1976
* Career Award University Grants Commission, 1986

Reseach guidance

* Doctorate degree awarded to eight researchstudents.

Publications

Books

* A comparative study of Pātañjala-Yoga-Sūtra in the light of its commentators (in Hindi) BHU publication, 1974
* Sāṁkhyakārikā with Gauḍpādabhāṣya (in Hindi), Chowkhamba Publication, 1975
* Indian Philosophy (chapter on Yoga) Hindi Academy Lucknow, 1975
* A Critical Edition of Tattvavaiśāradī and Yogavārttika with Hindi Exposition on Vyāsabhāsya of the Yoga-Sūtra (in four volumes) BHU publication, 1992.

Research articles

* A comparative study of Sanskrit and German Grammatical structure (in English), Glory of knowledge, Felicitation Volume, Eastern Book linkers, Delhi, 1990
* Twenty research articles (in Hindi,